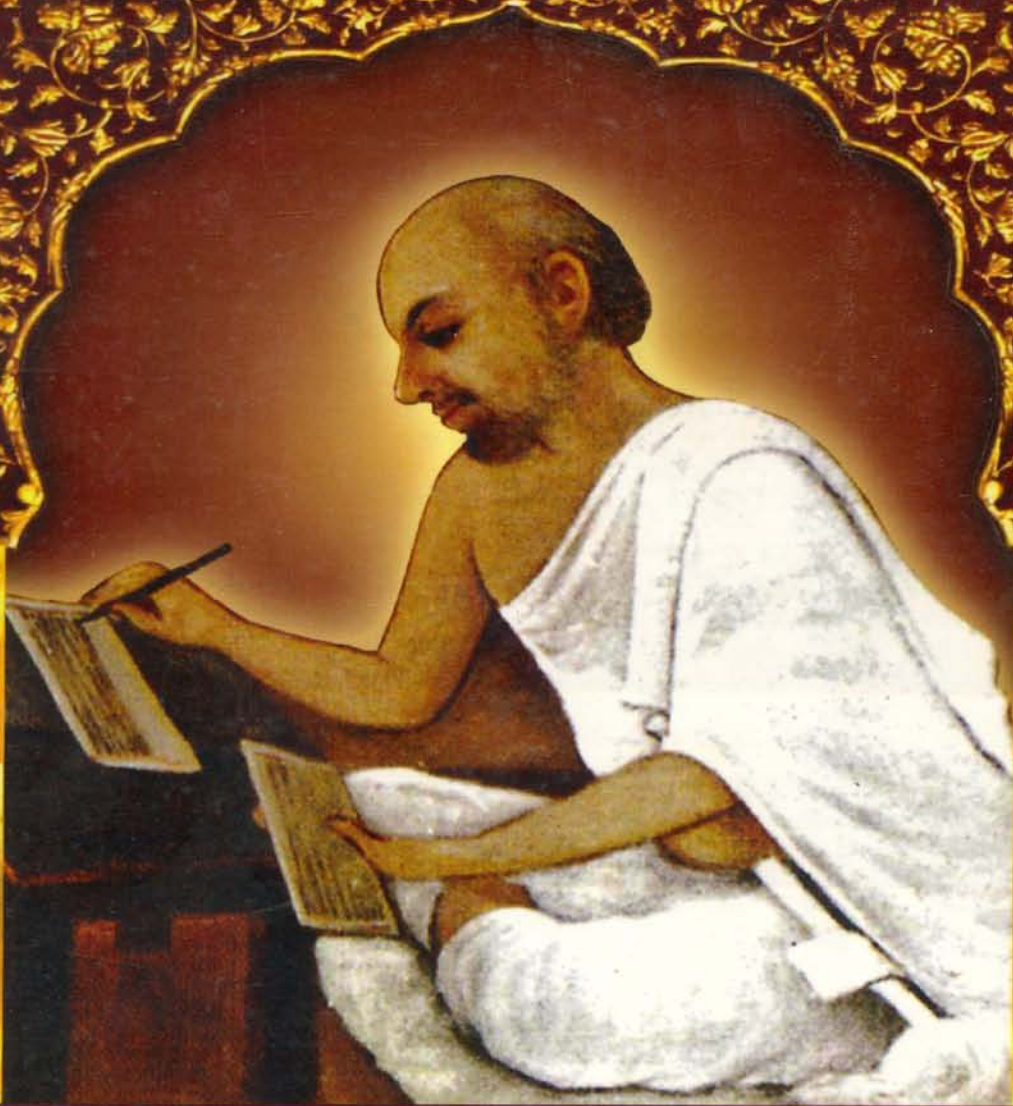


महोपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य



: शोधार्थी :

साध्वी डॉ. अमृतरसा श्रीजी

महोपाध्याय यशोविजय के
दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्व विद्यालय) लाडनूं
पी.एच.डी. उपाधिहेतु स्वीकृत शोधप्रबन्ध

दिव्यातिदिव्य आशीर्वाद
विश्वपूज्य प्रातःस्मरणीय अभिधान राजेन्द्रकोष निर्माता
श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

अंतर आशीर्वाद
परम पूज्य राष्ट्रसंत गच्छ्रधिपति जैनाचार्य
श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा.

मंगल आशीर्वाद
पू. गुरुवर्या उत्कृष्ट संयमपालक
श्री हीरश्रीजी म.सा.

प्रेरणा
सरल स्वभावी वात्सल्यवारिधि
पू. गुरुवर्या साध्वीरत्ना भुआजी म.सा. (गुरुमैया)
साध्वीरत्ना श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा.

अनुसंधानकर्त्री
साध्वी डॉ. अमृतरसाश्री

प्रकाशक
श्री राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट
अहमदाबाद

ग्रन्थ

महोपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य

शोधार्थी

साध्वी डो. अमृतरसाश्री

शोधनिर्देशक

डो. आनंद प्रकाश त्रिपाठीजी

प्रकाशक

श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद

वीर सं.: २५४०

वि.सं.: २०७०

ई.सन : २०१३-२०१४

राजेन्द्र सं.: १०७

भावमूल्य : पठन एवं पाठन

प्राप्तिस्थान

जयंतसेन म्युझियम

मोहनखेडा तीर्थ

राजगढ, जिला : धार (म.प्र.)

श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मंदिर

शेखनो पाडो, रिलिफरोड, अहमदाबाद.

श्री राजेन्द्रसूरि ज्ञान मंदिर

9-E.K. अग्राहम स्ट्रीट, मेईन रोड, मद्रास. (T.N.)

अक्षरांकन एवं मुद्रण / ग्राफिक्स

भरत ग्राफिक्स

7, न्यु मार्केट, पांजरापोळ, रिलीफ रोड, अहमदाबाद-1

Ph. : 079-22134176, M : 9925020106 E-mail : bharatgraphics1@gmail.com



समर्पण - पुष्पांजली

जिनके जीवन का क्षण - क्षण वैराग्य की निर्मल, उज्ज्वल भावतरंगों से
संप्रक्षालित है ।

जिन की वाणी, संयम, शील, त्याग एवं तप के अमृतकणों से आकलित
एवं संसिक्त है ।

जिन के हृदय में विश्व वत्सलता, समता, करुणा की त्रिवेणी
समुच्छलित संप्रवाहित है ।

जो परम कल्याणकारी आध्यात्मिक आदर्शों को जन - जन व्यापी बनाने
हेतु सतत सत्पराक्रमशील है ।

जिन के प्रक्षय, संरक्षण एवं शिक्षण से मुझे अपनी जीवन यात्रा में उत्तरोत्तर अग्रसर होते
रहने में असिम शक्ति और संबल प्राप्त होता रहा, जिन्होंने अपने समग्र जीवन में न केवल हम
अंतेवासिनियों को ही वरन् समस्त जन समुदाय एवं मानवता को धर्मपाथेय के रूप में सदा
दिया दे रहे हैं एवं देते रहेंगे ऐसे शुद्धपयोगानुभावित, राष्ट्रसंत विरुद विभूषिता, परम
उपकारी, मम श्रद्धा के केन्द्र, संयमदाता, जीवननिर्माता, आशीर्वचन एवं कृपादृष्टि की सदा
अनवरत वर्षा करनेवाले, आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी के पावन पाद
पद्मों में दीर्घायु, चिरायु एवं शतायु की मंगल कामना के साथ त्वदीयं तुभ्यं समपर्यामि ।

भुवनचंद्र - भक्ति - अमृत सिद्धान्त समन्वित, आदर श्रद्धा - विनयपूर्वक

भावत्कं वस्तु गुरुदेवे ! सर्वश्रेयोविधायिके ।
अर्प्यते भक्ति भावेन, भवत्चै शिष्यया मुदा ॥

चरणाविन्दरेणु रुप
साध्वी अमृतरसा



श
व
ल
र
व
र

गुरुमाता

स्नेह वात्सल्य के अनुठे अनुदान से
मम जीवन दीप को
तेजोदीप्त करनेवाली,

अमित-आशिष की तरंगों से
जीवनधारा को
तरंगायमान रखनेवाली

अज्ञानरूपी अंधकार में से ज्ञानरूपी
प्रकाश में लानेवाली

मेरी ऊंगली पकडकर
संयम मार्ग पर चलना सीखाने वाली

जिनका संस्कार ज्ञान
मेरे स्मृति कोश में अनमोल धरोहर
रूप सुरक्षित है ।

जिनका असीम आशिर्वाद आज भी
मुझे पल पल मार्ग दिखा रहा है ।

सेवा, समता एवं शिक्षा के ऊद्गता
सरल स्वभावी, वात्सल्यवारिधि, ममतामयी
साध्वीरत्ना भुआजी म. मम गुरुवर्या
सुसाध्वी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. (गुरुमाता)

के चरणों में उनकी पावन स्मृति में
उनके ही ज्ञानमय, चैतसिक व्यक्तित्व को
प्रस्तुत कृति सविनय, सश्रद्धा, सभक्ति

सादर समर्पित...

गुरु चरणरज
साध्वी अमृतरसा

शुभचिन्ता

सादर समर्पित



सुकृत सहयोगी

श्री राज राजेन्द्र
प्रकाशन ट्रस्ट

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मंदिर
शेखनो पाडो, रिलिफरोड,
अहमदाबाद.



विश्वपूज्य प्रातः स्मरणीय प.पू.दादा गुरुदेव
श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

आ.श्री धनचंद्रसूरिजी म.सा.



आ.श्री भूपेन्द्रसूरिजी म.सा.



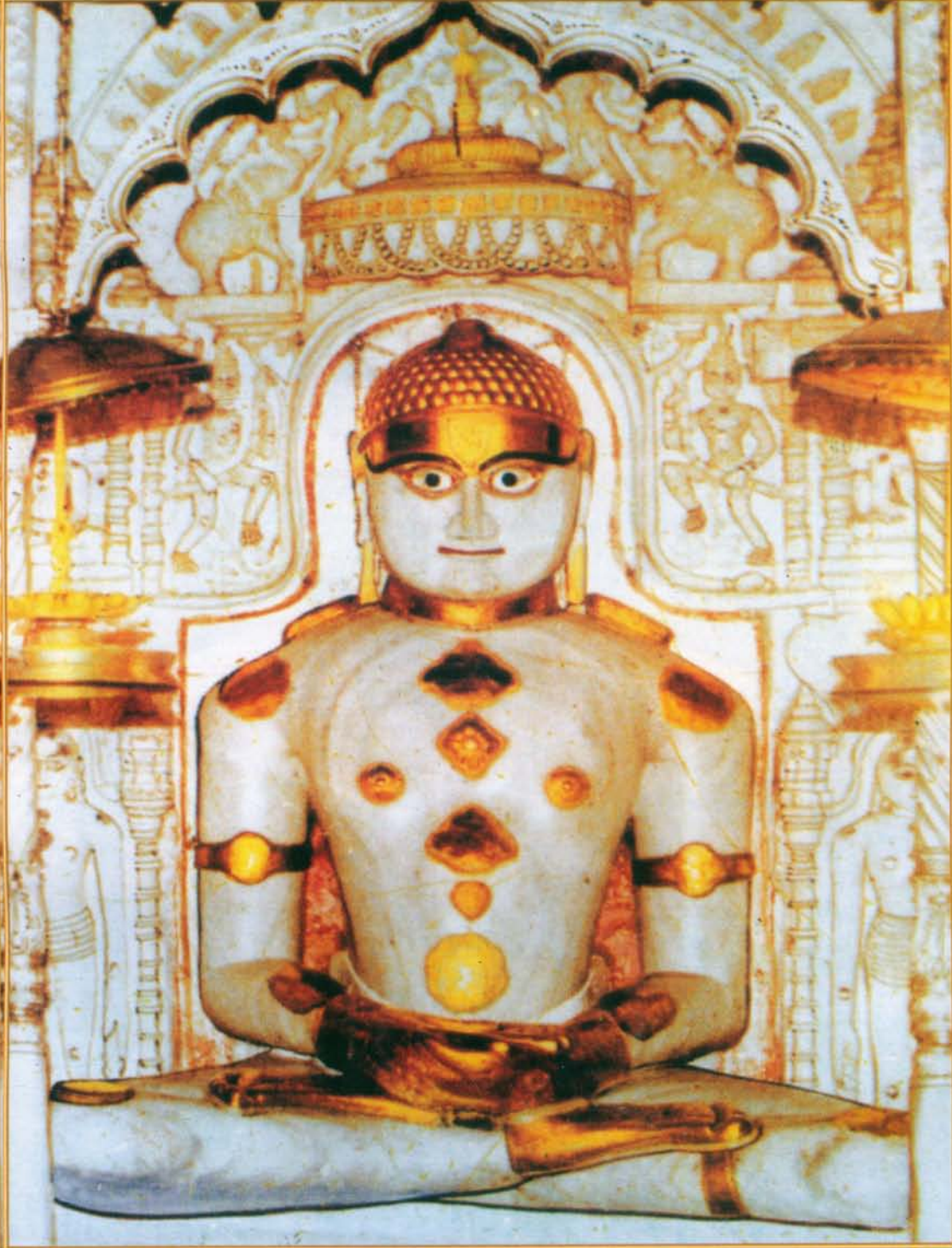
आ.श्री यतिन्द्रसूरिजी म.सा.



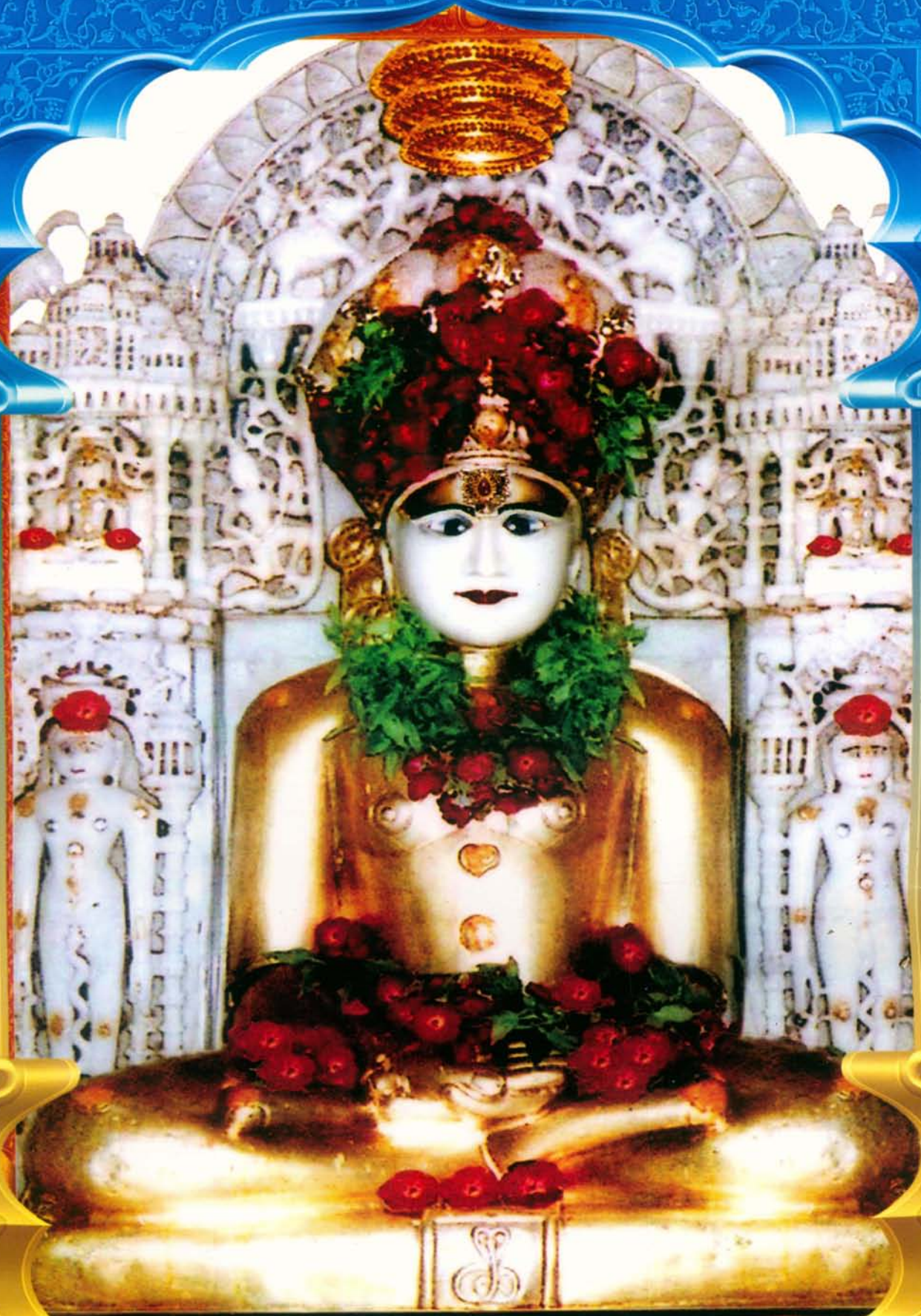
आ.श्री विद्याचंद्रसूरिजी म.सा.



शत्रुंजयतीर्थाधिपति श्री आदीश्वर भगवान



ह
त्रिलोकनाथ !
विश्वकल्याणकर्ता विश्वोद्धारक
विश्वेश्वर



श्री शंभेश्वर पार्श्वनाथाय नमः

नै श्रद्धा नमः



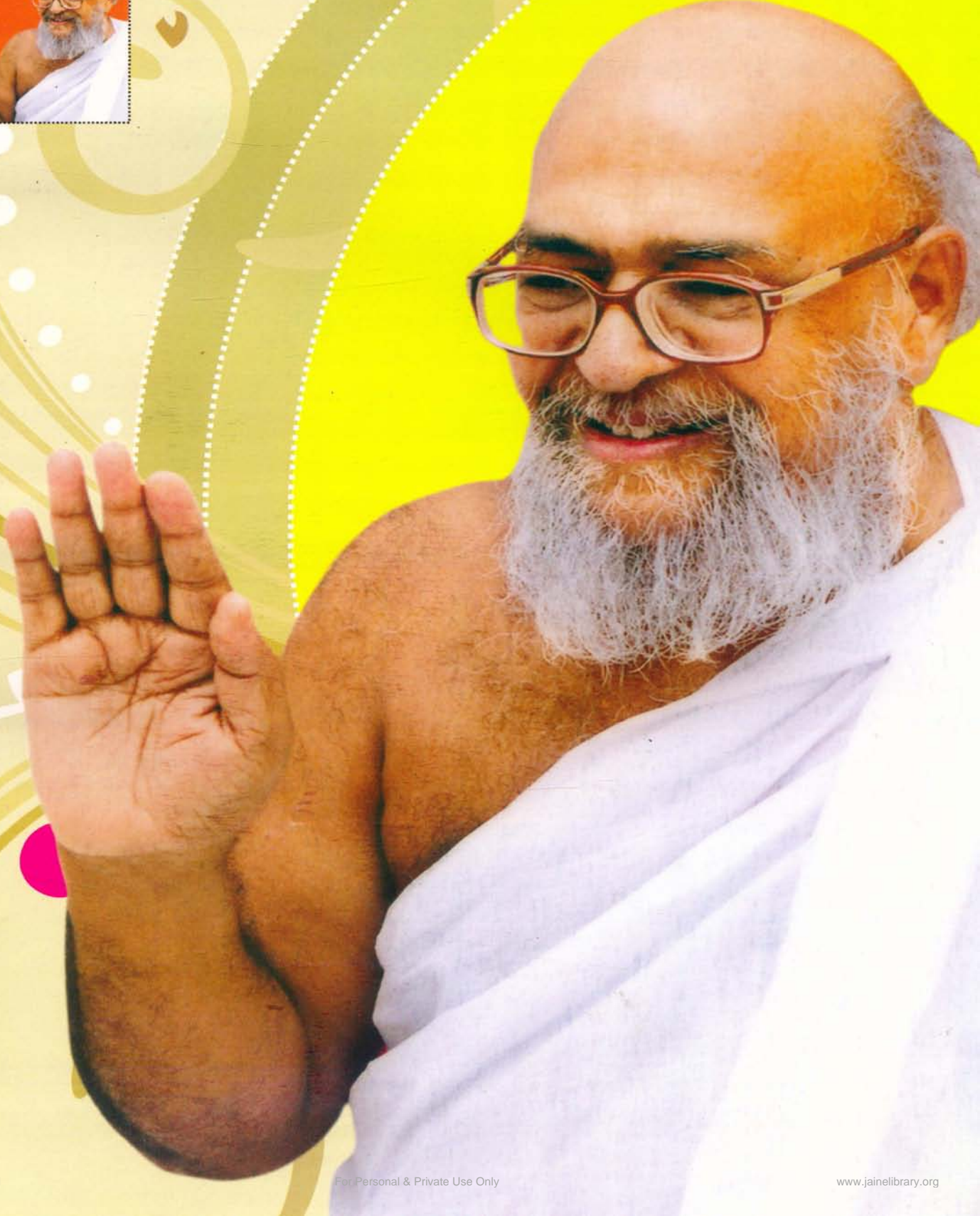
વિશ્વ પૂજ્ય
પ્રાતઃસ્મરણીય પ.પૂ.દાદા ગુરુદેવ
શ્રીમદ્ વિજય

રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ. સા.





स्तवन रचियता कवि हृदय मधुकर
त्रिस्तुतिक संघनायक, राष्ट्रसंत गच्छाधिपति प.पू.
श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा.

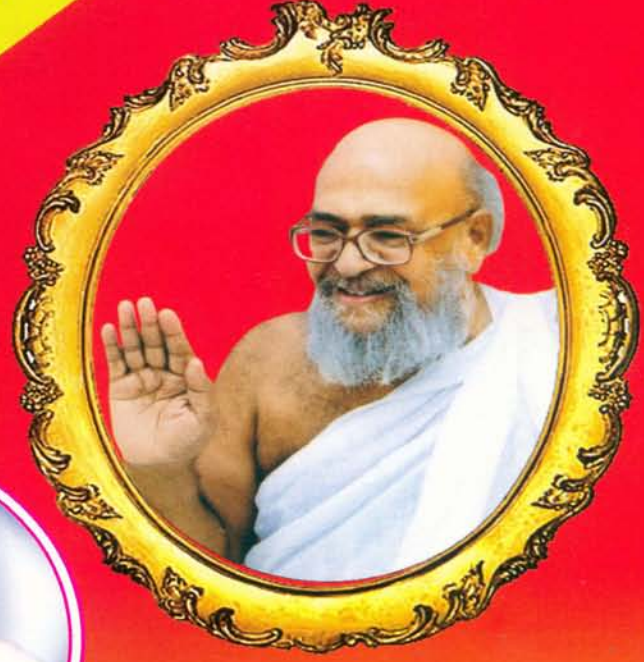




सखलमना सा.भुवनप्रभाश्रीजी
(गुरुमैया)



दिव्याती दिव्य
आशीर्वादः



ना मुझे वाद चाहिए...
ना मुझे विवाद चाहिए...

मुझे आप सबका...
आशीर्वाद चाहिए...



अशांत से शांत,
नीरस से सरस
दुःख से सुख
बिन्दु से सिन्धु

पतन से उत्थान
चरम से परम
उदय से विकास
बिज से वट वृक्ष

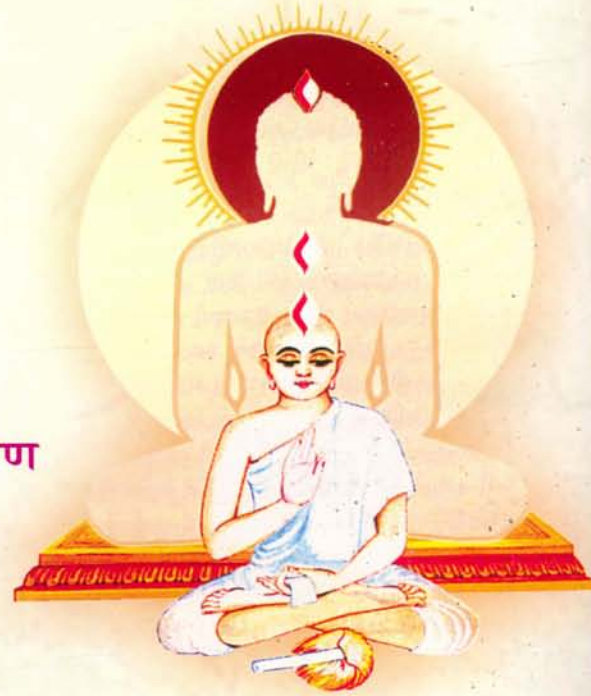
शून्य से सर्जन !
इन के पीछे बल है गुरुकृपा !
गुरुकृपा के संबल से प्रारम्भिकता क्रमशः ।
उत्तरोत्तर उन्नति, प्रगति, श्रेय एवं आत्मकल्याण
की ओर से जाती है ।
जिसका

अध्ययन, मनन, चिंतन के वक्त में
प्रस्तुत किया गया है
मेरी कलम से !
अभ्यास्थार्थी शोधप्रबन्धकों के लिए
यह तो एक सागर में से गागर समान
फूल नहीं पर पंखडी के रूप में
प्रयास हे मेरा... !

गुरुदेव के प्रति दिल में रही हुई श्रद्धा, भक्ति, आस्था,
समर्पण, बहुमान स्वरूप प्राप्त गुरुकृपा एवं आशीर्वाद का ही फल
है, जो पाठकों के सन्मुख प्रेषित है।

यह शोधप्रबंधग्रंथ....!

गुरुकृपादृष्टि



॥ गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि सद् गुरुभ्यो नमः ॥

सुविशाल गच्छाधिपति राष्ट्रसंत
श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.
“मधुकर”

जिनशासन विश्व में अनादि से जयवंत रहा है।
अनेकानेक जिनशासन के ध्रुवतारकोने स्वयं की प्रज्ञा शक्ति द्वारा
इसे प्रकाशमान किया है।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म.सा. ऐसे ही ध्रुवतारक
समान हुए हैं। जिन्हें षड्दर्शन का सम्पूर्ण ज्ञान था।
उनकी प्रतिभा अद्भुत एवं अलौकिक थी।

दर्शनशास्त्र की प्रत्येक विद्या में उन्होंने समग्र जगत को
विशिष्ट दिशा निर्देश देकर बोध प्रदान किया है।
अध्यात्म, तत्त्व, न्याय, कर्म, योग आदि अनेक

विषयों के परमज्ञाता ऐसे समर्थ ज्ञानधनी की गंगोत्री
में गोते लगाकर तत्त्वज्ञान का आलेखन ममाज्ञानुवर्ती वयोवृद्ध
साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी की सुशिष्या साध्वीजी श्री

अमृतरसाश्रीजी ने बहुत ही गहनता से सम्पन्न किया है। 9 अध्यायों में
विभाजित यह सुंदर-सुगम विश्लेषण पठनीय-मननीय है। यह आलेखन
कर उन्होंने P.H.D. पद प्राप्त किया है, जिससे समुदाय

का गौरव बढ़ा है। इनको प्राप्त सफलता की मुझे अतिव प्रसन्नता
है। इस प्रसंग पर मैं साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी को बहुत
अभिनंदन एवं धन्यवाद देता हूँ। इनकी जीवन शैली

तदनुरूप बन उज्ज्वल - उन्नति पथ आगे बढ़े,
यही अभ्यर्थना

मधुकर

दि. १२/१०/२०१३

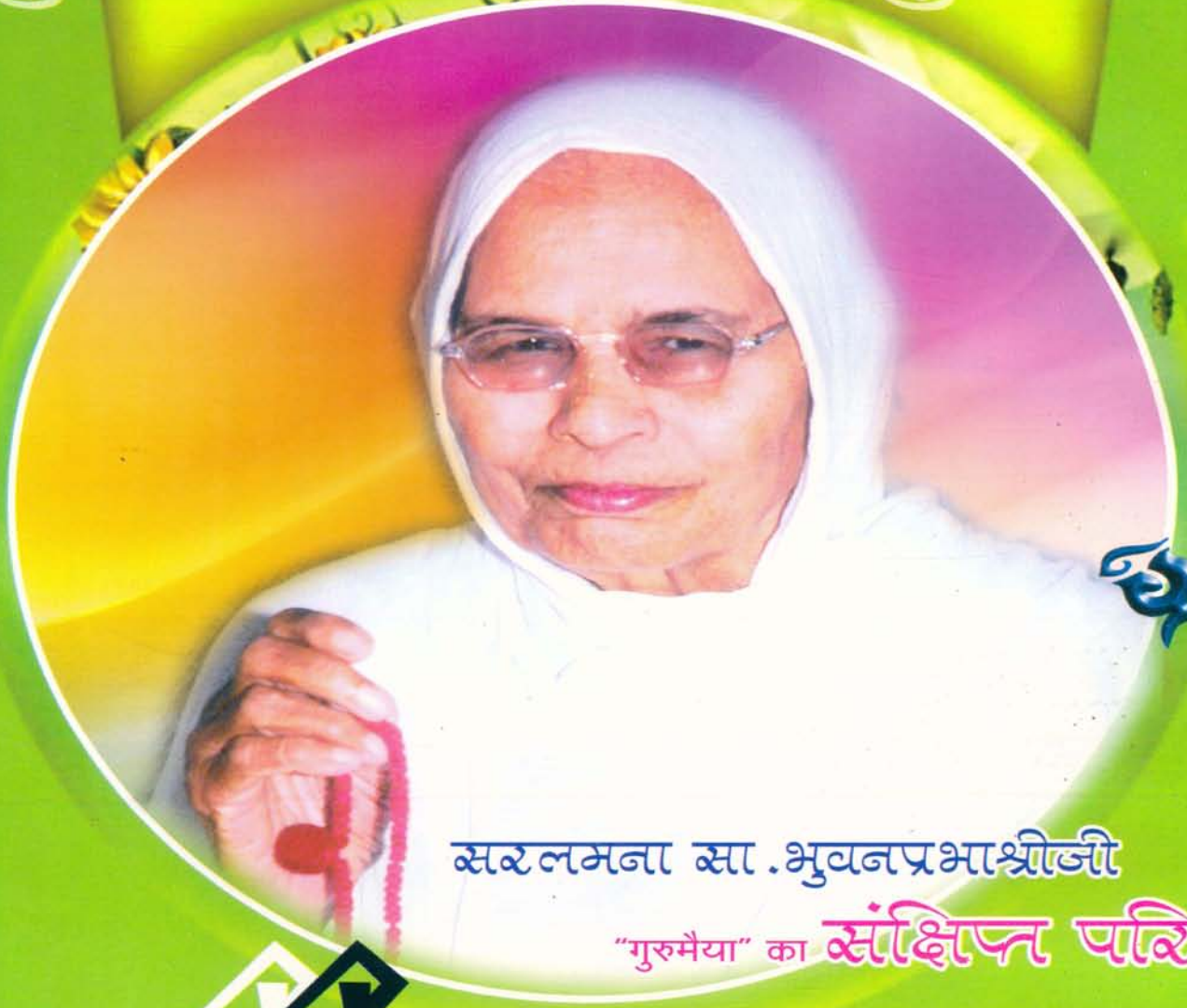
Madhukar..

Shri Raj Rajendra Tirth Darshan Jayantsen Museum, Mohankheda Tirth
Rajgad-454116 (Dist : Dhar) (Phone : 07296-235320)



“गुरुमैया”

“गुरुमैया”

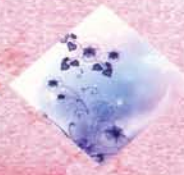


सरलमना सा.भुवनप्रभाश्रीजी

“गुरुमैया” का संक्षिप्त परिचय

जन्म स्थल	करबुण
जन्म नाम	जासुबेन
पिता	सरुपचंद
माता	दिवाळीबेन
दीक्षा	वैशाख वद - ५
दीक्षा स्थल	थराद
दीक्षा दाता	तपस्वी मुनिराज श्री हर्ष विजयजी म. सा.
दीक्षीत नाम	सा. भुवनप्रभाश्रीजी
वडी दीक्षा स्थान	राजगढ
वडी दीक्षा दाता	यतिन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.
आयुष्य	८० वर्ष
दीक्षा पर्याय	५८ वर्ष
कालधर्म	भादरवा सुद पूनम, थराद





शुभकामना

शुभकामना

दार्शनिक चिन्तन का अवलोकन

चिंतक जीवन की प्रगति के सौपान तक पहुंचकर मंजिल पार करता है। ज्ञानवर्धक चिंतन करते-करते महापुरुषों के जीवन सागर में गोते लगाने वाला उनके ज्ञान रत्नों को अवश्य पाता है। श्रमणीवर्या अमृतरसा जी ने ज्ञान समुद्र में गोते लगा कर महापुरुष वाचक प्रवर श्री यशोविजय जी के जीवन के रत्नों को पाकर जो पुस्तक लेखन किया, वह अनुकरणीय है। यह भगीरथ प्रयत्न राष्ट्रसंत, शासनसम्राट, जैनाचार्य प्रवर श्रीमद् **विजय जयन्तसेनसूरीश्वर जी म.सा.** की आज्ञानुवर्तीनी के गुरु आशीर्वाद पाकर यह वाचकप्रवर श्री यशोविजय जी के दार्शनिक चिन्तन का अवलोकन कर अन्य रूप में संघ, समाज, शासन एवं ज्ञान पीपासुओं को आत्मश्रेय का आधार दिया, जो सभी के लिये उपयोगी बनेगा। इसी तरह ज्ञान सागर के रत्नों को बांटने से प्रगति करें, यही हृदय से कामना करते हैं। इति

- नित्यानन्द





भगिन्याभिनन्दनम्



“णाणस्स सारमायारो” - ज्ञान का सार आचार है। कहां भी है कि “ज्ञानी सर्वत्र पूज्यते” - ज्ञानी यत्र, तत्र, सर्वत्र पूजा जाता है। इसी उक्ति को चरितार्थ करते हुए आचार की पृष्ठभूमि को मजबूत बनाने हेतु हमारी गुरु-भगिनी साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी ने अध्यात्मयोगी, न्यायविशारद, न्यायाचार्य उपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य इस विषय पर गहन अध्ययन कर शोधग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

उपाध्याय यशोविजय जी १९वीं सदी के एक विशिष्ट पुरुष थे। वो योगी नहीं महायोगी थे। वो युगदृष्ट एवं युगसृष्ट भी थे। महान परिव्राजक भी थे। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत, हिन्दी-गुजराती आदि में अनेक साहित्यों की रचना की थी। वे ज्ञान के धनी थे। उनका पुरा जीवन ज्ञानमय था। उपाध्यायजी जब काशी से पढकर आये थे तब श्रावको ने प्रतिक्रमण में सज्जाय बोलने को कहा तब उपाध्यायजी ने कहा कि मुझे याद नहीं है। तब श्रावकों ने कहा कि १२ वर्ष काशी में रहकार क्या घास काटा। उसी समय वो मौन रहे। फिर दूसरे दिन प्रतिक्रमण में सज्जाय का आदेश लिया और सज्जाय के ६७ बोल की सज्जाय को बनाते गये और बोलते गये। तब श्रावक लोग थक गये उन्होंने कहा कि अभी कितनी बाकी है। तब उपाध्यायजी ने कहां कि मैंने १२ वर्ष काशी में घास काटा है उनका पूला बना रहा हूँ। ऐसे वे ज्ञान के धनी थे।

ऐसे ज्ञाननिष्ठ यशोविजय के संपूर्ण साहित्य पर मेरी गुरुभगिनी साध्वीजी अमृतरसाश्रीजी को Ph.D. करने का पुण्य से योग मिला। श्रेयांसि बहुविघ्नानि - श्रेष्ठकार्य में अनेक विघ्न आते हैं। दक्षिण भारत का विहार, पुस्तकों की अनुपलब्धि, कठिन ग्रंथ, पढाने वाले का अभाव फिर भी कहते हैं कि जहाँ चाह होती है वहाँ राह मिल जाती है। उसी उक्ति को चरितार्थ कर एवं आपकी ज्ञान के प्रति अत्यंत रुचि, निष्ठ, जिज्ञासा होने के कारण इधर-उधर, आहोर, थराद, मद्रास, कोबा, मैसूर, धोलका, पाटण जहां से पुस्तके उपलब्ध हुई वहां से मंगवाई। इन सब के पीछे दादा गुरुदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की दिव्यकृपा मिली एवं हमारे संयमदाता, अनंत उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद एवं सतत आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती रही क्योंकि गुरुदेवश्री साहित्य के सर्जक हैं। आज तक उन्होंने अनेक साहित्य की रचना की है। पूरे दिन गुरुदेवश्री का चिंतन चलता ही रहता है। ऐसे गुरुदेवजी के आशीर्वाद एवं साध्वीजी की जिज्ञासा ने उनको आगे बढ़ाया। साथ ही मम गुरुमैया पूज्य भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की भी ज्ञान के प्रति, सतत प्रेरणा रही और आगे बढ़ाने के लिए आशीर्वाद देते रहे। वो आज उपस्थित नहीं हैं फिर भी उनकी अदृश्य कृपा सदैव बरसती है। इन सभी वडीलों के आशीर्वाद से यशोविजयजी के साहित्य में Ph.D. उपाधि हमारी गुरु भगिनी ने प्राप्त की बहोत बहोत हमारी और से बधाई हो एवं आगे भी आपका जीवन ज्ञानमय बने यही मंगलकामना।

“गुरुओं की मंजिल तक चलते हैं वो लोग निराले होते हैं।
गुरुओं का आशीर्वाद मिलता है वो लोग किस्मतवाले होते हैं।”
आगे बढ़ना जिनकी उमंग है, फूलों सा खिलना जिनकी तरंग है।
रुकना नहीं सिखा जिसने, सफलता हमेशा उसी के संग है।
सर्व कार्यो मंगलमय हो इसी शुभकामना के साथ।

भुवनशिश्नु
भक्ति सिद्धांत

शुभाशंसा



साध्वी अमृतरसाश्री ने 'उपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक वैशिष्ट्य' विषय पर अपना शोधकार्य जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूं से सम्पन्न कर डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की। मैं अपने आपको अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे निर्देशक के रूप में इस पुनीतकार्य का निर्देशन करने का अवसर मिला। कहते हैं कि ज्ञानयज्ञ में जितनी आहुतियाँ दी जाय कम है। इस ज्ञानयज्ञ का वैशिष्ट्य इसलिए है कि जिनशासन के यशस्वी आचार्य परम्परा में महामहोपाध्याय श्री यशोविजय की सुकीर्ति विद्वद्मानस को चिरकाल से प्रकाशित कर रही है। श्री हरिभद्रसूरि एवं कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि के पश्चात् उनका अग्रगण्य स्थान रहा है। उनकी योग्यता, क्षमता एवं विद्वत्ता को देखते हुए सुजसवेली भास में उन्हें 'कलिकाल श्रुतकेवली' कहा गया है। साहित्य के क्षेत्र में उनकी कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी-मारवाड़ी में गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्यपद्यबद्ध भी हैं। शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ खण्डनात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी हैं। उनकी अपूर्व साहित्य सेवा से पता चलता है कि वे व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छंद, तर्क, आगम, नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी आदि अनेक विषयों के सूक्ष्मज्ञान के धारक थे। तर्काधिपति होते हुए भी उन्होंने तर्क एवं सिद्धान्त को सन्तुलित रखा।

ऐसे यशस्वी, मनस्वी, तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी उपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक ग्रन्थों का पारायणकर उनकी साहित्य गंगोत्री में डुबकी लगाकर जिन महर्धमणिकाओं को साध्वी अमृतरसाश्री ने जनसम्मुख प्रस्तुत किया है, उसका पुस्तकाकार रूप अध्येताओं के लिए मार्गदर्शक बनेगा, उनकी ज्ञान पिपासा को शान्त करेगा तथा शोधार्थियों के लिए आगे का मार्ग प्रशस्त करेगा। साध्वीजी का यह श्रमसाध्य कार्य सभी अध्येताओं की ज्ञान वृद्धि करेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

पुस्तक प्रकाशन के अवसर पर साध्वीजी को साधुवाद देना चाहूंगा कि उनका श्रम, उनका अध्यवसाय सार्थक हो, सफल हो। उनके अथकश्रम के परिणाम स्वरूप प्रस्तुत पुस्तक का स्वागत दर्शन जगत में निस्संदेह होगा। उनकी साहित्य साधना, उनकी आराधना एवं उनकी उपासना उत्तरोत्तर अभ्युत्थान को प्राप्त हो, इसी शुभाशंसा के साथ सर्वमंगल की पावन कामना करता हूँ।

दिनांक : 14.11.2013



डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निर्देशक, दूरस्थ शिक्षा निर्देशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं-341 306 (राज.)



संक्षिप्त परिचय



साध्वीजी अमृतरसाश्रीजी

सांसारिक नाम	अनिता
पिता	हरिलालजी
माता	जासुदबेन
जन्म स्थल	अहमदाबाद
जन्म	भादरवा वद-२ दि. २६-९-१९८०
दीक्षा तिथि	महा सुद - १३ दि. १७-२-२०००
दीक्षा स्थल	पालीताणा
वडी दीक्षा	कारतक सुद - ११
वडी दीक्षा स्थल	चौराउ
दीक्षा वडीदीक्षा दाता	आचार्य श्री जयंतसेनसूरिजी म.सा.
गुरु नाम	पू. भुवनप्रभाश्रीजी म.
अध्ययन	आध्यात्मिक एवं व्यवाहारिक शिक्षण M.A. पी.एच.डी..
राष्ट्रीय सन्मान	डो.अरवींदजी विक्रमसिंहजी द्वारा अहमदाबाद में
राष्ट्रीय सन्मान	दि. १२-९-२०१३ दोपहर १२-३९ बजे.



अनंतशः उपकारी

माता-पिता



मेरे इस शोधग्रंथ की प्रमुख आधारशीला मेरे संसारपक्षीय माता-पिता हैं। जिन्होंने मुझे जन्म से ही व्यवहारिक अभ्यास के साथ साथ धार्मिक अभ्यास में पीछे न रहे उसका विशेष ध्यान रखा है। प्रतिदिन कहते थे कि...

ज्ञान व्यक्ति की पांख है।

ज्ञान व्यक्ति का विश्राम है।

ज्ञान प्राप्त करने से व्यक्ति महान बनता है।

इस तरह से संस्कार प्रतिदिन दिया करते थे। संयम जीवन ग्रहण करने के बाद भी जब मिलने आते तब यही कहते थे गुरु आज्ञा, वैयावच्च एवं ज्ञान प्राप्ति में पीछे कदम मत उठाना। उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद ही इस शोधग्रन्थ की सफलता की सीढ़ी है।

एसे उपकारी माता-पिता के ऋण को हम कैसे चुका पायेंगे... ?

“मिले जो मुझने रसना एक करोड
वर्णवी शकु ना विश्व मां माता तमारा कोड
दिवो लईने शोधता ना मले जननी जोड
है उपकारी माता ना शीद जाय उथाम्या बोल”

लाख काशी, लाख गंगा, लाख गीता गाय छे
लाख देवो, लाख दानव, शास्त्रोनुं ज्यां माप छे
लाख गोकुल लाख मथुरा प्रभुनी ज्यां छाप छे
सब से श्रेष्ठ हो तो आप के माता - पिता हैं।

इन के साथ साथ भाई-
भाभी, बहून-बहनोई सब की
एक ही इच्छा थी कि आप कैसे
भी करके P.H.D. पूर्ण करो
हम आप को तन, मन, एवं धन
से साथ-सहकार एवं सहयोग
देने के लिए तैयार हैं। अतः
इस समय उनको भी याद
करना मेरा कर्तव्य, फर्ज है।

साध्वी अमृतरसाश्रीजी म.



उपकारी माता-पिता

विनम्र वन्दनांजलि



महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज !

आपने ग्रन्थों के न्यायालय में एक सक्षम, कुशल धाराशास्त्री की अदा से कुमत के सिद्धांतों को रद्द करने में पीछेकदम नहीं उठये थे। मुझे लगता है कि...

चिंता की ज्वालाओं मा शारदा के अश्रुप्रवाह की भीषण जलधारा से शांत हो गई होगी तब आप ग्रंथागारों की रेशमी पोथीओं में डूब गये होंगे। जो भी हो -

पर, आपको मृत कौन कहेगा ?

अरे, एक बात पूछती हूँ ?

जिनकी गंधमात्र से कुवादीओं मूर्च्छित हो जाते थे ऐसे वेधक ग्रन्थ क्या आप क्लोरोफोर्म रुपी शाही से लिखा था ? और किसको गाते गाते आंखों में से भक्तिभीनी अश्रुधारा बहती है। ऐसे संवेदक स्तवनाओं की रचना आप टीयरगेस की शाही से तो नहीं लिखी थी न ?

आपके ग्रन्थों ने प्रत्येक शब्द में से नीतरते शासनराग के चोलमजीठरंग से रंगाकर। आपनी स्तवनाओं से बह रहे मधुर परमात्माप्रणय के रस का पान करके, एवं आप प्राप्त करेल मा सरस्वती के अपार अनुग्रह को अभिनंदी ने... आपसी बेजोडबुद्धि प्रतिभा के एवं स्व-पर मर्मज्ञता के दस्तावेजी पुरावा जैसे अद्वितिय ग्रन्थरत्नों को विनम्र वंदनांजलि।

आपके नाम के आगे स्वर्गस्थ विशेषण लगता है। फिर भी हजारों युवानों की धबकती धर्मचेतना रूप आज भी आप जीवंत हो।

सैंकड़ों श्रमणों की सुविशुद्ध संयमचर्या एवं सुरम्य अद्भूत शासनसेवा की सौरभ रूप आज भी आप महेकते हो।

दिव्यदर्शन में से नीतरती संवेग एवं विराग की अमृतधारा रूप आज भी आप मौजूद हो।

आपके शताधिक प्रकाशनों में व्यक्तिरूप आप आज भी उपस्थित है।

सकल संघ के हीर, खमीर एवं कौशल्य के प्राणाधार रूप आज भी आपका अस्तित्व का अनुभव होता है।

(संपूर्ण वांग्मय के साररूप प्रस्तुत ग्रंथ न्यायाचार्य के चरणों में स्मरणांजलि सह समर्पित करते हुए धन्यता का अनुभव कर रही हूँ।)

आपकी चेतनामय उर्जादायी मूक प्रेरणा से सर्जित यह कृति आपके पुनित पाणिपद्म में साश्रु नयन एवं गदगद हृदय से समर्पित कर रही हूँ।

- सा. अमृतरसा

डॉ अरविन्द विक्रम सिंह

सह आचार्य दर्शनशास्त्र विभाग,

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर-30200

निवास:- L-8E राजस्थान विश्वविद्यालय परिसर,

जयपुर-302004, मोबाईल नं.-09460389042

साध्वी अमृतरसाश्री जी द्वारा लिखित “महोपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य” नामक पुस्तक को पढ़ने का अवसर मिला। सचमुच यह पुस्तक अपने आप में अद्वितीय है। साध्वी जी ने यशोविजय जी की दार्शनिक विचारों को बड़े ही सरल एवं बौध्गम्य रूप में प्रस्तुत किया है। जिसको पढ़कर एक सामान्य व्यक्ति भी महोपाध्याय जी के दर्शन को समझ सकता है। मूलरूप से महोपाध्याय जी की शैली कठिन एवं दुरूह है जिसको सामान्य जनमानस नहीं समझ सकता। महोपाध्याय ने जैन साहित्य में जिस शैली का प्रयोग किया है, वह नव्य न्याय की शैली से मिलती है। जो व्यक्ति नव्य न्याय की शैली से अपरिचित है उसे विजय जी के ग्रन्थों को समझने में कठिनाई होगी। उदाहरण के तौर पर- प्रमा, प्रमेय, प्रमाण, नय, मंगल, मुक्ति, आत्मा एवं योग आदि अनेक विषयों पर नव्य न्याय की शैली का प्रयोग किया है। उसी प्रकार से कर्म तत्त्व, आचार, चरित्र आदि पर उन्होंने आगमिक शैली का प्रयोग किया है। उनकी शैली खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक एवं समन्वयात्मक है। वे विषयों की पूरी गहराई तक पहुँचते हैं। उनकी कृतियों किसी अन्य के ग्रन्थ की व्याख्या न होकर एक मूल, टिका या दोनों रूप से स्वतंत्र है। ये श्वेताम्बर जैन होते हुए भी अनेक सम्प्रदायों के शास्त्रों को अपने दर्शन में उचित मान देते हैं।

ऐसे महान चिंतक, दार्शनिक एवं जैन आचार्य के दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत कर साध्वी जी ने महान कार्य किया है। मेरी परमपिता परमेश्वर से कामना है कि यह पुस्तक शोध छात्रों एवं दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो और साथ ही साथ साध्वी जी को हमारी शुभ कामनाएँ।

भवनिष्ठ

डॉ अरविन्द विक्रम सिंह

Jain Vishva Bharati Institute

(Deemed University)

Ladnun-341 306 (Rajasthan)

Ph. : 01581-226110, 224332

Fax : 01581-227472



जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341 306 (राजस्थान)

फोन : 01581-226110, 224332

फैक्स : 01581-227472

डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

दिनांक :

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि साध्वी अमृतरसाश्री ने “महोपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य” विषय पर मेरे निर्देशन में अपना शोध-कार्य सम्पन्न किया है। इनका यह कार्य मौलिक एवं प्रामाणिक है। इन्होंने अपने शोध-कार्य में जैन विद्या के मूल ग्रंथों के साथ-साथ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का भी भरपूर उपयोग किया है। इनके अध्यवसायपूर्ण शोध-कार्य से विषय को नया प्रकाश मिला है। इनका आचरण एवं व्यवहार उत्तम रहा है। अतः इनके शोध-कार्य की पी-एच्.डी. उपाधि हेतु मूल्यांकन की संस्तुति की जाती है।

(डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी)

मंगल-कामना

“यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारतः,
अभ्युत्थानम् यः धर्मस्य तदात्मानाम् स्वजाम्यहम् ।”

भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है। अतः जब भारत में धर्म की हानि हुई, तब तब धर्म के पुनरुत्थान के लिए भव्यात्माओं का सन्तों का धर्मात्माओं का, मनीषियों का, महामानवों का अवतरण हुआ, - जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से विपुल साहित्य सर्जन से, विशिष्ट शासन प्रभावना से जन सामान्य का मार्ग प्रशस्त किया। व्यष्टि की सीमा को लांघकर - उनकी विचारधारा, उनके कार्य, उनकी जीवनशैली समष्टिमय बनी तथा उन्होंने 'सर्व जन हिताय' - सर्वजन सुखाय - अपने जीवन को समर्पित कर संस्कृति की सुरक्षा का भारोद्वेलन किया। उनके कार्य-कलाप, मानसिक व्यापार, आचार-विचार और व्यवहार तथा बौद्धिक चिन्तन की सहस्राब्द-रश्मियाँ, जन के मानस का प्रेरणादीप बनी तथा उनमें नव जीवन का उजाला प्रस्फुरित कर सुपुत्र सद्भावनाओं के नव-जागरण का आदर्श बनी।

शासन नायक, विश्व वत्सल - प्रभु महावीर के धर्मशासन की परम्परा में भी ऐसे अनेक धर्म प्रभावक, शासन प्रभावक, साहित्य प्रभावक - आचार्य - भगवन्त एवं श्रमण भगवन्त हुए - जिनका जीवन महान था, व्यक्तित्व एवं कृतित्व महान था तथा जीवन का प्रत्येक आयाम देदीप्यमान था। श्री भद्रबाहु स्वामी, श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री हरिभद्रसूरि, श्री हेमचन्द्र सूरि, आचार्य कुन्दकुन्द, श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण - जैसे समर्थ आचार्यों की पंक्ति में, न्यायाचार्य, न्याय-विशारद, तार्किक शिरोमणि कलिकाल केवली जैसे बिरुदों के धारक, युगप्रवर्तक उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी जैन शासन के अन्तिम परम प्रभावक महापुरुष थे, जिनके द्वारा कथित व लिखित शब्द-प्रमाण स्वरूप माना जाता है। जैन धर्म व दर्शन के पारंगत विद्वान, पूज्य श्री यशोविजयजी, अन्य धर्मों व दर्शनों के भी तलस्पर्शी ज्ञाता थे, इसीलिए उनके साहित्य में व्यापक विद्वता, उदारता, व्यापक दृष्टि एवं समन्वयात्मकता का सुभग दर्शन होता है। स्व संप्रदाय में अथवा पर संप्रदाय में जब जब व जहाँ जहाँ उन्होंने तर्कहीनता व सिद्धान्तों में विसंवाद देखा - निर्भयता से आलोचना कर, समीक्षा एवं विश्लेषण कर विलक्षण प्रतिभा का सुन्दरतम परिचय दिया।

ऐसे साहित्य के आदित्य अध्यात्म के मेरुशिखर महान ज्ञानी, निर्मल प्रज्ञा व आंतरिक वैभव के कुबेर, “महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म.सा. के दार्शनिक चिन्तन के वैशिष्ट्य” को अपना शोधविषय बनाकर, पूज्या साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा., जो राष्ट्रसंत, लोकमंगल के क्षीरसागर, दीक्षा दानेश्वर, श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी आचार्य भगवन्त की आज्ञानुयायी है - ने जिनशासन की महती प्रभावना की है।

पूज्या श्री अमृतरसाश्रीजी ने गुजरात के अहमदाबाद शहर में श्री हरिभाई सेठ एवं जासुदबेन के परिवार में जन्म लेकर - मात्र उन्नीस वर्ष की अल्पायु में दीक्षा लेकर - निरन्तर शैक्षणिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति की। साध्वोचित कठोर दैनिक क्रियाएं, विहार, लोच आदि के बावजूद-विपुल ज्ञानार्जन की चाह व गुरु कृपा ने निरन्तर ज्ञान को विस्तार दिया। महोपाध्याय

श्री यशोविजयजी की यशगाथा में तलस्पर्शी अध्ययन एवं शोध कर, उनके व्यक्ति और कृतित्व, उनका अध्यात्मवाद, प्रमाण मीमांसा, तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, योगमीमांसा, अनेकान्तवाद व नयमीमांसा श्री यशोविजयजी की रचनाओं रहस्यवाद, उनका भाषादर्शन, उपाध्यायजी के दर्शन में अन्य दर्शनों की अवधारणा-आदि विषयों पर मन्थन-मनन कर नवनीत प्रस्तुत किया। जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय लाडनू ने-विदुषी साध्वीजी श्री अमृतरसाजी म.सा. द्वारा मन्थित इस नवनीत - "महोपाध्याय श्री यशोविजय म.सा. के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य" नामक शोधग्रन्थ पर पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की है। यह हम सब के लिये, गुरु गच्छ के लिये, पूज्य आचार्य भगवन्त के लिये गौरव-गरिमा का विषय है।

इस सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के लिये हम पूज्या श्री का अभिनन्दन करते हैं तथा मंगल कामना करते हैं कि आपकी लेखनी एवं कर्मठता, इसी प्रकार सतत प्रवाहमान बनी रहे, एवं अपनी पावन प्रज्ञा परक प्रसाति से आप गुरुगच्छ एवं जिनशासन की प्रभावना करें। आपश्री का यह शोधग्रन्थ जिज्ञासुओं के लिए, साधकों के लिये, शोधार्थियों के लिये अध्ययनार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध हो - इसी मंगल कामना के साथ -

डॉ. श्रीमती कोकिला भारतीय
राष्ट्रीय अध्यक्ष, अ.भ.रा.जै. महिला परिषद
खाचरोद, म.प्र.
१८-९-२०१३

હાર્દિક અભિનંદન

પ.પૂ. અમૃતરસાશ્રીજી મ.સા.

અમદાવાદ, તા. ૭-૧૧-૨૦૧૩

સુખશાતા... વંદના

“મહોપાધ્યાય યશોવિજયજી મ.સા.ના દાર્શનિક ચિંતનનું વૈશિષ્ટ્ય” વિષય ઉપર આપને સાહિત્યીક Doctrate Ph.D. ની પદવી મળી છે તે જાણી મને તથા સમસ્ત ત્રિસ્તુતિક સંઘને ખૂબ જ આનંદ અને ગૌરવની લાગણી થઈ છે.

જૈન શાસનમાં પૂ. શ્રી મહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી અને પૂ. દાદા રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.સા. જેવાઅનેક મહાન વિદ્વાનો થઈ ગયા છે. જેમણે રચેલી અનેક આધ્યાત્મિક કૃતિઓ જૈન સંઘ-સમાજને મહામુલી ભેટ-અમર વારસો છે. મહોપાધ્યાયજીએ લખેલાં અનેક તત્ત્વસભર ગ્રંથોમાંથી આશરે ૩૫૦ જેટલા ગ્રંથો હાલમાં પ્રાપ્ય છે. આપે આ વિષયમાં Ph.D. મેળવવા માટે અથાક પ્રયત્ન કરી આશરે ૨૭૫ જેટલાં તેમનાં પુસ્તકોનો અભ્યાસ કર્યો છે. તેના અંતે જે સંશોધન નિબંધ લખ્યો છે તે અપ્રતિમ અને આધ્યાત્મિક છે. આપના આ સંશોધન નિબંધ માટે જેટલા અભિનંદન આપીએ તેટલા ઓછા પડે. આપનો આ સંશોધન નિબંધ જીજ્ઞાસુઓ અને જ્ઞાનીઓ માટે અદ્ભૂત અને ઉપયોગી બની રહેશે.

પૂ. યશોવિજયજી મહોપાધ્યાયે રચેલા શ્રી સીમંધરસ્વામીના ૧૨૫ ગાથાના સ્તવનની ત્રીજી ઢાળમાં કહ્યું છે કે -

અધ્યાત્મ વીણ જે ક્રિયા કરે તે તનુ મલ તોલે...

મમકારાદિક યોગથી એમ જ્ઞાની બોલે...

આ Ph.D. ની ડીગ્રી મેળવવામાં આપને પ.પૂ.રાષ્ટ્રસંત આચાર્યદેવેશ શ્રી જયન્તસેનસૂરીશ્વરજી મ.સા.ના આશીર્વાદ તેમજ આપની ગુરુમૈયા ભુવનપ્રભાશ્રીજી મ.સા.ની પાવનપ્રેરણા તથા ગાઈડ શ્રી આનંદપ્રકાશ ત્રિપાઠીજીનો પણ ઉપકાર વિસરી શકાય નહીં.

ભવિષ્યમાં પણ આપ સંયમ માર્ગે આ રીતે આધ્યાત્મિક ભાવ-અભ્યાસ રાખી આગળ વધી ગુરુજી ગચ્છની ગરિમા વધારી શાસનની શોભામાં અભિવૃદ્ધિ કરો.

એ જ પૂ. દાદા ગુરુદેવશ્રીને પ્રાર્થના...

લી. વાઘજીભાઈ બબલદાસ વોરા

અમદાવાદ

चिन्तन का चित्रांकन

आध्यात्मरूपी आभा तथा आलोक को चिन्तन के आकाश में इन्द्रधनुषी छटाओं की भांति छिड़क कर उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने आत्मार्थियों के लिये उन्नयन की कई परिभाषाएं निष्कर्षित की हैं। वे शताब्दियों के कालखण्ड में अपनी मेधा, प्रज्ञा, प्रतिभा तथा अनुपम तार्किकता के द्वारा अनुपम हस्ताक्षर स्वीकृत बने तथा उनकी सृजनशीलता ने उन्हें आत्मानुभूतियों की सघनता से सम्बद्ध किये। उपाध्याय श्री यशोविजयजी बहुमुखी व्यक्तित्व से समृद्ध थे। उनके द्वारा जिन ग्रंथों का प्रणयन किया गया उनमें चिन्तन की वैशिष्ट्यताओं का सकारात्मक बोध निहित है। वे सत्य के अनेवषण की दिशा में प्रवृत्त हुए तथा उनका समग्र जीवन शब्द, अर्थ, टीका एवं प्रयोग के भावों का पारदर्शन करने में प्रयुक्त होता रहा। वे आनन्दधन के समकालिन थे। आनन्दधन आध्यात्म की रसानुभूति से जीवन सार्थक करने के लिये क्लिष्ट साधना के अनुगामी रहे। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने उन्हें आदर्श मान्य किया था। स्वाभाविक है कि आध्यात्म के उस सघन वायुमान ने उपाध्यायजी के चिन्तन पर गहरी छाप मुद्रित की। आध्यात्मसार, आध्यात्मोपनिषद् तथा ज्ञानसार जैसे ग्रंथों की रचना से उनने जैन वाङ्मय को समृद्ध किया।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी का लेखन कई दृष्टियों से परिपक्व एवं परिमार्जित बना है। उनने उदारतापूर्वक दर्शन व तत्त्वज्ञान की ईतर विधाओं की युक्तियों तथा संदर्भों का प्रयोग कर अपने अंतःकरण की उदारता को प्रदर्शित किया है। उनकी शैली में खण्डन, मण्डन एवं समन्वय तीनों विकसित रहे हैं। जैन विषयों का उनका ज्ञान प्रगाढ था, उन विषयों पर अपनी रचनाओं का सृजन उनकी विशेषता रही है। विशेषतः उनके नव्यन्याय, नयप्रमाण, योग के क्षेत्र में अपनी चिन्तनात्मक परिप्राप्तियां की थीं। इनके आधार पर कई वादों के संघर्ष में वे विजयश्री अर्जित करने में सफल रहे। उनने प्रचुर साहित्य-सर्जन किया। शताब्दियों के इतिहास में कुन्दकुन्द, हेमचंद्र, हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर जैसी विभूतियों से उनने समकक्षता प्राप्त की। उनके चिन्तन की मौलिकता उनकी दिव्य साधना को परछाई का स्वरूप प्रदान करती है।

उनके चिन्तन पर शोधपरक प्रयास कर पूज्य साध्वी श्री अमृतरसा श्रीजी महाराज ने अपनी उर्जा तथा अन्तरप्रेरणा के साथ न्याय किया है। उनका यह पुरुषार्थ निस्सन्देह साधुवाद तथा स्वागत की पात्रता से परिपूर्ण है। मैं उनके उज्ज्वल, यशपूर्ण, आत्मोपलब्ध भविष्य की सद्दृष्टि अर्पित करता हूँ।

सुरेन्द्र लोढ़ा

राष्ट्रीय महामंत्री - अ.भा. श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय
त्रिस्तुतिक जैन श्वे. संघ एवं सम्पादक शाश्वत धर्म
(मासिक) व.ध्वज (दैनिक) मन्दसौर (म.प्र.)

शुभ संदेश

प.पू. राष्ट्रसंत आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्ती प.पू. साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की शिष्या साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. ने महोपाध्याय यशोविजयजी म.सा. के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य सबजेक्ट में साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. ने Ph.D. करके डोक्ट्रेट की डीग्री प्राप्त की इस उपलक्ष में आपको अ.भ. श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद परिवार की तरफ से हार्दिक हार्दिक बधाई और खुब अनुमोदना शुभकामना देते हैं। आपसे यही उम्मीद रखते हैं कि निरंतर आगे बढ़े और ऊँचाईयों को छुयें और गुरुगच्छ और श्री संघ के प्रति समर्पित भाव रखें। यही हमारी शुभकामना है।

आपका

अखिल भारतीय श्री राजेन्द्र नवयुवक परिषद
नेल्लोर शांतिलाल रामाणी

श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी जैन ट्रस्ट

९, एकाम्बरेश्वर अग्राहरम्, चैन्नई-६००००३

हार्दिक वन्दन एवं बधाई

श्री त्रिस्तुतिक समुदाय में "शताब्दी नायक" दादा गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. जिन्होंने कई बहुमूल्य ग्रंथों की रचना की थी जिसमें "राजेन्द्रकोष" एक ऐतिहासिक एवं विरल विश्व शब्दकोष था। जिसकी आवश्यकता जैनेलोजी पढ़ने वाले लगभग सभी विद्यार्थियों एवं जैन दर्शन पर शोध करनेवालों को जरूरत पड़ती है, उन्ही की पाठ परंपरा में अनेक साहित्यविद् हुये हैं जिन्होंने साहित्य ग्रंथ इत्यादि की रचना कर जैन समाज को समर्पित किये हैं। ऐसे ही प.पू. श्रीमद् विजय यतिन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के शिष्यरत्न साहित्य ग्रंथ इत्यादि की रचना कर जैन समाज को समर्पित किये हैं। ऐसे ही प.पू. श्रीमद् विजय यतिन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के शिष्यरत्न साहित्यमनीषी प.पू. आचार्य श्री जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी पू. साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की सुशिष्या पू. साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. के चैन्नई चातुर्मास के दरम्यान अपनी विलक्षण प्रतिभा, गजब की कार्यक्षमता एवं ज्ञान की उज्ज्वलता के बलबूते पर एक अत्यंत कठिन कार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की जीवनी एवं उनकी रचनाओं पर शोधकर Ph.D. हासिल की है। ज्ञानोपासना के साथ ही तप त्याग के बेमिसाल संगम की मिसाल भी आपश्री ने चैन्नई चातुर्मास से दरम्यान कायम की। आपश्रीने पू. आचार्य जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा. के उग्र के ७३ वे वर्ष में पदार्पण के उपलक्ष में ७३ उपवास की उग्र तपस्या की थी और आपने शोधकार्य में पू. आचार्य श्री के मार्गदर्शक और प्रेरणा हेतु ७३ उपवास की गुरु दक्षिणा अर्पित की थी।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ज्ञान के अथक उपासक थे। उनकी स्मरण शक्ति विस्मयकारी थी और ज्ञान की पिपासा अद्भूत थी। आपश्री ने लगभग ५०० ग्रंथों की रचना

की थी और उन्हें चौदह पूर्वधर ज्ञाताश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी म.सा. के लघुभ्राता की उपमा भी दी गई थी। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं में ग्रंथों की रचना की थी। पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी लगभग ३०० वर्ष पहले भारत में अवतरित हुये थे और पूज्य श्री आनन्दघनजी म. उनके समकालिन विद्वान थे। आपश्री पूज्य आनन्दघनजी म. की चौवीसी पूर्ण की थी। आपश्रीने पू. श्री विनयविजयजी म. द्वारा प्रारंभ किये गये श्रीपाल रास को पूर्ण किया था। आपश्री की गजब की ग्रंथरचना के चलते आपको “आगमघर” की उपाधि से विभूषित किया गया था। जिसका अर्थ है कि इनके द्वारा रचित गुजराती ग्रंथों को अगर पढ़ा जाये तो उसमें संपूर्ण ४५ आगम का सार प्राप्त हो जाता है। आपश्री की स्मरणशक्ति इतनी गजब की थी कि अगर आपके समक्ष २००० प्रश्न रखे जाये तो कौन सा प्रश्न किस श्रृंखला में पूछा गया था उसे आप श्री तत्क्षण बता देते थे। इसीलिये आपश्री को “सहस्रवधान” की अद्भूत क्षमता वाले विद्वान भी कहा जाता है।

ऐसे विलक्षण ज्ञान के धारक महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की जीवनी एवं रचनाओं पर शोध करना एक अत्यंत कठिन कार्य है और साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. ने अपनी विलक्षण ज्ञानोपासना और अथक परिश्रम से इस कार्य को पूर्ण किया है तो वे अनंतसाधुवाद के पात्र हैं। अपने ज्ञान अपनी शक्ति और सामर्थ्य का शासनोपयोगी कार्य कर आपश्रीने ज्ञान के अथाह क्षेत्र में जो डंका बजाया है। उसकी ध्वनी-प्रतिध्वनी आने वाले अनेक वर्षों तक जिनशासन के यशस्वी पटल पर गुंजायमान रहेगी। हम परम पिता परमेश्वर एवं शासन देवी से हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि आपश्री को ज्ञानोपासना की अथाह शक्ति दे और ज्ञानोपासना की आधारबूत काया को चिरकाल की आरोग्यता प्रदान करें ताकि आप श्री शासनोपयोगी ऐसे विलक्षण कार्य भविष्य में भी करती रहे।

अजीब योगानुयोग है कि पू. साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. जन्म भी अहमदाबाद में हुआ था और महोपाध्याय पूज्य श्री यशोविजयजी म.सा. की जीवनी एवं रचनाओं पर आपश्री द्वारा शोध की पूर्णता भी अहमदाबाद नगर में चातुर्मास के दौरान हुई।

पुनः पुनः आपश्री के चरणकमलों में नतमस्तक होते हुए हम आपश्री के चिरकाल की आरोग्यता एवं ज्ञानोपासना की शुभमंगल कामना करते हुए आपश्री को कोटि कोटि वंदन करते हैं।

श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी जैन ट्रस्टी गण
विमलचंद वजावत
सचिव

अभिनंदन

वर्तमान आचार्यदेव प.पू. जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा.ना आज्ञानुवर्ती साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा.ना सुशिष्या साध्वीजी अमृतरसा म.सा. द्वारा शोध निबंध पर पी.એચ.डी.नी डीग्रीथी सन्मानित थयां ते बढल आपश्रीने भूष भूष अभिनंदन.

समस्त त्रिस्तुतिक जैन संघ अने थराद त्रिस्तुतिक जैन संघ आपनी आ सिद्धि माटे गौरव अनुभवे छे अने आपने धन्यवाद पाठवे छे.

संघवी नटवरलाल डायलाल

ट्रस्टी मेनेजर

श्री जैन श्वेताम्बर मू.पू. संघ, थराद (बनासकांठा)

मंगल कामना

प्रतिष्ठा में

साध्वीजी भगवन्त श्री अमृतरसाश्रीजी सा., अमदावाद

प्रसन्नता का ज्वार मन में आया, आपके शोध प्रबन्ध को स्वीकार किये जाने के समाचार से ।

विबुध कहे जाने वाले श्री नयविजयजी म.सा. के शिष्य उपाध्याय यशोविजयजी/यशविजयजी के सम्बंध में शोध प्रबन्ध तैयार करना दादा गुरुदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की दिव्य आशीर्वाद वर्तमान शासनसम्राट् श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. की व दिवंगत साध्वीजी भगवन्त श्री भुवनप्रभाश्रीजी की कृपा से सम्भव हुआ है ।

आपका अपना श्रम इन सभी के सहारे से आपको इन स्थान तक लाया है ।

झीलिया जे गंगाजले ते छिल्लर जल नवि पेसे रे,
जे मालति फुले मोहिया ते बाबूल जई नवी बेसे रे ।

के शब्दों से तीर्थंकर परमात्मा महावीरदेव की वन्दना करके वाचक यश श्री यशोविजयजी म.सा. ने साधक की उत्कृष्ट स्थिति का आकलन किया है ।

श्रद्धा का भाजन गंगाजल व

मालती के सुगन्धित पुष्प ही हो सकते है, गड्डे में भरा जल व बबुल का वृक्ष नहीं

वाचक जस की वर्तमान जिन चौबीसी व विहरमान जिन वीश तीर्थंकर परमात्मा की श्रेष्ठता बताते हैं । ऐसा वर्तमान काल में अभिधान राजेन्द्र कर्ता विश्वपूज्य प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. ने विक्रम संवत् १९२८ में राजगढ नगर में वर्तमान जिन चौबीसी में किया है ।

श्री वासुपूज्यजी के स्तवन में "देखो देख ओ दीनदयाला सुर सा निध्य नहीं साहे रे" बताते

हुए सुपार्श्वनाथ स्तवन में “अन्य देव आराधता रे संवर नहीं सावध्य” कहकर अपनी बात रखी है ।

उपाध्याय यशोविजयजी की साहित्य साधना पर आपने श्रम करके अपने गुरु श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. के कथन “श्रम आजीवन साधना श्रम सुख का है धाम, जयन्तसेन कर लो श्रम जीवन बने ललाम” का ही अनुसरण किया है ।

आशा है भविष्य में भी आप अथक परिश्रम करके गुरु के आशीर्वाद से अपना नाम बढायेंगे ।

संघ गौरवान्वित है आपके श्रम से और मैं अभिभूत । सविधि वन्दना व सुखशातापृच्छ स्विकारें ।

श्रीशान्तिजिन च्यवन कल्याणक दिवस
सं. २०७०, भादरवा वदी-७, मंगलवार
कुक्षी/श्री शान्तिजिन तीर्थ
दिनांक : २७-८-२०२३

जयन्त चरणरज
आकांक्षी
मनोहरलाल पुराणिक

शुभकामना

परम पूज्य साध्वीशु भुवनप्रभाश्रीशु म.सा.ना परिवारभांथी तेमनी शिष्या साध्वीशु
अमृतरसाश्रीशु म.सा....

आपश्री विश्वभारती संस्था लाडनुं द्वारा उपाध्याय यशोविजयशु महाराजना दार्शनिक
चिंतननुं वैशिष्ट्य विषय पर शोधनिबंध पर पी.એચ.डी.नी डिग्रीथी सन्मानित थया ते
बदल आपश्रीने ખૂબ ખૂબ ધન્યવાદ. અભિનંદન.

આ કાર્ય પાછળની સફળતા પાછળ પૂ. દાદા ગુરુદેવ, વર્તમાનાચાર્ય તેમજ આપની
ગુરુમૈયાના ત્રિવેણી સંગમના આશીર્વાદ કારણરૂપ છે.અમારો આખો મુંબઈનો શ્રીસંઘ
આપશ્રીને ખૂબ-ખૂબ અભિનંદન પાઠવે છે અને આપનું કરેલું આ કાર્ય સંઘસમાજ માટે
ઉપયોગી થાય અને આગળ ઉત્તરોત્તર જ્ઞાનના ક્ષેત્રે પ્રગતિ કરી ગુરુદેવની ગરિમા વધારે
એ જ અભ્યર્થના સાથે...

લિ.

પ્રમુખ શ્રી સેવંતીલાલ મણીલાલ મોરખિયા
તથા ટ્રસ્ટમંડળ
સૌધર્મ બૃહત્પાગચ્છીય ત્રીસ્તુતિક જૈન સંઘ
મુંબઈ

॥ श्री साँचा सुमतिनाथाय नमः ॥

हार्दिक शुभेच्छा

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय गच्छाधिपति, राष्ट्रसंत साहित्यमनीषी, शासन प्रभावक पूज्य आचार्यदेव श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी सरल-स्वभावी, मातृहृदया पू. साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की सुशिष्या साध्वी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. आदि ठाणा की पवित्र सेवा में... श्री साँचा सुमतिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेताम्बर ट्रस्ट सादर वंदनावली स्वीकारशोजी ।

यहां देव-गुरु कृपा से आनंद-मंगल वहां पर आप सभी के पावन संयम देह की हार्दिक कुशल कामना करते हैं ।

वि.वि. साथे पू. साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. को विदित हो की आपश्री ने महोपाध्याय पू. यशोविजयजी म.सा. का दार्शनिक ग्रन्थ चिंतन वैशिष्ट्य ग्रंथ पर सुंदर-चिन्तन पूर्ण अध्ययन कर पी.एच.डी. डीग्री प्राप्त की यह बात जानकर श्री संघ अत्यंत प्रसन्नता की अनुभूति करता है । आपको शतशः अभिनन्दन-धन्यवाद-हार्दिक बधाई आगे भी आप ज्ञान के उच्चतम शिखर प्राप्त कर गुरु गच्छ की एवम् शासन की शोभा बढ़ायें ऐसी परमात्मा से प्रार्थना...

ली.

श्री साँचा सुमतिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेताम्बर ट्रस्ट

मदुरै मीठालालजी सक्लेच

२७-८-२०१३

आत्मीय शुभकामना

पू. पूज्य साध्वीजी भगवंत श्री ओ प. पूज्य यशोविजयजी महाराज पर सुंदर पुस्तकनुं आलेखन कर्तुं. अने ज्यारे ते दणदार पुस्तक सकण श्रीसंघ समक्ष विभोचित थवा जर्छ रह्युं छे. त्यारे श्री सुरत बृहद् तपागच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ आत्मीय शुभकामना व्यक्त करे छे तथा प.पू. साध्वीजी भगवंतीना आ स्तुत्य प्रयत्नने हृदयथी बिरदावे छे. आ पुस्तक श्री सकणसंघना भोक्षमार्गे प्रयासनुं निमित्त अने तेवी अभिलाषा सह...

वि.सं. २०६८, आसो
सु६-१०, सुरत

श्री नीतिनभाई युनीलाल अदाशी
प्रमुष्

शुभाकांक्षा

चैन्नई, दिनांक : ११-९-२०१३

जैन परंपरा की देदीप्यमान नक्षत्र, श्रमणधारा की तेजस्वी व्याख्याकार, अध्यात्मक प्रकाशपुंज
अलोकित विभामय साध्वीरत्ना श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा.,

सादर-सविनय मत्थेण वंदामि,

आत्मज्योति से दीपित आभा, हे ज्ञानज्योति तुम्हे प्रणाम ।

विश्वज्योति बनकर निखरो तुम, हे संयमज्योति तुम्हे प्रणाम ॥

भगवान महावीर ने कहा कि कुछ लोग विद्या में श्रेष्ठ होते हैं, कुछ लोग आचरण में किन्तु ज्ञान और आचरण, श्रुति और शील में जो श्रेष्ठ होता है वो ही वास्तव में श्रेष्ठ होता है । वर्तमान में साध्वीजी अमृतरसाश्रीजी म.सा. का नाम ऐसे व्यक्तियों के श्रेणी में गौरव से लिया जाता है । चैन्नई चातुर्मास में अपने गुरुदेव राष्ट्रसंत-व्यक्तिक्रान्ति के अनस्त सूर्य, जीवन जागृत ज्ञान के विश्वविद्यालय, साहित्य जगत के आदित्य, सृजन के अद्वितिय हस्ताक्षर प.पू. आचार्य भगवंत जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. के 73वे जन्मदिन अनुमोदनार्थ 73 उपवास की कठीन तपस्या एवं महोपाध्याय यशोविजयजी म.सा. के साहित्य रचना पर शोधग्रंथ का सृजन करना इस बात के अनुपम-अलौकिक जीवन साक्षात् प्रमाण है ।

संयम तपोनिष्ठ साध्वीश्रेष्ठा श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. की सहजता-सरलता, सादगी, त्याग, दृढसंकल्प, सहिष्णुता, विनम्रता, कल्पनाशीलता, बौद्धिकता ने मुझे हृदय से गहनतम तल तक बेहद प्रभावित किया । उन्होंने न केवल स्वयं को अपने गुरु एव संघ के कार्यों में समर्पित किया बल्कि खुद को मनसा-वाचा-कर्मणा से अहूत किया । अपने अन्दर के भावों को शब्दों के रूप में व्यक्त करने की शक्ति से उनकी ख्याति भाषा और भुगोल की सीमाओं को लांघने लगी । जैन तत्त्वविद्या के विविध क्षेत्रों में उनकी गहरी पैठ है, उनकी पज्ञा विवेचनाप्रधान और दृष्टि अनुसंधान परक-समन्वय प्रेरित है । तीक्ष्ण पज्ञाबल एवं व्युत्पन्न मेधा शक्ति के कारण शीघ्र ही उन्होंने दर्शन विषय में अधिकाधिक विद्वता प्राप्त कर ली है । वे शब्दबल की अनन्य साधक और भाषा विज्ञान की मौलिक मर्मज्ञ हैं ।

भविष्य में भी आपसे इसी तरह के संयम और ज्ञान की अद्भुत साधना की आशा ही नहीं, विश्वास है । अध्ययन-मनन-चिंतन-स्वाध्याय से सतत-निरन्तर आप दीप्तिमान हो । त्रिस्तुतिक जैन संघ आपके ज्ञान एवं तप से धन्य हुआ, कृतकृत हुआ । है अमृतरसाश्रीजी म.सा. आपके अमृतत्व को शब्दों की अभिव्यक्ति में कैसे बांधू ? मेरा आत्मार्पण स्वीकार करें ।

भवदीय

नरेन्द्र पोरवाल

सचीव - श्री जैन श्वेताम्बर संघ, वागरा

प्रवक्ता - श्री अ.भा. श्री राजेन्द्र नवयुवक परिषद शाखा-चेन्नई

शुभ अभिलाषा

सुविशालगच्छाधिपति आचार्यदेवेश, राष्ट्रसंत शिरोमणी श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्ती साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्री जी की सुशिष्या साध्वीजी श्री अमृतरसाश्री जी के चरणों में वंदना ।

हमें ज्ञात हुआ की आपकी Ph.D. की पढाई पूर्ण हो चुकी है और दिनांक 12-9-2013 को अहमदाबाद में आपको डाक्टरेट कि पदवी से अलंकृत किया जायेगा । यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई ।

आपका संयम जीवन दूसरो के लिए आदर्श बने इसी शुभ भावना के साथ हमारा ढेर सारी शुभ कामनाए ।

दिनांक : २९-८-२०१३
गुन्दूर

श्री पार्श्वनाथ राजेन्द्रसूरि जैन ट्रस्ट
गुन्दूर

ऐतिहासिक सफलता - हार्दिक बधाई

सुविधिनाथ जैन पेढी

सियाणा-३४३०२४ (जालौर - राज.)

जालौर जिला का प्रसिद्ध गांव सियाणा समस्त जैन धर्मानुयायियों के तरफ से साध्वी जी अमृतरसाश्री द्वारा "यशोविजय महाराज-एक दार्शनिक चिन्तन" रचना पर Ph.D. की मानद उपाधि प्रथम स्थान के साथ प्राप्त किये जाने पर अपना हार्दिक बधाई अर्पित करते हुए अपने को गर्वान्वित अनुभव करता है ।

दीपचन्द्रजी बाफना
सियाणा

हार्दिक बधाई

जैसे आकाश में अनेक तारे अपनी आभा निरंतर बिखेरते हैं वैसे ही भगवान महावीर की परंपरा के अनेक विद्वान आचार्यों एवं श्रमणों की कृति की आभा से भारतीय साहित्याकाश आभाषित है । इन ज्ञान साधकों के समुह में आचार्य कुंदकुंद, आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र एवं अपने दादा गुरुदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी ऐसे व्यक्ति के धनी है कि जिनको भारतीय साहित्याकाश के सूर्य चन्द्र की संज्ञा दी जा सकती है । उसी श्रृंखला में उपाध्याय यशोविजयजी का नाम भी जोडा जाता है । वे भी अनुपम मनीषि थे । उन्हें हेमचन्द्राचार्य एवं हरिभद्रसूरि की परंपरा में अंतिम बहुमुखी प्रतिभावान विद्वान माना जाता है । ऐसे महान विद्वान साहित्यकार मनीषि के जीवन पर शोध, उनके कृतीत्व का नवनीत समाज के सामने प्रस्तुत करने का भगीरथ कार्य विदुषी लेखिका सा. श्री अमृतरसा श्रीजी ने किया है जो वंदनीय एवं स्तुत्य है ।

जिन शासन में प्रभु महावीर के शासन में उनकी कृपा से, विश्व पूज्य दादा गुरुदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी की दिव्य कृपा से एवं वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी के असीम आशीर्वाद से उनकी आज्ञानुवर्तिनी साध्वी श्री भुवनप्रभाश्रीजी के मंगलमय कृपादृष्टि से उनकी शिष्या ज्ञानपिपासु साध्वी श्री अमृतरसाश्रीजी को जैन विश्व भारती संस्था लाडलुं द्वारा उपाध्याय यशोविजयजी के दार्शनिक चिंतन के वैशिष्ट्य पर Ph.D. डिग्री से अहमदाबाद में सम्मानित किया गया। यह सुनकर हमें अत्यंत आनंद की अनुभूति हुई।

वैसे भी साध्वीजी की ज्ञान के प्रति रुचि, लग्न, जिज्ञासा कितनी थी उसका अनुभव तो हमें तनकु चातुर्मास के दौरान हो गया था। सुबह से शाम तक ज्ञान, ज्ञान और ज्ञान सीखना और सीखाना वही उनका ध्येय था।

साथ ही उसी चातुर्मास के समय उन्होंने M.A. Final की परीक्षा दी थी। उसमें वे University first आयी थी वो भी हमारे संघ के लिए गौरव की बात थी। उसके बाद ही Ph.D. के लिए फार्म भरा और आज पूर्णाहुति भी हो गयी। जो सकल संघ के लिए बड़ी खुशी की बात है। आपने इतना गहन कार्य को सरल भाषा में व्यक्त करके जैन शासन की, गुरु गच्छ की, हमारे तनकु संघ की एवं आपके परिवार की शोभा बढ़ाई है।

आप ऐसे ही अपनी लेखनी को विराम न देते हुए अनवरत आगे बढ़े। प्रगति उन्नति करते रहे एवं जैनशासन में कुल दीपिका नहीं वरन् विश्व दीपिका बने। शासन को वफादार रहे और शासन की प्रभावना का कार्य करते हुए एवं ज्ञान के क्षेत्र में भी आगे बढ़कर संघ व समाज का उद्धार करें इसी मंगलकामना के साथ।

सकल जैन तनकु संघ
विमलजी मुथा

शुभ अभिलाषा

भगवान महावीर के शासन में, दादा गुरुदेव की असीम कृपादृष्टि एवं वर्तमानाचार्य राष्ट्रसंत श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी के आशीर्वाद से उनकी आज्ञानुवर्तिनी साध्वी श्री भुवनप्रभाश्रीजी सुशिष्या ज्ञानपिपासु सा. अमृतरसाश्रीजी को Ph.D. की डिग्री से सम्मानित किया गया है। इस शुभ समाचार से मन अत्यधिक प्रसन्न हुआ। देवी सरस्वती की साध्वीजी पर महत्ति कृपा है। आपने ठाणा, गच्छ, जिनशासन एवं परिवार को गौरवान्वित किया है।

आपका संयम जीवन जिनशासन की अनुपम सेवा में सदैव समर्पित हो। आप दिर्घायु हो, मोक्षगामी बनो ऐसी प्रभु महावीर से प्रार्थना करते हैं।

आपने पूज्य गुरुदेवश्री जयंतसेनसूरीश्वरजी की असीम कृपादृष्टि एवं आपकी गुरुमैया साध्वी श्री भुवनप्रभाश्रीजी की वात्सल्यदृष्टि एवं दिव्य आशीर्वाद से ही आप यशोविजयजी के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य जैसे गहन विषय को चुनकर उनमें गोते लगाकर अमूल्य निधि रूप दार्शनिकता के सारांश रूप नवनीत को संग्रहित करके यह शोधग्रंथ तैयार किया है वो अनुमोदनीय कार्य है।

आपके द्वारा किया गया ये शोधग्रंथरूपी पुरुषार्थ भावि पेढी के लिए बहुत ही लाभदायी होगा। बेंगलोर श्री जैनसंघ, एवं राजेन्द्र जयंतसेन म्युजीयम और हमारे चौधरी परिवार की ओर से ये मंगलकामना करते हैं कि पू. साध्वीजी इसी तरह निरंतर अपनी प्रज्ञा का विस्तार कर जिनशासन की शोभा एवं गुरुगच्छ की गरिमा में अभिवृद्धि करें इसी शुभ कामना के साथ।

राजेन्द्र जयंतसेन म्युजीयम चेरीटेबल ट्रस्ट
मिलापचंद चौधरी परिवार - बेंगलोर

हार्दिक बधाई एवं अनुमोदना

प्रातःस्मरणीय दादा गुरुदेव श्रीमद् विय राजेन्द्रसूरीश्वरजी के दिव्यातिदिव्य आशीर्वाद एवं उनकी पाट परंपरा में वर्तमानाचार्य राष्ट्रसंत श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. की असीम कृपादृष्टि से एवं उनकी आज्ञानुवर्ती सरलस्वभावी साध्वीजी भुवनप्रभाश्रीजी की पावन प्रेरणा एवं मंगल आशीर्वाद से उनकी शिष्या साध्वीजी अमृतरसाश्री ने "महोपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य" इस विषय पर गहनता से एवं कड़ी महेनत से रीसर्च करके डॉ. ओफ फिलीसोफ Ph.D. की उपाधि अमदावाद में प्राप्त की यह सुनकर बहोत ही खुशी हुई। हमारे परिवार की ओर से हार्दिक हार्दिक बधाई हो।

हमारे परिवार की तो विशेष खुशी है कि उन्होंने Ph.D. तक पहुंचने का प्रथम कदम जब उठाया था वो हमारे गांव में चातुर्मास था तब ही उठाया था। उत्तरोत्तर ज्ञान के क्षेत्र में उन्नति प्रगति करते हुए आज वो अपनी मंजिल तक पहुंच गये हैं। वो हमारे परिवार के लिए गौरव की बात है।

हमारे गांव एवं परिवार की ओर से साध्वीजी को ढेर सारी बधाईयां एवं शुभकामनाएं देते हैं। परम पिता परमात्मा एवं दादा गुरुदेव से प्रार्थना करते हैं कि साध्वीजी का स्वास्थ्य ठीक हो। और वो ज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर आगे बढ़कर गुरु गच्छ की गरिमा को बढ़ावें एवं शासन की शोभा में अभिवृद्धि करें ऐसी शक्ति प्रदान करें।

आप का किया हुआ यह कार्य संघ, समाज, गच्छ एवं युनिवर्सिटी सब के लिए उपयोगी बनेगा। आप आगे बढ़कर अपने संयमजीवन को सार्थक करें इसी शुभभावना के साथ।

एस.पी. शाह परिवार
मुंबई (कोसीलाव)

"गुरुओं की मंजिल तक चलते हैं वो लोग निराले होते हैं।
गुरुओं का आशीर्वाद मिलता है वो लोग किस्मतवाले होते हैं।"
आगे बढ़ना जिनकी उमंग है, फूलों सा खिलना जिनकी तरंग है।
रुकना नहीं सिखा जिसने, सफलता हमेशा उसी के संग है।
सर्व कार्यों मंगलमय हो इसी शुभकामना के साथ।

भुवनशिशु
भक्ति सिद्धांत

कोटि कोटि नमन एवं बधाई !

प.पू. राष्ट्रसंत, साहित्य मनीषी, मधुर प्रवचनकार आचार्य देवेश श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी पूज्य साध्वीजी भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की विद्वान सुशिष्या पूज्य साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. के चेन्नई-चातुर्मास के दरम्यान जैनेलोजी में एम.ए. के कोर्स हेतु एवं आपश्री की ७३ उपवास की महामृत्युंजयी उग्र तपस्या के वैयावच्च हेतु मुझे एवं मेरी धर्मपत्नी श्रीमती मंजुलादेवी को आपश्री की निश्रा का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था । आपश्री की विलक्षण विद्वत्ता, अतुलनीय कार्यक्षमता, अपार गंभीरता, ज्ञान की उज्ज्वलता और तप-त्याग की तेजोमयता देख कर हम अचंमित रह गये थे । आपश्री के पठन-पाठन हेतु विभिन्न स्थानों से साहित्य उपलब्ध कराने एवं पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. की जीवनी एवं रचनाओं पर शोधहेतु विभिन्न ज्ञान भण्डारों से साहित्य उपलब्ध कराने का जो सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ, वो अविस्मरणीय है और हमारे हृदय-पटल पर पत्थर की लकीर की तरह सदैव अंकित रहेगा ।

आपश्री की सानिध्यता से ही हमें पूज्य महोपाध्याय पर शोध की गहनता, महानता, विशालता आदि का पता चला । महोपाध्यायजी स्वयं ज्ञान के सागर थे, उनकी रचनाओं को समझने तो क्या पढ़ने में भी हमें अत्यंत कठिनाई महसूस हो रही थी, और पूज्य साध्वीवर्याश्रीजी इन पर शोध कार्य कर रही थी, यह बिलकुल ही हमारी अल्पबुद्धि से परे था । संपूर्ण-चातुर्मास के दौरान एवं उस महामृत्युंजयी तप के दरम्यान हमें उनके चेहरे पर कभी थकान के दर्शन नहीं हुए । सदैव मुस्कान बिखरती साध्वीवर्या, मन में अरिहंत प्रभु का जाप करती, अपने इस भगीरथ कार्य में तल्लीन, मानों ज्ञान के अथाह सागर में गोते लगा रही थी और सागर की अनन्त गहराईयों से बेशकीमती हीरे-रूपी ज्ञान के झिलमिलाते मोती समस्त जैन समाज को मुहैया करा रही थी ।

पूज्य साध्वीवर्याश्री इस अनमोल शोध की चमक सदियों तक जैन समाज के देदिव्यमान क्षितिज पर छायी रहेगी और हम प्रभु से हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि पूज्यश्री को अनवरत आरोग्य एवं चिरायु की प्राप्ति हो और जिनशासन की जाहोजलाली के शुभ कार्य आपश्री के करकमलों से सुसंपन्न होते रहें ।

जैन ललित के. माण्डोत
श्रीमती मंजुला देवी माण्डोत
मद्रास

हार्दिक अनुमोदना

इस जगत में जैन धर्म सर्वोपरी है। ये अत्यंत मार्मिक रहस्यमय, सुक्ष्मतम एवं गहन धर्म है। यह अनादिकाल से है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। इसकी कोई शुरुआत या इसका कोई अंत नहीं है। आजकल तो विदेशों में भी जैन धर्म पर शोधकार्य चल रहा है। और वे अपने जैनधर्म को अपना रहे हैं। ये हमारा सौभाग्य है कि हमें प्रभु महावीर के शासनकाल में, जैन कुल में हमारा जन्म हुआ और ऐसे अर्चित्य प्रभावशाली जैन धर्म को प्राप्त किया। प्रभु महावीर की परंपरा में अनेक केवली भगवंत, गणधर भगवंत उपाध्याय एवं आचार्य हुए। इनमें महोपाध्याय यशोविजय का स्थान अग्रिम है। वे प्रकांड विद्वान थे। उनका साहित्य गहन एवं जटिल था। ऐसे मनीषि के साहित्य के निचोडरूप नवनीत को पाना कठिन ही नहीं अति दुष्कर है। फिर भी आज बड़ी खुशी की बात है हमारे त्रिस्तुतिक धर्म की जगत को पहचान कराने वाले अभिधान राजेन्द्र कोष के रचयिता कलिकाल सर्वज्ञ, विश्व पूज्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी की पट्ट परंपरा को चलाने वाले वर्तमान आचार्य दिक्षा दानेश्वरी, उग्रविहारी, वचनसिद्ध, गच्छधिपति, राष्ट्रसंत श्रीमद् विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी महाराज 'मधुकर' की आज्ञानुवर्तिनी सरल स्वभावी कोमल हृदया, स्नेहिल साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की सुशिष्या ७३ उपवास की तपस्विनी साध्वी श्री अमृतरसाश्रीजी को जैन विश्व भारती-लाडनुं द्वारा "उपाध्याय यशोविजयजी के साहित्य के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य" पर Ph.D. करने की अनुमति प्रदान की गई। इस सुनहरे अवसर के बारे में जानकर सुख की अनुभूति हुई। आज उनकी ज्ञान यात्रा B.A., M.A. एवं Ph.D. की पूर्णाहुति हो रही है। आपने त्रिस्तुतिक धर्म, दादा गुरुदेव, वर्तमानाचार्य जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा., गुरुमैया श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. एवं अपने सांसारिक परिजनों का नाम रोशन कर गौरवान्वित किया है। इस बात की हमें बेहद खुशी एवं गर्व है। भविष्य में भी आप उत्कृष्ट चरित्र पालन करके, ज्ञान की गंगा को प्रवाहित करेंगे और जैन समाज को नई दिशा देंगे और जिनशासन को गौरवान्वित करेंगे। यही हमारी अंतरमन से निकली हुई दुआ है।

Ph.D. पूर्णाहुति के अवसर पर बहुत बहुत बधाई और ढेर सारी शुभकामनाएं।

अंत में साध्वी बहना आपको हर क्षेत्र में, हर मोड़ पर विजय हासिल हो। सफलता आपके कदमों में बसे इसी शुभ कामना एवं शुभेच्छा के साथ।

नरेन्द्र जैन नाहर
गुंडुर (A.P.)

बहोत बहोत बधाई

भारतीय संस्कृति पुरातन काल से अद्वितीय रही है। श्रमण भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों ने प्रभु की अमृत वाणी को अपनी प्रतिभा के द्वारा गुंथकर बारह अंगसूत्रों का निर्माण किया। उनके समकालीन श्रमणों ने एवं उनके पश्चात् वर्ती श्रमणों ने द्वादशांगी के आधार पर जिस ग्रंथ साहित्य का सृजन किया था वह पूर्ण रूपेण आज प्राप्त नहीं है।

जैन वांगमय की जिर्वाण गिरा में गुंथने वालों में उपाध्याय यशोविजयजी का अग्रिम स्थान है। जिनका साहित्य आज प्रमाणभूत माना जाता है।

उपाध्यायजी की विमलयश रश्मियां विद्वत मानस को चिरकाल से आलोकित कर रही है। उनके ओर एवं ज्योतिर्मय मस्तिष्क में जो विचार क्रांति एवं ज्ञान समुद्र पैदा हुआ था उससे आज कौन अपरिचित है। ऐसे यशस्वी व्यक्तित्व के धनी उपाध्याय यशोविजयजी के दार्शनिक चिन्तन के वैशिष्ट्य को अपना शोध विषय बनाकर साध्वीजी ने जिस तन्मयता एवं गहन अध्ययन सहित पूर्ण किया है। उसके लिए शत शत बधाई एवं साधुवाद।

दर्शन सरीखे दुरुह विषय की गहराई में उतरना, समझना तथा उसका विश्लेषण विवेचन करना। खासकर श्री यशोविजयजी जैसे प्रखर मनीषि के चिन्तन की थाह पाना बहुत कठिन एवं कण्ट साध्य है। मगर साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी ने अग्भूत निष्ठा संकल्प शक्ति एवं एकाग्रता से उसमें सफलता प्राप्त की। कई कंटको पर अनवरत चलते हुए संयम सदाचार एवं अहिंसा पथ की पथ गामिनी साध्वी अमृतरसाश्रीजी ने उपाध्याय यशोविजयजी के दार्शनिक चिन्तन का अनुशीलन तपस्या समझकर किया।

आपका परम तारक परमात्मा, दादा गुरुदेव, वर्तमानाचार्य एवं अपनी गुरुमैया के प्रति उत्कृष्ट समर्पण भाव था। अतः उनकी सबकी अनुराधार कृपा दृष्टि से ही आप ऐसे कठिन कार्य को सुलभता से सरल भाषा में जन सन्मुख प्रेषित कर सके।

जैसी आपकी लेखनी है वैसी ही आपकी वाणी भी है। इसबात की अनुभूति हमें अहमदाबाद में आपकी मौखिक परीक्षा के समय हुई थी। उस पल को शब्द में बयान करना मेरा सामर्थ्य नहीं है।

निसन्देह यह ग्रंथ दर्शन के अध्येताओं को कदम कदम पर प्रकाश पुंज बनकर राह दिखायेगा। इस ग्रंथ को पढकर उपाध्यायजी के दार्शनिक चिन्तन की थाह पाना बहुत संभव होगा।

आशा करते हैं कि साध्वीजी अपने अध्ययन एवं लेखन को निरंतर उच्च आयाम देती रहेगी। क्योंकि हमें विदित है - सियाणा चातुर्मास दरम्यान शरीर की अस्वस्थता के बावजूद आपश्री ने अपनी लेखनी को विराम नहीं दिया था। वह अप्रमत्तता की निशानी है।

अंत में एक सफल एवं सार्थक शोध प्रबन्ध के लिए ढेर सारी शुभकामना एवं बधाई के साथ।

जयन्तीलाल डी. गांधी
मद्रास (सियाणा)

शुभ संदेश

भारतीय संस्कृति में दर्शन विज्ञान एवं अध्यात्म की गुणवत्ता सदैव रही है। दर्शन वस्तुतः सत्य एवं वास्तविकता का समग्र रूप में बौद्धिक विवेचन है। विज्ञान वास्तविकता के विविध रूपों एवं पक्षों के परिक्षण एवं निरीक्षण के आधार पर की गयी गुणात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि है। आध्यात्म की भूमिका अविचल अवस्थाओं से बनती है।

जैन शासन अगाध ज्ञान राशि का गहनतम सागर है। जो इस विराट सागर में गोते लगाता है। वह सिद्धांतरूपी गुण रत्न को प्राप्त करते हैं। एवं स्वयं के जीवन को सम्यग्ज्ञानमय बनाकर अक्षय अनुपम सुख की अनुभूति के साथ आत्मानन्द को प्राप्त करते हैं। उस उत्कृष्ट सुख की अनुभूति चारित्रवान एवं श्रद्धावान आत्माओं को विशेष रूप से होती है। क्योंकि चारित्रवान आत्मा विषयों से विरक्त होकर ज्ञान की और आकर्षित होते हुए प्रत्येक पदार्थ के परमार्थ को ज्ञात कर जीवन पर्यन्त उसको हृदय में स्थिर करते हैं। यही वास्तविक परिस्थिति महोपाध्याय यशोविजय के व्यक्तित्व में उपलब्ध होती है।

विशेष साः श्री अमृतरसाश्रीजी म.सा. की शोध ग्रन्थ की तैयारी २-३ साल से चल रही थी। योगानुयोग २०१३ का चातुर्मास उनकी शरीर की अस्वस्थता की वजह से अहमदाबाद में हुआ।

हमारे श्री संघ के प्रबल पुण्योदय से साध्वीजी की पुस्तक की अंतिम तैयारी तथा डिग्री प्राप्ति से पूर्व की अंतिम मौखिक परीक्षा आदि का लाभ श्री धराद त्रिस्तुतिक जैन संघ अहमदाबाद को मिला। लाडलुं विश्व विद्यालय के प्रोफेसर श्री आनंदप्रकाशजी त्रिपाठी एवं जयपुर से डॉ. अरविंद सिंहजी विक्रम सिंहजी परीक्षण हेतु अहमदाबाद पधारे। एवं साध्वीजी की अंतिम मौखिक परीक्षा लेकर उन्हें उत्तीर्ण घोषित कर Ph.D. की पदवी से सम्मानित किया। इस अनुठे अवसर पर अहमदाबाद सकल संघ के हर्ष का पार नहीं था।

आपश्री ने सदैव दादा गुरुदेव, वर्तमानाचार्य एवं अपनी गुरुमैया के प्रति समर्पण भाव रखा है। इसी गुण की वजह से आपश्री ने छोटी वय में ही इतने कठिन परिश्रम का काम बड़ी सरलता से पूर्ण कर Ph.D. की डिग्री प्राप्त की है।

मेरे लिए तो और भी खुशी की बात है कि बचपन में पाठशाला में पढ़ाने का मौका मुझे मिला था। बीज से वे आज वटवृक्ष का रूप हुआ है। ज्ञान के क्षेत्र में, ये मेरे लिए गौरव की बात है। “यशोविजयजी के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य” इस विषय पर Ph.D. करना बहुत ही कठिन कार्य था। फिर भी कहते हैं कि जहाँ चाह होती है वहाँ राह अपने आप बन जाती है। यही सोचकर कठिन परिश्रम करके इस कार्य को साध्वीजी म.सा.ने बखुबी पूर्ण किया है।

इस चातुर्मास दरम्यान आपका काम करने का या सेवा करने का जो अवसर प्राप्त हुआ वो सभी पल हमारे लिए सदैव अविस्मरणीय रहेंगे। आप इसी तरह स्वाध्याय में दिन दुगुनी रात चौगुनी प्रगति करें तथा जगत के सभी जीवों को प्रतिबोध कर उन्हें भव पार करें ऐसी परम

पिता परमेश्वर (परमात्मा) को प्रार्थना कर भविष्य में उत्तरोत्तर अभ्यास करके शासन को नयी दिशा देंगे । और शासन का नाम रोशन करेंगे । इसी शुभ कामना और शुभेच्छा के साथ अभिनंदन ।

अध्यापक प्रवीणचंद्र भोगीलाल शेट
राजेन्द्रसूरि ज्ञानमंदिर रतनपोल, अहमदाबाद ।

शुभ अभ्यर्थना

परम पूज्य आचार्य भगवंत जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा.ना आज्ञानुवर्ती साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा.ना सुशिष्या साध्वीजी म.सा. अमृतरसाश्रीजीके मडानिबंध पर पी.अ.य.डी. नी उच्चतम पदवी प्राप्त करी थराद त्रिस्तुतिक संघ ने गौरव अपाव्युं छे.

आपनी परिश्रम, धगश, उत्साह अने गुरुभगवंतोना आशीर्वाद्धी आप आ मडान सिद्धि प्राप्त करी शक्या छो. पूज पूज धन्यवाद. संयम अने ज्ञानसाधना. अक सिक्कानी वे बाजु छे जे आपे सिद्ध करी बताव्युं छे. पूज पूज अभिनंदन.

नवीनभाई देसाई
थराद

अनुमोदना एवं हार्दिक बधाई

जिनशासन के नभोमंडल में अनेकों उदयमान प्रदीप्त सितारे अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रकाशित हो रहे हैं । उपाध्याय यशोविजयजी ऐसे ही दीप्तीमान सितारे हुए । वे ज्ञान के प्रचंड विद्वान थे । उस महान साहित्यकार के साहित्य एवं जीवन पर शोध, कृतित्व का नवनीत समाज के सामने प्रस्तुत करने का भगीरथ कार्य सरल स्वभावी साध्वी भुवनप्रभाश्रीजी की सुशिष्या साध्वी अमृतरसाश्रीजी ने किया है जो वंदनीय एवं स्तुत्य है ।

इस धरातल पर अनेक महापुरुषों की जन्मभूमि एवं तीर्थकरों की कल्याणक भूमि की स्पर्शना करते हुए विभिन्न तपस्याओं के साथ ७३ उपवास की अनुठी तपस्या, मासक्षमण वरसीतप जैसी सर्वोपरी तपस्याओं से जीवन को सुगंधित बनाकर गुरुआणा का पालन करते हुए, गुरु बहनों के साथ बहन का स्नेह देकर, संयम जीवन की आचार विचार धारा को समझते हुए अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन करते हुए परम पूज्य सरल स्वभावी, मातृहृदया साध्वी भुवनप्रभाश्री म.सा. की शिष्या श्री अमृतरसाश्रीजी ने उपाध्याय यशोविजयजी के गहनतम साहित्य का अवलोकन करके उनकी जीवनगाथा को गुंथने का कार्य किया है वह प्रशंसनीय है ।

साध्वीजी द्वारा किया गया यह अनुसंधान सभी धर्मावलंबियों के लिए हितकारी सिद्ध होगा । सर्व जन व्यापी, सर्व जनोपयोगी यह ग्रंथ सबको मोक्ष की राह दिखायेगा ।

हम ऋणि है परम पूज्य वर्तमानाचार्य राष्ट्रसंत, गच्छाधिपति साहित्य मनीषि, दिक्षा दानेश्वरी बचनसिद्ध आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. के जिन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में

आगे बढ़कर Ph.D. करने की आज्ञा प्रदान की। हम ऋणि है दादी गुरु उत्कृष्ट चारित्र पालक, सहनशीलता की मूर्ति श्री हीरश्रीजी म.सा. की जिनकी सदैव कृपादृष्टि हम पर बनी रही। हम ऋणि है हमारी परम उपकारी सेवाभावी, सरल स्वभावी ममतामयी गुरुमाता (हमारी संसारी बहन) साध्वीजी श्री भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. के जिन्होंने सदा मां का वात्सल्य दिया। हम ऋणि है गुरु शिष्याओं साध्वी श्री चंद्रयशाश्रीजी, साध्वी भक्तिरसाश्रीजी, साध्वीश्री सिद्धांतरसाश्रीजी जिन्होंने वैयावच्च में बहनों जैसा साथ एवं सहकार दिया।

हम ऋणि है श्री आनंदप्रकाशजी त्रिपाठी प्रोफेसर श्री विश्वविद्यालय-लाडनुं के जिन्होंने सचोट मार्गदर्शन करके कंटीले पथ को फुल की तरह कोमल सुगम एवं सुगंधित बनाया।

हम ऋणि है उन सब संघों के युवाओं एवं युवतियों का जिन्होंने अनेक जरूरी ग्रंथों को अनेकानेक ज्ञानभंडारों में से खोज खोज कर विहार में और स्थिरता वाली जगह पर पहुंचाया। जहां धन की जरूरत पड़ी वहां उदार दिल से सहयोग किया। ललितकुमारजी मंडोत, सत्यविजयजी हरण - मद्रास एवं एस.पी. शाह ने विशेष रूप से अशुद्धि संशोधन एवं पत्र व्यवहार के कठिन कार्य में सहायता की है।

हम ऋणि है उस प्रेस के जिन्होंने पुस्तक इतने सुंदर एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया।

पू. साध्वीजी म.सा. ने इस शोध ग्रंथ को लिखकर कखुण (गुजरात) का ही नहीं बल्कि सब जैन संघों, सब धर्मप्रेमीयों का एवं हमारे शेट कुटुंब का गौरव बढ़ाया है। अंत में भगवान से प्रार्थना करते हैं कि सांसारिक माता, पिता, आचार्य भगवंत, दादी गुरुणी एवं गुरुमैया, सब श्रमण-श्रमणीवृंद, महापुरुषों की और विद्वानों की ऐसी आशिष मिले कि आप शीघ्रातिशीघ्र मोक्षगामी बने। इसी शुभकामना के साथ...

हरीलाल, अमृतलाल, बाबुभाई, वाडीभाई, दीपक, राजु डेनिश, उर्विश एवं समस्त शेट परिवार - कखुण (हाल अहमदाबाद)

॥ ॐ नमो सिद्धम् ॥

प. पू. आचार्य भगवन्त शासनसम्राट् श्रीमद् विजयजयन्तसेनसूरीश्वरजी म. सा. के आज्ञानुवर्ति पू. साध्वीरत्ना भुवनप्रभाश्री जी म. सा. की शिष्या साध्वी भगवंत डॉ. श्री अमृतरसाश्रीजी म. सा. ने प. पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. सां. के दार्शनिक चिन्तन पर शोध कर उपाध्याय भगवन्त के चिन्तन के वैशिष्ट्य को शब्दों की रचना देकर संघ समाज को एक दुर्लभ कृति प्रदान की है।

साध्वी भगवन्त के इस विशिष्ट कार्य की अनुमोदना करते हुए, यह साहित्य संघ समाज के लिए मार्गदर्शक होगा ऐसी कामना गुरु आशिष से करता हूँ।

शुभाकांक्षी

रमेश धाडीवाल

राष्ट्रीय उपाध्यक्ष अ.भा. श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद

शुभ संदेश

पूज्य साध्वीजी श्री अमृतरसाश्रीजी ने “महोपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिंतन के वैशिष्ट्य” पर शोध करके Ph.D. की डीग्री प्राप्त की है वो हमारे परिवार के लिए गौरव की बात है ।

जब उनका इन्टरव्यू अमदावाद में रखा था उसी समय हम भी वहाँ पहुँचे थे । तब हमको अहसास हुआ कि पू. गुरुवर्या जैसा लिखती है । वैसा बोलती भी है । जैसा उनका चिंतन है वैसा लेखन भी है । खुद परीक्षा लेने आये हुए प्रोफेसर भी साध्वीजी को सुनकर आश्चर्यमुग्ध हो गये थे । वो भी विचार करने लगे कि साध्वीजी की अब क्या परीक्षा ले ? उससे बड़े बड़े प्रोफेसरों के दिल दिमाग में भी साध्वीजी ने अपनी अलग छाप उपस्थित की । साध्वीजी की चिंतन, मनन, लेखन एवं कर्तृत्व शक्ति के पीछे अभिधान राजेन्द्रकोष निर्माता दादा गुरुदेव की असीमकृपा, वर्तमानाचार्य राष्ट्रसंत श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी के मंगल आशीर्वाद एवं उनकी गुरु मा भुवनप्रभाश्रीजी की कृपादृष्टि एवं गुरुबहेनो की प्रेरणा ही संबलरूप था । जो प्रतिपत्त साध्वीजी का शक्ति प्रदान करते थे ।

वैसे मुझे लिखना नहीं आता है । पर पता नहीं साध्वीजी को डॉ. की पदवी से विभूषित किया तब से उस खुशी की व्यक्त करने के लिए हाथ लालायित थे । ये मेरी जींदगी का प्रथम प्रयास है । ईसीलिए जैसा आया वैसा लिखा है । त्रुटि हो तो क्षमा प्रदान करना ।

इसी अवसर पर हमारे परिवार की और से साध्वीजी की आगे बढ़ने की भावना के साथ ढेर सारी शुभकामनाएं एवं बधाईयाँ देते हैं । आप आगे बढ़कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनायें एवं अपना ज्ञान सब को बाँटते हुए गुरु गच्छ की गरिमा बढ़ायें इसी मंगल भावना के साथ...

अरवीन्दजी जैन
वापी

शुभकामना

दार्शनिक चिन्तन का अवलोकन

चिंतक जीवन की प्रगति के सौपान तक पहुँचकर मंजिल पार करता है । ज्ञानवर्धक चिंतन करते-करते महापुरुषों के जीवन सागर में गोते लगाने वाला उनके ज्ञान रत्नों को अवश्य पाता है । श्रमणीवर्या अमृतरसा जी ने ज्ञान समुद्र में गोते लगा कर महापुरुष वाचक प्रवर श्री यशोविजय जी के जीवन के रत्नों को पाकर जो पुस्तक लेखन किया, वह अनुकरणीय है । यह भगीरथ प्रयत्न राष्ट्रसंत, शासन सम्राट्, जैनाचार्य प्रवर श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वर जी म.सा. की आज्ञानुवर्तीनी के गुरु आशीर्वाद पाकर यह वाचकप्रवर श्री यशोविजय जी के दार्शनिक चिन्तन का अवलोकन कर अन्य रूप में संघ, समाज, शासन एवं ज्ञान पीपासुओं को आत्मश्रेय का आधार दिया, जो सभी के लिये उपयोगी बनेगा । इसी तरह ज्ञान सागर के रत्नों को बाँटने से प्रगति करें, यही हृदय से कामना करते हैं । इति

- नित्यानन्द

स्वकथ्यम्

भारतवर्ष पुरातन काल से अद्वितीय संस्कृति का क्रीडांगण रहा है। सभी संस्कृतियों में निवृत्तिमार्ग की उपासिका, श्रमणसंस्कृति का स्थान अग्रगण्य रहा है। प्राचीन काल में इसी संस्कृति के अग्रगण्य अनेक जैन मुनिवरों ने साहित्य सेवा में तल्लीन होकर अपनी आत्मा के साथ समस्त जैन संघ एवं भारतवर्ष को कृतार्थ किया है। श्रमण भगवान महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों ने प्रभु की अमृतवाणी को अपनी प्रतिभा के द्वारा गूँथ कर बारह अंगसूत्रों का निर्माण किया। उनके समकालीन श्रमणों ने एवं उनके पश्चात्पूर्व श्रमणों ने द्वादशांगी के आधार पर जो ग्रन्थ साहित्य का सृजन किया था, वह सम्पूर्ण रूप से आज प्राप्त नहीं है। जैन वाङ्मय की गीर्वाण गीरा में गूँथने वालों में उपाध्याय यशोविजय का अग्रिम स्थान है, जिनका साहित्य आज भी प्रमाणभूत माना जाता है। उपाध्यायजी की विमलयश रश्मियाँ विद्वत् मानस को चिरकाल से आलोकित कर रही हैं। उनके उर्वर एवं ज्योतिर्मय मस्तिष्क ने जो विचार क्रान्ति एवं ज्ञान समुद्र पैदा किया था, उससे आज कौन अपरिचित है। ऐसे यशस्वी व्यक्तित्व के धनी उपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य को अपना शोध-विषय बनाकर इस कार्य को किया है।

उपाध्यायजी जैसे गृहस्थ जीवन में भी विद्वान थे, किन्तु तब वे वीतरागी वाणी के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धासम्पन्न नहीं थे एवं सम्यग्चरित्र से विरहित थे। जब उनको उत्कृष्ट संयमपालक गुरु नयविजय का योग मिला, सत्संग हुआ तब उनके जीवन में भारी परिवर्तन आया। ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र की त्रिवेणी से युक्त गुरु नयविजय ने जैन शासन एवं गुरु को पूर्ण समर्पित शिष्य यशोविजय के जीवन को अज्ञानरूपी अंधकार से ज्ञानरूपी प्रकाश में लाए। अश्रद्धारूपी कंटकाकीर्ण जीवन को श्रद्धारूपी सुमन से सुरभित, सुवासित एवं प्रकाशित कर दिया। सुप्रवृत्तिमय भावों से ओतप्रोत बने हुए यशोविजय ज्ञानार्जन में लग गये एवं काशी में जाकर प्रकाण्ड विद्वान बन गये। अनेक उपमाओं के धारक, सरस्वती पुत्र, नव्यन्याय शैली को विशिष्ट रूप से विश्लेषित कर यशोविजय ने उपाध्याय पद को प्राप्त किया। जैन आगमों के अध्ययन में विशेष विज्ञाता बने। जैन शासन, सद्गुरु एवं परमात्मा की जिनवाणी के प्रति अपना जीवन पूर्ण समर्पित किया, तब उनकी अन्तरात्मा से आनन्द की तरंगें उछलने लगीं, आँखों से हर्ष के आंसू बहने लगे, तब उन्होंने सोचा, चिन्तन, मनन, विचार किया कि....

अहो! अगर मुझे ऐसे सद्गुरु का योग न मिला होता, परमात्मा के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं जिनागमों के प्रति पूर्ण आस्था न हुई होती तो आज मेरी क्या दशा होती? आगमों, न्याय, योग, दार्शनिक सप्तभंगी, नय, अनेकान्तवाद आदि के अभ्यास के साथ-साथ एक भी पक्ष, एक भी विषय एवं एक भी भाषा उनसे दूर नहीं रही है। अत्यन्त-प्रकारेण अर्थात् अपने जीवन को उन्होंने ज्ञानमग्न एवं ज्ञानासक्त बना दिया था।

जिस समय दार्शनिकों का परस्पर मत मतान्तर रूपी ताण्डवनृत्य मचा हुआ था, सभी अपने-अपने पक्ष को स्थापित करते हुए एक-दूसरे का खंडन-मंडन कर रहे थे, जैन शासन रूपी पेढी पर आंच आने का समय आ गया था, एक तरफ इतर सम्प्रदायों में धर्म के नाम से भोगविलासों का साम्राज्य बढ़ रहा था। जब जैन दर्शन में अपने आलिशान महल में किसी ने अध्यात्मवाद के नाम से, किसी ने स्वरूप हिंसा के नाम से, किसी ने निश्चय नयवाद के नाम से, किसी ने ज्ञानवाद के नाम से आग

जलाने का कार्य किया था। जैन शासन रूपी मोहलात का अमुक भद्रिक वर्ग उस आग का भोग बन चुका था। ऐसे विकट समय में उस आग के संताप की परवाह किये बिना, उन व्यक्तियों के साथ व्यक्तिद्वेष रखे बिना, वाद-विवदों के द्वारा उन स्थानों पर जाकर शास्त्रीय पुरावा युक्त मधुरी देशना एवं उस-उस विषय का सचोट प्रतिपादन करने वाले संस्कृत-प्राकृत-गुजराती-हिन्दी भाषा में संख्याबंध शास्त्रग्रंथों की रचना द्वारा शीतल जल का छंटकाव करके उपाध्यायजी ने उस आग को बुझाने का भगीरथ प्रयास किया था और उस पुरुषार्थ में उन्होंने सफलता भी प्राप्त की थी।

ऐसे समन्वयवाद के शंख को बजाते हुए साहित्य जगत् में समवरित उपाध्यायजी ने सभी दार्शनिकों को समन्वयवाद का शिक्षा-बोध, उपदेश देकर वैर-वैमनस्य से विरक्त बनाया।

साहित्य क्षेत्र में उनकी कृतियाँ संस्कृत-प्राकृत, गुजराती और हिन्दी-मारवाड़ी में गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्यपद्यबद्ध है। शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ खण्डात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। उनकी अपूर्व साहित्य सेवा से पता चलता है कि वे व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छंद, तर्क, आगम, नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी आदि अनेक विषयों के सूक्ष्मज्ञान के धारक थे। उनकी तर्कशक्ति एवं समाधान करने की शक्ति अपूर्व थी।

उपाध्यायजी की विशिष्टता यह भी है कि तर्काधिपति होते हुए भी उन्होंने तर्क एवं सिद्धान्त को संतुलित रखा है। सामान्य से उन्होंने अपने ग्रंथों में खुद के कथन की पुष्टि हेतु प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रंथों का हवाला देने में कसर नहीं रखी है।

न केवल सम्यग्ज्ञान के महासागर थे, या परम-त्याग की जीवन्त मूर्ति या तपश्चर्या मार्ग के मुसाफिर मगर सहृदयता, सौजन्यता, सरलता, समर्पितता, साहसिकता, सहनशीलता, सौम्यता, सहायकता, सहानुभूति, सहअस्तित्व, सत्यपक्षपातित्व, स्याद्वादित्व, सहजिक स्वस्थता, सुर, संगीत, सौन्दर्य के सुविशाल स्तोत्र वाली, सदा आनन्द स्वच्छ स्तुत्य, सदागतिशील सुन्दर सरिता भी सचमुच आप ही थे, जिसने अनेक भव्यात्माओं की तत्त्वजिज्ञासा की प्यास बुझाई, शंका-विपर्यादि पंक को दूर किया, आलस्य आदि थकावट को हटा दिया एवं दार्शनिक तत्त्वों का अध्याय आदि द्वारा प्रकाशन किया। शासन की तात्त्विक उच्चतम सेवा-संरक्षा-साधुबन्ध समुच्चति के लिए आपके कितने मनोरथ थे।

सुजसेवली भाषा ढाल 4, कड़ी 7 में गुरुभक्ति स्वरूप गाथा में उपाध्यायजी के तीन विशेषण देखने को मिलते हैं—सवेग शिर-शिखर, ज्ञानरत्नसागर एवं परमतिमिर दिनकर। ऐसी अनेक उपमाओं से अलंकृत गुणों से सुसज्जित, समन्वयवाद के पुरोधा, तार्किक शिरोमणि उपाध्यायजी की कृतियाँ ज्ञानसार, अध्यात्मसार, द्वात्रिंशद-द्वात्रिंशिका, आठ दृष्टि की सज्जाय, 350 गाथा का सीमंधर स्वामी को विनतीरूप स्तवन, सम्यक्त्व के 67 बोल की सज्जाय आदि का संयमजीवन में अध्ययन कर रही थी। उस समय मेरी मानस मेधा में अपूर्व जिज्ञासा जागृत हुई कि उन प्रोन्नत प्रज्ञावान पुरुष द्वारा रचित साहित्य की गहराई तक जाकर आकण्ठ निमग्न होकर श्रुतसाधना की उपासिका/साधिका बनूँ। यद्यपि जैनशासन के गगनांतल में अनेक आचार्यों ने समवतरित होकर श्रुतसाधना को साकार किया है, फिर भी मैंने अनेक विद्वान् पण्डितों के मुखारविन्द से यह श्रवण किया है कि न्यायाचार्य महोपाध्याय यशोविजय के सम्पूर्ण वाङ्मय श्रुतसागर को अवगाहित कर एक बार जीवन में आत्मग्राही बनने योग्य है एवं परमपूज्य राष्ट्रसंत आचार्य देवेश, श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरेश्वर एवं मुनि भगवंतों से वार्तालाप करते हुए, साथ ही विद्वानजनों के मुखकमल से महोपाध्याय यशोविजय के ग्रंथों की महानता के उद्गार को सुनते हुए एवं पत्रिकाओं, लेखों,

निबन्धों आदि के पठन-पाठन से भी प्रेरणा मिलती रही। वही प्रेरणा मेरे जीवन का आधार बन गई, मेरे जीवन का लक्ष्य बन गई। तब से ही उनके साहित्य का अध्ययन शुरू किया। अध्ययन करते हुए उनकी समन्वयवादिता एवं दार्शनिकता मेरे दृष्टिपथ में आई, साथ ही उन कृतियों का अर्थचिंतन करते हुए मेरी मानस मेधा में विचार आया कि क्यों न विद्वजनों एवं साहित्य-शोधकों के समक्ष उनके सम्पूर्ण साहित्य के निचोड़रूप दार्शनिकता को प्रकाशित किया जाए, जो जिज्ञासुओं के लिए सुलभ बन सके। संयोगों की प्रतीक्षा में थी, वही प्रतीक्षा शोधकार्य निमित्त पाकर प्रयोगों में मूर्तिमान बनी। उनके फलस्वरूप यह शोधग्रन्थ प्रस्तुत है।

उपाध्यायजी ने अपने जीवन में कितने ग्रंथों की रचना की, वो संख्या निश्चित नहीं है। उन्होंने जितने लिखे, उतने उपलब्ध भी नहीं हैं। उनके साहित्य पर दृष्टि करें तो पता चलता है कि आज हम उनके संख्याबंध ग्रंथों के दर्शन से तो क्या, नामश्रवण से भी वंचित हैं। कितना ही साहित्य कालक्रम से विनष्ट हो चुका है। रहस्य से अंकित 108 ग्रंथों की रचना का उल्लेख है पर मुश्किल से रहस्यांकित 4, 5 ग्रंथ मिल रहे हैं। न्यायविशारद होने के बाद उन्होंने 100 ग्रंथों की रचना की तब उन्हें न्यायाचार्य विरुद्ध से विभूषित किया था। लेकिन वो भी उपलब्ध नहीं हो रहा है, जिसे कई उल्लेखों, अवतरणों, प्रतियों, पुस्तकों एवं ज्ञानभण्डारों का अवगाहन, अवलोकन करते हुए मुश्किल से 60-70 ग्रंथ उपलब्ध हुए। उन ग्रंथों में उपाध्यायजी ने दार्शनिक विचारों का नव्यन्याय की शैली से जिस ढंग से विश्लेषित किया है, उन सभी को प्रस्तुत करना मेरे लिए शक्य नहीं है, फिर भी अधिक से अधिक दार्शनिक वैशिष्ट्य को व्याख्यायित, विवेचित एवं विश्लेषित करने का प्रयास किया है।

इन जिनशासनरूपी महासागर में महोपाध्याय यशोविजय के सम्पूर्ण साहित्य का वाङ्मयरूप दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य रूप महा उद्यान आज गुरुकृपा से अंकुरित, अनिभव एवं प्रतिभा से नवपल्लवित एवं नवीन युक्तियों से सज्जित तथा नूतन निष्कर्षों से फलित, रहस्यार्थ निरूपण की खुशबू से प्लावित एवं स्वदर्शन मण्डन, परदर्शन खण्डनात्मक खड़े-मीठे आह्लादक रस से व्याप्त आम्रफल जिज्ञासु पथिकवृन्द की तृप्ति के लिए नवीन-प्राचीन द्विविध न्यायशैली रूप शीतल पवन की लहर से झूम रहा है, सुशोभित हो रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 9 अध्यायों में विभक्त है, जिसके प्रथम अध्याय में उपाध्यायजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर विचार किया गया है। उपाध्याय यशोविजयजी विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में एक विद्वान् एवं एक आध्यात्मिक संत के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनके जीवन के विषय में अनेक दंत कथाएँ एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इस अध्याय में उनके व्यक्तिगत जीवन के परिचय के साथ मुनिजीवन, शासन प्रभावना एवं गुणानुराग, विनय, निरभिमानता, उदारवादी, समन्वयवादी आदि विशेषताओं से विशिष्ट व्यक्तित्व बनाकर वाङ्मयी वसुंधरा पर कल्पवृक्ष बनकर सभी की जिज्ञासापूर्ति करने में समर्थ बने हैं। उनका कर्तृत्व ही उनके व्यक्तित्व को उजागर कर रहा है। ऐसी कृतियों के नामोल्लेख के साथ दार्शनिक कृतियों का विशद वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अध्यात्मवाद का महत्त्व बताया गया है। इसके अन्तर्गत अध्यात्मवाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ, उपाध्यायजी द्वारा गृहित अध्यात्म का सामान्य अर्थ, नैगम आदि सप्तनयों की अपेक्षा से अध्यात्म का स्वरूप, निश्चय एवं व्यवहारनय की दृष्टि से अध्यात्म, अध्यात्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उनके अधिकारी कौन हो सकते हैं, उनका वर्णन मिलता है। अध्यात्म के विभिन्न स्तर बताये

III

गए हैं। धर्म और अध्यात्म में क्या अंतर है? साथ ही भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है। अध्यात्म का तात्त्विक आधार आत्मा के स्वरूप पर चिंतन, मनन किया गया है। अध्यात्म में साधक, साध्य और साधनाकार्य का परस्पर संबंध बताया गया है।

तृतीय अध्याय में उनके व्यक्तित्व को आलोकित करने वाली कृतियों में अवगाहित दार्शनिक तत्त्व, सत का स्वरूप, लोकवाद, अस्तित्वाद, नवतत्त्व विचार, स्याद्वाद, सर्वज्ञता आदि को समन्वयवाद के तराजू से तोलकर, स्याद्वाद को आधार बनाकर, विरोधियों के वैर-विरोध को मिटाकर, मध्यस्थ जीवों को युक्तियुक्त बोध देने का प्रयास एवं तत्त्वमीमांसीय वैशिष्ट्य को उपाध्यायजी की दृष्टि में उजागर किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में उपाध्यायजी ने ज्ञानमीमांसा का उद्भव, विकास का वर्णन किया है। ज्ञान की विशिष्टता, परिभाषा, उनके भेद-प्रभेदों का दिग्दर्शन किया गया है। ज्ञानसहित जीवन स्वर-पर प्रकाशन बनता है। ज्ञानी अपने कर्मों का क्षय श्वासोच्छ्वास में कर लेता है, जबकि अज्ञानी आत्मा उन्हीं कर्मों को करोड़ों भवों में भी नष्ट नहीं कर सकती है। अतः जीवन में प्रतिपल ज्ञान प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञानाभ्यास करती हुई आत्मा केवलज्ञान को प्राप्त करती है इसलिए केवलज्ञान की सर्वोत्तमता, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेदाभेद एवं उपाध्यायजी की दृष्टि में ज्ञान की विशिष्टता को उजागर किया गया है। उनके साथ-साथ इसी अध्याय में ही जैन न्याय का उद्भव एवं विकास, न्याय की परिभाषा, प्रमाण, लक्षण, आगमोत्तर युग में प्रमाण का क्रमिक विकास, प्रत्यक्ष प्रमाण एवं परोक्ष प्रमाण, न्यायशास्त्र के प्रमुख तीन अंग—प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता, चार निक्षेप का स्वरूप आदि के सरल, सचोट विवेचन के साथ उपाध्यायजी ने प्रमाण-मीमांसा की विशिष्टता को उजागर किया है।

पंचम अध्याय अनेकान्तवाद एवं नय में अनेकान्तवाद का अर्थ, जैनदर्शन का आधार अनेकान्तवाद, अनेकान्तवाद का स्वरूप, अनेकान्तवाद का महत्त्व, नयवाद, नैगम, संग्रह आदि सप्तनयों का स्वरूप एवं अंत में उपाध्यायजी की दृष्टि में अनेकान्तवाद एवं नय की विशिष्टता को विश्लेषित किया गया है।

अष्टम अध्याय यशोविजयजी का रहस्यवाद में रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति, उनके विभिन्न अर्थ, विभिन्न धर्मग्रंथों में रहस्य का अर्थ, रहस्य शब्द का प्रयोग, रहस्य शब्द की विविध व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ, उनके प्रकार, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, वेदों में उपनिषदों, भगवत गीता, भगवत पुराण, भक्ति सूत्र, बौद्ध धर्म, सूफी कवियों में, संत कवियों में, सगुण भक्ति कवियों में, आधुनिक हिन्दी कवियों में, रहस्यवाद के मर्म को बताते हुए जैन धर्म में रहस्यवाद को प्रस्तुत किया और अंत में उपाध्यायजी की दृष्टि में रहस्यवाद की विशिष्टता को आलेखित किया।

उपाध्याय यशोविजय साहित्य जगत् रूपी आकाश में सूर्य की भांति दैदीप्यमान हुए। समस्त दर्शनों में दार्शनिकों रूपी नक्षत्रों को अपने साहित्य में उन्होंने किस प्रकार स्थान दिया? अन्य दर्शनों की अवधारणाओं का विचारधाराओं का उल्लेख एवं उनके उन्नायकों के विचारों के बीच किस तरह समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया, उनका एवं कर्म, सत, आत्मा, योग, मोक्ष, प्रमाण, सर्वज्ञ, न्याय आदि समस्त दार्शनिक तत्त्वों का किस प्रकार विवेचन किया? उनके इस दार्शनिक चिंतन के वैशिष्ट्य विशेष रूप में नवम अध्याय में संकलित करने का प्रयास किया है।

IV

कृतज्ञता ज्ञापन

शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ से लेकर परिसमाप्ति के अंतराल में कछ असुविधाएँ एवं अवरोधों का सिलसिला चलता रहा। इसके मूलभूत कारण रूप में जैन श्रमण एवं श्रमणियों की आचार संहिता रही। विविध विधि-नियमों से अनुसंधित होने से अवरोध उपस्थित होते रहे। जो सुविधाएँ अन्य शोधार्थियों के लिए सहज उपलब्ध है, वे हमारे लिए सहजता से उपलब्ध करना कठिन ही नहीं, अपितु असंभव जैसा ही रहा है। घुमक्कड़ जीवन, पद विहार, वर्षावास कालीन अनेक धार्मिक अनुष्ठानों का उपक्रम, सन्दर्भ ग्रंथों की प्राप्ति की समस्या इन सभी कारणों से अनुसंधान कार्य में व्यवधान भी स्वाभाविक था।

श्रमण जीवन में विद्यावाचस्पति की उपाधि का यद्यपि कोई विशेष महत्त्व नहीं है, फिर भी इस दिशा में जो भी प्रयत्न किया जाता है, इसका प्रमुख उद्देश्य यही है कि परीक्षा के निमित्त से अध्ययन हो जाता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए ऐसा करना उचित प्रतीत होता है। शोध-प्रबन्ध के लिए जो उपक्रम हुआ, उसकी पृष्ठभूमि के रूप में एक ही ध्येय था कि परम्परागत लेखनकार्य तो गतिशील है किन्तु अनुसंधानात्मक दृष्टि से कुछ कार्य प्रस्तुत विषय पर हो तथा प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में प्रस्तुत कृति का उचित अर्थांकन एवं मूल्यांकन हो।

मैंने व्यावहारिक शिक्षण 12वीं की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। उस समय मैंने सोचा भी नहीं था कि मैं इस स्तर तक अभ्यास कर पाऊँगी। समय-समय पर अध्ययन चलता रहा और परीक्षा भी उत्तीर्ण करती रही। इस शोध-ग्रंथ के प्रारम्भ से लेकर पूर्णाहुति के दो वर्ष के दौरान बहुत सारी रुकावटें, बाधाएँ, तकलीफें आईं। फिर भी कहते हैं कि “जहाँ चाह होती है, वहाँ राह मिल जाती है” इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए एवं मेरी अध्ययन-यात्रा में आई रुकावटों, तकलीफों एवं बाधाओं को दूर करने में सदैव गुरुभगवंतों का जो आशीर्वाद मिला, वह मेरे लिए अविस्मरणीय है। शासन के शणगार, अक्नी के अणगार, श्रमण भगवंत, शासन पिता महावीर परमात्मा के शासन की मैं ऋणी हूँ कि उनके पावन शासन में मुझे जन्म मिला। इस अध्ययन, लेखन, वाचन, पठन, पाठन, चिंतन, मनन के दौरान मुझे प्रातःस्मरणीय, विश्वपूज्य, अभिधान राजेन्द्रकोष निर्माता, कलिकाल कल्पतरु परमआराध्य प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. का दिव्यातिदिव्य आशीर्वाद एवं असीम कृपा सदैव रही है, जिनकी अदृश्य कृपा मेरे पर सतत बरसती रही और मुझे इस कार्य को निरन्तर, प्रतिपल शक्ति प्रदान करती रही। मेरी कोई ताकत नहीं है कि मैं इस कार्य को समाप्त कर सकूँ किन्तु कोई अपूर्व शक्ति सदैव मेरे लिए प्रेरणारूप बनी। वह दिव्य शक्ति और कोई नहीं, मेरी श्रद्धा के केन्द्र पूज्य दादा गुरुदेव राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा., क्योंकि जब कभी मैंने अपने आपको असमंजस की स्थिति में पाया अथवा कहीं कोई बाधा उत्पन्न हुई, तभी मैंने परम आराध्य पूज्य दादा गुरुदेवश्री के नाम का आस्थापूर्वक स्मरण किया है और मेरा मार्ग प्रशस्त हो गया। उनके मंगलमय आशीर्वाद एवं कृपादृष्टि ही मेरे आत्मविश्वास का आधार हैं।

मुझे इस स्तर तक पहुंचाने में मेरी आस्था के केन्द्र, साहित्य मनीषी, तीर्थ प्रभावक, मम जीवन उद्धारक, संयम दानेश्वरी, राष्ट्रसंत जैनाचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. का असीम अपरम्पार आशीर्वाद रहा है। उनके आशीर्वादों ने इतनी कृपादृष्टि बरसाई है कि उन्हें शब्दों में गूँथ पाना नामुमकिन है। निराश मन को पुनः आशा की उज्ज्वल किरण देने वाले पूज्य गच्छाधिपति गुरुदेवश्री की मैं आजीवन ऋणी रहूँगी। साथ ही विश्वास रखती हूँ कि भविष्य में भी आपश्री की कृपादृष्टि मेरे संयमपथ को सदैव

प्रशस्त करती रहेगी। गुरुदेव के प्रति मेरे मन में कृतज्ञता के जितने भाव हैं, अभिव्यक्ति के लिए उतने शब्द नहीं हैं। उनके असीम उपकार को ससीम शब्दों से अभिव्यक्त कर सीमित करना नहीं चाहती। मैं शत शत वंदना के साथ उनके चरणों में श्रद्धा के सुमन समर्पित करती हूँ।

जिनके जीवन का क्षण-क्षण शुद्धात्म भाव को स्वायत्त करने की दिशा में सर्वदा संप्रयुक्त रहा, जन-जन में विश्वमैत्री, समत्व, अहिंसा एवं अनेकान्त आदि महान् आदर्शों को संप्रसारित करने में जो सर्वथा अविश्रांत रूप में अध्यवसायरत रहे, ऐसे दादीगुरु हीरश्रीजी म.सा. एवं जिन्होंने बचपन में ज्ञान-वैराग्य की बातें बताकर मेरे जीवन को संयम मार्ग की ओर ले जाने वाली, मुझ पर मातृसदृश प्रेम की वर्षा करने वाली, साथ ही मेरी उन्नति, प्रगति के लिए सदैव प्रयत्न करने वाली सरल स्वभावी गुरुमैया (भुआजी म.सा.) भुवनप्रभाश्रीजी म.सा. की तो मैं आजीवन ऋणी रहूँगी, जिनके आशीर्वाद एवं स्नेह से मैं अपने अध्ययन को जारी रख सकी।

मेरे शोध-प्रबन्ध में मेरी गुरु भगिनियाँ सा. श्री भक्तिरसाश्री सा. एवं सा. श्री सिद्धान्तरसाश्रीजी आदि ने सभी प्रकार से अनुकूलताएँ एवं सहयोग दिया। सेवाभावी सा. भक्तिरसाश्री सा. ने समय-समय पर सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर मुझे अध्ययन के लिए समय एवं सुविधाएँ उपलब्ध करवाई। उनका अविस्मरणीय सहयोग मेरी श्रुतसाधना का प्राण है। ऐसे गुरु भगिनी (बेन म.सा.) की अन्तःस्पर्शी प्रेरणा एवं उत्साह भरे अनुग्रह के प्रति सर्वोपरि कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ। साथ ही स्नेही-सहयोगिनी अनुजा साध्वीश्री सिद्धान्तरसाश्रीजी का सहयोग प्रशंसनीय है, जिनकी अनुसंधान कार्य में निरन्तर विनयान्वित सेवाएँ रहीं, सर्वथा स्तुत्य है। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करके उनकी सेवाओं का अवमूल्य करना नहीं चाहती। मैं उनके प्रति अपनी कोमल भावनाएँ व्यक्त करती हूँ। दोनों बहिनों (सं. बहिनों) के सहयोग से मेरी ज्ञानयात्रा और संयम-यात्रा, साधना-यात्रा सुचारु रूप से चलती रहे। यही शुभेच्छा है।

इस शोधग्रंथ का मुख्य श्रेय प्राप्त होता है जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ की पूर्व कुलपति डॉ. समणी मंगलप्रज्ञाजी एवं शोध विभाग के निर्देशक प्रोफेसर बच्छराजजी दूगड़ को, जिन्होंने मुझे यह शोधग्रंथ लिखने की स्वीकृति प्रदान की। अतः मैं उनकी आभारी हूँ। साथ ही मेरे शोध निर्देशक डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, जो मेरे शोध-प्रबन्ध को सकारात्मक रूप प्रदान करने में प्रमुख मार्गदर्शक रहे। इस शोधकार्य का कुशलतापूर्वक निर्देशन करने में त्रिपाठीजी का आत्मीय सहयोग विस्मरण नहीं किया जा सकता है। उनके सचोट मार्गदर्शन के बिना ग्रंथ का पूर्ण होना असंभव था। वे शोध-विषय को अधिकाधिक प्रासंगिक एवं उपादेय बनाने हेतु सतत प्रेरित करते रहे। उन्होंने निरन्तर मेरे आत्मबल एवं उत्साह को बढ़ाया है। अतः उनका आभार सदा के लिए अविस्मरणीय बना रहेगा। इस कृति के प्रणयन के मूल आधार होने से इस कृति के साथ उनका नाम सदा-सदा के लिए स्वतः जुड़ गया है। वे शोध-प्रबन्ध के दिशा-निर्देशक ही नहीं हैं, वरन् मेरी मानसिक दृढ़ता के प्रतिष्ठाता भी हैं। मैं उनके प्रति अन्तर्हृदय से भावाभिनत हूँ।

मेरे इस शोध-ग्रंथ के प्रारम्भ करने से पहले समुदायवर्तिनी साध्वी डॉ. अनेकान्तलताश्री, साध्वी डॉ. प्रीतीदर्शनाजी, साध्वी डॉ. दर्शनकलाजी ने भी मुझे समय-समय पर पी-एच.डी. को सुचारु रूप से समाप्त हो, ऐसी मंगलकामना के साथ मार्गदर्शन प्रदान किए, उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ एवं इस अवसर पर मैं डॉ. ज्ञानजी को भी विस्मृत नहीं कर पाती, क्योंकि जब यह बीज बोया गया तो सुझाव रूपी पानी का काम उन्होंने किया, इसलिए मैं

उनके प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ एवं पू. पूर्णचंद्रविजयजी म. सा. के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। क्योंकि जिन्होंने अपने समय में से समय निकालकर मेरे इस शोधग्रंथ का एक बार अवलोकन करके प्रुफ चेक कर दिया था तो इस अवसर पर मैं उनको विस्मृत नहीं कर सकती। एवं अनिताजी नाहर उज्जैन, जो अभी पी-एच्.डी. लगभग पूर्ण कर चुकी है, उन्होंने भी अपने सुझाव मुझे दिये थे। उनको भी इस अवसर पर याद करके अभिवादन करती हूँ।

मेरे इस शोध-ग्रंथ की प्रमुख आधारशिला मेरे संसारपक्षीय माता-पिता हैं, जिन्होंने मुझे जन्म से ही व्यावहारिक अभ्यास के साथ-साथ धार्मिक अभ्यास में भी पीछे न रहूँ, इसका विशेष ध्यान रखा था। प्रतिदिन कहते थे कि ज्ञान व्यक्ति की पाँख है। ज्ञान प्राप्त करने से व्यक्ति महान् बनता है। ज्ञान तो व्यक्ति का विश्राम है। इस तरह के संस्कार प्रतिदिन दिया करते थे। संयम जीवन ग्रहण करने के पश्चात् जब भी मिलन होता, तब वही कहते गुरु आज्ञा, वैयावृत्य एवं ज्ञानप्राप्ति में पीछे कदम मत हटाना। उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद ही इस शोध प्रबन्ध की सफलता की सीढ़ी हैं। साथ ही संसारी भाई-भाभियाँ, जीजाजी-भगिनी, सभी की एक ही इच्छा थी कि आप कैसे भी पुरुषार्थ करके पी-एच्.डी. करो, आपको हम तन-मन-धन से किसी-भी समय साथ, सहकार एवं सहयोग देने के लिए तैयार हैं। अतः इस समय सभी को याद करना मेरा कर्तव्य है, फर्ज है।

इस शोध-प्रबन्ध रूपी महायज्ञ का प्रारम्भ धर्ममय मद्रास की पावन धरा से प्रारम्भ हुआ एवं तपोभूमि, त्यागभूमि, वीरक्षेत्र थराद की धन्यधरा पर पूर्ण हुआ, जो मेरे लिए गौरव का विषय है। इस विशाल शोध-ग्रंथ की सम्पूर्णता के लिए मद्रास सकल श्रीसंघ, गुण्टूर सकल श्रीसंघ एवं थराद सकल श्रीसंघ के द्वारा उदारता पूर्वक तन, मन एवं धन से सहयोग एवं अध्ययन हेतु अनुकूलताएँ प्रदान की गईं, उसे ज्ञापित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं, मैं हृदय से इन सभी संघों की आभारी हूँ।

इस शोध ग्रंथ को विवेचनात्मक एवं विवरणात्मक, तत्त्वसम्मत, शास्त्रसम्मत एवं सप्रमाण निर्मित करने में मुझे श्री राजेन्द्रसूरी ज्ञान भंडार अहमदाबाद, श्री धनचंद्रसूरी ज्ञान भंडार थराद, श्री भूपेन्द्रसूरी ज्ञान भंडार आहोर, श्री विद्याचंद्रसूरी ज्ञान भंडार भीनमाल, श्री हेमचन्द्रसूरी ज्ञान भंडार पाटण, श्री कैलाश सागर सूरी ज्ञान भंडार, कोबा, श्री स्थानकवासी ज्ञान भंडार मैसूर, श्री तेरापंथ ज्ञान भंडार मद्रास, श्री राजेन्द्र सूरी ज्ञान भंडार मद्रास, आराधना भवन ज्ञान भंडार मद्रास, केशरवाडी जैन संघ ज्ञान भंडार मद्रास, श्रेयस्कर अंधेरी जैन संघ, बोम्बे, कलिकुंड जैन संघ ज्ञान भंडार धोलका एवं जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ आदि से समय-समय पर सन्दर्भ ग्रंथ उपलब्ध होते रहे। मैं इन सभी संस्थाओं के प्रति, व्यवस्थापकों एवं कार्यकर्ताओं के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध में हरिलालजी सेठ, किशोरजी खिमावत, सुरेन्द्रजी लोढा, मिलापचंदजी चौधरी, सेवंतीलाल मोरखिया, वाघजीभाई वोहरा, नीतिनभाई अदाणी आदि सभी महानुभावों ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मेरे शोध-कार्य में सहयोग प्रदान किया, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

मुंबई के S.P. Shah एवं मद्रास केललितभाइ मंडोत को भी विस्मृत नहीं कर सकती। क्योंकि जिन्होंने पुस्तकें उपलब्ध करवाने में, कम्प्यूटरराईज़ करवाने में एवं कुरियर आदि सब जिम्मेदारियाँ लेकर यथा समय कार्य पूर्ण करने में अपना कार्य गौण करके हमारे इस शोध-प्रबन्ध को मुख्यता देते हुए तन, मन, धन के त्रिवेणी संगम से सहयोग दिया है। वह अविस्मरणीय है। जब हमने कोसेलाव में चातुर्मास किया था तब मैंने B.A. First Year का Form भरा था। उस समय S.P. Shah ने कहा था आप कड़ी

महेनत करके Ph.d. तक आगे बढ़ो। आपको जो भी सहयोग चाहिए वो तन-मन-धन सभी प्रकार के सहयोग देने के लिए हम सब तैयार हैं। अतः मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मद्रास के ललितभाई मंडोत एवं मंजुलादेवी मंडोत ने तो मुझे अपनी बेटी का उत्तरदायित्व देकर समय समय पर मेरे लिए खडे पग रहे। जब प्रथम चातुर्मास मद्रास किया था। तब मेरी आँख की तकलीफ हुई थी, तब भी मेरे से ज्यादा मेरे आँख की उन दोनों न परवाह की थी। और समय एवं धन का सद्व्यय करके मेरी आँखों की रोशनी वापिस लाई थी। वैसे ही जब दूसरा चातुर्मास मद्रास में हुआ तब मैंने 73 उपवास किया था। तब भी उन्होंने उमंग-उत्साह से वैयावच्च का लाभ उठाया था। वो मेरे लिए अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय है। साथ-साथ ये Ph.d. तक पहुँचाने में जो भी सहयोग दिया है वो मैं शब्दों में बयान नहीं कर सकती। अतः इस अवसर पर मैं उन्हें प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। और मैं आजिवन ऋणी रहूँगी।

मैं राजेन्द्रसूरि त्रिस्तुतिक जैन संघ-अमदावाद की आजीवन ऋणी रहूँगी। क्योंकि अमदावाद चातुर्मास में जब इन्टरव्यू हुआ और डिग्री मिली उस समय संघने पूर्ण सहयोग दिया। और इस महा शोधप्रबंध को बुक का स्वरूप देने में सुकृत सहयोगी के रूप में श्री राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्टने ही लाभ लिया। वो मेरे लिए अविस्मरणीय है। इस संघ के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

इसी अवसर पर मद्रास के सत्यविजयजी हरण, सुरत के प्रकाशभाई पारेख, सियाणा के दीपचंदजी बाफना एवं जयंतिलालजी गांधी, वापी के अरवीन्दजी जैन, अहमदाबाद के प्रवीणभाई अध्यापक एवं कर्णिकभाई को भी विस्मृत नहीं कर सकती। क्योंकि उन्होंने भी अपनी ज्ञानभक्ति एवं गुरुभक्ति का समय समय पर लाभ उठाया है। अतः उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

भैया नरेन्द्रभाई नाहर के द्वारा शोध-प्रबन्ध पूर्ण करने में दिया गया सहयोग अविस्मरणीय है। उनकी सदा यही भावना रहती थी कि जितनी समय-मर्यादा है, उनसे पहले कार्य निष्पन्न होना चाहिए, तब जाकर उस कार्य की विशिष्टता रहती है। वे सदा कहते रहते कि आप जल्द से जल्द पी-एच.डी. करो, आपको जो भी साथ, सहकार, सहयोग चाहिए, वो तन, मन एवं धन से देने के लिए तैयार हैं। उनकी ज्ञान के प्रति रही हुई भावना, भक्ति अनुमोदनीय है। करीबन 10 माह में 9 अध्याय का सम्पूर्ण शोध-लेखन करना मेरे लिए नामुमकिन नहीं, पर असंभव जैसा ही था। फिर भी अगर पूर्ण हुआ है तो उनका श्रेय नरेन्द्रभाई की ही है। उन्होंने समय-समय पर मुझे समय की महत्ता को बताते हुए कहीं बातों में समय न चला जाए, उन बातों पर विशेष रूप से समझाकर मेरे मार्गदर्शक बने हैं। वह मुझे बराबर कहते थे कि आज के दिन में इतने पेज तो लिखने ही हैं, उसी तरह लिखती गई तो करीबन 10 माह के अन्तर्गत यह कार्य पूर्ण हो सका। पर कम्प्यूटराईज कराने, प्रूफ चेक करने में, कुरियर की असुविधा एवं विहारों के कारण थोड़ा और समय लग गया। आज जो भी है, वो उनकी की शुभकामनाओं का फल है। मैं तो उनको आज भी निवेदन कर रही हूँ कि सदैव आपकी दुआएँ एवं शुभकामनाएँ बनी रहें। इस अवसर पर मैं आपके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित कर रही हूँ।

इस शोध-ग्रंथ के लिए जिन-जिन ग्रंथों को पढा, पत्र-पत्रिकाएँ, निबंध, लेख, जिनसे सन्दर्भ लिए, जिनसे प्रेरणा मिली, शोध-पथ को सुलभ बनाया, उन सभी की मैं हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अमदावाद वाले भरत ग्राफिक्स ने कम्प्यूटर टंकण के द्वारा इस शोध-प्रबंध को साकार रूप दिया। अतः मैं उनका भी आभार व्यक्त करती हूँ। इनके अलावा इस शोध-ग्रंथ के लिए मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता करने वाले सारे साधु-साध्वियों और बंधु-बहिनों का मैं मनःपूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ।

—साध्वी अमृतरसाश्री

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय उपाध्याय यशोविजय का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

1-73

व्यक्तित्व गृहवास

जन्म स्थान एवं समय

माता, पिता एवं बान्धव

पूत के लक्षण पालने में

पू. नयविजय का चतुर्मास एवं समागम

मुनि जीवन

दीक्षा, बड़ी दीक्षा

गुरु परम्परा

विद्याभ्यास—आठ अवधान का प्रयोग

धनजी सूर्य की विज्ञप्ति एवं स्वीकार

काशी में न्याय विशारद एवं तार्किक शिरोमणि विरुद्ध से सुशोभित

शारदा देवी का वरदान

जिनशासन की प्रभावना

महोबतखान के समक्ष 18 अवधान का प्रयोग

वाचक (उपाध्याय) पद की प्राप्ति

उपाध्याय यशोविजय की विद्वत्ता से खंभात के पंडितों का परिचय

व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण

उत्कृष्ट गुरु भक्ति

गुणानुरागी और विनय

उदारता या उदार दृष्टि

श्रुत भक्ति

परोपकार परायणता

कर्तृत्व में व्यक्तित्व

निराभिमानता या लघुता

नम्रता—शिष्टाचारिता

(i)

अध्यात्म के आलोक
समदर्शिता
स्याद्वाद के महान् ज्योतिर्धर
श्रेष्ठ दार्शनिक या दार्शनिक दृष्टिकोण
समन्वयवादी या सर्वधर्म सहिष्णु
विद्या के कर्मठ व्यक्तित्व
न्याय के विषय में योगदान
सम्पूर्ण वाङ्मय के विषय में अवगत
गुर्जर साहित्य की विशिष्टता

उपाध्याय यशोविजय का कर्तृत्व
सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियाँ
अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ
दार्शनिक कृतियों का संक्षिप्त विवेचन
जैन तर्कभाषा
गुरुतत्त्व विनिश्चय
अध्यात्म मत परीक्षा
अनेकान्त व्यवस्था
द्वात्रिंशक द्वात्रिंशिका
नय रहस्य
नय प्रदीप
नयोपदेश
न्याय खंडन खंड खाद्य
न्यायालोक
प्रतिमाशतक
वादमाला
ज्ञानबिंदु
उपदेश रहस्य
स्याद्वाद रहस्य
भाषा रहस्य

द्वितीय अध्याय उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद

74-121

अध्यात्मवाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

उपाध्याय यशोविजय द्वारा गृहित सामान्य अर्थ

नैगम आदि सप्तनयों की अपेक्षा से अध्यात्म का महत्त्व

(ii)

निश्चय एवं व्यवहारनय की दृष्टि से अध्यात्म
अध्यात्म का स्वरूप एवं विश्लेषण
अध्यात्म के अधिकारी
अध्यात्म के विभिन्न स्तर
धर्म और अध्यात्म
भौतिक सुख और अध्यात्म
अध्यात्म का तात्विक आधार—आत्मा
अध्यात्म में साधक, साध्य और साधन

तृतीय अध्याय तत्त्वमीमांसा

122-192

सत् का स्वरूप
लोकवाद
द्रव्य, गुण, पर्याय भेदाभेद
अस्तिकाय द्रव्य
धर्मास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय
आकाशास्तिकाय
पुद्गलास्तिकाय
जीवास्तिकाय
अनस्तिकाय द्रव्य-काल
नवतत्त्व विचार
स्याद्वाद का महत्त्व
तत्त्वमीमांसीय वैशिष्ट्य

चतुर्थ अध्याय ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा

193-251

(अ) जैन ज्ञान मीमांसा का उद्भव और विकास
ज्ञान की परिभाषा एवं भेद-प्रभेद
मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान—साम्य, वैषम्य
अवधि एवं मनःपर्यवज्ञान के भेद को दिखाने वाले हेतु एवं साधर्म्य
केवलज्ञान की सर्वोत्तमता
ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदाभेद
ज्ञान की विशिष्टता

(iii)

- (ब) जैन न्याय का उद्भव एवं विकास
 न्याय की परिभाषा
 प्रमाण लक्षण
 आगमोत्तर युग में प्रमाण एवं परोक्ष प्रमाण
 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं परोक्ष प्रमाण
 न्यायशास्त्र के प्रमुख तीन अंग—प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता
 चार निक्षेप का स्वरूप
 प्रमाणमीमांसा की विशिष्टताएँ

पंचम अध्याय अनेकान्तवाद एवं नय 252-320

- अनेकान्तवाद का अर्थ
 जैन दर्शन का आधार अनेकान्तवाद
 अनेकान्तवाद का स्वरूप
 अनेकान्तवाद का महत्त्व
 नयवाद
 सप्तनयों का स्वरूप
 अनेकान्त और नयदृष्टि का महत्त्व

षष्ठ अध्याय कर्ममीमांसा एवं योग 321-414

- (अ) कर्मस्वरूप एवं प्रकृति
 कर्म की परिभाषा
 कर्म का स्वरूप
 कर्म की पौद्गलिकता
 कर्मबन्ध की प्रक्रिया
 कर्मों के भेद-प्रभेद
 कर्मों का स्वभाव
 रूपी का अरूपी पर उपघात
 कर्म और पुनर्जन्म
 कर्म और जीव का अनादि सम्बन्ध
 कर्म के विपाक
 सर्वथा कर्मक्षय कैसे?
 गुणस्थानक में कर्म का विचार

(iv)

कर्म की स्थिति
कर्म में स्वामी
कर्म का वैशिष्ट्य

- (ब) योग, स्वरूप एवं लक्षण
योग की व्युत्पत्ति
योग की परिभाषा
योग का लक्षण—व्यवहार एवं निश्चयनय से
योग के अधिकारी
योग के भेद-प्रभेद
योग शुद्धि के कारण
योग में साधक एवं बाधक तत्त्व
योग की विधि
योग की दृष्टियाँ
योग की परिलब्धियाँ
यशोविजय का योग वैशिष्ट्य

सप्तम अध्याय भाषा दर्शन

415-477

भाषा से तात्पर्य
भाषा के प्रयोजन
भाषा पद के निक्षेप
द्रव्यभाषा लक्षण
भाष्यमाण भाषा
भावभाषा के लक्षण
भाषा के भेद
भाषा दर्शन का महत्त्व
भाषा दर्शन एवं पाश्चात्य मन्तव्य
साधारण भाषा दर्शन रसल, सूर, विडगेस्टाईन, आस्टिन
भाषा दर्शन में उपाध्याय यशोविजय का वैशिष्ट्य

अष्टम अध्याय महोपाध्याय यशोविजय का रहस्यवाद

478-517

रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति
रहस्य शब्द के विभिन्न अर्थ

(v)

विभिन्न धर्मग्रंथों में रहस्य का अर्थ
रहस्यवाद शब्द का प्रयोग
रहस्यवाद की विविध व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ
रहस्यवाद के प्रकार
रहस्यवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
वेदों में रहस्यवाद
उपनिषदों में रहस्यवाद
भगवत गीता, भगवत पुराण एवं भक्ति सूत्र में रहस्यवाद
बौद्ध धर्म में रहस्यवाद
संत कवियों में रहस्यवाद
संगुण भक्ति कवियों में रहस्यवाद
आधुनिक हिन्दी कवियों में रहस्यवाद
जैन धर्म में रहस्यवाद
यशोविजय की दृष्टि में रहस्यवाद का वैशिष्ट्य

नवम अध्याय	उपाध्याय यशोविजय की दृष्टि में अन्य दर्शनों की अवधारणा सत् के सन्दर्भ में आत्मा के सन्दर्भ में योग के सन्दर्भ में मोक्ष के सन्दर्भ में कर्म के सन्दर्भ में प्रमाण के सन्दर्भ में सर्वज्ञ के सन्दर्भ में न्याय के सन्दर्भ में अन्य सन्दर्भ में	518-566
उपसंहार		567-586
सन्दर्भ ग्रंथ सूची		587-602

प्रथम अध्याय

उपाध्याय यशोविजय का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

1. व्यक्तित्व गृहवास
2. मुनि जीवन
3. जिनशासन की प्रभावना
4. व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण
5. उपाध्याय यशोविजय का कर्तृत्व

सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियाँ
अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ
दार्शनिक कृतियों का संक्षिप्त विवेचन
जैन तर्कभाषा
गुरुतत्त्व विनिश्चय
अध्यात्म मत परीक्षा
अनेकान्त व्यवस्था
द्वात्रिंशक द्वात्रिंशिका
नय रहस्य
नय प्रदीप

नयोपदेश
न्याय खंडन खंड खाद्य
न्यायालोक
प्रतिमाशतक
वादमाला
ज्ञानबिंदु
उपदेश रहस्य
स्याद्वाद रहस्य
भाषा रहस्य

उपाध्याय यशोविजय का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

जैन शासन अगाध ज्ञानराशि का गहनतम सागर है। जो इस विराट सागर में गोते लगाते हैं, वे सिद्धान्तरूपी गुणरत्नों को प्राप्त करते हैं एवं स्वयं के जीवन को सम्यक् ज्ञानमय बनाकर अक्षय, अनुपम सुख की अनुभूति के साथ आत्मानन्द को प्राप्त करते हैं। उस उत्कृष्ट सुख की अनुभूति चारित्रवान एवं श्रद्धावान् आत्माओं को विशेष रूप से होती है, क्योंकि चारित्रवान आत्माएँ विषयों से विरक्त बनकर ज्ञान की ओर विशेष आकर्षित होते हैं, श्रद्धा से प्रत्येक पदार्थ के परमार्थ को ज्ञात कर जीवनपर्यन्त उसको हृदय में स्थिर करते हैं, यही वास्तविक स्थिति महोपाध्याय यशोविजय में उपलब्ध होती है। जैन शासन रूपी महासागर में जो तेजस्वी नर प्रगट हुए इनमें पूज्यपाद वाचकवर्य श्री यशोविजय महाराज का स्थान अग्रिम है।

महोपाध्याय यशोविजय महाप्रभाविक, समन्वयवादी, दार्शनिक के रूप में विश्व विश्रुत रहे हैं। उनकी संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती ग्रंथराशि विपुल मात्रा में है। उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता, अपूर्व ज्ञानगरिमा, निष्पक्ष आलोचना और भाषा प्रभुत्व भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

यशोविजय ने अपना समस्त जीवन विविध शास्त्रों के अध्ययन, चिंतन और सृजन में लगा दिया। उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी कलम चलाई। उनकी व्यापक दृष्टि जैन दर्शन की चर्चा तक ही सीमित न रही, अन्य दर्शनों की चर्चा भी उन्होंने उतने ही अधिकारिक रूप से की है। यशोविजय ने अपने अध्ययनकाल में पारम्परिक अध्ययन के साथ उस समय की अन्य परम्पराओं में प्रचलित नवीन न्याय का गहन अध्ययन भी किया था। इनके फलस्वरूप उन्होंने जैन दर्शन का नव्य न्याय पर आधारित जितना प्रभावी विश्लेषण तथा प्रतिपादन किया, उतना न तो उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया और न ही परवर्ती कोई आचार्य ही कर पाया है।

योग विद्या विषयक उनकी दृष्टि इतनी व्यापक थी कि वे अपने अध्ययन को अपने सम्प्रदाय के ग्रंथों तक सीमित नहीं रख सके। अतएव उन्होंने पातंजल योगसूत्र पर भी अपना विवेचन लिखा। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के सूक्ष्मप्रज्ञा विद्यानन्द के कठिनतम ग्रंथ आष्टसहस्री पर व्याख्या भी लिखी।

यशोविजय जैनशासन के उन परम प्रभावक महापुरुषों में अग्रणी थे, जिनके द्वारा कथित अथवा लिखित शब्द प्रमाण स्वरूप माना जाता है। ये युग प्रवर्तक महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पण्डित सुखलाल के इस मन्तव्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि इस क्रांतिकारी महापुरुष का स्थान जैन परम्परा में ठीक वही है, जो वैदिक परम्परा में जगद्गुरु शंकराचार्य का है।

अनेक उपमाओं से अलंकृत एवं सुश्लाघ्य प्रशंसा को प्राप्त महोपाध्याय यशोविजय की विशाल एवं आदर्श प्रतिज्ञा देखने लायक है—

“स्याद्वादार्थः कापि कस्यापि शास्त्रे यः स्यात् कश्चिद् दृष्टिवादार्णवोत्थः।

तस्याख्याने भारती सस्पृहा मे भक्तिव्यक्तेर्नाग्रहोडाणौ पृथौ वा।।”

“दृष्टिवाद (बारहवां शास्त्रांग) समुद्र से प्रगट हुआ स्याद्वाद पदार्थ पीयूष किसी के भी शास्त्र के कोई भी विभाग में, जैसा हो ऐसा आख्यान करने में स्याद्वाद के प्रति तीव्र भक्ति होने से मेरी बुद्धि

या वाणी स्पृहावान ही वर्तती है। भक्ति की स्पष्टता से कम-ज्यादा, छोटे-बड़े में, सूक्ष्म या स्थूल में, अणु या विशाल में, किसी भी जात का आग्रह नहीं है।” यह प्रतिज्ञा अनुमोदनीय एवं अनुकरणीय है।

सर्वप्रथम हम उनके जीवन और व्यक्तित्व को प्रस्तुत करेंगे। उसके बाद उन बहुआयामी कर्तृत्व का समीक्षात्मक विवरण दिया जाएगा।

व्यक्तित्व गृहवास

प्राचीन साहित्यकार एवं विद्वान् यशोविजय यशप्राप्ति की आकांक्षा से निर्लिप्त रहते हुए स्वान्तः सुखाय और लोक-कल्याण की भावना से ही साहित्य-सृजन करते थे, फलतः उनकी रचनाओं में प्रायः उनके जीवन संबंधी तथ्यों के उल्लेख का अभाव है। अतः शोधकर्ताओं के लिए उनके जीवनवृत्त की जानकारी प्राप्त करना दुष्कर कार्य होता है। उपाध्याय यशोविजय भी इसके अपवाद नहीं हैं। यशोविजय के संबंध में उनके समकालीन मुनियों ने जो उल्लेख किए हैं, उनके द्वारा जो कुछ जानकारी प्राप्त होती है, वही हमारे विवरण का आधार है।

जन्म समय

उपाध्याय यशोविजय के जन्मवर्ष की विचारणा के लिए परस्पर भिन्न ऐसे दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं, किन्तु उनके मन्तव्य भिन्न-भिन्न होने के कारण निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना संभव नहीं है।

1. वि.सं. 1663 में वस्त्र पर आलेखित मेरुपर्वत का चित्रपट
2. यशोविजय के समकालीन मुनि कातिविजय कृत “सुजसवेलीभास” नामक रचना।

विक्रम संवत् 1663 में यशोविजय के गुरु नयविजय ने स्वयं वस्त्रपट पर मेरुपर्वत का आलेखन किया था। यह चित्रपट आज दिन तक सुरक्षित है। इसकी पुष्पिका में दी गई जानकारी के अनुसार नयविजय ने आचार्य विजयसेनसूरि के कणसागर नामक गांव में रहकर सं. 1663 में स्वयं के शिष्य जसविजयजी (यशोविजय) के लिए इस पट का आलेखन किया। पुष्पिका में लिखे अनुसार कल्याणविजय के शिष्य नयविजय उस समय गणि और पन्यास के पद पर थे, किन्तु जिसके लिए यह पट बनाया, उन यशोविजय का भी उसमें गणी के रूप में उल्लेख है।

अब इस चित्रपट के अनुसार विचार करें तो 1663 में यशोविजय गणि थे। सामान्यतया दीक्षा के समय कम-से-कम 10 वर्ष बाद ही गणि पद देने में आता है। (अपवादरूप प्रसंग में इससे कम वर्ष में भी गणिपद देते हैं।) उसके अनुसार सं. 1663 में यशोविजय को गणिपद से सुशोभित किया हो तो सं. 1653 के आस-पास उनकी दीक्षा हुई होगी, यह मान सकते हैं। अगर यह बालदीक्षित हो और दीक्षा के समय उनकी उम्र आठ वर्ष के लगभग की हो तो संवत् 1645 के आस-पास इनका जन्म हुआ होगा, इस प्रकार मान सकते हैं।

इनका स्वर्गवास संवत् 1743-44 में हुआ था। अतः संवत् 1645 से संवत् 1744 तक का लगभग सौ वर्ष का आयुष्य इनका होगा, ऐसा पट के आधार पर मान सकते हैं।

“सुजसवेली भास” ढाल-1, कड़ी-13 के अनुसार सं. 1688 में नयविजय कनोडु पधारे थे और इसी वर्ष यशोविजय की बड़ी दीक्षा पाटण में हुई—

संवत् सोल अठ्यासिजी रही कुणगिरि चौमासी,
श्री नयविजय पंडितवरुजी आव्या कन्होडे उल्लासि ।
विजयदेव गुरु हाथनीजी बडी दीक्षा हुई खास,
संवत् सोल अठ्यासियेजी करता योग अभ्यास ।

दीक्षा और बडी दीक्षा एक ही वर्ष में संवत् 1688 में दी गई और दीक्षा के समय इनकी उम्र कम थी, यह सुजसवेली भास के आधार पर पता चलता है। उसमें कहा गया है—

लघुता पण बुद्धि आगलोजी नामे कुंवर जसवंत ।

इस पंक्ति से मालूम होता है कि दीक्षा के समय इनकी उम्र 8-9 वर्ष की होनी चाहिए तो इस आधार पर इनका जन्म 1679-80 में होना चाहिए। इनका स्वर्गवास डभोई में सं. 1743-44 में हुआ था। इस तरह इनका आयुष्यमान 64-65 वर्ष का होगा, यह मानना चाहिए।

चित्रपट के आधार पर 1645-46 के आस-पास इनका जन्म होना चाहिए और सुजसवेली भास के आधार पर इनका जन्म 1679-80 में होना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि इन दोनों प्रमाणों में से किस प्रमाण को आधारभूत माना जाए। चित्रपट के विषय में तो निश्चित ही है कि उनके गुरु नयविजय के हाथ से तैयार की हुई मूल वस्तु हमें मिलती है। “सुजसवेली भास” की हस्तप्रति उसके कर्ता के हस्ताक्षर की नहीं है, परन्तु बाद में लिखाई हुई है। संभव है कि पीछे से हुई इस नकल में दीक्षा का वर्ष लिखने में कुछ भूल हुई हो। सुजसवेली भास के रचयिता उपाध्याय यशोविजय के समकालीन थे और हस्तप्रति तो उसके बाद की मिलती है, जबकि नयविजयजी गणि तो यशोविजय के गुरु थे। इस दृष्टि से भी देखें तो यशोविजय ने विपुल साहित्य की रचना की तथा जिन शास्त्रों का अभ्यास किया, उन्हें देखते हुए इतना कार्य करने के लिए 63-64 वर्ष की आयु कम ही होगी।

दूसरी बात, इन्होंने अनशन करके देह को छोड़ा था। अनशन करने की दृष्टि से भी यह उम्र कुछ कम लगती है। वे स्वयं तपस्वी साधु थे, बाल ब्रह्मचारी थे, योग विद्या के अभ्यासी थे, समतारस में डूबे ज्ञानी थे, इसलिए उनका आयुष्य दीर्घ होगा, यह मानना अधिक उचित लगता है।

यशोविजय के जन्म के बारे में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। ऐतिहासिक वस्त्रपट में वि. सं. 1663 का उल्लेखपूर्वक यशोविजय गणि का निर्देश है। विशेष में यशोविजयगणि ने वि.सं. 1665 में लिखी हुई “हेमधातु पाठ” की हाथपोथी एवं वि.सं. 1669 में लिखी “उन्नतपुर स्तवन” की हाथपोथी आज भी मिल रही है।² इन उल्लेखों को देखते हैं तो लगता है कि यशोविजयगणि का जन्म वि.सं. 1650 के आस-पास होना मान सकते हैं।

मुनिश्री यशोविजय का कहना है कि वि.सं. 1663 में यशोविजय गणि पद से विभूषित हुए। यह बात “तर्कभाषा, दर्शाणभद्र सज्जाय” आदि हाथपोथी के अंत में लिखे उल्लेखों का विचार करते हुए यशोविजय गणि का जन्म समय वि.सं. 1640 से 1650 के बीच का हो सकता है।³

जन्म स्थान

उपाध्याय यशोविजय के जन्मस्थान का उल्लेख हमें ‘सुजसवेली भास’ के आधार पर प्राप्त होता है। इसके आधार पर यशोविजय का जन्मस्थान गुर्जरदेश के कनोडु नामक गांव में है। यहां भाष्यकार

ने यशोविजय के जन्मस्थल का निर्देश नहीं किया, किन्तु यशोविजय ने अपने गुरु नयविजय के सर्वप्रथम दर्शन कनोडु में किए थे। उस समय उनके माता-पिता कनोडु में रहते थे, यह हकीकत सुनिश्चित है। संभव है कि यशोविजय का जन्म कनोडु में हुआ हो और इनका बालपन भी कनोडु में ही बीता हो।

“वर्तमान का कनोडु”⁴ उपाध्याय यशोविजय का जन्मस्थान है जो गुजरात का मुख्य धरातल है। भारतदेश की धरा अनेक वीरवर, विद्वर, वीरांगनाओं से विभूषित रही है और अनेक सत्कार्यों से पूजनीय, प्रशंसनीय रही है। इस धरा के कण-कण तपस्वियों के तेज से, विद्वानों की विद्वत्ता से, योगियों के योग से, दार्शनिकों के दर्शनीय भावों से, सतियों की सतीत्व ऊर्जा से आप्लावित रहे हैं।

गुजरात की गौरवशाली धरा का इतिहास इस तथ्य को उजागर करता है कि यहाँ जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में उच्चकोटि के दिग्गज विद्वान् हुए हैं और उनके वैचारिक संघर्ष से तत्त्वविद्या का वाङ्मय सदैव विकस्वर होता रहा है। कनोडु उत्तर गुजरात में महेसाणा से पाटण के रास्ते पर धीणोज गांव से चार मील की दूरी पर बसा हुआ है। जब तक इनके जन्मस्थल के विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलते तब तक इनकी जन्मभूमि कनोडु थी, यह मानने में कोई दिक्कत नहीं है, क्योंकि कनोडु गांव के बारे में और भी कई प्रमाण हैं, जो निम्न हैं—

साहित्यरसिक मोहनलाल दुलीचंद देसाई ने भी “जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास”⁵ नामक अपनी पुस्तक के पृष्ठ 625 में यशोविजयजी की जन्मभूमि “कन्होडु-कम्होडु” ऐसा उल्लेख किया है। उन्होंने सुजसवेली भाष का वि.सं. 1990 में सम्पादन किया है और उनकी प्रस्तावना (पृ. 4) में इस गाँव का उल्लेख करते हुए कहा है कि—गुजरात में कलोल एवं पाटण के बीच में कनोडु गांव आया हुआ है।

इस आधार पर कितने⁶ विद्वानों ने कनोडु गांव कलोल के पास आने का उल्लेख किया है। किन्तु जैनाचार्य श्री विजयप्रतापसूरि के प्रशिष्य और विजयधर्मसूरि के आद्य शिष्य साहित्यप्रेमी मुनिश्री यशोविजय ने खुद तलाश करते हुए ऐसा निर्णय दिखाया है कि कनोडु गांव कलोल के पास में नहीं बल्कि धीणोज के पास आया हुआ है। वर्तमान कनोडु गांव में अभी कोई जैनों के घर नहीं हैं।⁷

विद्वान् वल्लभ मुनिश्री पुण्यविजय ने कनोडु के लिए निम्न उल्लेख दिया है—पाटण और महेसाणा की रेलवे लाईन के बीच में धीणोज स्टेशन आया हुआ है। वहाँ से पोणा माईल के अंतरे धीणोज गांव है। वहाँ से दक्षिण-पश्चिम दिशा में दो गाऊ के अंतरे पुण्यतीर्थ कनोडा आया हुआ है।⁸ कनोडा में जो शिवालय एवं स्मरणा देवी का मन्दिर है, वह चालुक्ययुगीन शिल्पकला से विभूषित है।

माता-पिता एवं बान्धव

“सुजसवेली भाष” के आधार पर यशोविजय की माता का नाम सौभागदे (सौभाग्यदेवी) और पिता का नाम नारायण था। वे एक व्यापारी थे। उनके दो पुत्र थे—यशवंत और पदमसिंह। परिवार बड़ा धार्मिक और आस्थावान था।

सुजसवेली भाष (ढाल-1, कड़ी-12) के आधार पर यशोविजय को पदमसिंह नामे बांधव था। सुजसवेली भाष की प्रस्तावना (पृ. 8) में दुलीचंद देसाई ने पदमसिंह को यशोविजय का भाई दिखाया है तो कहीं यशोविजय गणि ने अपनी¹⁰ कितनी कृतियों में पदमविजय को अपना सोदर दिखाया है।

कम्पयडि की वृहदवृत्ति के अंत में जो प्रशस्ति है, उनके चौथे पद में निम्न उल्लेख किया है—

तत्पादाम्बुजभृङ्गु, पद्मविजयप्रसानुजन्मा बुध ।

सतत्त्वं किंचिदिदं यशोविजय इत्याख्यामृदा ख्यातवान् ।¹¹

यहां अनुजन्मन् को तत्पुरुष का प्रयोग करें तो यशोविजय पद्मविजय के अनुज होते हैं और बाहुब्रीहि का प्रयोग करें तो पद्मविजय यशोविजय के अनुज होते हैं।¹²

पूत के लक्षण पालने में

यशोविजय की माता सौभाग्यदेवी का यह नियम था कि रोज सुबह भक्तामर स्तोत्र सुनने के बाद ही भोजन ग्रहण करना। चातुर्मास में वह रोज उपाश्रय में जाकर गुरु महाराज से भक्तामर सुनती थी। यशवंत भी साथ में जाता था। एक बार श्रावण माह में मूसलाधार वर्षा हुई। लगातार तीन दिन तक पानी गिरता रहा। सौभाग्यदेवी को तीन दिन के उपवास हो गए। चौथी सुबह भी जब सौभाग्यदेवी ने कुछ नहीं खाया तो बालक यशवंत ने कौतुहलवश सहज इसका कारण पूछा, तब माता ने अपने नियम की बात कही। यह सुनकर यशवंत ने कहा—माँ मैं भक्तामर सुनाऊँ, मुझे आता है। यह जानकर माता को आश्चर्य हुआ। बालक ने शुद्ध भक्तामर स्तोत्र सुनाया। माता के हर्ष का पार नहीं रहा। माता ने अड्डाई का पारणा किया। बालक यशवंत रोज माता के साथ गुरु महाराज के पास जाता था और भक्तामर सुनता था, यह उसे कण्ठस्थ हो गया था। बालक की ऐसी अद्भुत स्मरण शक्ति की बात सुनकर गुरु महाराज भी आनन्दित हुए।

पूज्य नयविजय का चातुर्मास एवं समागम

अणहिलपुर पाटण के पास आया हुआ कुणगेर गाँव, जहाँ 1688 में पू. नयविजय का चातुर्मास हुआ था।¹³ संस्कृत कृतियों में जो कुमारगिरि का उल्लेख आया है, वह ही यह कुणगेर है।¹⁴ चातुर्मास पूर्ण होते ही नयविजय कन्होडु गाँव में पधारे। उनकी वैराग्यमयी वाणी सुनने का योग बंधुजोड़ी को प्राप्त होता है। दोनों के हृदय में संसार को छोड़कर संयम के पथ पर चलने की भावना जागृत हुई। उसी भावना को दृढ़ करते हुए अंतर्मन से वडिलो के समक्ष दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। गुरु के उपदेश से जिनको धर्म की प्राप्ति हो चुकी है, ऐसे माता-पिता ने भी दोनों को आशीष देते हुए कहा कि तुम्हारा कल्याण हो। गुरु-महाराज के साथ विहार में विचरना, तलवार की धार सम चारित्र-पालन का अभ्यास करना और सच्चा साधु बनना, इस तरह से पूज्य नयविजय एवं जशवंत (यशोविजय), पद्मसिंह (पद्मविजय) दोनों का समागम हुआ और माता-पिता से अनुमति प्राप्त की।

मुनि जीवन (दीक्षा, बड़ी दीक्षा)

कन्होडु से विहार करके पूज्य नयविजय पाटण पधारे। वहाँ पर जाकर प.पू. नयविजय के पास यशवंत ने दीक्षा ली। इनका नाम श्री जशविजय (यशोविजय) रखा गया। सौभाग्यदेवी के दूसरे पुत्र पद्मसिंह ने भी दीक्षा ली। उनका नाम पद्मविजय रखा। दोनों मुनियों की 1688 में तपागच्छ के आचार्य विजयदेवसूरि के हाथ से बड़ी दीक्षा हुई। “सुजसवेली भाष”¹⁵ में लिखा है—

अणहिल पुर पाटण जईजी, ल्यई गुरु पास चरित्र ।

यशोविजय ऐहणी करीजी, थापना नामनी तत्र ।।

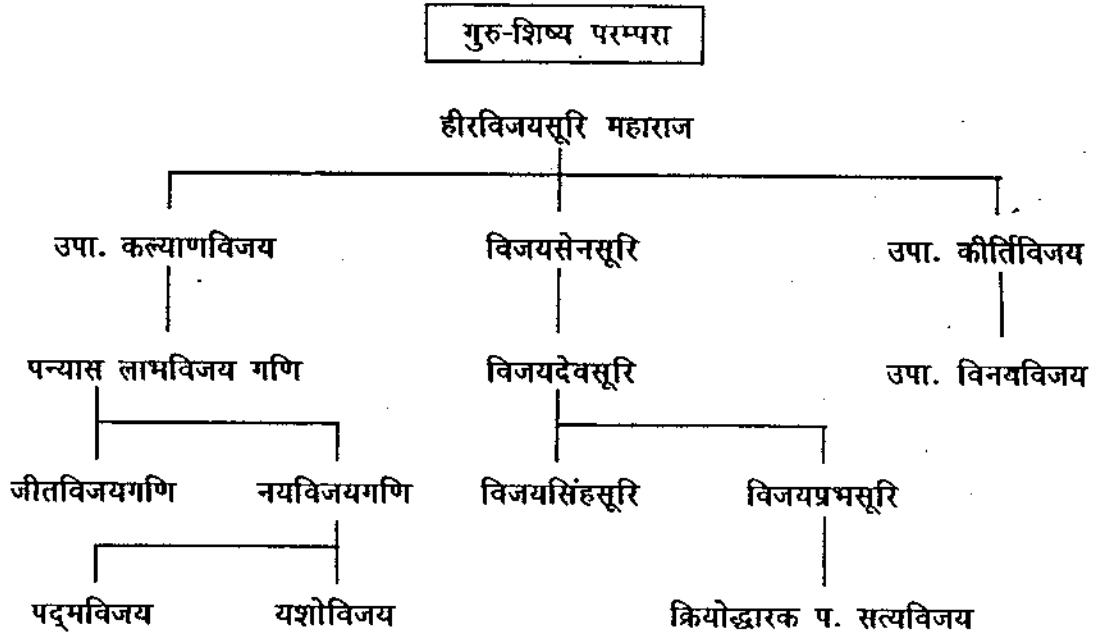
पद्मसिंह बीजो वलीजी, तस बांधय गुणवंत ।
तेह प्रसंगे प्रेरियो जी ते पण थयो व्रतवंत ।।
विजयदेव गुरु हाथनीजी, बड़ी दीक्षा हुई खास ।
बिहुं ते सोल अठियासियेंजी करता योग अभ्यास ।।

गुरु परम्परा

उपाध्याय यशोविजय ने स्वोपज्ञ प्रतिमाशतक¹⁶ एवं अध्यात्मोपनिषद् नामक कृति की वृत्ति में अपनी गुरु परम्परा का परिचय दिया है। इसमें उन्होंने अकबर प्रतिबोधक हरीविजय से अपनी गुरु-परम्परा की शुरुआत की।

जगद्गुरु बिरुद को धारण करने वाले हीरसूरीश्वर महाराज के शिष्य और षड्दर्शन की विद्या में विशारद ऐसे महोपाध्याय कल्याणविजय गणि हुए। उनके शिष्य शास्त्रवेत्ताओं में तिलक समान पंडित लाभविजयगणि हुए। उनके शिष्य शिरोमणि जितविजय गणि के गुरुभाई पंडित नयविजयगणि थे। उनके चरण कमल में भ्रमर अनुरक्त समान पंडित पद्मविजयगणि के सहोदर न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि हुए। इस परम्परा के साथ “श्रीपाल राजा के रास” नाम की कृति में विनयविजय गणि का जो परिचय दिया है, उसका विचार करते हुए गुरु-परम्परा की रूपरेखा निम्न हो सकती है।

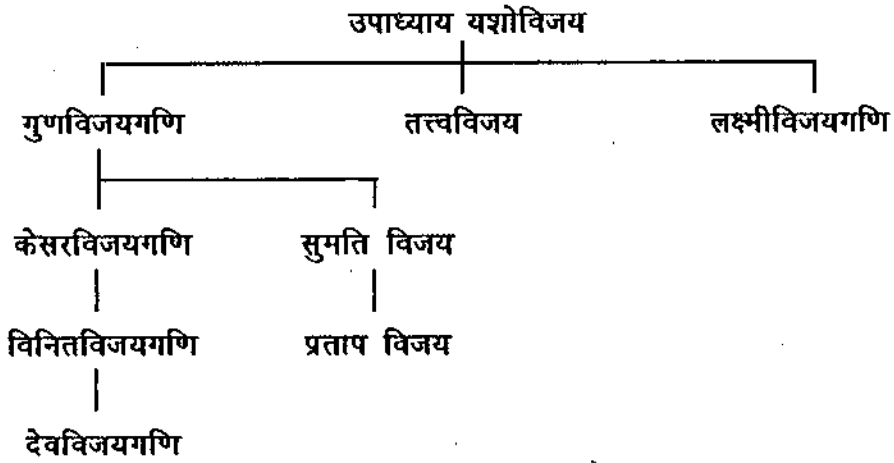
यशोविजय गणि ने अपने गुरु, प्रगुरु एवं प्रगुरु के गुरु को विशेषणों से विभूषित किया है, जैसे—नयविजय को विषुध एवं प्राज्ञ, जीतविजय को “बुध”,¹⁷ लाभविजय¹⁸ को “व्याकरण विशारद”,¹⁹ कल्याणविजय²⁰ को “वाचक”,²¹ वादि “गज केसरी”²² कहा है।



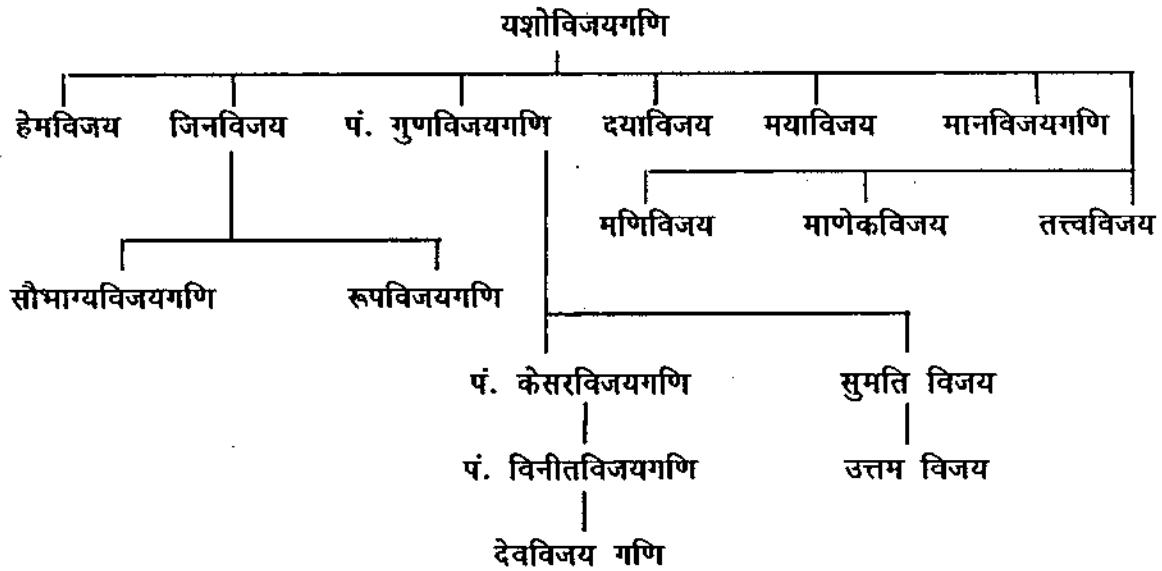
गुरु-परम्परा की रूपरेखा देखने के बाद अब यशोविजय के शिष्य-प्रशिष्य को जानने के लिए प्रतिमाशतक की उपयुक्त प्रस्तावना एवं आठ दृष्टि की सज्जाय और उनके टब्बा को लीपिबद्ध करते

हुए देवविजयगणि ने पुष्पिका में उल्लेख किया है। इसके आधार पर यशोविजय के एक शिष्य का नाम गुणविजयगणि है। उनके शिष्य का नाम केसरविजयगणि, उनके शिष्य का नाम विनितविजयगणि और उनके शिष्य का नाम देवविजयगणि है, जिन्होंने 1796 में उपयुक्त सज्जाय लिखी है।

जैन गुर्जर कवियों (भाग-2, पृ. 224-227) में तत्त्वविजय का उल्लेख है। 1724 में रचित 'अमरदत्त मित्रानंद का रास' एवं 'चौबीसी'—ये दो कृतियां उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। तत्त्वविजय ने इसमें अपने को जसविजय के शिष्य के रूप में उल्लेखित किया है। इसके आधार पर कह सकते हैं कि तत्त्वविजय भी यशोविजय के शिष्य थे। पृष्ठ 227 में तत्त्वविजय के भाई के रूप में लक्ष्मीविजय का उल्लेख किया है। न्यायाचार्य ने 125 गाथा का जो सीमंधर स्वामी के स्तवन की रचना की है उनकी एक नकल प्रतापविजय ने की है। वे अंत में अपना परिचय देते हुए लिखते हैं कि वे सुमतिविजय के शिष्य और गुणविजय के प्रशिष्य हैं। यह गुणविजय न्यायाचार्य के ही शिष्य थे।



प्रतिमाशतक (भाग-1) एवं गत गुरुमाला (पृ. 106, टीका-3), इत्यादि में यशोविजयगणि की शिष्यपरम्परा निम्न है—



विद्याभ्यास एवं आठ अवधान का प्रयोग

दीक्षा लेने के बाद स्वयं के गुरु नयविजयगणि के सान्निध्य में यशोविजय ने ग्यारह वर्ष तक संस्कृत और प्राकृत भाषा का व्याकरण, छंद, अलंकार तथा कोश और कर्मग्रंथ इत्यादि का सतत अभ्यास किया। इनकी बुद्धिप्रतिभा तेजस्वी थी, स्मरण शक्ति बलवान थी।

वि.सं. 1699 में नयविजय के साथ यशोविजय राजनगर अहमदाबाद नगर में पधारे थे। वहां आकर इन्होंने अहमदाबाद संघ के समक्ष गुरु महाराज की उपस्थिति में आठ बड़े अवधानों का प्रयोग करके बताया। इसमें उन्होंने आठ सभाजनों द्वारा कही हुई आठ-आठ वस्तुओं को याद रखकर फिर क्रम से उन 64 वस्तुओं को कहकर बताया। इनके इस अद्भुत प्रयोग से उपस्थित जन-समुदाय आश्चर्यमुग्ध हो गया। इनकी तीक्ष्ण बुद्धि तथा स्मरण शक्ति की प्रशंसा चारों तरफ होने लगी। जैसे मुनिसुन्दरसूरि 'सहस्रावधानि' एवं सिद्धचन्द्रगणि 'शतावधानी' के रूप में विख्यात हैं, वैसे ही यशोविजय ने कई प्रकार के अवधानों के प्रयोग किए।

धनजीसूरा की विज्ञप्ति एवं स्वीकार

इस अवधान के प्रयोग से प्रभावित होते हुए धनजीसूरा नाम के एक श्रेष्ठी ने नयविजय से (विज्ञप्ति) विनती करते हुए कहा—“गुरुदेव यशोविजय ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्य पात्र हैं। यदि ये काशीनगर जाकर छः दर्शनों का अभ्यास करेंगे, तो जैनदर्शन को अधिक उज्ज्वल बनायेंगे एवं दूसरे हेमचन्द्र का रूप धारण कर सकते हैं। उस समय काशी के पण्डित बिना पैसा नहीं पढ़ाते थे। नयविजय ने कहा कि यह कार्य धन के आधीन है, अजैन कभी बिना स्वार्थ शास्त्रों का बोध नहीं कराते।”

‘धनी सूरा’²⁸ ने खर्च के लिए उत्साहपूर्वक दो हजार चांदी की दीनारों की हुण्डी लिखकर काशी भेज दी। नयविजय ने मुनि यशोविजय, विनयविजय आदि साधुओं के साथ काशी की तरफ विहार किया।

काशी में षड्दर्शनों के सर्वोच्च पण्डित और नव्यन्याय के प्रकाण्ड ज्ञाता—ऐसे एक भट्टाचार्य थे। उनके पास न्यायमीमांसा, सांख्य-वैशेषिक आदि दर्शनों का अभ्यास करने में आठ-दस वर्ष लगते, परन्तु यशोविजय ने उत्साहपूर्वक तीन वर्ष में सभी दर्शनों का गहरा अभ्यास कर लिया। अपने विद्यागुरु भट्टाचार्य के पास नव्यन्याय जैसे कठिन विषय का तथा तत्त्वचिंतामणि नामक दुर्बोध ग्रंथ का अभ्यास यशोविजय ने बहुत अच्छी तरह कर लिया।

काशी में न्यायविशारद तथा तार्किक शिरोमणि के विरुद्ध से सुशोभित

उन दिनों काशी के समान कश्मीर विद्या का बड़ा स्थान माना जाता था। एक दिन कश्मीर से एक संन्यासी बहुत स्थानों पर वाद में विजय प्राप्त करके काशी में आया। उसने काशी में वाद के लिए घोषणा की परन्तु इस समर्थ पण्डित से वाद-विवाद करने का किसी का भी साहस नहीं हुआ, कारण यह कि वाद में पाण्डित्य के अलावा स्मृति, तर्कशक्ति वादी के शब्द या अर्थ की भूल को तुरन्त पकड़ने की सूझ, प्रत्युत्पन्नमति आदि की आवश्यकता रहती है। काशी की प्रतिष्ठा का प्रश्न खड़ा होने पर भट्टाचार्य के शिष्यों में से युवा शिष्य यशोविजय उसके लिए तैयार हुए। भट्टाचार्य ने यशोविजय को आशीर्वाद दिया। वादसभा हुई। कश्मीरी पण्डित को लगा कि यह युवक मेरे सामने कितने समय टिकेगा। वाद-विवाद बराबर जम गया। धीरे-धीरे पण्डित घबराने लगे। उसे दिन में तारे नजर आने लगे। बाद में यशोविजय के द्वारा एक के बाद एक ऐसे प्रश्न पूछे गए कि वादी पण्डित उसका जवाब नहीं दे सका। अंत में उसने पराजय स्वीकार कर ली और काशी से भाग गया।

इस प्रकार यशोविजय ने वाद में विजय प्राप्त करके काशी नगर का, काशी के पण्डितों का और विद्यागुरु भट्टाचार्य का मान बचा लिया। इससे काशी के हिन्दू पण्डितों ने मिलकर यशोविजय की विजय के उपलक्ष में नगर में उनकी शोभायात्रा निकाली। इस प्रसंग पर सभी हिन्दू पण्डितों ने मिलकर उल्लासपूर्वक यशोविजय को 'न्याय विशारद' और 'तार्किक शिरोमणि'²⁹ ऐसे विरुद दिए। इसका उल्लेख यशोविजय ने स्वयं प्रतिमाशतक तथा न्यायखंडखाद्य में किया है।

शारद देवी का वरदान

गंगा नदी के किनारे वि.सं. 1739 में रचित 'जंबुस्वामी रास की आद्य पंक्ति'³⁰ बताते हुए स्वयं यशोविजय कहते हैं कि मैंने गंगा नदी के किनारे ऐंकार का जाप किया था। उसके फलस्वरूप शारदादेवी प्रसन्न हुई, उनके तर्क एवं काव्य के अनुरूप वरदान दिया और उनकी भाषा तब से कल्पवृक्ष की शाखा समान हो गयी है।

यशोविजय ने ऐंकार का जाप किया एवं इस उपयुक्त हकीकत का समर्थन करता उल्लेख 'महावीर स्तुति'³¹ श्लोक में भी देखने को मिलता है।

सरस्वती की उपासना से उनकी वाणी प्रभावी हो गयी, यह बात यशोविजय खुद 'अज्जतमयपरिक्खा'³² की स्वोपज्ञ वृत्ति की प्रशस्ति श्लोक-13 में भी दिखाते हैं।

यहाँ हम कह सकते हैं कि काशी में गंगा नदी के किनारे ऐंकार के जाप द्वारा उन्होंने सरस्वती देवी की उपासना करके तर्क एवं काव्यशास्त्र का वरदान प्राप्त किया था।

आगरा में 4 वर्ष का अभ्यास एवं 700 रु. की भेंट

काशी में अभ्यास पूरा करके यशोविजय गुरु महाराज के साथ आगरा आए। वहाँ चार वर्ष रहकर एक न्यायाचार्य के पास तर्क सिद्धान्त आदि का विशेष अभ्यास किया। आगरा तथा अनेक अन्य स्थानों पर आयोजित वादसभाओं में शास्त्रार्थ करके इन्होंने विजय प्राप्त की। यह उल्लेख सुजसवेली भास में आया है।

यशोविजय की विद्वत्ता से आकर्षित आगरा के संघ ने मिलकर यशोविजय को 700 रु. भेंट दिया। उन्होंने उस पैसे का उपयोग पुस्तकें खरीदने में, लिखने में एवं पाटा बनाने में खर्च किया और वो पुस्तक एवं पाटा भी वहाँ के विद्यार्थी को दे दिया।

जिनशासन की प्रभावना (मोहब्बतखान के समक्ष अठारह अवधान का प्रयोग)

आगरा से विहार करके नयविजय अपने शिष्य समुदाय के साथ अहमदाबाद गये। उस समय दिल्ली के बादशाह औरंगजेब की आज्ञा से मोहब्बतखान अहमदाबाद में राज्य करता था। एक बार मोहब्बतखान की सभा में यशोविजय के अगाधज्ञान, तीव्र बुद्धि, प्रतिभा तथा अद्भुत स्मरणशक्ति की प्रशंसा हुई। यह सुनकर मोहब्बतखान को मुनिराज से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा हुई। उसने जैन संघ द्वारा यशोविजय को स्वयं की सभा में पधारने की विनती की। निश्चित दिन और समय पर यशोविजय अपने गुरु महाराज साधुओं तथा अग्रगण्य श्रावकों के साथ मोहब्बतखान की सभा में पहुंचे। वहाँ उन्होंने विशाल सभा के समक्ष अठारह अवधान का प्रयोग करके बताया। इस प्रयोग में अठारह अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा कही गयी बात को बाद में क्रमानुसार वापस कहना होता है। इसमें पादपूर्ति करना, इधर-उधर शब्द कहे

हों तो याद रखकर शब्दों को बराबर जमाकर वाक्य कहना, तथ्य दिये गए विषय पर तुरन्त संस्कृत में श्लोक रचना करनी होती है।

यशोविजय की स्मरण शक्ति, कवित्व शक्ति और विद्वत्ता से मोहब्बतखान बहुत प्रभावित हुआ। उसने यशोविजय का उत्साहपूर्वक बहुत सम्मान किया, जिससे जिनशासन की बहुत प्रभावना हुई।

(वाचक) उपाध्याय पद की प्राप्ति

काशी और आगरा में किये हुए विद्याभ्यास के कारण, वाद में विजय प्राप्त करने के कारण तथा अठारह अवधान के प्रयोग से यशोविजय की छाति चारों तरफ फैल गई थी। इनकी कवित्व शक्ति उत्तरोत्तर विकसित हो रही थी। इनका शास्त्राभ्यास भी वृद्धिगत हो रहा था। इन्होंने वीस स्थानक तप की आराधना भी प्रारम्भ कर दी थी। हीरविजय के समुदाय में गच्छाधिपति विजयदेव सूरि के कालधर्म के बाद गच्छ का भार विजयप्रभसूरि पर आया। अहमदाबाद के संघ ने यशोविजय को उपाध्याय पद देने की विनती की। संघ की आग्रह भरी विनती को लक्ष्य में रखकर तथा यशोविजय की योग्यता को देखकर विजयप्रभसूरि ने उपाध्याय की पदवी यशोविजय को महोत्सवपूर्वक संवत् 1718 में प्रदान की। आचार्य पद के योग्य यशोविजय ने प्राप्त हुई उपाध्याय की पदवी को ऐसा सुशोभित किया कि उपाध्याय पदवी रूप में न रहकर उनके नाम की पर्याय बन गयी। उपाध्याय महाराज यानी यशोविजय यह प्रचलित हो गया।

उपाध्याय यशोविजय की विद्वत्ता से खंभात के पण्डितों का परिचय

एक दंतकथा के आधार पर यशोविजय उपाध्याय की पदवी के बाद अपने गुरु और शिष्यों के साथ खंभात आए। वहाँ आकर थोड़े समय यशोविजय स्वयं के लेखन और स्वाध्याय में मग्न हो गए। व्याख्यान देने का काम दूसरे युवा साधुओं को सौंपा गया। हिन्दू पण्डित व्याख्यान में आकर बीच-बीच में भाषा, व्याकरण, सिद्धान्त आदि के विषय में विवाद खड़ा करके जोर-शोर से साधु महाराज से प्रश्न करते और व्याख्यान का रस भंग कर देते इसलिए एक दिन यशोविजय स्वयं व्याख्यान देने आए। जैसे ही व्याख्यान शुरू हुआ और पण्डितों ने जोर-शोर से प्रश्न पूछना शुरू कर दिया, तब यशोविजय ने मूढ स्वर में कहा—“महानुभावों, आपके प्रश्नों से मुझे बहुत आनन्द होता है, परन्तु आप मेरे पास आकर व्यवस्थित रीति से मुझसे सवाल करें।” उन्होंने प्रवाही सिन्दूर एक कटोरी में मंगवाया और कहा—“हम सब नीचे के होठ पर सिंदूर लगाकर ओष्ठस्थानी व्यंजन (प, ब, भ, म) बोले बिना चर्चा करेंगे। चर्चा के दौरान जो ओष्ठस्थानी व्यंजन बोलेगा, उसके ऊपर का ओष्ठ नीचे के ओष्ठ और सिंदूर वाला हो जाएगा और वह हार जाएगा।” पण्डितों के चेहरे का रंग उड़ गया। उन्होंने शर्त स्वीकार नहीं की, क्योंकि उनके लिए ओष्ठ व्यंजन बोले बिना बातचीत करना अशक्य था। उन्होंने दलील दी कि हम शास्त्रार्थ करने आए हैं, भाषा पर पाण्डित्य बताने नहीं। यशोविजय उनकी मुश्किल समझ गए। तब यशोविजय ने कहा कि मैंने यह शर्त रखी है इसलिए मुझे तो पालन करना ही चाहिए। आप इससे मुक्त रहेंगे। अब पण्डित एक के बाद एक प्रश्न करने लगे। यशोविजय अपने नीचे के ओष्ठ पर सिन्दूर लगाकर उनके प्रश्नों का उत्तर देते गए। पण्डित शास्त्रचर्चा करते थे, परन्तु उनका ध्यान यशोविजय के ओष्ठ पर ही था। यशोविजय की वाणी अस्खलित बह रही थी, लेकिन उसमें एक भी ओष्ठस्थानी व्यंजन नहीं आया था। शास्त्रार्थ करने वाले पण्डित बहुत देर टिक नहीं सके। वे आश्चर्यचकित रह गए और अंत में उन्होंने हार स्वीकार कर ली। सूर्य के सामने जुगनु का प्रकाश क्या महत्त्व रखता है।

स्वर्गवास

उपाध्याय यशोविजय का कालधर्म डभोई में हुआ था, यह निर्विवाद सत्य है, परन्तु इनके स्वर्गवास का निश्चित माह और तिथि जानने को नहीं मिलती है।

डभोई के गुरुमंदिर की पादुका के लेख के आधार पर पहले इनकी स्वर्गवास तिथि संवत् 1745 मार्गशीर्ष शुक्ला 11 (मौन एकादशी) मानते थे। परन्तु पादुका में लिखी हुई वर्ष तिथि उपाध्याय के स्वर्गवास की नहीं, पादुका की प्रतिष्ठा की है।³³ 'सुजसवेली भाष' के आधार पर यशोविजय का संवत् 1743 का चातुर्मास डभोई में हुआ और वहीं अनशन करके उन्होंने अपनी काया को छोड़ा, इसमें भी निश्चित माह और तिथि नहीं बताई गई है। जैन साधुओं का चातुर्मास आषाढ शुक्ल चतुर्दशी से कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी तक रहता है। अब इनका स्वर्गवास चातुर्मास के दौरान ही हुआ अथवा चातुर्मास के बाद, यह ज्ञात नहीं होता है। उसने सब से अंत में चातुर्मास के समय रची प्रतिक्रमण हेतु गर्भित सज्जय और 11 अंग की सज्जाय—इन दोनों कृतियों में रचनावर्ष³⁴ युग-युग मुनि विद्युत्सराई—इस प्रकार सूचित है। इसमें यदि युग यानी 'चार' माना जाए तो 1744 होता है और युग यानी दो लेते हैं तो संवत् 1722 होता है परन्तु यहां संवत् 1744 सुसंगत नहीं लगता है। इसका कारण यह है कि 1743 डभोई का चातुर्मास इनका अंतिम चातुर्मास था। जब तक दूसरे प्रमाण न मिले तब तक संवत् 1743 डभोई में उपाध्याय यशोविजय का स्वर्गवास हुआ था, यह मानना अधिक तर्कसंगत लगता है।

स्तूप की महिमा—दो पादुका

डभोई में वि.सं. 1743 में अन्तिम चातुर्मास किया। यहीं अनशन करके उन्होंने अपने देह को छोड़ा। वहाँ से थोड़े दूर सीत तलाई के किनारे पर आये हुए उद्यान में जहाँ अग्निसंस्कार किया था, वहाँ उनके स्मारक के रूप में³⁵ तेजोमय स्तूप बनवाया। उपाध्याय न्यायशास्त्र में इतने पारंगत थे कि आज भी उस स्तूप में से उनके स्वर्गवास के दिन न्याय की ध्वनि निकलती है, ऐसा 'सुजसवेली भाष'³⁶ (ढाल-4, कड़ी-5, 6) में दिखाया है।

आज भी डभोई में जो स्तूप है, उसमें उनकी³⁷ पवित्र पादुका स्थापित है। उसके ऊपर वि.सं. 1745 की भिगसर सुदी 11 का लेख है। इस लेख में कल्याणविजय, लाभ विजय, जीतविजय एवं उनके सहोदर नयविजय एवं यशोविजय का उल्लेख है।

विशेष में इन पाँचों को गणि की पदवी से सुशोभित किया। यह पादुका यशोविजय के एक शिष्य ने बनवाकर अहमदाबाद में प्रतिष्ठित की। वही पादुका डभोई में प्रतिष्ठित हुई प्रतीत होती है। यशोविजय के शिष्य हेमविजय एवं तत्त्वविजय ने मिलकर अपने गुरु की पादुका³⁸ 'शत्रुंजयगिरि' पर वि.सं. 1745 फागुण सुदी पंचमी में गुरुवार के दिन स्थापित की हो, ऐसा लगता है।

व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण

उत्कृष्ट गुरु भक्ति—गुरु-शिष्य का वात्सल्य एवं भक्ति

उपाध्याय यशोविजय के व्यक्तित्व में गुरुभक्ति, तीर्थभक्ति, श्रुतभक्ति, संघभक्ति, शासन प्रीति, अध्यात्म रसिकता, धीर-गम्भीरता, उदारता, त्याग, वैराग्य, सरलता, लघुता, गुणानुराग इत्यादि अनेक गुणों के दर्शन होते हैं।

उपाध्याय यशोविजय जितने विद्वान थे, उतने ही विनयशील। उनकी गुरुभक्ति पराकाष्ठ की थी। उन्होंने विनय से अपने गुरु का हृदय जीत लिया था। गुरु-शिष्य के हृदय में वास करे, यह बात साधारण है, परन्तु गुरु के हृदय में शिष्य बस जाए, यह शिष्य के लिए बहुत बड़ी विशेषता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपाध्याय यशोविजय हैं। उनके गुरु नयविजय ने यशोविजय की कितनी ही कृतियों की हस्तप्रतियाँ लिखकर तैयार की। जैसे द्वादशर नयचक्रम, द्वात्रिंशद, द्वात्रिंशिका आदि ग्रंथों की शुद्ध नकल तैयार करने में भी सहयोग दिया एवं वैराग्य कल्पलता, नयरहस्य, प्रतिमा शतक आदि ग्रंथों की नकल आज भी उपलब्ध होती है। यशोविजय के अध्ययन आदि के लिए भी बहुत सारी नकलें तैयार की थीं। गुरु स्वयं के शिष्य की कृतियों की हस्तप्रतियाँ तैयार कर दे, ऐसा कोई अन्य उदाहरण देखने में नहीं आता है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि गुरु-शिष्य का संबंध कितना आदर वाला होगा। ऐसा गुणभण्डार गुरु के प्रति श्री यशोविजय की भक्ति भी अपूर्व एवं अखण्ड थी। तभी तो प्रसंग-प्रसंग में उनके मुँह से शब्द निकलते थे कि “अखण्डता भक्तिर्वेन्नयविजय विज्ञाहि भजने”³⁹ एवं “ते गुरुना गुण गाई शकु केम गावाने गहगहिओ रे हमचडी” आदि वाक्यों में निकलते थे। ऐसे गुरु शिष्य की जोड़ी के लिए अन्तर में स्नेह, वात्सल्य एवं भक्ति करके कितने खुश होते होंगे, वो तो ज्ञानी ही जान सकते हैं।

उनकी उत्कृष्ट गुरु-भक्ति एवं समर्पण के कारण ही वे ज्ञान को पचा सके। गुरु-भक्ति पाचकचूर्ण का काम करती है।⁴⁰ यशोविजय ने अध्यात्मसार के अन्तिम सज्जनस्तुति अधिकार में 15वें श्लोक में नयविजय की महिमा को कितने भक्तिभाव पूर्वक मनोहर कल्पना करके दर्शाया है, यह ध्यान देने योग्य है। अतः हम कह सकते हैं कि महोपाध्याय श्री नयविजय महाराज एवं श्री यशोविजय महाराज—यह गुरु शिष्य की जोड़ी अभेदभाव का शुद्ध प्रतीक है।

गुणानुराग एवं विनय

“लघुता में प्रभुता” यह यशोविजय की एक विशेषता थी। उनमें गुणानुराग भी उत्कृष्ट कोटि का था। यशोविजय और आनन्दघनजी दोनों समकालीन थे। एक प्रचण्ड तेजस्वी विद्वान् और दूसरा गहन आत्मानुभवी एवं अध्यात्मपथ का साधक था। आनन्दघनजी के दर्शन के लिए यशोविजय अत्यन्त उत्सुक थे। जब इनका मिलन हुआ तब यशोविजय को बहुत आनन्द हुआ। यह घटना ऐतिहासिक और निर्विवाद है। उपाध्याय यशोविजय द्वारा आनन्दघनजी की स्तुति रूपी रची अष्टपदी इसका प्रमाण है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जसविजय कहे सुनो आनन्दघन, हम तुम मिले हजूर,
आनन्द कोउ नहीं पावे, जोई पावे सोई आनन्दघन ध्यावे।
आनन्द ठोर-ठोर नहीं पाया, आनन्द आनन्द में समाया,
आनन्दघन आनन्दरस झीलता, देखत ही जस गुण गाया।।

ऐ ही आज आनन्द भयो मेरे,
तेरो सुख नीरख, रोम-रोम शीतल भया अंगो अंग।।

इत्यादि पंक्तियों से पता चलता है कि यशोविजय के मन में आनन्दघन के प्रति कितना आदर था। आनन्दघन के दर्शन का उसके जीवन पर कितना प्रभाव पड़ा, यह उन्होंने नम्रतापूर्वक दर्शाया है—

आनन्दघन के संग सुजस ही मिले जब, तब आनन्दसम भयो 'सुजस',
 पारस संग लोहा जो फरसत कंचन होत की ताके कस।
 खीर नीर निर्मिल रहे आनन्द जस, सुमति सरवी के संग भयो है,
 एकरस भाव खपाई सुजस विलास भये, सिद्ध स्वरूप तीये घसमस।।

इस प्रकार उनमें पराकाष्ठा की गुणानुरागिता के दर्शन होते हैं। दोनों अध्यात्मयोगी के मिलनज्योत पर जितना लिखें, उतना कम है। पर विस्तार होने का भय होने से इतना ही पर्याप्त है।

“सुयश आनन्द ना मिलनने महाज्योति जगावी जे।
 विबुध जन अंतर प्रकटो, अभिलाषा हमारी छे।।”

इतने बड़े विद्वान् होने के बाद भी दोनों के बीच में जो आत्मीयता के दर्शन होते हैं, वह उनकी गुणानुरागिता एवं विनय का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

उदारता या उदार दृष्टि

उन्होंने अपने ग्रंथों में परदर्शनकारों को भी सम्मानित शब्दों से संबोधित किया है एवं अन्य दर्शनकारों के मन्तव्यों को भी माननीय मानकर समुल्लेखित किये हैं। उपाध्याय यशोविजय के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनका उदारवादी दृष्टिकोण है।

वे दुराग्रहों से मुक्त और सत्य के जिज्ञासु थे। उन्होंने दिगम्बराचार्य समंतभद्रकृत 'अष्टसहस्री', पतंजलिकृत 'योगसूत्र', मम्मटकृत, 'काव्यप्रकाश', जानकीनाथ शर्मा कृत 'न्याय सिद्धान्त मञ्जरी' इत्यादि ग्रंथों पर वृत्तियाँ लिखी तथा योगवासिष्ठ, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता में से आधार दिये हैं। इस प्रकार के उदाहरण हैं, जिनमें यशोविजय की उदारता परिलक्षित होती है।

श्रुतभक्ति

उपाध्याय यशोविजय की श्रुतभक्ति भी अनुपम थी। वे दिन-रात श्रुतसागर में ही गोता लगाते रहते। यशोविजय ने तर्क और न्याय का गहरा अभ्यास किया था। इनके जैसा समर्थ तार्किक को मल्लवादी सूरिकृत द्वादसार नयचक्र जैसे ग्रंथ पढ़ने की प्रबल इच्छा हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह ग्रंथ इन्हें उपलब्ध नहीं हुआ। बहुत समय बाद पाटण में सिंहवादी गणि द्वारा नयचक्र पर अठारह हजार श्लोकों में लिखी हुई टीका की एक हस्तप्रति मिली। यह हस्तप्रति जीर्ण-शीर्ण हालत में थी और थोड़े दिनों के लिए ही मिली थी। यशोविजय ने विचार किया कि मूलग्रंथ मिलता नहीं है। यह टीका भी नष्ट हो गई तो फिर कुछ नहीं रहेगा, इसलिए हस्तप्रति तैयार कर लेनी चाहिए। परन्तु इतने कम दिनों में यह काम कैसे संभव हो? अपने गुरु महाराज को यह बात कही। समुदाय के साधुओं में भी बात हुई। नयविजय, यशोविजय, जयसोमविजय, लाभविजय, कीर्तिरत्न गणि, तत्त्वविजय, रविविजय इस प्रकार सात मुनिभगवंतों ने मिलकर अठारह हजार श्लोकों की हस्तप्रति की नकल तैयार कर ली।

यह विरल उदाहरण उनकी श्रुतभक्ति की सुन्दर प्रतीति कराता है। श्रुतभक्ति की आराधना के लिए यशोविजय का प्रियमंत्र 'ऐं नमः' था। यशोविजय महाराज ने स्वयं जो रचना की, उनमें से स्वहस्तलिखित तीस से अधिक हस्तप्रतियाँ अलग-अलग भण्डारों से मिली हैं। प्राचीन समय के एक ही लेखक की स्वयं के हाथों से लिखी इतनी प्रतियों का मिलना अपने आप में अत्यन्त विरल और गौरवपूर्ण उदाहरण है।

इससे पता चलता है कि स्वयं इतने ग्रंथों की रचना करने के बाद भी इन्होंने हस्तप्रतियाँ तैयार करने में कितना समय लगाया होगा। कैसा निष्प्रमादी उनका जीवन होगा।

परोपकार परायणता

उपाध्याय यशोविजय को मात्र स्वयं का उत्थान एवं कल्याण अभीष्ट नहीं था। वे जीवनमात्र का कल्याण करना चाहते थे। उनके अंतःकरण में अनन्त संसारी जीवों को पाप, अज्ञान, महामोह, दुःखों से मुक्त करने की प्रबल इच्छा तरंगित हो रही थी, जो उनके कृतित्व में ज्योतिर्मान हो रही है।

परोपकार परायण होकर उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विशाल रूप दिया और कर्तृत्व को संवाहित सिद्ध किया। ज्ञानसार में आचार्यश्री ने ऐसी गाथा प्रस्तुत की, जो उनके जीवन का परोपकारमय स्वरूप परिचित करवाती है। उनका अंतर-मन कैसा था, इस सन्दर्भ में यशोविजय खुद अपने ग्रंथ में लिखते हैं—

“जाग्रति ज्ञानदृष्टिश्चेतः तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुली,
पूर्णानन्दस्य तत् किं स्यात्, दैन्यं वृश्चिक वेदना।”⁴¹
“छिन्दन्निति ज्ञानदात्रेण स्पृहा विषलतां बुधा
मुखशोषं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत् फलम्।।”⁴²
“नाहं पुद्गलभावानं कर्ता कारयितापि च
नानुमन्तापि चैत्यात्मज्ञानवान लिप्यते कथम्।।”⁴³
“शरीर रूप लावण्य ग्रामरामधानादिभिः
उत्कर्षः परपर्यापश्चिदानन्दधानस्य क।”⁴⁴

उपाध्यायजी परोपकार परायण थे। उनकी कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी-मारवाड़ी—इन चार भाषाओं में गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्य-पद्यबद्ध हैं। दार्शनिक ज्ञान का असली व व्यापक खजाना संस्कृत भाषा में होने से तथा उसके द्वारा ही सकल देश के सभी विद्वानों के निकट अपने विचार उपस्थित करने का संभव होने से उपाध्यायजी ने संस्कृत में तो लिखा ही पर उन्होंने अपनी जैन परम्परा की मूलभूत प्राकृत भाषा को भी गौण न समझा। इसी से उन्होंने प्राकृत भाषा में भी रचनाएं कीं। संस्कृत-प्राकृत नहीं जानने वाले एवं मंद गति वाले या कम जानने वालों तक अपने विचार पहुंचाने के लिए उन्होंने तत्कालीन गुजराती की जन-भाषा में भी विविध रचनाएं कीं। मौका पाकर कभी उन्होंने हिन्दी-मारवाड़ी का भी आश्रय लिया। इस प्रकार यशोविजय ने सभी जीवों के कल्याण के लिए परोपकार की भावना रखी। सभी जीवों के हित को ध्यान में रखते हुए उपाध्याय ने नयचक्र जैसे गहन ग्रंथ की भी रक्षा करके उद्धार किया। यह एक दार्शनिक ग्रंथ है। समूचे ग्रंथ में तत्कालीन प्रसिद्ध दर्शनों की समीक्षा यहां हुई है। एकान्तवादी सभी दर्शन सही नहीं हैं। ऐसा 13वां स्याद्वाद तुम्भ नामक प्रकरण में स्याद्वादरूपी नाभि का आश्रय लेकर सभी दर्शनों को अंशतः सही दिखाने का प्रयास किया है। इस पूरे ग्रंथ का मूल सार एक गाथा में है, जो निम्न है—

विधिनियमङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादन्यैर्न्यक्वचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृत भवतीति वैधर्म्यम्।।⁴⁵

ऐसे महान् ग्रंथ का आधार उपाध्यायजी ने परोपकार की भावना को लक्ष्य में रखकर किया।

कर्तृत्व में व्यक्तित्व

उपाध्याय यशोविजय का जीवन विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में विश्व में विख्यात है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी कृतियों में प्रकाशित है। उनकी कृतियों के आधार पर उनकी परोपकार परायणता, नम्रता, निरभिमानता, दार्शनिकता, समदर्शिता, समन्वयवादिता, उदारता, भवविरहता आदि गुणों से युक्त व्यक्तित्व विकसित रहा है।

निरभिमानता या लघुता

ग्रंथ रचना में उन्होंने अपना बड़प्पन अथवा मतिकौशल का अभिमान कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया। हमेशा पूर्वाचार्यों, गुरु-उपदेशों तथा आगमों को अपने नेत्र के समक्ष रखकर ग्रंथ रचना की। यही बात उनके अध्यात्ममतपरीक्षा ग्रंथ के प्रथम श्लोक से ज्ञात होती है—

पणमिय पासजिण्ड वंदिय सिरिविजय देव सूरिन्दं ।

अज्जप्पमय परिकरवं जहबोहमिभं करिस्सामि ॥⁴⁶

श्री पार्श्वनाथ भगवान को प्रणाम करके, विजयदेवसूरि को वंदन करके, पूर्वाचार्य द्वारा की हुई प्ररूपणा से एवं शास्त्र सिद्धान्त के ऊहापोह से प्राप्त बोध या अनुसरण करके अध्यात्ममत की परीक्षा करूंगा।

कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने अहंभाव का इतना त्याग कर दिया कि यह मैं नहीं कहता लेकिन योगविद् तत्त्वविद् मनीषी कहते हैं। वो अपना सम्पूर्ण श्रेय अपने गुरु पर छोड़ते हैं। “गुरतत्त्वविनिश्चय”⁴⁷ नामक ग्रंथ में इस रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि—

अम्हारिसा वि मुकखा, पंतीए पडिआण पविसंति ।

अण्णं गुरभतीए किं, विलसिअमब्भुअं इतो ॥

तात्पर्यार्थ—मेरे जैसे मूर्ख का नाम आज ग्रंथकार की गिनती में आ रहा है, उनसे अधिक गुरुभक्ति का प्रभाव दूसरा क्या हो सकता है? अद्वितीय गुरुभक्ति एवं नम्रवृत्ति का साक्षात् उदाहरण है। छोटी-से-छोटी तीन कड़ी की पंक्ति में भी अपने गुरु को भूले नहीं हैं। उत्कृष्ट चारित्र पालन के बाद भी अपने को ‘संविज्ञ पाक्षिक’ से अधिक नहीं मानते हैं। ऐसे उत्कृष्ट पवित्र पात्र को देखकर मैं सरस्वती प्रसन्न हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उन्होंने अपनी लघुता बताते हुए न्यायलोक में भी बताया है कि—

अस्मादृशां प्रमादग्रस्तानां—चरण-करण हीनानाम् ।

अब्धो पोत इव प्रवचनरागः तरणोपायः ॥⁴⁸

प्रमादग्रस्त और चरण-करण से शून्य—मेरे लिए जिनप्रवचन का अनुराग ही समुद्र तिरने का एकमात्र उपाय है।

नम्रता—शिष्टाचारिता

प्रत्येक रचना में इन्होंने अपने को परमात्मा के चरणों में समर्पित बनाकर ही नमस्कार पूर्वक ग्रंथ का शुभारम्भ किया है। नमस्कार में हमेशा नम्रता होती है और नम्रता में सफलता उदित बनती है अतः ग्रंथ के आदि में परम श्रद्धेय पार्श्वनाथ परमात्मा को, सन्मार्ग दर्शन गुरुओं को प्रणाम करके सविनयता

के साथ शिष्टाचार का पालन किया है। गुरुतत्वविनिश्चय ग्रंथ के प्रथम श्लोक में उनकी नम्रता नमित बन रही है—

पणमिय पासजिणिदं संखेसरसंठियं महाभागं ।
अतठीण हिअट्ठा, गुरुतत्वविणिच्छयं वृच्छं ॥⁴⁹

शंखेश्वर गाँव में विराजमान पार्श्वनाथ प्रभु को नमस्कार करके आत्मारथी जीवों के लिए गुरुतत्वविनिश्चय ग्रंथ के उपदेश को कहूंगा।

अध्यात्म के आलोक

यशोविजय 'यथानाम तथा गुण' की उक्ति चरितार्थ करते हैं। वे आध्यात्मिक जगत् के जगमगाते प्रकाशपूज हैं, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। उन्होंने आत्मिक आनन्द का जो झरना बहाया है, वह जन-जन की आध्यात्मिक तृषा शान्त कर देता है।

उनकी सन्तप्रकृति, कवित्वशक्ति, विद्वत्ता एवं परम आनन्द की मस्ती से सम-सामयिक एवं परवर्ती सन्त और विद्वान् प्रभावित हैं। उनकी आध्यात्मिकता से उनके समकालीन आनन्दधन जैसे महान् प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् असाधारण रूप से प्रभावित थे।

जब यशोविजय एवं आनन्दधन का मिलन हुआ था तब यशोविजय उन अध्यात्मयोगी को मिलकर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने हृदयोद्गार व्यक्त करने के लिए आनन्दधन की प्रशस्ति में एक अष्टपदी की रचना की थी, जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

आनंद ठोर ठोर नहि पाया, आनंद आनंद में समाया,
रति अरति दोउ संग लीय वरजित अरथने हाथ तपाया ।
कोऊ आनन्दधन छिद्र ही पेखत, जसराय संग चड्डी आया,
आनन्दधन आनन्दरस झीलत देखत ही जस गुण गाया ॥

आनन्द की गत आनन्दधन जाणे

वाई सुख सहज अचल अलख पद, व सुख सुजस बखाने,
सुजस विलास अब प्रकटे आनन्द रस, आनन्द अक्षर खजाने ।
ऐसी दशा जब प्रकटे चित्त अंतर, सो ही आनन्दधन पिछाने ॥⁵⁰

उक्त उद्धरणों से यह झलक मिलती है कि उपाध्याय यशोविजय आनन्दधन से कितने अधिक प्रभावित थे।

इस अष्टपदी के जवाब में आनन्दधन भी यशोविजय से प्रभावित होकर उन्होंने भी एक अष्टपदी की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

आनन्दधन पद संग्रह भावार्थ में श्रीमद् बुद्धिसागर लिख रहे हैं कि श्रीमद् आनन्दधन ने उपाध्याय यशोविजय के गुणों का वर्णन करने के लिए अपने हृदयोद्गार के साथ अष्टपदी की रचना की है।

बीजापुर के अध्यात्म प्रेमी शा. सुरचंद स्वरूपचंद ने कहा कि मैंने सूरत में सन् 1954 में आनन्दधन द्वारा लिखित अष्टपदी देखी और वाचन किया। इसमें उपाध्याय के गुणों का वर्णन है। उपाध्याय गीतार्थ एवं आगमों के आधार पर सत्य के उपदेशक थे। उनमें बहुत लघुता थी। गुणानुराग के रंग से रंजित थे। जैनशासन के रक्षक, प्रवर्तक एवं पूर्वप्रेमी थे। जैनशासन की उदय करने वाले, आत्मभोग देने वाले

थे। वैराग्य एवं त्याग में तत्पर आत्मा के गुणों को प्रगट करने वाले थे। ऐसे अनेक गुणों से युक्त उपाध्याय के गुणों का वर्णन आनन्दघन की रची हुई अष्टपदी में किया गया है।

यशोविजय के प्रभावकारी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह अष्टपदी के गुणों का वर्णन हमारे सामने एक प्रमाणित जानकारी उपस्थित करती है, क्योंकि यह उनके समसामयिक एक सन्त पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गई है। दूसरे, यह उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करती है। इसलिए भी इसका महत्त्व है।

समदर्शिता

समदर्शिता यशोविजय के व्यक्तित्व की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। वे समता के सच्चे साधक थे। समता की यह साधना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी। 'साधो भाई समता संग रमीजे' यह उनका जीवन-सूत्र था। वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति से भी अप्रभावित थे। उनके काव्य में अपने आलोचकों के प्रति आक्रोश का एक भी शब्द नहीं मिलता। जैन परम्परा के अनेक रूढ़िवादी उनके आलोचक थे, फिर भी वे उनके प्रति समभाव ही रखते थे। यशोविजय स्वयं ने अपनी अष्टपदी में इसका संकेत किया है—

कोऊ आनन्दघन छिद्र ही पेखत, जसराय संग चठि आया।
आनन्दघन आनन्दरस झीलत देखत हो जस गुण गाया।⁵¹

वे आत्मभाव में रमण करने वाले श्रेष्ठ ऋषि थे। आनन्दघन ने एक स्थान पर लिखा है—

मान अपमान चितसमं गिणै, समगिणै कनक रे पाखाणरे,
बंदक, निर्दूक हूँ सम गिणै इष्यो होय तू जानरे।⁵²

उपाध्याय यशोविजय अपनी साधक आत्मा से कहते हैं कि साधक! तेरा कोई आदर सत्कार करे तो क्या, और निरादर-तिरस्कार करे तो क्या? तेरा आत्म-धर्म तो समता है। तुझे दोनों स्थितियों में समत्व रखना है। इससे तेरे आत्मगुण में वृद्धि और निन्दा या प्रशंसा करने पर तू खिन्न या तुष्ट न हो, क्योंकि साधक का यह आवश्यक गुण है कि वह दोनों अवस्थाओं में सन्तुलित रहे।

चित्त विक्रोभ और विकलता ही हमें आध्यात्मिक आनन्द से वंचित रखती है। जिसे आत्मानन्द की अनुभूति करना हो, उसे चित्त को निर्विकल्प बनाना होगा और तदर्थ समभाव की साधना करनी होगी।

आनन्दघन इसी समभाव का मार्मिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

सर्व जग जंतु ने सम गिणै, गिणे तुण मणि भाव रे,
मुगति संसार बुधि सम घरै, मुणें भव जल निधि नाव रे।⁵³

साधक शत्रु-मित्र ही नहीं, अपितु प्राणीमात्र के प्रति आत्मतुल्य दृष्टि रखे। तृण और बहुमूल्य रत्न दोनों को पुद्गल ही समझे। प्रतीत होता है कि यशोविजय की समदर्शिता पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। उन्हें अध्यात्म की वो अनुभूति हो गई थी, जिसमें मुक्ति की आकांक्षा भी मिट जाती है। उसके लिए मुक्ति और संसार दोनों समभाव में समा गए थे।

उपाध्याय की अनेकरूपता

उपाध्याय का जीवन देखते हैं तो अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है, वे गुरुभक्त थे। उन्होंने गुरुतत्त्वविनिश्चय ग्रंथ के प्रारम्भ में बताया है—

अम्हारिसा वि मुकखा पंतीए पडियाण पविसंति,
अण्णं गुरु मतीए किं विलसियमब्भुयं इतो?५५

वे अपने विचारों में अडिग एवं निर्भय थे। वे स्पष्टवादी थे। सत्य का साक्षात्कार करना उनका लक्ष्य था। सत्य का समर्थन वे अडिग एवं निर्भय होकर करते थे। न्यायलोक के अंत में उन्होंने कहा है—

अस्मादशां प्रमादग्रस्ताना चरणकरण हीनानाम्,
अब्धौ पौत इव प्रवचनरागः शुभोपायः ।।५६

यह लिखकर उन्होंने अपनी वास्तविक अपूर्णता को व्यक्त किया है। कभी उनको ग्रंथ रचना के विषय में विषम वातावरण का अनुभव होता तो उनके हृदय में से शब्द निकलते—

अनुग्रहत एव नः कृतिरिये सतां शोभते,
खलप्रल पितैस्तु नो कमपि दोषमीक्षामहे एवं ।
ग्रंथेभ्यः सुकरो ग्रन्थो मूढा इत्यावजानते ।।५६

इत्यादि कटु एवं हृदय का उकलाट बढ़ाने वाली पंक्तियां निकल पड़ती।

प्रतिमाशतक की टीका में लिखा है—

‘एतेन लुम्पाकानां मुखे भमीकुर्चकी दतः’५७

इस तरह साम्प्रदायिक कठोरता को भी उन्होंने दर्शाया है। दार्शनिक पदार्थ का विवेचन करते वक्त दार्शनिकता की अहंता भी देखने को मिलती है। सीमंधरजिन विनंती रूप स्तवन आदि में साधुजीवन और गृहस्थजीवन की सदोषता को देखकर उन पर कटाक्ष देते हुए भी नजर आते हैं। ज्ञानसार, अध्यात्मसार, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका एवं सुजसवेली भाष के आध्यात्मिक पदों में उन्होंने मध्यस्थ भाव, असम्प्रदायिकता एवं समरस भाव को प्रकट किया है।

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशक में ‘महर्षि भिरुक्तम्’५८ ऐसा लिखकर दिगम्बराचार्य कृत ग्रंथ की साक्षी दी है और उन्होंने लिखा है कि—

न च एतद्मायाकर्तुं दिगम्बरचेन महर्षिं त्वाभिधानं न निखधम् ।
इति मूढधिया शंकनीयम्, सत्यार्थकथन गुणेन व्यासादीनामपि ।।

हरिभद्राचार्यैस्तथा भिधानादिति

इस गाथा के कर्ता आचार्य दिगम्बर होने से महर्षि लिखने योग्य नहीं हैं। ऐसी किसी की शंका हो तो उनके उत्तर में उपाध्याय बता रहे हैं कि इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तात्विक वस्तु को कहने में उनके गुण को ध्यान में लेकर श्री हरिभद्राचार्य ने व्यास आदि को भी महर्षि कहा है।

स्याद्वाद के महान् ज्योतिर्घर

विश्व में अनेक प्रकार के वाद देखने को मिलते हैं, जैसे—राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, साम्यवाद, शाहीवाद, संस्थानवाद, संदिग्धवाद, संशयवाद, शून्यवाद, असंभवितवाद, निरपेक्षवाद, एकांतवाद, वितंडावाद, विखवाद, जातिवाद, कोमवाद, पक्षवाद, प्रतिवाद, भाषावाद, अज्ञेयवाद, अज्ञानवाद, द्वैतवाद,

अद्वैतवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, अजातवाद, अक्रियवाद, क्षणिकवाद, विवर्तवाद, आरंभवाद, स्फोटवाद, शुष्कवाद, वेदवाद, नयवाद, तर्कवाद, सर्वोदयवाद, विकासवाद एवं विज्ञानवाद आदि।

इन सबसे न्यारा एवं सभी वादों पर अपना अस्तित्व, प्रभुत्व जमाने वाला सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा बताया हुआ एकमात्र स्याद्वाद अनेकान्तवाद ही विश्व में सदा जयवंत है।

स्याद्वाद जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है, सभी दर्शनों का आधार है। 'स्याद्वाददर्शन' व 'अनेकान्तदर्शन' के नाम से विश्व में उनकी प्रसिद्धि है। तरण-तारण तीर्थंकर परमात्मा एवं श्रुतकेवली गणधर भगवंतो आदि के वचन से बहता हुआ गंगाप्रवाह है। विश्व को यथार्थ स्वरूप में निहारने के लिए दिव्यचक्षु है। जगत् की सभी वस्तुओं को अपेक्षाभेद से संकलित करने वाला अलौकिक शास्त्र है। एकान्तवादी को जीतने का अमोघ शास्त्र है। नयरूप मदोन्मत् हाथी को वश में करने वाला अनुपम अंकुश है। सरस्वती को वश में करने के लिए मनोहर महल है। अज्ञानतिमिर को सर्वथा दूर करने वाला ज्ञानरूप सूर्य है। सद्ज्ञानियों के हृदयरूपी रत्नाकर की पूर्णचन्द्र है। विश्व की अदालत में सही न्याय देने वाला निरूपम न्यायाधीश है। कर्णप्रिय मनमोहक सुन्दर संगीत है। समस्त विश्व का महान् कीर्तिस्तम्भ है एवं विश्वशांति अपनाने की अद्वितीय सत्ता है।

स्याद्वाद नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न, भेदाभेद आदि अनेक वस्तु का संग्रहस्थान है। संरक्षक अभेद्य किला है। अहिंसा, संयम एवं तपरूपी सद्धर्म का सर्वोत्कृष्ट विजयी ध्वज है। सभी गुणों का अटूट भण्डार है एवं मुक्ति मन्दिर की मनोहर सोपान पंक्ति है।

इस तरह समस्त विश्व में सार्वभौम सतावंत स्याद्वाद-अनेकान्तवाद एक महान् चक्रवर्ती है।

'स्याद् इति वादः'। 'स्याद्वाद' यानी स्याद् पूर्वक जो वाद अर्थात् अनेकान्तवाद ऐसा अर्थ होता है। स्याद्वाद का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि—

नित्यानित्याद्यनेकधर्माणामेकवस्तुनि स्वीकारः स्याद्वादः।

अर्थात् नित्यत्व एवं अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों का ही वस्तु में स्वीकार करना स्याद्वाद है।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि ने सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन (वृहदवृत्ति) में स्याद्वाद के संबंध में द्वितीय सूत्र की रचना कर उनका व्युत्पत्त्यर्थ बताने के वाद स्याद्वाद का फलितार्थ निम्न दिया है—

'स्याद्वाद—नित्यानित्याद्यनेक धर्मशपलैक वस्तुम्युपगम इति'।

नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म से मिश्रित एवं वस्तु का स्वीकार करना, उसे स्याद्वाद कहते हैं। यह स्याद्वाद अनेकान्तवाद का लक्षण है।

स्याद्वाद से मण्डित न्यायविशारद, न्यायाचार्य यशोविजय महाराज जैनशासन की एक अभूल्य विभूति थे। वे अहमनिष्ठ, अडिग, महायोगी थे। वे पंचमहाव्रत पालन में तत्पर रहते थे। वे केवल एकान्त दृष्टि वाले नहीं थे। अनेकान्तदृष्टि उनका प्राण था। उनमें जितना ज्ञान का पक्षपात था, उतना ही क्रिया का था। केवल इतर विद्वानों की तरह केवलज्ञान के उपासक नहीं थे, किन्तु उभय को समान न्याय देने वाले थे। परमात्मा की आज्ञा के पालक थे। जिनाज्ञा का पालन करने के लिए वे कभी डरते नहीं थे। यही बात उपाध्याय ने शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कही है—

**मिथ्या मत है बहुजन जग में, पर न धरत धरणी,
उनका हम तुज भक्ति प्रभावे, भय नहीं एक कणी।**

ऐसा कहकर उनके हृदय में परमात्मा के प्रति जो भक्ति थी, वह व्यक्त की। इतना ही नहीं, उनके साथ-साथ परमात्मा की आज्ञा भी उनकी नस-नस में व्याप्त है, ऐसा इकरार भी किया। उनकी प्रायः सभी रचना से पता चलता है कि उनके दिल में जिनाज्ञा के प्रति कितना अनहद प्रेम एवं रस है। उनके दिल में एक ही भावना थी कि परमात्मा के सिद्धान्तों की स्याद्वाद का सहारा लेकर सही साबित करके उनका निष्कर्ष जनता के समक्ष रखना।

सर्वशास्त्र पारंगत उपाध्यायजी

काशी में किये हुए अभ्यास के कारण ही उपाध्यायजी नव्यन्याय की शैली में स्याद्वाद के सिद्धान्तों का विवेचन कर पाये। उनमें ग्रंथरचना करने की शक्ति तो थी, तभी वे स्याद्वाद के सिद्धान्त को नव्यन्याय की शैली में दर्शा सके। आज भी वे स्याद्वाद रूपी रस से नीतरते चरण-करण की भावना से भरपूर, अकाट्य युक्तिरूप तरंगों से युक्त उनकी ग्रंथरचना सभी पण्डितों को नतमस्तक कराती है एवं अखण्ड चारित्रवान के लिए सिर झुकाती है। उनके किसी भी ग्रंथ को कहीं से भी देखें तो उनमें न्याय की छाया तो दिखने को मिलती ही है। यह उनकी विशेषता है। वे केवल न्यायशास्त्रों में ही पारंगत नहीं थे, बल्कि सर्वशास्त्रों में निपुण थे।

जब उनकी ग्रंथरचना का अध्ययन करते हैं तो वे एक समर्थ ग्रंथकार थे, ऐसा प्रतीत होता है। जब उनकी संस्कृत काव्यरचना को देखते हैं तो एक कविसम्राट् की छवि नजर आती है। जब उनमें स्याद्वाद की विवेचना को देखते हैं तो वे पुरस्कर्ता के रूप में सामने आते हैं। जब वे सिद्धान्त की बातें लिखते हैं तब एक आगमिक आचार्य की भाँति प्रतीत होते हैं। जब कर्मविषयक विवेचना को देखते हैं तो कर्म-साहित्य के प्रखर ज्ञाता के रूप में सामने आते हैं। व्याकरणविषयक तिऽन्वयोक्ति जैसे ग्रंथ देखते हैं तब वे प्रखर व्याकरणकार दिखते हैं। अतीत काल के सभी महान् आचार्यों के गुणों को उन्होंने अपने में समाविष्ट कर लिया हो, ऐसा उनके ग्रन्थावलोकन से पता चलता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादि सूरेश्वर, हरिभद्रसूरि, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र के एक-एक गुण लेकर उन सब गुणों का समन्वय करके ही यशोविजय महाराज के बुद्धि देह की रचना हुई हो, ऐसा लगता है।

उपाध्याय महाराज ने स्याद्वाद की सार्थकता बताते हुए निम्न श्लोक में मार्मिक उर्पमा देकर दिखाया है—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु नयेष्विव,
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिक शेमुषी।⁵⁹

अर्थात् जैसे माता को अपने सब बच्चों के प्रति समान प्यार होता है, ठीक वैसे ही जिन अनेकान्तवाद को सब नयों के प्रति समान दृष्टि होती है, उस स्याद्वाद को एक नय में हीनता की बुद्धि और अन्य नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी अर्थात् किसी भी नय के प्रति हीनता या उच्चता की बुद्धि स्याद्वाद में नहीं होती है।

स्याद्वाद सिद्धि के कई प्राचीन प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जो निम्न हैं—

कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् श्रीमद् हेमचन्द्र सूरेश्वर महाराज रचित 'सिद्धहेम' व्याकरण ग्रंथ में 'सिद्धिः स्याद्वादात्' (1.1.2) इस सूत्र की वृत्ति में दिखाया है।

एकस्येव हि ह्रस्व-दीर्घादिविधयोऽनेककारक संनिपातः, सामानाधिकरणयम्, विशेषण विशेष्य भावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते ।⁶⁰

अर्थात् एक ही ह्रस्व, दीर्घ आदि कार्यों में अनेक कारक या संबंध सामानाधिकरण्य एवं विशेषण-विशेष्यभाव आदि होता है। वे स्याद्वाद के बिना शक्य नहीं हैं। अर्थात् स्याद्वाद के स्वीकार से ही ऐसा हो सकता है। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर यही सूत्र की वृत्ति में स्वरचित 'अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका' के 30वें श्लोक में प्रमाण देते हुए कहते हैं—

अन्योऽन्य पक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषान विशेषमिच्छान्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ।।⁶¹

जैसे परस्पर विरुद्ध मान्यता को लेकर एकान्त दर्शनवादी परस्पर द्वेषित होते हैं। परमात्मा आपका आगम सिद्धान्त ऐसा नहीं है, क्योंकि एकान्तवाद से दूर है। इतना ही नहीं पर सकल नयवाद का इच्छित है।

हेमचन्द्रसूरि महाराज ने 'अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका'⁶² के 28वें श्लोक में तो यहां तक लिखा है कि विश्व में सभी वादी के समक्ष हमारी यह उद्घोषणा है कि वीतराग के अलावा अन्य कोई श्रेष्ठ देव नहीं हैं एवं अनेकान्त के अलावा अन्य कोई नयस्थिति नहीं है।

ऐसे ही न्यायाचार्य न्यायविशारद महामहोपाध्याय यशोविजय महाराज न्यायखण्डखाद्य के 52वें श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं—

“न ह्येकत्र नानाविरुद्ध धर्मप्रतिपादकः स्याद्वादः किन्तु अपेक्षाभेदेन तद्विरोध द्योतकस्यात्पद समभिव्याकृतवाक्य विशेष स इति” ।⁶³

एक ही वस्तु में विविध विरुद्ध वस्तु का प्रतिपादन करना स्याद्वाद नहीं है किन्तु अपेक्षाभेद से उनका अविरोध दिखाने वाला स्यात् पद से समतकृत वाक्यविशेषरूप स्याद्वाद है।

षड्दर्शन की साक्षात् मूर्ति

उपाध्यायजी जब बौद्धों का खण्डन करते हैं एवं पूर्वपक्ष ऐसे प्रतिपादित करते हैं तब स्वयं वसुबंधु, दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति की याद दिलाता है। मीमांसकों की जब मीमांसा करते हैं तब भट्ट एवं प्रभाकर की याद दिलाता है। वेदान्त को जब वे हाथ में लेते हैं तब वेदान्तिकाचार्य लगते हैं। जब वे योगरहस्य समझाते हैं तब योगाचार्य लगते हैं, सही में वे षड्दर्शन की साक्षात् मूर्ति हैं। धन्य है सर्ववाद परमेश्वर के असाधारण पुजारी को।

उनका शास्त्रबोध बहुत ही गहन एवं गहरा था। वे केवल सूत्र के शब्दार्थ पर ही नहीं बल्कि उनका बोध उपयुक्त होता है। पूज्यश्री ने स्थान-स्थान पर जहाँ सूत्रावबोध की बात कही है, वहाँ चार प्रकार के अर्थ की बात भी की है। उन्होंने चार प्रकार के अर्थ की जो विशद् विवेचना की है ऐसा कोई अन्य आचार्य ने किया हो, ऐसा लगता नहीं है।

वे जो चार प्रकार के अर्थ की बात करते हैं, उसमें पदार्थ, वाक्यार्थ, महावाक्यार्थ एवं एदम्पर्यार्थ की है। उसमें भी स्वमति कल्पना का दोष न लगे, इसलिए उन्होंने जैसे वादिभूषण मल्लवादि सूरीजी

ने द्वादसार नयचक्र के प्रत्येक अर के अन्त में आर्ष लिखकर प्रमाण दिया है जैसे ही उपाध्याय ने भी शास्त्रों के प्रमाण दिये हैं। उन्होंने किसी भी स्थान पर स्वतंत्र कल्पना नहीं की है। सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादिजी महाराज तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के भिन्न-भिन्न वक्तव्यों का समन्वय करके अपने पूज्यों के प्रति आदर व्यक्त किया है।

स्याद्वाद के बारे में तार्किक शिरोमणि श्री सिद्धसेन दिवाकर रचित 'द्वात्रिंशक द्वात्रिंशिका'⁶⁴ ग्रंथ की 'चतुर्थ द्वात्रिंशिका' के 15वें श्लोक में दिखाया है कि—सभी नदियाँ जैसे महासागर में मिलती हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न नदियों में महासागर नहीं दिखता। जैसे ही सर्वदर्शन रूपी नदियाँ आपके स्याद्वादरूपी महासागर में सम्मिलित होती हैं किन्तु एकान्तवाद से महासागर दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह ही आपकी विशिष्टता है।

1444 ग्रंथ के प्रणेता, याकिनीमहतरा धर्मसून आचार्यप्रवर श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वर कहते हैं कि—

**पक्षपातो न मे वीरो द्वेषो न कपिलादिषु,
युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह।**

स्याद्वाद के प्रति अपनी मति को निश्चल रखने के लिए उपाध्यायजी स्वरचित 'अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण'⁶⁵ की प्रशस्ति में 13वें श्लोक में दिखाते हैं कि—

यह ग्रंथ की रचना करके विषयरूप विष से कलुषित इस संसार के वैभव आदि किसी भी फल की मुझे इच्छा नहीं है। मैं तो सिर्फ अनेकान्त में आभव एवं परभव में मेरी मति निश्चल एवं अडोल रहे, इतना ही चाहता हूँ। दूसरा यह भी सभी लोग ऐसे ही याचना करें, यह मेरी इच्छा है।

जिनेन्द्र भाषित स्याद्वाद के बारे में जितना लिखें, उतना कम है। स्याद्वाद में महान् ज्योतिर्धर उपाध्यायजी के प्राचीन, अर्वाचीन सभी ग्रंथों का दोहन करके, उसमें लिखे हुए लेख में उनकी समस्त विश्व से सब प्रकार की सर्वोत्कृष्टता, व्यापकता एवं समन्वयता सिद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रमाण के साथ-साथ अन्य दार्शनिकों के प्रमाण देकर भी स्याद्वाद की सार्थकता सिद्ध की है कि वास्तव में उपाध्याय स्याद्वाद के महान् ज्योतिर्धर थे, हैं और रहेंगे।

विद्या के कर्मठ व्यक्तित्व

विश्व वाङ्मय में यशोविजय एक अद्भुत व्यक्तित्व एवं वैदुष्य से अपने अस्तित्व की विद्यमानता को प्रतिष्ठित करने में पुरोगामी रहे। अपने काल में जितने प्रतिष्ठित ग्रन्थ थे, उनका अध्ययन करने का मानो उन्हें जन्मजात अधिकार मिला था। उस पठन-पाठन की पटुता से अद्भुत लेखक बनने की योग्यता प्रकट हुई। जिनमागमों का समुचित समालेखन करने का सुप्रयास किया। जीवन की प्रत्येक पल श्रुतोपासना की शृंखला बनकर युग-युगान्तों तक अविच्युत बनी, स्व-कल्याण एवं पर-कल्याण की साधना बनी। अज्ञान, अंधकार, वासना, ममत्व आदि प्रपंच से च्युत होकर ज्ञानप्रकाश सद् अनुष्ठानों की आधार बनी। अध्ययन और आलेखन उनके जीवन के दो पहलू थे। सम्पूर्ण वाङ्मय का अध्ययन करने के पश्चात् उनकी आलेखन क्रिया प्रारम्भ हुई। उनको जिनवचन से यह पूर्णज्ञान हो गया था कि जीवन में ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे उत्कृष्ट ज्ञान की महिमा को बताते हुए उपाध्यायजी ने स्वयं के ज्ञानसार में कहा है कि—

**निर्वाण पदमप्येकं भाव्यते यन्मुहुर्मुह,
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं निर्बन्धो नास्ति भूयसा।⁶⁶**

मोक्ष क लक्ष्य रखकर यदि एक ही पद का बार-बार चिन्तन करने में आये तो वो उत्कृष्ट ज्ञान है। ज्यादा पढ़ने का आग्रह नहीं है। उसी प्रकार—

‘पढमं नाणं तओ दया’ ।⁶⁷

प्रथम ज्ञान पश्चात् दया, जब तक दया का ज्ञान नहीं होगा, वहाँ तक दया का पूर्ण पालन नहीं हो सकता।

‘ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष’ ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है। इस तथ्य के उपाध्यायजी बहुत पक्के थे। सूत्रकृतांग में भी ‘आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खे’⁶⁸ विद्या और आचरण को मोक्ष का साधन कहा गया है।

ज्ञान से संयुक्त क्रिया ही मोक्षफल का साधन बनती है। ज्ञान के बिना मनुष्य का मूल्य पशु तुल्य हो जाता है इत्यादि पंक्तियों का चिन्तन करते हुए ज्ञान को अत्यन्त कुशलता के साथ आत्मसात् किया। जहाँ तक आत्मा में साहसिकता नहीं आती है, वहाँ तक कार्य की सिद्धि अप्राप्य है। वाङ्मय के अंतःस्थल तक पहुंचने का उन्होंने पूर्ण प्रयास किया। उनकी कुशलता उनके ग्रंथों में प्रदर्शित हुई। किसी भी गाथा, श्लोक या ग्रंथ को उठाकर देख लीजिए, उनका सर्वोत्तमोखी विद्या का कर्मठ व्यक्तित्व आपको छलकता हुआ सामने आयेगा। वे आजीवन विद्या के विकास में विकसित रहे।

स्याद्वाद के सिद्धान्तों को उन्होंने जन-जीवन में एवं विबुधजनों में सहज रूप से उजागर किया है तथा महावीर परमात्मा के उपदेशों से विद्वद्जनों एवं सर्व-सामान्यजनों को परिचित कराया।

सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों को सरल-सुबोध रूप में भी भव्य प्राणियों को समझाने की कुशलता इनमें थी।

जो स्वयं के प्रज्ञाबल को सर्वज्ञ में स्थित करके सरल समन्वयवादी प्रतिष्ठा के प्रतिनिधि हुए और परमात्मा के प्रतिनिधित्व को संभाला। अनेक प्रकार के श्रुतोपासना में तन्मय बनकर जैनशासन के गगनमण्डल में सूर्य की भाँति तेजस्वी बनकर सुशोभित हुए। अनेक आचार्यों का यह समर्थन है कि आज दिन तक ऐसा कवि प्रज्ञावान पुरुष नहीं हुआ, जिन्होंने उनके सम्पूर्ण वाङ्मय को जाना है।

उनका विद्या के प्रति कितना आकर्षण होगा, वह उनके न्याय के शतग्रंथों की रचना दो लाख श्लोकप्रमाण एवं रहस्य से अंकित 108 ग्रंथों से ज्ञात होता है। उनका महत्त्व काशी के एक प्रसंग से पता चलता है।

जब उपाध्याय अपने गुरु नवविजय के साथ काशी में न्याय आदि के अभ्यास के लिए गए थे, तब वहाँ के ब्राह्मण भट्टाचार्य जैन मुनियों को नहीं पढ़ाते थे। तब उन्होंने नामान्तर एवं वेषांतर करके तीन साल तक काशी में अभ्यास किया एवं न्याय में इतने पारंगत हो गये कि एक ब्राह्मण पण्डित को भी वाद में हराकर भट्टाचार्य को प्रसन्न कर दिया। तब वहाँ के पण्डितों ने न्यायाचार्य विरुद्ध से विभूषित किया था। गहन न्यायग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि जो भट्टाचार्य उन्हें नहीं पढ़ाने वाले थे, वह गहन न्यायग्रन्थ गुरु की गैरहाजरी में गुरुपत्नी के पास से लाकर एक रात में पूरा कण्ठस्थ करके दूसरे दिन वापिस दे दिया था। वह ग्रन्थ लगभग 12,000 श्लोक प्रमाण था। इससे हम कह सकते हैं कि इतना परिश्रम एक विद्यापिपासु ही कर सकता है।

‘विद्यार्थिनः कुतोः सुखम्’ इस युक्ति को अपने जीवन में हृदयंगम उन्होंने कर लिया था। उस समय में अनेक दार्शनिक हुए, फिर भी लघुहरिभद्र के रूप में उपाध्यायजी जैसा स्थान कोई नहीं ले सका।

पुनः-पुनः उनकी प्रतिभा प्रकर्ष वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में धैर्यवान होकर धी-धन को कर्मठता से कर्तव्यपरायण बनाते रहे। उनका वाङ्मय व्यक्तित्व विशद रहा है, जो उपाध्याय यशोविजय को मिले हुए भिन्न-भिन्न विरुद्धों से चरितार्थ होता है।

उनका चरित विद्या वैभव से चमत्कृत बन वाङ्मयी सृष्टि को एक सृष्टा स्वरूप प्रस्तुत करता है। सृजन और विसर्जन के विधानों से अपना आत्म-विशेष श्रुतसेवना में समभिरूढ़ रखने का संकल्प उनके प्रत्येक ग्रंथ में दृश्यमान रहा है।

उनके ग्रन्थों की पंक्तियों में विषयों का निरूपण नितान्त निराला मिलता है। कहीं दुःसाहस नहीं, दैन्यभरे वाक्य-विन्यास नहीं, अपितु स्वसिद्धान्त साधक शब्दों का प्रवाह प्रमाणभूत रहा है। चाहे दार्शनिक विषय हो, ऐतिहासिक प्रसंग हो या जन्म-जन्मान्तरीय अवबोध का प्रसंग हो, वहाँ पर भी इतने ही निष्णात बनकर निरूपण करने में वे निष्ठावान दिखाई देते हैं।

तार्किकजालों के बीच में आत्मस्थ को कहीं भी न तो फँसने दिया, न उलझने दिया है, क्योंकि उनका स्वयं का जीवन विद्यामय विवेक से व्युत्पन्न रहा है। इसलिए उनकी वाङ्मय साधना सर्वत्र श्लाघ्य रही है। साहित्य की सीमा को सुरक्षित रखा तथा दार्शनिक तत्त्वों को तात्विकता से कुशलमय करने का कर्मठपन क्रियान्वित किया।

समन्वयवादी या सर्वधर्म सहिष्णु

आचार्य हरिभद्र का समन्वय सर्वत्र विश्रुत रूप से समाहित हुआ है। उपाध्याय यशोविजय का एक स्वतंत्र, स्वाधीन, समन्वयवाद सभी दार्शनिकों को सुप्रिय लगा। आत्म-मन्तव्य की महत्ता को महामान्य रूप से प्रस्तुत करने का महाकौशल उपाध्यायजी को जन्मजात रहा था, क्योंकि वैदिक संस्कृति के विद्या वात्सल्य में उनका मानस पण्डित बना था और वही पण्डित मानस श्रमण संस्कृति के स्नातक बन शास्त्रीय धाराओं में समता को और क्षमता को सन्तुलित रखने में सर्वथा प्रशंसनीय रहा।

समन्वयवाद में सभी को सादर सम्मिलित करने का विशाल विचार समुद्रभावित किया। अपने-अपने मत-मन्तव्यों से मथित बना हुआ, ग्रसित रहा हुआ मानस सहसा मुड़ने में समय लगाता है परन्तु उपाध्याय यशोविजय एक साथ समय को लेकर सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हुए पूर्ण प्राज्ञता का एक अद्भुत प्रस्ताव प्रस्तुत कर सभी के हृदयों को जीतने के प्रयास करते हैं, क्योंकि आत्म-सम्मान मतान्तरों के महात्म्य में मग्न बनकर अन्य के मूल्यांकन में प्रायः कातर कार्पण पाया जाता है। परन्तु उपाध्यायजी के मेधा और मानस में उदारतावाद का उच्च ध्येय था। समन्वयवाद का सक्षम संकल्प था अतः वे निर्विरोध प्रत्येक दार्शनिक ग्रन्थों में गौरवान्वित रूप से गुम्फित हुए। उन्होंने भी अपनी दार्शनिकता में दिव्यभावों को दर्शित कर ससम्मान सभी को आमंत्रित किया है।

अन्यों में आत्मीयता से महोच्च पद पर प्रतिष्ठित करने का शब्द विन्यास शालीन रहा। चाहे वे विरोधी हों, पर उनको निर्विरोध रूप से निरपराधभाव से भूषित करूँ अपितु दूषित न बनाऊँ। दूसरों पर दोषारोपण का प्रयोग प्रायः दर्शन जगत् में तुमुल मचाता रहा है परन्तु यशोविजय ने इस चिरकाल के संघर्ष को एक प्रशस्त पुरोवचन से उनको प्रभावित करने का, पूजित करने का उपयोग समन्वयवाद के नाम से विख्यात किया।

‘सम्बोध प्रकरण’ जैसे महाग्रन्थ में तत्कालीन सम्प्रचलित सभी आमनायों को समभाव में रहने का समुचित सुबोध सम्बोधित किया—

“सेयंबरोवा आसंबरो बुद्धो वा अहप अण्णो वा।
समभावभावि अप्पा, लहई मुखं न संदेहो।।”⁶⁹

अपनी आत्मा को समभाव में समाधिस्थ रखने वाला निःसंदेह मोक्षसुख को उपलब्ध करता है। वह यदि श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, तथाजन बुद्ध या अनुयायी या इसके सिवा अन्य अन्यतर कोई भी हो, सभी के लिए समभाव के समन्वयवाद में रहने का अधिकार है और वह निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करता है।

उपाध्याय का व्यक्तित्व समन्वयवादी एवं सहिष्णु था। उनके ग्रन्थों, पदों, श्लोकों में धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता का परिचय मिलता है। जिस धर्म एवं दर्शन में व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण का अभाव रहता है, वह एकांगी, एकपक्षीय होता है। इस सम्बन्ध में उपाध्याय का स्पष्ट उद्घोष है कि वीतराग परमात्मा के चरणों का उपासक संकीर्ण, राग-द्वेष धर्म अनुदार एकान्तिक दृष्टि नहीं हो सकता। वह ‘अपना सो सच्चा’ इस सिद्धान्त के बदले ‘सच्चा सो अपना’ सिद्धान्त का पक्षपाती होगा। इसी उदारदृष्टि के कारण वह जहाँ-जहाँ सत्य मिले, बिना किसी संकोच से उसे अपना लेते थे। उनकी अनेकान्तिक दृष्टि स्पष्ट, उदार, सर्वांगी होती है। यशोविजय ऐसे ही उदारमन सन्त थे। इसलिए वे षड्दर्शनों को जिनेश्वर देव के छह अंगों के रूप में सुस्थापित करते हुए कहते हैं कि वीतराग परमात्मा का चरण उपासक जो किसी एक दर्शन का नहीं, षड्दर्शन का आराधक होता है।

आनन्दघनजी महाराज ने अपने पद में इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि—

“षड दरिसण जिन अंग भणीजै, न्यास षडंग जे साधेरे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षडदरसण आराधेरे।।”⁷⁰

उनके अनुसार वीतराग का उपासक सभी दर्शनों का आराधक होता है। वह सर्वदर्शनों एवं सर्वधर्मों के प्रति सहिष्णु होता है। किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि इतनी व्यापक, सत्यग्राही, उदार और सहिष्णु होती है कि उसके लिए कोई भी दर्शन पराया नहीं रहता। लेकिन ऐसा केवल तभी हो सकता है, जबकि वह केवल अनेकान्त की, समन्वयवादिता की छोटी चर्चा न करे, उसे जीवन में भी उतारे। जैन दर्शन की व्यापकता का मनोरम चित्र खींचते हुए उपाध्याय कहते हैं कि—

जिनवरमा सगला दरसण छे, दरसण जिणवर भजना रे।
सागरमां सधती तटनीछे, तटिनी सागर भजना रे।।”⁷¹

जैन दर्शन विशाल महासमुद्र है, जिसमें अनेक नदियों के रूप में विभिन्न दर्शन समाविष्ट हैं, किन्तु नदी रूप अन्य दर्शनों में समुद्ररूप जैनदर्शन आंशिक रूप से समाहित है। इससे विदित होता सीख देते हैं। उपाध्याय जैन मतावलम्बियों को उदार एवं सर्वदर्शन समन्वयी बनने की स्पष्ट सीख देते हैं। पू. उपाध्याय के ग्रन्थों की विशिष्टता का वर्णन करने बैठ जायेंगे तो शायद पुस्तकें भी मर्यादित हो जायेगी। उन्होंने एक-एक बात में इतना सरल एवं सटीक भाषा में समन्वय दिया है, जो निर्विवाद है, जैसे—

खण्डनखनडखाद्य यानी महावीरस्तव नामक ग्रन्थ में बौद्धमत की मौलिक मान्यताओं को तर्क में अनुतीर्ण कहकर अद्भुतरीति से तर्क प्रमाण के बल पर सटीक खण्डन किया है। स्वोपज्ञ टीका में उन्होंने उदयनकृत ‘आत्मतत्त्वविवेक’ नामक बौद्धमत का खण्डन दीघतिकारकी रची हुई टीका की पंक्तियों पर अद्भुत विवेचन किया है।

खण्डनखण्डखाद्य मूल तो मात्र 100 श्लोक का ग्रंथ है, टीका भी इतनी विस्तृत नहीं है। फिर भी उपाध्यायजी ने अन्यत्र उल्लेख किया है कि उन्होंने बौद्धन्याय के खण्डन लिए स्वयं डेढ़ लाख श्लोक प्रमाण ग्रन्थ की रचना की है। तब आश्चर्य होता है कि कैसी असाधारण विद्वत्ता होगी। कैसा उपकारी सादा जीवन? कैसी शासन सेवा? उनकी कृतियों का पार पाने के लिए कौन समर्थ है?

ज्ञानसार अष्टक के प्रथम अष्टक की प्रथम गाथा के द्वितीय पद में कहा है—“सच्चिदानन्दपूर्णं पूर्णं जगद अवेक्ष्यते”⁷² ऐसा उल्लेख है। शुद्ध सच्चित् आनन्द पूर्ण जो सिद्धात्मा है, वो जगत् को पूर्ण रीति से देखते हैं। इस पर सहज ही प्रश्न हो सकता है कि जगत् तो अज्ञान है, दुःखी है, ऐसी स्थिति में चित् पूर्ण या आनन्दपूर्ण कैसे रहा? सिद्धभगवान तो सर्वत्र हैं तो उन्होंने जगत् का दर्शन क्या अयथार्थ किया? तब इस प्रश्न का समन्वय करते हुए उपाध्यायजी सिर्फ एक ही लाईन में उत्तर देते हैं कि “निश्चय नय की दृष्टि से यह भ्रान्ति नहीं है।”⁷³ संक्षेप में ही सही कैसा समन्वय करके रहस्य को उद्घाटित किया।

मैं बान्धवों के बन्धनों से, शत्रुओं की शत्रुमयी भावनाओं से भयभीत बनने वाला नहीं हूँ, कोई बन्धु अथवा शत्रु हमारे समक्ष हो या परोक्ष में हो किन्तु उनके उच्चारणों का और आचरणों का विधिवत् विचार करके आश्रय लेना चाहिए। उपयुक्तता से स्वीकार करना चाहिए, यही हमारी समन्वयवादिता है। जो उपाध्याय यशोविजय में देखने को मिलती है।

किसी भी वस्तु को हम स्याद्वाद के सिद्धान्त को आधार बनाकर देखेंगे एवं दोनों के बीच समन्वय की भावना रखेंगे तो वस्तु का सही स्वरूप देखने को मिलता है। उपाध्याय महाराज कहते हैं—

“इहाऽमुत्राऽपि स्तान्मे मतिरनेकान्त विषये”⁷⁴

आभव एवं परभव में मेरी मति अनेकान्त रूप हो, ऐसा उन्होंने मांगा था।

अतः हम कह सकते हैं कि आजीवन समन्वयवाद के समर्थक, संचालक एवं प्रयोजक रूप से प्रतिष्ठित रहने का प्रबल प्रयत्न उपाध्यायजी का दार्शनिक जगत् में रहा है, जो दिव्य समन्वयवाद या प्रकाशस्तम्भ होकर प्रज्ञा-प्रबन्ध का महोत्सव मनाता रहेगा।

श्रेष्ठ दार्शनिक या दार्शनिक दृष्टिकोण

उपाध्याय अध्यात्मयोगी के साथ-साथ एक श्रेष्ठ दार्शनिक भी थे। उनके ग्रंथ का अध्ययन करने से उनकी प्रखर बौद्धिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। अपने ग्रंथों में आपने धर्म एवं दर्शन के गूढ़ एवं जटिल सिद्धान्तों को जन-साधारण की भाषा में सरल एवं बोधगम्य ढंग से प्रस्तुत किया है। षड्दर्शनों के साथ जैनदर्शन का समन्वय, स्याद्वाद का स्वरूप, नयवाद का स्वरूप, सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप तथा द्रव्य का गुण पर्यायमय स्वरूप, विधि-निषेध द्वारा आत्मस्वरूप की समझ आदि दार्शनिक तत्त्वों के विविध पहलुओं का विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से सहज एवं सुबोध रूप में उजागर किया है।

उपाध्याय यशोविजय के द्वारा रचित रचनाओं में प्रांजल रूप में दार्शनिक दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है। उस समय दार्शनिक जगत् में एक दयनीय कोलाहल तुमुल रूप में ताण्डवनृत्य कर रहा था। बड़े-बड़े दिग्गज दार्शनिक दिङ्नाग नागार्जुन, आचार्यशंकर, मीमांसक, कणाद, अक्षपाद आदि के मत मतान्तर प्रसिद्ध थे। ऐसे समय में उपाध्यायजी दार्शनिक दृष्टिकोण में स्याद्वाद का दुन्दुभि लेकर तत्कालीन दार्शनिकों के सामने निर्विरोध समवतरित हुए तथा स्याद्वाद का बोध व्यक्तियों को आदरपूर्वक देने का सुप्रयास जारी रखा। विरोधियों को भी विवेक देने का विश्वस्त विद्यायोग साधा। विरोधियों के साथ

वैमनस्य का त्याग करके सौहार्दता एवं सामंजस्यता की भावना जागृत करते हुए प्रामाणिक सिद्धान्त के रहस्य उनके सामने प्रदर्शित किये।

वाचकवर्य पूर्वधर महर्षि उमास्वाति महाराज के स्वरचित तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय में दिखाया है कि—

“उत्पाद-व्यय-धौव्ययुक्त सत्”।⁷⁵ (सूत्र 29)

उत्पत्ति, विनाश एवं ध्रुव इन धर्मों से युक्त होता है, उसे सत् कहते हैं।

तद भावाव्यं नित्यम्।⁷⁶

जो स्वभाव से परिवर्तित नहीं होता, उसे नित्य कहते हैं।

अर्पिता नर्पिते सिद्धे।⁷⁷

अर्पितम एवं अनर्पित की ही सिद्धि होती है।

उक्त तीनों सूत्र स्याद्वाद को स्पष्ट करते हैं। जैनदर्शन जिस पर निर्भर है, आगमशास्त्रों में स्थान पर जिनका विधान है, सर्वज्ञ परमात्मा एवं गणधरों आदि मुनिमहात्मा अपने प्रवचनों में एवं कृतियों में सर्वोच्च स्थान देते हैं, ऐसा अनेकान्त-स्याद्वाद को जैनेतर प्राचीन सिद्धान्तों ने भी अपने ग्रंथों में ग्रहण किया है, जो प्रमाण निम्न है।

ऋग्वेद—

“ना सदासीन्नो सदासीतदानी”।⁷⁸

उस काल में सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था, ऐसा ब्रह्म के वर्णन में है।

कठोपनिषद्—

“अणोरणीयान् महतो महीयान्”।⁷⁹

वो अणु से भी छोटा है एवं महान् से भी महान् है, ऐसा यह ब्रह्म के वर्णन में है।

ईशावास्योपनिषद्—

“तदेजति तन्नैजति तददूरे तदन्तिके”।⁸⁰

वो हिलता भी है और नहीं भी हिलता है, वो दूर भी है और नजदीक भी है।

भगवद्गीता—

“संन्यास कर्मयोगश्च! निःश्रेयस करानुभौ”।⁸¹

संन्यास भी कल्याणकारी है एवं कर्मयोग भी कल्याणकारी है।

विष्णुसहस्र नाम— “अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे”।

अनेक रूप वाला स्वरूप जिसका है, वो समर्थ विष्णु है।

मनुस्मृति—

“अनार्यमर्यकर्माणमार्य चानार्यकमिणम्।”

सम्प्रधार्याब्रवीद धातां संभौ ना समापति।।⁸²

आर्य आचारवाले अनार्य को एवं अनार्य आचार वाले आर्य को लक्ष्य रखकर ब्रह्म ने कहा कि दोनों सम भी नहीं हैं और असम भी नहीं हैं। यानी अपेक्षाभेद से दोनों समान भी हैं एवं असमान भी हैं और एकान्त से सम भी नहीं हैं और असम भी नहीं हैं।

महाभारत—इसमें व्यास ऋषि ने कहा है—

“यो विद्वान् सह संवासं विवासं चैव पश्यति, तथैवेकेत्व-नानात्वे स दूरवात् परिमुच्यते।”⁸³

जो विद्वान् चैतन्य के साथ भेदाभेद एवं एकत्व को देखता है, वो दुःख से मुक्त होता है।

वैसे ही महर्षि पतंजलि, वैयाकरण केशरी कैयट, प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट एवं आचार्यश्री वाचस्पति मिश्र ने भी भिन्न-भिन्न रूप में स्याद्वाद को सिद्ध किया है।

अनेकान्तवाद अथवा अपेक्षावाद का सिद्धान्त कुछ नवीन या कल्पित सिद्धान्त नहीं है किन्तु अति प्राचीन तथा पदार्थों की उनके स्वरूप के अनुरूप यथार्थ व्यवस्था करने वाला सर्वानुभवसिद्ध सुव्यवस्थित और निश्चित सिद्धान्त है।

तात्विक विषयों की समस्या में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपेक्षावाद के समान उसकी कोटि का दूसरा कोई सिद्धान्त नहीं है।

विरुद्धता में विविधता का मान करके उसका सुचारु रूप से उपयोग करने में अनेकान्तवाद-अपेक्षावाद का सिद्धान्त बड़ा ही प्रवीण एवं सिद्धहस्त है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक भिक्खनलाल आत्रेय एम.ए. डी.लिट्. स्याद्वादमंजरी के प्राक्कथन में स्याद्वाद के संबंध में बता रहे हैं कि—

सत्य और उच्चभाव और विचार किसी एक जाति या मजहब वालों की वस्तु नहीं है। इन पर मनुष्य मात्र का अधिकार है। मनुष्य मात्र को अनेकान्तवादी, स्याद्वादवादी और अहिंसावादी होने की आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी।

प्रोफेसर जयंतीलाल भाईशंकर दवे एम.ए. दार्शनिक साहित्य में दृष्टान्त एवं उपमाओं के लेख में स्याद्वाद के संबंध में कह रहे हैं—

विरुद्ध दिखने वाले तमाम मतों की विविध अपेक्षा-दृष्टियों के द्वारा संगीत करना ही अनेकान्त दृष्टि का वास्तविक स्वरूप है। एक जैनग्रंथ में यह पूरा विषय एक ही श्लोक में समा दिया है—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।⁸⁴

(षड्दर्शन : समन्वय टीका)

जो एक को जानता है, वो सबको जानता है और जो सबको जानता है, वो एक को जानता है। ऐसा ही दूसरा श्लोक, जो निम्न है—

एसो भाव! सर्वथा येन दृष्टा, सर्व भावाः सर्वथा तेन दृष्टा,

सर्व भावा! सर्वथा येन दृष्टा, एसो भाव! सर्वथा तेन दृष्टा।⁸⁵

अर्थात् वस्तु का एक स्वभाव ही वस्तु के अन्तर्गत दूसरे स्वभावों के साथ ओतप्रोत होने से एक को जानने से अपने आप दूसरे स्वभावों का ज्ञान हो जाता है एवं एक वस्तु को पूर्ण जानने से भी उनके सभी गुणधर्मों को अपने आप समझ में आ जाता है।

संक्षिप्त में अनेकान्तवाद का सारतम रहस्य एक ही श्लोक में मार्मिक ढंग से दिखाया गया है।

इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की विधि के प्राचीन प्रमाण जैन-दर्शन एवं जैनेतर दर्शन में मिलता है।

इनके अलावा भी कई प्रमाण दृष्टिगोचर होता है। लेकिन यह इतने ही प्रमाणों का प्रतिदिन दिग्दर्शन किया है, वो निर्विवाद है।

यह वस्तुस्थिति प्रकाशन में वाचक यशोविजय ने जैनदर्शन एवं उनके द्वारा भारतीय दर्शनों में जो आगे योगदान दिया है, उनका बस हम विचार करते हैं तो उनका भाग्य अपने आप सामने उपस्थित हो जाता है।

आचार्य गंगेश ने भारतीय दर्शन में नव्यन्याय की स्थापना की। उनके विचार को व्यक्त करने की एक नई प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। उनके बाद सभी दर्शनों को उस नई शैली का आश्रय लेना पड़ा। उनका कारण यही है कि कोई भी विचार को स्पष्ट व्यक्त करने के लिए नव्यन्याय शैली जितनी उपकारक है, उतनी सहायता प्राचीन प्रणाली में नहीं मिलती है। इसलिए ही शास्त्रकारों को अपने विचारों को उस शैली में व्यक्त करने की आवश्यकता हुई। यही कारण है कि व्याकरण एवं अलंकारों में भी उस शैली का आश्रय लिया गया। किन्तु वह शैली कई वर्ष के प्रचलन के बाद भी उस शैली से जैनदर्शन एवं जैनसाहित्य दोनों वंचित थे। भारतीय साहित्य के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश हुआ पर जैन-साहित्य में नहीं हुआ था। उसका कारण जैनाचार्यों की शिथिलता ही है। ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि अपने शास्त्रों को नित्यनूतन रखना हो तो उनके लिए जो-जो अनुकूल या प्रतिकूल विचार अपने समय तक विस्तारित हुआ हो, उनका यथायोग्य अपने शास्त्रों में समावेश करना आवश्यक है अन्यथा वो शास्त्र दूसरे शास्त्रों की बराबरी में नहीं आ सकता।

चार सौ, साढ़े चार सौ वर्ष के विकास का समावेश अकेले वाचक यशोविजय ने जैनशास्त्र में किया। इनके इस महान् कार्य का जब हम विचार करते हैं तो उनके सामने हमारा सिर नतमस्त हो जाता है। उन्होंने अनेक विषय के ग्रंथ लिखे। अगर न भी लिखे होते तो भी जैनदर्शन को नव्यन्याय की शैली में रखकर अपूर्व कार्य किया है। उससे ही उनकी अमरता, महानता सिद्ध होती है।

18वीं सदी के उपाध्याय ने जो कार्य किया, वह वापिस वहीं रुक गया है। उनके बाद भारतीय दर्शन में भी कोई विकास नहीं हुआ। इस प्रकार नित्य निर्विवाद और निश्चल जैसे अनेकान्तवाद का सर्वोपरी सिद्धान्त बनाने का श्रेय श्रमण-संस्कृति को मिला है। उपाध्याय ने श्रमण-संस्कृति के एक उत्कृष्ट महान् श्रुतधर के रूप में समवतरित होकर एवं नव्यन्याय की शैली का जैनदर्शन में प्रवेश कराकर सारे संसार के दिग्गज बंधुओं को अनेकान्त का पुरस्कार प्रस्तुत कर दिया। यह उनकी समदृष्टि स्याद्वाद अविकारिता समुपलब्धि होती है, जो अनेकान्त संज्ञा से दार्शनिक जगत् में दिव्य शंखनाद करती रही है।

इस प्रकार जीव-विषयक, ज्ञान-विषयक, स्याद्वाद विषयक, नव्यन्यायशैली विषयक इनका दृष्टिकोण प्रशंसनीय रहा है।

न्याय के विषय में योगदान—भारतीय दर्शनों में छः दर्शन वेदमूलक हैं। वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा—इन छः दर्शनों में से तीन दर्शनों की मूल भित्ति परमाणुवाद है। न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा-दर्शन में परमाणुओं से जगत् की सृष्टि बताई है। पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणु होते हैं, इसलिए पृथ्वी, जल, तेज, वायु नित्य और अनित्य ऐसे दो विभागों में विभक्त हैं, परमाणु नित्य एवं सक्रिय पदार्थ है। उनका स्वरूप सूक्ष्म है।

उपाध्याय के बाह्य जीवन की स्थूल घटनाओं का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है, उसमें दो बातें खास महत्त्व की हैं, जिनके कारण उपाध्याय के आन्तरिक जीवन का स्तोत्र यहां तक अन्तर्मुख होकर विकसित हुआ कि जिसके बल पर वे भारतीय साहित्य में और खासकर जैन परम्परा में अमर हो गये।

उनमें से पहली घटना अभ्यास के लिए काशी जाने की और दूसरी न्याय और दर्शनों का मौलिक अभ्यास करने की है। उपाध्याय कितने ही बुद्धि व प्रतिभामान क्यों न होते, उनके लिए गुजरात आदि में अध्ययन की सामग्री कितनी ही क्यों न जुटाई जाती, पर इसमें कोई संदेह ही नहीं कि वे अगर काशी में न जाते तो उनका शास्त्रीय व दार्शनिक ज्ञान, जैसा उनके ग्रंथों में पाया जाता है, संभव न होता। काशी में आकर भी वे उस समय तक विकसित न्यायशास्त्र खास करके नवीन न्यायशास्त्र का पूरे बल से अध्ययन न करते तो उन्होंने जैन परम्परा में और तर्क द्वारा भारतीय साहित्य को जैन विद्वान की हैसियत से जो अपूर्व भेंट दी है, वह कभी संभव न होती।

दसवीं शताब्दी से नवीन न्याय के विकास के साथ ही सम्पन्न वैदिक दर्शनों में ही नहीं बल्कि समग्र वैदिक साहित्य में सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क की एक नई दिशा प्रारम्भ हुई और उत्तरोत्तर अधिक से अधिक विचार विकास होता चला जो अभी तक हो ही रहा है। इस नवीन न्यायकृत नव्ययुग में उपाध्याय के पहले भी अनेक श्वेताम्बर, दिगम्बर विद्वान् हुए, जो प्रतिभासम्पन्न होने के अलावा जीवनभर शास्त्रयोगी भी रहे, फिर भी हम देखते हैं कि उपाध्याय के पूर्ववर्ती किसी जैन विद्वान् ने जैन मन्तव्यों का उतना सतर्क-दार्शनिक विश्लेषण व प्रतिपादन नहीं किया, जितना उपाध्यायजी के काशीगमन में और नव्यन्याय शास्त्र के गम्भीर अध्ययन में है। नवीन न्यायशास्त्र के अभ्यास से और तर्कमूलक सभी तत्कालीन वैदिक दर्शनों के अभ्यास से उपाध्याय का सहज बुद्धि-प्रतिभा-संस्कार इतना विकसित और समृद्ध हुआ कि उसमें से अनेक शास्त्रों का निर्माण होने लगा।

उपाध्याय के ग्रंथों के निर्माण का निश्चित स्थान व समय देना अभी संभव नहीं। फिर भी इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्य जैन साधुओं की तरह मन्दिर निर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, संघ निकालना आदि बहिर्मुख धर्मस्थलों में अपना मनोयोग न लगाकर अपना सारा जीवन जहां वे गए और जहां वे रहे, वहीं एकमात्र शास्त्रों के चिंतन तथा नव्यशास्त्रों के निर्माण में लगा दिया।

जैन दर्शन का स्याद्वाद वर्ग जैन सिद्धान्तों की तत्त्वव्यवस्था को, उनके सर्वसुसंवादी शास्त्रज्ञान को उन्होंने अपनी नव्यन्याय की भाषा में जिस प्रकार से साहित्य में उतारा है, वो सही में अमृत है। उनके न्यायग्रंथ का जब-जब भी मनन, परिशीलन करने में आए तो उस सतत् अभ्यासी प्रज्ञाशील बुद्धिमान मानव को भी पल-पल में अनेक ग्रंथों में से एक विपरीत में नया तत्त्व ही देखने को मिले।

शब्द अल्प एवं भाव गम्भीर, यह पूज्यश्री के न्यायग्रंथों की स्वतंत्रशैली है। यह शैली पू. हरिभद्रसूरीश्वर के ग्रंथों के सतत् परिशीलन के फलस्वरूप उनको सहज बनी हो, ऐसा हम कह सकते हैं। उपाध्याय दार्शनिक विषय के प्रमुख विद्वान् थे। तत्कालीन जो भी जैन जैनेत्तर दार्शनिक प्रखर विद्वान् थे, उन सबमें उनका स्थान अद्वितीय था।

उनकी प्रत्येक कृति उस विषय की अन्तिम एवं उत्कृष्ट कृति है, ऐसा कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है। जो हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्ता समुच्चयकृति की स्याद्वादकल्पता नामक उपाध्याय की रचित टीका जैनदर्शन के पदार्थों को नव्यन्याय की शैली में प्रतिपादन करने की अद्भुत साहित्य कृति है। इस टीका में उन्होंने स्व-परदर्शन शास्त्रों का अगाध पाण्डित्य व्यक्त किया है।

दर्शनशास्त्रों के समर्थ विद्वान् जब भी आचार, उपदेश, भक्ति के कोई भी विषय पर सर्जन करने बैठे तो उस विषय के सर्वत्र क्षेत्रों के अंग-प्रत्यंगों को सम्पूर्ण रीति से स्पर्श करता है। सही में पूज्यश्री की इस सर्वोत्तमोत्तम प्रतिभा का वर्णन आश्चर्यजनक है।

न्याय दर्शन में गंगेश उपाध्याय के बाद नव्यन्याय की प्रणाली प्रारम्भ हुई एवं उनका विकास पू. उपाध्याय महाराज के समय में हुआ, ऐसा हम कह सकते हैं। रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर, जगदीश आदि के नव्यन्याय के ग्रंथ सूक्ष्म एवं तर्कशैली में है। जैनदर्शन में उस शैली के विषयों का प्रतिपादन पूज्य उपाध्याय महाराज ने किया।

अष्टसहस्री, शास्त्रवार्ता समुच्चय की कल्पलता टीका, अनेकान्त व्यवस्था, नयोप्रदेश, नयामृत-तरंगिणी, वादमाला, न्यायखण्डखाद्य, ज्ञानार्णव, ज्ञानबिन्दु, तत्त्वार्थ टीका, प्रथम अध्याय आदि ग्रंथों को देखते हैं तो पता चलता है कि नव्यन्याय शैली का प्रयोग एवं प्रभुत्व खुद गंगेश उपाध्याय को भी बहुमान कराये देता है। उपाध्याय की कलम में खण्डनशक्ति के साथ समन्वय शक्ति भी है।

अध्यात्मपरीक्षा, प्रतिमाशतक, धर्मपरीक्षा, गुरुतत्त्वविनिश्चय, 125 गाथा आदि स्तवनों, अनेक परमत खण्डन करके भी शक्ति का पूर्ण परिचय कराते हैं। उनके साथ ज्ञानबिन्दु आदि में उनकी समन्वयशक्ति का परिचय मिलता है।

नव्यन्याय की शैली से रचित न्यायखण्डखाद्य ग्रंथ की महत्ता इस ग्रंथ में उपाध्याय ने प्रभु की स्तुति के उद्देश्य से स्याद्वाद का जो निरूपण किया है, वह चिंतनीय है। उन्होंने प्रथम प्रभु के अतिशयों का वर्णन करके, वाणी अतिशय का प्राधान्य बताकर बौद्धों के क्षणिकवाद का निरसन किया है। बौद्धों के द्रव्य का लक्षण 'अर्थक्रियाकारित्व' से जो दोष आता है, वो दिखाते हैं एवं बौद्धों को अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति का भी दोष बीजत्व एवं सहकारी कारण जमीन एवं पानी भी होना अनिवार्य है। यह नियम समझाकर सौत्रालिक, वैभाविक, शून्यवाद, विज्ञानवाद, अनात्मवाद इन सबका सूत्र है 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' को एकान्त गिनाकर दोषग्रस्त करते हैं तथा प्रभु के व्यवहार विशुद्ध नय को आधिपत्य देता है। उनके बाद काल एवं देश का स्वरूप समझाते हैं।

न्यायखण्डखाद्य का प्रथम भाग तो बौद्धों के क्षणिकवाद का परिहार करने में ही पूर्ण होता है। न्याय दर्शन की कूटस्थ नीति को भी विवेचन किया है। द्रव्य को एकान्त नित्य या अनित्य मानने में जो दोष आता है, वह दिखाकर उनको नित्यानित्य का कथंचित् नित्य मानने की व्यवहार विशुद्ध नय की श्रेष्ठता को समझाया है। उनके बाद द्रव्य की उत्पत्ति एवं नाश का हेतु समझाकर वस्तु में रहे हुए भेदाभेद बताकर प्रत्यक्ष एवं प्रत्याभिज्ञा का स्वरूप दिखाया है।

अतः न्यायखण्डखाद्य पूरा नव्यन्याय की शैली में लिखा ग्रंथ है। उनकी 'मूलकृति एवं विद्वता से भरी संस्कृत टीका का वाचन करने जैसा है। इस प्रथम न्याय के विषय में उपाध्याय महाराज ने तन एवं मन से बहुत ही गहन योगदान दिया है, जो निर्विवाद सत्य है।

सम्पूर्ण वाङ्मय के विषय से अवगत

उपाध्याय यशोविजय के वैदुष्य विशेषताओं को लेकर वाङ्मय धरातल पर कल्पतरु बना। उनकी गहन गाम्भीर्यपूर्ण ज्ञान-साधना आज भी सजीवन्त उपलब्ध है। तत्कालीन जितने विषय प्रचलित थे, उन पर अपना अधिकार करने में अहर्निश अग्रसर रहे।

जैन शासन में श्रुतसाधना की महत्ता अद्भुत एवं अलौकिक है। जो भक्ति से सराबोर होकर श्रुतसाधना में संलग्न हो जाता है, वह हमेशा स्व-परहित साधन बन जाता है।

भगवद् प्रदत्त त्रिपदी के आधार-स्तम्भ पर रचे गए आगम ग्रंथ और आगम ग्रंथों के आधारशिला पर रचित ग्रंथ दोनों श्रुतमान्य एवं विद्वद्भोग्य माने गये हैं। उसमें भी उपाध्याय यशोविजय के ग्रंथों ने तो अनेक विद्वानों का मार्गदर्शन किया है।

धनाशा पोरवाल के द्वारा निर्मित 'नलिनीगुल्म विमान' के समान रणकपुरजी के भव्य जिनप्रासाद में बहुजन प्रसिद्ध एक विलक्षणता यह है कि इस जिनप्रासाद के 1444 स्तम्भ में से किसी भी स्तम्भ के पास खड़े रहो, किसी-न-किसी प्रकार से आपको परमात्मा के दर्शन होंगे, उसी प्रकार पू. उपाध्याय यशोविजय के रचित ग्रंथों में जैनदर्शन के सिद्धान्त, नव्यन्याय की शैली से निरूपण एवं दार्शनिक तत्त्व नेत्र समक्ष प्रतीत होंगे।

दार्शनिक प्रश्नों के प्रत्युत्तर में अपना प्रखर पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुए ज्ञान पूर्णता से छलके नहीं, न किसी को झकझोरा अपितु सभी विषयों का विद्वतापूर्वक अध्ययन करते हुए अपनी वाङ्मयी रचना में उन्होंने रोचक सन्दर्भ उपस्थित किये।

अन्यान्य परम्पराओं का परमबोध करते हुए अपने स्वोपज्ञ ग्रंथों में उनका समुल्लेख करते हुए संशयापन्न विषयों का निराकरण करते हुए सदैव जागरूक रहे। जैसा कि शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका स्याद्वाद कल्पलता में सभी प्रकार से स्याद्वाद का उदाहरण देते हुए अपने मन्तव्यों को भव्यता से महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए एक अद्भुत दर्शनीय के रूप में प्रगटित हुए।

वैदिक परम्पराओं से संबंधित जितने भी सन्दर्भ उन्हें समुपलब्ध हुए उनका तल-स्पर्शीय ज्ञान बढ़ाते हुए आत्म निर्ग्रन्थ मत से निराकृत बने हुए सभी को सहमत में रखने का सुन्दर अनेकान्तिक उपयोग किया है।

बौद्ध परम्परा में क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद जैसे बौद्ध दर्शन प्रतिष्ठित प्रचारों या निर्विशेष रूप से चर्चित कर स्याद्वाद सिद्धान्त को अर्पित किया है।

कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता है। ग्रन्थ के प्रणयनरूप कार्य को भी यह नियम लगता है। ऐसा न्यायाचार्य की कृतियों को देखते तो पता चलता है कि आत्मार्यों के हित के लिए गुरुतत्त्वविनिश्चय ग्रंथ की रचना की है, ऐसा उन्होंने आद्यपद्य में दर्शाया है। प्रस्तुत पद्य निम्न है—

पणमिय पास जिणंदं संरवेसरसंठियं महाभागं ।

अतद्वाण हिअद्वा गुरुततविणिच्छयं तुच्छं ॥⁶⁶

ऐसे ही परोपकार की भावना से नयरहस्य की रचना की है। जब उसका प्रारम्भिक भाग देखते हैं तो पता चलता है, जो उल्लेख निम्न है—

एन्दू श्रेणिनतं नत्वा वीरं तत्त्वार्थदेशिनम् ।

परोपकृतये ब्रूमो रहस्यं नयनवोचरम् ॥⁶⁷

अर्थात् आत्मार्यों के पर-उपकार करने के लिए द्रव्य-अनुयोग-विचार रचित है। ऐसा निम्न पद्य से पता चलता है—

श्री गुरुजितविजय मनधरी, श्री नयविजय सुगुरु आदरी,

आत्मअरथी पर उपकार करु, द्रव्य अनुयोग विचार ।

विनोद करने के हेतु से नयोपदेश ग्रंथ की रचना उपाध्यायजी ने की है, ऐसा उल्लेख निम्न श्लोक में मिलता है—

ऐन्द्रघाम हृदि स्मृत्वा नत्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
नयोपदेशः सुधियाँ विनोदाय विधीयते ॥⁹⁹

तिडन्वयोक्ति की रचना उनके आद्य-पद्य के अनुसार नैयायिकों एवं शाब्दिकों को मन की खुशी के लिए की गई है। ऐसा उल्लेख मिलता है, जो पद निम्न है—

ऐन्द्रव्रजाभ्यचितपादपध्मं, सुमेरुधीरं प्रणिपत्य, वीरम् ।
वंदामि नैयायिक शाब्दिकारां, भवोविनोदाय तिडन्वयोक्तिम् ॥¹⁰⁰

इसी प्रकार किसी कारण को आधार बनाकर उपाध्यायजी ने गुणरचना रूप कार्य का प्रकाशन किया।

उपाध्यायजी का कर्म-विषयक निरूपण भी निराला मिलता है। उन्होंने जैन धर्म-सिद्धान्त के मूल ग्रंथ कम्मपयडी पर लघुटीका एवं कम्मपयडी बृहद्टीका रची है। अन्य ग्रंथों में भी उन्होंने कई सिद्धान्तों का विविध रूप से विशेष परिचय देकर धर्म-सिद्धान्त प्राशता को अस्खलित रखा है।

कर्म सिद्धान्त जैन परम्परा का मूलाधार है, उसकी मौलिकता सम्पूर्ण जैन आम्नाय ने मान्य की है। कर्मवाद सदा से समस्त दार्शनिकों का विचार मंच बना है। परन्तु उपाध्यायजी एक निष्ठावान बनकर अपनी पारंपरिक कर्म-धारणाओं को शास्त्रीय सिद्धान्तों से समलंकृत करते हुए कर्म बीजों की विविधता से व्याख्यान देते रहे हैं। ऐसे महान व्याख्याकार, विवेचनकार, कर्म प्रकृतियों के पुरातन प्राश बनकर हमारे सामने आज भी विद्यमान हैं। उनका कर्म विषयक वैदुष्य विशेष संस्मरणीय हमारे सिद्धान्त पक्ष को सबल बनाने में सहायक रहा है।

जैसे ही आचार्य हरिभद्रसूरि के विंशतिविंशिका ग्रन्थ पर योगविंशिकावृत्ति लिखकर एवं आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय आदि की रचना करके योग के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व योगदान दिया।

षोडशक प्रकरण में धर्म की शुरुआत से लेकर मोक्षप्राप्ति का मार्ग बताया गया है। हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित इस ग्रंथ पर उपाध्याय यशोविजय ने योगदीपिका नाम की टीका रची। यह सुन्दर टीका मूल ग्रन्थ के रहस्यों को उजागर कर ग्रन्थ के रहस्य को स्पष्ट करती है। यह 16-16 आर्य श्लोकों में रचित है। इसमें 16 अधिकार हैं।

अलंकार चूडामणि, उत्पादादिसिद्धीप्रकरण, कम्मपायडी, काव्यप्रकाश, तत्त्वार्थसूत्र, वीतरागस्तोत्र, शास्त्रवार्ता समुच्चय एवं षोडशक प्रकरण आदि ग्रन्थों पर पूर्वाचार्य रचित टीका होने के बाद भी उपाध्याय ने अपनी नव्यन्याय शैली के माध्यम से नई टीका रची। यह उनकी एक विशेषता है।

नव्यन्याय की शैली से न्याय विषयक ग्रन्थ निरूपण में उन्होंने सुन्दर नेतृत्व निभाया है, जैसे—नय रहस्य। न्यायालोक, नयोपदेश, नयप्रदीप, जैन धर्म परिभाषा, वादमाला आदि ग्रन्थों की रचना करके न्याय के विषय में चार चांद लगाये।

उपाध्यायजी जितने दार्शनिक थे, उतने ही परमात्मा परायण के प्रतीक थे। उन्होंने अपनी आत्मवाणी को परमात्मा स्तुति में पावन बनायी थी। इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत सारी रचनाएं की हैं।

कई स्तवनों में उत्कट प्रीति के उदाहरण दिये हैं। कई स्तवन में देवाधिदेव तीर्थकर की अन्य देवों के साथ तुलना की है।

उपाध्यायजी ने सामान्यजन स्तवन में भी भिन्न-भिन्न पद के माध्यम से भिन्न-भिन्न भाव प्रकट किए हैं, जैसे पद 9 में प्रभु के प्रति तीव्र राग, पद 12 में प्रभु का प्रवचन, पद 19 में प्रभु का शरण, पद 54 में प्रभु दर्शन के आनन्द, पद 55 प्रभु के साथ तन्मयता, पद 60 में प्रभु के गुण का ध्यान, पद 61 में परमात्मा के स्वरूप एवं पद 70 के माध्यम से प्रभु के पास याचना के भाव दर्शाए हैं।

पंचज्ञान निरूपक उपाध्यायजी ने दो ग्रंथ संक्षिप्त में रचे हैं, जैसे—ज्ञानबिन्दु, ज्ञानार्णव।

दार्शनिक साहित्य के साथ-साथ उपाध्याय ने तत्त्वबोधदायक ग्रन्थों की भी रचना की, जैसे—अध्यात्ममत परीक्षा का टबो, आनन्दघन अष्टपदी, उपदेश माला, जंबुस्वामीरास, जसविलास, द्रव्यगुणपर्यायरास, जेसलमेरपत्र, ज्ञानसार टबा, तत्त्वार्थसूत्र का टबा, दिकूपद चौरासी पोल, पंचपरमेष्ठी गीता, बहमगीता, लोकनालि, विचार-बिन्दु, विचार बिन्दु का टबा, शठ प्रकरण का बालावबोध, श्रीपालरास का उत्तरार्धभाग आदि की रचना करके तत्त्वबोधदायक बोध दिया है।

षडावश्यक का विषय श्रमण आम्नाय के द्वारा सम्मानित रहा है। उसे भी उपाध्यायजी ने एक स्तवन के माध्यम से लेखनी को संतुलित बनाया है, जैसे—छः आवश्यक स्तवन। समाचारी प्रकरण लिखकर आचार कल्प का सुरस विवेचन किया।

अध्यात्म संबंधी ग्रंथों की रचना करके अध्यात्म योगी के नाम की सार्थकता सिद्ध की है, जैसे—ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् आदि।

नयगर्भित शांतिजिन स्तवन एवं व्यवहार एवं निश्चय नय गर्भित सीमंधर स्वामी स्तवन की रचना करके नयवाद को मार्मिक दृष्टि से स्पष्ट किया।

18 पापस्थानक, सुदेव, कुदेव, उपशमश्रेणी, पंचमहाव्रत, अंग, उपांग, आत्मप्रबोध, ज्ञान एवं क्रिया की, प्रतिकर्मण गर्भ हेतु, प्रतिमास्थापक, संयमश्रेणि की, यतिधर्म बत्तीसी, समकित के 67 बोल की हितशिक्षा आदि सज्जायों की भी रचना करके शेष सभी विषयों के अन्तर्गत कर लिया, यह उनकी महानता है। उन्होंने कोई भी विषय अधूरा नहीं रखा। जिस विषय के बारे में देखें तो कोई प्रकार से उनका साहित्य उपलब्ध होता नजर आयेगा।

इस प्रकार उपाध्याय का विशाल वाङ्मय पर पूर्ण अधिकार था। उनको आगम से प्राप्त कोई भी विषय अछूता नहीं था। वे उसमें आकण्ठ डूब गये थे तथा चारों ओर से निरीक्षण करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतम पदार्थों को विवेचित करने का पूर्ण प्रयत्न किया। फलतः आज हम भी यह समझते हैं कि उपाध्याय यशोविजय ने सम्पूर्ण वाङ्मय विषय से अज्ञानजगत् को जागृत कर दिया है।

साहित्य की विशेषता

भारतवर्ष संतों व महात्माओं की भूमि है, ऐसा कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है। राम, कृष्ण, महावीर एवं बुद्ध जैसे पैगम्बरों से लेकर उनकी परम्परा को चलाने वाली महान् विभूतियां समय-समय पर एवं युगों-युगों में इस देश में प्रकट हुईं। भारतवर्ष का यह सौभाग्य है कि अनेक महान् विभूतियों ने अपना त्याग, तप, वैराग्य, ज्ञान, ध्यान, योग, अध्यात्म, ओजस एवं समर्पण से जननी जन्मभूमि की शोभा बढ़ायी है।

आर्य धर्म की तीन महान् शाखाएं हैं—जैन, वैदिक एवं बौद्ध। उनमें से बौद्ध धर्म ने विदेश में और वैदिक एवं जैन धर्म ने देश में अपना यशस्वी योगदान दिया है और दे रहे हैं।

जैन धर्म ने संस्कार एवं धर्मग्रंथों की जो भेंट भारतवर्ष को दी है, उसमें 1444 ग्रंथों के रचयिता श्री हरिभद्रसूरि एवं ज्ञान विशाल के तमाम क्षेत्रों में विरचने वाले कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के नाम आज जैन धर्म एवं जैनेतर जनता में सब जानते हैं। उनके जैसी ही एक महान् विभूति ने आज से ढाई सौ वर्ष पूर्व अपने ज्ञान-सौरभ से भारत को एवं अधिकतर गुजरात को सदी तक सुवासित किया था। अपने उच्च चारित्र से, दिव्य साधुता से, प्रखर पाण्डित्य से, अद्वितीय बुद्धि-प्रतिभा से, अभिनव काव्य शक्ति से, सुदर्शन के तलस्पर्शीय ज्ञान से, नव्यन्याय की प्रखर मीमांसा से एवं धर्म-उत्थान से, भगीरथ प्रयत्नों से विशद यश प्राप्त करने वाले उस युगपुरुष का नाम था उपाध्याय यशोविजय।

यशोविजय आगमिक, तार्किक, नैयायिक एवं दार्शनिक के साथ-साथ एक सफल गुर्जर भाषा के कवि भी थे। उनके काव्य नरसिंह एवं मीरां की तरह भक्ति से भरपूर हैं। उनकी पद-साहित्य के स्तवनों, भजनों की लोकप्रियता अधिक है—

आश्रमभजनावलि में संग्रहित महात्मा गांधी का प्रिय भजन था—

चेतन अब मोहि दर्शन दीजे, तुम दर्शन शिवसुरव पामीजे।

तुम दर्शन भव छीजे चेतन अब मोहि दर्शन दीजे।।⁹¹

ऐसे ही स्तवन यशोविजय का है, जो निम्न है—प्रभु के मुख्य दर्शन होते ही उनके भक्त हृदय में से कितनी सुन्दर एवं भव्य कल्पना प्रकट होती है—

अखण्डी अंवुज पाखण्डी, अष्टमी शशी सम भाल लाल रे।

वंदन ने शरद चांबलो, वाणी अतिहि रसाल लाल रे।।⁹²

प्रभु भक्ति में इसका जिन्होंने स्वाद चखा है, उनके लिए दूसरा रस निरर्थक है, जैसे—

अजित जिणदशु प्रीतडी, मुज न गमे हो बीजनो संग के,

मालती फूले मोहियो, किम वैसे हो बावलतरु भृंग के अजित।।

गंगाजल मां जे-रम्या, किम छिल्लर हो रति पामे माराल के।

सरोवल जल जलधर बिना, नवि चाहे हो जग चातक बाल के।।.....अजित।।

कोकिल कल कुंजित करे, पामी मंजरी हो पंजरी सहकार के।

आंधा तरुवर नवि गमे, गिरुआशुं हो होय गुणनो प्यार के.....अजित।।⁹³

हुओ छीपे नहि अघर अरुण जिम, खाता पान सुरंग।

पीवत भरभर प्रभुगुण प्याला, तिम मुज प्रेम अभंग।।

उपाध्याय की कितनी ही कृतियां गुर्जर साहित्य में अमर हो जाए ऐसी हैं।

नवकार के प्रथम पद में अरिहंत पद के व्यवहार एवं द्वितीय सिद्ध पद में निश्चय है। अरिहंत परमात्मा के बिना सिद्ध की पहचान कौन करा सकता है। इस बात को ध्यान में रखकर उपाध्याय महाराज ने स्तवन में लिखा है—

निश्चय दृष्टि हृदय धरीजी, पाले जे व्यवहार।

पुज्यवंत ते पामशेजी, भवसमुद्र नो पार।।⁹⁴

यह महान् ज्योतिर्धर जन्म से अद्भुत क्षयोपशम लेकर ही प्रगट हुए थे। वे षड्दर्शनवेत्ता, सैकड़ों ग्रंथों के रचयिता, न्यायव्याकरण छंद, साहित्य, अलंकार, काव्य, तर्क, सिद्धान्त, आगम, नय प्रमाण, सप्तभंगी, अध्यात्म, योग, स्याद्वाद आचार, तत्त्वज्ञान, उपमितिभव प्रपंच कथा जो 16000 श्लोक प्रमाण संस्कृत ग्रंथ है, उनमें से उनका सार खींचकर गुर्जर भाषा में श्री विमलनाथ भगवान के स्तवन में लिखा है—

तत्त्व प्रीतकर पाणी पाए, विमला लोके आंजीजी।

लोयण गुरु परमान्न दीये तब, भ्रम नारंवे सवि भांजीजी।।⁹⁵

धर्मबोधक पाकशास्त्री गुरु से प्राप्त किया हुआ सम्यक्दर्शन रूप तत्त्व प्रीतिकर पाणी, सद्दर्शन दृष्टिरूप, निर्मल अंजन एवं सच्चारित्ररूप परमान्न (क्षीर) का स्वरूप लोकभाषा में एकत्रित किया है। सुमतिनाथ भगवान के स्तवन में दिखाया है—

मूल उर्ध्व तरुअर अध शाखा रे, छंद पारखे एवी छे भाषा रे।

अचरिजवाले अचरिज कीधु रे, भक्ते सेवक कारज सीधु रे।।⁹⁶

यही बात भगवद् गीता में दिये हुए श्लोक के साथ कितनी समान मिलती है, वो देखें—

उर्ध्वमूलघः शाखं, अश्चर्यं प्रादुरव्ययं।

छन्दांसि यस्य पत्राणि, थस्तं वेद सवेदवित।।⁹⁷

इस श्लोक के रहस्य को आश्चर्य से हटाकर प्रभुभक्ति के लिए लोकभाषा में समन्वित किया है। 150 एवं 350 गाथा के स्तवनों में निश्चय एवं व्यवहार के बहुत ही उपदेश हैं। उनमें अपूर्व युक्ति के साथ मूर्तिपूजा सिद्ध की है और कहा है—

मुज होजो चित्त शुभ भावथी, भय भव ताहरी सेव रे,

याचीजे कोडी यत्ने करी, एह तुज सागले दे रे।

तुज वचनराज सुख आगले, नाथ गवु सुरनर शर्म रे,

कोडी जो कपट कोई दाखवे, नवि तजु तोये तुज धर्म रे।।⁹⁸

यही है उनका अद्भुत शासनराग एवं अलौकिक प्रभुभक्ति। पूज्य उपाध्यायजी महाराज की रहस्यमयी लेखनी का एक सुन्दर उदाहरण दिया है। नेमिनाथ प्रभु के स्तवन में राजीमति की प्रभु के पास शिकायत का वर्णन किया है। उसमें तीसरी कड़ी में कहा है—

उतारी हुं चितथी रे हां, मुक्ति धुतारी हेतु, मेरे वालभा।

सिद्ध अनंते भोगवी रे हां, ते शुं कयण संकेत, मेरे बालमा, तोरण थी.....।।⁹⁹

अर्थात् यह कहा है कि हे स्वामी! आप नव भव के स्नेही को भूलकर एक कलंकरूप कुरंग के निमित्त को पाकर मुझको छोड़ते हो। उनका कारण मैं समझती हूँ कि आप धुतारी ऐसी मुक्ति स्त्री के प्यार के कारण ही मुझे चित्त में से निकाली है। किन्तु हे स्वामी! आपको पता नहीं है कि वो तो गणिका है। इनके भोक्ता अनन्त स्वामी हैं। ऐसी ही गणिका आपको फंसा रही है। उनके साथ आपने क्या संकेत किया है। आगे इसी स्तवन की चतुर्थ कड़ी में राजुल ही कह रही है कि—

प्रीत करता सोहली रे हा, निरवहतां जंजाल मेरे वालम।।¹⁰⁰

उनका अर्थ है कि मेरे भव की प्रीत को आपने पहचाना ही नहीं, यह कितना अमंगल है। जगत् में प्रीत करना सरल है किन्तु निभाना कठिन है, आपने मेरे पर नव भव तक प्रीत तो किन्तु वो

मुक्ति स्त्री मिलते ही उनके प्यार के कारण आकर्षित होकर आप मेरी प्रीत को निभा न पाये। इसमें यह सही है कि प्रीत करना आसान है, निभाना दुष्कर—इस पंक्ति से यह अर्थ निकलता है। किन्तु इनका रहस्य कुछ अलग ही है—राजीमती को उनकी सखियों ने जब दूसरा वर चुनने को कहा तब उन्होंने उन सखियों को धुत्कारा था, यही स्थिति राजीमति का नेमनाथ स्वामी के प्रति अनहद प्रेम की निशानी है। ऐसा प्यार करने वाले आर्य देश की नारी जीवन में एक पति करने के बाद कभी दूसरे पति की बात भी सुन नहीं सकती है। जैसे गर्भिणी अवस्था में सीताजी को राम ने जंगल में छोड़ दिया था, सीता का जंगल में त्याग किया था तब सीताजी ने राम को कहा था कि मुझे छोड़ दिया, उसका मुझे कोई दुःख नहीं है क्योंकि मेरे से भी अच्छी पत्नी आपको मिल जायेगी, इससे मेरे बिना भी आपका मोक्ष अटकने वाला नहीं है, ऐसे ही लोकवचन से आपने मेरा त्याग किया, यहां तक तो ठीक है, पर जैन धर्म को मत छोड़ना, क्योंकि जैन धर्म को छोड़ने के बाद इससे अच्छा क्या, पर ऐसा ही धर्म वापस नहीं मिलेगा तो जैनधर्म के बिना अपना मोक्ष अटक सकता है।¹⁰¹

वैसे ही यहां पर राजीमति ने देखा कि नेमिनाथ स्वामी मेरे पर नव नव भव के स्नेह को छोड़कर मुक्ति के प्रति निश्चित राग वाले या मोहित बने हैं तो मुझे उनको सावधान कर देना चाहिए। मुक्ति का राम अर्थात् मोक्षरूचि वो सामान्य चीज नहीं है। यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या नेमिनाथ भगवान नहीं समझते होंगे? किन्तु वफादरन एवं प्रेमी स्नेहियों का दिल ऐसा ही होता है तब उनको जाण है तो भी सावधान करने के लिए कहना पड़ता है। इसी आशय से राजीमति ने कहा कि हे स्वामी! आपने अनन्त सिद्ध ऐसे पति कंधे रखने वाली मुक्ति के साथ प्यार किया तो भले किया किन्तु इस बात का भी ध्यान रखना कि मुक्ति की प्रीत करना सरल है किन्तु निभाना दुष्कर है। मेरे पर तो फिर भी प्रीत करना सरल है, निभाना सरल है। हमारे साथ प्रीति करके अगर आपसे गलती हो जाए, आप अधीर हो जाएं, विश्वास भंग हो जाये तो भी हम आपको छोड़ने वाले नहीं हैं पर वो मुक्ति तो ऐसी है कि अगर आप कोई भव में, अभिवंदन में, आनन्द में, आसक्त हो गये तो वो आपको छोड़ देगी। अगर आप नाराज हो जायेंगे तो वो भी नाराज हो जायेगी। मुक्ति की प्रीति को अखण्ड रखना ही तो भवनिर्वेद विषय, विराग एवं धर्म संवेग को जागृत रखना पड़ेगा। इसलिए महर्षियों ने भी प्रार्थनासूत्र जयवीरराय में कहा है—भवनिव्वओ।¹⁰² की इच्छा करते हैं। आगे राजीमति कह रही हैं कि जैसे झेरी सर्प के साथ खेलना, अग्नि के साथ खेलना, रमता नहीं है, वैसे ही मुक्ति का राग टिकाना मुश्किल है। इनके लिए तो जीवन भर सुख से भरे संसार को दूर रखना पड़ता है। इतना कहने के बाद भी जब राजीमति ने देखा कि नेमिनाथ वापस नहीं लौट रहे हैं, उनका मुक्ति के प्रीति तीव्र राग एवं मुक्ति के पास जाने की तैयारी को देखती है तो अंत में राजीमति अपना विचार जाहिर करती है कि आपने भले ही विवाह के अवसर पर मेरे हाथ पर आपका हाथ न रखा पर जब मैं दीक्षा लूंगी तब मेरे शिर पर हे नाथ! आपका हाथ रखाऊंगी।

कितने गूढ़ रहस्य से भरी यह बात है। ऐसी कई बातें उपाध्यायजी ने अपने गुर्जर साहित्य में भी विवेचित की है।

इस महान् विभूति को भर्तृहरि के शब्दों में कह सकते हैं कि अलंकरणं भुवं पृथ्वी के अलंकाररूप है एवं कवि भवभूमि के शब्दों में “जयति तेऽधिकं जन्मना जगत्” हे महात्मन आपके जन्म से यह जगत् जयवन्त है। इतना कहकर उपसंहार के रूप में उनका स्वरचित ज्ञानसार ग्रंथ का अन्तिम अष्टक में सर्व

नयों के आश्रित श्लोक एवं आत्मजागृति के लिए रचित उनकी ही 'अमृतवेल' की सज्जाय को वानगीरूप में एक ही है—

अमूठ लक्ष्या सर्वत्र पक्षपात विवर्जिताः श्रयन्ति परमानन्दमायाः सर्वनयाश्रया ॥¹⁰⁸

निश्चय नय एवं व्यवहार नय में ज्ञानपक्ष एवं क्रिया पक्ष में एकपक्षगत भ्रांति का त्याग कर नय का आश्रय करने वाले परमानन्द से भरपूर महात्मा जयवंत वर्त हैं। आत्मजागृति के लिए रचित अमृतवेल की सज्जाय का एक पद दर्शाकर जनमानस को जागृत करने की सूचना दे रहे हैं—

चेतन ज्ञान अजुवालीये, टालीये मोह संताप रे।

चित्त डमडोलतु वालीये, पालीये सहज गुण आप रे ॥¹⁰⁹

उपाध्याय यशोविजय का कर्तृत्व (साहित्य साधना)

उपाध्याय यशोविजय ने नव्यन्याय, व्याकरण साहित्य, अलंकार, छंद, काव्य, तर्क, आगम, नय, प्रमाण, योग, अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, आचार, उपदेश, कथाभक्ति तथा सिद्धान्त इत्यादि अनेक विषयों पर संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा में तथा ब्रज और राजस्थानी की मिश्रभाषा में विपुल साहित्य का सर्जन किया है। इनकी कृतियों में, सामान्य मनुष्य भी समझ सके, इतनी सरल कृतियां भी हैं और प्रखर विद्वान् भी सरलता से नहीं समझ सके, ऐसी रहस्यवाली कठिन कृतियां भी हैं।

यशोविजय के सृजन और पाण्डित्य की गहराई तथा विशालता के विषय में प्रसिद्ध जैन चिन्तक पण्डित सुखलाल का कथन है कि शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ खण्डनात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। जब वे खण्डन करते हैं तब पूरी गहराई तक पहुंचते हैं। उनका विषय प्रतिपादन सूक्ष्म और विशद् है। ये जब योगशास्त्र या गीता आदि के सूक्ष्म तत्त्वों का जैन मन्तव्य के साथ समन्वय करते हैं, तब उनके गम्भीर चिन्तन का और आध्यात्मिक भाव का पता चलता है। उनकी अनेक कृतियां किसी अन्य ग्रंथ की व्याख्या न होकर मूल टीका या दोनों रूप से स्वतंत्र ही है, जबकि अनेक कृतियां प्रसिद्ध पूर्वाचार्यों के ग्रंथों की व्याख्या रूप है।

यशोविजय की साहित्यिक कृतियों का सामान्य परिचय

यशोविजय द्वारा रचित सम्पूर्ण साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, फिर भी जितना उपलब्ध है, उससे उनकी बहुमुखी प्रतिभा, तलस्पर्शी ज्ञान और गहन मौलिक चिंतन का दिग्दर्शन होता है।

यशोविजय की रचनाओं को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है—

1. सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियां,
2. अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियां,
3. दार्शनिक कृतियों का विवेचन।

सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियों को भी चार विभागों में बांटा जा सकता है—

1. सम्प्रति उपलब्ध स्वतंत्र ग्रंथ रचना,
2. सम्प्रति उपलब्ध स्वोपज्ञ टीकायुक्त ग्रन्थकलाप,
3. अन्यकर्तृक ग्रंथों की टीका स्वरूप सम्प्रति उपलब्ध ग्रंथराशि,
4. गुर्जर भाषा में रचनाएँ।

सम्प्रति उपलब्ध स्वतंत्र ग्रंथ रचना

ज्ञानसार	न्यायलोक	परमात्म पंचविंशिका	
अध्यात्मसार	वादमाला	प्रतिमास्थापन न्याय	
पंचनिग्रंथी प्रकरण	अध्यात्मोपनिषद्	अनेकान्त व्यवस्था	प्रमेयमाला
फलाफल	देवधर्म परीक्षा	अस्पृशद गतिवाद	मार्ग परिशुद्धि
विषयक प्रश्नोत्तर	जैन तर्क परिभाषा	आत्मख्याति	प्रतिदिनचर्या
श्री गोडीपार्श्व स्तोत्र	यतिलक्षण समुच्चय	आर्षभीय चरित्र	विजयप्रभसूरि स्वाध्याय
शंखेश्वर पार्श्व स्तोत्र	नय रहस्य	तिडन्वयोक्ति	विषयतावाद
समीका पार्श्व स्तोत्र	नय प्रदीप	सप्तभंगी नयप्रदीप	सिद्धसहस्र नामकोश
वैराग्यकल्पलता	ज्ञान बिन्दु	निशामुक्ति प्रकरण	स्यादवाद रहस्य पत्र
न्यायखण्डनखंडखाद्य	परमज्योति पंचविंशिका	स्तोत्रावली	
आदिजिन स्तवन	तत्त्वविवेक	मुक्ताशुक्ति	

सम्प्रति उपलब्ध स्वोपज्ञ टीकायुक्त ग्रन्थकलाप

आध्यात्मिक मत परीक्षा	अध्यात्म मत परीक्षा	ज्ञानार्णव
गुरुतत्त्व विनिश्चय	आराधक विराधक चतुभंगी	धर्मपरीक्षा
द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिका	उपदेश रहस्य	महावीर स्तव
नयोपदेश	एन्द्र स्तुति चतुर्विंशतिका	भाषा रहस्य
प्रतिमाशक्तक	कूपदृष्टान्त विशदिकरण	सामाचारी प्रकरण

अन्यकर्तृक ग्रंथों की टीका स्वरूप सम्प्रति उपलब्ध ग्रंथराशि

षोडशकवृत्ति-योगदीपिका
योगविंशिका वृत्ति
स्याद्वाद कल्पलता-शास्त्रवार्ता समुच्चयवृत्ति
उत्पादादि सिद्धि
कम्मपयडिबृहद टीका
कम्मपर्याड लघु टीका
तत्त्वार्थ सूत्र
स्तवपरिज्ञा अवचूरि
अष्टसहस्री टीका
पतंजल योगसूत्र टीका
स्याद्वाद रहस्य

काव्यप्रकाश टीका
न्यायसिद्धान्त मंजरी
धर्मसंग्रह टिप्पण
द्वादशार नयचक्रोद्धार विवरण

गुर्जर भाषा में रचनाएँ—गुर्जर साहित्य की रचना के विषय में दंतकथा

उपाध्याय यशोविजय ने संस्कृत और प्राकृत की अनेक विविध योग्य कृतियों की रचना की। इसी के साथ उन्होंने गुजराती भाषा में भी अनेक कृतियों की रचना की। अनेक लोकभोग्य स्तवन सज्जाय, रास, पूजा, टबा, इत्यादि अनेक उनकी कृतियाँ हैं। इस विषय में यह दंतकथा प्रचलित है कि यशोविजय काशी से अभ्यास पूरा करके अपने गुरु के साथ विहार करते हुए एक गांव में आए। वहां शाम को प्रतिक्रमण में किसी श्रावक ने नयविजय से विनती की कि आज यशोविजय सज्जाय बोलें। तब यशोविजय ने कहा कि उन्हें कोई सज्जाय कण्ठस्थ नहीं है। यह सुनकर एक श्रावक ने आवेश में उपालम्भ देते हुए कहा कि तीन वर्ष काशी में रहकर क्या घास काटा, तब यशोविजय मौन रहे। उन्होंने विचार किया कि संस्कृत और प्राकृत भाषा सभी लोग तो समझते नहीं हैं, इसलिए लोकभाषा गुजराती में भी रचना करना चाहिए, जिससे अधिक लोग बोध प्राप्त कर सकें। यह निश्चय करके तुरन्त ही उन्होंने समकित के 67 बोल की सज्जाय की रचना की और उसे कण्ठस्थ भी कर ली। दूसरे दिन प्रतिक्रमण में सज्जाय बोलने का आदेश लिया और सज्जाय बोलना शुरू की। सज्जाय बहुत ही लम्बी थी, इसलिए श्रावक अधीर होकर पूछने लगे—अभी और कितनी बाकी है तब यशोविजय ने कहा भाई तीन वर्ष तक घास काटा। आज पूले बांध रहा हूँ। इतने पूले बांधने में समय तो लगेगा ही। श्रावक बात को समझ गए और उन्होंने यशोविजय को जो उपालम्भ दिया था, उसके लिए माफी मांगने लगे।

यशोविजय की तीक्ष्ण बुद्धि और तेजस्विता का वहां के श्रावकों को भी परिचय हुआ।

गुर्जर भाषा में रचनाएँ

रास कृतियाँ

जम्बूस्वामी का रास
द्रव्यगुण पर्याय का रास
श्रीपाल रास का उत्तरार्द्ध

गुजराती भाषा की महान् कृतियाँ

अध्यात्म परीक्षा का टबा
आनन्दघन अष्टपदी
तत्त्वार्थसूत्र का टबा
दिकूपट चौरासी बोल
लोकनालि बालाव बोध
शठ प्रकरण का बालाव बोध

जैसलमेर पत्र
ज्ञानसार का टबा
उपदेश माला
पंच परमेष्ठी गीता
जस विलास
ब्रह्म गीता
विचार बिन्दु
विचार बिन्दु का टबा
सम्यक् सार पत्र
समाधि शतक
सम्यक्त्व चौपाई
द्रव्य, गुण, पर्याय का टबा

स्तवन

125 गाथा का स्तवन
150 गाथा का स्तवन
350 गाथा का स्तवन
मौन एकादशी स्तवन
तीन चौबीसी
विहरमान बीस जिनेश्वर की स्तवन
आवश्यक स्तवन
कुमति खंडण स्तवन
नवपद पूजा
निश्चय व्यवहार गर्भित श्री सीमंधर स्वामी स्तवन
दशमत्त का स्तवन

सज्जाय

सम्यक्त्व के 67 बोल की सज्जाय
18 पापस्थानक की सज्जाय
प्रतिक्रमण हेतु गर्भित सज्जाय
ग्यारहवें अंग की सज्जाय
आठ योगदृष्टि की सज्जाय
चार आहार की सज्जाय

संयम श्रेणी सञ्ज्ञाय
 गुणस्थानक सञ्ज्ञाय
 पांच महाव्रतों के भावना नी सञ्ज्ञाय
 हितशिक्षा नी सञ्ज्ञाय
 अमृतवेल की सञ्ज्ञाय
 ग्यारह उपांग की सञ्ज्ञाय
 आत्म प्रबोध की सञ्ज्ञाय
 उपशम श्रेणी की सञ्ज्ञाय
 चड़ता-पड़ता की सञ्ज्ञाय
 प्रतिमा स्थापन की सञ्ज्ञाय
 स्थापना कल्प की सञ्ज्ञाय
 पांच कुगुरु की सञ्ज्ञाय
 सुगुरु की सञ्ज्ञाय
 हरियाली की सञ्ज्ञाय

गुजराती भाषा में गद्य और पद्य में लिखी अन्य कृतियाँ

समुद्र वाहन संवाद
 समताशतक

अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ

असीम प्रतिभाशाली समन्वयवादी, न्यायाचार्य के पुरोधा उपाध्याय यशोविजय ने भव्य जीवों के ज्ञान विकास के लिए विपुल संख्या में तर्क, आचार, योग, ध्यान, न्याय, प्रमाण आदि विषयों के अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। उनके द्वारा रचे ग्रंथकलाप का अधिकांश आज अनुपलब्ध ही है। जो कृतियाँ आज उपलब्ध हो रही हैं और जिनके अनुपलब्ध होने पर संकेत प्राप्त हो रहे हैं, वे निम्नांकित हैं—

अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ

अध्यात्म बिन्दु	त्रिसूत्र्यालोक विधि	वेदान्त निर्णय
अध्यात्मोपदेश	द्रव्यालोक	वेदान्त निर्णय सर्वस्व
अलंकार चूडामणि टीका	प्रमा रहस्य	वैराग्य रति
आकर ग्रंथ	मंगलवाद	शठ प्रकरण
काव्य प्रकाश टीका	वाद रहस्य	सिद्धान्त मंजरी टीका
छंद चूडामणि टीका	विचार बिन्दु	स्याद्वाद मंजूषा
ज्ञानसार चूर्ण	विधिवाद	स्याद्वाद रहस्य
तत्त्वलोक विवरण	वीरस्तव टीका	

दार्शनिक कृतियों का विवेचन

जैन तर्क परिभाषा

इस ग्रंथ की रचना यशोविजय ने 800 श्लोक परिमाण में नव्य न्याय की शैली में की है। इसमें स्याद्वाद दर्शन के पाया समान—1. प्रमाण, 2. नय, 3. निक्षेप नाम के तीन परिच्छेद हैं, जिससे विषयों का युक्तिसंगत निरूपण किया गया है। तर्कशास्त्र रूपी महल में चढ़ने के लिए यह ग्रंथ सीढ़ी समान है। जैसे पंडित मोक्षकार की तर्कभाषा को देखकर वैदिक पंडित केशवमिश्र स्वमतानुसारी तर्कभाषा की रचना की थी। उक्त दोनों तर्कभाषा का निरसन करते हुए वाचकवर्य ने इस ग्रंथ की रचना की हो, ऐसा लगता है।

उपाध्याय यशोविजय ने अनेक ग्रंथों की रचना की है, जिसमें जैन तर्क परिभाषा उनकी एक अनूठी दार्शनिक कृति है। अनेक जैनाचार्यों के मुख से यह उद्गार सहज ही निकल जाते हैं कि अहो खेद की बात है कि आज सर्वज्ञ प्रणीत एवं गणधरों से गुम्फित द्वादशांगी का बारहवां अंग अनुपलब्ध है। यदि आज वह अगाध ज्ञान का सागर दृष्टिवाद उपलब्ध हो जाता तो प्रज्ञावानों को स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि जो परमार्थ पदार्थों का यथार्थ स्वरूप यहां दर्शित है, वही अंशतः इतर सम्प्रदायों में है। जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र मिलना अशक्य है, क्योंकि मूलमार्ग के प्रणेता तीर्थंकर ही हैं। अन्य विद्वानों ने तो जैन शास्त्रों में प्रतिपाद्य तत्त्वों को अंशतः ग्रहण करके उन्हें एकान्तवाद का परिधान देकर अन्यान्य अनेक मतवादों को जन्म दिया है।

जैन दर्शन में संसार प्रवाह रूप से अनादि अनन्त है। संसार अनादि होने से आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध भी अनादि है। उसका कर्ता कोई नहीं है। जीवन अनादिकाल से अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों की प्राप्ति करता है तथा यथासमय भवितव्यता के परिपक्व होने पर आत्म-कल्याण के पथ पर आरूढ़ होने की चेष्टाएं करता है।

ईश्वर के सम्बन्ध में जैनदर्शनकारों की धारणाएँ हैं कि ईश्वर कोई नित्य नैसर्गिक वस्तु नहीं है परन्तु जीव में उत्कृष्ट स्थिति का जैसे-जैसे हास होता जाता है, वैसे-वैसे उससे ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रयी की आराधना करने का प्रबल पुरुषार्थ जागृत होता है और जिससे वह घाति कर्मों का क्षय करके एवं करुणा भावना से अत्यन्त ओतप्रोत होने के कारण अन्तिम भव के तृतीय भव में उत्थित प्राणीमात्र के उद्धार सवि जीव करु शासनरसी की प्रबल भावना के प्राबल्य से उपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का विपाक प्रादुर्भूत होता है, वे ही केवलज्ञान और जीवमुक्ति प्राप्त होने पर अर्हत तीर्थंकर परमेश्वर की महामहिम संज्ञा से विभूषित होते हैं और वे ही चतुर्विध धर्म शासन की स्थापना करते हैं, जिसमें आत्माओं को देशविरति सर्वविरति युक्त जीवादितत्व मोक्षमार्ग, सप्तभंगी, स्याद्वाद, सिद्धान्त, नय और प्रमाणों से युक्त देशना देकर मानव मात्र के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

आगम के विषय में जैनमत की यह मान्यता है कि तीर्थंकर परमात्मा को जब घातिकर्मों के क्षय से लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान होता है तत्पश्चात् देवताओं से विरचित समवसरण में विराजित होकर देशना देते हैं। उनके मुखारविंद से निगदित उप्पनेइवा, विगमेइवा, धुव्वेइवा इस त्रिपदी को सुनकर अपूर्व क्षयोपशमय से गणधर द्वादशांगी ही सत्य है और एकमात्र वही मानव उत्थान का सही उपाय है। जिन शास्त्रों में वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से न अपनाकर निरपेक्ष दृष्टि से स्वीकारा गया है वह सतशास्त्र

नहीं कहा जा सकता, एकान्तवादी दर्शन अपूर्ण है। अतः अनेकान्त मार्ग पर आस्था के साथ अग्रसर होना चाहिए।

उपाध्याय यशोविजय ने इन सभी विषयों के प्रतिपादनार्थ जिस विशाल साहित्य की रचना की, वह है जैन तर्क परिभाषा जो एक अनमोल शास्त्र रत्न है। उपाध्याय ने इस ग्रंथ में पदार्थ का निर्णय करने के लिए उपयोगी तीन तत्त्व—प्रमाण, नय एवं निक्षेप का विस्तार से विवरण किया है। इस ग्रंथ में न केवल जैनशासन के विषयों का विवेचन ही है अपितु जैनेतर समुदायों और शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों का संकलन तथा यथासम्भव तर्क द्वारा उनका प्रतिपादन और उनके सभी पक्षों को विस्तार के साथ समर्थन देकर अत्यन्त निष्पक्ष भाव से उनकी समीक्षा की गई है।

उन शास्त्रों के सिद्धान्तों में जो भी त्रुटियां प्रतीत हुईं उनको समर्थ तर्कों द्वारा निरस्त करके उसकी कमी स्पष्ट रूप से प्रस्तुत की है। उन्होंने समदर्शित्व रूप से जो जहां युक्तियुक्त लगा, उसकी परीक्षा कर परिमार्जना करके अनेकान्त का विजयध्वज फहराने का पूर्ण एवं सफल प्रयास किया।

इस ग्रंथ रचना का मुख्य उद्देश्य जगत् के प्रत्येक जीव यथार्थ तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त करे तथा राग-द्वेष की विभिन्न परिणतियों से मुक्त बनकर मतानुयायियों में परस्पर द्वेष का उपशम और सत्य ज्ञान को प्राप्त करे।

उपाध्याय ने इन विषयों को लेकर स्थान-स्थान पर दार्शनिक दृष्टि से अपनी प्रतिभा के प्रकर्ष को प्रदर्शित किया है, जो इस प्रकार है—

उपाध्याय ने इस ग्रंथ में विशेषावश्यक भाष्य (वृहद्वृत्ति) एवं स्याद्वाद रत्नाकर—इन दो विराट्काय महाग्रंथों के आधार पर ही प्ररूपणा की है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के अधिकार में दिया गया ज्ञानपंचक का प्रतिपादन और निक्षेपपरिच्छेद में किया गया निक्षेप का निरूपण महदंशो भाष्य के आधार पर ही है एवं परोक्षप्रमाण में पांच प्रभेदों की प्ररूपणा नय परिच्छेद में सात नयों नयाभास का निरूपण, जैसे—स्याद्वाद रत्नाकर का संक्षेप ही है। संक्षिप्त लेखनकला उपाध्याय के ग्रंथों की अर्थगाम्भीर्यपूर्ण एवं अद्भुत अलौकिक है।

स्थान-स्थान पर उपाध्याय की अनोखी तार्किक प्रतिभा के दर्शन भी देखने को मिलते हैं, जैसे—

1. अन्यतरासिद्धि हेतु की स्वतंत्र हेत्वाभासता के सामने स्याद्वाद रत्नाकर में जो समाधान पृष्ठ 1018 में दिया है, उनको ही ग्रंथकार ने प्रस्तुत में पूर्वपक्ष रूप में दर्शाकर अलग से समाधान किया है।

2. एकान्तनित्यं अर्थ क्रियासमर्थ न भवति, क्रमयोगपद्या भावात् इस स्थान पर एकान्त नित्य पदार्थ को पक्ष बनाया है। जैनमत में ऐसा कोई पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है। ऐसे स्थान पर ग्रंथकार ने पक्ष की प्रसिद्धि जो की है, वो आश्चर्यजनक है। अन्य भी ऐसे स्थान ग्रंथ में समझने योग्य हैं।

वाचकवर्य श्री उमास्वाति का वचन प्रमाणनयैरधिगमः (तत्त्वार्थ सूत्र, 1/6) के द्वारा पता चलता है कि वस्तुतत्त्व का स्वरूप प्रमाण एवं नय से होता है। वस्तु का ज्ञान प्रमाण नय उभयात्मक हो सकता है पर वस्तु का प्रतिपादन नयात्मक ही होता है, क्योंकि किसी भी वस्तु के सर्वअंश का एक साथ जानना तो संभव हो सकता है किन्तु प्रत्येक अंश की विवक्षा करना एक साथ संभव नहीं है। इसलिए तो सप्तभंगी में भी अव्यक्त नामक भंग को दर्शाया है। इस प्रकार नय जैनदर्शन का प्रमुख लक्षण है। सप्तनयों की ऐसी अद्भुत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। नयपरिच्छेद में ग्रंथकार ने सप्त नयों का सुन्दर विवेचन किया

है। नयों का स्पष्टीकरण अनेक प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध है। सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र आदि अंगसूत्रों उपरान्त अनुयोगद्वार, आवश्यक निर्युक्ति, शास्त्रवार्ता समुच्चय, संमतितर्क, तत्वार्थसूत्र, अनेकान्त, जयपताका, अनेकान्तवाद प्रवेश, रत्नाकर अवतारिका, प्रमाणनय, तत्त्वालोकालंकार, नयकर्णिका आदि अनेक ग्रंथों में इस विषय का प्रतिपादन है। यह तो श्वेताम्बरीय शास्त्रों की बात है पर दिगम्बरीय अनेक ग्रंथों में भी नय का विवेचन उपलब्ध है।

इस प्रकार अनेक प्राचीन ग्रंथों के होने पर भी प्रस्तुत ग्रंथकार ने नव्यशैली में नयविषयक अनेक ग्रंथों की रचना की।

सामान्य जिज्ञासु को नय की जानकारी के लिए--नयप्रदीप।

उनसे अधिक जिज्ञासु के लिए प्रस्तुत ग्रंथ का--नय-परिच्छेद।

उनसे अधिकतर जानकारी के जिज्ञासु के लिए--नय रहस्य।

अनेकान्त व्यवस्था, तत्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय की टीका, नयोपदेश आदि अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इस ग्रंथ के नय परिच्छेद में ग्रंथकार ने नयविषयक पर्याप्त विवेचन दिया है।

निक्षेप जैसा आगमिक प्रमेय का दार्शनिक प्रमेय जैसा रोचक एवं तर्क पुरस्कार निरूपण यह प्रस्तुत ग्रंथकार की एक भेंट हो सकती है। संक्षेप में आगमिक और दार्शनिक प्रमेयों का सुभग समन्वय करके अपने समक्ष प्रस्तुत है ग्रन्थराज जैन तर्कपरिभाषा।

न्याय-वैशेषिक मत में ज्ञान का स्वरूप

नैयायिक मीमांसकों की तरह ज्ञान को परोक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्ष ही मानते हैं किन्तु वो भी ज्ञान को स्वप्रकाशक नहीं मानते। जैसे घट का ज्ञान होने के बाद ही 'घटज्ञानवानह'¹⁰⁶ अर्थात् मुझे घट का ज्ञान हुआ है, ऐसा मानस प्रत्यक्ष होता है, उसे अनुव्यवसायज्ञान कहते हैं।

प्रथम ज्ञान व्यवसायात्मक होता है, जैसे—तीक्ष्ण सुई भी अपने को तो नहीं भेद सकती। कैसी भी कुशल नर्तकी अपने कंधे पर तो नहीं चढ़ सकती, ऐसे ही कैसा भी ज्ञान अपने आप तो नहीं जान सकता। मात्र घटादिरूप विषय को ही जान सकता है। वो ज्ञान तो दूसरे ज्ञान से ही होता है। वैशेषिक की भी मान्यता लगभग ऐसी ही है।

उक्त बात का खण्डन करके उपाध्याय कहते हैं कि मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक की उक्त मान्यता सही नहीं है। वास्तव में ज्ञान स्व पर उभय का निश्चयात्मक होता है। प्रदीप के दृष्टान्त से इस बात का समर्थन होता है। जैसे प्रदीप पट पर आदि वस्तु को प्रकाशित करता है तो वो स्वयं भी प्रकाशित होता है। उनके प्रकाशन के लिए अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं है वैसे ही ज्ञान भी अर्थ के साथ-साथ स्वयं प्रकाशित होता है। उनके लिए ज्ञानान्तर की आवश्यकता मानना युक्तिसंगत नहीं है।

मीमांसाकादि की उक्त मान्यता में निरसन के लिए एवं ज्ञान के स्वप्रकाशयत्व की सिद्धि के लिए जैनदर्शन अनुमान प्रमाण देता है।

ज्ञानं स्वव्यवसायि परव्यवसायि त्वान्यथाऽनुपतते: प्रदीपवत् ।¹⁰⁶

जो स्व को नहीं जानता वह पर को भी नहीं जानता। जो पर को जानता है, वो स्व को भी जानता है। जैसे प्रदीप इस प्रकार सिद्ध होता है कि सर्व ज्ञान स्व-पर उभय का निश्चायक होता है।

प्रस्तुत ग्रंथ पर पूज्य आचार्य लावण्यसूरिकृत टीका रत्नाप्रभावृत्ति की भी रचना हुई है एवं पं. सुखलालजी ने प्रस्तुत ग्रंथ के सन्दर्भों विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, स्याद्वाद रत्नाकर आदि ग्रंथों में जहाँ से भी मिला, वहाँ से करके तात्पर्यसंग्रहा वृत्ति की भी रचना की है। मूल ग्रंथ का गुर्जर भावानुवाद भी प्रस्तुत ग्रंथ में उपलब्ध है।

इस प्रकार यह ग्रंथ अत्यन्त उपादेय बन गया है।

गुरुतत्त्व विनिश्चय

यशोविजय ने मूल ग्रंथ प्राकृत में 105 गाथा का रचा। उस पर स्वयं ने ही संस्कृत गद्य में 7000 श्लोक परिमाण में टीका लिखी। इस ग्रंथ में कर्ता ने गुरुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का निरूपण चार उल्लास में किया है। प्रथम उल्लास में सात बातों का विवेचन किया है, जैसे—

गुरुमहाराज का प्रभाव कैसा होता है?

गुरुकुलवास का प्रभाव क्या?

गुरु कैसा हो?

शुद्धाशुद्ध भाव का कारण क्या हो सकता है?

भावशुद्धि कैसे होती है?

प्रथम उल्लास में व्यवहार एवं निश्चय दृष्टि का स्वरूप खंडन-मंडन करके दिखाया है।

केवल निश्चयवादी स्वमत की पुष्टि के लिए कैसी-कैसी दलील करते हैं?

सिद्धान्ती निश्चयवाद का किस तरह से खण्डन करता है।

इन सात बातों का स्पष्ट उल्लेख प्रथम उल्लास में किया गया है। दूसरे उल्लास में गुरु का लक्षण दिखने वाले सद्गुरु व्यवहारी, व्यवहर्तव्य, व्यवहार के पांच भेद, प्रायश्चित्त, उनको लेन-देने के अधिकारी, व्यवहार धर्म का पालन करने वाले सुगुरु का महत्त्व दर्शाकर व्यवहार धर्म का कैसे आचरण करना उनका वर्णन है।

तीसरे उल्लास में उपसंपत्त की विधि, कुगुरु की प्ररूपणा, पार्श्वस्थ आदि का स्वरूप दिखाकर कुगुरु का त्याग एवं सुगुरु की सेवा की बात बताई है।

चौथे उल्लास में पांच निर्ग्रंथों का स्वरूप छत्तीस द्वार के माध्यम से दिखाया गया है।

मलयगिरिसूरि ने आवस्सयं एवं उनकी निर्युक्ति पर अपनी कृति में ऐसा विधान किया है कि नयवाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग करने से शेष धर्मों का संग्रह हो जाता है। ऐसे समस्त वस्तु का ग्राहक बनने से वो नय न रहकर प्रमाण बन जाता है, क्योंकि नय तो एक ही धर्म का ग्राहक होता है। इस मान्यता के अनुसार सर्व नय एकान्त के ग्राहक से मिथ्यारूप हैं।

इस मान्यता की आलोचना गुरुतत्त्वविनिश्चय की स्वोपज्ञ टीका में निम्न की है—

नयान्तर सापेक्ष नय का प्रमाण में अंतभाव करने से व्यवहार नय को प्रमाण गिनना पड़ेगा, क्योंकि यह व्यवहार नय निश्चय की अपेक्षा रखता है। इसी तरह चार निक्षेप को विषय बनाने वाला शब्दनय भी भाव विषयक शब्दनय की अपेक्षा रखने के कारण प्रमाण बन जाता है। प्रथम बात तो यही है कि नयवाक्य में स्यात् पद प्रतिपक्षी नय विषय की सापेक्षता उपस्थित करता है या नहीं या अन्य अनन्त

धर्मों का परामर्श करता है। जो ऐसा नहीं है तो अनेकान्त में सम्यग् एकान्त का अंतभाव ही नहीं होता। सम्यग् एकान्त यानी प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा रखने वाला एकान्त इसलिए स्यात् की अनेकान्तता का द्योतक माना जाता है या नहीं के अनन्त धर्म का परामर्श करता है। इसलिए प्रमाण वाक्य में स्यात् पद अनन्त धर्म का परामर्श करता है और नय वाक्य में यह पद प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा दिखाता है।¹⁰⁷

गुरुतत्त्व विनिश्चय गाथा नं. 20 की स्वोपज्ञ वृत्ति में समयसार के निम्नलिखित पदों को अवतरणरूप में दिया गया है—

व्यवहारऽभूयत्यो भूयत्यो देसिओऽसदणओ ।
 भूयत्य मासिओ खतु सम्मदिद्धी ह्वाइ जीवो ॥
 सुद्धो सुद्धोदेसो णायगो परमभाव दरिसीहिं ।
 व्यवहारदेसिदा पुण जे उ अपरमे ठिवा भावे ॥
 जइ ण वि सक्कमणाज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
 तह व्यवहारेण विणा, परमत्युवएसणमसककं ॥
 जा हि सुएणऽहिगच्छइ अप्पाणामेणं तु केवलं सुद्धं ।
 तं सुअकेवलि मिसिणो, मणोति लोगप्पईवयरा ॥
 जो अ सुअनाणं सव्वं, जाणइ सुअ केवलि तमाहु जिणा ।
 नाणा आदां सव्वं, जन्हां सुअकेवली तम्हा ॥¹⁰⁸

अर्थात् व्यवहार नय अतात्विक है और शुद्ध नय तात्विक है। इसलिए जो तात्विक शुद्धनय का आश्रय लेता है वो ही जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

शुद्धनय शुद्धद्रव्य को मानता है। आत्मा के शुद्धभाव को देखने वाले व्यक्ति ही शुद्धनय जानने योग्य है। पर जो अशुद्ध भाव में रहे हुए हैं, उनके लिए व्यवहार नय है।

जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में समझा नहीं सकते, जैसे व्यवहार के बिना तत्त्व का प्रतिपादन नहीं होता है।

जो शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करता है, उनको ही परमऋषि श्रुतकेवली मानते हैं।

जो पूर्ण द्वादशांगीरूप श्रुतज्ञान को जानता है, जिनेश्वर उसे श्रुतकेवली कहते हैं।

अर्थात् यहां पर व्यवहार श्रुतकेवली का लक्षण दिखाया, क्योंकि श्रुत के अर्थ का चिंतन करते-करते शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव तक पहुंचा जाता है और इससे श्रुत व्यवहार शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव के निश्चय का कारण है।

व्यवहार एवं निश्चय नय की बात को प्रथम उल्लास में विशेष से बताकर उपाध्याय कह रहे हैं कि व्यवहार में आलसी जीव निश्चय में तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता।¹⁰⁹

इसी बात की तुष्टि करते हुए आवश्यक सूत्र में बताया गया है कि गाथा नं. 40 की स्वोपज्ञ वृत्ति में आवश्यक सूत्र में इस संबंध में उल्लेख है—

संजमजोगेसु सया जेपुण संतविरिया वि सीअंति ।
 ते कह विसुद्धचरण, बाहिरकरणालासा इति ॥¹¹⁰

जैसे बाह्य क्रिया करने में जो आलसी है, वह शक्ति होते हुए भी संयमयोगों में सदा उद्यम नहीं करता है, इसलिए उसका चरित्र विशुद्ध कैसे बने?

अतः कह सकते हैं कि निश्चय को प्राप्त करने के लिए व्यवहार उपयोगी है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि सवृत्तिक कृति भारतीय सम्प्रदायों में गुरु के विषय में तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास कराने का एवं व्यवहार एवं निश्चय का सचोट ज्ञान कराने वाला उत्तम साधन है।

अध्यात्ममत परीक्षा

यशोविजय ने मूलग्रंथ प्राकृत भाषा में 184 गाथा का लिखा है। उस पर 4000 श्लोकों में टीका की रचना की है। इस ग्रंथ और उसकी टीका में कर्ता ने केवली भगवंतों को कवलाहार नहीं होता है—इस दिगम्बर मान्यता का खण्डन करके केवली को कवलाहार अवश्य हो सकता है, इस प्रकार की अवधारणा को तर्कयुक्त दलीलें देकर सिद्ध किया है। दिगम्बरों की दूसरी मान्यता कि तीर्थंकरों का परमोदारिक शरीर धातुरहित होता है, इसका भी इस ग्रंथ में खंडन किया है।

इस ग्रंथ में केवलीमुक्ति और स्त्री मुक्ति का निषेध करने वाले दिगम्बर मत की समीक्षा दी गई है। साथ ही इसमें निश्चयनय और व्यवहार नय के सम्यक् स्वरूप का निर्णय किया गया है।

विशेषतः मानव जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोणों में आत्मा, शरीर, परमलोक, पुण्य, पाप, देव-नरक, बन्धन मुक्ति आदि को लेकर आस्तिक-नास्तिक दार्शनिकों में वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन होता रहता है। लेकिन इन सभी चर्चाओं को प्रत्येक प्राणी समझ नहीं पाता है। नारकीय जीवन दुःखों से त्रस्त होने से तिर्यच जीव सुनने पर भी विवेकशून्य विचारशून्य होने से देवता भोग-विलासों में मग्न होने से सुनने पर भी आचार-शून्य होते हैं लेकिन मनुष्य के पास ही ऐसी विचारशक्ति की प्रबलता होती है कि वह शंका कर सकता है, तर्क, वाद-विवाद कर और विवेकमय दृष्टि से परीक्षा कर सकता है और परमार्थ का निर्णय करके जीवन में अपना सकता है।

इस विश्व के प्रांगण में पाश्चात्य संस्कृति को लेकर भौतिकवादी विद्वान् चिन्तन-मनन के आधार विज्ञान के क्षेत्र में अनेक आविष्कार जगत् के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।

भारतदेश पूर्व से ही अध्यात्मवादी रहा है। अतः यहाँ अनेक दार्शनिकों, अध्यात्मयोगियों का अवतरण होता रहा है। इसी वजह से अध्यात्म क्षेत्र में अनेक प्रकार की विचारधारणाएँ विस्तृत बनती गईं, जैसे—आत्मा का अस्तित्व, उसके शाश्वत सुख, आलोक-परलोक सुख के कारणभूत साधनाविधि, आचार-अनुष्ठान, बन्धन-मुक्ति, पाप-पुण्य आदि के विषयों में अनेक विचार को अपने-अपने मन्तव्य प्रगट किये हैं और आज विश्व में, समाज में अनेक समुदाय शाखा-प्रशाखाएँ विद्यमान हैं।

अध्यात्ममतपरीक्षा प्रस्तुत ग्रंथ में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मत का विवेचन है। इनमें उपाध्याय ने दिगम्बर मत की मान्यता का निरसन किया है।

दिगम्बरों की ऐसी मान्यता है कि केवली भगवंतों को कवलाहार नहीं होता है। इस बाबत ग्रंथकार महर्षि कह रहे हैं कि केवलज्ञान और कवलाहार दोनों अविरोद्ध हैं इसलिए जहाँ केवलज्ञान होता है, वहाँ जैसे मोहनीय कर्म आदि चार घाती कर्मों के विरोधी होने से संभवतः नहीं है। यही विरोध केवलज्ञानी और कवलाहार दोनों के होने में नहीं है। यह बात सिद्ध की है।

श्री समवायांग के 34 अतिशयों में दिखाया है कि परमात्मा के आहार एवं निहार को धर्मचक्षु वाले जीव देख नहीं सकते। ऐसी सचोट बातें दिखाकर दिगम्बरों ने साबित किया है कि केवलियों को कवलाहार नहीं होता है। तब उपाध्याय कह रहे हैं कि अगर परमात्मा को कवलाहार नहीं मानते तो तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने केवली के 11 परीषह दिखाये हैं। इनमें क्षुधा परिषह भी आता है तो वो कैसे घटेगा? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर प्रमाण के साथ देकर उपाध्याय ने दिगम्बरों की मान्यता का खंडन करके सिद्ध किया है कि केवली को कवलाहार होता है।

केवली को कवलाहार होता है, इस बात की पुष्टि करने के लिए उपाध्याय कह रहे हैं कि—

ओरालिअदेहस्स य ठिई अ पुड्ढी य णो विणाहारं।

तेणावि य केवलिणो केवलाहारितणं जुतं।।¹¹¹

औदारिक शरीर की स्थिति एवं वृद्धि आहार के बिना नहीं होती है इसलिए भी केवली को कवलाहार होता है, यह बात सिद्ध है। जैसे औदारिक शरीर की स्थिति आहार प्रयोजक अशातावेदनीयादि कर्म के अन्वय व्यतिरेक के अनुसार है, वैसे आहार पुद्गलों के अन्वय व्यतिरेक को भी अनुसरता है तो फिर केवली का शरीर पूर्वकोड वर्ष तक कवलाहार के बिना कैसे टिकेगा! वैसे ही औदारिक शरीर की वृद्धि भी आहार पुद्गलों से ही होती है, क्योंकि पुद्गलों से ही पुद्गलोपच्य होता है, ऐसा शास्त्र में कहा है। इसलिए केवली को कवलाहार आवश्यक है। अगर केवली को कवलाहार मानने में न आये तो जिसको नवमें वर्ष में केवलज्ञान होता है, वो महर्षि पूर्वकोटि वर्ष तक छोटे बालक जितना ही रहेगा, यह अनुचित है। अतः सिद्ध होता है कि केवली को कवलाहार होता है।

दिगम्बरों की दूसरी मान्यता थी कि तीर्थकरों का परम औदारिक शरीर धातुरहित होता है। वो श्लोक के माध्यम से बताते हैं—

परमोरालिअरेहो केवलिणं नणु हवेज्ज मोहखए।

रुहिराइघारहिओ तेअमओ अष्मपडल च।।¹¹²

मोहक्षय होने के कारण केवलियों का शरीर रुधिरादि धातुओं से रहित अभपटल जैसा तेजोमय परमोदारिक शरीर हो जाता है।

उनका जवाब देते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि केवलियों का पूर्ववस्था जैसा ही शरीर होता है। छद्मावस्था का जो शरीर होता है, वो ही शरीर केवली अवस्था में भी रहता है, उसमें कोई नया अतिशय उत्पन्न नहीं होता है।

केवली का औदारिक शरीर धातुरहित होता है, ऐसी दिगम्बर की मान्यता का खण्डन करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—

संघयणणामपगइ केवल्लिरेहस्स धाउरहिअते।

पोग्गलाणिनागिणी कह अतारिसे पोग्गले होउ।।¹¹³

जो अगर केवली को देह धातुरहित हो तो संघयण नाम प्रकृति का विपाकोदय के योग्य पुद्गल न होने से केवली को उस प्रकृति का पुद्गल विपाक कैसे होगा?

ऋषभ नाराच संघयण नामकर्म प्रकृति पुद्गल विपाकनी है, जिसका अस्थि के पुद्गल में भी विपाक होता है। केवली का शरीर सात धातु से रहित होने में अस्थिशून्य भी मानना पड़ेगा। अगर अस्थिशून्य मानेंगे तो केवली की उस प्रकृति का विपाकोदय कैसे होगा?

इस प्रकार दिगम्बर की मान्यताओं का निरसन उपाध्यायजी ने अनेक दलीलों के माध्यम से किया है, वो यथार्थ है।

अनेकान्त व्यवस्था

इस ग्रंथ में वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का तथा नैगम आदि सात नयों का सतर्क प्रतिपादन किया गया है। मूल ग्रंथ 3357 श्लोक प्रमाण है। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में कर्ता ने इस मंगलश्लोक की रचना की है।

ऐन्द्रस्तोमनतं नत्वा, वीतरागं स्वयम्भुवम्।
अनेकान्त व्यवस्थायां, श्रम! कच्छिद वितन्यते ॥¹⁴

अनेक ऋद्धि समृद्धि से भरपूर भारतदेश विचारकों, दार्शनिकों, तत्त्वचिन्तकों, महापुरुषों की समृद्धि से भी भरपूर है। जैन, बौद्ध, वैदिक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि मुख्यता से अध्यात्मवादी तथा चार्वाक नास्तिक दर्शन की उत्पत्ति का मुख्य स्थान भी यही है।

प्रत्येक दर्शनों की विचारधारा में यद्यपि स्पष्ट अन्तर दिखता है तो भी मुख्य रूप से दो विभाग पड़ते हैं—अनेकान्त स्याद्वाद की शिला पर चलने वाला जैन दर्शन तथा एकान्त को लेकर चलने वाले अन्य दर्शन। एकान्त दर्शन भी कोई नित्य को स्वीकारता है तो दूसरा अनित्य का समादर करता है। कोई द्रव्य और पर्याय एकान्त भेदस्वरूप है तो दूसरे एकान्त अभेद! एक की दृष्टि में पूरा जगत् सामान्य है तो दूसरे की दृष्टि में जगत् विशेष ही है। सामान्य का नाममात्र भी नहीं है। एक ईश्वर को मानने में पूर्ण रूप से निषेध करता है जबकि दूसरा कहता है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, साथ में यह भी मानकर चलते हैं कि बिना आत्मोद्धार मोक्ष नहीं है।

इन सभी के सामने जैनमत स्याद्वाद को लेकर खड़ा हो जाता है। इस मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। द्वैत को स्वीकारते हैं, अद्वैत का भी तिरस्कार नहीं करते हैं।

अपने पराक्रम से सर्वज्ञता या शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया हुआ आत्मा ही भगवान है, जो जगत्कर्ता नहीं है लेकिन जगत्द्रष्टा और मोक्षमार्गोपदेष्टा है।

जैन दर्शन सभी दृष्टिकोणों को निष्पक्ष भाव से स्वीकारने के कारण स्याद्वाद शैली के विरुद्ध से अलंकृत है।

शुद्ध अनात्मवादी होने से नास्तिक दर्शन मन, शरीर, इन्द्रिय को शांति हो, वैसा कार्य करना ही धर्म है। 'ऋण कृत्वां घृतं पिबेत् भस्मी भूतस्थदेहस्य पुनरागमनं कुतः' यह सिद्धान्त इनका है। अध्यात्मवादी दर्शन अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह प्रमाण आदि अंश में एकमत ही है लेकिन धर्म का स्वरूप, फल, मोक्ष, निर्वाण, परममुक्ति, आत्मा के स्वरूप विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं, जिनको समझने में कठिनाई होती है, लेकिन जैन सिद्धान्त स्याद्वाद वाला होने से द्रव्य, काल, भाव को दृष्टि में रखकर प्रत्येक विषय का स्पष्टीकरण करता है, जिससे प्रत्येक पदार्थ सहज रूप में समझ में आ जाता है।

इस ग्रंथ के प्रारम्भ में तीन और अंत के 17 पद्य हैं। उनके अलावा पूरा विवेचन गद्य में है। इस ग्रंथ में प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय ऐसी दोनों पद्धतियों को स्थान दिया गया है। इसमें अनेकान्त के लक्षण को लेकर जैन एवं अजैन दर्शनों का संक्षिप्त में सटीक निरूपण किया है—

तत्त्वेषु भवाभावादिश बलैकरूपत्वम्।¹¹⁵

जैन दर्शन गहन एवं गम्भीर है। वे अनन्त नय से ओतप्रोत हैं। जैसे हरिण बाघ के बदन को सूँघ नहीं सकते, वैसे ही नय के अंश को जानने वाले उनको सूँघ नहीं सकते हैं। प्रसंगवशात्, अन्य कृतियों का अवतरण देकर भी इस निरूपण को समर्थित किया है। अजैन दर्शनकारों ने भी अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है। इस बात का उल्लेख नैगमादि के सविस्तार आलेखन प्रसंग में द्रष्टव्य है—

दर्शितयं यथाशास्त्रं नैगमस्य नयस्य दिक्।

कणहृदृष्टिहेतुः श्री यशोविजय वाचकैः।¹¹⁶

पत्र 54-अ में दिखाया गया है कि ऋजुसूत्र नय वह पर्यायनयरूप वृक्ष का मूल है। शब्दनय उनकी शाखा है, समभिरूढ नय उनकी प्रशाखा है एवं एवंभूत नय प्रशाखा की प्रशाखा है। कहीं दिगम्बर नय गिनते हैं। इस बात का भी यहाँ निरस्सन किया गया है। इस बात की विशेष महत्ता के लिए आपभ्रंशिक प्रबंध की भलामण की है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह भी है कि अध्यात्मसार आदि में सांख्य-दर्शन की उत्पत्ति संग्रहनय के एकान्त सेवन का आभारी है, किन्तु यहाँ अन्यत्र अशुद्ध द्रव्यार्थिक को नयरूप व्यवहारनय में से दिखाया है।

इस ग्रंथ में सप्तभंगी का विस्तृत विवेचन है। इसमें स्याद् वक्तव्य एवं नाम के त्रीजे भंग के 16 विकल्प दिखाये हैं। विशेष में सप्त भंगों के 3, 3, 10, 10, 130, 130 एवं 130 प्रतिभंग दिखाये हैं। सम्पूर्ण प्रतिभंगों की संख्या 416 है। उनके अवांतर भंगों की विचारणा करें तो 1436 एवं सांयोगिक भंगादि गिनते हैं तो करोड़ों की संख्या में आता है।

गुणार्थिक नय की अनुपपत्ति, दिगम्बर मान्यता के अनुसार गुण का लक्षण, दस सामान्य गुणों का एवं 16 विशेष गुणों का निरूपण द्रव्यार्थिक नय के 10, पर्यायार्थिक नय के 6, नैगम के 3, संग्रह के 2, व्यवहार के 2, ऋजुसूत्र के 2 एवं शब्दादि के 1-1 भेद मिलाकर 28 भेदों का निरूपण अमृत चंद्रकृत प्रवचनसारवृत्तिगत पर्याय विचारों का खंडन, अनेकान्तवाद में अनेकान्तवाद का स्वीकार। घटाभाव का अभाव जैसे घटस्वरूप हैं, वैसे एकान्तप्रज्ञापति दोष का एवं प्रमेयत्वादि के उदाहरण के द्वारा अनवस्था दोष का परिहर एवं उपसंहर के रूप में अनेकान्तवाद की महिमा एवं अजैन दर्शनों के द्वारा उनका सत्कार आदि का विवेचन दर्शाया है।

द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिका

इस ग्रंथ में यशोविजय ने दान, देशनामार्ग भक्ति, धर्मव्यवस्था, साधु, कथा, योग, सम्यग्दृष्टि जिनमहत्त्व द्वात्रिंशिका अदि 32 विषयों का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए 32 विभाग किए और प्रत्येक विभाग में 32 श्लोक की रचना की। इसमें एक विशेषता यह है कि प्रत्येक बत्तीशी के अंतिम श्लोक में परमानन्द शब्द आया है। इस ग्रंथ पर उपाध्याय ने तत्वार्थ दीपिका¹¹⁷ नामक स्वोपज्ञ वृत्ति रची। टीका की श्लोक संख्या मिलाकर 5500 श्लोकों का सटीक ग्रंथ बना, जो अद्भुत अर्थ गम्भीर एवं अध्ययनीय है।

पूज्य उपाध्याय महाराज को पू. समर्थ शास्त्रज्ञ आचार्य भगवंत श्री हरिभद्रसूरि महाराज के प्रति अनहद भक्ति एवं आदर था और उनके ग्रंथों का तलस्पर्शी ज्ञान भी था। इस ग्रंथों में अपनी सूझ एवं शैली से पूज्यपाद हरिभद्र सूरि के अनेक ग्रंथरत्नों का अर्थ संग्रहित किया गया है। अधिकतर योगदृष्टि

समुच्चय ग्रंथ के अर्थ का अनुपम संग्रह है। विशदीकरण एवं विवेचन इस ग्रंथ में देखने को मिलता है। योग, आगम एवं न्याय—इन तीनों का सिरमौर यह ग्रंथ है।

300 वर्ष पूर्व प्रगट हुए महान् ज्ञानमशाल यानी श्रीमद् यशोविजय महाराज ने न्याय, आगम, योग, भक्ति एवं आचार आदि पर अनेक ग्रंथों की रचना की। पर इन पांचों विषय का विस्तार से विश्लेषण अगर कोई एक ग्रंथ में एक साथ किया हो तो वह है द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिका प्रकरण।

यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें बौद्ध दर्शन का न्याय, नैयायिक दर्शन का न्याय एवं जैन दर्शन के न्याय का एक साथ निरूपण किया गया है। यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय की दोनों की परिभाषा एवं दोनों की शैली का प्रयोग किया गया है।

इस ग्रंथ में आगमिक पदार्थों को भी नव्य न्याय की परिभाषा में परिष्कृत कर पारदर्शक स्वरूप में दर्शाया गया है।

इस ग्रंथ की यह विशेषता है कि हरिभद्रीय योगवाङ्मय के पदार्थों, पातंजल योग संबंधी पदार्थों का बौद्ध दर्शन के योग संबंधी पदार्थों का एवं उपनिषदों के योग संबंधी पदार्थों को तर्कबद्ध करके संकलन यहां विश्लेषित है।

तर्क, युक्ति, नय, प्रमाण का व्यापक प्रयोग करने पर भी इस ग्रंथ में श्रद्धाप्रधान भक्तिमार्ग उपासना मार्ग का उच्चकोटि का विवेचन है।

सिर्फ पूर्व के ग्रंथों के विशिष्ट पदार्थों का चयन ही नहीं है बल्कि उनका विशदीकरण एवं वैशेष्यकरण भी इस ग्रंथ में उपाध्याय ने दिखाया है।

ऐसी-ऐसी अनेक विशेषताओं से भरा हुआ यह ग्रंथ वर्षों से अनेक विज्ञ वाचकों के आकर्षण का स्थान बना है।

सर्वप्रथम जैन धर्म प्रसारण सभा भावनगर से इस ग्रंथ की प्रति वि.सं. 1966 में 189 पृष्ठों में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद ई. सन् 1981 वीर संवत् 2008 में रतलाम से बत्तीसी प्रतीकारें प्रकाशित कीं।

उनके बाद पूज्य आचार्य हेमचन्द्रसूरि म.सा. द्वारा रचित नूतन संस्कृत टीका एवं गुजराती विवेचन सहदान द्वात्रिंशिका वि.सं. 2040 में अहमदाबाद से प्रकाशित हुई, जिसमें 122 पृष्ठ थे।

उसके बाद वि.सं. 2051 में यशोवाणी नाम की एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित हुई, जिसमें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय आदि ऐसे ढाई बत्तीसी गुजराती विवेचन सह प्रकाशित हुई, जिसमें 59 पृष्ठ थे।

इसी प्रकार परम पूज्य अभयशेखर विजय गणीवर द्वारा प्रथम आठ बत्तीसी का अनुवाद वि.सं. 2051 में दिव्यदर्शन ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ, जिसमें पृष्ठों की संख्या 240 थी।

तत्पश्चात् द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिका प्रकरण (स्वोपज्ञ टीका) सहित सम्पूर्ण ग्रंथ नयी संस्कृत टीका एवं गुजराती विवेचन पू. मुनिराज यशोविजय म.सा. ने करके जैन जगत् को अनमोल भेंट दी है। उनका मुख्य प्रयोजन यही था कि नव्यन्याय की शैली में अभ्यास करने के लिए सभी जीव सक्षम नहीं होते हैं। इसलिए सामान्य जीव को ध्यान में रखकर एवं जिज्ञासु जीव इस बात से वंचित न रहे, ऐसी स्व-पर की भावना को ध्यान में रखते हुए इस ग्रंथ का अनुवाद किया जो बहुत ही सरल, सटीक एवं अनुमोदनीय है।

नय रहस्य

नय जैन दर्शन का प्रमुख लक्षण है। किसी भी वस्तु का ज्ञान, प्रमाण और नय उभयात्मक हो सकता है, किन्तु वस्तु का प्रतिपादन नयात्मक ही होता है। वस्तु के समस्त अंगों को एक साथ जान लेना संभव है किन्तु सभी अंशों की एक साथ विविक्षा करके तत्तद अंश प्राधान्येन प्रतिपादन करना संभव नहीं है, इसलिए ऐसी विविक्षा से प्रतिपादन करने पर वस्तु अवक्तव्य बन जाती है। क्रम से ही वस्तु का वर्णन प्रतिपादन शक्य है। अतएव किसी एक क्रमिक प्रतिपादन से वस्तु का आंशिक यानी कथंचित् ही निरूपण किया जा सकता है, सम्पूर्ण नहीं। यद्यपि सकलादेश से सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिपादन होता है, किन्तु यह भी एक धर्म के प्राधान्य से। सभी धर्मों की मुख्य विशेषता का उससे बोध नहीं होता। यही जैनदर्शन का स्याद्वाद है। स्याद् यानी कथंचिद् सर्वांश से नहीं ऐसा वाद यानी निरूपण, यह स्याद्वाद है, उसी को अनेकान्तवाद भी कहते हैं।

जब प्रतिपादन स्याद्वाद गर्भित ही हो सकता है तब उसको तदरूप न मानना, यह मिथ्यावाद ही है या एकान्तवाद है। स्याद्वाद शब्द से ही यह फलित होता है कि वस्तु का एक-एक अंश से प्रतिपादन। उपदेशात्मक नय भी यही वस्तु है, इसलिए स्याद्वाद को ही दूसरे शब्द में नयवाद भी कह सकते हैं। जैन शास्त्रों का कोई भी प्रतिपादन नयविधुर नहीं होता, अतएव जैन शास्त्रों के अध्येता के लिए नयों के स्वरूप का परिज्ञान अनिवार्य बन जाता है। यद्यपि नयवाद अतिजटिल, गम्भीर और गहन है।

एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों का होना जिस दर्शन का अभिमत नहीं है, यह सभी दर्शन एकान्त है। इन दर्शनों में एकान्तवाद होने के कारण वस्तु के स्वरूप को समझने का कार्य केवल प्रमाण व्यवस्था से चल जाता है किन्तु जैन दर्शन में ऐसी बात नहीं है। वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टि से आकलन जैनदर्शन में अनिवार्य है। फलतः विविध अपेक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्म, संशोधन के फलस्वरूप दिखाई पड़ते हैं। वस्तु कैसी है? इस प्रश्न का निराकरण जब किसी एक अपेक्षा से किया जाता है तब उस समाधान से प्राप्त हुआ ज्ञान नय है। यद्यपि नय एकान्त होता है तथापि वह अन्य नय से प्राप्त धर्म का निषेध नहीं करता है एवं इसी प्रकार नयों के समूह से वस्तु के समग्र स्वरूप को जांचकर समझना, उसे अनेकान्त या प्रमाण कहते हैं। जैन दर्शन में प्रमाण के साथ-साथ नय व्यवस्था के प्रतिपादन में यही मुख्य कारण है।

वस्तु का प्रतिपादन किसी एक ही नहीं अनेक पहलू से हो सकता है, अतः किस स्थान में किस वक्त, किसके आगे कौन-से पहलू से प्रतिपादन करना उचित है, इसका अच्छी तरह पता लगाने में ही विद्वत्ता की कसौटी है। शास्त्रकारों ने कोई एक प्रतिपादन कौन-से पहलू को दृष्टिगोचर रख कर किया है, इसका सही पता लगाने में ही पाण्डित्य की सार्थकता है। नयगर्भित ज्ञान सम्पन्न करते समय या नयगर्भित प्रतिपादन करते समय यह अनिवार्य है कि जिस अंश के ऊपर हमारी दृष्टि है, उससे भिन्न वस्तु के सद्भुत अंशों का अपलाप नहीं करना चाहिए। प्रतिपादन नयात्मक होने से कदाचित् सुविहित पूर्वाचार्यों के प्रतिपादनों में भी अन्यान्य विरोध प्रतीत होना असम्भव नहीं है। चतुर अभ्यासी को कौन-से पहलू को दृष्टिगोचर रखकर प्रतिपादन किया है, इसी में अपनी विचारशक्ति को क्रियान्वित करना चाहिए, अन्यथा व्यामोह की पूरी सम्भावना है। बहुत से विवादों की नींव यही होती है कि एक-दूसरे के प्रतिपादन की भूमिका को ठीक तरह से ध्यान में न लेना।

जैसे केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग क्रमशः होता है या एक साथ? इस विषय में महामहिम श्रद्धेय तार्किक आचार्यश्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि एवं आगमिक श्रद्धेय आचार्यश्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के ग्रंथों में विस्तृत चर्चा और एक-दूसरे के मत की समीक्षा देखी जाती है। चतुर एवं तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रीमद् उपाध्याय महाराज ने दोनों मत का गहन अध्ययन करके उन दोनों ने कौन-से नय को प्रधान बनाकर वैसा प्रतिपादन किया है, यह खोज कर ज्ञानबिन्दु ग्रंथ में सामंजस्य का दिग्दर्शन कराया है।

अध्यात्मोपनिषद्¹¹⁸ ग्रंथ में उपाध्याय महाराज कहते हैं कि तप परीक्षा शुद्ध शास्त्र वही है, जिसमें भिन्न-भिन्न नयों के विचार रूप घर्षण से चर्चा की प्रबल अग्नि उद्दीप्त होने पर भी कहीं तात्पर्य धूमिल नहीं होता। इस प्रकार तात्पर्य को कालिमा न लगे, इस प्रकार की नयावलब्धि प्रबल चर्चा, यह जैन शासन का भूषण है, दूषण नहीं है। इसलिए उपमितिकार ने भी कहा है—

नितष्टिममकारास्ते विवादं नय कुर्वते ।

अथ कुर्युस्ततस्तेभ्यो दातव्यं वैकवाक्यता ॥¹¹⁹

अर्थात् जिनका ममकार नष्टप्रायः हो गया है कि वे कभी विवाद नहीं करते हैं। यदि वे विवाद करने लगे तो उनकी प्ररूपणाओं में अवश्य एक वाक्यता लाने का प्रयास करना चाहिए। सारांश, कहीं भी शास्त्रों के तात्पर्य को धूमिल नहीं करना चाहिए।

नयरहस्य ग्रंथ का अक्षरदेह नयप्रदीप जैसा लघु नहीं और नयोपदेश जैसा महान् भी नहीं किन्तु मध्यम है। इसमें केवल नयों का रहस्य यानी उसका स्वरूप, उसकी मान्यता और अपनी मान्यता की समर्थक कुछ युक्तियाँ ही प्रतिपादित हैं। इसलिए मध्यमरुचि धर्म के लिए यही ग्रंथ उपादेय होगा। मध्यमपरिणाम वाले ग्रंथ में श्रीमद् ने नय के अनेक पहलुओं को मनोहर ढंग से प्रस्तुत कर दिया है, जो नयपदार्थ के जिज्ञासुओं के लिए अतीव व्युत्पादक एवं उपकारी है।

नय के विषय में उपाध्याय ने ज्ञानसार के अन्तिम अष्टक में नयज्ञान के फल का सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है—

सर्वनयों के ज्ञाता को धर्मवाद के द्वारा विपुल श्रेयस प्राप्त होता है जबकि नय से अनभिज्ञ जैन शुष्कवाद विवाद में गिरकर विपरीत फल प्राप्त करता है।¹²⁰

निश्चय और व्यवहार तथा ज्ञान एवं क्रिया एक-एक पक्षों के विश्लेषण यानी आग्रह को छोड़कर शुद्ध भूमिका पर आरोहण करने वाले और अपने लक्ष्य के प्रति मूढ़ न रहने वाले तथा सर्वत्र पक्षपात से दूर रहने वाले, सभी नयों का आश्रय करने वाले सज्जन परमानंद होकर विजेता बनते हैं।¹²¹

सर्वनयों पर अवलम्बित ऐसा जिनमत जिनके चित्त में परिणत हुआ और जो उनका सम्यक् प्रकाशन करते हैं, उनको पुनः-पुनः नमस्कार है।¹²²

निष्कर्ष यह है कि कदाग्रह का विमोचन और वस्तु का सम्यक् बोध नय का फल है और उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति बढ़ती है।

नय प्रदीप

800 श्लोक परिमाण का यह ग्रंथ संस्कृत गद्य में रचा गया है। यह ग्रंथ सप्तभंगी समर्थन और नयसमर्थन नामक दो सर्गों में विभाजित है। इस ग्रंथ की टीका नहीं है। प्रथम सप्तभंगी समर्थन में सप्तभंग कैसे होता है? स्याद्वाद का स्वरूप। किसी स्थान पर स्यात् शब्द का उपयोग न हो तो भी

अध्याहार करना चाहिए, इनका क्या कारण? भंग सप्त ही क्यों? उनका कारण? आदि बातों का स्पष्ट उल्लेख है।

दूसरे नयसमर्थन नाम के सर्ग में नय की उपयोगिता क्यों? सभी नय की मर्यादा। द्रव्य का स्वरूप, स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय, द्रव्यार्थिक नय की 10 मुद्रा, उनका स्वरूप, पर्यायार्थिक नय का स्वरूप, उनके पर्याय गुण, उनका स्वरूप, सामान्य विशेष का समावेश किसमें कैसे हो? आदि सभी का विवेचन सरल भाषा में दर्शाया है।

नैगमनय के स्वरूप में धर्म, धर्मी, धर्म-धर्मी की बात में नैगम नय का अभिप्राय, उसमें सत्यासत्त्वता, नैगमाभास आदि का वर्णन है।

संग्रहनय में लक्षण, सलक्षण भेद, संग्राहमास आदि का विवेचन है।

व्यवहारनय में उनके 14 प्रकारों में उपचार और उनका संबंध दिखाया है।

ऋजुसूत्रादि चार नयों को पर्यायार्थिक नय के रूप में दिखाया है। ऋजुसूत्र नय का स्वरूप दिखाकर लक्षण एवं भेद का स्पष्टीकरण किया है। शब्द नय में लक्षण दिखाकर कालादिकी अपेक्षा से दिखाया है। एवंभूत नय के प्रसंग में लक्षण, स्वरूप, शब्दार्थ, नय के भेद आदि का विवेचन मिलता है।

नयप्रदीप¹²³ का गुजराती में अनुवाद डॉ. भगवानदास मनसुखभाई मेहता ने ई. सन् 1950 में किया है। ऐसा उल्लेख यशोदोहन पुस्तक में मुनि यशोविजय ने दिखाया है।

अतः नयप्रदीप ग्रंथ में सात नयों का संक्षिप्त में विवेचन किया गया है। यह अति छोटा ग्रंथ प्राथमिक अभ्यर्थियों के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है।

नयोपदेश

इस ग्रंथ पर उपाध्याय स्वयं ने ही न्यायामृत तरंगिणी टीका रची है। उसमें विस्तार से बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्थकादि दृष्टान्तों को देकर सप्त नयों का स्वरूप, सभी नयों की कब और कहाँ योजना करनी है? सभी नयों में कौन-से निक्षेप माने जाते हैं? ये विचार दर्शाये हैं। यह 144 पद्य की कृति है।

इसमें नय का लक्षण, शब्द बोध की सापेक्षता, नयवाक्य एवं प्रमाण वाक्य में अन्तर, नयज्ञान की संशय, समुच्चय, विभ्रम एवं प्रभा से विलक्षणता, नय की प्रमाणशता, नैगमादि सप्त नयों एवं उनके लक्षण, जीव, अजीव एवं नोजीव और नोजीव की विचारणा, सिद्ध निश्चय से जीव ही हैं, इस दिगम्बर मत का खण्डन,¹²⁴ दिगम्बर का नग्नता का उल्लेख : चार निक्षेपों की समझ शाश्वत एवं अशाश्वत प्रतिमा के पूजन,¹²⁵ अजैन दर्शनों की उत्पत्ति, ऋजुसूत्रादि में से सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार एवं माध्यमिक ऐसे बौद्धों में चार सम्प्रदायों का उद्भूत ज्ञान नय एवं क्रिया नय का परिचय आदि का विवेचन नयोपदेश में सटीक किया गया है।

नयोपदेश में उपाध्यायजी की नय संबंधी चरम प्रतिभा का तेज दिखाई देता है। नयोपदेश का 31वां पद्य नय रहस्य पृ. 127 में देखने को मिलता है। इसमें यह फलित होता है कि नयोपदेश नय रहस्य के पहले की रचना है और नयोपदेश का उल्लेख तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में है। उससे पता चलता है कि तत्त्वार्थसूत्र की टीका के पहले की यह कृति सिद्ध होती है।

इस ग्रंथ के कर्ता ने स्वोपज्ञ टीका न्यामृततरंगिणी रची है। उनके विस्तृत एवं मननीय स्वोपज्ञ स्पष्टीकरण की शुरुआत सर्वज्ञ की वाणी के विजयोल्लेखसूचक पद्य के द्वारा होती है।

न्याय खण्डनखण्डखाद्य—महावीरस्तव प्रकरणक

उपाध्याय महाराज का रचित नव्यन्याय की विशिष्ट कोटि का यह ग्रंथ अत्यन्त अर्थगम्भीर एवं जटिल है। यह एक ही ग्रंथ वाचकवर्य के प्रखर पाण्डित्य का साक्षी है। यह 110 पद्य की संस्कृत कृति है। इसको कोई महावीरस्तव भी कहता है। इतना ही नहीं, नामान्तर के रूप में न्याय खण्डन खाद्य का उल्लेख भी किया है।

इस कृति का मुख्य विषय महावीरस्वामी की वाणीरूप, स्याद्वाद की स्तुतिरूप है। उनके आद्य-पद्य में कहा है कि ऐंकार का उत्तम कवित्व की अभिलाषा को पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के समान है। उनका रंग अभंग है। प्रस्तुत कृति में स्याद्वाद के लिए जो दूषण अन्यजनों ने दिये हैं, उनका निरसन किया है। विज्ञानवाद की आलोचना की है। न्यायखण्डखाद्य उपाध्याय महाराज की अपने हाथ से लिखी प्रति भी मिलती है।

अतः न्यायखण्डनखण्डखाद्य यह ग्रंथ नव्यन्याय की शैली का गहन एवं जटिल ग्रंथ है।

न्यायालोक

उपाध्याय यशोविजय ने न्यायालोक में मुख्यता गौतमीय न्यायशास्त्र तथा बौद्ध न्यायशास्त्र के सर्वथा एकान्त गर्भित सिद्धान्तों की विस्तृत समालोचना की समीक्षा कर जैन न्याय के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस प्रकरण ग्रंथ में तीन प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में चार वादस्थलों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रथम मुक्तिवाद, द्वितीय आत्मविभुत्ववाद, तृतीय आत्मसिद्धि तथा चतुर्थ वादस्थल ज्ञान का परप्रकाशत्व खण्डनवाद स्थल का निरूपण है।

द्वितीय प्रकाश में भी कुल चार वाद स्थल हैं—1. ज्ञानाद्वैतखण्डन, 2. समवाय निरसनवाद, 3. चक्षु अप्राप्य कारितावाद, 4. अभाववाद।

तृतीय प्रकाश में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्यों और उसी प्रकार उनके पदार्थों, का संक्षिप्त निरूपण किया गया है।

इस संस्कृत ग्रंथ के प्रारम्भ में एक पद्य है। इसमें कर्ता ने अपने लिए धीमान शब्द का प्रयोग किया है। उनके साथ-साथ न्यायविशारद नाम की अपनी पदवी का भी उल्लेख किया है। अंत में छः पदों की प्रशस्ति है। इसमें द्वितीय पद्य में यह ग्रंथ विजयसिंहसूरि के राज्य में रची होने का उल्लेख है एवं अन्तिम पद्य में कर्ता ने नम्रताद्योतक बात कही है कि—

हमारे जैसे प्रमादग्रस्त एवं चरणकरण से हीन व्यक्ति के लिए प्रवचन का राग वो ही भयसागर तीरने का एकमात्र जरिया है। ऐसी नम्रता से विभूषित व्यक्ति अपने को धीमान कहते हैं।¹²⁶

उपर्युक्त सप्त पदों के अलावा शेष भाग गद्य में रचित हैं। प्रस्तुत ग्रंथ तीन प्रकाशन में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में मोक्ष के स्वरूप संबंधी, नैयायिक प्रभाकर, त्रिदण्डी, बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, सौत्रातिक एवं वेदान्त के मतों का निरसन किया है। उनमें साथ-साथ उदयन एवं चिन्तामणिकार के मत की आलोचना की है।

इसी प्रकाश में द्वितीय आत्मविभुत्ववाद¹²⁷ यानी आत्मा को सर्वव्यापी मानने वाले नैयायिक मत का विस्तार से खण्डन किया है। प्रसंगशात¹²⁸ शब्द पौदगलिक है, ऐसी जैन मान्यता का प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकाश के तृतीय वादस्थल है आत्मसिद्धि¹²⁹ उसमें प्राचीन नास्तिक मत यानी चार्वाक दर्शन का खण्डन कर शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्न ऐसे आत्मा की सिद्धि की है। भूतों में से चैतन्य का उद्भव होता है, यही चार्वाक मत की बात का निरसन किया है और लाघव¹³⁰ से शरीर को ज्ञानसमवायी कारण मानकर एवं अनुमिति को मानसप्रत्यज्ञात्मक मानने वाले नवीन नास्तिक मत का भी निरसन किया है। यह विषय आत्मख्याति स्याद्वाद रहस्य तृतीय खण्ड एवं स्याद्वाद कल्पलता प्रथम स्तबक आदि ग्रंथों में वर्तमान में उपलब्ध है।

प्रथम प्रकाश का चतुर्थ वादस्थल है। ज्ञान पर प्रकाश खण्डनवाद। इसमें नैयायिक मत से ज्ञान परतः प्रकाश्य है। इस बात के सामने उपाध्याय ने ज्ञान स्वतः प्रकाश्य है, इस बात की सिद्धि की है। इस प्रकार प्रथम प्रकाश में उपाध्याय ने चार वादस्थलों का हृदयगम्य विवेचन किया है।

द्वितीय प्रकाश में भी चार वादस्थल हैं, जो स्याद्वाद कल्पलता आदि में भी हैं। प्रथम वादस्थल है—ज्ञाताद्वैतखण्डन।

बौद्ध सम्प्रदाय में माध्यमिक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार ऐसे चार मत हैं। इसमें योगाचार बौद्ध विद्वान् ज्ञान से भिन्न घट-पट आदि पदार्थ के अस्तित्व को मानते नहीं हैं। उपाध्यायजी ने तर्क दिक बुद्धि¹³¹ से ज्ञानातिरिक्त बाध्य अर्थ की सिद्धि करके विज्ञानवादी योगाचार का खण्डन किया है। यह विषय स्याद्वाद कल्पलता चतुर्थ स्तबक एवं न्याय खण्डन खाद्य आदि ग्रंथ में भी प्राप्त होता है।

द्वितीय प्रकाश के द्वितीय वादस्थल हैं—समवाय निरसनवाद। इसमें नैयायिक मत गुण-गुणी, अवयव-अवयवी के बीच समवाय संबंध मानते हैं। तत्त्वचिंतामणि¹³² एवं उनकी आलोकटीका को उपाध्यायजी ने नजर समक्ष रखकर समवाय का खण्डन किया है।

द्वितीय प्रकाश के तृतीय वादस्थल हैं—चक्षुअप्राप्यकारितावाद। इसमें नैयायिक मत के अनुसार आँख विषयदेश पर्यन्त जाकर विषय का साक्षात्कार उत्पन्न करता है। यानी चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी है। तब उपाध्यायजी स्याद्वाद रत्नाकर,¹³³ रत्नाकरावतारिका आदि ग्रंथों को आधार मानकर एवं नयी मुक्तियों के द्वारा श्रीमद्गी ने चक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी सिद्ध किया है।

अन्तिम वादस्थल है—अभाववाद। नैयायिक मत अभाव अधिकरण से अतिरिक्त यानी भिन्न है। प्रभाकर मिश्र मतानुसार¹³⁴ शुद्धाधिकरण बुद्धिस्वरूप अभाव को दिखाकर उनका खण्डन किया है। प्रस्तुत वादस्थल का उपसंहार करते ज्ञाना द्वैतनयानुसार¹³⁵ प्रभाकर ने भिन्न मत को सन्मति दी है।

तृतीय प्रकाश में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य एवं पर्याय का संक्षिप्त विवेचन है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रथम प्रकाश से द्वितीय प्रकाश का प्रमाण अल्प है। द्वितीय प्रकाश से तृतीय प्रकाश का प्रमाण अल्प है। फिर भी उपाध्यायजी ने अतिरिक्तकालवादी एवं पर्यायात्मक कालवादी के मतों का विवेचन किया है¹³⁶ एवं लोकाकाश में प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक कालाणु का स्वीकार करना दिग्म्बर मत का विवेचन एवं निरसन करना भी भूले नहीं हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि न्यायलोक ग्रंथ में गागर में सागर युक्ति को चरितार्थ कर प्रस्तुत प्रकरण में प्रत्येक प्रमेयों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत करने के लिए विज्ञ वाचकवर्ग का यह ग्रंथ उपादेय रूप है।

प्रतिमाशतक

उपाध्याय यशोविजय ने 104 श्लोकों में इस ग्रंथ की टीका सहित रचना की। इस ग्रंथ में मुख्य चार वादस्थान हैं—1. प्रतिमा की पूज्यता, 2. क्या विधिकारिता प्रतिमा की ही पूज्यता है, 3. क्या द्रव्यस्तव में शुभाशुभ मिश्रता है, 4. द्रव्यस्तव पुण्यरूप है या धर्मरूप है।

तर्कवाणी से प्रतिमालोपकों की मान्यता को छिन्न-भिन्न करने के बाद द्रव्यस्तव की सिद्धि के विषय में एक के बाद एक आगम प्रकरण पाठों के प्रमाण दिए हैं, जैसे—नमस्कार महामंत्र तथा उपधान विधि के विषय में महानिशीथ का पाठ, भगवतीसूत्रगत चमर के उत्पाद का पाठ, सुधर्मा सभा के विषय में ज्ञानासूत्रगत पाठ, आवश्यक निर्युक्तिगत अरिहंत चेइआणं सूत्रपाठ, सूत्रकृतांगगत बौद्धमत खंडन, राजप्रश्नीय उपांगगत सूर्याभदेवकृत पूजा का पाठ, महानिशीथगत सावधाचार्य और श्री वज्रआर्य का दृष्टान्त द्रव्यस्तव के विषय में आवश्यक निर्युक्तिगत पाठ, परिमर्दन आदि के विषय में आचारांग सूत्र का पाठ, प्रश्नव्याकरण टीकागत सुवर्णगुलिका का दृष्टान्त, द्रौपदीचरित्र के विषय में ज्ञाताधर्मकथा का पाठ, शाश्वत प्रतिमा के शरीरवर्णन के विषय में जीवाभिगम सूत्र का पाठ, प्रतिमा और द्रव्यलिंगी का भेद बताने वाला आवश्यक निर्युक्ति का पाठ, पुरुष विजय के विषय में सूत्रकृतांग का पाठ। विस्तृत आगम पाठ के अलावा पूरे ग्रंथ में सौ के लगभग ग्रंथों के चार सौ से अधिक साक्षी पाठ दिए हैं। इस ग्रंथ में ध्यान, समापति, समाधि, जप आदि को प्राप्त करने के उपाय स्थान-स्थान पर बताये हैं।

इस ग्रंथ की वाचकवर्य की बड़ी टीका के अनुरूप वि.सं. 1793 में पौणिमीर्य गच्छादिश भावप्रभसूरिजी ने छोटी टीका बनाई है। उपाध्यायजी ने ग्रंथ में प्रारम्भ के 69 श्लोक¹⁵⁷ में श्री जिनप्रतिमा का एवं जिनप्रतिमा की पूजा को दिखाने वाले आगमादिक को नहीं मानने वाले लुंपक मत का खंडन किया है।

उनके बाद के 9 श्लोक में धर्मसागरीय मत का खंडन किया है।¹⁵⁸ उनके बाद 2 श्लोक में जिनप्रतिमा की स्तुति की है।

उनके बाद 12 श्लोक¹⁵⁹ में पायचंद मत का एवं 3 श्लोक में पुण्यकर्मचारी के मत का खंडन किया है। दो श्लोक में जिनस्तुति करने का उपदेश दिया है। उनके अलावा जिनस्तुतिगर्भित नयभेदों का भी विवेचन है। 6 श्लोक में सर्वज्ञ प्रभु की एवं उनकी प्रतिमा की स्तुति दिखाकर अंत में प्रशस्ति का विवेचन किया है।

इस ग्रंथ में सहजानंदी उपाध्याय ने परमात्मा का ध्यान धरने के लिए एवं समाप्ति यानी वीतराग की तुल्यता का संवेदन का पान करने के लिए जिनप्रतिमा कंठ आलम्बन को बहुत ही महत्त्व दिया है। इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर ध्यान, समाप्ति, समाधि भय आदि पाने का उपाय दिखाया है। इसमें उनके अनुभवामृत की सुधारस, अध्यात्मरस, प्रशमरस एवं अनालेख्य सहजानंद की प्राप्ति के लिए इस ग्रंथ की उपादेयता एवं आवश्यकता है। अपने भी उनके संवेदन की सुमधुर संगीत सरिता में स्नान करके सरल जीव दृष्टि के प्रति स्नेह सागरस्वामी के सर्वांगव्यापी सान्निध्य के सौभाग्य को प्राप्त करने के लिए वह दो पंक्ति का परामर्श कीजिए।

शास्त्र इव नामादित्रये हृदयस्थिते सति भगवान् पुर इव परिस्फुरति, हृदय मिवानुप्रविशति, मधुरालापत्रिवानु वदति, सर्वांगिणभिवनुभवति, तन्मीभावमिवापद्यते नेन च सर्वकल्याणसिद्धिः।¹⁴⁰

अर्थात् शास्त्र की तरह भगवान के नाम, स्थापना एवं द्रव्य—इन तीन हृदय में स्थिर हो तो जैसे भगवान साक्षात् परिस्फुरायमान होता है, जैसे हृदय में प्रवेशता हो, ऐसा भास होता है, मधुर आलाप को अनुवाद करता हो, ऐसा अनुभव होता है, अपने देह के रोम-रोम में बस गये हों, ऐसी संवेदना होती है एवं उनमें तन्मय हो गये हों, ऐसा आभास होता है। इससे ही सभी प्रकार के कल्याण की सिद्धि होती है। ध्यान एवं योगरसिक इन्सान को परमानंद का अनुभव कराती ये पंक्तियां इस ग्रंथ की प्रधानता बढ़ाती हैं।

यह ग्रंथ प्रतिमा के लिए जो शंका होती है, उस कीचड़ को दूर करने में सक्षम है एवं भव्यजीवों का पुण्य का विस्तार करने वाला यह ग्रंथ उपादेय है।

वादमाला

वादमाला नामक यह ग्रंथ उपाध्यायजी ने तीन भागों में बनाया है—

प्रथमवादमाला—इसमें रचत्ववाद, सन्निकर्षवाद, विषयतावाद आदि का समावेश किया गया है।

द्वितीय वादमाला में वस्तुलक्षण विवेचन, सामान्यवाद, विशेषवाद इन्द्रियवाद, अतिरिक्त शक्तिपदार्थवाद, अदृष्टसिद्धिवाद इन 6 वादस्थलों का समावेश है।

तृतीय वादमाला में चित्ररूपवाद, लिंगोवहित लैंगिक भानवाद, दृव्यनाशहेतुता विचारवाद, सुवर्णतेजसत्त्वातेजसत्ववाद, अंधकार भाववाद, वायुस्पर्शन प्रत्यक्षवाद और शब्दनित्यनित्यवाद—इन सात वादस्थलों का संग्रह है।

यशोविजयजी महाराज ने अपने ग्रंथों में एकान्तवादी मतों के खण्डन और स्याद्वाद सिद्धान्त के सम्यक् मण्डन को प्रायः सर्वत्र स्थान दिया है, जिसका उदाहरण वादमाला प्रकरण में भी है। यद्यपि वादमाला नामक तीन ग्रंथ उपाध्यायजी ने बनाये हैं।

प्रथम वाद में तीन वाद का समावेश किया है। द्वितीय वादमाला में छः वादस्थलों का समावेश किया है। तृतीय वादमाला में सात वादस्थलों का समावेश किया है। यही तृतीय वादमाला वाचकवृंद के कर-कमलों में आज सचित्र विवेचन सहित उपलब्ध है।

प्रथम चित्ररूप वाद में प्रारम्भ में मंगलाचरण करके स्वतंत्र चित्ररूप का स्वीकार करने वाले नव्यनैयायिकों में पूर्व पक्ष का सविस्तार प्रतिपादन दिया गया है, जिसमें अतिरिक्त चित्ररूप का स्वीकार करने वाले प्राचीन विद्वानों के मत का सविस्तार निरूपण एवं निराकरण किया है।

श्रीमद्जी ने प्रस्तुत वादमाला की भांति आत्मख्याति ग्रंथ में एवं नयोपदेश ग्रंथ में प्रौढयुक्ति से चित्ररूपवाद का प्रतिपादन किया है।

इस तरह कल्पलता की षष्ठ स्तबक की 37वीं कारिका में भी विस्तार से चित्ररूपवाद का निरूपण किया एवं वीतराग स्तोत्र की अष्टमप्रकाश की स्याद्वाद रहस्य नामक व्याख्या में 9वीं कारिका के विवरण में सविस्तार चित्ररूप की चर्चा करते हुए बीच में अधिक उत्कृष्ट चित्र दिया गया है। ऐसा उल्लेख उपाध्यायजी महाराज ने किया है।

द्वितीयवाद में अनुमति के विषयरूप पक्ष एवं हेतु होना चाहिए या नहीं, इस बात का उल्लेख किया है।

तृतीय द्रव्यनाश हेतुवाद में निमित्तेतरकारणनाशचेन द्रव्यनाशकता का स्वीकार करने वाले प्राचीन नैयायिक के मंतव्य के खिलाफ असमवायि कारणनाश से द्रव्यनाश का स्वीकार करने वाले नवीन नैयायिक के मत का सयुक्ति प्रतिपादन किया है।

चतुर्थ सुवर्णतेजतत्वाऽतेजमत्यवाद भी विद्वानों के लिए अनुपम आकर्षण का स्थान बनता है। यह नैयायिक एवं स्याद्धादी के बीच में है कि परदर्शनीय-परदर्शनी के बीच! अतएव यह वादस्थल अद्भुत आकर्षण का केन्द्र बनता है। नैयायिक सुवर्ण आदि धातु को तेजस् मानते हैं जबकि स्याद्धादि सुवर्ण आदि धातु को पार्थिव मानते हैं। गंगेश उपाध्याय के तत्त्वचिंतामणि ग्रंथ¹⁴ में प्रत्यक्ष खंड में प्रत्यक्षकारणवापद में सुवर्ण तेजस हैं। इस विषय का विस्तार से निरूपण किया है, जिसका प्रतिपादन एवं परिहार श्रीमद्गी ने यहां अकाद्य युक्ति में बल से किया है।

पंचमवाद में अंधकार भावरूप है या अभावरूप इस प्रश्न की चर्चा की है। मीमांसक अंधकार को भावरूप मानते हैं। छठे वाद में वायु स्पर्शन है या नहीं, इस बात की चर्चा की है।

शब्द नित्य है या अनित्य, इस बात की चर्चा सातवें वाद में की है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं एवं नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं।

उल्लेख—तीन वादमाला पैकी ये वादमाला का उल्लेख अष्ट सहस्री विवरण में है।

विवृति—वादमाला यह तीर्थोद्धारक विजय नेमिसूरि ने 72 पत्र पूरती विस्तृत विवृति संस्कृत में गद्य में वि.सं. 1998 में भावनगर में रची है। प्रारम्भ में मंगलाचरण में एक पद्य है, उसके द्वारा महावीर स्वामी को वंदन किया है। उनमें सात पद्यों की प्रशस्ति है। इसमें दूसरा, तीसरा एवं चौथे पद्य में उपर्युक्त सात वादों को अनुपम दर्शाया है।

वादमाला नाम की एक संस्कृत कृति की 6 हस्तप्रतियां मिलती हैं। नव्यन्याय की शैली का प्रारम्भ निम्न श्लोक से हुआ है—

ऐन्द्रश्रेणिनंतं नत्वा सर्वज्ञं तत्त्वदेशिनम्।

बलानुमुपकाराय वादमाला निबद्धते ॥

इनके बाद तथा प्राचो गुम्फो से शुरू होता दूसरा पद्य एवं वादमालाभियां बाला से शुरू होता पद्य है। उनके बाद का विवेचन गद्य में है।

स्वत्ववाद—यह वादमालागत प्रथमवाद है। स्वत्व यानी स्वामित्व नहीं के अन्य पदार्थ। लगभग 400 श्लोक जितना स्वत्ववाद प्रयोगमाला में भी देखने को मिलता है। उनके बाद अथ सन्निकर्ष ऐसा उल्लेख है। उससे पता चलता है कि सन्निकर्षवाद भी उनके बाद दिया गया है। यह वाद माला अपूर्ण एवं दूसरी वादमाला अनुपस्थ है, ऐसा उल्लेख यशोदोहन में किया गया है।

अतः हम कह सकते हैं कि इस ग्रंथ के पठन-पाठन से पाठकवर्ग अपनी बुद्धि को अनेकान्तवाद परिकर्मित बनाकर शीघ्र आत्मप्रेय श्रेय को प्राप्त करता है। अतः यह ग्रंथ उपादेय है।

उपदेश रहस्य

203 पद्य की यह कृति है। इनकी रचना का मुख्य आधार हरिभद्रसूरि कृत उवसेसपय का उत्तरार्ध है। उपदेश रहस्य में निम्न पंक्ति का समावेश किया गया है--

स्वरूप हिंसा एवं अनुबंध हिंसा (गाथा सं. 4), अपूर्वन्धक ज्ञान (22 से 26), स्याद्वाद (100-102), द्रव्यहिंसा एवं भावहिंसा (118), उत्संग एवं अपकारी (142), सद्गुरु का लक्षण (011-150) एवं वाक्यार्थ इत्यादि का विवेचन (155-164) में है।

गाथा 100-101 में विभज्यवाद पद का उपयोग किया है। उनका अर्थ स्याद्वाद ही होता है, जो निम्न है--

“सदसद विसेसणाओ विभज्जवाय विणा ज सम्मतं।

जे पुण आणरुइणो तं निउणा बिंति दव्वेणं।।

अवि य अणायार सुए विभज्जवाओ विसोसओ सम्मं।

जं वृतोऽणायारो पतेयं दोहि ठणेहिं।।”¹⁴²

अर्थात् विभज्यवाद यानी स्याद्वाद के बिना सद् एवं असद् का भेद करना शक्य न होने से सम्यक्त्व भी न रहे। आज्ञारुचि जीव को सम्यक्त्व होता है। जो द्रव्य से होता है, ऐसा विधानों में कहते हैं।

अनाचारश्रुत अध्ययन में स्याद्वाद को विशेष स्थान दिया है, क्योंकि उनमें दो स्थान से अनाचार होता है।

स्वोपज्ञ विवरण आदि एवं अंत में एक पद से विभूषित यह विवरण संस्कृत में है। उनका परिमाण 3700 श्लोक प्रमाण है। उसमें विविध ग्रंथों की साक्षी दी है।

मूलग्रंथ प्राकृत में, टीका संस्कृत में, शैलीनव्य न्याय की है। उपाध्याय महाराज के उपदेश के विषय को ज्यादा सुवाच्य शैली में इस ग्रंथ में दर्शाया है। उपदेश रहस्य उपदेशपद का सरोवर लगता है। फिर भी यह ग्रंथ निरूपण दृष्टि से मौलिक है, स्वतंत्र है।

उपाध्याय महाराज भगवद् मार्ग की गुंघों, द्विधाएं एवं भ्रमणाओं को स्पष्ट किया है। वरना यह शास्त्र स्याद्वाद रूपी समुद्र में निश्चय-व्यवहार, विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवादमार्ग, ज्ञाननय-क्रियानय आदि मार्गों का विविध नय की दृष्टि से ऐसा विवेचन देखने को मिलता, जो सभी के लिए कष्टदायक बनता। स्याद्वाद शैली का भी अगर सही प्रयोग करना न आये तो परिस्थिति गम्भीर हो सकती है। सुगृहीत च ‘कर्तव्यम्’ इस न्याय स्याद्वाद शैली सप्तभंगी एवं सातनय, निक्षेप आदि पूर्वपर दोष रहित सम्यग्ज्ञान एवं अन्य यथास्थान प्रयोजनकौशल हो तो विश्व की कोई भी विद्या सरलता से सुगम होती है।

ऐसी स्याद्वाद परिपूर्ण रोचक शैली में यह ग्रंथ लिखा गया है। स्याद्वाद का सचित्र ज्ञान देने वाला यह ग्रंथ सभी के मन की द्विधा का परिणामस्वरूप है। इसलिए भी ग्रंथ की उपादेयता है।

भाषा रहस्य

ग्रंथ के नाम से ही पता चलता है कि यह ग्रंथ भाषा की उन ग्रंथियों को सुलझाता होगा, जिनसे अधिकांश जनसाधारण अपरिचित है। अद्यतन काल में भाषा का ज्ञान साधुभगवंत एवं जन-साधारण के लिए नितान्त आवश्यक है। कोई भी भाषा हो, परन्तु वह भाषा सभी प्रकार से विशुद्ध होनी चाहिए,

क्योंकि “भाषा विशुद्ध परम्परा से मोक्ष का कारण है।” यह इस ग्रंथ का हार्द है। यह बात ग्रंथकार ने ग्रंथ की अवतरणिका में ही कही है।¹⁴³

वाक्यगुप्ति अष्टप्रवचन माता का अंग है। भाषा विशुद्धि का अनभिज्ञ अगर संज्ञादि परिहार से मौन देखे तो भी उसे वाक्यगुप्ति का फल प्राप्त नहीं होता है। अतः भाषा विशुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसलिए सावद्य, निरवद्य, वाक्य, अपाध्य, औत्सर्गिक, आपवादिक, सत्य, असत्य आदि भाषा की विशिष्ट जानकारी हेतु अष्टप्रवचन माता के आराधकों के लिए यह ग्रंथ गागर में सागर है।

ऐसे देखें तो यह ग्रंथ विद्वत् भोग्य है। उपाध्यायजी की रहस्यपदोक्ति कृति में रहस्य भरा हुआ ही होता है। फिर भी सभी के उपकार हेतु टीकाकार ने जो हिन्दी में अनुवाद किया है, वह अतीव अनुमोदनीय है, जिसको पाकर सभी वाचक इस अमूल्य ग्रंथ की सुवास से प्रमुदित बन जाते हैं।

प्राचीन ग्रंथों को बिलोकर उसमें से घृत निकालकर परिवेषण करने की अपूर्व शक्ति उपाध्यायजी को मिली हुई थी, अतः उन्होंने इस प्रकार अनेकानेक ग्रंथों का सृजन किया था। प्रस्तुत ग्रंथ उनमें से एक है। दशवैकालिक सूत्र, जिनशासन का अद्वितीय गुणरत्न विशेषावश्यक भाष्य आदि सोने में सुगंध स्वरूप इस ग्रंथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है, जो इस ग्रंथ के हार्द को प्रस्फुरित करती है। अगाध ग्रंथों का अवलोकन करके इस अमूल्य ग्रन्थ की भेंट दी है।

आगम आदि साहित्य में ऐसी कई बातें हैं जो बाह्यदृष्टि से विरोधग्रस्त-सी लगती है। उपाध्यायजी की विशेषता यह है कि उन बातों को प्रकट करके अपनी तीव्रसूक्ष्मग्राही मेधा द्वारा उनके अन्तःस्थल तक पहुँचकर गम्भीर एवं दुर्बोध ऐसे स्याद्वाद नय आदि के द्वारा उसका सही अर्थघटन करते हैं। देखिए—

सच्चंतम्भावे च्विय चउण्हं आराहगतं ज।।19।।

इस गाथा की स्वोपज्ञ टीका में बताया है कि चारों भाषाओं (सत्य, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा) का सत्य में अंतर्भाव होगा, तभी चारों भाषाओं में आराधकत्व रहेगा। इसके लिए ‘प्रज्ञापना सूत्र’¹⁴⁴ को सबल प्रमाण पेश किया है। इस पाठ का तात्पर्य यह है कि आयुक्त परिमाणपूर्वक चारों भाषाओं को बोलने वाला आराधक है। आज तक शास्त्रविहित पद्धति से जिनशासन की अपभ्रजना को दूर करने के लिए प्रयोजन से बोलना, संयमरक्षा आदि के लिए बोलना अर्थ है।

प्रज्ञापना में तो चारों भाषाओं को आयुक्तपूर्वक बोलने पर आराधक कहा है। परन्तु ‘दशवैकालिक सूत्र’¹⁴⁵ ने सप्तमाध्ययन की प्रथम गाथा में तो मृषा एवं भिक्षुभाषा बोलने का निषेध किया गया है। अतः बाह्य-दृष्टि से विरोधक-सा भासित होता है। उपाध्याय ने उपयुक्त¹⁴⁶ विरोधाभास का कुशलतापूर्वक समाधान करते हुए बताया है कि दश सूत्र का कथन औत्सर्गिक है तथा प्रज्ञापनासूत्र का वचन आपवादिक है। अतः अपवाद से चारों भाषाओं को बोलने पर भी उत्सर्ग अबाधित रहता है।

इस प्रकार अनेक विशेषताओं से यह ग्रंथ अलंकृत है। ‘कलिकाल श्रुतकेवली’ का यह ग्रंथ तो साक्षात् अत्युत्तम रत्नस्वरूप ही है।

टीका—वह टीका भी कैसी अद्भुत विद्वतापूर्ण एवं प्रौढ़भाषा युक्त। स्वोपज्ञ टीका के गुप्त भावों को अतिसूक्ष्मतापूर्वक प्रकट करने से यह टीका दिनकर स्वरूप है। वाचक इसका पठन करेंगे तब ही पता चलेगा कि स्वोपज्ञ टीका के लगभग प्रत्येक अंश को लेकर टीकाकार ने किस प्रकार सुन्दर रीति

सँ विशिष्ट क्षयोपशमसाध्य स्पष्टीकरण किया है। उसमें भी स्वोपज्ञ टीका के अन्तर्गत दिक्, ध्येयम्, अन्यत्र, अन्ये आदि शब्दों के स्पष्टीकरण से तो टीकाकार ने कमाल ही कर दिया है। इन स्पष्टीकरण से टीका में चार चांद लग गये हैं। उसी तरह नन्वाशय की तथा स्वोपज्ञ टीका के अनेक स्थलों की अवतरणिका बहुत ही सुन्दर है।

इस टीका को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि यह टीका हकीकत में आर्षटीका की झलक सजाए है। भाषा विषयक रहस्यार्थ का आविष्कार करने वाली प्रस्तुत प्रकरण मंजुषा 101 गाथा स्वरूप रत्नों से भरी हुई है। विषय की गहनता एवं दुर्बोधता को लक्ष्य में रखकर महोपाध्यायजी ने 1055 श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ विवरण भी बनाया है, जो मूलग्रंथ के तात्पर्य को खोलने की एक कुंजी है। मूलप्रकरण के विषयों को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ को 5 स्तबकों में विभक्त किया है। प्रथम स्तबक में भाषा विशुद्धि की आवश्यकता, भाषा द्रव्य का ग्रहण, विसरण एवं पराघात किस तरह होता है? इस विषय के प्ररूपण के प्रसंग में पंचविध भेद का निरूपण करते नैयायिक मत का खण्डन करके विद्यमान भाषाद्रव्यों के नाशप्रसंग का अच्छी तरह निराकरण किया है।

38 से 55 गाथा तक द्वितीय स्तबक में अपना स्थान प्राप्त किया है, जिसमें मृषाभाषा के दशविध विभाग का समर्थन एवं अन्यविध विभाग को भी मान्यता देना—ये दो विशेषताएं उल्लेखनीय हैं।

56 से 68 गाथा पर्यन्त तृतीय स्तबक ने प्रतिष्ठा प्राप्त की है, जिसमें व्यवहारनय से मिश्रभाषा के लक्षण का प्रदर्शन एवं दशविध विभाग का समर्थन नव्यन्याय की गूढ़ परिभाषा में दिया गया है।

69 से 86 गाथा तक 18 श्लोक प्रमाण चतुर्थ स्तबक में असत्य मृषा भाषा के लक्षण तथा आमन्त्रीणी आदि 12 भेद, त्रिविध-श्रुतविषयक भाषा एवं द्विविध चारित्र विषयक भावभाषा का निरूपण उपलब्ध है।

इस ग्रंथ के महत्त्वपूर्ण विषय का सुबोध प्रतिपादन पंचम स्तबक में जो 87 से 102 गाथा पर्यन्त फैला हुआ है, उपलब्ध होता है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ रत्न का अवगाहन कर ग्रन्थ के द्वार तक पहुंचकर अध्येता मुमुक्षुवर्ग मक्खन-सी मुत्तायम, गुलाब-सी खुशबू फैलाने वाली, शक्कर से ज्यादा मधुर एवं विवेकपूर्ण और हित-मित-पथ्य-सत्य शास्त्रीय तथ्यों से भरी हुई वाणी का प्रयोग करके दूसरे के दिल के घाव की मलहमपट्टी करके, कर्मयुक्त होकर शीघ्र मोक्षसुख प्राप्त करेंगे।

योगविंशिकावृत्ति

इस जगत् में अनादि काल से जीव योग मार्ग से च्युत बना हुआ संसार परिभ्रमण से परिपुष्ट बन गया है, जिससे अनेक यातनाओं से पीड़ित घोर वेदनाओं से व्यथित हो रहा है। उन सांसारिक पीड़ाओं से मुक्त होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है योग। जिसमें जीवात्मा जन्म जन्मान्तरीय जन्म-जरा-मरण की भयंकर यातनाओं को दूर करने में प्रयत्नवान बन सके तथा उनसे अपने आपको विच्युत कर अविच्युत सुख की प्राप्ति कर सके।

1444 ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा रचित विंशति विशीकाप्रकरण, जिसमें विविध विषयों पर बीस श्लोकों में अद्भुत निरूपण दिया गया है, उस ग्रन्थ का ही योग विषयक एवं प्रकरण गागर

में सागर-सी उदित को सार्थक करता है। योगविशिका प्रकरण जिसके बीस श्लोकों पर महोपाध्याय यशोविजय ने टीका लिखकर उसमें रहस्य को प्रकाशित किया है।

इस ग्रन्थ में उपाध्याय ने योग की व्यवस्था तथा योग में भेद-प्रभेदों को विविध प्रकार से बताये हैं।

मोक्ष साधक प्रत्येक अनुष्ठान योग कहलाता है तथा आचार पालन में शुद्धि और स्थिरता उत्पन्न करने वाला बनकर पांच प्रकार के योग कहे जाते हैं।

इन पांच योगों को दो भागों में विभाजित करके प्रथम के दो को क्रियायोग तथा अन्तिम तीन योग को ज्ञानयोग कहा है।

स्थानादि योगों के सेवन इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि की अपेक्षा से चार प्रकार के होते हैं अतः योग के कुल छः भेद भी प्रीति, भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठान की अपेक्षा से उत्तरोत्तर विशुद्ध बनते हैं। इस प्रकार मूल 80 भेद होते हैं।

स्थानादि पांच योगों के लक्षण के साथ ही टीकाकारजी ने प्रणिधि, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग पांच आशयों का अलग-अलग अपेक्षा से निरूपण दिया है तथा चार अनुष्ठान का भी सुन्दर विवेचन किया है।

चैत्यवन्दनादि प्रत्येक क्रिया में स्थानादि योगों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए, जिससे धर्मक्रिया अमृत अनुष्ठान बनकर शीघ्र मोक्षफल देने में समर्थ बने। ये स्थानादि योगों में निरन्तर अभ्यास करने से आलम्बन योग में प्रवेश होता है।

आलम्बन योग, ध्यानयोग और अनालम्बन योग समता समाधिरूप है। इसमें विशेष स्थिरता होने पर वृत्तिसंक्षय योग भी प्राप्त होता है, जिससे आत्मा परम निर्वाण पद को प्राप्त करती है।

अन्य दर्शनाकारों ने इसी योग को अन्य नामों से बताया है, जिसमें टीकाकार उपाध्याय महाराज ने अपनी टीका में उसका उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में यह भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्येक अनुष्ठान की तीर्थ उन्नति का कारण है अतः विधि का ही उपदेश देना चाहिए तथा साथ ही गाम्भीर्यपूर्ण तीव्रभावों से अविधि का निषेध भी नितान्त रूप से करना चाहिए। अविधि पूर्वक करने वाले अनेक होने पर भी तीर्थ का उच्छेद हो सकता है और विधिपूर्वक क्रम ही आराधक का अनुष्ठान तीर्थ उन्नति का कारण बनता है।¹⁴⁷

योगविशिका में मोहसागर तैरने की एक सुन्दर पद्धति परिष्कृत की है। सदानुष्ठान हितकारी बतलाते हुए योगविधि के अंग में संयुक्त किया है। योग एक ऐसा विषय है, जिस पर युगों-युगों से आस्था रही है और व्यवस्था भी पुरातन काल से चली आ रही है। आचार्य हरिभद्र योगविद्या के महान् बनकर योग-अनुष्ठानों में प्रीति को और भक्तिभाव को प्रदर्शित करके सम्पूर्ण योगमय जीवन को सत्यतिष्ठित बनाते हैं और योगविशिका जैसे ग्रंथ में योगविद्या की महत्ता का प्रतिपादन कर अपनी योगानुशासन जीवन क्रमता का परिचय देते हैं। योग को मोक्ष का योजक बताते हुए विशुद्ध धर्म व्यापार में मिश्रित कर दिया, यही उनकी योगशीलता सर्वमान्य बनी है।

योगविशिका ग्रंथ पर पं. अभयशेखर विजय का गुजराती भाषान्तर है तथा पं. धीरजलाल, दयालाल मेहता का भी सुन्दर सुबोधगम्य गुजराती भाषान्तर है। इस ग्रंथ पर संस्कृत टीका उपाध्यायजी महाराज ने लिखी है।

स्याद्वाद कल्पलता

हरिभद्रसूरि द्वारा रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय पर उपाध्याय यशोविजय ने स्याद्वाद कल्पलता नामक टीका की रचना करके इस ग्रंथ की शोभा में चार चांद लगा दिए हैं। मूल ग्रंथ का विवरण करते हुए उपाध्यायजी ने स्वतंत्र रूप से अपनी व्यवस्था में प्राचीन एवं नव्यन्याय में प्रसिद्ध अनेक वाद स्थलों का अवतरण किया है। वादस्थली की विस्तृत चर्चा से यह व्याख्या ग्रंथ भी एक स्वतंत्र ग्रंथ जैसा बन गया है। मूल शास्त्रवार्ता समुच्चय ग्रंथ को 11 विभागों में विभक्त करके प्रत्येक विभाग में भिन्न-भिन्न दर्शनों के अनेक सिद्धान्तों का विस्तार से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अनेक नवीन युक्तियों से अनेक पक्ष को उपस्थित किया गया है। यह अतीव बोधप्रद एवं आनन्ददायक है।

प्रथम स्तबक में भूत चतुष्ट्यात्मवादी नास्तिक मत का खण्डन है। दूसरे में काल, स्वभाव, निर्यात और कर्म—इन चारों की परस्पर निरपेक्ष कारणता के सिद्धान्त का खण्डन है। तीसरे न्यायवैशेषिक में ईश्वर कर्तव्य का और संख्याभिमत प्रकृति पुरुष का खंडन है। चतुर्थ में बौद्ध सम्प्रदाय में सौत्रान्तिक मत सम्मत क्षणिक्य में बाधक स्मरणाधनश्रुति दिखाकर क्षणिक बाध्यार्थवाद का खण्डन है। पंचम में योगाचार अभिमत क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन है। छठे में क्षणिक्य साधन हेतुओं का खण्डन, निराकरण दिया गया है। सातवें में जैनमत में स्याद्वाद सिद्धान्त का सुन्दर निरूपण किया गया है। आठवें में वेदान्ती अभिमत अद्वैतवाद का खण्डन विस्तार से बताया है, नवें में जैनागमों के अनुसार मोक्षमार्ग की मीमांसा दी है। दसवें में सर्वज्ञ के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। ग्यारहवें में शास्त्रप्रमाण्य को स्थिर करने के लिए शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध नहीं मानने वाले बौद्ध मत का प्रतिकार किया गया है।

इन सभी स्तबकों में मुख्य विषय के निरूपण के साथ अनेक अवान्तर विषयों का भी निरूपण किया गया है, जिसमें अन्त में स्त्रीवर्ग की मुक्ति का निषेध करने वाले जैनाभास दिगम्बर मत की गम्भीर आलोचना की गई है। उपाध्यायजी ने अपनी स्याद्वाद कल्पलता में जैनेतर दार्शनिकों के अनेक मतों की बड़ी गहरी समीक्षा की है।

स्याद्वाद रहस्य

हेमचन्द्रसूरि के वीतरागस्तोत्र के आरम्भ में अन्तर्विहित रहस्य धोतनार्थ एवं उसके अन्तर्गत शान्तरस का आशवादन करने के लिए उपाध्याय यशोविजय ने स्याद्वाद रहस्य प्रकरण बनाया। अष्ट प्रकाश को नव्यन्याय की परिभाषा से परिप्लावित करने के लिए यशोविजय के हृदय में इतनी उमंग और उल्लास हुआ कि उसी के फलस्वरूप उन्होंने इसी अष्टम प्रकाश पर जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट परिमाण वाले स्याद्वाद रहस्य नाम के तीन प्रकार रचे और स्याद्वाद का सूक्ष्म रहस्य प्रकट किया है।

उनकी साहित्य-साधना का विशिष्ट परिचय

उनकी साहित्य-साधना के इस संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने विविध विषयों पर विविध भाषाओं में ग्रंथों की रचना की है। इससे उनकी बहुश्रुतता का पता चलता है। इस संक्षिप्त विवरण के अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने न केवल जैन धर्म, दर्शन और साधना की विविध विधाओं पर अपने ग्रंथ की रचना की और टीकाएं लिखीं, अपितु योगसूत्र पर भी टीका लिखी। जहां एक ओर वे दर्शन की अतल गहराइयों में उतरकर नव्यन्याय की शैली में स्वपक्ष

का मण्डन और परपक्ष का खण्डन करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे अपनी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय भी देते हुए परपक्ष की अच्छाइयों को भी उजागर करते हैं।

अनेकान्त के सिद्धान्त पर उनकी अनन्य आस्था थी। यह आस्था उनकी सभी कृतियों में फलित होती है। दर्शन, काव्य, साधना और आत्म-साधना तीनों ही पक्ष उनकी कृतियों में देखे जाते हैं। यशोविजय ने अपनी टीकाओं में मूलग्रंथों का आश्रय तो लिया ही है किन्तु इसके साथ-साथ वे विविध दर्शनों में समन्वय का प्रयत्न करते हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने अनेकान्त दृष्टि को प्रमुखता दी है और यह बताया है कि प्रकारान्तर से सभी दर्शन कहीं-न-कहीं अनेकान्तवाद को स्वीकार करके चलते हैं। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी दर्शन अनेकान्त का त्याग करके समन्वय स्थापित नहीं कर सकता है। इससे ऐसा लगता है कि उपाध्याय यशोविजय पर आचार्य हरिभद्र का प्रभाव रहा हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने हरिभद्र के योग संबंधी ग्रंथों पर विशेष रूप से टीकाएं लिखी हैं। दर्शन के अतिरिक्त योग-साहित्य पर भी उनकी कृतियों एवं टीकाओं की उपलब्धता यही सिद्ध करती है कि वे आध्यात्मिक योग-साधक थे। अध्यात्मसार, ज्ञानसार, अध्यात्मोपनिषद्—इन तीन ग्रंथों में उन्होंने शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग जैसे चार योगों की चर्चा विस्तार से की है, किन्तु उनकी योग संबंधी चर्चा का विशिष्ट पक्ष यह है कि वे इन चारों योगों को परस्पर विरोधी न मानकर एक-दूसरे के पूरक मानते हैं। इस प्रकार अपनी कृतियों में ये एक समीक्षक की दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।

यशोविजय के साहित्य का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनकी रचनाएं मात्र तार्किकता और धार्मिक विधि-विधान प्रस्तुत नहीं करती अपितु वे आत्मानुभूति की अतल गहराइयों में जाकर स्वानुभूत सत्य को प्रगट करती हैं। यह ठीक है कि स्वानुभूत सत्य को भाषा की सीमा में बांधकर प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उपाध्याय यशोविजय के अध्यात्म के ग्रंथों में आत्मानुभूतियों को प्रकट करने का प्रयास किया है। न केवल उन्होंने इन स्वानुभूतियों को प्रकट किया है, अपितु ध्यान-साधना का एक मार्ग ऐसा भी प्रस्तुत किया, जिसके सहारे चलकर व्यक्ति उसे स्वयं ही अनुभूत कर सकता है। वस्तुतः उपाध्याय यशोविजय एक तार्किक, दार्शनिक बाद में थे। सबसे पहले वे आत्परसिक साधक हैं और वे इस तथ्य को बहुत स्पष्ट रूप से जानते हैं और मानते हैं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने भाषा रहस्य जैसे ग्रंथ की रचना कर भाषा की सीमितता और सापेक्षता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनकी कृतियों के आधार पर यदि हम कोई विश्लेषण करते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में यशोविजय एक दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं किन्तु अध्ययन और अनुभूति की गहराइयों में जाकर उन्हें दार्शनिक तार्किकता नीरस लगने लगती है। वे योग और ध्यान-साधना की ओर अभिमुख होते हुए प्रतीत होते हैं और अंत में अध्यात्म में निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार यशोविजय की साहित्य-साधना और उनका जीवन-दर्शन—दोनों ही इस सत्य को स्थापित करते हैं कि वे मात्र तार्किक, दार्शनिक, भावुक कवि न होकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार करने वाले महान् साधक थे।

सन्दर्भ सूची—

1. सुजसवेली भाष, यशोविजय के समकालीन मुनि कातिविजयकृत
2. न्यायाचार्य यशोविजय स्मृतिग्रंथ, पुण्यविजय का आमुख, पृ. 12

3. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, सम्पादकीय निवेदन, पृ. 19
4. प्रभावक चरित्र, श्लोक-6
5. जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, मोहनलाल दुलीचंद देसाई, पृ. 625
6. जैन तर्क भाषा का हिन्दी परिचय, पं. सुखलाल संघवी, पृ. 1
7. सुजसेवली भाष, सार्थ का आदिवाच्य
8. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, पुण्यविजय का लेख, पृ. 17
9. एजन, पृ. 18
10. न्यायखण्डखाद्य की प्रशस्ति का अन्तिम पद्य
11. यशोदोहन, मुनि यशोविजय, खण्ड-1, प्रकरण-1, पृ. 4
12. अनेकान्त व्यवस्था की प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में श्रीपद्मविजयानुजः ऐसा उल्लेख है। ये भी दोनों अर्थ का सूचन करते हैं। इस संबंध में देखें—वाचक यशोविजयगणि मोटा के एमना सोदर—पद्मविजय, जैन धर्म प्रकाश, पृ. 73, अंक-11, मुनि यशोविजय
13. 1, 2, सुजसेवली सार्थ, पृ. 4, टिप्पणी-12
14. यशोदोहन, मुनि यशोविजय, खण्ड-1, पृ. 5
15. सुजसेवली भाष, मुनि कान्तिविजय
16. श्री हीरान्वय दिनकृति प्रकृष्टोपाध्यायकित् भुवन गीत कीर्ति वृन्दाः
षट्त्कीर्य दृढपरिरंभ भाग्य प्रसाद भाज! कल्याणोत्तर विजयाभिधा बभूवः॥4॥
तच्छिष्या प्रतिगुणधामे हेमसूरेः श्री लाभोत्तर विजयाभिधा बभूवु!
श्री जित्तोत्तर विजयभिधान श्री नयविजयौ तदीयशिष्यौ॥5॥
तदीय चरणाम्बुज श्रयणाविस्फुरद भारती प्रसाद सुपरीजित प्रवर शास्त्र रलोच्चयैः।
जिनागम विवेचने शिवसुखार्थिना श्रेयसे यशोविजय वाघकैश्यमकारि तत्त्वश्रमः॥6॥
(प्रतिमाशतक टीकाकर्तु प्रशस्ति, उपाध्याय यशोविजय)
इति जगद्गुरु बिरुदधारीश्री हीरविजयसूरीश्वर शिष्य
षट्त्कर्क विद्या विशारद महोपाध्याय श्री कल्याणविजयजी गणि शिष्य शास्त्रज्ञ तिलक पण्डित
श्री लाभविजयजी गणि शिष्य मुख्य पण्डित जीतविजय गणि सतीथ्यालंकार पण्डित श्री
नयविजय गणि चरण कनच्छरीक पण्डित पद्मविजय गणि सहोदर न्याय विशारद महोपाध्याय
यायजी यशोविजयजी गणि प्रणीतं समाप्तमिदं मध्यात्मोपनिषद्-प्रकरण-1, अध्यात्मोपनिषद्,
उपाध्याय यशोविजयकृत
17. मौन एकादशी स्तवन, ढाल-12, कड़ी-5, पृ. 195
18. उन्होंने प्रमेय भंजुषा का संशोधन किया था।
19. सीमंधर स्वामी के विनतीरूप 350 गाथा का स्तवन, ढाल-17, कड़ी-11
20. जम्बूस्वामी का रास (अन्तिम ढाल), मौन एकादशी स्तवन, ढाल-12, कड़ी-4

21. प्रमेयरत्न मंजुषा, प्रशस्ति श्लोक-38
22. मौन एकादशी स्तवन, ढाल-12, कड़ी-4
23. यह मुनि के लिए साम्यशतक का उद्धार करके समताशतक की रचना यशोविजय गणि ने की है। इस ऊपर से यह यशोविजय गणि के शिष्य होने की कल्पना कर सकते हैं।
- 24-26. ज्ञानसार बालावबोध की वि.सं. 1768 में लिखी हस्तप्रति की पुस्तिका वि.सं. 2007 में प्रकाशित ज्ञानसार की आवृत्ति पृ. 198 में है।
27. न्यायाचार्य यशोविजय स्मृतिग्रंथ का आमुख, पृ. 10
28. धनजी सूरु शाह, वचन गुरु नुं सुणी हो लाल।
आणी मन दीनार, रजत ना खरस्यु हो लाल।। (सुजसवेली भाष)
29. पूर्व न्यायविशारदत्वं बिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः,
न्यायाचार्य पदं ततः कृत शतग्रन्थस्य यस्वार्पितम्।
—प्रतिमाशतक, यशोविजय, श्लोक-2, पृ. 1
30. शारद सार दया करो, आपो वचन सुरंग।
तूं उठी मुझ ऊपरे, जाप करत उपगंग।
तर्क काव्य नो ते तदा, दीधे वर अभिराम,
भाषा पण करी कल्पतरु, शाखा सम परिणाम।।
- 31-32. यशोदोहन, मुनि यशोविजय, प्रकरण-3, विशिष्ट अभ्यास, पृ. 15
33. सत्तरत्रयालि चौमासु रहय, पाट नगर डभोई रे।
तिहां सूरपदवी अणसरी, अणसरी करि पातिक धोई रे।। (सुजसवेली)
34. सुरति चोमासु रही रे, वाचक जस करि जोडी, वई.
युग युग मुनि वधु वत्सरई रे, दियो मंगल कोडी।। (प्रतिक्रमण हेतु गर्भित सज्जाय)
युग युग मुनि विद्युत्वत्सरई रे श्री जसविजय उवज्जाय
सुरत चोमासु रही रे, कीधो ए सुपसाय रे। (अगियार अंग सज्जाय)
35. तेजोमय स्तुप पर जो लेख है वो—
संवत् 1745 वर्षे—प्रवर्तमाने मार्गशीर्ष मासे, शुक्ल पक्षे एकादश तिथि।।3।। श्री श्री हरिविजयसूरीश्वर।।4।। कल्याण विजय गणि। शिष्य पं. श्री लाभविजय गणि। शिष्य पं. श्री जितविजय गणि। सोदर। सतीर्थ्य। पं. नयविजय गणि। शिष्य पं. श्री जसविजय गणि ना पादुका कारा पता। प्रतिष्ठितात्रेये। तच्चरणसेवकविजयगणि ना श्री राज नगरे।।
36. सीत तलाई पारवती तिहां थूभ अछें ससनूरो रे।
ते महिथिं ध्वनि न्याय नी, प्रगटे निज दिवस पडूरो।। (सुजसवेली भाष)
37. इस पदुका की प्रतिकृति न्यायाचार्य यशोविजय स्मृति ग्रंथ में प्रथम पृष्ठ के सामने है।
38. यशोदोहन, मुनि यशोविजय, खण्ड-1, प्रकरण-4, पृ. 17
39. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, मुनि यशोविजय, पृ. 10

40. यत्कीर्तिं स्फूर्तिं गानं वहित सुरवधु वृन्द कोलाहलेन,
प्रक्षुब्ध स्वर्गसिंधौः पतित जलभरेः क्षालित सैव्यमेति ।
अश्रान्त भ्रान्त क्रान्त ग्रह गण किरणैस्तापवान् स्वर्णरोलो,
भ्राजन्ते ते मुनीन्द्रा नयविजय बुधाः सज्जन व्रातधुर्या ॥15॥
 41. ज्ञानसार महोपाध्याय यशोविजय पूर्णाष्टक, गाथा-4
 42. ज्ञानसार महोपाध्याय यशोविजय निःस्पृहाष्टक, गाथा-3
 43. ज्ञानसार महोपाध्याय यशोविजय निर्लेपाष्टक, गाथा-2
 44. ज्ञानसार महोपाध्याय यशोविजय आत्मप्रशंसात्यागाष्टक, गाथा-5
 45. नयचक्र उपाध्याय यशोविजय, पृ. 1 (आ.स.)
 46. अध्यात्म मत परीक्षा उपाध्याय यशोविजय, पृ. 1, श्लोक-1
 47. गुरुतत्त्व विनिश्चय उपाध्याय यशोविजय, उल्लास-1, श्लोक-9, पृ. 6
 48. न्यायालोक उपाध्याय यशोविजय श्लोक नं. 5, पृ. 15
 49. गुरुतत्त्व विनिश्चय उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1, पृ. 2
 50. यशोविजयकृत अष्टपदी, उद्धृत—आनन्दघन ग्रंथावली, पृ. 11-12
 51. यशोविजयकृत अष्टपदी, महोपाध्याय यशोविजय, पद-4
 52. शांतिजिन स्तवन आनन्दघन चौबीसी
 53. वही
 54. गुरुतत्त्व विनिश्चय, भाग-1, उपाध्याय यशोविजय प्रारम्भ में
 55. न्यायालोक उपाध्याय यशोविजय अंत में
 56. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, उपाध्याय यशोविजय, पृ. 11
 57. प्रतिमाशतक की टीका, उपाध्याय यशोविजय
 58. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, उपाध्याय यशोविजय, 20वीं द्वात्रिंशिका
 59. अध्यात्मोपनिषद्, उपाध्याय यशोविजय, 9/69
 60. सिद्धहेम शब्दानुशासन व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्रसूरि, सूत्र 1-12
 61. अन्ययोगवच्छेद द्वात्रिंशिका, हेमचन्द्रसूरि, श्लोक नं. 30
 62. इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणा, मुदर घोषामयघोषणा ब्रुवे
न वीतरागात् परमस्ति देवतं, न चाप्येनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥28॥
- अयोगवच्छेदक द्वात्रिंशिका
63. न्याय खण्डखाद्य, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-42
 64. उद्घाविव सर्व सिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्ट्यः ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सिरित्सिवोदधिः ॥
—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, चतुर्थ द्वात्रिंशिका, श्लोक 15

65. इमं ग्रंथं कृत्वां विषयविष विक्षेप कलुषं
फलं नान्यद् याचे किमपि भवभूति प्रभृतिकम्।
इहाऽमूत्रापि स्तान्मय मतिरनेकान्त विषये,
ध्रुवत्येतद् याचे तदिदमनुयाचध्वमपरे।।

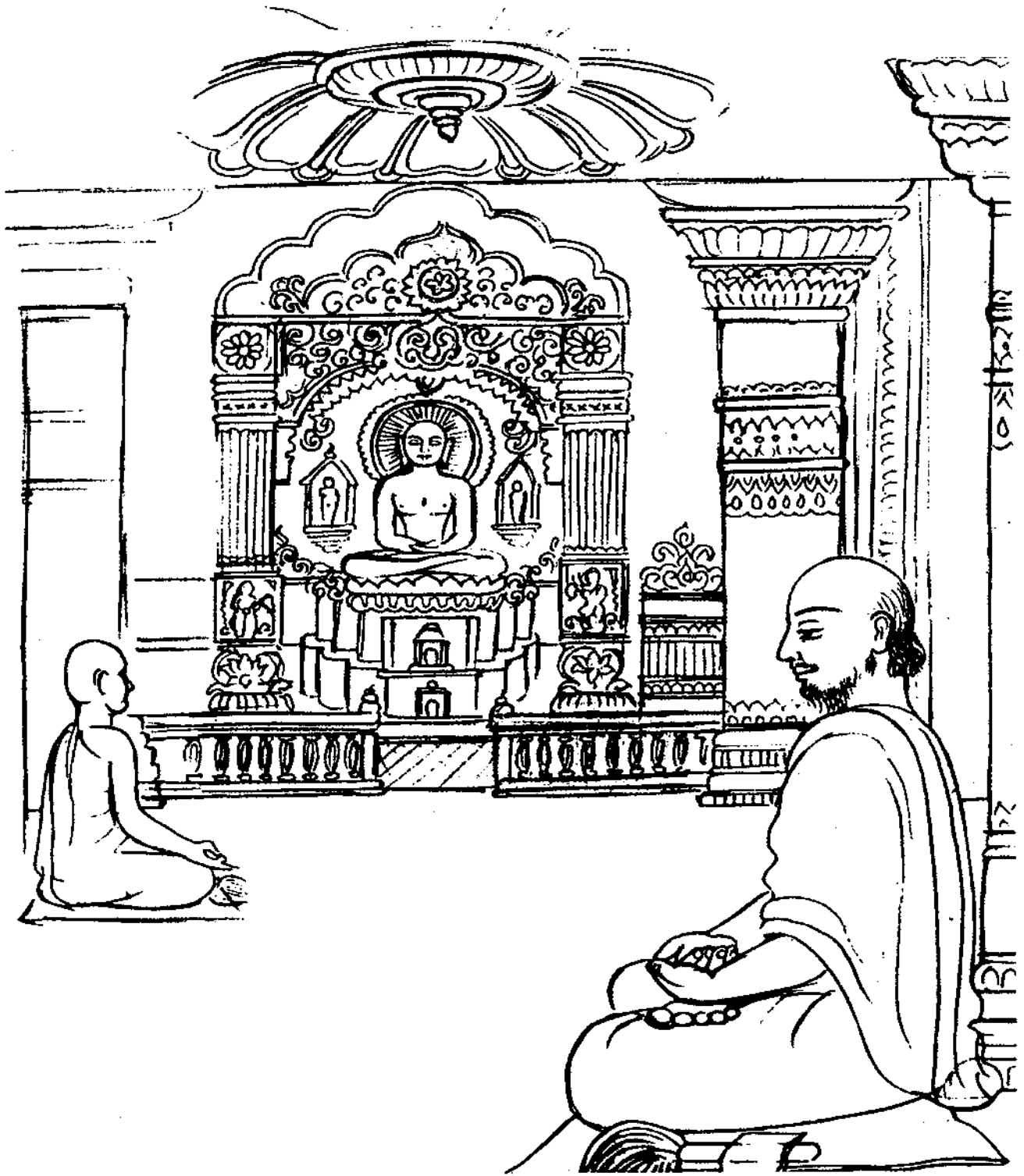
—अनेकान्त व्यवस्था, उपाध्याय यशोविजय, प्रशस्ति, श्लोक-13

66. ज्ञानसार उपाध्याय यशोविजय ज्ञानाष्टक, अष्टक-5, पृ. 52, श्लोक-2
67. दशवैकालिक मूलसूत्र, चतुर्थ अध्ययन, श्लोक 10-4/10
68. सूत्रकृतांग सूत्र, 1/12/11
69. सम्बोधसितरि प्रकरण, गाथा-3
70. नमिजिन स्तवन, उपाध्याय यशोविजय, आनन्दघन ग्रन्थावली
71. वही
72. ज्ञानसार उपाध्याय यशोविजय पूर्णाष्टक-1, गाथा नं. 1, द्वितीय पद
73. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, मुनि यशोविजय, पृ. 47
74. स्याद्वाद की सर्वोत्कृष्टता, यशोविजय
75. तत्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, पंच अध्याय, सूत्र-29
76. वही, सूत्र-30
77. वही, सूत्र-31
78. ऋग्वेद, मं. 10, सूत्र-129 में 1
79. कठोपनिषद्, 2/20
80. इशावास्योपनिषद्, 7/3/1/7
81. भगवद् गीता, 6/2
82. मनुस्मृति, 10/73
83. महाभारत आश्वमेधिक पर्व (अनुगीता), अध्याय-35, श्लोक-17
84. षड्दर्शन समुच्चय टीका
85. वही
86. गुरुतत्व विनिश्चय, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1
87. नयरहस्य, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1
88. नयोपदेश, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1
89. तिऽन्वयोक्ति उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1
90. समुद्रवाहन संवाद, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1
91. आश्रम भजनावलि, महात्मा गांधी

92. आदिजिन स्तवन, उपाध्याय यशोविजय, पद-2
93. अजितनाथ स्तवन, उपाध्याय यशोविजय
94. यशोविजय स्मृति ग्रंथ, मुनि यशोविजय, पृ. 116
95. विमलनाथ स्तवन, उपाध्याय यशोविजय, यशोस्मृतिग्रंथ, पृ. 116
96. सुविधिनाथ स्तवन, उपाध्याय यशोविजय यशोस्मृतिग्रंथ, पृ. 116
97. भगवद् गीता, यशोस्मृति ग्रंथ पृ. 116
98. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, मुनि यशोविजय, पृ. 117
99. नेमनाथ स्तवन, उपाध्याय यशोविजय, पृ. 43
100. वही
101. मल्लधारी हेमचन्द्रसूरिजी, पुष्पमाला ग्रंथ का अधिकार
102. जयवीररायसूत्र प्रार्थनासूत्र गणधर रचित
103. ज्ञानसार, उपाध्याय यशोविजय, अष्टम-32, श्लोक-5
104. अमृतवेल की सज्जाय, उपाध्याय यशोविजय
105. जैन तर्क परिभाषा, उपाध्याय यशोविजय, पृ. 11
106. जैन तर्क परिभाषा, उपाध्याय यशोविजय, पृ. 12
107. जैन दर्शन, महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृ. 548
108. गुरुतत्व विनिश्चय (भाग-1), उपाध्याय यशोविजय, गाथा-20, पृ. 15
109. णिच्छय बहुमाणेण, ववहारो णिच्छओवमो कोई।
ण य णिच्छओ विजुत्तो, ववहारविराहगो कोई।।
गुरुतत्व विनिश्चय, भाग-1, उल्लास-1, गाथा-40, पृ. 33
110. आवश्यक सूत्र में से उद्धृत गुरुतत्व विनिश्चय में वही
111. अध्यात्ममत परीक्षा, उपाध्याय यशोविजय केवलिमुक्ति विचार, श्लोक-112, पृ. 317
112. वही, श्लोक-113, पृ. 318
113. अध्यात्ममत परीक्षा, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-114, पृ. 318
114. यशोविजय स्मृतिग्रंथ, मुनि यशोविजय, पृ. 191
115. यशोदोहन मुनि यशोविजय, खण्ड-2, उपखण्ड-3, पृ. 159
116. वही
117. यशोविजय नाम्ना तत्त्वरणाम्भ्योज सेविना। द्वात्रिंशिकान विवृतिश्चक्रे
तत्त्वार्थ दीपिका-द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका की प्रशस्ति के नीचे का श्लोक
118. यत्र सर्वनयालम्बि विचार प्रवलाग्निम
तात्पर्यश्यामिका न स्यात्, तच्छास्त्रं तापशुद्धिमत् अध्यात्मोपनिषद्। —उपाध्याय यशोविजय
119. नय रहस्य, उपाध्याय यशोविजय, पृ. 4

120. श्रेयः सर्वनयज्ञानां विपुलं धर्मवादतः ।
शुष्कवादाद् विवादाच्च परेणं तु विपर्ययः ॥ —ज्ञानसार, 32/5
121. निश्चये व्यवहार च त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि ।
एक पाक्षिक विश्लेषमारुठाः शुद्ध भूमिकाम् ॥7॥
अमूठ लक्ष्याः सर्वत्र पक्षपात विवर्जिताः
जयन्ति परमानन्द मयाः सर्वनयाश्रयाः । —ज्ञानसार, उपाध्याय यशोविजय, 32/7.8
122. प्रकशितं जनानां येर्मतं, सर्वनयाश्रितम् ।
चित्त परिणतं चेदं येषां तेभ्यो नमोनमः ॥ —ज्ञानसार, 32/6
123. यशोदोहन, मुनि यशोविजय, पृ. 144
124. नयोपदेश, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-48
125. नयोपदेश, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-105
126. अस्मादृशं प्रमादग्रस्तानां चरण करण हीनानाम् ।
अब्धो पोंत इवेह प्रवचनराग! शुभोपायः
—न्यायलोक, उपाध्याय यशोविजय, प्रशस्ति, श्लोक-6, पृ. 338
127. न्यायलोक उपाध्याय यशोविजय, प्रथम प्रकाश, द्वितीय वाद, पृ. 49-84
128. वही, पृ. 51-64
129. वही, तृतीय वाद, पृ. 85-125
130. वही, पृ. 126-146
131. वही, द्वितीय प्रकाश, प्रथम वाद, पृ. 203-212
132. वही, द्वितीय वाद, पृ. 213-236
133. वही, तृतीय वाद, पृ. 237-256
134. वही, चतुर्थ वाद, पृ. 313-318
135. वही, पृ. 319
136. वही, पृ. 327, 329
137. प्रतिमाशतक, उपाध्याय यशोविजय, श्लोक-1-69, पृ. 1-433
138. वही, श्लोक 70-78, पृ. 434-455
139. वही, श्लोक 80-95, पृ. 458-529
140. वही, पृ. 16
141. तत्त्वचिंतामणि, उपाध्याय गंगेश, प्रत्यक्षखण्ड, पृ. 756
142. उपदेश रहस्य, उपाध्याय यशोविजय, गा. 100-101, पृ. 215-217

143. इह खलु निःश्रेयसार्थिना, भाषा विशुद्धि खरयमादेवा,
वाक्य समिति गुप्त्वओश्च तदधीनत्वात् तयोश्च चारित्रांगत्वार
तस्य च परम निःश्रेयस हेतुत्वात् ।।
144. इच्चेयाई भंते! चत्तारि भासज्जाए भासमाणे किं आराहए-विराहए!
गोयमा! इच्चेयाई चत्तारि भासज्जताइं आवुतं भासमाणं आराहए, णो विराहणंत ।
—प्रज्ञापना भाषावाद, सू. 174
145. दो न भसिज्ज सव्वसो ।
—दशवैकालिक, 7/1
146. अतः एव दो न भासिज्ज सव्वसो इत्यस्यापि न विरोध-1
अपवादतस्तद् भाषणेऽप्युत्सर्गनिपायात् ।
147. तित्थस्सुच्छेयाइ वि नालंबण मित्थ जं स एमेव ।
सुतकिरियार नासो एसो असमंजस विहाणा ।।
—योगविंशिका, 14



द्वितीय अध्याय

उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद

अध्यात्मवाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ
उपाध्याय यशोविजय द्वारा गृहित सामान्य अर्थ
नैगम आदि सप्तनयों की अपेक्षा से अध्यात्म का महत्त्व
निश्चय एवं व्यवहारनय की दृष्टि से अध्यात्म
अध्यात्म का स्वरूप एवं विश्लेषण
अध्यात्म के अधिकारी
अध्यात्म के विभिन्न स्तर
धर्म और अध्यात्म
भौतिक सुख और अध्यात्म
अध्यात्म का तात्त्विक आधार—आत्मा
अध्यात्म में साधक, साध्य और साधन

उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद

भूमिका

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही सभी साधना-पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य रहा है। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मूल किसमें है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक एवं मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति में है। यद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है, किन्तु वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे यह दुःख का स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं से परितृप्त करना चाहता है, किन्तु वह अग्नि में डाले गये घृत के समान उसे परिशान्त करने की अपेक्षा और अधिक बढ़ाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत ही स्पष्ट शब्द में कहा गया है कि चाहे स्वर्ण और रजत के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जाएं, किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को तृप्त करने में असमर्थ हैं। न केवल जैन धर्म अपितु सभी धर्मों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति या तृष्णा या ममत्व बुद्धि है। किन्तु तृष्णा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद, हमें सुख और सुविधा के साधन तो दे सकता है किन्तु मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता है। इस दिशा में उसका प्रयत्न टहनियों को काटकर जड़ों को सींचने के समान है। जैन आगमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, उसकी पूर्ति संभव नहीं है। यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का त्याग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है?

यहाँ हमें समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि + आत्म से है। अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता एवं उच्चता का सूचक है। आचारांग में इसके लिए अज्झप्प या अज्झत्थ शब्द का प्रयोग है, जो आन्तरिक पवित्रता या आन्तरिक विशुद्धि का सूचक है। जैन धर्म के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है, जो यह मानती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों से परे उच्च मूल्य भी है और इन उच्च मूल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जैन विचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है—पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को परम मूल्य मानना।

भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है। उसके अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य हैं। मनुष्य भौतिकवादी सुखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख और दुःख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। जैन दर्शन के अनुसार सुख और दुःख आत्मकृत हैं अतः वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों

से न होकर आत्मा से होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुख एवं दुःखों का कर्ता एवं भोक्ता है। वही अपना मित्र एवं शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सदगुणों में स्थित आत्मा मित्र है एवं दुष्प्रतिष्ठित में स्थित आत्मा शत्रु है। आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रंथ में अध्यात्म का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन से युक्त आत्मतत्त्व ही मेरा है, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं। इसलिए ये मेरे अपने नहीं हैं। इन संयोगजन्य उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममत्व रखने के कारण ही जीव दुःख को प्राप्त होता है। अतः उन सांयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिए।

संक्षेप में जैन अध्यात्मवाद के अनुसार देह आदि सभी आत्मोत्तर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग ही साधना का मूल उत्स है। वस्तुतः जहाँ अध्यात्मवाद पदार्थ ही परम मूल्य बन जाता है, अध्यात्म में आत्मा का ही परम मूल्य होता है। जैन अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिए पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है। उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (Equanimity) का सर्जन होता है।

अध्यात्म का मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जो व्यक्तियों की मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का परिष्कार, परिमार्जन और अन्ततः परिशोधन कर, साधक को परम निर्मल शुद्ध परमात्म स्वरूप तक पहुंचा देता है। जिसके हृदय में अध्यात्म प्रतिष्ठित है, उसके विचार निर्मल, वाणी निर्दोष और वर्तन निर्दभ होता है। आध्यात्मिक जीवनशैली में वास्तविक शांति एवं प्रसन्नता होती है, जो केवल भौतिक जीवन में अत्यन्त आसक्त रहते हुए आध्यात्मिक जीवन के आस्वादन से असंस्पृष्ट रहता है, वह अधूरा है, अशांत है, दुःखी है।

आज भौतिक विकास की दृष्टि से मानव अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका है। विज्ञान ने अनेक सुख-सुविधाओं के साधन उपलब्ध करा दिये हैं, लेकिन सारे विश्व में अशांति ज्यों की त्यों बनी हुई है। हिंसा और आतंक से सम्पूर्ण विश्व सुलग रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, राष्ट्रीय संघर्ष, सामाजिक संघर्ष एवं पारिवारिक संघर्ष में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शहरीकरण और औद्योगिकरण की अति के अनेक दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं। विश्व के सामने समस्याओं का अम्बार लगा हुआ है। जितनी सुख-सुविधा बढ़ रही है, उतनी ही अशांति, तनाव एवं संघर्ष भी बढ़ रहे हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि 'सर्वे कामा दुहावह' किसी भी वस्तु की कामना मनुष्य के मन में अशांति उत्पन्न करती है। जितनी इच्छाएँ, उतना दुःख। आज मनुष्य आवश्यकताओं के लिए नहीं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए दौड़ रहा है। आवश्यकता-पूर्ति तो सीमित साधनों से भी हो जाती है किन्तु इच्छाओं की कभी पूर्ति नहीं होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि इच्छाएँ आकश के समान अनन्त होती हैं। उनकी पूर्ति होना असंभव है। इच्छाओं के जाल में फंसकर आज व्यक्ति अपनी शांति, संतोष और सुख भस्मीभूत कर रहा है। एक इच्छा पूरी होने पर दूसरी जागृत हो जाती है और अशांति का प्रवाह निरन्तर बना रहता है।

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार के 7वें अष्टक की तीसरी गाथा में बहुत मार्मिक बात कही है—हजारों नदियाँ सागर में गिरती हैं, फिर भी सागर कभी तृप्त नहीं हुआ, उसी प्रकार इन्द्रियों का स्वभाव भी अतृप्ति का है। अल्पकाल के लिए क्षणिक तृप्ति अवश्य होगी, किन्तु क्षणिक तृप्ति की पहाड़ी में अतृप्ति का लावा रस बुदबुदाहट करता रहता है। आज मनुष्य भौतिक सुख-सुविधाओं के बीच में

भी अतृप्ति का अनुभव कर रहा है, क्योंकि वह आध्यात्मिक मूल्यों को भूल चुका है। सम्यक् समझ के अभाव में स्व को भूलकर शरीर के स्तर पर ही सारा जीवन केन्द्रित हो गया है। अधिकांश मनुष्यों का दृष्टिकोण पदार्थवादी हो गया है। आध्यात्मिक मूल्यों का निरन्तर हास हो रहा है। वर्तमान में समस्याओं का हल तभी हो सकता है, जब व्यक्तियों को ठीक मार्गदर्शन मिले, जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आए एवं उनकी जीवनशैली में सुधार हो। यह मार्गदर्शन अध्यात्मज्ञान ही दे सकता है। आध्यात्मिक जीवनशैली ही व्यक्ति की अशांति, हिंसा, क्रूरता, उपभोक्तावाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, प्रदूषण आदि के खतरों से बचने के लिए संयम का सुरक्षा-कवच प्रदान कर सकती है। अध्यात्म के अभाव में सम्पूर्ण विद्या, वैभव, विलास, विज्ञान शांति देने में समर्थ नहीं हैं। आज तनाव ग्रसित वातावरण में अध्यात्म की आवश्यकता महसूस की जा रही है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। सुखप्रद, शांतिप्रद, कल्याणप्रद, संतोषप्रद जीवन व्यवहार हेतु आध्यात्मिकता की जरूरत नहीं है।

विषयों और कषायों के जाल में फंसा, सम्यग् दर्शन के अभाव में भोगासक्त मानव कभी सुख को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रमाद की गहरी नींद में सोई मानव जाति के लिए किसी कवि ने संदेश दिया है—

माई सूरज जरा इस आदमी को जगाओ,
माई पवन जरा इस आदमी को हिलाओ।
यह आदमी जो सोया पड़ा है,
सच से बेखबर जो सपनों में सोया पड़ा है,
माई पंछी जरा इसके कान पर गीत गाओ।।

अध्यात्म रूपी पंछी ही प्रमाद में सोए हुए मानव को जागृत कर सकता है, उसे सजगता का पाठ पढ़ा सकता है। मानसिक संताप से संतप्त प्राणियों को देखकर ज्ञानियों के मन में करुणा उभर आती है। उपाध्याय यशोविजय के हृदय में भी ऐसा ही करुणा का बीज आप्लावित हुआ होगा, जो उन्होंने भटके हुए प्राणियों को मार्गदर्शन देने हेतु ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, आत्मख्याति, ज्ञानार्णव जैसे विशाल ग्रंथों की रचना की। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भौतिकवाद मिथ्यादृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक्दृष्टि है।

अध्यात्मवाद का अर्थ एवं स्वरूप

बिना प्राण का शरीर जैसे मुर्दा कहलाता है, ठीक उसी प्रकार बिना अध्यात्म के साधना निष्प्राण है। अध्यात्म का अर्थ आत्मिक बल, आत्मस्वरूप का विकास या आत्मोन्नति का अभ्यास होता है। आत्मा के स्वरूप की अनुभूति करना अध्यात्म है। 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। चाहे चींटी हो या हाथी, वनस्पति हो या मानव, सभी की आत्मा में परमात्मा समान रूप से रहा हुआ है, किन्तु कर्मों के आवरण से वह आवरित है। कर्मों की भिन्नता के कारण जगत् के प्राणियों में भिन्नता होती है। कर्मों के आवरण जब तक नष्ट नहीं होते, तब तक आत्मा परतंत्र है, अविद्या से मोहित है, संसार में परिभ्रमण करने वाली एवं दुःखी है। इस परतंत्रता या दुःख को दूर तब ही कर सकते हैं जब कर्मों के आवरण को हटाने का प्रयास किया जाए।

जिस मार्ग के द्वारा आत्मा कर्मों के भार से हल्की होती है, कर्म क्षीण होते हैं, वह मार्ग ही अध्यात्म का मार्ग कहलाता है। जब से मनुष्य सत्य बोलना या सदाचरण करना सीखता है, तब से

ही अध्यात्म की शुरुआत होती है। अध्यात्म का शिखर तो बहुत ही ऊँचा है। उसकी तरफ दृष्टि करते हुए कितने ही व्यक्ति हतोत्साहित हो जाते हैं और अध्यात्म का साधना-मार्ग बहुत ही कठिन समझने लगते हैं। यह बात जरूर है कि सीधे ऊपर की सीढ़ी या मंजिल पर नहीं पहुंचा जा सकता किन्तु क्रमशः प्रयास करने से आगे बढ़ सकते हैं और अंत में मंजिल पर पहुंच सकते हैं। उत्तम गुणों का संचय करने से ही अध्यात्म में आगे बढ़ने का रास्ता मिल जाता है और फिर ऐसी आत्मशक्ति जागृत होती है कि उसके द्वारा अध्यात्म के दुर्गम क्षेत्र में पहुंचने का सामर्थ्य प्रकट होता है।

अध्यात्मवाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

आत्मानं अधिकृत्य यद्वर्तते तद् अध्यात्म^२—आत्मा को लक्ष्य करके जो भी क्रिया की जाती है, वह अध्यात्म है। उपाध्याय यशोविजय भी अध्यात्म शब्द का योगार्थ (शब्द और प्रकृति के संबंध से जो अर्थ प्राप्त होता है, उसे योगार्थ कहते हैं)^३ बताते हुए कहते हैं कि आत्मा को लक्ष्य करके जो पंचाचार का सम्यक् रूप से पालन किया जाता है, उसे अध्यात्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में विशुद्ध अनन्त गुणों के स्वामी परमात्मतुल्य स्वयं की आत्मा को लक्ष्य करके ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और विर्याचार का पालन किया जाता है, वह अध्यात्म कहलाता है।

अध्यात्म के विषय में बहिरात्मा का अधिकार नहीं है उसी प्रकार अंतरात्मा को उद्देश्य करके भी अध्यात्म की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु स्वयं में रहे हुए परमात्म-स्वरूप को प्रकट करने के लिए अंतरात्मा के द्वारा जो पंचाचार का सम्यक् रूप से परिपालन किया जाता है, वही अध्यात्म कहलाता है।

आनंदघनजी ने भी आत्मस्वरूप को साधने की क्रिया को अध्यात्म कहा है।^४

विभिन्न सन्दर्भों में अध्यात्म के अनेक अर्थ होते हैं, अन्तरात्मा में होने वाली प्रवृत्ति अध्यात्म है।^५ मन से परे, जो चैतन्य है, वही अध्यात्म है।

शरीर, वाणी और मन की भिन्नता होने पर भी उनमें चेतनागुण की जो सदृशता है, वह अध्यात्म है।

आत्म-संवेदना अध्यात्म है। वीतराग चेतना अध्यात्म है।

आचारांग सूत्र^६ में भी अध्यात्म पद का अर्थ—‘प्रिय और अप्रिय का समभावपूर्वक संवेदन’ किया है। जैसे स्वयं को प्रिय और अप्रिय के अनुभव में सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वैसे ही दूसरे जीवों को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है।

अध्यात्म शब्द अधि+आत्मा से बना है।^७ अधि उपसर्ग भी विशिष्टता का सूचक है। जो आत्मा की विशिष्टता है, वही अध्यात्म है। चूंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है अतः ज्ञान-द्रष्टा भाव की विशिष्टता ही अध्यात्म है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म का स्वरूप संक्षेप में बताते हुए कहा है^८ कि—जिन साधकों की आत्माओं के ऊपर से मोह का अधिकार चला गया है, ऐसा साधक आत्मा को लक्ष्य करके शुद्ध क्रिया का आचरण करता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।

इस प्रकार परमात्मस्वरूप प्रकट करने का लक्ष्य, पंचाचार का सम्यक् परिपालन और मोह के अधिपत्य से रहित चेतना—इन तीनों का समन्वय अध्यात्म कहलाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए की गई कोई भी क्रिया बिना अध्यात्म-चेतना के संभव नहीं है।

उपाध्याय यशोविजय द्वारा गृहीत सामान्य अर्थ

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म का रूढ़ अर्थ इस प्रकार बताया है कि सदुधर्म के आचरण से बलवान बना हुआ तथा मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ भावना से युक्त निर्मल चित्त ही अध्यात्म है।⁹

दूसरे प्राणियों के हित की या कल्याण की चिंता करना—यह मैत्री भावना कहलाती है। परोपकाराय सतां विभूतयः—सज्जन व्यक्ति को भी जो मानसिक, शारीरिक या आर्थिक सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह हमेशा दूसरों पर उपकार करने के लिए होती है।¹⁰

कोई भी प्राणी पाप न करे। कोई भी जीव दुःखी न हो और सारा जगत् बंधन से मुक्त हो, मुक्ति को प्राप्त करे। इस प्रकार की बुद्धि मैत्री-भावना कहलाती है। क्षमा मांगना और क्षमा करना, यह जैन शासन की शुद्ध नीति है।¹¹

अतः अध्यात्म की प्रथम सीढ़ी मैत्री भावना है।

साथ ही पर-दुःखनाशक परिणति, अर्थात् दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा करुणा कहलाती है। करुणाभावना से युक्त व्यक्तियों की दृष्टि बहुत विशाल होती है। आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना से वे अपने ही समान सभी प्राणियों को देखते हैं। दूसरों का दुःख देखकर उनका मन द्रवित हो जाता है और उनके दुःखों को किस प्रकार दूर करना है, यह विचार बार-बार आता है। प्रायः इसी कारुण्य भावना को भाते हुए तीर्थंकर जैसे श्रेष्ठ मनुष्यों को भी नामकर्म का बंध होता है।

करुणा का दोहरा लाभ है। वह करने वाले एवं जिस पर करुणा की जाती है—दोनों को सुख प्रदान करती है।¹² करुणा में दोनों को लाभ होता है।

पर-सुख तुष्टिर्मुदिता—दूसरों के सुख में आनन्द अर्थात् गुणवानों के गुणों और उनके आचरण को देखकर हृदय में जो हर्ष उत्पन्न होता है, उसे प्रमोदभावना कहते हैं। प्रमोदभावना भाते समय अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। गुणों को प्राप्त करने का यह सीधा उपाय है कि महान् पुरुषों के जिन गुणों को प्राप्त कर लिया हो, उनकी हृदय से अनुमोदना करना। प्रमोद भावना से गुणों की प्राप्ति होती है और अनुमोदना करते समय अगर वह गुण अपने में ही है, तो चित्त अधिक स्वच्छ एवं निर्मल बनता है।

परदोषोक्षेपणमुपेक्षा—असाध्य कक्षा के दोष वाले जीवों पर करुणायुक्त उपेक्षादृष्टि रखना माध्यस्थ भावना है। जब उपदेश देने पर भी सामने वाला व्यक्ति महापाप के उदय से रास्ते पर नहीं आता है, तो फिर उसके प्रति उपेक्षा रखना ही अधिक उचित है। हितोपदेश नहीं सुनने वालों पर भी द्वेष नहीं करना चाहिए। उपाध्याय यशोविजय ने द्वेष की सञ्ज्ञाय में कहा है¹³ कि—गुणवान के प्रति आदर-भाव एवं निर्गुण के प्रति समचित्त रखना चाहिए। माध्यस्थभावना सांसारिक प्राणियों के विश्रांति लेने का स्थान है। यहाँ भावनाओं के आधार पर अध्यात्म का यथार्थ स्वरूप दिखाया है।

नैगमादि सप्तनयों की अपेक्षा से अध्यात्म का महत्त्व

यहाँ विभिन्न नयों की अपेक्षा से अध्यात्म स्वरूप का विवेचन करने से पहले नयों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। वक्ता के अभिप्राय को समझने के लिए जैन आचार्यों ने नय एवं निक्षेप ऐसे

दो सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। उपाध्याय यशोविजय ने नय का सामान्य लक्षण बताते हुए कहा है कि प्रमाण द्वारा जानी हुई अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाला तथा अन्य अंशों का निषेध नहीं करने वाला अध्यवसाय विशेष नय कहलाता है।¹⁴

नय की परिभाषा करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि वक्ता का अभिप्राय ही नय कहा जाता है।¹⁵

नय सिद्धान्त हमें वह पद्धति बताता है, जिसके आधार पर वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक सन्दर्भ को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

नयों की अवधारणा को लेकर जैनाचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वस्तु का अभिप्राय अथवा वक्ता की अभिव्यक्त शैली ही नय है, तो फिर नयों के कितने प्रकार होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि जितनी कथन करने की शैलियाँ हो सकती हैं, उतने ही नयवाद हो सकते हैं।¹⁶ फिर मोटे रूप से जैन-दर्शन में सप्तनयों की अवधारणा परिलक्षित होती है। सप्तनयों में—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—इन चार नयों का अर्थ, पदार्थ से संबंधित नय तथा शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत—इन तीन नयों का शब्दनय अर्थात् कथन से संबंधित नय कहा गया है।¹⁷

नैगमनय—गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान, क्रिया और कारक आदि में भेद और अभेद की विवक्षा कथन करना नैगमनय है। इन सप्तनयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। नैगमनय मात्र वक्ता के संकल्प को ग्रहण करता है।¹⁸ नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है, जिससे वह कथन किया गया है। नैगमनय संबंधी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि संपादित की जाने वाली क्रिया के अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक पक्ष की ओर ध्यान नहीं देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति मकान के लिए किसी जंगल से मिट्टी लेने जाता है और उसे पूछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो तो वह कहता है कि मैं मकान लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः वह जंगल से मकान नहीं अपितु मिट्टी ही लाता है लेकिन उसका संकल्प मकान बनाना ही है अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही कथन को करता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी दूकान पर कपड़ा लेने के लिए जाता है और उससे कोई पूछता है कि तुम कहां जा रहे हो तो वह उत्तर देता है कि कोट सिलाना है। वास्तव में वह व्यक्ति कोट के लिए कपड़ा लेने जा रहा है न कि कोट सिलाई करने के लिए जा रहा है। कोट तो बाद में सिया जायेगा, किन्तु उस संकल्प को दृष्टि में रखते हुए वह कहता है कि कोट सिलाने जा रहा हूँ। वैसे भी हमारी व्यावहारिक भाषा में ऐसे अनेक कथन होते हैं, जब हम अपने भावी संकल्प पर ही वर्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं, जैसे—इंजीनियरिंग में पढ़ने वाले विद्यार्थी को उसके भावी लक्ष्य की दृष्टि से इंजीनियर कहा जाता है। नैगमनय के कथनों का वाच्यार्थ भविष्यकालीन साध्य या संकल्प के आधार पर निश्चित होता है। औपचारिक कथनों का अर्थ निश्चय ही नैगमनय के आधार पर होता है, जैसे प्रत्येक भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्ण जन्माष्टमी कहना। यहां वर्तमान में भूतकालीन घटना का उपचार है। सामान्य और विशेष स्वरूप से अर्थ को स्वीकार करने वाला नैगमनय होता है।

संग्रहनय—सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रहनय है। भाषा के क्षेत्र में अनेक बार हमारे कथन व्यष्टि को गौण कर, समष्टि के आधार पर होते हैं। जैन आचार्यों के अनुसार जब

विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर जब कोई कथन किया जाता है तो वह संग्रहनय कथन माना जाता है।¹⁹ संग्रहनय का वचन संगृहित या पीड़ित अर्थ का प्रतिपादक है, जैसे—भारतीय गरीब हैं, यह कथन व्यक्तियों पर लागू न होकर सामान्य रूप से भारतीय जनसमाज का वाचक होता है। जीव, द्रव्य का एक भेद है। जीव में जीवत्वसामान्य अपर सामान्य है। इस प्रकार जितने भी अपर सामान्य हो सकते हैं, उन सबका ग्रहण करने वाला नय अपर संग्रह है। संग्रहनय हमें संकेत करता है कि समष्टिगत कथनों के तात्पर्य को समष्टि के सन्दर्भ में ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए और उसके आधार पर समष्टि के प्रत्येक सदस्य के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

व्यवहारनय—संग्रहनय द्वारा गृहित अर्थ की विधि पूर्वक अवहरण (विभाग) करना व्यवहार नय है।²⁰ व्यवहारनय को हम उपयोगितावाद दृष्टि कह सकते हैं। लौकिक अभिप्राय समान उपचार बहुल, विस्तृत अर्थ विषयक व्यवहार नय है।²¹ केवल सामान्य के बोध से या कथन से हमारा व्यवहार नहीं चल सकता है। व्यवहार के लिए हमेशा भेदबुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। जैसे जैन आचार्यों ने इसे व्यक्तिप्रधान दृष्टिकोण भी कहा है। जो अध्यवसाय विशेष लोगों के व्यवहार में उपायभूत है, वह व्यवहारनय कहलाता है।²² जैसे—तेल के घड़े में लड्डू रखे हैं। यहाँ तेल के घड़े का अर्थ ठीक वैसा नहीं है, जैसा कि मिट्टी के घड़े का अर्थ है। यहाँ तेल के घड़े का अर्थ वह घड़ा है, जिसमें पहले तेल रखा जाता था।

ऋजुसूत्र नय—भेद या पर्याय की विवक्षा से जो कथन किया जाता है, वह ऋजुसूत्र नय का कथन होता है।²³ इसे बौद्ध दर्शन का समर्थक बताया जाता है। यह नय भूत और भविष्य की उपेक्षा करके केवल वर्तमान स्थितियोग को दृष्टि में रखकर कोई कथन करता है। उदाहरण के लिए भारतीय व्यापारी न्यायी नहीं हैं—यह कथन केवल वर्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन एवं भविष्यकालीन व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते। ऋजुसूत्र हमें यह बताता है कि उसके आधार पर कथित कोई भी वाक्य अपने तात्कालीन सन्दर्भ में सत्य होता है। अन्यकालीन सन्दर्भों में नहीं।

× **शब्द नय—**काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से अर्थ-भेद मानना शब्द नय है। शब्द नय हमें बताता है कि शब्द नय का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रियापद आदि के आधार पर बदल जाता है, जैसे—तटः, तटी, तटम्—इन तीन शब्दों के अर्थ समान होने पर भी तीनों पदों से वाच्य, नदी, तट अलग-अलग हैं, क्योंकि समानार्थक होने पर भी तीनों शब्दों में लिंग भेद हैं।

काल के भेद से — काशी नगरी थी और काशी नगरी है।

कारक भेद से — मोहन को, मोहन के लिए, मोहन से आदि।

लिंग भेद से — शब्द नय स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोध पुल्लिंग से नहीं मानता।
स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोध नपुंसक लिंग से नहीं मानता।

संख्या के भेद — एकत्व, द्वित्व और बहुत्व।

दूसरा उदाहरण, जैसे—मैं कश्मीर गया था और हम कश्मीर जा रहे हैं। इन दोनों वाक्यों में भूतकाल में एवं वर्तमान काल में कश्मीर जाने की बात कही है।

समभिरूढ़ नय—यह नय पर्यायवाची शब्दों में व्युत्पत्ति भेद से अर्थ-भेद को स्वीकार करता है।²⁴ इस नय से अभिप्राय यह है कि जीव, आत्मा, प्राणी—ये शब्द अलग-अलग हैं, इसके लिए अर्थ भी अलग-अलग मानना चाहिए। कारण पर्यायवाची शब्दों की भी प्रवृत्ति निमित्त अलग-अलग होती है, जैसे—नृपति, भूपति, राजा शब्द एवं घट, कलश, कुंभ शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं परन्तु समभिरूढ़ नय की अपेक्षा से प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग है।

एवंभूत नय—इस नय के अनुसार शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत धात्वार्थ या क्रिया से युक्त अर्थ ही उस शब्द का वाच्य है। इस नय के मतानुसार केवल क्रिया को ही शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त मानते हैं, जैसे—एक शराबी तभी शराबी कहा जा सकता है, जब वह शराब पीता है। एक वकील तभी वकील कहा जा सकता है, जब वह कोर्ट में न्याय कराता है। एक राजा तभी राजा कहा जा सकता है, जब वह राज-दरबार में प्रजा के सामने बैठता है। एक अध्यापक तभी अध्यापक कहा जा सकता है, जब वह बच्चों को पढ़ाता है। 'गच्छति इति गौ' इस नय के अनुसार गाय जब जलती है, तभी उसके लिए गौ शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। संक्षेप में एवंभूत नय अर्थक्रिया विशिष्ट जाति जहाँ हो, वहीं पर उस शब्द का प्रयोग मानता है।

अध्यात्म संबंधी नय-व्यवस्था

सप्त नयों के सामान्य स्वरूप के बाद अब सप्तनयों की दृष्टि में अध्यात्म-स्वरूप की विवेचना इस प्रकार है—

नैगमनय की दृष्टि में अध्यात्म

नैगमनय के मतानुसार देव गुरु आदि के पूजनरूप पूर्व सेवा—अध्यात्म है। योगबिन्दु में पूर्वसेवा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि गुरुदेव पूजन, सदाचार, तप एवं मुक्ति से अद्वेष, मोक्ष का विरोध नहीं करना—इनको शास्त्रमर्मज्ञों ने पूर्व सेवा कहा है।²⁵

पूर्व में विवेचन कर दिया गया है कि जो भी कार्य किया जाने वाला है, उसका संकल्प मात्र नैगमनय है, उसी प्रकार अध्यात्म के विषय में पूर्व सेवा, शास्त्रलेखन आदि, योगबीज का ग्रहण, योग, इच्छा-योग, प्रीति, भक्ति आदि अनुष्ठान, पंचाचार का पालन—इन सभी अलग-अलग अवस्थाओं में अध्यात्म को स्वीकार करने वाला नैगमनय है।²⁶

योगबिन्दु ग्रंथ में बताया है—1. औचित्यपूर्ण व्यवहार, 2. अनुष्ठान स्वरूप धर्म में प्रवृत्ति और 3. सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करना—इन तीनों को शास्त्रकार अध्यात्म कहते हैं।

इष्टदेवादि को नमस्कार, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, तप, जीवादि के प्रति मैत्र्यादि भावना का चिंतन करना आदि अध्यात्म है।

इस प्रकार स्थूलता को देखने में निपुण ऐसे नैगमनय द्वारा मार्गानुसारी आदि का आश्रय लेकर स्वयं के सिद्धान्त में विरोध न आए, ऐसे अनेक प्रकार के अध्यात्म स्वीकार कर सकते हैं।

संग्रहनय की दृष्टि में अध्यात्म

सभी विशेष अंशों को सामान्य रूप से एकत्र करने का दृष्टिकोण होने से संग्रहनय अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षेप आदि को अलग-अलग स्वीकार करने के स्थान पर सभी में व्याप्त व्यापक तत्त्व

को अध्यात्म के रूप में स्वीकार करता है। ध्यान, समता आदि को अध्यात्म के रूप में संग्रह करने के लिए संग्रहनय अध्यात्म की व्याख्या इस प्रकार करता है कि क्लिष्ट चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक एकाग्रचित्त के व्यापार से समता का आलम्बन लेकर जो सम्यक् पंचाचार का पालन है, वही अध्यात्म है।²⁷

यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि संग्रहनय के मत से सभी सत् है, किन्तु भूतल पर रहे हुए घड़े की ओर इशारा करके यह पूछे कि यह क्या है तो संग्रहनयवादी कहेगा कि वो सत् है, क्योंकि घड़े में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुण रहा है, जो सत् का वाचक है। ठीक उसी तरह केवलभावना आदि भी अध्यात्मस्वरूप बन सकती है।

अपुनर्बन्धक अवस्था से लेकर अयोगी गुणस्थानक तक की उस अवस्था की अपेक्षा से की गई क्रिया अध्यात्म है।²⁸

व्यवहारनय की दृष्टि में अध्यात्म

बाह्य व्यवहार से पुष्ट मैत्र्यादिभावना से युक्त निर्मल चित्त अध्यात्म है।²⁹ व्यवहारनय के मत से भव्यजीव के सधर्म आचरण से चित्त निर्मल वृत्ति अध्यात्म है, चित्त किन्तु अभव्य जीवों के द्वारा किया हुआ सद्धर्म का आचरण चित्त शुद्धि का हेतु नहीं होता है, इसलिए वह अध्यात्म नहीं है। केवल अपुनर्बन्धक सम्यक्दृष्टि जीव के द्वारा किया हुआ सद्धर्म का आचरण ही अध्यात्म है।

व्यवहार नय का आश्रय लेकर ही योगसार ग्रंथ में भी कहा गया है—सदाचार ही साक्षात् धर्म है, सदाचार ही अक्षय निधि है, सदाचार ही दृढ़ धैर्य है, सदाचार श्रेष्ठ यश है।

ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में अध्यात्म

क्षणिक वर्तमानकालीन पर्यायों को स्वीकारने के कारण इस नय की दृष्टि में मैत्र्यादि से युक्त निर्मल वर्तमानकालीन स्वकीय चित्तलक्षण (विज्ञानक्षण) ही अध्यात्म है। ऋजुसूत्र वर्तमानकालीन स्वकीय भाव अध्यात्म को छोड़कर, अन्य भूतकालीन अध्यात्म, भविष्यकालीन अध्यात्म, नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म और द्रव्य अध्यात्म को स्वीकार नहीं करता है।

बौद्ध विद्वानों ने भी ब्रह्म-विहार से वासित चित्तलक्षण को अध्यात्म कहा है। बौद्ध विद्वानों ने मैत्री आदि चार भावनाओं को ब्रह्म-विहार के रूप में स्वीकार किया है।

शब्दनय की दृष्टि में अध्यात्म

शब्दनय, शास्त्रयोग, वचन-अनुष्ठान-स्थैर्ययम-सिद्धि विनियोग-आशय-आगम के अनुसार तत्त्व चिंतन-ध्यान, विधि-जयणा से युक्त पंचाचार का पालन आदि अध्यात्म रूप में स्वीकार करता है। इसका कारण यह है कि शास्त्रयोग आदि अध्यात्मपद से वाच्य ऐसी अर्थक्रिया करने के लिए समर्थ है। आचार्य हरिभद्र ने योगबिन्दु ग्रंथ में बताया कि व्रत-सम्पन्न व्यक्ति का मैत्री आदि भाव प्रधान आगमानुसारी तत्त्वचिंतन अध्यात्म है। यह शब्दनय के अनुसार की गई अध्यात्म की व्याख्या है।

समभिरूढ़ नय की दृष्टि में अध्यात्म

इस नय के अनुसार अध्यात्म भावना, ध्यान, योग आदि के शब्दों के भेद से अर्थ का बंध रहा हुआ है। फिर भी साधक पुरुष ने शुद्ध आत्मदशा को केन्द्र में रखकर पंचाचार का पालन किया है

तथा उसकी स्वानुभूति उस साधक पुरुष के पास जब तक रहेगी, तब तक स्वाध्याय, शासन प्रभावना, विहार, भिक्षाटन तथा निद्रा आदि अवस्थाओं में भी उस साधक पुरुष में अनासक्ति-असंग-अनुष्ठान का जो भी भाव रहेगा, वही समभिरूढ़ नय के मतानुसार अध्यात्म कहा जायेगा।³⁰

एवंभूत नय की दृष्टि में अध्यात्म

इस नय की दृष्टि में जब आत्मा को लक्ष्य करके पंचाचार का सम्यक् रीति से पालन होता है, तब ही वह अध्यात्म होता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि आत्मकेन्द्रित पंचाचार के पालनरूप अध्यात्म शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ यही है। इसलिए जीव में जब तक आत्मकेन्द्रित पंचाचार का सम्यक् परिपालन नहीं हो, तब तक उसमें अध्यात्म का स्वीकार नहीं हो सकता।

निश्चय एवं व्यवहारनय की दृष्टि से अध्यात्म

व्यवहार और निश्चय का झगड़ा बहुत पुराना है। भगवान् महावीर ने दोनों रूपों का समर्थन किया और अपनी दृष्टि से दोनों को यथार्थ बताया है। इस लोक में जिस वस्तु के लिए जैसा व्यवहार होता है अर्थात् लोक में जो वस्तु जिस प्रकार से प्रसिद्ध हो, उसके आधार पर वस्तु का प्रतिपादन व्यवहारनय करता है। जैसे कौए में पांचों वर्ण रहने पर भी लोक में कौआ काला है—ऐसी कौए की प्रसिद्धि है। इसलिए व्यवहारनय यही स्वीकारता है कि कौआ काला है।

निश्चयनय तात्त्विक अर्थ को स्वीकारता है। पदार्थ के सूक्ष्म रूप का ज्ञान होता है। निश्चयनय के अनुसार कौआ केवल काला ही नहीं है, कौए का शरीर बादरस्कन्धक रूप होने से यहाँ पांचों ही वर्ण वाले पुद्गलों से बना हुआ है इसलिए निश्चयनय के अनुसार तो कौआ पांच वर्ण वाला है, ऐसा ही मानता है।

वैसा ही दूसरा उदाहरण है कि जब भगवान् महावीर एवं गौतम के बीच एक संवाद हुआ था, तब गौतम महावीर से पूछते हैं—भगवन्! पतले गुड़ (फाणित) में कितने वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं? महावीर उत्तर देते हैं—गौतम! इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से दिया जा सकता है। व्यवहार नय दृष्टि से वह मधुर है और नैश्चयिक नय की अपेक्षा से वह पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श वाला है। इसी प्रकार गंध, स्पर्श आदि से संबंधित अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चय से उत्तर दिया है। इन दोनों दृष्टियों से उत्तर देने का कारण यह है कि व्यवहार को भी सत्य मानते हैं। परमार्थ के आगे व्यवहार की उपेक्षा नहीं करना चाहते थे। व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों को समान रूप से महत्त्व देते थे।

व्यवहारदृष्टि और निश्चयदृष्टि में यही अन्तर है कि व्यावहारिक दृष्टि इन्द्रियाश्रित है, अतः स्थूल है जबकि नैश्चयिक दृष्टि इन्द्रियातीत है, अतः सूक्ष्म है। एक दृष्टि से पदार्थ के स्थूल रूप का ज्ञान होता है और दूसरी से पदार्थ के सूक्ष्म रूप का, दोनों दृष्टियाँ सम्यक् हैं। दोनों यथार्थता को ग्रहण करती हैं फिर भी जहाँ निश्चयनय स्वयं के आश्रित होता है, वहीं व्यवहारनय पराश्रित होता है।

वस्तु का जैसा स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यावहारिक दृष्टि को काम में लेते हैं। जैसे मिश्री की डली को हम सफेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चय की बात देखिए, उस दृष्टि के अनुसार

उसमें सब रंग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहाँ तक आ जाते हैं कि वह परमाणुओं से बनी है। ये दोनों दृष्टियाँ मिलकर ही सत्य को पूर्ण बनाती हैं। जैन दर्शन की भाषा में यह निश्चय और व्यवहारनय कहलाती हैं।³¹

बौद्ध दर्शन में इन्हें लोक संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य कहा जाता है।³²

शंकराचार्य ने ब्रह्म को परमार्थ सत्य और प्रपंच को व्यवहार सत्य माना है।³³

प्रोफेसर आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किये बिना हम उसे छू नहीं सकते।

(We can only know the relative truth but absolute truth is known only to the universal observer, Mysterious Universe, p. 138)

निश्चय दृष्टि अभेद प्रधान होती है, व्यवहार दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है। दोनों में भेद नहीं है। व्यवहार दृष्टि कर्मबंध आत्मा को जीव कहती है और कर्ममुक्त आत्मा को शिव।

जीवः शिवः शिवौ जीवो, नान्तरं शिवजीवयोः।

कर्मबन्धो भवेज्जीवः कर्म मुक्तः सदा शिवः।।

अध्यात्म का स्वरूप एवं विश्लेषण

निश्चयनय की दृष्टि से अध्यात्म

निश्चय नय स्वाश्रित होता है, इसलिए इसके अनुसार ऐसे विशुद्ध स्वयं की आत्मा में रमण करना ही अध्यात्म कहलाता है। ध्यानस्तव नामक ग्रंथ में निश्चय नय का विषय कर्ता-कर्म आदि की अभिन्नता और व्यवहार नय का विषय उनकी परस्पर भिन्नता है।³⁴ इस बात का अनुसरण करते हुए हम कह सकते हैं कि आत्मा आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में से आत्मा में रहकर आत्मा को प्राप्त करे, वही आत्मा कहलाता है। इसका यह व्यावहारिक उदाहरण है, जैसे—रसोई में बालिका भूख को मिटाने के लिए डिब्बे में से हाथ द्वारा मिठाई को लेकर खाती है। यहाँ एक क्रिया के छः कारक हैं और सभी भिन्न-भिन्न हैं।

1. बालिका—कर्ता
2. मिठाई—कर्म
3. हाथ—करण
4. भूख को मिटाना—संप्रदान
5. डिब्बे में से निकालना—अपादान और
6. रसोईघर—अधिकरण।

निश्चयनय के अनुसार आत्मद्रव्य में भी छः कारक की यह घटना घटित हो सकती है। एक स्तवन में कवि ने लिखा है—

कारक षटक थया तुझ के आत्म तत्व मा धारक गुण समुदाय सयल एकत्व मां।।

आत्मद्रव्य के छः कारक

1. ज्ञान करने वाली स्वयं की आत्मा—कर्ता
2. जिसको प्राप्त करना हो वह आत्मा—कर्म
3. स्वयं की आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना—करण
4. जानने का हेतु क्या—आत्मा के लिए (विद्वत्ता आदि के लिए नहीं)—सम्प्रदान
5. आत्मा को कहाँ से जानना—स्वयं की आत्मा में से ही जानना, शास्त्र में से नहीं, बीज में से ही वृक्ष उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार अन्तरात्मा की खोज करने से उसमें से ही परमात्म स्वरूप प्रकट होता है—अपादान।
6. आत्मा को कहाँ रहकर ढूँढना—मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या जंगल में नहीं बल्कि स्वात्मनिष्ठ बनकर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, जान सकते हैं—अधिकरण।

इस प्रकार एक ही आत्मद्रव्य में षट्कारक की घटना होती है, ऐसी आत्मदशा परादृष्टि में होती है, यह निश्चय अध्यात्म की बात हुई।

व्यवहार नय की दृष्टि में अध्यात्म

व्यवहार अध्यात्म में भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का उद्देश्य तो होना चाहिए। साध्य को लक्ष्य में नहीं रखकर धनुर्धर के बाण फेंकने की चेष्टा जिस प्रकार निष्फल होती है, वैसे ही साध्य को स्थिर किये बिना ही की गई सभी क्रियाएँ निरर्थक होती हैं, इसलिए शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने का, उसे प्रकाश में लाने का जो लक्ष्य है, उसे ध्यान में रखना आवश्यक है। आत्मा को लक्ष्य बनाकर मन-वचन-काय योग के द्वारा जो सद्धर्म का आचरण किया जाता है, वह व्यवहारनय अध्यात्म है। पंचाचार की प्रवृत्ति व्यवहार अध्यात्म और उत्पन्न होने वाले आत्मपरिणाम निश्चय अध्यात्म है।

चूँकि व्यवहार पराश्रित होता है, इसलिए व्यवहारनय के आधार पर आत्मा कर्ता, कारक और सम्प्रदान कारक है।

पंचाचार का पालन—कर्मकारक।

इन्द्रिय अर्थात् उपकरण—करण कारक।

शास्त्र वचन—अपादान कारक।

उपाश्रयादि—अधिकरण कारक।

यह लोक प्रचलित व्यावहारिक अध्यात्म है। अध्यात्म का सरल तथा सीधा भावार्थ सत्य बोलना, न्याय तथा नीतिपूर्वक आचरण करना, जीवदया का पालन करना, परोपकार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, क्षमा रखना, सरलता रखना, लोभ नहीं करना, प्रतिज्ञा का पालन करना, गम्भीर रहना, गुणग्राही होना आदि है। यह व्यवहार अध्यात्म है।

पूज्यता की प्रवृत्ति इन्हीं गुणों पर आश्रित है, परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आत्मदृष्टि का प्रकाश ही धार्मिक आचरण का रहस्य है। साध्य को भूल जाएं और साधनों को ही साध्य समझ लें, तो कभी भी मंजिल प्राप्त नहीं होगी। वंदन, पूजन, तप, जप सभी के उपरान्त भी आत्मा को ही

भूल जाएं अर्थात् मूल साध्य को ही भूल जाएं तो यह ऐसी स्थिति होगी, जैसे बाराती को तो भोजन कराना किन्तु वर को पूरी तरह से भूल जाना।

अध्यात्म तत्त्वावलोक में कहा गया है—ज्ञान भक्ति, तपश्चर्या और क्रिया का मुख्य उद्देश्य एक ही है कि चित्त की समाधि द्वारा कर्म का लेप दूर करके आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट करना।⁹⁵

उत्पत्ति, विनाश, स्थिरता आदि को परस्पर अनुविद्ध मानकर पदार्थ का निरूपण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक दृष्टि है। इसमें गुण-पर्याय को गौण करके द्रव्य को प्रमुखता देते हैं। इसे द्रव्यार्थिक नय भी कहा जाता है। द्रव्य को गौण करके गुण तथा पर्याय का प्रतिपादन करने वाला दृष्टिकोण पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

वस्तु की विशुद्ध स्वभाव दशा को ध्यान में रखकर पदार्थ का निरूपण करे तो विशुद्ध निश्चयनय एवं अविशुद्ध अवस्था को ध्यान में रखकर वस्तु का निरूपण करे तो उसे अविशुद्ध निश्चयनय कहते हैं।

इस व्याख्या के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त पदार्थ की व्याख्या करने वाले द्रव्यार्थिक नय के अध्यात्म के विषय में चार दृष्टिकोण हैं—

1. विशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के अनुसार औदायिक आदि भावों से निष्पन्न संसारी दशा से निवृत्त परमात्म भाव से अभिव्यक्त तथा द्रव्यत्व रूप में अनुगत—ऐसा विशुद्ध आत्मद्रव्य ही अध्यात्म है।
2. विशुद्ध पर्यायार्थिक नय के अनुसार बहिरात्मदशा को नष्ट करके आत्म रूप में अनुगत जीव द्रव्य में परमात्म भाव का आविर्भाव अध्यात्म कहलाता है।
3. अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का अभिप्राय यह है कि कर्म मल के कारण प्राप्त भवाभिनंदी की दशा से सहज रूप से निवृत्त होकर अपुनर्बंधक आदि अवस्था को प्राप्त और स्वरूप में अनुगत—ऐसा विशुद्ध हो रहा आत्म-द्रव्य ही अध्यात्म है।
4. अशुद्ध पर्यायार्थिक नय के अनुसार उत्कृष्ट संक्लेश में उत्पन्न भोगी अवस्था को नष्ट करके आत्मस्वरूप के अनुगत आत्मद्रव्य में योगीदशा की अभिव्यक्ति अध्यात्म है।

जब चरणकरणानुयोग चारित्र के मूल-गुण एवं उत्तर-गुण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है, तब चरणकरणानुयोग की दृष्टि से अध्यात्म का अर्थ है—चारित्राचार और चारित्र के मूल गुण तथा उत्तरगुण को केन्द्र में रखकर आत्मा, अध्यात्म आदि पदार्थों का निरूपण करना।

चरणकरणानुयोग की परिधि में रहकर शुद्ध एवं अशुद्ध ऐसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के अभिप्राय से अध्यात्म का चार प्रकार से विवेचन कर सकते हैं—

1. चरणकरणानुयोग की दृष्टि से विशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के अनुसार अयतना आदि से युक्त असंयत आचार को परिहार करके यथाख्यात चारित्र के पालन में विरक्त विशुद्ध आत्मद्रव्य ही अध्यात्म है।
2. विशुद्धपर्यायार्थिक नय के अनुसार प्रमाद आदि से उत्पन्न हुए असंयत आचार का त्याग करके आत्म-द्रव्य में यथाख्यात चारित्र का प्रादुर्भाव होना ही अध्यात्म है।

3. अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के अनुसार असदाचार से सम्पन्न ऐसी भोगी अवस्था से निवृत्त हुआ और सदाचारी के परिपालन में निरत आत्म-विशुद्धि की ओर अभिमुख आत्म-द्रव्य ही अध्यात्म है।
4. अशुद्ध पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय से असंयमजन्य असदाचार का त्याग करके आत्मा में सदाचरण के गुण को प्रकट करना अध्यात्म है।

अध्यात्मसार में यशोविजय ने कहा है कि चौथे गुणस्थानक में देव गुरु की भक्ति, विनय वैयावच्च, धर्मश्रवण की इच्छा आदि क्रियाएँ रही हुई हैं। वहाँ उच्च क्रिया नहीं होने पर भी अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से अध्यात्म है। स्वर्ण के आभूषण नहीं हो तो चांदी के आभूषण भी आभूषण ही हैं।³⁶

अध्यात्म के अधिकारी

महान और दुर्लभ ऐसे अध्यात्म को प्राप्त करने का अधिकारी कौन है? इसका स्वरूप क्या है? यह जानना भी आवश्यक है, क्योंकि मूल्यवान् वस्तुओं का विनियोग योग्य पात्र में ही होता है, जिसमें 'स्व' और 'पर' दोनों का हित हो। यदि आभूषण बनाना है तो स्वर्णकार को ही देंगे, कुम्हार को नहीं, क्योंकि स्वर्णकार ही इसके योग्य है, वही उस स्वर्ण को सुन्दर आभूषण के रूप में परिवर्तित कर सकता है। चाहे सत्ता हो, सम्पत्ति हो या विद्या हो, अधिकृत व्यक्ति को प्रदान करेंगे तो ही फलदायी होगी।

योगशतक में हरिभद्रसूरि ने कहा है कि समस्त वस्तु में जो जीव जिस कार्य के योग्य हो, वह उस कार्य में उपायपूर्वक प्रवृत्ति करे तो अवश्य ही सिद्धि मिलती है। उसी प्रकार योगमार्ग या अध्यात्म मार्ग से विशेष सिद्धि प्राप्त होती है।³⁷ उदाहरण के लिए एक शिष्य को गुरु के द्वारा दुर्गुणों को दिखाने वाला मंत्रित दण्ड दिया गया। उसने उसे सर्वप्रथम अपने गुरु पर ही अपनाया और दुर्गुणों को जानकर उसने अपने गुरु को ही छोड़ दिया। बाद में अहंकार के वशीभूत उसका भी पतन हो गया। इसीलिए प्रायः ग्रंथ के आरम्भ में उसके अधिकारी का भी निर्देशन होता है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म के अधिकारी में तीन गुण होना जरूरी बताया है³⁸—

1. अलग-अलग नयों के प्रतिपादन से उत्पन्न हुई कुविकल्पों के कदाग्रह से निवृत्ति।
2. आत्म-स्वरूप की अभिमुखता।
3. स्याद्वाद का स्पष्ट और तीव्र प्रकाश।

इन तीनों योग्यता द्वारा आत्मा में क्रमशः हेतु, स्वरूप और अनुबंध की शुद्धि होती है।

यशोविजय ने अध्यात्म के अधिकारी के रूप में मुख्य रूप से माध्यस्थ गुण जरूरी बताया है। दार्शनिक, साम्प्रदायिक एवं स्नेह-रागादि से मुक्त आत्मा में अध्यात्म शुद्ध रूप में ठहर सकता है। अध्यात्म के लिए कदाग्रह का, त्याग का महत्त्व देने का कारण यह है कि अध्यात्म मात्र तर्क का विषय नहीं है अपितु अनुभूति का विषय है। अनुभूति और श्रद्धा के लिए सरलता जरूरी है।

कुविकल्प के दो प्रकार हैं—

1. आभिसंस्कारिक कुविकल्प,
2. सहज कुविकल्प।

मिथ्या नय से प्रयुक्त कुशास्त्र के श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न हुए कुविकल्प, आभिसंस्कारिक कुविकल्प कहलाते हैं।

जैसे आत्मा क्षणिक है (बौद्ध), यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है (पुराण), ईश्वर द्वारा रचाया है (न्याय-वैशेषिक दर्शन), ब्रह्मा द्वारा जगत् की रचना की गई है (भागवत दर्शन आदि), यह जगत् प्रकृति का विकार रूप है (वैभाषिक बौद्ध), यह ज्ञान मात्र स्वरूप है (योगाचार बौद्ध), शून्य स्वरूप है (माध्यमिक बौद्ध), जगत् की रचना एवं विषय में इस प्रकार की भ्रांतियाँ आभिसंस्कारिक कुविकल्प कहलाती हैं।

गुण-दोषों की विचारणा से परामुख होना, सुख की आसक्ति और दुःख के द्वेष में तत्पर होना, कुचेष्टा, खराब वाणी और गलत विचार लाना आदि लक्षण सहज कुविकल्प कहलाते हैं।

जब सद्गुरु के समागम से, सुनय के श्रवण, मनन आदि से दुर्नय से उत्पन्न कदाग्रह दूर हो जाता है और उसी प्रकार सहज मल का ह्रास, मिथ्यात्व मोहनीय का क्षयोपशम तथा भव्यत्व के परिपाक आदि के द्वारा सहज कुविकल्प का भी त्याग हो जाता है और भव-भ्रमण के परिश्रम को दूर करने के लिए विशुद्ध आत्मद्रव्य की ओर रुचि होती है तब स्याद्वाद से प्राप्त निर्मल बोध वाला जीव अध्यात्म का अधिकारी होता है।

शास्त्रों में अपुनर्बधक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति—ये चार प्रकार के अध्यात्म के अधिकारी बताये गये हैं तथा चारों के लक्षण भी वर्णित किये गये हैं, जिससे सामान्य व्यक्ति भी अध्यात्म के अधिकारी और अनाधिकारी को पहचान सके।

योगशतक में अपुनर्बधक का लक्षण बताते हुए कहा गया है—जो आत्मा तीव्र भाव से पाप नहीं करती है, संसार को बहुमान नहीं देती है, सभी जगह उचित आचरण करती है, ये अपुनर्बधक जीव अध्यात्म के अधिकारी हैं।³⁹

यशोविजय ने सम्यक्त्व की 67 बोल की सञ्ज्ञाय में शुश्रुशा (शास्त्र श्रवण की इच्छा), धर्मराग और वितरागदेव, पंच महाव्रत पालनहार गुरु की सेवा—यह तीन सम्यक् दृष्टि के लिंग बताये हैं और ऐसे सम्यक् दृष्टि जीव को अध्यात्म का अधिकारी बताया है।⁴⁰

चारित्रवान् के लक्षण

चारित्रवान् व्यक्ति मार्गानुसारी, श्रद्धावान्, प्रज्ञापनीय, क्रिया में तत्पर, गुणानुरागी और स्वयं की शक्ति अनुसार धर्मकार्य को करने वाला होता है।

चारित्रवान् आत्मा, देशविरति और सर्वविरति के भेद से अनेक प्रकार की होती हैं और यह अध्यात्म के अधिकारी होते हैं।

योगबिन्दु ग्रंथ में बताया गया है कि अध्यात्म से ज्ञानावरण आदि क्लिष्ट कर्मों का क्षय, वीर्योल्लास, शील और शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है। यह अध्यात्म ही अमृत है।

अध्यात्म तत्त्वावलोक में न्यायविजय ने भी कहा है—समुद्र की यात्रा में द्वीप, मरुभूमि में वृक्ष, घोर अंधेरी रात में दीपक और भयंकर ठण्ड के समय अग्नि की तरह इस विकराल काल में दुर्लभ ऐसे अध्यात्म को कोई महान् भाग्यशाली मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है।⁴¹

इच्छाओं और आकांक्षाओं के कारण हमारा चित्त उद्विग्न एवं मलीन है।

अध्यात्म के अधिकारी विषय-विवेचन के बाद अध्यात्म के विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डालेंगे, जो निम्न हैं—

अध्यात्म के विभिन्न स्तर

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म के विभिन्न स्तर माने हैं—अध्यात्मयोग, अध्यात्मबीज, अध्यात्म अभ्यास तथा अध्यात्म आभास।

अध्यात्मयोग किसमें है? अध्यात्मबीज किसमें अंकुरित होता है? अध्यात्मयोग के अभ्यास की ओर कौन बढ़ रहा है तथा किसे अध्यात्म का आभास होता है? इन सभी तथ्यों पर उपाध्याय यशोविजय के अनुसार विवेचन प्रस्तुत है। शुद्ध निश्चय के मत से सर्वविरत मुनि को ही अध्यात्मयोग होता है। इसका कारण यह है कि संसार रूपी सागर को पार करने की तीव्रेच्छा से मुनि ने आध्यात्मिक विकास के छट्टे गुणस्थानक को प्राप्त कर लिया है और छट्टे गुणस्थानकवर्ती जीव में लौकिकता नहीं होती है। अतः वही अध्यात्म योगों का वास्तविक अधिकारी होता है।

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है कि धार्मिक मर्यादा में रहते हुए जिसने सर्वविरति रूप छट्टा गुणस्थान प्राप्त कर लिया है तथा जो संसार रूप विषम पर्वत को पार करने के लिए तैयार है, ऐसा मुनि लोक संज्ञा, अर्थात् लौकिकता का त्यागी होता है।¹² गतानुगतिकता नीति यानी दूसरे लोगों ने किया है, वही करना है, जो इस प्रकार की आग्रह बुद्धि वाला नहीं होता, उसे ही अध्यात्मयोग होता है। शुद्ध निश्चय नय के मत से देशविरति श्रावक को अध्यात्म योग का बीज होता है।

व्यवहार से अनुग्रहित या अशुद्ध निश्चय नय से देशविरति श्रावक को भी अध्यात्म योग होता है। अपुनर्बंधक और सम्यक् दृष्टि जीव को अध्यात्म योग का बीज होता है।

व्यवहार नय से अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख मार्ग से प्राप्त सम्यग् दृष्टि श्रावक और साधु सभी को अध्यात्म योग तात्त्विक विशुद्धि में संभव होता है।

योगबिन्दु में कारण में कार्य का उपचार करके व्यवहार से अपुनर्बंधक को अध्यात्म और भावना स्वरूप तात्त्विक योग होता है, क्योंकि कारण भी कदाचित् कार्य स्वरूप है। अध्यात्मसार में यशोविजयजी ने भी कारण में कार्य का उपचार करते हुए कहा है कि—

अपुनर्बंधक भी जो शमयुक्त क्रिया करता है, वह दर्शन भेद से अनेक प्रकार की हो सकती है। ये क्रियाएँ भी धर्म में विघ्न करने वाले राग और द्वेष का क्षय करने वाली हो सकती हैं, इसलिए ये क्रियाएँ भी अध्यात्म का कारण होती हैं।¹³

अध्यात्म अभ्यास

अध्यात्म के अभ्यास काल में भी जीव कुछ शुद्ध क्रिया, जैसे—दया, दान, विनय, वैयावृत्य करता है तथा शुभ औघसंज्ञा वाला ज्ञान भी रहता है। सकृतबंधक आदि जीव तो अशुद्ध परिणाम वाले होने से निश्चय और व्यवहार नय से उनको अध्यात्म योग नहीं होता है परन्तु केवल अध्यात्म योग का अभ्यास ही होता है। अध्यात्म अभ्यास यानी कभी-कभी उचित धर्म प्रवृत्ति सकृत बंधकादि को भाव अध्यात्म

योगी के योग्य वेश, भाषा, प्रवृत्ति आदि स्वरूप अतात्विक आध्यात्मिक भावना योग होता है, जो प्रायः अनर्थकारी होता है।

योगबिन्दु में कहा है—अपुनर्बंधक के अतिरिक्त अन्यो का पूर्व सेवारूप अनुष्ठान एक ऐसा उपक्रम है, जो आलोचन विमर्श या स्वावलोकन रहित तथा उपयोगशून्य है।⁴⁴ एक अपेक्षा से यह ठीक है। जब तक कर्ममल रूपी तीव्र विष आत्मा में व्याप्त रहता है तब तक उसके दूषित प्रभाव के कारण सांसारिक आसक्ति तथा उस ओर आवेगों की प्रगाढ़ तीव्रता बनी रहती है, मिटती नहीं है। साईकिल चलाने का अभ्यास करने वाले की तरह वह भी कभी-कभी गिरता है। प्रायः ऐसा अनर्थ सकृतबंधकादि की प्रवृत्ति में होता है।

कुछ योगाचार्यों के अनुसार सकृतबंधकादि जीवों में अध्यात्मयोग मानने में कोई विरोध नहीं है। कारण कि उनको उस प्रकार का तीव्र संक्लेश बार-बार नहीं होता है, जो कि संक्लेश मोहनीय कर्म की 70 कोटाकोटि कालप्रमाण स्थिति को अनेक बार कराए, क्योंकि सकृत बंधवाला जीवन में एक ही बार उत्कृष्ट स्थिति (70 कोटाकोटि सागरोपम) बांधने वाला होता है परन्तु उन जीवों को मोक्षमार्ग के विषय में यथार्थ ऊहापोह नहीं होता है और संसार के स्वरूप का निर्णय नहीं होता है इसलिए उनमें पूर्व सेवा स्वरूप ही अध्यात्मयोग मान सकते हैं। इससे उच्च स्तर का नहीं।

जो पुरुष अपुनर्बंधकावस्था के सन्निकट है, वह प्रायः पूर्वसेवा के रूप में निरूपित आचार के विपरीत नहीं चलता है। उसका आचार शालीन होता है।

अध्यात्म आभास

अभव्य और भवाभिनंदी जीवों को केवल अध्यात्मयोग का आभास ही होता है, क्योंकि अभव्य जीव तो अध्यात्म की प्राप्ति के लिए अत्यन्त अयोग्य है। अभव्य जीव को मोक्ष पर श्रद्धा नहीं होती है, इसलिए उनके द्वारा किये हुए धार्मिक अनुष्ठान, व्रत आदि से अध्यात्म की प्रतीति होती है किन्तु वह वास्तविक अध्यात्म नहीं होता है। उसी प्रकार भवाभिनंदी जीव अचरमावर्तकालवर्ता है। इस कारण कभी वे जीव धर्म का आचरण करते भी हैं तो ईहलोक सुख अर्थात् लोक प्रसिद्ध यशकीर्ति आदि और परलोक, स्वर्गादि की प्राप्ति की अपेक्षा से करते हैं। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में भवाभिनंदी जीव का लक्षण बताते हुए कहा है—भवाभिनंदी जीव को संसार में रहना अच्छा लगता है तथा वह क्षुद्र तुच्छ लोभी, कृपण स्वभाव वाला, पराया माल ग्रहण करने की प्रवृत्ति वाला, दीन, ईर्ष्यालु, डरपोक, कपटी, अज्ञानी (तत्त्व को नहीं जानने वाला)—ऐसे व्यक्तियों द्वारा निष्प्रयोजन अयोग्य और अंत में निष्फल हो, ऐसी क्रियाओं को करने पर वे क्रियाएँ अशुद्ध कहलाती हैं।⁴⁵

योगबिन्दु ग्रंथ में हरिभद्र सूरि ने भी कहा है कि अचरमावर्तकाल में अध्यात्म नहीं घट सकता है, क्योंकि अचरमावर्तकालीन जीवों की धर्मप्रवृत्ति का फलमात्रा लोकपंक्ति ही है। जिस धर्मक्रिया का फल मात्र लोकपंक्ति हो तो यह धर्म क्रिया अधर्म स्वरूप ही है, क्योंकि लोगों को प्रसन्न करने हेतु मलिन भावना से जो सक्रिया की जाती है, उसे लोकपंक्ति कहा गया है।

चरमावर्त विशिका में भी कहा गया है कि अचरमावर्त का काल धर्म के अयोग्य है तथा चरमावर्तकाल धर्म साधना की युवावस्था है।

इस प्रकार अध्यात्म के विभिन्न स्तरों का संक्षिप्त में विवेचन किया गया है।

धर्म और अध्यात्म

धर्म मानव की आध्यात्मिक विकास-यात्रा का सोपान है। धर्म और अध्यात्म के स्वरूप एवं पारस्परिक संबंध को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक मानव में होती है। अन्ततः धर्म और अध्यात्म अलग-अलग नहीं हैं किन्तु, प्राथमिक स्थिति में दोनों में भिन्नता है।

सामान्यतया आचार और व्यवहार के कुछ विधि-विधानों के परिपालन को धर्म कहा जाता है। नीतिरूप धर्म हमें यह बताता है कि क्या करने योग्य है तथा क्या करने योग्य नहीं है? किन्तु आचार के इन बाह्य नियमों के परिपालन मात्र को अध्यात्म नहीं कहते हैं। व्यक्ति जब क्रियाकलापों से ऊपर उठकर आत्मविशुद्धि रूप या स्वरूपानुभूति रूप धर्म के उत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त करता है तब धर्म और अध्यात्म एक हो जाते हैं।

धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे किन्हीं विधि-विधानों के आचरण रूप कर्तव्य या सदाचार के पालनरूप तथा स्वरूप की अनुभूति रूप हम धर्म के विभिन्न रूपों का अध्यात्म से संबंध बताते हुए धर्म का अन्तिम स्वरूप जहाँ धर्म और अध्यात्म एक हो जाते हैं, का निरूपण करेंगे।

धर्म : कर्मकाण्ड के रूप में

आज धर्म क्रियाकाण्ड के रूप में बहुत अधिक प्रचलित है। दान देना, पूजा करना, मन्दिर जाना, तीर्थयात्रा करना, साधर्मिक वात्सल्य करना, संघ की सेवा करना, भक्ति करना, प्रतिष्ठा महोत्सव करना, आदि को व्यवहार में धर्म कहते हैं और इन्हें करने वाला धार्मिक कहलाता है। किन्तु जब व्यक्ति ये क्रियाएँ इहलौकिक या पारलौकिक आकांक्षा से करता है तो वे वस्तुतः धर्म नहीं रह जाती हैं। उपाध्याय यशोविजय ने उसे भवाभिनंदी की संज्ञा देते हुए कहा है कि संसार में रुचि रखने वाला जीव आहार, उपाधि, पूजा, सत्कार, बहुमान, यश-कीर्ति, वैभव आदि को प्राप्त करने की इच्छा से तप, त्याग, पूजा आदि जो भी अनुष्ठान करे तो वह अध्यात्म की कोटि में नहीं है। वह तो संसार की वृद्धि करने वाला है।¹⁶ वस्तुतः मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों की इन क्रियाओं की चाहे लौकिक दृष्टि से सांसारिक प्रयोजनों की सिद्धि में कोई उपयागिता हो, क्योंकि ऐसी दान-दया की प्रवृत्तियों के बिना संसार का व्यवहार नहीं चल सकता है परन्तु ये क्रियाएँ मोक्षमार्ग में आध्यात्मिक प्रगति साधने के लिए उपयोगी नहीं हैं।

सामाजिक धर्म

जैन आचार-दर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गई है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

स्थानांग सूत्र में धर्म के विभिन्न रूपों की चर्चा करते हुए राष्ट्रधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, कुलधर्म, गणधर्म आदि का भी उल्लेख हुआ है।¹⁷ सामान्यतः ग्रामधर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। ग्राम एवं नगर के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिए जिन नियमों को बनाया है, उनका पालन करना। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना नागरिक कर्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना नगरधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाए रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना है। राष्ट्रीय शासनों के नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना आदि राष्ट्रधर्म है।

पाखण्ड धर्म : सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्ड धर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है। वह अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है। पाखण्ड धर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है।

कुल धर्म : परिवार एवं वंश परम्परा के आचार, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है। उसी प्रकार गणधर्म और संघधर्म भी नियमों के परिपालन के रूप में है।

श्रुत धर्म : सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य शिक्षण व्यवस्था संबंधी नियमों का पालन करना है।

चरित्रधर्म : चरित्रधर्म का तात्पर्य है—श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचार-नियमों का परिपालन करना। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा संबंधी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शांति के संस्थापन के लिए हैं। अनाग्रह सामाजिक जीवन से वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। इसी प्रकार अपरिग्रह सामाजिक जीवन से संग्रहवृत्ति, अस्तेय और शोषण को समाप्त करता है।

इन धर्मों के प्रतिपादन का उद्देश्य व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाना है ताकि सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के संघर्षों और तनावों को कम किया जा सके तथा वैयक्तिक जीवन के साथ सामाजिक जीवन में भी शान्ति और समता की स्थापना की जा सके।⁴⁸

धर्म : सदाचार के पालन के रूप में : जैनाचार्यों के अनुसार सद्गुणों का आचरण या सदाचार आध्यात्मिक साधना का प्रवेशद्वार है। उनकी मान्यता है कि जो व्यक्ति जीवन के सामान्य व्यवहारों में कुशल नहीं है, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता है। आध्यात्मिक साधना से पूर्व इन योग्यताओं का सम्पादन आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें मार्गानुसारी गुण कहा है। उन्होंने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में 35 मार्गानुसारी गुणों का विवेचन किया है, जैसे—न्याय सम्पन्न वैभव माता-पिता की सेवा, पापभीरुता, गुरुजनों का आदर, सत्संगति, अतिथि, साधु-दीनजनों को यथायोग्य दान देना आदि।⁴⁹

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में श्रावक के 21 गुणों का उल्लेख किया है। विशाल हृदयता, सौम्यता, स्वस्थता, लोकप्रियता, अक्रूरता, अशठता, गुणानुराग, दयालुता, दीर्घदृष्टि, कृतज्ञ, परोपकारी, वृद्धानुगामी आदि।⁵⁰

समवायांग में एक अन्य दृष्टि से भी धर्म के रूपों की चर्चा मिलती है। इसमें क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य—दस धर्मों की चर्चा की गई है।⁵¹ आचारांग तथा स्थानांग में भी इत्यादि सद्गुणों को धर्म कहा गया है। नवतत्त्व प्रकरण में भी धर्म के दस रूप प्रतिपादित किये गए हैं।⁵²

वस्तुतः यह धर्म की सद्गुणपरक या नैतिक परिभाषा है। वे सभी सद्गुण जो सामाजिक समता को बनाए रखते हैं, सामाजिक समत्व के संस्थापक की दृष्टि से धर्म कहे गए हैं। वस्तुतः धर्म की इस व्याख्या को संक्षेप में हम यह कहकर प्रकट कर सकते हैं कि सद्गुण का आचरण ही धर्म है और दुर्गुण का आचरण ही अधर्म है। इस प्रकार जैन आचार्यों ने धर्म और नीति, या धर्म और सद्गुण में तादात्म्य स्थापित किया है। इसे उपाध्याय यशोविजय ने व्यवहारनय से आध्यात्मिक कहा है। वे कहते हैं कि

व्यवहारनय से बाह्य व्यवहार से पुष्ट निर्मल चित्त अध्यात्म है।⁵³ फिर भी उपाध्याय चित्त की निर्मलता को धर्म और अध्यात्म का मूल आधार मानते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—अहिंसा, संयम और तप में धर्म के सभी तत्त्व समाए हुए हैं अतः अहिंसा, संयम और तप से युक्त धर्म उत्कृष्ट मंगल है।⁵⁴

शांत सुधारस में उपाध्याय विनयविजय ने दान, शील, तप और भाव से चार प्रकार के धर्म बताए हैं।⁵⁵ यह धर्म के चार आधार-स्तम्भ हैं। मुनि समयसुन्दर ने भी अपनी सञ्ज्ञाय में धर्म के चार प्रकार बताए हैं। अपने धन या सुख-सुविधाओं के साधनों का निःस्वार्थ भाव से दूसरों के हित के लिए उपयोग करना दान कहलाता है। उसमें भी अभयदान का विशेष महत्त्व है।

धर्म का दूसरा आधार-स्तम्भ ब्रह्मचर्य है। तीसरा आधार-स्तम्भ तप है। यह बारह प्रकार का होता है। छः बाह्य तथा छः आभ्यन्तर तप से अर्चित्य आत्मशक्ति प्रकट होती है। दान की शोभा, शील की महत्ता, तप की श्रेष्ठता भाव पर आधारित है। भोजन में जो स्थान नमक का है, वही स्थान धर्म में भाव का है।

आत्मकेन्द्रित होकर यदि इन धर्म का पालन किया जाए तो वह अध्यात्म की श्रेणी में आता है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में कहा है—ज्ञान तथा क्रिया दोनों रूपों में अध्यात्म रहा हुआ है। जिनके आचरण में छल-कपट नहीं है, ऐसे जीवों में अध्यात्म की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।⁵⁶

आचार्य हेमचन्द्र धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं—दुर्गति में गिरते हुए प्राणी की जो रक्षा करे, वही धर्म है। धर्म की इस व्याख्या में भी शुभ अनुष्ठान और संयम दोनों ही आते हैं।⁵⁷

यहाँ अभी तक जो भी धर्म की व्याख्या दी गई है, वे सब किसी-न-किसी रूप से सदाचरण या अनुष्ठान से संबंधित हैं। यदि मात्र बाह्यदृष्टि से इनका पालन होता है तो चाहे इन्हें व्यवहार धर्म कहा जा सके, किन्तु वस्तुतः ये धर्म या अध्यात्म नहीं हैं।

अब हम धर्म की वह व्याख्या प्रस्तुत करेंगे, जहाँ धर्म और अध्यात्म एक हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में धर्म की परिभाषा वस्तु सहावो धम्मो इस प्रकार की गई है। वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता है, अग्नि का धर्म उष्णता है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म समत्व है। एक अन्य दृष्टि से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख को भी आत्मा का स्वभाव कहा गया है। आत्मधर्म को समझने के लिए पहले स्वभाव को समझना जरूरी है। अनेक बार हम आरोपित या पराश्रित गुणों को भी अपना स्वभाव मान लेते हैं, जैसे उनका स्वभाव क्रोधी है। प्रश्न यह उठता है कि क्या क्रोध स्वभाव है? वस्तु का स्वभाव उसे कहते हैं, जो हमेशा उस वस्तु में निहित हो। स्वभाव में रहने के लिए किसी बाहरी संयोग की आवश्यकता नहीं होती है। वस्तु से उसके स्वभाव को अलग नहीं किया जा सकता, जैसे जल का स्वभाव शीतलता है तो हम शीतलता को जल से अलग नहीं कर सकते। यदि अग्नि के संयोग से उसे गर्म भी करते हैं तो अग्नि को हटाने पर वह स्वाभाविक रूप से थोड़ी ही देर में ठण्डा हो जाता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव समत्व हो या क्रोध, इस कसौटी पर दोनों को कसकर देखें तो पहली बात यह है कि क्रोध कभी स्वतः नहीं होता है। बिना किसी बाहरी कारण हम क्रोध नहीं करते हैं। गुस्से के लिए किसी दूसरे का होना जरूरी है। प्रतिपक्षी के दूर हो जाने पर गुस्सा शांत हो जाता है। पुनः गुस्सा आरोपित होता है तो उसे छोड़ा जा सकता है। कोई

भी व्यक्ति चौबीस घंटे क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता है, किन्तु शान्त रह सकता है, समत्वभाव में रह सकता है। अतः आत्मा के लिए क्रोध विधर्म है और समत्व स्वधर्म है। दूसरे शब्दों ने समत्व का भाव या ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित रहना ही धर्म है।

उपाध्याय यशोविजय भी कहते हैं कि निश्चयनय से विशुद्ध ऐसी स्वयं की आत्मा में चित्तवृत्ति का द्रष्टाभाव से रहना ही अध्यात्मधर्म है। अध्यात्मसार में उन्होंने बताया कि निश्चयनय पांचवें देशविरति नामक गुणस्थान से ही अध्यात्म को स्वीकार करता है,⁵⁸ क्योंकि यहाँ से चित्तवृत्ति का निर्मल होना प्रारम्भ हो जाता है।

धर्म को चाहे वस्तुस्वभाव के रूप में परिभाषित किया जाए, चाहे समता या अहिंसा के रूप में परिभाषित किया जाए, उसका मूल अर्थ यही है कि वह विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा करे और यही अध्यात्म और धर्म में तादात्म्य होता है।

भौतिक सुख और अध्यात्म

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक खोजों के माध्यम से मनुष्य की सुख-सुविधा के अनेक साधन उपलब्ध हैं। सुख-सुविधा के इन साधनों के योग में मनुष्य इतना निमग्न हो गया है कि वह आध्यात्मिक सुख-शांति और अनुभूति से वंचित हो गया है। वह भौतिक-सुख को ही सुख मानने लगा है, किन्तु उपाध्याय यशोविजय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जब तक आत्मतत्त्व का बोध नहीं होता है, तभी तक सांसारिक विषय-वासनाओं में मनुष्य की रुचि बनी रहती है। वे अध्यात्मसार में लिखते हैं, “मैं पहले प्रिया, वाणी, वीणा, शयन, शरीर-मर्दन आदि क्रियाओं में सुख मानता था, किन्तु जब आत्मस्वरूप का बोध हुआ तो संसार के प्रति मेरी रुचि नहीं रही, क्योंकि मैंने जाना कि संसार के सुख पराधीन है और विनाशशील स्वभाव वाले हैं, क्योंकि इच्छाएँ और आकांक्षा हमारी चेतना के समत्व को भंग करती है। वे भय और कुबुद्धि के आधार हैं।”⁵⁹ यशोविजय ने ज्ञानसार⁶⁰ में कहा है कि इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि भी विषयों से अतृप्त ही रहते हैं, वे सुखी नहीं हैं। षड्रस भोजन, सुगन्धित पुष्पवास, रमणीय महल, कोमल शय्या, सरस शब्दों का श्रवण, सुन्दर रूप का अवलोकन लम्बे समय तक करने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती है, जबकि भिक्षा से जो भूख का शमन करता है, पुराना जीर्ण-वस्त्र पहनता है, वन ही जिसका घर है, आश्चर्य है कि ऐसा निःस्पृह मुनि चक्रवर्ती से भी अधिक सुखी है।⁶¹

सच्चा सुख तो वही हो सकता है, जो स्वाधीन हो और अविनाशी हो। इन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा या इच्छा से रहित आत्मिक सुख तो अध्यात्म के माध्यम से ही उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि वास्तविक सुख भौतिक सुख नहीं है, आत्मिक सुख ही वास्तविक सुख है। ये लिखते हैं—अपूर्ण विद्या, धूर्त मनुष्य की मैत्री तथा अन्याय युक्त राज्य प्रणालिका जिस प्रकार अंत में दुःख प्रदाता है, उसी प्रकार सांसारिक सुखभोग भी वास्तविक सुख नहीं हैं। वे भी अंत में दुःख प्रदाता ही बनते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जिस प्रकार कोई प्रेमी पहले प्रेमिका की प्राप्ति के लिए दुःखी होता है, उसके बाद उसका वियोग न हो, इसकी चिंता में दुःखी होता है।⁶² इसलिए उपाध्याय यशोविजय की मान्यता है कि सांसारिक सुख के साधनों के उपार्जन में व्यक्ति दुःखी होता है। फिर उन साधनों की रक्षण की चिंता में दुःखी रहता है, फिर अंत में उनके वियोग या नाश होने पर दुःखी होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय यशोविजय भौतिक सुख-सुविधाओं से जन्मे सुख को दुःख का ही कारण मानते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा गया है कि विषय सुख-दुःख रूप ही है, दया की तरह दुःख के ईलाज के समान है। उन्हें उपचार से ही सुख कहते हैं। परन्तु सुख का तत्त्व उसमें नहीं होने से उपचार भी नहीं घटता है।⁶³

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि आध्यात्मिक सुख निर्द्वन्द्व या विशुद्ध होता है, जबकि भौतिक सुख में द्वन्द्व होता है अर्थात् सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ होता है।

उनका यह कथन वर्तमान परिस्थितियों में भी सत्य ही सिद्ध होता है। आज विश्व में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका वैज्ञानिक प्रगति और तद्जन्य सुख-सुविधाओं की दृष्टि से सर्वोच्च शिखर पर माना जाता है किन्तु इसके विपरीत यथार्थ यह है कि आज संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में व्यक्ति को सुख की नींद उपलब्ध नहीं है। विश्व में नींद की गोलियों की सर्वाधिक खपत अमेरिका में ही है। अमेरिका के निवासी विश्व में सर्वाधिक तनावग्रस्त हैं। आखिर ऐसा क्यों? इसका कारण स्पष्ट है कि उन्होंने भौतिक सुख-सुविधाओं को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया है। ऐसी स्थिति का चित्रण करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में लिखा है—इस संसार में उन्माद को प्राप्त पराधीन बने प्राणी क्षण में हंसते हैं और क्षण में रोते हैं। क्षण में आनन्दित होते हैं और क्षण में ही दुःखी बन जाते हैं।⁶⁴ वस्तुतः उपाध्याय यशोविजय का यह चिन्तन आज भी हमें यथार्थ के रूप में प्रतीत होता है।

यह सत्य है कि विज्ञान और तद्जन्य सुख-सुविधा के साधन न तो अपने आप में अच्छे हैं और न बुरे। उनका अच्छा या बुरा होना उनके उपयोगकर्ता की दृष्टि पर निर्भर है। जब तक व्यक्ति में सम्यक् दृष्टि का विकास नहीं होता है, उसके वे सुख के साधन भी दुःख के साधन बन जाते हैं। चाकू अपने आप में न तो बुरा है और न अच्छा। उससे स्वयं की रक्षा की जा सकती है और दूसरों की हत्या भी। मूलतः बात यह है कि हम उसका उपयोग कैसे करते हैं। उपयोग करने हेतु सम्यग्दृष्टि का विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि ही वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपयोग को सम्यक् दिशा प्रदान कर सकती है। उपाध्याय यशोविजय की दृष्टि में सर्वप्रथम दो बातों को जान लेना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि सुख मात्र वस्तुनिष्ठ नहीं है, वह आत्मनिष्ठ भी है। दूसरी यह कि सुख पराधीनता में नहीं है।

पराधीनता चाहे मनोवृत्ति की हो या इन्द्रिय और शरीर की, वे सुख का कारण नहीं हो सकतीं। वे स्वयं लिखते हैं—यदि संसार में हाथी, घोड़े, गाय, बैल अर्थात् परिग्रहजन्य सुख-सुविधा के साधन सुख के कारण हो सकते हैं तो फिर ज्ञान, ध्यान और प्रशम भाव आत्मिक सुख के साधन क्यों नहीं हो सकते।⁶⁵

वस्तुतः परपदार्थों में सुख मानना पराधीनता का लक्षण है। स्वाधीन सुख का त्याग करके इस पराधीन सुख की कौन इच्छा करेगा? इस प्रकार उपाध्याय यशोविजय ने इस बात का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है कि भौतिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। आत्मिक सुख ही वास्तविक सुख है। आत्मिक गुणों के विकास से ही संसार में सुख-शांति और समृद्धि आ सकती है। इस प्रकार वे विज्ञान के विरोधी तो नहीं हैं किन्तु भौतिक जीवन-दृष्टि के स्थान पर आत्मिक जीवन-दृष्टि के माध्यम से ही विश्वशांति की उपलब्धि हो सकती है, इस मत के प्रबल समर्थक हैं।

अध्यात्म का तात्विक आधार—आत्मा

आत्मा की अवधारणा एवं स्वरूप

जैन धर्म विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक धर्म है। उसका चरम बिन्दु है—आत्मोपलब्धि या आत्मा की स्व-स्वरूप में उपस्थिति। अध्यात्मसार में उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—“आत्मा को जानने के बाद कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता है परन्तु जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसका दूसरा वस्तुगत ज्ञान निरर्थक है।”⁶⁶ छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि “जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है।”⁶⁷ आचारांग सूत्र में भी कहा गया है कि “जो अध्यात्म अर्थात् आत्मस्वरूप को जानता है, वह बाह्य जगत् को जानता है।”⁶⁸ क्योंकि बाह्य की अनुभूति भी आत्मगत ही है। इस संसार में जानने योग्य कोई तत्त्व है तो वह आत्मा ही है। आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है। एक बार आत्मतत्त्व में उसके स्वरूप में रुचि जगने के बाद फिर दूसरी वस्तुएँ तुच्छ लगती हैं। अन्य द्रव्यों का ज्ञान आत्मज्ञान को अधिक स्पष्ट और विशद करने के लिए हो सकता है किन्तु जिस व्यक्ति के आत्मज्ञान में ही रस नहीं है, उसका अन्य पदार्थों का ज्ञान अन्त में निरर्थक ही है। इसलिए आगे अध्यात्म के तात्विक आधार—आत्मा के स्वरूप का वर्णन है।

“जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।”⁶⁹ आत्मा और ज्ञान में एक दृष्टि से तादात्म्य है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है। यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है, “मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ और शुद्ध ज्ञान ही मेरा गुण है।”⁷⁰ इच्छा से गुण भिन्न है या अभिन्न, इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं है। चूर्णिकार कहते हैं, “कोई भी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से रहित नहीं है।”⁷¹ जैसे जल शीतलता के गुण से रहित नहीं होता है। शीतलता जल से भिन्न पदार्थ नहीं है। इसलिए जल के कथन से शीतलता का कथन स्वयं हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के कथन से विज्ञान अर्थात् चेतना का कथन स्वयं हो जाता है और विज्ञान या चेतना के कथन से आत्मा का कथन भी स्वयं हो जाता है।

आत्मा एक या अनेक—आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से एक है और पदार्थ की अपेक्षा से अनेक है, क्योंकि आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। आत्मा का अस्तित्व ध्रुव है। ज्ञान के परिणाम उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं।⁷²

जैसे सिन्धु का जल न एक है और न अनेक। वह जलराशि की दृष्टि से एक है और अलग-अलग जल-बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी है। समस्त जलबिन्दु अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए उस जलराशि से अभिन्न ही हैं। इस प्रकार की प्रेरणा से ज्ञानगुण मनःपर्यव आदि अनेक पर्यायों की चेतना से युक्त होते हुए भी आत्मा से भिन्न है।

जीव आत्मा का लक्षण—भगवतीसूत्र,⁷³ उत्तराध्ययनसूत्र⁷⁴ तथा तत्त्वार्थसूत्र⁷⁵ में कहा गया है कि जीव का लक्षण उपयोग है। लक्षण द्वारा किसी भी वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग करके पहचाना जा सकता है, यही लक्षण की विशेषता है। उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है। यह संसारी और सिद्ध दोनों ही दशाओं में रहता है। जीव का यह लक्षण त्रिकाल में भी बाधित नहीं हो सकता है। यह लक्षण असंभव, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित और पूर्णतः निर्दोष है। बोध, ज्ञान, चेतना और संवेदन—ये सभी उपयोग के पर्यायवाची शब्द हैं।

उपयोग दो प्रकार का कहा गया है—निराकार उपयोग और साकार उपयोग।⁷⁶ इनको क्रमशः दर्शन और ज्ञान भी कहा जाता है। जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है, वह दर्शनोपयोग कहा जाता है और जो वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करे, उसे ज्ञानोपयोग कहा जाता है।

आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है, ‘जब आत्मा, आत्मा के द्वारा, आत्मा को ही आत्मा में जानती है तो वही आत्मा चरित्ररूप और वही आत्मा दर्शनरूप होती है।’⁷⁷ इन गुणों को आत्मा से भिन्न नहीं किया जा सकता है। आत्मस्वरूप में रमण करने की प्रवृत्ति त्यागने से, चारित्ररूप को जानने से, ज्ञानरूप और स्वयं के असंख्य प्रदेशों में फैलकर रहने वाला होने से सहजरूप ज्ञानादि अनन्त पर्यायवाला मैं हूँ। इस प्रकार का निर्धारण ही दर्शन होता है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लक्षण से ही पहचानी जाती है। उपाध्याय यशोविजय ने आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र से भी अभिन्न है, यह बताने के लिए एक रत्न का उदाहरण दिया है। रत्न का तेज और रत्न अलग-अलग नहीं हैं। रत्न को ग्रहण कर लिया जाए तो उसका तेज उससे अलग होकर नहीं रहता, वह रत्न के साथ ही रहता है। रत्न और तेज को अलग नहीं कर सकते, दोनों में गुण और गुणी का सम्बन्ध है, उसी प्रकार आत्मा से उसके ज्ञानादि गुण अभिन्न हैं। प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान, दर्शन, चारित्र—तीनों अलग-अलग हैं तो ये तीनों आत्मा में एक साथ कैसे रह सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि जैसे रत्न की प्रभा, निर्मलता और शक्ति आदि अलग-अलग होने पर भी तीनों गुण एक साथ रह सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीनों गुण आत्मा से अभिन्न हैं।⁷⁸

निश्चयनय से आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि वस्तुतः ज्ञानादि गुण का स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है अन्यथा आत्मा अनात्मा रूप हो जाएगी और ज्ञानादि गुण भी जड़ हो जाएंगे परन्तु ऐसा शक्य नहीं है।⁷⁹ इसलिए आत्मा और इसमें ज्ञानादि गुणों के बीच अभिन्नता है।

आत्मद्रव्य सर्वत्र सर्वकाल एक जैसा है

संसार में मनुष्य, तिर्यच, देव और नारक—इन चारों गतियों के अनन्तानन्त जीव हैं। प्रतिसमय जन्म-मरण का चक्र चल रहा है। पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम का क्रम चल रहा है पर इन सब में रही हुई विशुद्ध आत्मा ज्ञानगुण से और आत्मप्रदेशों से एक जैसी है। स्थानांग सूत्र में यह कहा गया है कि एग्रे आया अर्थात् आत्मा एक है। आत्माएँ अनन्त होने पर भी चौदह राजलोक की सभी आत्माएँ समान हैं। इसका आशय यही है कि सभी जीवों में स्वरूप-दृष्टि से एक ही प्रकार की आत्मा रही हुई है। इसलिए संग्रहनय की दृष्टि से आत्मा एक है, यह कहने में आया है। आत्मा के द्वारा धारण किये हुए देह भिन्न-भिन्न हैं परन्तु यह भिन्नता बाह्य है, भ्रामक है, क्षणिक है, इसे उपाध्याय यशोविजय ने सुवर्ण के अलंकारों का उदाहरण देकर बताया है। एक ही स्वर्ण कंगन, कुण्डल आदि बनाने में काम आता है। कंगन को गलाकर हार बनाया जाता है। हार को गलाकर पोंची बनाई जाती है। ये सभी अलंकार नाम रूप आदि से भिन्न हैं। किन्तु उन सबमें रहा हुआ स्वर्ण तो वही है। एक ही व्यक्ति में बालपन, यौवन, वृद्धावस्था आदि अवस्थाएँ देखने में आती हैं लेकिन इसमें रही हुई आत्मा न तो बालक है और न ही वृद्ध। आत्मद्रव्य सर्वत्र सर्वकाल में एक ही जैसा है।⁸⁰

आत्मा मूर्त या अमूर्त, देह से भिन्न या अभिन्न

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—व्यवहारनय को मानने वाले आत्मा में कथंचित् मूर्तता मानते हैं, कारण कि उसमें वेदना का उद्भव होता है।⁸¹

देह और आत्मा एक ही क्षेत्र में रहे हुए हैं। किसी मनुष्य पर लकड़ी से प्रहार करें तो वह वेदना शरीर में होती है। आत्मा तो मात्र द्रष्टा होती है। मूर्त द्रव्यकृत परिणाम मूर्त द्रव्य में ही होता है, अमूर्त में नहीं। देहधारी जीव पर प्रहार करने से उसे जो वेदना होती है, वह शरीर के प्रति होती है इसलिए जैन दर्शन संसारी आत्मा में कथंचित् मूर्तता स्वीकारता है। ममत्व के कारण इस प्रकार व्यवहारनय अमुक अंश में देह के साथ आत्मा की अभिन्नता मानता है। भगवान महावीर के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि भगवन् जीव वही है, जो शरीर है या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—“गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है।”⁸² इस प्रकार भगवान महावीर ने आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व तथा एकत्व दोनों को स्वीकार किया है।

आचार्य कुंदकुंद ने कहा कि “व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा और देह एक ही है लेकिन निश्चयदृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते हैं।”⁸³ उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में निश्चयनय से कथन करते हुए कहा गया है—“जैसे ही उष्ण अग्नि के संयोग से उष्ण है, ऐसा भ्रम होता है, उसी प्रकार मूर्त अंग के सम्बन्ध से आत्मा मूर्त है, ऐसा भ्रम होता है।”⁸⁴ अग्नि का गुणधर्म उष्णता है, घी का गुणधर्म उष्णता नहीं है, परन्तु घी को अग्नि पर तपाने से घी के शीतल परमाणुओं के बीच अग्नि के उष्ण परमाणु प्रवेश कर जाते हैं, इसलिए घी गरम है, ऐसा भ्रम होता है। गरम घी खाने पर भी शरीर में ठण्डक ही करता है, कारण शीतलता उसका स्वभाव है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में रहने से मूर्त प्रतीत होती है, परन्तु स्वलक्षण से अमूर्त ही है। आत्मा का गुण, रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकृति शब्द नहीं है तो उसमें मूर्तत्व कहाँ से है।⁸⁵ अतः आत्मा अमूर्त है।

वस्तुतः आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वंदन, सेवा आदि अनेक धार्मिक आचरण की क्रियाएँ संभव नहीं हैं। दूसरी ओर आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश तथा भेद-विज्ञान की संभावना नहीं हो सकती है। अतः आत्मा और शरीर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं।

आत्मा (जीवों) के प्रकार

संसार में जो जीव हैं, उनका विभिन्न शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। मोक्षप्राप्ति की योग्यता की अपेक्षा से संसार में रहे हुए जीव दो प्रकार के हैं—भव्य तथा अभव्य।

कोई यह प्रश्न करे कि जीवों में जीवत्व एक समान रहा हुआ है, तो फिर जीवों के भव्यत्व और अभव्यत्व—इस प्रकार भेद करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—“जैसे द्रव्यत्व समान होने पर भी जीवत्व और अजीवत्व का भेद है, उसी प्रकार जीव भाव समान होने पर भी भव्यत्व और अभव्यत्व का भेद है।”⁸⁶

विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा गया है कि जैसे जीव और आकाश में द्रव्यत्व समान होने पर भी उनमें चेतनत्व-अचेतनत्व का भेद स्वाभाविक है वैसे ही जीवों में जीवत्व समान होने पर भी भव्याभव्यत्व का भेद है।⁸⁷ तत्त्वार्थसूत्र में भी “जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—ये तीन पारिणाभिक भाव बताए हैं।”⁸⁸

ये जीव के असाधारण भाव हैं, जो किसी भी भव्य द्रव्य में नहीं मिलते हैं। अनुयोगद्वारा सूत्र में कहा गया है कि “जीवास्तिकाय का भव्यत्व और अभव्यत्व अनादि पारिणामिक भाव हैं।”⁸⁹ समान लक्षणों वाली वस्तुओं में भी उत्तरभेद हो सकते हैं। जिस द्रव्य में चेतनागुण है, उसे जीव कहते हैं और जिन द्रव्यों में चेतना गुण नहीं है, उन्हें अजीव कहते हैं। उसी प्रकार जिन जीवों में मोक्ष जाने की योग्यता है, उन जीवों को भव्य कहते हैं और जिनमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता नहीं है, उन्हें अभव्य कहते हैं। भव्यत्व भी दो प्रकार का होता है—1. भव्य, 2. जातिभव्य।

जातिभव्य जीव वे होते हैं, जिनमें मोक्षप्राप्ति की योग्यता होने पर भी इनको अनुकूल सामग्री का योग कभी भी नहीं मिलता है, इसलिए जातिभव्य जीव भी कभी मोक्षप्राप्ति नहीं कर सकते हैं। प्रश्न यह उठता है कि दुर्भव्य या जातिभव्य में भव्यत्व रहने पर भी मोक्ष प्राप्त क्यों नहीं कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर उपाध्याय यशोविजय ने एक द्रष्टान्त द्वारा समझाया कि स्वयंभूरयण समुद्र के मध्यतल में कोई पत्थर रहा हुआ है और उस पत्थर में प्रतिमा बनने की संभावना नहीं है, तो प्रतिमा बनने की बात ही कहाँ रही? उसी प्रकार जातिभव्य जीवों की संज्ञी पंचेन्द्रिय बनने की शक्यता भी नहीं होती तो फिर मनुष्यभव प्राप्त कर रत्नत्रय की आराधना करके मोक्ष प्राप्त करने की बात कैसे सम्भव हो?⁹⁰ स्थानांग सूत्र में भी कहा गया है कि “सूक्ष्म एकेन्द्रि या अनन्तकाय सिवाय के जितने भव्य हैं, उनमें कोई भी जातिभव्य नहीं कहलाता है, क्योंकि जातिभव्य को प्रसादिक प्राप्त करने की सामग्री का योग ही नहीं मिलता है।” सारांश यह है कि नियम ऐसा बनाया जा सकता है कि तद्योग्य सामग्री प्राप्त होने पर जो द्रव्य प्रतिमा योग्य है, उन्हीं से प्रतिमा बनती है, अन्य से नहीं और जो जीव भव्य है, वे ही सिद्धिगमन योग्य सामग्री प्राप्त होने पर मोक्ष जाते हैं, अन्य नहीं जाते हैं, किन्तु ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता है कि जो द्रव्य प्रतिमा के योग्य है, उन सभी की प्रतिमा बनती ही है और जो जीव भव्य है, वे मोक्ष जाते ही हैं।⁹¹

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए विशेषावश्यक भाष्य में द्रष्टान्त देते हुए कहा गया है कि “स्वर्ण और स्वर्णपाषाण के संयोग में वियोग की योग्यता होने से स्वर्ण को स्वर्णपाषाण से अलग किया जा सकता है परन्तु सभी स्वर्णपाषाण से स्वर्ण अलग नहीं होता है। जिन्हें वियोग की सामग्री मिलती है, उन्हीं से स्वर्ण अलग होता है।⁹² इसी प्रकार चाहे सभी भव्य जीव मोक्ष में न जाएँ लेकिन मोक्ष जाने की योग्यता भव्य में ही मानी जाती है। अभव्य में मोक्षगमन की योग्यता का अभाव होता है।

लेश्या के आधार पर आत्मा का परिणाम

आध्यात्मिक जगत् में लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीव के शुभ तथा अशुभ परिणामों को लेश्या कहते हैं। भगवती सूत्र की वृत्ति में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों को श्लिष्ट करने वाली प्रवृत्ति लेश्या है। ये योग के परिणामविशेष हैं।⁹³ आत्मा के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण होता है। वे पुद्गल उसके चिंतन को प्रभावित करते हैं। अच्छे पुद्गल अच्छे विचारों के सहायक बनते हैं और बुरे पुद्गल बुरे विचारों के। यह एक सामान्य नियम है। विचारों की शुद्धि एवं अशुद्धि में अनन्तगुण तरतमभाव रहता है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंक लिखते हैं—कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है।⁹⁴ आत्मा की परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा इसे कृष्णादि छः भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम तीन लेश्या अशुभ हैं और अन्तिम तीन लेश्या शुभ है।

कृष्ण लेश्या : भारतीय संस्कृति में यम (मृत्यु) को काले रंग से चित्रित किया गया है। काजल के समान काले और जीभ से अनन्त गुण कटु रस वाले पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होते हैं, वह कृष्ण लेश्या है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि निर्दयता पश्चात्तापरहितता दूसरों के दुःख में हर्ष, सतत् हिंसादि विचारों में प्रवृत्ति आदि इसके लिंग हैं।⁹⁵ कृष्ण लेश्या वाला क्रूर, अविचारी, निर्लज्ज, नृशंस, विषय-लोलुप, हिंसक स्वभाव की प्रचण्डता वाला होता है।⁹⁶

नील लेश्या : नीलम के समान नीला और सोंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होते हैं, वह नीललेश्या कहलाती है। जो ईर्ष्यालु, कदाग्रही, प्रमादी, रसलोलुपी और निर्लज्ज होता है, वह नीललेश्या परिणामी है।⁹⁷

कापोत लेश्या : कबूतर के गले के समान वर्ण वाली और कच्चे आम के रस से अनन्तगुण कसैले पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वह कापोतलेश्या होती है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार अत्यधिक हंसने वाला, दृष्ट वचन वाला, आत्मप्रशंसा और पर-निंदा में तत्पर कापोतलेश्या से युक्त होता है।

तेजो-लेश्या, पीत-लेश्या—हिंगुल के लाल पके हुए आम्ररस से अनन्तगुण मधुर पुद्गलों के संयोग से आत्मा में जो परिणाम होते हैं, वे तेजोलेश्या कहलाती हैं। गौम्मटसार में इसके लिए पीतलेश्या शब्द प्रयुक्त हुआ है। महत्वाकांक्षारहित, प्राप्त परिस्थिति में प्रसन्न रहने की स्थिति को पीतलेश्या या तेजोलेश्या कहा गया है।⁹⁸

पद्मलेश्या : हल्दी के समान पीले तथा शहद से अनन्तगुण मधुर पुद्गलों के संयोग से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वह पद्मलेश्या कहलाती है।

शुक्ल लेश्या : शंख के समान श्वेत और मिश्री से अनन्तगुण मधुर पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वह शुक्ल लेश्या युक्त होते हैं। उपाध्याय यशोविजय के अनुसार शुक्लध्यान के प्रथम दो पाए में शुक्ल लेश्या तथा तीसरे पाए में शुक्ल लेश्या परम उत्कृष्ट रूप में होती है। शुक्ल ध्यान का चौथा प्रकार लेश्यातीत होता है।⁹⁹ शुक्ललेश्या वाला निंदा-स्तुति, मान-अपमान, पूजा-गाली, शत्रु-मित्र सभी स्थितियों में समत्वभाव में रहता है।

भावों के आधार से एक जीव लेश्या के अनेक स्थानों को स्पर्श कर सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव छहों लेश्याओं में रह सकता है। सयोगीकेवली के मात्र शुक्ललेश्या होती है। अयोगी अवस्था में जीव लेश्यारहित होता है। यही अध्यात्म की पूर्णता है।

आत्मा का त्रिविध वर्गीकरण

जैन धर्म-दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की साधना को अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना पड़ता है। डॉ. सागरमलजी जैन का कहना है, “विकास तो एक मध्यावस्था है। उसके एक ओर अविकास की अवस्था तथा दूसरी ओर पूर्णता की अवस्था है।”¹⁰⁰ इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने तथा उपाध्याय यशोविजय ने अपने ग्रंथ में आत्मा की निम्न तीन अवस्थाओं का विवेचन किया है—

बहिरात्मा—आत्मा के अविकास की अवस्था

अन्तरात्मा—आत्मा की विकासमान अवस्था

परमात्मा—आत्मा की विकसित अवस्था।

उपाध्याय यशोविजय ने बहिरात्मा के चार प्रमुख लक्षण बताए हैं—

1. विषय-कषाय का आवेश,
2. तत्त्वों पर अश्रद्धा,
3. गुणों पर द्वेष और
4. आत्मा की अज्ञानदशा।¹⁰¹

बहिर्मुखी आत्मा को आचारांग में बाल, मंद और मूढ़ नाम से अभिव्यक्त किया गया है। यह अवस्था चेतना या आत्मा की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति की सूचक है।

जब तत्त्व पर सम्यक् श्रद्धान् सम्यग्ज्ञान महाव्रतों का ग्रहण आत्मा की अप्रमादी दशा और मोह पर विजय प्राप्त होती है तब अन्तरात्मा की अवस्था अभिव्यक्त होती है।¹⁰² गुणस्थानक की दृष्टि से 13वां सयोगीकेवली और 14वां अयोगीकेवली के गुणस्थानक पर रहा हुआ आत्मा परमात्मा कहलाता है।

आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व

संसारी प्राणियों की विविधता का कारण कर्म ही है। कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है, कोई धनवान है, कोई गरीब, कोई आसक्त, कोई विरक्त, किसी का सत्कार तो किसी का तिरस्कार, कोई सुन्दर है और कोई कुरूप है, कोई लेखक है तो कोई कवि या वक्ता। कोई विशेष योग्यता न रखते हुए भी स्वामी बना हुआ है तो कोई योग्यता होते हुए भी सेवक है। ऐसी अनेक प्रकार की विचित्रताएँ हमें संसार में देखने को मिलती हैं। इनका आन्तरिक हेतु कर्म है। आत्मा के बिना कर्म सर्वथा असंभव है। व्यवहारनय से उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—“यह जीवात्मा ही सुखों तथा दुःखों का कर्ता तथा भोक्ता है और यह जीवात्मा ही अपना सब से बड़ा मित्र है और स्वयं अपना सबसे बड़ा शत्रु है। यह आत्मा ही वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और यही कामधेनु तथा नन्दनवन के समान सुखदायी भी है।¹⁰³ यह जीवात्मा अपने ही पापकर्मों द्वारा नरक और तिर्यच गति के अनन्त दुःखों की भोक्ता है और वही अपने ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग आदि विविध दिव्य सुख की भी भोक्ता है।

व्यवहारनय वास्तविक परिस्थितियों और संयोगों को स्वीकार करता है। निरूपचरित असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता है और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के अनुसार आत्मा देह के द्वारा स्थूल पदार्थों की भी भोक्ता है। जैसे मैं खाता हूँ, मैं नृत्य करता हूँ, मैं नाटक देखता हूँ आदि कथन इस नय के आधार पर है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में कहा है, “जीव निश्चयनय से कर्मों का भोक्ता है तथा व्यवहारनय से स्त्री आदि का भी भोक्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में ही पाए जाते हैं। मुक्तात्मा में नहीं।” उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

—व्यवहारनय से जीव पौद्गलिक कर्मों के फल का भोक्ता है। साथ ही घट-पट आदि पदार्थों का भी भोक्ता है।

—अशुद्ध निश्चयनय से कर्मों के विपाक द्वारा प्राप्त सुख और दुःख आदि संवेदनाओं का भोक्ता है।

—शुद्ध निश्चयनय से आत्मा चिदानंद स्वभाव का भोक्ता है। यहाँ भोक्तृत्व अर्थ मात्र स्वरूप स्थिति है।

—आदिपुराण में कहा गया है कि परलोक संबंधी पुण्य और पापजन्य फलों की भोक्ता, आत्मा है। स्वामी कार्तिकेय ने भी आत्मा को कर्म विचारजन्य सुख-दुःख की भोक्ता कहा है।

नियमसार एवं पंचास्तिकाय में भी व्यवहारनय से आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को स्वीकार किया गया है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में एक द्रष्टान्त दिया है कि जिस व्यक्ति को तालाब के कम पानी में तैरना नहीं आता है, वह समुद्र को तैरकर सामने किनारे पर पहुंचने की अभिलाषा रखता है तो यह हास्यास्पद है, उसी प्रकार व्यवहारनय को जाने बिना केवल शुद्ध निश्चयनय की बात करना हास्यास्पद है।¹⁰⁴ दोनों नय मनुष्य की दो आँखों के समान हैं, एक ही रथ के दो पहियों के समान हैं इसलिए जैनदर्शन में व्यवहारनय से आत्मा को कर्मों का तथा स्थूल पदार्थों का कर्ता तथा भोक्ता स्वीकार किया गया है तथा निश्चयनय से आत्मा को अपने चिदानंदस्वरूप के कारण भोक्ता कहा गया है।

आत्मा की स्वभाव दशा एवं विभाव दशा

अध्यात्मवाद की साधना का यदि कोई प्रयोजन है तो वह विभाव से हटकर स्वभाव में लौटना ही है। जैनधर्म की आध्यात्मिक साधना विभाव दशा से स्वभाव की ओर एक यात्रा है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वभाव और विभाव क्या है? आत्मा में पद के निमित्त से जो विकार उत्पन्न होते हैं या भावों का संक्लेशयुक्त जो परिणमन होता है, वह विभाव कहलाता है। जैनदर्शन में राग-द्वेष तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, ममत्व आदि कषाय-भावों को वैभाविक दशा के सूचक माना है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि “जैसे घट के एक बीज में से उत्पन्न हुआ वटवृक्ष विशाल भूमि में फैल जाता है, उसी प्रकार एक ममतारूपी बीज में से सारे प्रपंच की कल्पना खड़ी होती है।”¹⁰⁵

जिस प्रकार सूरज पूर्व दिशा को त्याग कर पश्चिम दिशा में अनुरक्त होकर अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जब आत्मा समता रूपी स्वघर का त्याग करके ममतारूपी परघर में अनुरक्त हो जाती है तब उसकी शुद्ध स्वाभाविक दशा पर मिथ्यात्वरूपी तम छा जाता है।¹⁰⁶ आत्मविश्वास में पिछड़े ऐसे बहिरात्मा जीव संसार में दुःखी होने पर भी संसार के भौतिक सुखों में आसक्त रहते हैं।

वे विभाव को ही अपना स्वभाव मान लेते हैं? उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है—“आत्मद्रव्य से भिन्न धन-धान्य परिग्रहादिरूप पर उपाधि में ही जिसने पूर्णता मान ली है, वह पूर्णता, मांगकर लाए हुए आभूषणों की शोभा से अपने आपको धनवान मानने के समान है जबकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप स्वभाव से सिद्ध जो पूर्णता है, वह महारत्न की कांति के समान है।”¹⁰⁷

पर पर स्व का आरोपण करने रूप मिथ्याभाव से ही विभाव का जन्म होता है। यह सत्य है कि ज्ञान के लिए ज्ञेय की अपेक्षा रहती है किन्तु उस ज्ञेय तत्त्व के सम्बन्ध में जब तक चेतना में रागादि कषायभाव उत्पन्न नहीं होते हैं, आत्मा में विकार-भाव नहीं जगते तब तक वह ज्ञेय तत्त्वज्ञान का हेतु होकर भी विभाव का कारण नहीं बनता है। इसलिए जैनदर्शन में आत्मा के ज्ञाताद्रष्टाभाव या साक्षीभाव को आत्मा का स्वभाव कहा गया है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—“जैसे निर्मल आकाश में आँख में तिमिर नाम के रोग होने से नीली-पीली आदि रेखाओं से चित्रित आकार दिखाई देता है, उसी प्रकार

शुद्ध आत्मा में रागादि अशुद्ध अध्यवसाय रूप विकारों द्वारा अविवेक से विकार रूप विचित्रता भासित होती है।¹⁰⁸ निश्चयनय से अखण्ड होने पर भी पर के साथ एकरूप होने पर विकार वाली आत्मा दिखाई देती है। स्वभाव आत्मा की स्वस्थता है, क्योंकि वह स्व में स्थित होती है जबकि विभाव आत्मा की विकृत अवस्था का सूचक है। विभाव आध्यात्मिक रोग है, क्योंकि उसके कारण चेतना का ममत्व भंग होता है। चेतना में तनाव उत्पन्न होते हैं, जो सर्वप्रथम व्यक्ति के चित्त को उद्वेलित करते हैं किन्तु वहीं उद्वेलित चित्त आगे जाकर परिवार, समाज और राष्ट्र की शांति को भी भंग करता है।

नित घर में प्रभुता है तेरी, पर संग नीच कहाओ।

प्रत्यक्ष रीत लखी तुम ऐसी, गहिये आप सुहावो।।

इस प्रकार विभाव एक विकृति है, एक बीमारी है। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना वस्तुतः इस आत्मिक विकृति की चिकित्सा का प्रयत्न है, जिससे हमारी चेतना विभाव से स्वभाव की ओर लौट आए। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में जिन चार योगों का निरूपण किया है, वह वस्तुतः आत्मा को विभाव से हटाकर स्वभाव में स्थित करने के लिए ही है। उनका अध्यात्मवाद विभाव की चिकित्सा कर स्वभाव में स्थित होना है। दूसरे शब्दों में आत्मा को स्वस्थ बनाने का एक उपक्रम है, क्योंकि स्वभाव रक्षा को प्राप्त करना ही परम अध्यात्म है, यही परम अमृत है, यही परम ज्ञान है और यही परम योग है।¹⁰⁹

अतः हम कह सकते हैं कि आत्मा की जो शक्तियां तिरोहित हैं, उन्हीं शक्तियों को प्रकट करने के लिए अन्तरात्मा पुरुषार्थ करते हुए आध्यात्मिक विकास मार्ग में आगे बढ़ती है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्स्वरूपी दीप के प्रज्वलित होने पर ज्ञानावरणीय आदि घातिकर्मों के आवरण हट जाते हैं तथा अनन्तचतुष्टय का प्रकटन होता है और आत्मा अन्तरात्मा से परमात्मा बन जाती है।

अध्यात्मवाद में साधक, साध्य और साधन

साधक जीवात्मा का स्वरूप

आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी है, किन्तु वह कर्म की घटाओं से घिरी हुई है, जिससे उसके दिव्य प्रकाश पर आवरण आ चुका है। उसका विशुद्ध स्वरूप लुप्त हो चुका है। विश्व की प्रत्येक आत्मा में शक्ति का अनन्त स्रोत प्रवाहित है। जिसे अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास हो जाता है, और जो अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए अर्थात् विभाव दशा को छोड़कर स्वभाव में आने के लिए पुरुषार्थ आरम्भ करता है, वह साधक कहलाता है।

खान में से निकले हीरे की चमक अल्प होती है परन्तु जब उसे अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से स्वच्छ कर तराश दिया जाता है तो उसकी चमक बढ़ जाती है। ठीक उसी प्रकार आत्मा की प्रथम अवस्था कर्म से मलिन अवस्था है, किन्तु विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा निर्मलता को प्राप्त करते हुए वही साधक परमात्मदशा को ही प्राप्त कर लेता है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है, “साधना की प्राथमिक अवस्था में साधक इन्द्रियों के विषयों का अनिष्ट बुद्धि से त्याग करता है। साधना के उच्च शिखर पर पहुंचा हुआ अर्थात् योगसिद्ध पुरुष न तो विषयों का त्याग करते हैं और न उन्हें स्वीकार ही करते हैं किन्तु उनके यथार्थ स्वरूप को देखते रहते हैं।”¹¹⁰ साधक के लक्षण शाङ्गधर पद्धति स्कन्धकपुराण और श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि जैनेतर ग्रंथों में इस प्रकार बताया है कि

रसलोलुपता का अभाव, आरोग्य, अनिष्टुरता, मलमूत्र की अल्पता, चेहरे पर कान्ति एवं प्रसन्नता, सौम्य स्वर, विषयों में अनासक्ति, प्रभावकता रति, अरति से अपराजित, उत्कृष्ट जनप्रियत्व विनम्रता शरीर का आह्लादक वर्ण आदि साधना की प्राथमिक अवस्था के लक्षण हैं। योगसिद्ध पुरुषों में दोषों का अभाव, आत्मानुभवजन्य परमतृप्ति और समता होती है। उनके सान्निध्य से तो वैरियों के वैर का भी नाश हो जाता है।¹¹¹

साधना के क्षेत्र में साधक को अपनी आत्मशक्ति व्यक्त करने के लिए अशुभ से शुभ में और शुभ से शुद्ध में जाना होता है। इस दौरान साधक अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म के अधिकारी पुरुष में तीन बातें होना आवश्यक बताया है—1. मोह की अल्पता, 2. आत्मस्वरूप की ओर अभिमुखता, 3. कदाग्रह से मुक्ति।¹¹²

मूंग के पकने की क्रिया में जैसे समय जाता है, प्रथम अल्पपाक, फिर कुछ अधिक पाक इस तरह वे बीस-पच्चीस मिनिट में पूर्णतः पकते हैं, उसी प्रकार साधक भी योग्य उपायों पूर्वक प्रवर्तन करते हुए क्रमशः अपुनर्बंधक की प्राप्त ग्रंथिभेद सम्यक्त्व की प्राप्ति क्षपकश्रेणी वीतराग अवस्था तक पहुंचता है। बारहवें गुणस्थानक तक की अवस्था साधक अवस्था कहलाती है।

अपुनर्बंधक

अपुनर्बंधक आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक में अपुनर्बंधक के तीन लक्षण बताए हैं—

1. वह तीव्र भाव से पाप नहीं करता है,
2. संसार के प्रति बहुमान नहीं रखता है,
3. सर्वत्र उचित आचरण करता है।¹¹³

पुनः एक भी बार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधने वाले जीव को अपुनर्बंधन कहते हैं। यह साधक की प्रारम्भिक अवस्था है। निकाचित चिकने कर्म बंधे—यह ऐसे तीव्र भाव से पाप नहीं करता है। कभी कोई समय ऐसे पाप करने का प्रसंग आए तो उस प्रकार के पूर्व में बंधे हुए कर्मों के उदय की परवशता के कारण ही करता है परन्तु स्वयं की रसिकता से पाप नहीं करता है। संसार असार है, भयंकर है, अनन्त दुःखों की खान है—यह समझकर सांसारिक प्रवृत्तियों को हृदय से बहुमान नहीं देता है। इस अवस्था में साधक मार्गानुसारित के अभिमुख है। मयूरशिशु की तरह अपुनर्बंधन कहलाता है। मयूर शावक बराबर माता के पीछे चलता है, उसी प्रकार आत्मा भी सरल परिणामी बनकर बराबर मोक्ष मार्ग के अभिमुख होकर चलती है।

सम्यग्दृष्टि

राग-द्वेष का ग्रंथिभेद करने के बाद साधक को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्यग् दृष्टि जीव के तीन लिंग बताए हैं—1. सुश्रूषा, 2. धर्मराग और 3. चित्त की समाधि।¹¹⁴

सम्यग्दृष्टि जीव की धर्मशास्त्र सुनने की अत्यन्त उत्कण्ठा होती है। उपाध्याय यशोविजय ने सम्यक्त्व 67 बोल की सञ्ज्ञाय में कहा है—

तरुण सुखी स्त्रीपरिवर्यो रे, चतुर सुणे सुरगीत ।
तेह थी रागे अतिघणे रे, धर्म सुण्या नी रीत रे । प्राणी ।।

सम्यग्दृष्टि जीव के धर्मराग के विषय में कहा गया है कि दरिद्र ब्राह्मण को यदि घेवर का भोजन मिले तो उसे उस भोजन पर अतिराग होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को उससे भी अधिक राग धर्मकार्य में होता है।¹¹⁵ अनादिकालीन राग-द्वेष की ग्रंथि का भेद होने के बाद आत्मा में स्वतः ही तत्त्व के विषय में तीव्र बहुमान भाव जगाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में सम्यक्त्व के पांच लक्षण बताए हैं—1. शम, 2. संवेग, 3. निर्वेद, 4. आस्तिक्य और 5. अनुकंपा।¹¹⁶

चारित्रवान

साधक की तीसरी तथा चौथी अवस्था चारित्रवान की होती है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने चारित्रवान के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—1. मार्गानुसारी, 2. श्रद्धावान, 3. प्रज्ञापनीय, 4. क्रिया करने में तत्पर, 5. गुणानुरागी और 6. सामर्थ्यानुसार धर्मकार्यों में रत।¹¹⁷ इस अवस्था में पहुंचा हुआ साधक सम्यक्त्व प्राप्त होने से दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम कर चुका होता है। चारित्रमोहनीय कर्म में देशविरति और सर्वविरति का प्रतिबंध करने वाले ऐसे अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषाय तथा उनको सहयोग देने वाले नौ कषाय—इन 17 प्रकृति का क्षयोपशम विशेष होने से अनन्त उपकारी तीर्थंकर के द्वारा बताए हुए त्यागमय संयम मार्ग का अनुसरण करने की बुद्धि आत्मा में उत्पन्न होती है। वीतराग मार्ग का अनुसरण करने वाले को अवश्य तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का साधकमय कारण है, इसलिए मार्गानुसारिता चारित्री का प्रथम लिंग कहा गया है।

धरती में छुपे हुए भण्डार को प्राप्त करने में प्रवृत्त व्यक्ति की शकुन देखना, इष्ट देवों का स्मरण करना आदि विधियों में जैसे अपूर्व श्रद्धा होती है, वैसे ही मार्गानुसारिता व्यक्ति को अनन्त ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति की इच्छा होती है। उसे मोक्ष मार्ग बताने वाले आप्त पुरुषों के प्रति अतिशय श्रद्धा होती है। उसे भोगों के प्रति उदासीनता होती है। वह गुरु के प्रति समर्पित, सरल और नम्र होता है, जिससे गुरु भी उसे शिक्षा के योग्य मानता है। वह आत्मा हितकारी एवं धर्मकार्य करने में सदा तत्पर रहती है।

चारित्रवान आत्मा देशविरति और सर्वविरति के भेद से अनेक प्रकार की होती है। देशविरति गृहस्थ भी कोई एक व्रत वाले, कोई दो व्रत वाले यावत् कोई बारह व्रत वाले भी होते हैं। इस प्रकार सर्वविरति चारित्र वाले मुनि भी कोई सामायिक चारित्र वाले, कोई छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले, कोई परिहार विशुद्धि चारित्र वाले, कोई सूक्ष्म संपराय चारित्र वाले तो कोई यथाख्यात चारित्र वाले होते हैं। इस प्रकार साधक का स्वरूप क्षयोपशम भेद से तरतमता वाला होता है। परन्तु सिद्धावस्था में क्षायिक भाव होने से सभी समान होते हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में साधक की निम्न तथा उच्च दोनों कक्षाओं का भेद बताते हुए कहा है कि प्राथमिक साधक को योग की प्रवृत्ति से प्राप्त हुए सुस्वप्न, जनप्रियत्व आदि में सुख का संवेदन होता है, क्योंकि उसे पदार्थों का यथाव्यवस्थित स्वरूप ज्ञात नहीं है और आत्मा के आनन्द का अनुभव भी नहीं है। जिसने ज्ञानयोग को सिद्ध कर लिया है, ऐसे योगी पुरुष को तो आत्मा में ही सुख का संवेदन होता है, क्योंकि उसकी आत्मा की ज्योति स्फुरायमान है।¹¹⁸ ज्ञानसार में भी 12वें गुणस्थानक पर पहुंचे हुए साधकों की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्वाभाविक

सुख में मग्न और जगत् के तत्त्वों की स्याद्वाद से परीक्षा करके अवलोकन करने वाली आत्मा अन्य भावों का कर्ता नहीं होती है, परन्तु साक्षी होती है।¹¹⁹

जो जितेन्द्रिय है, धैर्यशील है और प्रशान्त है, जिसकी आत्मा स्थिर है और जिसने नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि स्थापित की है, जो योग सहित है और अपनी आत्मा में ही स्थित है, ऐसे ध्यानसम्पन्न साधकों को देवलोक और मनुष्यलोक में भी वास्तव में कोई उपमा नहीं है।¹²⁰

ऐसा साधक साधना करते-करते साध्य परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। साधक के स्वरूप कथन के पश्चात् साध्य परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है।

साध्य परमात्मा का स्वरूप

समस्त आध्यात्मिक साधनाओं का मूल उद्देश्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। जैन दर्शन में प्रत्येक जीवात्मा को परमात्मस्वरूप माना गया है। साध्य परमात्मा और साधक जीवात्मा दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। जब तक आत्मा संसार की मोहमाया के कारण कर्ममल से आच्छादित है तब तक वह बादल से धिरे हुए सूर्य के समान है। आत्मा के परमात्मस्वरूप को जिन कर्मों ने आवरण बनकर ढंक लिया है, वे कर्म आठ प्रकार के हैं। जिस प्रकार बादल का आवरण हटते ही सूर्य अपना दिव्य तेज पृथ्वी पर फैलाता है, उसी प्रकार साधना करते हुए जब कर्मों का आवरण सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाता है, तब आत्मा अनन्तानन्त आध्यात्मिक शक्तियों का पुंज बनकर शुद्ध, बुद्ध परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। मानवीय चेतना का चरम विकास ही ईश्वर है।

परमात्मा के दो भेद किये गए हैं—अरिहन्त एवं सिद्ध। अरिहन्त परमात्मा अशरीर है और सिद्ध परमात्मा अशरीर है। उपाध्याय यशोविजय परमात्मस्वरूप का चित्रण करते हुए कहते हैं कि “जब केवलज्ञान होता है तब अरिहन्त पद प्राप्त होता है।”¹²¹ अरिहन्त परमात्मा जब यह जानते हैं कि आयुष्य पूर्ण होने वाली है, तब वे योग निरोधरूप शैलेषीकरण की प्रक्रिया करते हैं, उस समय वे चौदहवें गुणस्थानक में अयोगकेवली होते हैं। उसके बाद वे अशरीर सिद्धात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनते हैं। मानतुंगसूरि भक्तामरस्तोत्र में ऋषभदेव परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—“परमात्मा अविनाशी ज्ञानपेक्षा विश्वव्यापी अचित्य आदि ब्रह्म ईश्वर अनन्त सिद्ध पद को सूचित करने वाले, अनंगकेतु योगी योग को जानने वाले मन, वचन, काय के योगी का नाश करने वाले अनेक, एक ज्ञानस्वरूप और निर्मल है।”¹²²

अध्यात्मोपनिषद् में उपाध्याय यशोविजय ने परमात्मस्वरूप का विशेष प्रकार से निरूपण किया है। वे कहते हैं—“जितने गुणस्थानक हैं तथा जितनी मार्गणाएँ हैं, इनमें से किसी के साथ परमात्मा का या शुद्धात्मा का संबंध नहीं है।”¹²³ आगम में आत्मगुण का विकासक्रम बताने के अभिप्राय से गुणस्थानक की व्यवस्था है, उसी प्रकार संसारी जीव की विविधता दिखाने की विवक्षता से मार्गणास्थान की व्यवस्था दर्शाई गई है। अतः सिद्धों में केवलज्ञान होने पर भी 13वां या 14वां गुणस्थानक सिद्धि के नहीं होने से उनमें सयोगीकेवली या अयोगीकेवली दशा भी स्वीकार नहीं करते हैं। जिस प्रकार गुणस्थानक प्रतिबद्ध अयोगी केवलीदशा सिद्ध परमात्माओं में नहीं है, उसी प्रकार मार्गणास्थान प्रतिबंध केवलज्ञान केवलदर्शन परमात्माओं में भी नहीं, क्योंकि सिद्ध तो संसार से अतीत है और मार्गणासारी से संसारी जीव का ही विभाग देखने के लिए है। इससे यह भी सूचित होता है कि विग्रहगति या केवलीसमुदघात में जो अणाहारी

अवस्था है, वह सिद्धों में भी नहीं है। सिद्धों में मार्गणा से संबंधित अणाहारक दशा भी नहीं और आहारक दशा भी नहीं है। वे अणाहारक तो हैं परन्तु वह आत्मस्वभाव की अपेक्षा से है। इसी प्रकार गुणस्थान सापेक्ष केवल अनादि उनमें नहीं है। परन्तु आत्मस्वभावभूत केवलज्ञानादि तो है ही। षोडशक नामक ग्रंथ में आचार्य हरिभद्रसूरि ने परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए 23 विशेषण दिए हैं। परमात्मा शरीर इन्द्रियादि से रहित, अचिंत्य गुणों के समुदाय वाले, सूक्ष्म त्रिलोक के मस्तकरूप सिद्धयोग में रहे हुए, जन्मादि संक्लेश से रहित, प्रधान ज्योतिस्वरूप अंधकार से रहित, सूर्य के वर्ण जैसे निर्मल अर्थात् रागादि मल से शून्य, अक्षर बाध्य नित्य, प्रकृति रहित लोकालोक को जानने तथा देखने के उपयोग वाले, समुद्र जैसे वर्ण रहित, स्पर्श रहित, अगुरुलघु सभी कलाओं से रहित परमानंद सुख से युक्त असंगत सभी कलाओं से रहित सदाशिव आदि-आदि शब्दों में अभिधेय है।¹²⁴

न्यायविजय ने अध्यात्म तत्त्वलोक में कहा है—“ईश्वर सभी कर्मों से मुक्त महेश्वर स्वयंभू, पुरुषोत्तम पितामह, परमेष्ठी तथागत सुगत, शिव, अर्थात् कल्याणकारी है।”¹²⁵ तत्त्वज्ञान तरंगिणी ग्रंथ में ज्ञानभूषण ने बताया है कि स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द से मुक्त ऐसा स्वात्मा ही परमात्मा है। निरंजन है इस कारण से परमात्मा का इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं हो सकता है।¹²⁶

हेमचन्द्रसूरि ने योगशास्त्र में कहा है—“चिदरूप आनन्दमय सर्वउपाधिरहित शुद्ध अतीन्द्रिय, अनन्तगुण सम्पन्न ऐसे परमात्मा हैं।”¹²⁷

स्याद्वाददृष्टि से ईश्वर साकार है और निराकार भी है। रूपी है, अरूपी भी है, सगुण है, निर्गुण भी, विभु है, अविभु भी है, भिन्न है, अभिन्न भी है, मनरहित है, मनस्वी भी है, पुराना है और नवीन भी।

परब्रह्माकारं सकल जगदाकाररहितं,
सरूपं नीरूपं सगुणमगुणं निर्विभु विभुम् ।
विभिन्न सम्भिन्नं विगतमनसं साधु मनसं,
पुराणं नव्यं चाधिहृदयमधीशं प्रणिदधे ॥

मुक्ति में जाने वाले परमात्मा ने जैसे शारीरिक आसन में यहां पृथ्वी पीठ पर शरीर छोड़ा हो, ऐसे आसन के स्वरूप में उनकी आत्मा मुक्ति में उपस्थित होती है। इस दृष्टि से ईश्वर साकार है। किसी प्रकार का दृश्य रूप या मूर्तता नहीं होने से वह निराकार भी है। ज्ञानादि गुणों के स्वरूप के आश्रयरूपी है और मूर्त रूप की अपेक्षा से अरूपी है। अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुणों से गुणी है और सत्व, रज, तम गुणों के अत्यन्ताभाव से अगुणी है। ज्ञान से विभु है और आत्मप्रदेशों के विस्तार से अविभु है। जगत् से निराले होने के कारण भिन्न है और लोकाकाश में अनन्तजीवों और पुद्गलों के साथ संसर्गवान होने से अभिन्न है। विचाररूप मन नहीं होने से अमनरूप है और शुद्धात्मोपयोग होने से मनस्वी है। प्रथम सिद्ध कौन हुआ? इसका पता नहीं होने से समुच्चय से सिद्ध भगवान पुराने हैं और व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक जीव नवीन (खादी) है।

विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है—मोक्ष में जाते हुए जीव को सम्यक् ज्ञान, दर्शन, सुख और सिद्धि के सिवाय औदायिक भाव तथा भव्यत्व एक साथ नष्ट हो जाते हैं। दोनों नहीं रहते हैं, क्योंकि सिद्ध के जीव भव्य भी नहीं हैं और अभव्य भी नहीं हैं।¹²⁸ उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में परमात्मा को शुद्ध प्रकृष्ट ज्योतिरूप बताया है तथा कहा है कि सत्, चित्त और आनन्दस्वरूप सूक्ष्म पर से परे ऐसी आत्मा मूर्तत्व को स्पर्श भी नहीं करती है।¹²⁹

- आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टि समुच्चय में परमात्मा और निर्वाण का एक ही स्वरूप बताते हुए कहा है कि विभिन्न नामों से कथित परमतत्त्व का वही लक्षण है, जो निर्वाण का है, अर्थात् वे एक ही हैं। यह सदाशिव है, सब समय कल्याणरूप परब्रह्म आत्मगुणों के परम विकास के कारण महाविशाल है। सिद्धात्मा अर्थात् विशुद्ध आत्मसिद्धि प्राप्त तथा एक जैसे शुद्ध सहजात्मस्वरूप में संस्थित, निराबाध, अर्थात् सब बाधाओं से रहित, निरामय अर्थात् देहातीत होने के कारण दैहिक रोगों से रहित तथा अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप से अवस्थित होने के कारण राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि भावरोगों से रहित परमस्वरूप निष्क्रिया अर्थात् सब कर्मों का कर्म हेतुओं का निःशेष रूप में नाश हो जाने के कारण सर्वथा क्रिया रहित कृतकृत्य है। जन्म-मृत्यु अदि का वहाँ सर्वथा अभाव है।¹⁵⁰ आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड में परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि परमात्मा कर्मरूपी मल से रहित है। ये अतीन्द्रिय और अशरीरी हैं। नियमसार में कहा गया है कि परमात्मा आदि अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल शक्तियुक्त परमात्मा है। परमात्मा त्रिकाल निरावरण, निरंजन तथा निज परमभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं और संसारवृद्धि के कारण भूत-विभाव पुद्गलद्रव्य के संयोगजनित रागादि परभाव को ग्रहण नहीं करते हैं। निरंजन, सहजज्ञान, सहजदृष्टि, सहजचारित्र आदि स्वभाव धर्मा के आधार आधेय संबंधी विकल्पों से रहित सदा मुक्त हैं।¹⁵¹

आचार्य हरिभद्र सूरि ने अष्टक प्रकरण में कहा है कि परमात्मा का स्वरूप पूर्णतः स्वतंत्र औत्सुक्य अर्थात् आकांक्षारहित, प्रतिक्रिया रहित, निर्विघ्न, स्वाभाविक नित्य अर्थात् त्रैकालिक और भययुक्त है।¹⁵²

इस प्रकार अलग-अलग ग्रंथों में विविध प्रकार से परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। ज्ञानार्णव ग्रंथ में शुभचंद्राचार्य ने परमात्मा की पहचान देते हुए बताया है कि निर्लेप, निष्फल, शुद्ध, निष्पन्न, अत्यन्त निवृत्त और निर्विकल्पक शुद्धात्मा परमात्मा स्वरूप है।

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा को बीजरूप में परमात्मा माना गया है। उनका उद्घोष है, “अप्पा सो परमप्पा”।

जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, उसका नियामक तथा संचालक नहीं मानते हैं, जैसे श्रीमद् भगवत गीता में ईश्वर का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—भूत, भविष्यत और वर्तमान को जानने वाला सर्वज्ञ पुरातन सम्पूर्ण संसार का शासक और अणु से भी अणु अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर सम्पूर्ण कर्मफल का विधायक अर्थात् विचित्र रूप से विभाग करके सब प्राणियों से उनके कर्मों का फल देने वाला है तथा अचिन्त्य स्वरूप अर्थात् जिसका स्वरूप नियत और विद्यमान होते हुए भी किसी के द्वारा चिन्तन न किया जा सके जैसा है एवं सूर्य के समान वर्ण वाला और अज्ञानरूप मोहमय अंधकार से सर्वथा अतीत है, वह परमात्मा है।¹⁵³ महाभारत में परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो परम तेजस्वरूप है, जो पारस महान् तपस्वरूप है, जो परम महान् ब्रह्म है, जो सबका परम आश्रय है।¹⁵⁴ प्रायः सभी दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा गया है लेकिन उसके स्वरूप के विषय में सभी दर्शनों की मान्यता अलग-अलग है। जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं में ईश्वर को उपास्य के रूप में स्वीकृत किया है। जैन परम्परा में उपास्य के रूप में अरिहन्त और सिद्ध को माना है।

वे उपास्य अवश्य हैं किन्तु गीता के ईश्वर से भिन्न हैं क्योंकि गीता का ईश्वर सदैव ही उपास्य है, जबकि अरिहन्त और सिद्ध उपासक के उपास्य बने हैं। सिद्ध केवल उपासना के आदर्श हैं और अरिहन्त उपासना अर्थात् साधनामार्ग के उपदेशक हैं किन्तु साधक स्वयं उस मार्ग पर चलकर आत्मस्वरूप को

प्राप्त कर सकता है। उपास्य के स्वरूप का ज्ञान तथा उपासना दोनों ही अपने में निहित परमात्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए हैं।¹³⁵

साधनों का आत्मा में एकत्व

किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। बिना साधनों के साध्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, राह पर चले बिना मंजिल तक नहीं पहुंच सकते हैं।

जीव जिन-जिन साधनों के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है तथा साधनों का आत्मा से एकत्व किस प्रकार है अर्थात् साध्य और साधन भिन्न-भिन्न है या अभिन्न? आदि प्रश्नों के संबंध में विवेचन है।

जिन साधनों के द्वारा साधक साध्यदशा को प्राप्त होता है, उन साधनों का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के मार्ग का अनुसरण करने वाले जीव उत्कृष्ट सुगति मोक्ष को प्राप्त करते हैं।¹³⁶ यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—इन तीनों को ही मोक्षमार्ग माना है¹³⁷ तथा तप को चारित्र का ही एक अंग माना है तथापि उत्तराध्ययन सूत्र में तप को जो पृथक् स्थान दिया, उसका कारण यही है कि तप कर्मक्षय का विशिष्ट साधक है। साधनापथ और साध्य दोनों ही आत्मा की अवस्थाएँ हैं। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में कहा है—जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ आत्मा की एकता सध जाती है तब कर्म जैसे क्रोधित हो गए हों, इस तरह आत्मा से अलग हो जाते हैं।¹³⁸ जब आत्मा स्वयं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप स्वभाव में स्थित हो जाती है, तब कर्मों के रहने के लिए कोई अवकाश नहीं रहता है। रत्नत्रयं मोक्षः अर्थात् रत्नत्रय मोक्ष है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि कर्मक्षय तो द्रव्यमोक्ष है। यह आत्मा का लक्षण नहीं है। द्रव्यमोक्ष के हेतुभूत आत्मा का रत्नत्रय से एकत्व ही भावमोक्ष है।¹³⁹

नियमसार की टीका में कहा गया है—“आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शन की आत्मा जान।” इसका तात्पर्य यही है कि ज्ञानदर्शनादि आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा का ही स्वरूप है।¹⁴⁰

डॉ. सागरमल जैन साधनापथ और साध्य को अभिन्न बताते हुए कहते हैं—जीवात्मा को अपने ज्ञान, अनुभूति और संकल्प के रूप में साधक कहा जाता है। उसके यही ज्ञान, अनुभूति और संकल्प सम्यक् दिशा में नियोजित हो जाने पर साधनापथ बन जाते हैं।¹⁴¹

जब साधक आध्यात्मिक विकास-मार्ग में आगे बढ़ता है, तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यग्गतप उसके साधना-पथ बनते हैं और साधना-पथ पर चलते हुए जब वह अनन्तचतुष्टय उपलब्ध कर ले, तो वही अवस्था साध्य बन जाती है। आत्मा की सम्यक् अवस्था साधना-पथ है और पूर्णवस्था साध्य है।

गीता के अनुसार भी साधनामार्ग के रूप में जिन सद्गुणों का विवेचन उपलब्ध है, उन्हें परमात्मा की विभूति माना गया है। यदि साधन आत्मा-परमात्मा का अंश है, साधनामार्ग परमात्मा की विभूति है और साध्य वही परमात्मा है तो फिर इनमें अभेद ही माना जायेगा।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है—“संग्रहनय के अनुसार सत्, चित्त, आनन्दस्वरूप बाध्य तत्त्व शुद्धात्मा है अर्थात् आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। परस्पर अनुविद्ध सत्व, ज्ञान और सुखमय आत्मा, यही परमात्मा है।”¹⁴²

‘ब्रह्मविद्या उपनिषद् में कहा गया है—‘मैं केवल सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। ज्ञानधन हूँ। परमार्थिक केवल सन्मात्र सिद्ध सर्व आत्मस्वरूप हूँ।’¹⁴³

ज्ञानादि धर्म आत्मा से भिन्न है या अभिन्न—यह विचारणा नयों की अपेक्षा से है तो अनेक प्रकार के नयों की विचारणाओं से भेद या अभेद उपस्थित होता है। निर्विकल्प ज्ञान में तो नयों की विवक्षा नहीं होती है। इसलिए विभिन्न नयों की विचारणाओं से भेद या अभेद का अवगाहन निर्विकल्प ज्ञान में नहीं होता है। ब्रह्मतत्त्व का अवगाहन करने वाला निर्विकल्प ज्ञान ब्रह्मतत्त्व के सत्वरूप में चैतन्य या आनन्दरूप में अनुभव नहीं करता है, परन्तु अखण्ड सच्चिदानन्दधने स्वरूप में ब्रह्मतत्त्व का अर्थात् आत्मा का संवेदन करता है। जैसे केवल मिर्ची खाने से मात्र तीखेपन का अनुभव होता है, केवल नींबू चखने से खट्टेपन का अनुभव होता है, नमक खाने से खारेपन का अनुभव होता है किन्तु उचित मात्रा में मिर्ची, नमक, निम्बू डालकर बनाए हुए उत्तम भोजन में यह स्वादिष्ट है, ऐसा ही अनुभव होता है, न कि स्वतंत्र रूप से खराश, मिठास, खटास या तीखापन का। स्वादिष्ट, खरास, तीखापन आदि भिन्न है या अभिन्न, यह चर्चा अस्थान है।

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि पवन के झोंकों से उत्पन्न तरंग जैसे समुद्र से अभिन्न होने के कारण समुद्र में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार महासामान्य स्वरूप ब्रह्म में नयजन्य भेदभाव डूब जाते हैं। अलग-अलग नयों के विभिन्न अभिप्रायों से उत्पन्न होने वाला आत्म संबंधी द्वैत शुद्धात्मा में लीन हो जाते हैं।

महासामान्यरूपोऽस्मिन्मज्जन्ति नयजा भिदाः ।

समुद्र इव कल्लोलाः पवननोन्माभनिर्मिताः ॥ 141 ॥

शुद्धात्मा का स्वरूप शब्दों से अवर्णनीय है। साधनों की साध्य से अभिन्नता अनुभव करते हुए भी उसका स्पष्ट वर्णन नहीं कर सकते हैं इसलिए सत्व चैतन्यादि गुणधर्म आत्मा से भिन्न है या अभिन्न—इस प्रश्न का शब्द द्वारा स्पष्ट समाधान नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार यह लोकोत्तर है और भेदाभेद के विकल्प लौकिक हैं।

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—‘जिन पदार्थों का शब्दों द्वारा निरूपण कर सकें, ऐसा नहीं हो तो भी प्रज्ञापुरुषों द्वारा उसका अपलाप नहीं किया जाता है, माधुर्य विशेष की तरह।’¹⁴⁴

रत्नत्रयी की आत्मा से एकत्व यह अपरोक्ष अनुभव से गम्य है, जैसे—आम, गुड़, शक्कर आदि की मिठास में परस्पर भेद है किन्तु शब्दों द्वारा भेदों का निरूपण करना अशक्य है।

न्यायभूषण ग्रंथ में भासर्वज्ञ ने कहा है—‘गन्ना, दूध, गुड़ आदि की मिठास में बहुत अन्तर है, फिर भी उन्हें शब्दों द्वारा बताना शक्य नहीं है। ठीक इसी तरह अद्वैत ब्रह्म अर्थात् आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि से अभिन्नता का शब्दों द्वारा वर्णन करना अशक्य है। शब्दों द्वारा विशिष्ट प्रकार की मिठास का निरूपण नहीं होने पर भी उनका अपलाप नहीं होता है, क्योंकि यह अनुभव सिद्ध है, ठीक इसी प्रकार अद्वैत बौद्ध का स्वरूप अनिर्वचनीय होने पर भी उसका अपलाप नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अपरोक्ष अनुभूति द्वारा तो जान ही सकते हैं।

साधनों का साध्य से अभेद निश्चयनय दृष्टि में तात्त्विक है, व्यावहारिक नहीं है। व्यावहारिक जीवन में साध्य, साधक और साधनापथ—तीनों ही अलग-अलग हैं।

साधनामार्ग की परस्पर विविधता एवं एकता

मोक्ष को प्राप्त करने के साधन निरूपचार रत्नत्रयी रूप परिणति हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र में से अलग-अलग कोई भी एक या दो मिलकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए तीनों का होना आवश्यक है। तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं। जैसे जीवन के लिए भोजन, पानी और श्वास—तीनों की ही आवश्यकता होती है, तीनों में से एक के भी नहीं होने पर जीवन अधिक दिनों तक नहीं रह सकता है। उसी प्रकार साध्य अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए तीनों की ही आवश्यकता है। यह जिज्ञासा सहज ही उठती है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के साधनों में एकत्व होने पर भी उनमें परस्पर विविधता किस प्रकार है?

नियमसार में उपचार भेद बताते हुए कहा गया है—विपरीत मति से रहित पंच परमेष्ठी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, निश्चल भक्ति, वही सम्यक्त्व है। संशय विमोह और विभ्रम रहित जिनप्रणित हेय-उपोदय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।¹⁴⁵ पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम सम्यक् चारित्र है। निश्चयदृष्टि से आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है। आत्मबोध वह सम्यक् ज्ञान और आत्मा में ही स्थिति वह सम्यग्चारित्र है।¹⁴⁶

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन होता है और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्चारित्र होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन तीनों की एकता ही शिवपद का कारण है।

सम्यग्दृष्टि का चौथा गुणस्थानक होता है, जबकि सम्यग्चारित्र का प्रारम्भ पांचवें गुणस्थानक में होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन रहित जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान के बिना चारित्रगुण नहीं होता है, चारित्रगुण से विहीन जीव को मोक्ष नहीं होता है तथा मोक्ष हुए बिना निर्वाण नहीं होता है।¹⁴⁷ सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की नींव है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में कहा है—“नेत्र का सार कीकी है और पुष्प का सार सौरभ है, उसी प्रकार धर्मकार्य का सार सम्यक्त्व है।”¹⁴⁸

आध्यात्मिक मार्ग में, मोक्षपथ में सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चाहे कितना ही ऊँचा चरित्रधारी हो तो भी वह कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में कहा है—अंधे व्यक्ति की तरह कोई पुरुष संसार से निवृत्त हो गया हो, काम-भोग त्याग कर दिए हों, कष्ट-सहिष्णु हो, अनेक प्रकार की त्याग-वैराग्य की प्रवृत्ति होने पर भी अगर वह मिथ्यादृष्टि है तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।¹⁴⁹ सम्यक्त्व के बिना की गई शुभ क्रियाएँ भी घानी के बैल जैसी हैं, संसार में भटकाने वाली हैं जबकि द्रव्यचारित्र से भ्रष्ट हुई आत्मा यदि सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो गई है तो उसको कभी-कभी द्रव्यचारित्र लिए बिना भी वीतरागदशा और केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है, जैसे—इलायचीकुमार। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि यदि द्रव्यचारित्र नहीं हो तो भी उसमें भावचारित्र तो अवश्य होता ही है, क्योंकि तीनों ही सहचारी रूप से मोक्षमार्ग के कारण हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कह गया है—जीव सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों और उनकी द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानता है। सम्यग्दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है। सम्यक् चारित्र से नवीन आते हुए और आत्मा के साथ बंधते हुए कर्मों का निरोध करता है तथा तप से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करता है।¹⁵⁰ इसी बात को स्पष्ट करते हुए विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है—ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधन है और

संयम गुप्ति करने वाला है और तीनों का योग हो तो ही जिनशासन में मोक्ष की प्राप्ति कही है।¹⁵¹ ज्ञान का सार चारित्र और चारित्र का सार मोक्ष है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी दो अश्व सम्यग्दर्शन रूपी रथ को खींचते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद व्यक्ति ज्ञान तथा क्रिया द्वारा आध्यात्मिक विकास-मार्ग में आगे बढ़ता जाता है।

जिस ज्ञान के साथ आत्मा एवं मोक्ष के प्रति यथार्थ श्रद्धा होती है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञान के तीनों शेष संशय विभ्रम और विपर्यय सम्यग्दर्शन के स्पर्श से नष्ट हो जाते हैं और सामान्यज्ञान सम्यक्ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है—सा विद्या या विमुक्तये। विद्या या ज्ञान वही है, जो मुक्ति प्रदान करे। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है कि ज्ञान के परिपाक से क्रिया असंगभाव को प्राप्त होती है। चंदन से जैसे सुगंध अलग नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञान से क्रिया अलग नहीं होती है।¹⁵² जिस तरह उत्तम चंदन कभी भी सुगंधरहित नहीं होता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान कभी भी स्वोचित प्रवृत्ति से रहित नहीं होते हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—जब तक ज्ञान और महापुरुषों के आचारों का समान रूप से अभ्यास नहीं किया जाता अर्थात् उसका बार-बार परिशीलन नहीं किया जाता तब तक व्यक्ति की ज्ञान या क्रिया में से एक भी वस्तु सिद्ध नहीं होती है।¹⁵³

अन्य दर्शनकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। योगवशिष्ट में कहा गया है—जैसे आकाश में दोनों ही पंखों द्वारा पक्षी की गति होती है उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से परमपद की प्राप्ति होती है। केवल क्रिया से या मात्र ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है किन्तु दोनों के द्वारा ही मोक्ष होता है। दोनों ही मोक्ष के साधन हैं।¹⁵⁴

इस प्रकार साधनामार्ग में विविधता होते हुए भी वे समुच्चय रूप से ही मोक्ष के साधन हैं।

सन्दर्भ सूची—

1. सरित्सहस्र दुष्पुत्र समुद्रोदर सोदरः,
तृप्ति मानेन्द्रिय ग्रामो, भव तृप्तोनऽरात्मा।
2. अभिधान राजेन्द्रकोश (भाग-1), पृ. 257
3. आत्मानमधिकृत्य स्याद् यः पंचाचारचारिमा शब्द योगार्थ-
निपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ॥2॥ —अध्यात्मोपनिषद्
4. निजस्वरूप जे किरया साधे तेह अध्यात्म कहीए रे।
जे किरिया करे उगति साधे तेह न अध्यात्म कहीये रे॥
—आनंदधनजी—श्रेयांसनाथ भगवान का स्तवन
5. आचारांगभाष्यम्, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 75
6. जे अज्झत्थं जाणई से बहिया जाणई।
जे बहिया जणई से अज्झत्थं जाणई। —आचारांग सूत्र, सूत्र-74, पृ. 147
7. अध्यात्म और विज्ञान—डॉ. सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ

8. गतमोहाधिकारणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तने क्रिया शुद्धा तद्दध्यात्मं जगुर्जिनाः॥२॥ —अध्यात्मस्वरूप अधिकार
9. रूढयर्थ निपुणास्त्वाहुश्चितं मैत्र्यादिवासितम्।
अध्यात्म निर्मलं बाह्यव्यवहारपबृंहितम्॥३॥ —अध्यात्मस्वरूप अधिकार, अध्यात्मसार
10. परहितचिन्तामैत्री पर दुःखविनाशिनी करुणां।
परसुख तुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षण मुपेक्षा॥२॥
(अ) अध्यात्म कल्पद्रुम; (ब) षोडशतक प्रकरण, 41/15; (स) योगसूत्र, 1/33
11. मा कार्षीदकोपी पापानि, माच भूतकोऽपि दुःखितः।
मुच्यता जगदव्येषा मतिमेत्री निगद्यते॥३॥ —अध्यात्मकल्पद्रुम
12. Merchant of Venice – नाटक शेक्सपीयर
13. राग धीरजे जीहां गुण लहीये, निर्गुण उपर समचित रहिये। —सज्जाय उपाध्याय यशोविजय
14. नय परिच्छेद—जैन तर्क परिभाषा —उपाध्याय यशोविजय
15. (अ) वक्तुरभिप्रायः नयः—स्याद्वादमंजरी, पृ. 243
(ब) नयोज्ञातुरभिप्रायः—लघीयस्त्रयी श्लोक, 53
16. जावइया वयणपहा। तावइया होति नयवाया—सन्मति तर्क, 3/47
17. चत्वारिऽर्थाश्रयाः नैगम—सिद्धि विनिश्चय, 72
18. (अ) संकल्पमात्रग्राही नैगम, सर्वार्थसिद्धि, 1/33
(ब) अर्थ संकल्पग्राही नैगम, तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.3.2
19. सामान्य मात्रग्राही परामर्श संग्रहः। —जैन तर्क परिभाषा, नय परिच्छेद, पृ. 60
20. अतोविधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.33.6
21. लौकिक सम उपचारप्रायो विरतुतार्थोव्यवहार। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/35
22. नय रहस्य
23. भेदं प्राधान्यतोऽविच्छन्न ऋजुसूत्रनयो मतः लघीयस्त्रय, 3.6.71
24. (अ) पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः
(ब) शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्त भूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भुतः
—जैन तर्क परिभाषा, नय परिच्छेद
25. पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरिवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुकत्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता॥१०९॥ —योगबिन्दु, हरिभद्र
26. अध्यात्मवैशारदी —अध्यात्मोपनिषद् टीका, पृ. 15
27. वही, पृ. 16
28. अपुनर्बद्धकाद्यावाद गुणस्थानं चतुर्दशम्।
क्रमशुद्धिभति तावत्क्रियाध्यात्ममयी मता॥४॥ —अध्यात्मोपनिषद्

29. रूढ्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चितं मैत्र्यादिवासितम् ।
अध्यात्म निर्मल बाह्यव्यवहारेपबृंहितम् ॥३॥ —अध्यात्मोपनिषद्
30. अध्यात्मवैशारदी (मुनि यशोविजय)
31. भिक्षुन्यायकर्णिका, 5/7
32. (अ) द्वै सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्म देशना ।
लोक संवति सत्यं च, सत्यं च परमार्थतः ॥ —माध्यमिक कारिका, 24/8
- (ब) सम्यग्मृषा दर्शनलब्धभावं रूपद्रयं बिभ्रति सर्वभावाः ।
सम्यग्दृशो ये विषयः स तत्त्वं मृषादृशा संवृति सत्वमुक्तम् ॥
मृशादृशोपि द्विविधास्त इष्टा, दीप्तेन्द्रिया इन्द्रियादोषवन्तः ।
दुष्टिन्द्रियाणां किल बोध इष्टः सुस्थेन्द्रिज्ञानमपेक्ष्य मिथ्या ॥
—माध्यमिक कारिका, 6/23, 24
33. छान्दोग्योपनिषद्, 6/8/7; शांकरभाष्य, 661
34. अभिन्नकतृकर्मादिगोचरो निश्चयोथवा ।
व्यवहारः पुनर्देव निर्दिष्टस्ताद्विलक्षण ॥७॥ —ध्यानस्तव, भास्करनन्दी
35. ज्ञानस्य भक्तेस्तपसः क्रियायाः प्रयोजनं खल्विदमेक मेव ।
चंतः समाधौ सति कर्म लेपविशोधनादात्मगुणप्रकाशः ॥३॥ —अध्यात्म तत्त्वलोक, न्यायविजय
36. चतुर्येपि गुणस्थाने शुश्रुषाया क्रियोचिना ।
अप्राप्तस्वर्णभूषाणां रजताभरण यथा ॥ —अध्यात्मसार
37. अहिगारिनो उपाएण, होई सिद्धि समत्यवत्थुम्मि ।
फल पगरिस भावओ विसेसओ जोगमग्गम्मि ॥४॥ —योगशतक
38. गलन्नयकृत भ्रान्तिर्यः स्याद्विश्रान्तिसम्मुखः ।
स्याद्वाद विशद लोकः स एवाध्यात्मभाजनम् ॥५॥ —अध्यात्मोपनिषद्
39. पावं न तिव्वभावा कुणई, ण बहुभण्णई भवं घोरं ।
उचियट्ठि च सेवई, सव्वत्थवि अपुणबंधो ति ॥३॥ —योगशतक
40. तरुण सुखी स्त्रीपरिवर्यो रे, चतुर सुणे सुरगीत ।
तेहथी रागे अतिघणे रे, धर्मसुण्या नी रीत रे ॥प्राणी ॥
भूख्यो अटवी उतर्यो रे, जिम द्विज घेवर चंग ।
इच्छे तिम जे धर्म ने रे, तेहिज बीजु लिंग रे ॥प्राणी ॥
—सम्यक्त्व के 67 बोल की सज्जाय
41. द्वीप पयोधौ फलिन मरौ व दीपं निशाया शिखिनं हिमे चे ।
कलौ करालै लभते दुरापमध्यातमतत्त्वं बहुभागधेयः ॥५॥ —अध्यात्मतत्त्वलोक, न्यायविजय

42. प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलंघनम् ।
लोक संज्ञारतो न स्यान्मुनि लौकोत्तर स्थितिः ॥११॥
—लोकसंज्ञात्याग (ज्ञानसार)
43. अपुनबंधनकस्यापि या क्रिया शमसंयुता ।
चित्रः दर्शन भेदेन धर्मविघ्न क्षयाय सा ॥१५॥
—अध्यात्मस्वरूप अधिकार (अध्यात्मसार)
44. तत्प्रकृत्येन, शेषस्य केचिदेना प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन तथाभोगसङ्गनाम् ॥१४२॥ —योगबिन्दु, हरिभद्र
45. क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलरभ संगतः ॥१६॥ —अध्यात्मस्वरूप अधिकार (अध्यात्मसार)
—योगबिन्दु, हरिभद्रसूरि, गाथा 87
46. आहारोपधिपूजाद्विं गौरव प्राप्ति बंधतः ।
भवाभिनन्दी या कुर्यात् क्रिया साध्यात्म वैरिणी ॥ —अध्यात्मसार
47. दसविहे धम्मे पण्णत्ते जहा ।
ग्रामधम्मे, नयर धम्मे, रट्ट धम्मे, पाखंड धम्मे, कुल धम्मे,
गण धम्मे, सुय धम्मे, चस्ति धम्मे, अत्थिकाय धम्मे ॥ —स्थानांग सूत्र, 10/78, पृ. 31
48. सदाचार एवं बौद्धिक विमर्श, डॉ. सागरमल जैन
49. योगशास्त्र, हेमचन्द्राचार्य, प्रथम प्रकाश, गाथा 47-56
50. प्रवचन सारोद्धार, 239
51. दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तं जहा खंती, मुत्ती अज्जवे महवे, लाघवे सच्चे संजमे
तवे चियाए बंभचेर वासे । —स्थानांग, 10/712; आचारांग, 1/615; समवायांग, 10/61
52. खंती महव अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधव्वे ।
सच्चं सोअं आर्किचणं च बंभ च जई धम्मो ॥१२॥ —नवतत्त्व प्रकरण
—श्रीमद् भागवत्, 4/49 (धर्म की पत्नियां एवं पुत्रों के रूप में इन सद्गुणों का उल्लेख है।)
53. अध्यात्म निर्मल बाह्य व्यवहारेपवर्हितम् ॥३॥ —अध्यात्मोपनिषद्
54. धम्मो मंगल मुक्कठं अहिंसा संजमो अ तओ ।
देवाविं तं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो ॥१७॥ —दशवैकालिक सूत्र, प्रथम अध्ययन, गाथा-1
55. दानं च शीलं च तपश्च भावोधर्मश्चतुर्था जिनबांधवेन ।
निरुपितो यो जगतो हिताय समानस मे रमताभजस्त्रम् ॥
—126, दसवीं धर्मभावना, शांत सुधारस
56. एवं ज्ञानक्रियास्वरूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते ।
एतत् प्रवर्धमानं स्वान्निर्दग्भाचार शालिनाम् ॥१२९॥ —अध्यात्मसार

- 57. दुर्गतिप्रतत्प्राणि धारणादुर्म उच्चते ।
संयमादिर्दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्त्यो ॥११॥ —योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश, हेमचन्द्रसूरि
58. तत्पंचमगुणस्थानादारभ्यैतदिच्छति ।
निश्चयो व्यवहारस्तु पूर्वमप्यूपचारात् ॥१२॥ —अध्यात्मसार
59. कान्ताधर सुधास्वादाधूनी यज्जायते सुखम् ।
बिन्दुः पार्श्वे तदध्यात्मशास्त्रास्वाद सुखौदधेः ॥ —अध्यात्म महामात्य अधिकार, अध्यात्मसार
60. भूशय्या भैक्षमशन, जीर्णवासे ग्रहं वनं ।
तथापि निस्पृहस्याहो चक्रिणोत्यधिक सुखम् ॥१७॥ —ज्ञानसार, 12वां अष्टक
61. अपूर्णा विधेय प्रकटखलमैत्रीय कुनय ।
प्रणालीपास्थाने विधववनिता यौवन भिव ॥ —अध्यात्मसार
62. पुरा प्रेमार्भे तदनु तदविच्छेद धरने ।
तदुच्छेदे दुःखाव्यथ कदिनचेतो विषहते ॥ —अध्यात्मसार
63. विषय सुहं दुषरवं चिय, दुक्खप्पडियारओ निगिच्छव ।
तं सुहभुवयाराओ न उवयारो विणा तत्वं ॥ —विशेषावश्यक भाष्य
64. हसन्ति क्रिडन्ति क्षणमथ खिद्यन्ति बहुधा ।
रूदन्ति कुदन्ति क्षणामपि विचादं विदधते ॥ —अध्यात्मसार
65. भवे या राज्य श्रीर्गज तुरगगो संग्रहकृत ।
न सा ज्ञानध्यान प्रशमजनिता किं स्वमनसि ॥ —भवस्वरूप चिंता अधिकार, अध्यात्मसार
66. ज्ञाते ह्यत्मनि नो भूयो ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
अज्ञाते पुनरेतस्मिन् ज्ञानमन्यन्निरर्थकम् ॥१२॥ —अध्यात्मनिश्चय अधिकार, अध्यात्मसार
67. यः आत्मवित् स सर्ववित् । —छान्दोग्योपनिषद्
68. जे अज्झथं जाणई से बहिया जाणइ । —आचारांग सूत्र
69. जे आया से विण्णाया से आया जेण विजाणपत्ति से आया । —आचारांग सूत्र, 2/5/51
70. शुद्धात्मद्रव्य मेवाहे, शुद्ध ज्ञानं गुणो मम । —मोहत्याग अष्टक, ज्ञानसार
71. आचारांग महाभाष्य, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 243
72. आत्मा उत्पादव्ययधौव्ययुक्तः । आत्मनः अस्तित्वं ध्रुवः, ज्ञानस्य परिणामः अल्पघन्ते व्ययन्ते च ।
—आचारांग महाभाष्य, गाथा 284
73. उपओग लक्खणे जीवे । —भगवती सूत्र, भ. 2, उद्देशक 10
74. जीवो उवओग लक्खणो । —उत्तराध्ययन सूत्र, 28/10
75. उपयोगो लक्षणम्, 181; तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-2
76. दुविहे उवओगे पण्णत्ते—सागारोवओगे, अणागारवओगे य प्रज्ञापना सूत्र, पद-21
77. आत्मात्मन्येव यच्छुद्र जानात्यात्मानमात्माना ।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः ॥१२॥ —ज्ञानसार, 13/2

78. प्रभानैर्मल्यशक्तिनां यथा रत्नान भिन्नता ।
ज्ञानदर्शन चारित्रलक्षणान तथात्मनः ॥7॥ —आत्मनिश्चय अधिकार, अध्यात्मसार
79. वस्तुतस्तु गुणानां तद्गुरुप न स्वात्मनः पृथक् ।
आत्मा स्वादन्यथानात्मा ज्ञानाधिपि जडं भवेत् ॥32॥ —वही
80. यथैक हेम केयूरकुंडलादिषु वर्तते ।
नृनारकादिभावेषु तथात्मैको निरंजनः ॥24॥ —आत्मनिश्चयअधिकार, अध्यात्मसार, 701
81. देहेन सममेकत्वं मन्यते व्यवहारवित् ।
कथाचिन्मूर्ततापतैवैदनादि समुद्रभवात् ॥34॥ —आत्मनिश्चयअधिकार, अध्यात्मसार
82. भगवती सूत्र, 13/7/495
83. व्यवहारणयो भसदि जीवो देहो य हवदि खलु इवको ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो व कदापि एक हो ॥32॥ —समयसार
84. उष्णसथाग्नेर्यथा योगाद धतुमृष्णमिति भ्रमः ।
तथा मुर्तागिसंबंधदात्मा मूर्त इति भ्रमः ॥36॥ —आत्मनिश्चयअधिकार, अध्यात्मसार
85. न रूपं न रसो गंधो न, न स्पर्शा न चाकृतिः ।
यस्य धर्मा न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता ॥37॥ —वही
86. द्रव्य भावे समानेपि जीवा जीवत्व भेदवत् ।
जीवभाव समानेपि भव्या भव्यत्वयोर्भिदा ॥69॥ —मिथ्यात्वत्यागाधिकार अध्यात्मसार
87. दब्बाइते तुल्ले जीव नहाणं सभावओ भेओ ।
जीवाजीवाइगओ जह, तह भव्वे यर विसेसो ॥ —विशेषावश्यक भाष्य, 1823
88. जीवभव्याभव्यत्वादिनी च । —तत्त्वार्थ सूत्र, द्वितीय अध्ययन, उमास्वामी
89. अणाइपरिणाभिए....जीवास्तिकाए....भवसिद्धि आ, अभव सिद्धिओ से तं. अणाइपरिणाभिए ।
—अनुयोगद्वार सूत्र, 250
90. (1) प्रतिमादलपत क्यापि फलाभावेऽपि योग्यता ॥71॥ —मिथ्यात्वत्यागाधिकार, अध्यात्मसार
(2) भण्णई भव्वो जोग्गो न य जोग्गतेण सिज्जा सव्वो ।
जह जोग्गमि वि दलिए सव्वमि न कीरणे पडिमा ॥ —विशेषावश्यक भाष्य, 1834
91. मिला प्रकाश खिला बसंत, आचार्य जयन्तसेनसूरि
92. जह वा स एव पाषाण—कणगजोगो विओगजोग्गो वि ।
न विजुज्जइ सव्वोच्चिय स विउज्जइ जस्स संपति । —विशेषावश्यक भाष्य, 1835
93. आत्मानि कर्म पुद्गलानाम लेशनात्—संश्लेषणात् लेश्या, योग परिणामाश्चैताः ।
—भगवती श., 8, 3, 9, सूत्र 351, 1/2/5-18 की टीका
94. कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या । —तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 216
95. निर्दयत्वाननुशयौ बहुमानः परापदि ।
भिगान्यत्रेत्यदो धीरिस्त्याज्य नरकदुःखदम् ॥16॥ —ध्यानाधिकार, अध्यात्मसार

96. पंचासवप्पवतो तीहिं अगुत्तो ठसुअविरओ य।
 तिव्वारंभ परिणओ खुदो साहसिओ नरो।।21।।
 निध्वधस परिणामो, निससओ अजिइंदिओ।
 एय जोग समाउणे किण्हलेसं तु परिणमे।।22।। —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 34
97. इम्मा अमरिस—अत्तवो भाया अहीरिया य।
 गेद्धी पओसे य सठे, पमते रस लोलुए सायगवेसए।।23।। —वही
98. गोम्मटसार, अधिकार 15, गाथा 514
99. तद्धोः शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता।
 चतुर्थः शुक्ल भेदस्तु लेश्यातीत प्रकीर्तितः।।82।। —ध्यानाधिकार, अध्यात्मसार
100. बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग-1)
101. विषयकषायावेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः।
 आत्मज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः।।22।। —अनुभव अधिकार, अध्यात्मसार
102. ज्ञान केवलसंज्ञ योगनिरोधः समग्रकर्महति।
 सिद्धिनिवाश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः।।24।। —अनुभव अधिकार, अध्यात्मसार
103. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
 अप्पा मितममितं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठियो।।37।।
 अप्पा नई वैयरणी अप्पा मे कूडशामली।
 अप्पा कामदुहा घेणु अप्पा मे नन्दणं वणं।।36।। —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-20
104. व्यवहारविनिष्णातो यो ज्ञीप्सति विनिश्चयम्।
 कासारतरणाशक्तः स तितीर्षति सागरम्।।195।। —आत्मनिश्चयाधिकार, अध्यात्मसार
105. व्याप्नोति महतीं भूमिं वटबीजजाघथा वटः।
 यथेकममताबीजात् प्रपंचस्यापि कल्पना।।161।। —ममत्व अधिकार, अध्यात्मसार
106. बालुडी अवला और किसौ करै, पीउडो रविअस्तगत थई।
 पूरबदिसि तजि पश्चिम रातडौरविअस्तगतथई।। —आनन्दघन ग्रंथावली, पर-4
107. पूर्णता या परीपाधैः सा याचितकमण्डनम्।
 या तु स्वाभिविकी सैव, जात्यरत्नविभानिभा।।2।। —पूर्णताअष्टक, ज्ञानसार
108. शुद्धोपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।
 विकारैर्मिश्रता भाति, तथात्मन्य विवेक्तः।।3।। —विवेक अष्टक, 15
109. ईदं हि परमाध्यमात्मममूर्तं ह्याद एवं च।
 ईदं हि परमं ज्ञानं, योगोयं, परमः स्मृतः।। —आत्मनिश्चयाधिकार, अध्यात्मसार
110. विषयान् साधकः पूर्वमनिष्टत्वाधिया त्यजेत्।
 न त्यजेन्न च गृहणीयात् सिद्धो विन्धात् स तत्त्वतः।। —अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार

111. अलौल्यमारोगसमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्र पुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वर सौम्यता च योग प्रवृत्तेः प्रथम हि चिन्हम् ॥
—(अ) शांर्गधरपद्धति, (ब) स्कन्धक पुराण माहेश्वर खण्ड, कुमारिका खण्ड, 55/138
112. गलन्नययकृत भ्रान्तिर्यः स्याद्विश्रान्ति सम्मुखः ।
स्याद्वादविशदालोकः स एवाध्यात्म भाजनम् ॥15॥ —अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार
113. पार्वं न तिव्वभावा कुणइ ण बहुभण्णई भवं घोरं ।
उचिंयट्ठिई च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो ति ॥13॥ —योगशतक, आचार्य हरिभद्रसूरि
114. सूस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वैयावच्चे, णियमो सम्मदिट्ठिस्स लिंगाई ॥ —योगशतक, आचार्य हरिभद्रसूरि
115. भूख्यो अटवी उत्तयो रे, जिमद्विज घेवर चंग ।
ईच्छे तिम जे धर्मने रे, तेहिज बीजु लिंग रे । प्राणी ॥ —सम्यक्त्व, 67 बोल की सज्जाय
116. शमसंवेगनिवेदानुकंपाभिः परिष्कृतम् ।
दधातमेतदच्छिन्नं सम्यक्त्व स्थिरतां प्रजेत ॥ —अध्यात्मसार
117. मग्गाणुसारी सद्धो पण्णवणिज्जो क्रियापरी चेव ।
गुणरागी सक्कारंभ संगओ तह य चारिती ॥15॥ —योगशतक, आचार्य हरिभद्रसूरि
118. योगारम्भदशास्थस्य दुःखमन्तर्बहिः सुखम् ।
सुखमन्तर्बहिर्दुःखं सिद्धयोगस्य तु ध्रुवम् ॥10॥ —अध्यात्मोपनिषद्
119. स्वभाव सुख मग्नस्य जगतत्वालोकिनः ।
कर्तृत्वं नान्यभावानां साक्षित्वमवशिष्यते ॥3॥ —मग्नाष्टक-2, ज्ञानसार
120. जितेन्द्रयस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।
सुखासनस्थस्य वासगन्धस्तनेत्रस्य योगिनः ॥
साम्राज्यमप्रतिन्द्रमन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानानी नोपमा लोके, सदेव मनुजेपि हि ॥4॥ —ज्ञानसार, ध्यानार्ष्टक, 30
121. ज्ञानं केवलसज्ञ योगनिरोधः समग्रकर्महतिः ।
सिद्धि निवासश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥24॥ —अनुभवाधिकार, अध्यात्मसार
122. त्वामव्यमं विभुमर्चित्यमसंख्यमाध्यं ।
ब्रह्माणमीश्वर मनंत मनंग केतुम् ॥
योगीश्वरम् विदितयोग मनेकमकं ।
ज्ञानस्वरूप ममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥24॥ —भक्तामर स्तोत्र, मान्तुंगाचार्य
123. गुणस्थानानि यावन्ति यावन्त्यस्यापि मार्गणा ।
तदन्यतस्संश्लेषो, नैवातः परमात्मन् ॥24॥ —अध्यात्मोपनिषद्
124. तनुकरणदिविरहितं तत्वाचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम् ।
त्रैलोक्यमस्तकस्यं निवृत्तजन्मादि सद्क्लेशम् ॥15/13॥

- ज्योतिः परं परस्तातमसो यद्भीयते महामुनिभिः ।
आदित्यवर्णममलं बह्वाद्यैरक्षरं बद्ध ॥15/14 ॥
नित्यं प्रकृतिविमुक्तं लोकालोकावलोकानाभागम् ।
रितिमिततरंऽदिधि सममवर्णम स्पर्शनगुरुलघु ॥15/15 ॥
सर्वबाधारहित परमानन्द सुख संगतमसंगम ।
निशेषकलातीतं सदाशिवाद्यादिपदवाच्यम् ॥15/16 ॥ —पंचदश ध्येयस्वरूपषोडशकम्, हरिभद्रसूरि
125. महेश्वरास्ते परमेश्वरास्ते स्वयम्भुवस्ते पुरुषोत्तमास्ते ।
पितामहास्ते परमेष्ठिनस्ते तथागतास्ते सुगताः शिवास्ते ॥ —अध्यात्मतत्त्वलोक, न्यायविजय
126. स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्दैर्युक्तो निरंजना ॥1/4 ॥ —तत्त्वज्ञानतरंगिणी, ज्ञानभूषण
127. चिद्गुणानन्दमयो निःशेषोपाधि वर्जिता शुद्धः ।
अत्यक्षोनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्जैः ॥21/8 ॥ —योगशास्त्र, हेमचन्द्रसूरि
128. तस्तोदइयाईया भवतं च विणियत्तए समयं ।
सम्मत्-नाण-दंसण-सुह-सिद्धताई मोतूणं ॥3087 ॥ —विशेषावश्यक भाष्य
129. प्रत्यम् ज्योतिषमात्मानमाहुः शुद्धतया खलु ॥32 ॥
आत्मासत्यचिदानन्द सूक्ष्मात्सूक्ष्मः परात्परः ।
स्पृशत्यपि न मूर्तत्व तथा चोक्तं परेरपि ॥39 ॥ —अध्यात्मसार
130. सदाशिवः परंबहम सिद्धता तथाचेति च ।
शब्देस्तदुच्यतेन्यथादिकमेवैवमादिभिः ॥30 ॥ —योगदृष्टान्त समुच्चय, आचार्य हरिभद्रसूरि
131. केवलनाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइयो ।
केवल सन्ति सहावो सो हं इदि चिंतए णाणी ॥96 ॥
णियभावं णणि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हई केइ ।
जाणदि पस्सदि सब्बं सो है इदि चिंतए णाणी ॥17 ॥ —नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द
132. अपरायतमौत्सुक्यरहितं निरुप्रतिक्रियम् ।
सुख स्वाभाविक तत्र नित्यं भयविवर्जितम् ॥17 ॥ —मोक्षाष्टकम् 32, अष्टम् प्रकरण
133. कविं पुराणमनुशासितार, मणीरमणीरणीयांस मनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूपमादित्य वर्ण तमसा परस्तातत् ॥ —श्रीमद् भगवद्गीता
134. परमं यो महतेजः यो महत्तपः ।
परमं यो महदबहम परमं यः परायणम् ॥ —महाभारत, 49/9
135. जैन, बौद्ध और गीता के आचारों का तुलनात्मक अध्ययन
136. नाणं च दसणं चैव चरितं च तवो तथा ।
एवं मग्गमणुप्पता जीवा गच्छन्ति सोग्गई ॥31 ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-28
137. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि, मोक्षमार्ग 1/1 —तत्त्वार्थसूत्र
138. ज्ञान दर्शन चारित्रात्यमैक्यं लभते यदा ।
कर्माणि कुपितामीव भवन्त्याशु तदा पृथक ॥179 ॥ —आत्मनिश्चयाधिकार, अध्यात्मभाग

139. द्रव्यमोक्षः क्षयः कर्मद्रव्याणां नात्मलक्षणम् ।
भावमोक्षस्तु तद्वेनुरात्मा रत्नत्रयान्वयी ॥78॥ —आत्मनिश्चय अधिकार, अध्यात्मसार
140. आत्मान् ज्ञानदुग्धरूपं विधि दुग्धानमात्मकं । —नियमसार की टीका, पद्मप्रभमलधारि
141. जैन, बौद्ध और गीता के आचारों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, पृ. 433
142. नयेन संग्रहैणैवमनुसूत्रोषजिविना ।
सच्चिदानन्दस्वरूपत्वं ब्रह्मणी व्यवतिष्ठते ॥143॥ —अध्यात्मोपनिषद्
143. सच्चिनंदमात्रोहं स्वप्रकाशोस्मि चिद्घनः ।
सत्त्वस्वरूप सन्मात्र सिद्ध सर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥109॥ —ब्रह्मविधोपनिषद्
144. यो हयाख्यातुमशक्योपि प्रत्याख्यातु न शक्यते ।
प्राज्ञैर्न दूषणीयोर्धः स माधुर्यविशेषवत् ॥146॥ —अध्यात्मोपनिषद्
145. विपरिता भिणिवेशविवर्जित श्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
संशयविमोहविभ्रम विवर्जित भवति संज्ञानाम् ॥151॥ —शुद्धभावाधिकार, नियमसार
146. दर्शनं निश्चयः पुंसि बौधस्तदबोध इत्यते ।
स्थितरन्नेवं चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥14॥
—एकत्वसप्तति अधिकार पद्मनन्दि पंचविंशतिका, आचार्यश्री पद्मनन्दि
147. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ —मोक्षमार्ग गति, 24/30
148. कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्चयते सारः सर्वषा धर्मकर्मणाम् ॥151॥ —सम्यक्त्व अधिकार, अध्यात्मसार
149. कुर्वन्निवृत्तिमप्येव कामभोगांस्त्यजन्नपि ।
दुःखस्योरो ददानोपि मिथ्यादृष्टि न सिद्धर्यात ॥14॥ —सम्यक्त्व अधिकार, अध्यात्मसार
150. नाणेण जाणइ भावेः दंसणेण य सहहे ।
चस्तिण निणिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र, 28/35
151. नाणं पयासयं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिधरो ।
त्तिण्हं पि समाओगे, मनिखो जिणसासणे भणिओ ॥69॥ —विशेषावश्यकभाष्य
152. ज्ञानस्यपरिपाकादि क्रियासंगवमंगति ।
न तु प्रपाति पार्थक्यं चन्दनादिव सौरभम् ॥135॥ —अध्यात्मोपनिषद्
153. न यावत्सममभ्यास्तौ ज्ञानसत्पुरुष क्रमौ ।
एकोपि नैतयोस्तावत् पुरुषस्येह सिद्धसत्ति ॥135॥ —अध्यात्मोपनिषद्
154. उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा हवे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञान कर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥7॥
केवलात् कर्माणीज्ञानात् नहि मोक्षाभिजायते ।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः ॥8॥ —प्रथमाधिकार, योगवशिष्ठ

तृतीय अध्याय

तत्त्वमीमांसा 122-192

सत् का स्वरूप

लोकवाद

द्रव्य, गुण, पर्याय भेदाभेद

अस्तिकाय द्रव्य

धर्मास्तिकाय

अधर्मास्तिकाय

आकाशास्तिकाय

पुद्गलास्तिकाय

जीवास्तिकाय

अनस्तिकाय द्रव्य-काल

नवतत्त्व विचार

स्याद्वाद का महत्त्व

तत्त्वमीमांसीय वैशिष्ट्य

तत्त्व मीमांसा

सत् का स्वरूप

सर्वज्ञ सिद्ध पुरुषों ने सत् को सत्यता से आत्मसात् किया है। सर्वज्ञों का आत्मसात् विषय सत् सदुपदेश रूप से देशनाओं में दर्शित मिला है, जो दर्शित हो सके। मस्तिष्क एवं मन को मना सके वो सत् है। किसी भी काल में कुण्ठित नहीं बना, ऐसा अकुण्ठित सत् सत्शास्त्रों का विषय बना, विद्वानों का वाक्यालंकार हुआ।

सत् आगमकालीन पुरावृत्त का प्राचीनतम एक ऐसा सत्व रहा है, जो प्रत्येक सत्व को सदा प्रिय लगा है। सदा प्रियता से प्रसारित होता है। यह सत् तत्त्व मीमांसकों का तुलाधार न्याय बना है, जिसमें किसी को प्रतिहत करने का न वैचारिक बल रहा है और न आचरित कल्प बना! इन आचार कल्प को और विचार-संकाय को उत्तरोत्तर आगमज्ञ विद्वानों ने श्रमण संस्कृति का शोभनीय तत्त्व दर्शन रूप में समाख्यात किया।

उसी तत्त्व के समर्थक, समदर्शी, सार्वभौम, सर्वज्ञवादी महोपाध्याय यशोविजय ने अपने साहित्य में समादर दिया है। हरिभद्रकालीन भट्ट अकलंक जैसे दिगम्बराचार्य ने अपने सिद्धि विनिश्चय न्याय विनिश्चय जैसे प्रामाणिक ग्रंथों में सम्पूर्णतया उल्लेख करके सत् को शाश्वत से संप्रसारित किया।

उपाध्याय यशोविजय एक ऐसे बहुश्रुत महामेधावी रूप में जैन परम्परा के पालक उपाध्याय बने जिनका सत् साहित्य आज भी उसी तत्त्व का तलस्पर्शी तात्त्विक अनुशीलन के लिए प्रेरक प्रेरित करता है। ऐसे प्रेरक आगम निष्कर्ष निर्णायक रहकर तात्त्विक पर्यालोचन का पारावार असीम बना रहा है।

यह सत् तत्त्व स्याद्वाद की सिद्धि का महामंत्र बनकर सप्तभंगी न्याय को निखार रूप दिया है।

सत् को निहारना और सत् को सद्भाव से शिरोधार्य कर जीवन के परिपालन में सहयोगी बनाना, साथी रखना यह सुकृत कृत्य उपाध्याय यशोविजय, आचार्य हरिभद्र जैसे महाप्रज्ञों ने, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैसे क्षमाशीलों ने अपने अकाट्य तर्कों से सुसफल सिद्ध किया है।

अन्यान्य दर्शनकारों ने इस सत् स्वरूप का सदा सर्वत्र यशोगान किया है। कहीं-कहीं पर सत्व को समझे बिना तत्त्व को पहचाने बिना, दुष्टकों से तोलने का अभ्यास भी बढ़ाया है। परन्तु उस सत् के सविभागी श्रेष्ठ श्रमणवरों ने अपने अकाट्य तर्कों से सुसफल सिद्ध किया है।

वैचारिक मंथन प्रायः हमेशा कौतूहलों से संव्याप्त रहा है। फिर भी सत्प्रवाद के प्रणेता ने दृष्टिवाद जैसे पूर्व में इस विषय को परम परमार्थता से एवं प्रामाणिकता से प्रस्तुत कर जैन जगत् की कीर्ति को निष्कलंकित रखा है। तत्त्व वह है जो तारक बनकर जीवन को तरल एवं सरल बना दे और प्रतिपल पलायित होने के लिए कोई प्रणिधान नहीं बनाये, क्योंकि प्राणों में तत्त्व का संवेदन चलता रहता है। उक्त नाड़िकाओं में वह तत्त्वरस संधोलित होता रहता है।

अनेकान्तवादियों का तात्त्विक विलोकन सर्वसारभूत सत् से सत्यापित रहा है। इस सत्व को सच्चाई व अच्छाई से आलेखन करने का श्रेय मल्लवादियों ने अर्जित किया है। सन्मति तर्ककार सिद्धसेन ने चरितार्थ बनाया।

इसी प्रकार आचार्य हरिभद्र सूरि, महोपाध्याय यशोविजय जैसे महामान्य मनीषियों ने इस सत्त्ववाद का तात्विक तथ्य अनुभव कर अपने प्रतिपादनीय प्रकरणों में परिवर्णित किया। वह इस प्रकार है—सम्यक् प्रकार से हम जब पदार्थ के विषय में चिंतन करते हैं तब हमारे सामने वह त्रिधर्मात्मक रूप में प्रगट होता है और जिसके स्वरूप को सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा ने अपनी देशना में प्ररूपित किया, जिसका पाठ स्थानांगवृत्ति में इस प्रकार मिलता है—

उपन्नेइ वा, विगए वा, धुवे वा ।'

अर्थात् प्रत्येक नवीन पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होता है, पूर्व पर्याय की अपेक्षा नष्ट होता है और द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव रहता है। यह मातृका पद कहलाता है। यह सभी नयों का बीजभूत मातृका पद एक है।

अतः उपाध्याय यशोविजयजी ने उत्पादादि सिद्धिनामधेयं (द्वात्रिंशिका) प्रकरण की टीका में कहा है कि—श्रीमद् भगवान् पूर्वधर महर्षि उमास्वाति वाचक प्रमुख के द्वारा रचित उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् सूत्र से सत् का जो लक्षण निरूपित किया है, वह इतिहास के दृष्टिकोण से देखते हैं तो इस सूत्र में निर्दिष्ट लक्षण प्रारम्भिक नहीं है। अर्थात् लक्षण की शुरुआत वाचक उमास्वाति महावीर ने नहीं की, पहले श्रीमद् भगवद् तीर्थंकरों ने लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् श्रीमद् गणधरों के प्रति उप्पज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा—यह त्रिपदी युक्त ही सत्य का लक्षण प्रारम्भिक है और जिसके कारण उपदेशक ऐसे तीर्थंकर की आप्तस्वभावता भी सिद्ध होती है।²

आचार्य चंद्रसेन सूरि ने उत्पादादि सिद्ध नामधेयं सूत्र की मूल कारिका में इस लक्षण को लक्षित किया है—

यस्योत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तवस्तुपदेशतः ।

सिद्धिमाप्तु स्वभावत्वं, तस्मै सर्वविदे नमः ॥³

उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य युक्त वस्तु के उपदेश से जिसका आप्त स्वभावपन सिद्ध हो गया है, उस सर्वज्ञ को मेरा नमस्कार हो। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि कृत वीतराग स्तोत्र में सत् का लक्षण इस प्रकार है—

तेनोत्पादव्ययस्थैयम् सम्भिन्नं गोरसादिवत् ।

त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत् ॥⁴

हे भगवान्! गोरसादि के समान उत्पाद-व्यय-स्थैर्य से सम्मिश्र ऐसा आपके द्वारा प्रतिपादित सत् को बुद्धिमान व्यक्ति वास्तविक (परमार्थ) रूप से स्वीकार करें।

वाचक उमास्वाति रचित प्रशमरति सूत्र में भी सत् का लक्षण मिलता है।

उत्पाद व्यय पलटंती, ध्रुव शक्ति त्रिपदी संती लाल ।⁵

योगवेत्ता आचार्य हरिभद्र सूरि योगशतक में सत् के लक्षण को इस प्रकार निरूपित करते हैं—

चिंतेज्जा मेहम्मी ओहेणं ताव वत्थुणो तंत ।

उपाय वय ध्रुवजुयं अणुहव श्रुतीए सम्मं ति ॥⁶

आत्मा अनादिकाल से मोहराजा के साम्राज्य में मोहित बना हुआ है, जिससे वह सम्यग् ज्ञान के प्रकाश पुंज को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः आत्मज्ञानी अंधकार को समूल नष्ट करने के लिए जीव-अजीव

आदि सभी पदार्थों का त्रिधर्मात्मक (त्रिपदी) से चिंतन करना चाहिए। परमार्थ से यह त्रिपदी ही सत् का लक्षण है, जिसे वाचक उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार उल्लेख किया है—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।⁷

उत्पाद, व्यय और ध्रुव—इन तीन धर्मों का त्रिवेणी संगम जहां साक्षात् मिलता हो, वही सत् जानना चाहिए। महापुरुषों ने उसे ही सत् का लक्षण कहा है। जैसे कि एक ही समय में आत्मा में उत्पाद, व्यय और ध्रुव—तीनों धर्म घटित हो सकते हैं। यह अनुभवजन्य है कि जिस आत्मा का मनुष्य रूप से व्यय होता है, उसी का देवत्व आदि पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद होता है। आत्मस्वरूप नित्यता सदैव संस्थित रहती है। इसी को महोपाध्याय यशोविजय ने द्रव्य, गुण, पर्याय के रास में प्रस्तुत किया है।

घट मुकुट सुवर्ण अर्थिजा, व्यय उत्पति थिति पेखंत रे ।

निजरूपइं होवइं हेम थी दुःख हर्ष उपेक्षावंत रे ॥

दुग्ध दधि भुंजइ नवि दूध दधिव्रत खाई रे ।

नवि दोइं अगोरसव्रत जिमइं तिणि तियलक्षण जग थाई ।⁸

ऐसा ही दृष्टान्त ग्रंथान्तर में मिलता है—षड्दर्शन समुच्चय टीका,⁹ न्यायविनिश्चय,¹⁰ आप्तमीमांसा,¹¹ मीमांसाश्लोक वार्तिक¹² तथा ध्यानशतकवृत्ति।¹³

व्यवहार में भी इसका अनुभव होता है। जैसे कि कांच का गुलदस्ता हाथ में से गिर गया, तो गुलदस्ता रूप में नाश, टुकड़े रूप में उत्पाद और पुद्गल रूप में ध्रुव।

मक्खन में से घी बना, तब मक्खन का व्यय, घी का उत्पाद और गौरस रूप में उसका ध्रौव्य।

गृहस्थ में से श्रमण बना, तब गृहस्थ पर्याय का नाश, श्रमण पर्याय का उत्पाद और आत्मतत्व द्रव्य का ध्रुवत्व।

रामदत्त नाम का एक व्यक्ति बालक से जवान बना तब बचपन का व्यय, युवावस्था का उत्पाद और रामदत्त रूप में ध्रौव्य।

इसी प्रकार दूध का व्रतवाला अर्थात् दूध ही पीता है, वह दही का भोजन नहीं करता है और दही का भोजन करना है, ऐसा व्रत वाला दूध नहीं पीता है। लेकिन अगोरस का ही भोजन करना है, ऐसा व्रतवाला दूध-दही कुछ भी नहीं लेता है। इस दृष्टान्त से भी ज्ञात होता है कि पदार्थ तीन धर्मों से युक्त है। इसी बात को शास्त्रवार्ता समुच्चय में दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

घट मौलि सुवर्णार्थि नाशोत्पाद स्थितिष्वयम् ।

शोक प्रमोद माध्यस्थं जनौ याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यति न पयो ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥¹⁴

सुवर्ण के कलश से एक बाल क्रीड़ा करता हुआ प्रसन्नता के झूलों में झूल रहा था। दूसरा बालक उसे इस प्रकार क्रीड़ा करके देखकर स्वयं के लिए सोने का मुकुट बनाने हेतु अपने पिता के सामने मनोकामना व्यक्त की लेकिन परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि मुकुट बनाने के लिए घर में दूसरा सुवर्ण नहीं था। अतः सुनार के पास जाकर सुवर्ण के घट तोड़कर मुकुट बनाने को कहा, सुनार घट को छिन्न-भिन्न करके सुन्दर मुकुट तैयार करता है। उसमें एक ही समय में घट का विनाश, मुकुट का उत्पाद

तथा सुवर्ण का ध्रौव्य है और इसी प्रकार प्रथम बालक रूदन करता है, दूसरा बालक आनन्द से झूम उठता है और उसके पिताश्री माध्यस्थ तटस्थ भाव में रहते हैं।

सन्त आनन्दघन ने भी अपनी ग्रन्थावली में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के आधार पर आत्मा को नित्यानित्य प्रतिपादित किया है—

अवधू नटनागर की बाजी, जाणै न बांभण काजी ।
थिरता एक समय में ठानै, उपजे विनसे तब ही ।
उलट पुलट ध्रुव सता राखै या हम सुनी नहीं कबही ।
एक अनेक अनेक एक फुनि कुंडल कनक सुभावै ।
जल तरंग घट माटी रविकर, अगिनत ताइं सभावै ॥¹⁵

संत आनन्दघन कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। उसकी थाह पाना अत्यन्त दुष्कर है। यह आत्मा एक ही समय में नाश होता है। पुनः उसी समय में उत्पन्न होता है। उसी समय में अपने ध्रौव्य स्वरूप में स्थित रहता है। आत्मा में उत्पाद, व्यय रूप परिवर्तन होते रहते हैं, फिर भी वह अपना ध्रौव्य सत्ता स्वरूप नित्य परिणाम को नहीं छोड़ता है। जैसे स्वर्ण के कटक, कुंडल, हार आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह स्वर्ण ही रहता है इसी प्रकार देव, नारक, तिर्यच एवं मनुष्य गतियों में भ्रमण करते हुए जीव के विविध पर्याय बदलते हैं। रूप और नाम भी बदलते हैं लेकिन नानाविध पर्यायों में आत्मद्रव्य सदा एक-सा रहता है। इसी बात को आनन्दघनजी और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जलतरंग में भी जैसे पूर्व तरंग का व्यय होता है और नवीन तरंग का उत्पाद होता है किन्तु जलत्व दोनों में ध्रुव रूप से लक्षित होता है। मिट्टी के घड़े के आकार रूप में उत्पाद होता है, टूटने पर घड़े का व्यय लेकिन इन दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का रूप एक ही प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्यकार वाचक उमास्वाति महाराज ने भी अपने भाष्य में सत् का लक्षण निरूपण किया है—

उत्पादव्ययो ध्रौव्यं चैतन्त्रितययुक्तं सतो लक्षणम् ।
युक्तं समाहितं त्रिस्वभावं सत् । यदुत्पद्यते यदव्ययेति यच्च ध्रुवं तत्सत अतोऽन्यदसदिति ॥¹⁶

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—इन तीन धर्मों से संयोजित रहना ही सत् का लक्षण है अथवा युक्त शब्द का अर्थ समाहित, समाविष्ट करना अर्थात् सत् का लक्षण त्रिस्वभावात् ही है। जो उत्पन्न होता है, नाश होता है और स्वद्रव्य में हमेशा ध्रुव रहता है, वह सत् है। इससे विपरीत असत्। न्याय विनिश्चय में दिगम्बर आचार्य अकलंक ने गुणों को भी तीन धर्मों से युक्त सिद्ध किया है—

गुणवदद्रव्यमुत्पाद व्यय ध्रौव्यादयो गुणाः ॥¹⁷

गुणों में भी उत्पाद, व्यय और नाश घटित होता है।

न्याय विनिश्चय के प्रणेता दिगम्बराचार्य उदभट्ट तार्किक भट्ट अकलंक अपने ग्रंथ में सत् की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

सदोत्पादव्ययंध्रौव्ययुक्त सदसतो गतिः ॥¹⁸

तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के निगमन में सत् की व्याख्या इस प्रकार है—

अध्यक्ष लिंडस्सिध्यमनेकान्मकमस्तु सत् ॥¹⁹

प्रत्यक्ष लिंग से सिद्ध ऐसी अनेकात्मक अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ सत् है। यह उनकी अपनी विशिष्ट व्याख्या है।

सत् को अवधारित करने पर आचार्य सिद्धसेन का महामूल्यवान दृष्टिकोण सिद्ध हुआ है। उन्होंने अपने सन्मति तर्क जैसे ग्रंथ में सत् की चर्चाएँ उल्लेखित कर सम्पूर्ण तत्कालीन दार्शनिकों के मन्तव्यों को उद्बोधन दिया है और समयोचित शास्त्रसंगत मान्यताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए सत् के स्वरूप को स्पष्ट किया है। सन्मति तर्क के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि लिखते हैं—

न चानुगत व्यावृत्त वस्तुव्यतिरेकेण द्वयाकारा बुद्धिर्घटते नहि विषय व्यतिरेकेण प्रतीतिरुत्पद्यते।²⁰

सत् को बुद्धिग्राह्य और प्रतीतिग्राह्य बनाने के लिए ऐसी कोई असामान्य विचारों की विश्वासस्थली रचना होगी, जिससे वह सत् सार्वभौम रूप से सुप्रतिष्ठित बन जाये। आचार्य सिद्धसेन एवं आचार्य अभयदेव इन दोनों महापुरुषों ने सत् को समग्ररूप से बुद्धि के विषय में ढालने का प्रयास किया। वह बौद्धिक प्रयास बढ़ता हुआ बहुमुखी बनकर बहुश्रुत रूप से एक महान् ज्ञान का अंग बन गया। ऐसे ज्ञान के अंग को सत् रूप से रूपान्तरित करने का बहुतर प्रयास जैन दार्शनिकों का रहा है। अन्यान्य दार्शनिकों ने उस सत् स्वरूप को सर्वांगीणतया आत्मसात् नहीं किया परन्तु जैन दार्शनिक धारा ने उसको वाङ्मयी वसुमति पर कल्पतरू रूप से कल्पित कर कीर्तिमान बनाया है। वही सत् प्रज्ञान का केन्द्र बना, जिसको हमारे हितैषी उपाध्याय यशोविजय ने उसको अपना आत्म-विषय चुना और ग्रन्थों में आलेखित किया। महोपाध्याय यशोविजय ने अपने नयरहस्य ग्रंथ में अन्यदर्शनकृत सत् का लक्षण इस प्रकार संदर्शित किया है—

सदाविशिष्ट मेव सर्व।²¹

ब्रह्माद्वैतवादी श्री हर्ष ब्रह्म को सत् स्वरूप मानते हैं, क्योंकि इनके मतानुसार ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी को नित्य नहीं स्वीकारा गया है। समवाय एवं जाति नाम का पदार्थ भी इनको मान्य नहीं। अतः 'अर्थ क्रियाकारित्वं सत्वम्' यह बौद्ध सम्मत लक्षण भी अमान्य है, क्योंकि इनके मत में ब्रह्म निर्गुण निष्क्रिय निर्विशेष हैं। शुद्ध ब्रह्म पलाश के समान निर्लेप हैं। अतः उनमें अर्थ क्रिया संभावित नहीं हो सकती। अतः बौद्धमान्य सत् का लक्षण एवं जैन दर्शन मान्य सत् का लक्षण इनको सम्मत नहीं है। ये लोग तो त्रिकालाबाध्यत्व रूप सत्व जिस वस्तु का तीनों कालों में से किसी भी काल में हो, किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता है, वही वस्तु सत् है और ऐसी वस्तु केवल ब्रह्म ही है।

ब्रह्म साक्षात् हो जाने पर भी घट पटादि प्रपंच का बाध हो जाता है। अतः घट पदादि प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी ये सत् नहीं हैं, ऐसी इनकी मान्यता है।

दूसरी युक्ति यह भी है कि जो पदार्थ सर्वत्र अनुवर्तमान होता है, वह सत् है। जो व्यावर्तमान होता है, वह प्रतीयमान होने पर भी सत् नहीं है।

नैयायिकों का सत्लक्षण

किमिदं कार्यत्वं नाम। स्वकारणसता सम्बन्धः तेन सता कार्यमिति व्यवहारात्।²²

सत्ता का सम्बन्ध रूप सत्व का लक्षण तथा प्रश्न वार्तिक में निर्दिष्ट अर्थक्रिया समर्थ यत् तदर्थ परमार्थसत्²³ यह बौद्ध सम्मत सत् का लक्षण है। इन दोनों में दुषण प्राप्त होता है। वह इस प्रकार—इन लक्षणों में सत्ता सम्बन्ध सत् पदार्थों में माना जाए या असत् पदार्थों में इत्यादि तथा अर्थक्रिया में सत्ता

यदि अन्य अर्थक्रिया से मानी जाए तो अनवस्था यदि अर्थक्रिया स्वतः सत् हो तो पदार्थ भी स्वतः सत् हो जाए। बौद्ध वस्तु को क्षणमात्रस्थायी मानते हैं फिर भी उसमें सहसा उत्पाद, व्यय, ध्रुव्य का अभ्युपगम हो जाता है, क्योंकि उपरोक्त तीनों में से एक का भी अभाव होने पर क्षणस्थायित्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि घट को क्षणमात्रस्थायी कहा तो वह तत्क्षण अस्तित्व प्राप्त करने से उत्पाद, उत्तरक्षण में नष्ट होने से व्यय तथा तत्क्षण क्षणमात्रस्थायी कहा तो वह तत्क्षण अस्तित्व प्राप्त करने से उत्पाद उत्तरक्षण में नष्ट होने से व्यय तथा तत्क्षण अवस्थित होने से ध्रुवरूप सिद्ध होता है। अतः तदनुसार वस्तु को अनिच्छा से भी त्रयात्मक मानना अनिवार्य है।

महान् श्रुतधर, न्यायवेत्ता लघु हरिभद्र महोपाध्याय यशोविजय अपनी मति वैभवता को विकस्वर करते हुए उत्पादादि सिद्धि नामधेयं ग्रंथ की टीका में यह स्पष्ट कथन किया कि सत् वस्तु को सभी वादि अनीदनीय रूप से मानते हैं। यत्सत् वस्तु इति सवैरपि वादिभिर बिगानेन प्रतीतिमिति। लेकिन सत् विषयक लक्षण सभी का भिन्न-भिन्न है। जैसे कि—अर्थ क्रियाकारित्वं सत्वम् इति सौंगताः। सताख्यापरं सामान्यं सत्वम् इति नेयायिकाः पुरुषस्य चैतन्य रूपत्वं तदन्येषां त्रिगुणात्मकत्वं सत्वम् इति कपिलाः। सत्त्वं त्रिविधिं पारमार्थिकं व्यवहारिकं प्रातिभासिकं च इति वेदान्ति।²⁴

न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध, मीमांसक के द्वारा किये हुए सत्व के लक्षण का उपाध्यायजी ने अपनी तर्क युक्त सुक्तियों से स्वोपज्ञ टीका में खण्डन किया है तथा त्रिकालाबाधित तथा अनन्त तीर्थकर प्रतिपादित तीर्थकरोपदिष्टं के प्रस्ताव से मीमांसक मान्य वेद के अपौरुषेयत्ववाद का खण्डन करते हुए प्रसंगानुप्रसंग अनेक प्रौढ़ युक्तियों से पौरुषेयत्ववाद का समर्थन तथा सर्वज्ञगदितागम ही प्रमाण्य सिद्ध है। उन केवलज्ञानियों से उपदिष्ट उत्पादादित्रययोगित्वं सत्वम् लक्षण त्रिकाल अबाधित है।

सत् विषयक चिन्तन-मनन वैदिक साहित्य में समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद का ऐसा सुक्त है जो अपने सामने ही चर्चित है। यहाँ पर इस प्रकार का एक वाक्य मिलता है—

ना सदासीन्नो सदासीतदानी।²⁵

एक समय ऐसा था, जहाँ सत् को भी स्पष्ट नहीं किया और असत् को भी अभिव्यक्त नहीं किया। इतना अवश्य है कि सत् सत्ता का विवरण वैदिक साहित्य ने भी स्वीकृत किया है। अतः सत् को स्पष्टतया आर्षकालीन वाङ्मय अभिव्यक्त करता है।

उत्तरकालीन उपनिषद् साहित्य में श्री ब्रह्म सत्ता को लेकर कठोपनिषद् में ऐसा उल्लेख मिलता है—

अणोरणीयान् महतो महीयान।²⁶

वह सत् स्वरूप अत्यन्त अल्प परमाणु से भी अल्पतर है और महान् से भी महान् है। ऐसी वैदिक चर्चाएँ सत् के विषय में चर्चित मिलती हैं। अतः सत् को सिद्धान्त देने में सभी महर्षि मनीषि एकमत हैं और उस सत् की समय-समय पर युगानुरूप परिभाषाएँ होती रही हैं। इन परिभाषाओं के परिवेश में यह सत्प्रवाद श्रद्धा का विषय बन गया। समादरणीय रूप से सदाचार में ढल गया है और समाज के अंगों में साहित्य के अवयवों में चित्रित हुआ। तथागत बुद्ध के विचारों ने भी सत् को एक अन्यदृष्टि से स्वीकृत कर अपने जीवन में स्थान दिया। हमारी सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति ने सत् का समर्थन किया और श्रद्धेय रूप देकर सदाचार का सुअंग बनाया।

पौराणिक पुरोधा महर्षि व्यास ने अपनी पुरातनी पुराण प्रणाली में सत् का ऐसा उल्लेख किया—
नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा।²⁷

जो विनाशरहित है, वही नित्य है। जो नित्य बना, वो ही सत् स्वरूप है और जो अनित्य है, वह नाशवान है। इस प्रकार सत् एक अविनाशी अव्यय तत्त्व है।

उपरोक्त सत् विषयक चिन्तन की धारा में सांख्य, नैयायिक और वैशेषिक दर्शनकार सत्कार्यवादी हैं, उनकी मान्यता यह है कि पूर्ववर्ती कारण द्रव्य है। उसमें कार्य सत्तागत रूप से अवस्थित रहता है। जैसे कि मृत्पिंड में कार्य सत् है, क्योंकि जो मृत्पिंड है, वही घट रूप में परिणत होता है। 'स एव अन्यथा भवति' यह सिद्धान्त सत्कार्यवादि सांख्यादिकों का है।

इसी प्रकार 'स एव न भवति' यह सिद्धान्त क्षणिकवादी बौद्धों का है। ये वस्तु को क्षणमात्र ही स्थित मानते हैं। दूसरे क्षण में सर्वथा असत् ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती है। अतः ये असत्कार्यवादी हैं।

परन्तु 'उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्' यह द्रव्य व्यवस्था का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है, क्योंकि उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य, योग आदि दर्शनों द्वारा स्वीकृत आत्मा को एकान्त रूप से कूटस्थ नित्य माना जाए तो उसका जो स्वभाव है, उसमें ही वह अवस्थित रहेगा, जिससे उसमें कृत विनाश, कृतागम आदि दोष उपस्थित होंगे, क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा तो अकर्ता है, अबद्ध है, किन्तु व्यवहार में व्यक्ति शुभाशुभ क्रियाएँ करता हुआ दृष्टिगोचर होता है और प्रायः सभी धर्मों में बन्धन से मुक्त होने के लिए व्रत, नियम, तप, जप आदि निर्दिष्ट साधनाएँ निष्फल जायेंगी तथा निम्नोक्त आगम वचन के साथ भी विरोध आयेगा—

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः।²⁸

शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।²⁹

अब आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर आगम के वचन, वचनमात्र रह जायेंगे। आत्मा के अकर्ता होने के कारण मुक्ति प्राप्ति के लिए की गई समस्त साधना निष्फल होगी तथा संसार और मुक्ति में कुछ भी भेद नहीं होगा, क्योंकि कूटस्थ आत्मवाद के अनुसार आत्मा परिवर्तन से परे है। अतः सिद्ध होता है कि एकान्त धौव्य नहीं है, उत्पाद और व्ययात्मक भी है। अतएव देव, मनुष्य, सिद्ध, संसारी अवस्थाएँ कल्पनातीत नहीं हैं, परन्तु प्रमाण सिद्ध हैं।

इसी प्रकार अनित्यवाद के समर्थक चार्वाक और बौद्धदर्शन के अनुसार आत्मा में नित्य का अभाव था। क्षणभंगुर माना जाए तो सत् के अभाव का प्रसंग आ जाता है, क्योंकि आत्मा को अनित्य या क्षणिक माना जाए तो बन्धन मोक्ष की व्यवस्था घटित नहीं होती है। अनित्य आत्मवाद के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन होता है तो फिर बन्धन और मोक्ष किसका होगा? बन्धन और मोक्ष के बीच स्थायी सत्ता के अभाव में बन्धन और मोक्ष की कल्पना करना ही व्यर्थ है। जहाँ एक ओर बौद्ध स्थायी सत्ता को अस्वीकार करता है, वहीं दूसरी ओर बन्ध मोक्ष पुनर्जन्म आदि अवधारणाओं को स्वीकार करते हैं। किन्तु यह तो वदतो व्याधात जैसी परस्पर विरुद्ध बात है।

अनित्य आत्मवाद का खण्डन कुमारिल शंकराचार्य, जयन्तभट्ट तथा मल्लिसेन आदि ने भी किया है। इसके अतिरिक्त आप्तमीमांसा और युक्त्यानुशासन में भी अनित्यवाद पर आक्षेप किये गये हैं।

असत् कार्यवादी बौद्ध की असत् ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती यह मान्यता भी बराबर नहीं है, क्योंकि द्रव्य व्यवस्था का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी असत् का अर्थात् नूतन सत् का उत्पाद नहीं होता और जो वर्तमान सत् है, उसका सर्वथा विनाश ही है। जैसा आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभाव चेव उप्पादो ।³⁰

अथवा— एव सदा विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो?³¹

अर्थात् अभाव या असत् का उत्पाद नहीं होता और न भाव सत् का विनाश ही। यही बात गीता में कही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत् ।³²

आचार्य हरिभद्र सूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में सत् के विषय में अन्य दर्शनकार के मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सत्ः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः ।।³³

स्वरविषाण आदि असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उत्पत्ति होने पर उसके असत्य का व्याघात हो जायेगा। पृथ्वी आदि सत् पदार्थों का अभाव नहीं होता, क्योंकि उनका अभाव होने पर शश्रुंग के समान उनका भी असत्त्व हो जायेगा। परमार्थदर्शी विद्वानों ने असत् और सत् के विषय में यह विनियम निर्धारित किया है कि जो वस्तु जहाँ उत्पन्न होती है, वहाँ वह पहले भी किसी-न-किसी रूप में सत् होती है और जो वस्तु जहाँ सत् होती है, वहाँ वह किसी रूप में सदैव सत् ही रहती है। वहाँ एकान्ततः उसका नाश यानी अभाव नहीं होता।

सत् का सम्पूर्ण नाश एवं असत् की उत्पत्ति का धर्म संग्रहणी टीका में मल्लिसेन सूरि ने भी चर्चा की है।³⁴ चूँकि सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता यह एक निरपवाद लक्षण है।

सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य निश्चित हो जाने पर भी एक संदेह अवश्य रह जाता है कि सत् नित्य है या अनित्य, क्योंकि विश्व के चराचर जगत् में कोई द्रव्य सत् रूप में नित्य पाया जाता है तो कोई द्रव्य सत् रूप में अनित्य, जैसे कि सत् रूप में नित्य द्रव्य आकाश है तो सत् रूप में अनित्य द्रव्य घटादिक। अतः संशय उत्पन्न होता है कि सत् को कैसे समझा जाए।

जो सत् को नित्यानित्य मान लिया जाये तो पहले जो नित्यावस्थितान्यरूपाणि³⁵ सूत्र में द्रव्य के नित्य, अवस्थित और अरूप तीन सामान्य स्वरूप कहा है, उस नित्य का क्या अर्थ? इसका समाधान वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में एवं आचार्य हरिभद्रसूरि तत्त्वार्थ की टीका में करते हैं—

तदभावाव्यम् नित्यम् ।³⁶

यहाँ नित्य शब्द का अर्थ भाव अर्थात् परिणमन का अव्यय अविनाश ही नित्य है। सत् भाव से जो नष्ट न हुआ हो और न होगा, उसको नित्य कहते हैं। इस कथन से कूटस्थ नित्यता अथवा सर्वथा अविकारिता का निराकरण हो जाता है तथा कथंचित् अनित्यात्मकता भी सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार सत् को जैन दार्शनिकों ने सर्वोपरि सिद्ध करके अपने सदागमों में स्थान दिया है। हमारा मानस हमेशा सत् प्रवाद का विचार करे। यही विषय पूर्वों में भी परिगणित हुआ है जो चौदह पूर्व हमारी श्रमण संस्कृति का आधार है, जिनको दृष्टिवाद रूप से सम्मानित रखा गया है।

जिस प्रकार आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य की तीन-तीन अवस्थाएँ हैं—उत्पन्न होना, नाश होना और द्रव्य रूप में स्थिर रहना। इसको जैन परिभाषा में त्रिपदी कहते हैं। उप्पनेइवा, विगमेइवा, धुवेइवा और वह त्रिकोण के तीन तरफ से दिखाई जाती है। विश्व के किसी भी पदार्थ की वे तीन अवस्थाएँ पाई जाती हैं। वैदिक परम्परा में भी विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय—ये तीनों मानते हैं। उत्पत्ति में देवरूप में ब्रह्मा, स्थिति में देवरूप से विष्णु और संहार रूप में देवरूप से शंकर को मानते हैं। जैन परम्परा में सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति स्वीकृत्य नहीं, लेकिन विभिन्न पदार्थों के विभिन्न पदार्थ रूप में उत्पत्ति स्वीकारते, लेकिन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तो अनादि-अनन्त है।³⁷

प्रज्ञावबोध मोक्षमाला हेमचन्द्राचार्य रचित में भी त्रिपदी के विषय में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को त्रिमूर्ति कहकर समझाया गया है।

इस प्रकार सत् को अपेक्षा विशेष लेकर सभी दार्शनिकों ने स्वीकारा है, क्योंकि सत् के बिना जगत् का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। महोपाध्याय यशोविजय ने उत्पादादि सिद्धि की टीका में तथा आचार्य हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थ टीका में यहाँ तक कह दिया है कि यह प्रवचन गर्भसूत्र है, तथा एक-दो तीर्थकरों ने ही सत् के विषय में उपेक्ष नहीं दिया बल्कि अनन्त तीर्थकरों ने सत् का लक्षण स्वीकारा है और प्रतिपादित किया है। अतः प्रवाह की अपेक्षा से यह सत् अनादि-अनन्त है। परन्तु व्यक्ति विशेष की अपेक्षा से अनित्य है, क्योंकि सत् स्वयं में सर्वथा शक्तिमान होता हुआ भी सापेक्षित दृष्टि से अनित्यता में भी आ जाता है, क्योंकि सापेक्षवाद ही सत्य का साक्षात् करवाता है। यदि सापेक्षवाद से किसी भी विषय को विचारित करते हैं तो एकान्त दुराग्रह दूर हो जाता है और सर्वत्र समरसता से रहने का सुप्रयास सौष्ठवभरा हो जाता है। निर्विरोध जीवन की कड़ी में निर्वर जीवन में सत् का सामंजस्य सापेक्षवाद से ही स्वीकार करने वाले सर्वत्र यशस्वी रहे हैं। अनेकान्तदर्शन ने आग्रही होने का अनुरोध नहीं किया है। अपितु एक ऐसा विवेक दिया है, जिससे मनुष्य अपने मन्तव्यों को मानरहित, अन्यो के अपमानरहित जीवन जीने का एक राजमार्ग दर्शित करता है और वह सत् ही समूचे दार्शनिक सत्य का साक्षात्कार करवाता है, जिसको शास्त्रकारों ने वर्णित कर विशेष स्थान दिया है। उसी सत् को प्रत्येक दार्शनिक ने शिरोधार्य कर सत् चित् आनन्द रूप से जाना है। जैन दर्शन ने इसी सत् को अनाग्रह भाव से अंगीकार कर वास्तविकता से विधिवत् मान्य किया है।

यह सत् शब्द किसी सम्प्रदाय विशेष का न बनकर सर्वत्र अपनी स्थिति को समुचित रूप से स्थिर रखता है। चाहे उपनिषद् साहित्य हो अथवा त्रिपिटक निकाय हो, आगमिक आगार हो। ऐसे सत् को उपाध्याय यशोविजय ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण का सहयोगी बनाया है, जिससे सम्पूर्ण जीवन उपाध्याय यशोविजय का सत्मय बनकर समाज में प्रशंसित बना पुरोगामी रहा है और पुरातत्त्व का पुरोध कहा गया है। ऐसे सत् को सर्वज्ञों ने, श्रुतधरों ने और शास्त्रविदों ने ससम्मान दृष्टि से प्रशस्त स्वीकार किया है।

लोकवाद

भारतीय दर्शन की चिन्तन धाराओं में अनेक भारतीय दार्शनिक हुए, जिन्होंने दार्शनिक तत्त्वों पर अपना बुद्धि विश्लेषण विश्व के समक्ष दिया। दर्शन तत्त्वों में लोक का भी अपना अनूठा स्थान है, जिसे भारतीय दार्शनिक तो मनते ही हैं, साथ में पाश्चात्य विद्वानों ने और दार्शनिकों ने भी स्वीकृत किया है तथा जैन आगमों में लोक की विशालता का गम्भीर चिन्तन पूर्वक विवेचन मिलता है।

लोक विषयक मान्यता विभिन्न दर्शनकारों की भिन्न-भिन्न है। इन सभी मान्यताओं को आगे प्रस्तुत किया जायेगा। यहाँ सर्वप्रथम आगमों तथा ग्रंथों में लोक का प्रमाण स्वरूप भेद आदि जानना आवश्यक होगा।

लोक विश्व क्या है?

मनुष्य का मस्तिष्क जिज्ञासाओं का महासागर है। उसमें प्रश्नों की तरंगें और कल्लोलें उठती रहती हैं। मनुष्य के पास ज्ञान का माध्यम है—इन्द्रियाँ और मन। बाह्य जगत् से वह इनके माध्यम से सम्पर्क करता है। ज्योंही प्रकृति की प्रक्रियाएँ उसके समक्ष आती हैं, त्योंही उसके मन में क्या? कैसे? क्यों? आदि प्रश्न खड़े हो जाते हैं। यह विश्व क्या है? किससे बना है? कब अस्तित्व में आया? कब तक रहेगा? किसने बनाया? क्यों बनाया? कितना बड़ा है? इसका आकार क्या है? आदि-आदि प्रश्न विश्व के स्वरूप के बारे में सहज ही सामने आते हैं। हर व्यक्ति इस विश्व की प्रहेलिका को बुझाना चाहता है। विभिन्न दर्शनवेत्ताओं एवं वैज्ञानिकों ने भी अपने-अपने ढंग से इस पहेली को हल करने का प्रयास किया है। लोक शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है जो व्यवहार में प्रचलित विश्व या Universe का वाच्य है।

लोक की परिभाषा

जे लोककई से लोए—यानी जो दिखाई दे रहा है, वह लोक है। यह लोक की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा है।

दिगम्बर साहित्य में भी इस व्युत्पत्ति की पुष्टि होती है—

धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोकयन्ते स लोक इति।³⁸

जहाँ धर्म-अधर्म आदि द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। इसी प्रकार धवलाकर आचार्य वीरसेन ने भी लिखा है—

को लोकः लोकयन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन्, जीवादय पदार्थाः स लोकः।³⁹

जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं, उसे लोक कहते हैं।

लोक की क्रियात्मक परिभाषा (Functional Definition) हमें इस प्रकार मिलती है— षड्द्रव्यात्मको लोकः,⁴⁰ जो षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है। भगवती सूत्र में भी बताया गया है कि लोक षड्द्रव्यात्मक है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि—

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो।

ऐस लोगोन्ति पन्नतो, जिणेहि वरदंसिहिं।⁴¹

वरद्रष्टा जिनों के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव यह लोक बताया गया है। इसी तथ्य को गोम्मतसार जीवकाण्ड, गाथा 561, 564 में भी बताया गया है। षड्रव्यात्मक लोक की तरह पंचास्तिकाय रूप लोक का प्रतिपादन भी उपलब्ध है—

किमियं मंते! लोएति पव्वुच्चइ?४२

समर्थ तार्किकवादी आचार्य हरिभद्रसूरि दशवैकालिक की टीका में लोक के प्रमाण को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

लोकस्य चतुर्दश रज्वात्मकस्य।४३

पाँचवें कर्मग्रंथ में भी कहा गया है—

चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ सत्तरज्जूमाणघणो।४४

अर्थात् लोक प्रमाण 14 राजलोक है।

यही बात भगवती,⁴⁵ आवश्यक अवचूर्णि,⁴⁶ अनुयोगवृत्ति,⁴⁷ बृहत्संग्रहणी,⁴⁸ लोकप्रकाश,⁴⁹ शान्तसुधारस,⁵⁰ आवश्यक निर्युक्ति⁵¹ में है।

लोक का स्वरूप—चौदह राजलोक का स्वरूप इस प्रकार स्थानांग समवायांग में मिलता है— अधोलोक की सातों नरक एक-एक रज्जू प्रमाण है। प्रथम नरक के ऊपर के अन्तिम अंश से सौधर्मयुगल तक एक रज्जू होता है। उसके ऊपर ब्रह्म और लातंक—ये दोनों मिलकर एक रज्जू, उसके ऊपर महाशुक्र और सहस्त्रार—इन दोनों का एक रज्जू। उसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत मिलकर चौदह रज्जू प्रमाण होता है⁵² तथा बृहत्संग्रहणी में लोक के स्वरूप की गाथा इस प्रकार है—

अहभाग सगपुढवीसु रज्जू इकिकक तह य सोहम्मे।

माहिंद लंत सहस्त्रारऽच्चुय मेविज्ज लोगंते।।⁵³

अथं च आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि संग्रहयार्धाभिप्रायः।

परन्तु योगशास्त्रवृत्ति के अभिप्राय से तो समभूतल रूचक से सौधर्मन्त तक डेढ़ रज्जू, माहेन्द्र तक ढाई, ब्रह्मान्त तक तीन, सहस्त्रार तक चार, अच्युत के अन्त में पाँच, ग्रैवेयक के अन्त में छः और लोक के अन्त में सात रज्जू होता है।

भगवती आदि में तो धर्म रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे असंख्य योजन के बाद लोक मध्य है, ऐसा कहा गया है। उनके आधार से तो वहाँ सात राज पूर्ण होता है। अतः वहाँ से ऊर्ध्वलोक की गणना प्रारम्भ होती है। तीनों लोक में मध्यम लोक का परामर्श बना रहता है।

जीवाभिगम सूत्र में सौधर्म, ईशान आदि सूत्र व्याख्यान में बहुसमभूभाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं को छोड़कर क्रोड असंख्यात योजन के बाद डेढ़ रज्जू होता है, ऐसा कहा है।

लोकनालिस्तव में भी सौधर्म देवलोक तक डेढ़, माहेन्द्र तक ढाई, सहस्त्रार तक चार, अच्युत तक पाँच और लोकान्त में सात रज्जू होते हैं।⁵⁴ तत्पश्चात् अलोक प्रारम्भ होता है।

अनुयोगवृत्ति,⁵⁵ अनुयोग मलधारीयवृत्ति,⁵⁶ लोकप्रकाश⁵⁷ तथा शान्त सुधारस⁵⁸ में भी इसका स्वरूप मिलता है।

अलोकाकाश के बीच लोकाकाश है, जो अकृत्रिम, अनादि, अनिधन, स्वभाव से निर्मित तथा छह द्रव्यों से व्याप्त है। सभी द्रव्यों की यात्राभूमि तथा जीवों की लीलाभूमि यह लोक (ब्रह्माण्ड) है। इसके बाहर किसी द्रव्य का गमनागमन नहीं है।

लोक की परिभाषा स्थानांग सूत्र में दी गई है कि जो जीव एवं अजीव पदार्थ का आधार है, वही लोक है।

विश्व के पर्यायवाची शब्दों का विवेचन है⁵⁹—विश्व, ब्रह्माण्ड, सृष्टि, जगत्, संसार, युनिवर्स, विश्व जगत् चराचर, त्रिलोक, त्रिभुवन ब्रह्मगोल भूतदृष्टि, ब्रह्मसृष्टि, प्रत्यक्षसृष्टि, जगती आदि लोक के अभिवचन है।

लोक पुरुषाकार है, जो पुरुष की तरह कवायद की आराम की मुद्रा में खड़ा है। अलोक महाशून्य है। यह लोक शाश्वत है।

अन्य दार्शनिकों एवं पुराणकारों ने लोक की रचना का वर्णन अण्डा (ब्रह्म खण्ड) या कमल (लोक पद्म) के रूप में किया है और उसे सादि, सान्त एवं अशाश्वत माना है और इसी आधार पर सृष्टि प्रलय एवं महाप्रलय की कल्पना आधारित है। सृष्टि के आदि में ब्रह्मा उसका सर्जन करते हैं, मध्य में विष्णु पालन करते हैं और अंत में शिव संहार करते हैं।

भगवती सूत्र⁶⁰ में उसे सुप्रतिष्ठक शरयंत्र के समान निर्दिष्ट किया है। जैन पुराणों⁶¹ में कमर पर हाथ रखे हुए तथा पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुष के समान लोक आकार का वर्णन मिलता है।

लोक स्थिति

जैन साहित्य में लोक स्थिति अनन्त आकाश के मध्य अर्थात् केन्द्र में मानी गई है। अनन्त आकाश⁶² में केवल एक लोक है। इसके विपरीत पुराण साहित्य⁶³ में अनन्त ब्रह्माण्डों की कल्पना मिलती है।

स्थानांग सूत्र⁶⁴ में लोक स्थिति का वर्णन आता है, जिसके अनुसार लोकस्थिति चार प्रकार की है—

वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है।

उदधि वायु पर प्रतिष्ठित है।

पृथ्वी उदधि पर प्रतिष्ठित है।

त्रस एवं स्थावर प्राणी पृथ्वी पर प्रतिष्ठित है।

लोक का आधार आकाश है।⁶⁵ आकाश स्व-प्रतिष्ठित है।

भगवतीसूत्र⁶⁶ में भी आकाश के सर्वव्यापकत्व का विवेचन देते हुए कहा है कि आकाश में वायु प्रतिष्ठित है। वायु में समुद्र तथा समुद्र में पृथ्वी प्रतिष्ठित है और पृथ्वी पर सर्व स्थावर जंगम जीव हैं।

यह लोक शाश्वत अनादि निधन है। किसी ने इसको आधार नहीं दिया। आश्रय और आधार के बिना आकाश में निरालम्ब रहा हुआ है। न किसी ने इसको बनाया है, फिर भी अपने अस्तित्व में स्वयं सिद्ध है।⁶⁷ लोकप्रकाश⁶⁸ में भी यही कहा है।

इस विषय में विशेष समझने योग्य है कि वायु ने जल को धारण कर रखा है, जिससे वह इधर-उधर गमन नहीं कर सकता। जल ने पृथ्वी को आश्रय दिया, जिससे जल भी स्पन्दन नहीं करता, न पृथ्वी ही उस जल से पिघलती है। लेकिन लोक का आधार कोई नहीं है। वह आत्म-प्रतिष्ठित है अर्थात् अपने ही आधार पर है। केवल आकाश में ठहरा हुआ है। ऐसा होने में लोक स्थिति अवस्थान ही कारण है। यह लोक का सन्निवेश अनादि है और यह अनादिता इत्यार्थिक नय की अपेक्षा से है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से लोक सादि भी है। अतएव आगम में इसको कथंचित् अनादि और कथंचित् सादि भी बताया है तथा ऐसा सन्निवेश होने में सिवाय स्वभाव के और कोई कारण नहीं है।⁶⁹

भगवती में भी गौतमस्वामी ने प्रश्न किया है कि हे भगवन् लोक की स्थिति कितने प्रकार की है? जैसे कि—भंते! ति भयवं गोयमे समणं जाव एवं वयासी कइविहा णं भंते! लोयड्ढिती पन्नता।

गोयमा! अड्ढविहा लोयड्ढिती पन्नता।⁷⁰

हे गौतम! आठ प्रकार की लोक स्थिति है। वह इस प्रकार वायु को आकाश ने, उदधि को वायु ने, त्रस जीव और स्थावर जीव को पृथ्वी ने, अजीव जड़ पदार्थों को जीव ने, जीव को कर्मों ने धारण कर रखा है तथा अजीवों को जीवों ने एकत्रित करके रखा है और जीवों को कर्मों ने संग्रहित करके रखा है।

स्थानांग⁷¹ में लोक स्थिति तीन, चार, छः, आठ और दस प्रकार की बताई है।

समग्र लोक को ऊर्ध्व, मध्य, अधालोक के क्रम से विभाजित किया गया है।

ऊर्ध्वलोक—लोक के चरमान्त में समग्र लोक के शिखर भाग में सिद्ध लोक में अशरीरी सिद्धात्माएँ निवास करती हैं। उसका पुनर्जन्म नहीं है। सिद्धों का यह लोक पुराणों के ब्रह्मलोक या सत्यलोक से तुलनीय है। ब्रह्मलोक ब्रह्माण्ड के शीर्षस्थ भाग में कल्पित किया गया है। इसमें पुनर्जन्म रहित देवता निवास करते हैं।

ऊर्ध्वलोक⁷² में देवलोक भी है, जहाँ वैमानिक देवों का निवास है। ऊपर कल्पातीत देव हैं, नीचे कल्पोपन्न देव रहते हैं। इनके विमान अकृत्रिम हैं। देवलोक की व्यवस्था शाश्वत है। वहाँ पृथ्वी के समान कालजन्य परिवर्तन नहीं होते हैं।

ज्योतिर्लोक—पृथ्वी के मध्य में स्थित सुमेरु पर्वत से ऊपर आकाश में रहने वाले देवता, ज्योतिषी देव कहलाते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि भेद से पाँच प्रकार के हैं। मनुष्य क्षेत्र में सदा गतिमान रहते हैं। समय विभाजन सदा इन ज्योतिर्मय देवों की गति से ही निर्धारित होता है। खगोल विज्ञान ने अरबों-खरबों गंगाओं की खोज की है।

व्यन्तर लोक—समुद्रस्य भवन तथा पर्वतस्य आवासों में निवास करने वाले देव व्यन्तरनिकाय के कहलाते हैं।

अधोलोक—भवनपति देवों का निवास पृथ्वीतल के अधोभाग में है। भवनों में निवास होने से ये भवनपति कहलाते हैं।

नरकलोक—पृथ्वीतल के अधोभाग में नरक भूमियाँ हैं। इसमें नैरयिक जीवों का निवास है। नैरयिकों के निवास स्थान बिल का अर्थ है—भू विवर, अन्धकूप आदि-आदि।

मध्यलोक—मध्यलोक के केन्द्र में 45 लाख योजन विस्तार वाला मनुष्य क्षेत्र है। इसे समयक्षेत्र भी कहते हैं। ढाई द्वीप इसका अपर नाम है। इस मध्यलोक में असंख्य द्वीप, असंख्य समुद्र है, जहाँ त्रस एवं स्थावर जीवों का निवास ढाई द्वीप तक है, इसके आगे नहीं।

तिर्यक् लोक—तिर्यच योनि वाले²⁹ जीवों का अधिवास क्षेत्र तिर्यक् लोक है। स्थावर एवं त्रस भेद से दो प्रकार का है।

स्थावर जीवों का आवास सम्पूर्ण लोक है। त्रस जीव केवल मध्यलोक अर्थात् त्रसनाली में ही पाए जाते हैं। इस प्रकार अनन्त जीवों का निवास सम्पूर्ण लोक है, जहाँ अनन्त जीवात्माएँ देव, मनुष्य, तिर्यच तथा त्रस स्थावर आदि के रूप में दिशा विदिशाओं में अवस्थित हैं।

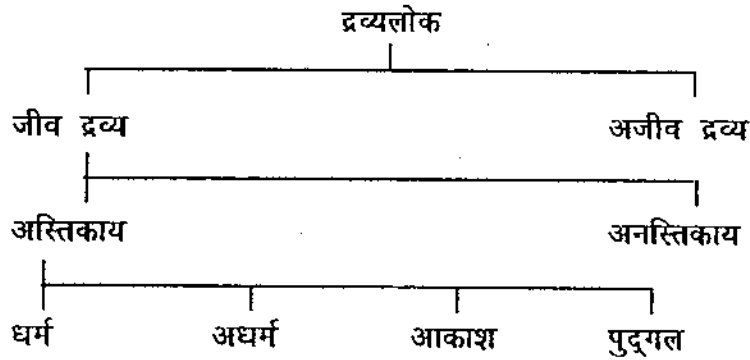
जैन दर्शन में लोक को समझने के लिए चार दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम ने प्रश्न पूछा—

कतिविहेणं भन्ते! लोए पण्णते?

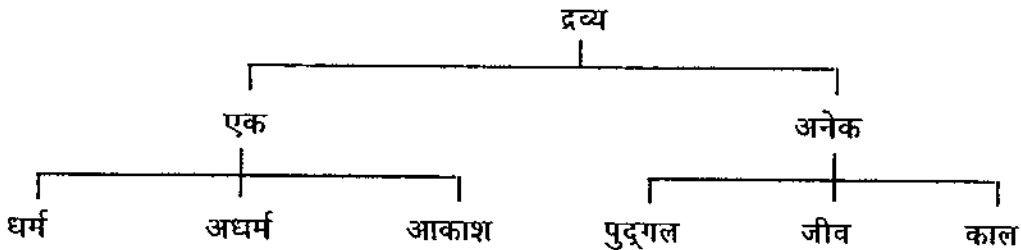
भोयमा! चउव्विहे लोए पण्णते। तं जहां दव्वलोए, खेतलोए, काललोए, भावलोए!³⁰

1. द्रव्यलोक, 2. क्षेत्रलोक, 3. काललोक एवं 4. भावलोक।

द्रव्यलोक का तात्पर्य है द्रव्य की अपेक्षा से लोक की व्याख्या। जिसे जैनदर्शन द्रव्य की संज्ञा देता है, वह अन्य दर्शनों में या विज्ञान में मूल पदार्थ के रूप में जाना जाता है। सभी दर्शन भिन्न-भिन्न रूप से विश्व के द्रव्यों की संख्या बताते हैं। जैन दर्शन के अनुसार सारा लोक पंच अस्तिकाय या षड्द्रव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्यलोक का स्वरूप इस प्रकार है—



संख्या की दृष्टि से—छः द्रव्यों में संख्या की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक द्रव्य है। पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल अनन्त द्रव्य हैं।



भगवती में पंचास्तिकायात्मक लोक कहा है।

किमिवं भन्ते! लोए ति पवुच्चई? गोयमो।

पंचत्थिकाया एस णं पवतिए लोए ति पवुच्चई।⁷⁵

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनादिविशिका में पंचास्तिकाय लोक कहा है—

पंचत्थिकायमइओ अणाइयं वट्टए इमो लोगो।

न परमपुरिसाइकओ पमाणमित्थं च वयणं तु।⁷⁶

पंचास्तिकायमय यह लोक अनादि से रहा हुआ है और परम पुरुष ऐसे ईश्वर द्वारा रचित नहीं है और इस विषय में सर्वज्ञ का वचन आगम प्रमाण है।

लोक प्रकाश में पंचास्तिकाय स्वरूप द्रव्यलोक कहा है—

एक पंचास्तिकाय द्रव्यतो लोक इष्यते।⁷⁷

इसी प्रकार दशवैकालिकवृत्ति,⁷⁸ ध्यानशतक वृत्ति,⁷⁹ अनुयोग मलधारीय वृत्ति,⁸⁰ तत्त्वार्थ टीका,⁸¹ षड्दर्शन समुच्चय,⁸² ललित विस्तारावृत्ति,⁸³ ध्यानशतक,⁸⁴ तत्त्वार्थ भाष्य⁸⁵ आदि ग्रंथों में पंचास्तिकायात्मक लोक कहा है।

षड्दर्शन समुच्चय की टीका में षड्द्रव्यात्मक लोक भी कहा है—

ये तु कालं द्रव्यमिच्छन्ति, तन्मते षड्द्रव्यात्मको लोक।⁸⁶

जो आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं, उनके मतानुसार लोक में छहों ही द्रव्य पाये जाते हैं। असंख्य लोक षड्द्रव्यात्मक है।

जैनशास्त्र में जीव और अजीव तथा पंचास्तिकायमय आदि लोक कहा है जबकि अंगुतरनिकाय में भगवान बुद्ध ने पांच कामगुण रूप रसादि—ये ही लोक है और कहा है कि इन पांच काम को जो त्याग करता है, वह लोक के अंत भाग में पहुंच जाता है।⁸⁷

षड्दर्शन समुच्चय आचार्य हरिभद्रसूरि की अनुपम कृति है। इसके टीकाकार आचार्य गुणरत्नसूरि एक समयज्ञ सुधी हैं, जिन्होंने षड्दर्शन समुच्चय की टीका में लोक के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए इस प्रकार कहा है—

लोक स्वरूपेऽप्यनेके वादिनोऽनेकधा विप्रवदन्ते।⁸⁸

लोक के स्वरूप में ही अनेकों वादी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। कोई इस जगत् की उत्पत्ति महेश्वर से मानते हैं, कोई सोम और अग्नि से संसार की सृष्टि कहते हैं। वैशेषिक षट् पदार्थ रूप ही जगत् को मानते हैं। कोई जन्तु की उत्पत्ति ब्रह्म से कहते हैं, कोई दक्ष प्रजापतिकृत जगत् को बतलाते हैं। कोई ब्रह्मादि त्रिमूर्ति से सृष्टि की उत्पत्ति कहते हैं। वैष्णव विष्णु से जगत् की सृष्टि मानते हैं। पौराणिक कहते हैं—विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्माजी अदिति आदि जगन्माताओं की सृष्टि करते हैं। इन जगन्माताओं से संसार की सृष्टि होती है। कोई वर्ण व्यवस्था से रहित इस वर्णशून्य जगत् को ब्रह्मा ने चलुर्वर्णमय बनाया है। कोई संसार को कालकृत कहते हैं। कोई उसे पृथ्वी आदि अष्टमूर्तिवाले ईश्वर के द्वारा रचा हुआ कहते हैं। कोई ब्रह्मा के मुख आदि से ब्राह्मण आदि की

उत्पत्ति मानते हैं। सांख्य इस सृष्टि को प्रकृतिकृत मानते हैं। बौद्ध इस जगत् को क्षणिक विज्ञानरूप कहते हैं। ब्रह्मा अद्वैतवादी जगत् को एक जीव रूप कहते हैं तो कोई वादी इसे अनेक जीवरूप भी मानते हैं। कोई इसे पूर्व कर्मों से निष्पन्न कहते हैं तो कोई स्वभाव से उत्पन्न बताते हैं। कोई अक्षर से समुत्पन्न भूतों द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति बताते हैं। कोई इसे अण्ड से उत्पन्न बताते हैं। आश्रमी इसे अहेतुक कहते हैं। पूरण जगत् को नियतिजन्य मानते हैं। पराशर इसे परिणामजन्य कहते हैं। कोई इसे यादृदच्छिक अनियत हेतु मानते हैं। इस प्रकार अनेक वादि इसे अनेकरूप से मानते हैं। इस प्रकार लोक विषयक विभिन्न मान्यताएँ हैं।

षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्नसूरि ने सभी दर्शनवादियों की विचारधाराओं को सम्मिलित कर प्रत्येक को निरस्त करने का प्रयास जैनमत से किया है।

कलिकाल सर्वत्र आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने वीतराग स्तोत्र में जगत् कर्तृत्ववाद का निरास करते हुए कहा है—

**सृष्टिवाद कुहेवाक्र मुन्मुच्योत्यप्रमाणकम्,
त्वच्छासने रमन्ते ते येषां नाथ प्रसीदसि।⁹⁹**

सृष्टिवाद विषयक जो अन्य दार्शनिकों का दुर्वाद है, वह त्याज्य है, क्योंकि वह अप्रामाणिक है। इसलिए हे नाथ! तुम्हारे शासन में जो रमण करते हैं, उनके ऊपर आप प्रसन्न रहते हैं अर्थात् जगत् का कर्ता है, हे प्रभु! आपने मान्य नहीं किया है।

आगमिक अनुसंधानों में ईश्वर कर्तृत्ववाद को अमान्य किया है, जैसे—सूत्रकृतांगकार कहते हैं—

इणमन्न तु अन्नाणं इहमेगिसि आहियं
देवउते अयं लोए वंभं उतेति आवरे।
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे,
जीवाजीव समाउते सुहदुकखस मन्निए,
सयंभुण कडेलोए इति वुतं महेसिणा,
मारेण संथुआ माया तेणलोए असासए।¹⁰⁰

सृष्टि विषयक सर्जक स्वीकार करना यह एक महान् अज्ञान है। कुछ लोग यह कहते हैं कि यह लोक देवकृत है अथवा ब्रह्मा सर्जित है अथवा ईश्वरकृत लोक है। जीव और अजीव से युक्त यह संसार सुखों से और दुःखों से ओतप्रोत है। ऐसा यह जगत् स्वयंभू के द्वारा सर्जित हुआ है, ऐसा महर्षियों ने कहा है। कामदेव के द्वारा माया प्रशंसनीय हुई है। उस कारण से यह लोक अशाश्वत है।

ललित विस्तरा में आचार्य हरिभद्रसूरि मुताणं मोअगाणं पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि जगत् के कर्ता को हीन-मध्यम-उत्कृष्ट रूप में जीवों को उत्पन्न करने में क्या लाभ? क्योंकि वह जगत् का कर्ता यदि निरीह है तो फिर इच्छा, संकल्प, द्वेष, मात्सर्य आदि संभव नहीं है अतः जगत्कर्तृत्व मत को दूषित बतलाते हैं।

जगत्कर्तृत्वमते च दोषाः।¹⁰¹

शास्त्रवार्ता समुच्चयकार कहते हैं कि लोक विषयकमत एवं ईश्वर कर्तृत्व अभिमत न्याय सिद्धान्त से मनुष्य स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब वही व्यक्ति जिनवाणी को यदि स्मृति में ले लेता है तो वह जगत् स्वाभाविक है। इसका कोई कर्ता नहीं, ऐसा स्वीकार कर लेता है। जैसे बदरी फल के रस को चखकर संतोषित रहने वाला व्यक्ति तब तक ही प्रसन्न रहता है, जब तक विशेष द्राक्षफल का माधुर्य प्राप्त नहीं करता। इसी बात को टीकाकार उपाध्याय यशोविजय म.सा. ने श्लोकरूप से संबद्ध की है।

श्रुत्वैवं सकृदेनमीश्वरपरं सांख्यऽक्षपादागम।
लोको विस्मयमातनोति न गिरो यावत् स्मेरदारहतीः।
किं तावद्दूदरीफलेऽपि न मुहुर्म धुर्यमुन्नीयते
यावत्वीनरसा रसाद रसनया द्राक्षा न साक्षात्कृता।⁹²

सांख्य और नैयायिकों के ईश्वरपरक एक बार भी वचन सुनकर यह जन-समुदाय विश्वस्त हो जाता है। जब वही जन-समुह तीर्थकर वाणी का श्रवण करता है और स्मरण बढ़ता है तो परम विस्मय को प्राप्त करता है। जैसे कि बदरी फल को चखकर मधुरता को प्राप्त कर लेता है, वही यदि अपनी जिह्वा से दाक्ष फल चख लेता है और माधुर्य जिह्वा से गले में उतार लेता है तो वह बदरी फल को चखना भूल जाता है। वैसे ही जिनवाणी को जो स्वीकार कर लेता है तो सांख्य वादियों के विचारों को नैयायिक ईश्वरवाद को भूलकर भी याद नहीं करता है।

अंत में उपाध्याय यशोविजय के अनुसार यह लोक पंचास्तिकायात्मक है, साथ में जीव जीवात्मक चराचरात्मक रूप से भी अपने ग्रंथों में उजागर किया है। उनका विशाल दृष्टिकोण शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका में प्रतिभासित होता है।

यह लोक 14 रज्जु प्रमाण है। सम्पूर्ण लोक का आकार सुप्रतिष्ठित वज्र के समान है। यह निराश्रय निराधार निरालम्ब रूप से आकाश में प्रतिष्ठित है। फिर भी अपने-अपने अस्तित्व से हमेशा सिद्ध है। ऐसी प्रतीति होने में लोक स्थिति ही कारण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में लोकवाद का समग्र सिद्धान्त बहुत ही व्यवस्थित, गणितीय, वैज्ञानिक तथा तर्कगम्य रूप से प्रस्तुत है।

उपाध्याय यशोविजय के दृष्टिकोण में लोकवाद रहस्य निरापवाद रूप से समुल्लिखित किया गया है। ऐसा मेरा मन्तव्य है।

द्रव्य गुण पर्याय भेदाभेद

दार्शनिक जगत् में तत्त्वमीमांसा का प्रमुख स्थान है। द्रव्य तत्त्वमीमांसा का एक विशिष्ट अंग माना जाता है। जो अस्तित्ववान हो, वह द्रव्य कहलाता है। दु धातु के साथ य प्रत्यय के योग से निष्पन्न द्रव्य शब्द का अर्थ है—योग्य। जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की प्राप्ति के योग्य हो, उसे द्रव्य कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करें तो—‘अदुवत, द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान पर्यायान इति द्रव्यं’, जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ प्राप्त होता है और प्राप्त होगा, वह द्रव्य है। तात्पर्यार्थ की भाषा में कहें तो उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है।

जैन आगमों की द्वादशांगी चारों अनुयोगों में व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की गई है, जिसमें द्रव्यानुयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। द्रव्यानुयोग ही आत्मवाद, अध्यात्मवाद आदि विषयों में सारगर्भित सत्य का स्पष्टीकरण करता है। दृष्टिवाद के अग्गेणीयं नामक दूसरे पूर्व में द्रव्यानुयोग को वर्णित किया गया है। ऐसी अवधारणा शास्त्रीय परम्पराओं में प्रचलित है। नन्दीसूत्र नाम के महामंगल ग्रंथ की टीका में आचार्यश्री ने इस प्रकार व्याख्यायित किया है—

वितियं अग्गेणियं तत्थवि सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजीवा जीवविसेसाण य अग्गं परिमाणे
वन्निज्जति ति अग्गेणीयं।⁹³

इस द्वितीय प्रवाद में सभी द्रव्यों एवं पर्यायों का पूर्णतया पर्यालोचन हुआ है।

हमारे द्रव्यानुयोग का मूलाधार दृष्टिवाद ही प्रमुख है और उन दृष्टिवाद के विषयों का विस्तार यत्र-तत्र टीकाग्रंथों में उल्लेखित हुआ है। यद्यपि सम्पूर्ण दृष्टिवाद तो उच्छेद ही है, तथापि उपाध्याय यशोविजय जैसे महान्, अनुयोगधरों ने इस विषय की शोध करके इनके सारांशों को समुल्लिखित किये हैं।

अन्य दर्शनों में भी द्रव्य विषयक चर्चा मिलती है। व्याकरण की दृष्टि से द्रव्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार उपलब्ध होती है। दुगतौ धातु से द्रवति तांस्तान स्व पर्यायान् प्राप्नोति मुश्चति वा इति तद् द्रव्यम्।

द्रव्य उसको कहते हैं, जो द्रवित होता है। उन-उन अपने पर्यायों को प्राप्त भी करता है और छोड़ भी देता है।

सतायाम तस्या एव अवयवो विकारो वा इति द्रव्यम् अवान्तर सतारूपाणि
हि द्रव्याणि महासताया अवयवा विकारा वा भवन्ति एव इति भावः।

द्रु धातु सता के अर्थ में भी है। उसका अवयव अथवा विकार द्रव्य कहलाता है। अलग-अलग जो द्रव्य के रूप में मिलते हैं, वे महासता के अवयव अथवा विकार होते हैं। जैसे कि रूप रसादि गुणों का समुदाय घट वह द्रव्य है।

भविष्य में होने वाले पर्याय की जो योग्यता है, वह भी द्रव्य है। जैसे राज बालक भविष्य में युवराज महाराज बनने के योग्य है। अतः राजबालक रूप में द्रव्य कहलाता है।

भूतकाल में भाव पर्याय जिसमें रहे हुए थे, वह द्रव्य भूतभाव द्रव्य कहलाता है। जैसे कि घी का आधारभूत घृत घट आज खाली है तथा पूर्व में उसमें घी भरा हुआ था। अतः यह घृतघट कहलाता है। वह भी द्रव्य है।⁹⁴

जो भूतकालीन भव्य बना हुआ था, जिसके लिए अनागत की संभावना रहती है, जो वर्तमान में अकिंचन है, फिर भी वह योग्यता का धारक है तो वह द्रव्य है, क्योंकि योग्यता कभी भी सीमाओं में बंधी हुई नहीं होती है। वह कभी भी प्रगट हो सकती है।⁹⁵

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुयोगवृत्ति,⁹⁶ नन्दीवृत्ति,⁹⁷ तथा नन्दीसूत्र⁹⁸ में भी निम्नोक्त द्रव्य की परिभाषा मिलती है—

तत्र द्रवति गच्छति तांस्तान पर्यायानिति द्रव्यः।

उन-उन पर्यायों को जो प्राप्त करता है, वह द्रव्य कहलाता है। आवश्यकसूत्रावचूर्णि,⁹⁹ पंचास्तिकायवृत्ति¹⁰⁰ और तत्त्वार्थ राजवार्तिक¹⁰¹ में द्रव्य की व्याख्या की है।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्यायोः स्थानयमेकरूपं सदापि यत् ।

स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्य भेदो नतस्य वै ।¹⁰²

गुण और पर्याय का जो आश्रय हो, तीनों काल में जो एकरूप हो, स्थिर हो, अपनी जाति में रहने वाला हो परन्तु पर्याय की भाँति जो परावृत्ति को प्राप्त नहीं करता हो, वह द्रव्य कहलाता है, जैसे कि—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप-वीर्य आदि गुण का आधारभूत जीव द्रव्य। रूप, रस, गंध आदि का आश्रयभूत पुद्गलद्रव्य तथा स्थास, कोश कुशल कपाट घटत्वादि पर्याय का आश्रयस्थान मुदद्रव्य जो तीनों काल में स्थिर रहता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में द्रव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषा दी गई है, जैसे कि—

अनागतपरिणामविशेष प्रतिगृहिताभिमुख्ये द्रव्यं ।

भविष्य में परिणामों के प्रति स्वीकार कर लिया है। सन्मुखपना ऐसे द्रव्य कहलाते हैं।

यद्भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यता आदधानं तदद्रव्यमित्युच्यते ।

जो भविष्य के परिणामों को प्राप्त करने के प्रति अपनी आत्मा योग्यता को धारण करने वाले हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं—

द्रोष्यते गम्यते गणे द्रोष्यति गमिष्यति गुणानिति वा द्रव्यं ।

द्रव्य उसे कहते हैं, जिसका गुणों के द्वारा ज्ञान होता रहे अथवा गुणों से द्रव्य का ज्ञान होने वाला है अथवा होगा, ऐसा अर्थ संभावित है।¹⁰³

पंचास्तिकाय में दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है—

द्वयं सल्लकखणयं उत्पादव्यधुवतसंजुतं,

गुणपज्जयस्सयं पा जं तं भण्णति सव्वण्हू ।¹⁰⁴

इसमें आचार्यश्री ने द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से किया है। जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है और गुण पर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ देव ने द्रव्य कहा है।

टीकाकार दिगम्बराचार्य जयसेन इन तीनों लक्षणों की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि—द्वयं सल्लकखणयं—द्रव्य का लक्षण सत् है। यह कथन बौद्धों जैसे शिष्यों को समझाने के लिए द्रव्यार्थिक नय से किया है। उत्पादव्ययधुवतसंजुतं—द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सहित है। यह लक्षण सांख्य और नैयायिक जैसे शिष्यों के बोध के लिए पर्यायार्थिक नय से किया गया है। गुणपज्जयासयं वा—द्रव्य गुण पर्यायों का आधारभूत है। यह लक्षण भी सांख्य और नैयायिक जैसे शिष्यों को समझाने के लिए पर्यायार्थिक नय से किया गया है। राजवार्तिक में ऐसा कहा गया है कि जो इन तीन लक्षणों वाला हो, वह द्रव्य है। ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण में शास्त्रों को सम्मान देते हुए, आगमों को आदर देते हुए तथा सिद्धसेन दिवाकर एवं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैसे आगमज्ञ, महातार्किक महापुरुषों को साक्षीभूत बनाते हुए अपनी बुद्धि, वैभव को विकृत्स्वर करते हुए द्रव्य का लक्षण सलिखित किया है। उन्होंने द्रव्य को धर्म से, धर्मी से, धर्मधर्मी से, मुख्य और गौणभाव से तथा विशेषण और वैशिष्ट्य से घटाया है।

वस्तु पर्यायवद द्रव्यम्।¹⁰⁵

जो पदार्थ पर्याय के समान परिणत होता है, वह द्रव्य है, क्योंकि पर्याय से रहित द्रव्य का रहना असंभवित है। अतः धर्म से, धर्मी से और धर्मधर्मी से जो युक्त हो, वह द्रव्य है अथवा गौण और मुख्य से जो संयुक्त हो, वह द्रव्य है एवं द्रव्य विशेषण और वैशिष्ट्य से विशिष्ट होता है।

अथवा द्रव्यस्यलक्षणे स्थिति स्थिति यह द्रव्य का लक्षण है। उपाध्यायजी ने स्थिति को द्रव्य का लक्षण स्वीकारा है और उन्होंने अपनी टीका में यह भी लिखा है कि कोई आचार्य गति भी द्रव्य का लक्षण स्वीकारते हैं, जैसे कि—

गई परिणयं गई चेव णियमेण दवियमिच्छन्ति।¹⁰⁶

कुछ लोक नियम से गति परिणत को ही द्रव्य मानते हैं अर्थात् द्रव्य की गति अर्थात् परिवर्तन वह द्रव्य निश्चय से कहलाता है।

तर्क निष्णात महोपाध्याय यशोविजय म.सा. ने भी द्रव्य गुण पर्याय के रास में द्रव्य का लक्षण इसी प्रकार प्रस्तुत किया है—

गुण पर्यायतणू जे भाजन एकरूप त्रिहुकालि रे।

तेह द्रव्य निज जाति कहिइ जस नहीं भेद विचलाई रे।¹⁰⁷

प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण और पर्याय की त्रिकालिक सत्ता शक्ति से हमेशा सम्पन्न रहता है। अर्थात् किसी भी द्रव्य के स्वयं के गुण से विच्छेद नहीं होते हैं, फिर भी व्यवहार-नय से परस्पर संयोग, संबंध होने से परपरिणामी रूप है। जो जगत् में अनेक चित्र, विविध परिणाम प्रत्यक्ष दिखते हैं फिर भी कोई भी पुद्गलद्रव्य कभी भी जीव रूप नहीं बनता। उसी प्रकार जीव द्रव्य पुद्गल रूप नहीं बनता। अतः जो-जो निज-निज जाति अनेक जीवद्रव्यों, अनन्ता पुद्गलद्रव्यों तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल छहों ही द्रव्य हमेशा अपने-अपने गुण-भाव में परिणमित होते हैं। फिर भी व्यवहार से संसारी जीवों की कर्म-संयोग से जो पुद्गल परिणामिता है, वह संयोग संबंध से ही है।

द्रव्य की इसी प्रकार की व्याख्या उत्तराध्ययन सूत्र,¹⁰⁸ न्यायविनिश्चय,¹⁰⁹ परमात्मप्रकाश¹¹⁰ में भी मिलती है।

भगवती सूत्र की टीका में महातार्किक सिद्धसेन दिवाकरसूरि द्रव्य के विषय में सर्वज्ञ परमात्मा को प्रणेता कहकर द्रव्य का लक्षण निर्दिष्ट करते हैं—

एतत् सूत्रसंवादि सिद्धसेनाचार्योऽपि आह उप्पश्रमाण कालं उप्पण्णं विगयय विगच्छन्तं दंवियं
पण्णवयंतो त्रिकालविसयं विसेसई।¹¹¹

सूत्रसंवादि आचार्य सिद्धसेन अपने पूर्वजों अर्थात् तीर्थंकरों को द्रव्य के प्ररूपक कहकर द्रव्य की विशिष्टता सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि मैं नहीं लेकिन सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान कहते हैं—द्रव्य त्रिकाल विशेष है। अर्थात् द्रव्य भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों में अवस्थित रहता है, वह द्रव्य है।

श्रीभरावश्यक सूत्र निर्युक्ति की अवचूर्णि में द्रव्यलक्षण—

अतो भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणमिति द्रव्य लक्षण सम्भवात् द्रव्यमिति।¹¹²

भूत और भविष्य के भाव का जो कारण है, वह द्रव्य कहलाता है।

बहुश्रुतदर्शी आचार्य हभिद्रसूरि ने नन्दीवृत्ति,¹¹³ अनुयोग हरिभद्रीय वृत्ति¹¹⁴ में भी इस प्रकार का लक्षण किया है।

द्रव्यलक्षणं चेद-भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके।

तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथिदम॥

लोक में जो भूत, भविष्य के भाव का कारण हो, ऐसे चेतन अथवा अचेतन को तत्वज्ञ पुरुषों ने द्रव्य कहा है।

आवश्यकहारिभद्रीय¹¹⁵ और नन्दीसूत्र¹¹⁶ में भी यही लक्षण मिलता है।

विशेषावश्यकभाष्य में द्रव्य के लक्षण को संप्रस्तुत करते हैं—

उप्यायविगतिओऽवि दव्वलकरवणे।¹¹⁷

उत्पाद, नाश और ध्रुव से जो युक्त हो, वह द्रव्य कहलाता है।

आचार्य सिद्धसेनसूरि ने सन्मतितर्क में द्रव्य का लक्षण बताया है—

दव्वं पज्जवविजुअं दव्वविउता य पज्जवा नत्थि।

उप्यायद्विइ भंगा हंदि दवियलकरवणयं एयं॥¹¹⁸

पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय कभी नहीं हो सकते। अतः उत्पत्ति, नाश और स्थिति अर्थात् तीनों धर्मों से संयोजित द्रव्य का लक्षण है, जो हमारा अनुभूत विषय है।

लोक तत्त्व निर्णय में आचार्य हरिभद्र ने द्रव्य सम्बन्धी निरूपण किया है—

मूर्ताऽमूर्तं द्रव्यं सर्वं न विनाशाभेति नान्यत्वम्।

तद्रैत्योत्पाय पर्यायविनाशी जैनानाम्॥¹¹⁹

विश्व का विराट् स्वरूप षड्द्रव्यात्मकमय है, जो मूर्त अथवा अमूर्त दोनों के संग से संस्थित है। जगत् में रूपी अथवा अरूपी कोई भी मूल द्रव्य पदार्थ कभी भी सर्वथा विनाश नहीं होता है अर्थात् जगत् में से उसे द्रव्य का सर्वथा अभाव नहीं होता है तथा मूल द्रव्य सम्पूर्ण परिवर्तित होकर अन्य द्रव्य रूप में नहीं होता है, जैसे—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय कभी नहीं बनता है।

यहाँ द्रव्य का रूपी और अरूपी होना वह उसका स्वयं का लक्षण है। यदि वैसा लक्षण वस्तु का न हो तो वह वस्तु को वन्ध्यासूत्र के समान अविद्यमान जानना अर्थात् फिर उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, जैसे कि—

द्रव्यमरूपमरूपि च यदिहास्ति हि तत्स्यलक्षणे सर्वम्।

तल्लक्षणं न यस्य तु तधन्ध्यापुतवद ग्राहयम्॥¹²⁰

द्रव्य विषयक विमर्श स्याद्वाद सिद्धान्त में बहुत ही विलक्षण रहा है। सिद्धान्त सूत्रकार एवं श्रुतधर भगवान उमास्वाति का द्रव्य प्ररूपण प्रज्ञामय रहा है। इसी मान्यता को महत्त्व देते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—

गुणवर्यायवद द्रव्यम्॥¹²¹

गुण और पर्याय दोनों जिसमें रहे, उसको द्रव्य कहते हैं अथवा गुण और पर्याय जिसके या जिसमें हो, उसको गुण पर्यायवत् द्रव्य समझना चाहिए। लेकिन इसमें यह जानना आवश्यक होता कि द्रव्य में

गुण की सत्ता शक्ति तीनों काल में स्थित होती है। परन्तु उस सत्ता शक्ति का भिन्न-भिन्न परिणमन रूप जो पर्याय है वह तो कुछ समय मात्र ही होता है, क्योंकि द्रव्य में गुण सहभावी अर्थात् यावत् द्रव्यभावी होता है और पर्याय क्रमभावी होने से हमेशा एक स्वरूप में नहीं रहता है। फिर भी द्रव्य, गुण, पर्याय—ये तीनों द्रव्यत्व स्वरूप में तो एक ही हैं। उनका परस्पर सर्वथा भेद नहीं है तथा सर्वथा अभेद भी नहीं है। महोपाध्याय यशोविजय ने भेदाभेद को द्रव्य गुण पर्याय के रास में दृष्टान्त देकर समझाया है, जैसे कि मोती की माला रूप द्रव्य में मोती पर्याय स्वरूप है, क्योंकि उस मालारूप द्रव्य में मोती भिन्न-भिन्न अनेक छोटे-बड़े होते हैं, जबकि सभी मोतियों की शुक्लता, उज्वलता रूप गुण तो उस मोती को माला में अभिन्न रूप से है ही। इससे स्पष्ट बोध होता है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है तथा प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण-पर्याय से युक्त है। उसमें पर्याय को सहभावी न कहकर क्रमभावी कहा है। उसमें द्रव्य किसी एक पर्याय स्वरूप में हमेशा नहीं रहता है। दूसरी रीति से विचार करें तो पुद्गल रूप से मोती को द्रव्य और माला को पर्याय तथा उज्वलता गुण तो वही रहता है। इसी प्रकार कंगन, अंगूठी, बाजुबन्ध आदि अनेक पर्याय होने पर भी गुण हमेशा वही रहता है। पर्याय अनन्त हो सकते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने द्रव्य को अनेक पर्याय से युक्त ललितविस्तरा में कहा है—

एकपर्यायानन्तपर्यायमर्थ ।¹²³

पदार्थ द्रव्यरूप है जो त्रिकाल स्थिर तथा आश्रय व्यक्ति रूप से एक है और अनन्त पर्याय से युक्त है अर्थात् पर्याय उसके अनन्त हो सकते हैं तथा पर्याय भी क्रम से प्राप्त होने के कारण क्रमभावी कहा है, जबकि मोती में तथा विविध पर्यायों में मोती की शुक्लता रूप गुण तो सर्वदा सर्व पर्यायों में अवस्थित ही रहता है। उसी से सभी द्रव्य अपनी-अपनी गुणशक्ति से हमेशा नित्य और विविध परिणामी की अपेक्षा से अनित्य है।

कुछ अन्य दर्शनकार द्रव्य, गुण और पर्याय को भिन्न-भिन्न मानते हैं। वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कभी भी द्रव्य पर्यायरहित नहीं होता है तथा पर्याय द्रव्य से रहित नहीं रह सकता। गुण तो द्रव्य के साथ सहभावी रहता है। अर्थात् द्रव्य हमेशा अपने-अपने गुणों और पर्यायों के त्रिकालिक समुदाय रूप है। तभी तत्त्वार्थकार श्री उमास्वाति ने गुणपर्यायवद द्रव्यम् सूत्र सूत्रित किया है। इससे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि द्रव्य अपनी अनेक गुण सत्ता से सदा काल नित्य होने पर भी विविध स्वरूप से परिणामी होने के कारण अनित्य भी घटित होता है और तभी द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रुव्य रूप में लक्षित होता होगा।

द्रव्य और पर्याय से गुण भिन्न नहीं है। यदि भिन्न होते तो शास्त्र में ज्ञेय को जानने के लिए ज्ञान स्वरूप में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नय की व्याख्या उपलब्ध होती है तो उसके साथ गुणार्थिक नय की व्याख्या भी होनी चाहिए। लेकिन वह तो शास्त्र में कहीं भी नहीं मिलती है। अतः गुण को द्रव्य से तथा पर्याय से अलग स्वतंत्र मानना युक्त नहीं है तथा विशेष यह भी जानने योग्य है कि आत्मद्रव्य के गुण पर्याय में गुण ध्रुवभाव में भी परिणाम पाते हैं जबकि पुद्गल द्रव्य के वर्णादि गुण तो अध्रुव भाव में परिणाम पाते हैं।

गुणों को ही पर्याय का उपादान कारण मानें तो भी युक्त नहीं है, क्योंकि फिर तो द्रव्यत्व का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा और इससे तो इस जगत् के सभी परिणामों को केवल गुणपर्याय ही मानने पड़ेंगे। परन्तु ऐसा मानने से तो द्रव्यत्व के रूप, गुण, पर्याय का आधार तत्त्व का ही अपलाप हो जायेगा,

जिससे सर्वत्र केवल एकान्तिक और आत्यन्तिक तथा तत्त्वतः द्रव्य नित्य होता है, जो त्रिकालिक सम्पूर्ण गुण तथा पर्याय का आधार है। अतः द्रव्य, गुण और पर्याय को कथंचित् भेदाभेदता शास्त्रार्थ से युक्त है।

द्रव्य, गुण, पर्याय रास में उपाध्याय यशोधियजय ने एक गाथा में अन्य दर्शनों के साथ जैन दर्शन की मान्यता को स्पर्श कर दी है—

भेद भणे नैयायिकोजी, सांख्य अभेद प्रकाश।

जैन उभय विस्ताराजी पाने सुजशविलास।।²⁴

कुछ मत्यांध दार्शनिक जगत् में प्रत्येक द्रव्य को नया द्रव्य, गुण, पर्याय को भी सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं, जिसमें नैयायिक आदि तथा कुछ सांख्यादिक भिन्न-भिन्न द्रव्यों को तथा द्रव्य के स्वभाविक और वैभाविक परिणामन को सर्वथा अभिन्न स्वीकारते हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षपाती एक-दूसरे के प्रति मत्सर ईर्ष्या भाव वाले होते हैं जबकि जैन प्रत्येक द्रव्य को एक-दूसरे से कथंचित् भिन्न-भिन्न उत्पाद, व्यय, ध्रुव परिणामीत्व तथा प्रत्येक द्रव्य को भी अपने गुण-पर्याय से भी कथंचित् भिन्नाभिन्न तथा नित्यानित्य स्वरूपी मानते हुए सर्वत्र यथातथ्य भाव से रहते समाधि रूप परमात्म पद को प्राप्त करता है।

द्रव्यों का वर्गीकरण

द्रव्य व्यवस्था, जैन विज्ञान का विलक्षण आविष्कार है। द्रव्य के कितने भेद हो सकते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसके उत्तर अनेक रूपों में सामने आते हैं।

सामान्य दृष्टि से तो द्रव्य एक है, वही सत् है, यही तत्त्व है और यही महासत्ता भी है। सत्ता सामान्य की दृष्टि से द्रव्य के जड़-चेतन, नित्य-अनित्य, रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त, गुण-पर्याय, सामान्य-विशेष सब एक है।

विशेष दृष्टि से भगवतीजी²⁵ तथा अनुयोगसूत्र में द्रव्य के दो भेद उल्लिखित हैं—

कइविहाणं भंते? दव्वा पण्णता? गोयमा।

दुविहा पण्णता ते जहा-जीवदव्वाय अजीवदव्वा य।

भगवती और अनुयोगद्वार सूत्र में गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन! द्रव्य के कितने भेद हैं? भगवान ने कहा—हे गौतम! द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

अजीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी अजीवद्रव्य और अरूपी अजीवद्रव्य। पुनः अरूपी अजीवद्रव्य के दस भेद इस प्रकार हैं—1. धर्मास्तिकाय, 2. धर्मास्तिकाय के देश, 3. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, 4. अधर्मास्तिकाय, 5. अधर्मास्तिकाय के देश, 6. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, 7. आकाशास्तिकाय, 8. आकाशास्तिकाय के देश, 9. आकाशास्तिकाय के प्रदेश, 10. काल।²⁶

भगवती में सभी द्रव्य छः प्रकार से बताये हैं—

कतविहा णं भंते! सव्व दव्वा पन्नता! गोयमा! छव्विहा सव्वरव्वा पन्नता,

ते जहा धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए जाव अघासमए।

द्रव्य छः प्रकार के हैं—धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. पुद्गलास्तिकाय, 5. जीवास्तिकाय और 6. काल।²⁷

उत्तराध्ययन सूत्र में छः द्रव्य की प्ररूपणा की गई तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य एकत्व विशिष्ट संख्या वाले हैं तथा पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, काल—ये तीनों द्रव्य अनन्तान्त हैं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।¹²⁸

द्रव्य में सामान्य तथा विशेष गुण भी पाये जाते हैं। द्रव्य नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् तथा वक्तव्य-अवक्तव्य रूप से भी जाना जाता है।

वैशेषिक नैयायिकों ने नव द्रव्य की मान्यता स्वीकारी है, जो जैन दर्शन के द्रव्यवाद से सर्वथा भिन्न है।

अस्तिकाय द्रव्य

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अस्तिकाय दो शब्दों के संयोग से बना है—अस्ति+काय=अस्तिकाय।

अस्तयः प्रदेशाः तेषां कायः संघात-अस्तिकाय ।¹²⁹

अस्ति का अर्थ है—सत्ता, अस्तित्व, विद्यमानता।

काय का अर्थ है—समूह।

अस्तिकाय—अनेक प्रदेशों का समूह।

प्रदेश—आकाश के लघुतम अविभागी अंश को प्रदेश कहते हैं। एक पुद्गल परमाणु आकाश में जितना स्थान व्याप्त करता है, उसे प्रदेश कहते हैं। द्रव्य, प्रदेश प्रचय होने के कारण अस्तिकाय है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं जीव अस्तिकाय रूप द्रव्य है। काल द्रव्य अनस्तिकाय है।

जो बहुप्रदेशी द्रव्य है, वह अस्तिकाय है। जो द्रव्य जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है, वही उसका विस्तार प्रदेश प्रचयत्व (कायत्व) है। कायत्व का अर्थ (Extention) समूह के अतिरिक्त विस्तार भी है। विस्तार सहित जो द्रव्य हैं, वे अस्तिकाय हैं।

अस्तिकाय जैन दर्शन की अपनी निराली अवधारणा है, जिस पर किसी दर्शन का मत-मतान्तर अथवा मान्यता नहीं है।

जो अस्ति शब्द क्रियावाचक बनकर ही सम्प्रचलित था, उसे ही कर्तृत्व में स्वीकृत करने हेतु जैनाचार्यों ने व्याकरण के विद्वानों के वचनों से प्रदेश अर्थ प्रचलित करके नियम को एक अभिनव मोड़ दिया है। ऐसा अस्ति शब्द का अर्थ अन्यत्र सुलभ नहीं है, यह तो जैनाचार्यों की ही दूरदर्शिता है।

अस्ति शब्द को यदि क्रियापरक स्वीकार करते हैं तो केवल वर्तमान से जुड़े रहते हैं। भूतकाल से वंचित बन जाते हैं तथा अनागत से अवाञ्छित रहेंगे। शास्त्र जगत् में उक्ति शब्द निपातनार्थक बनकर त्रिकालबोधक हो जाता है। ऐसा महावैयाकरणों का विनिश्चय है, जैसे कि—

अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः अभूवन भवन्ति, भविष्यन्ति चेति भावना ।¹³⁰

इससे अस्ति त्रिकालबोधक अर्थ वाला सिद्ध होकर जैन वाङ्मय में अस्तिकाय संयोजित हुआ है।

शकटायन न्याय ने भी अस्ति शब्द को निपात अर्थ में वाचित किया है—

अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गचनेस्विति ।¹³¹

आचारांग की टीका में अस्ति शब्द निपातवाचक कहा है—

अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकाल विषय।¹³²

इसी प्रकार अस्ति शब्द निपातवाचक भगवती टीका आदि में भी मिलता है।

यह अस्तिकाय शब्द आगमों में जब जीव-अजीव का निरूपण करते हैं तब धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय आदि में अस्तिकाय शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु उनके स्थान पर द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, जो आगमों की प्राचीनता का प्रतीक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—इन तीनों को देश, प्रदेश, स्कन्ध आदि भेदों में विभक्त किया है किन्तु अस्तिकाय शब्द का अर्थ कहीं पर भी मूल आगम में नहीं दिया गया है।

लेकिन उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगमों की टीकाओं, वृत्तियों, चूर्णियों, अन्य शास्त्र ग्रंथों में अस्तिकाय शब्द को लेकर विचार-विमर्श किया है, जो आज भी सर्वोपरी मान्य है।

अस्ति शब्द का अर्थ प्रदेश होता है इसलिए उनके समूह को अस्तिकाय कहते हैं अथवा अस्ति शब्द निपात है और तीनों कालों का बोधक है। अस्ति वर्तमान में, भूतकाल में और भविष्य में भी रहता है। उन प्रदेशों का समूह अस्तिकाय कहलाता है।

प्रज्ञापना की टीका में अस्ति यानी प्रदेशों का समूह है। कारण की काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग और राशि—ये पर्यायवाची शब्द हैं। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशों का समूह।¹³³

अस्तिकाय प्रदेशों का समूह ऐसी व्याख्या समवायांग टीका,¹³⁴ षड्दर्शन समुच्चय टीका,¹³⁵ जीवाजीवाभिगम टीका,¹³⁶ अनुयोगमलधारीयवृत्ति टीका,¹³⁷ स्थानांग टीका¹³⁸ आदि अनेक आगम ग्रंथों में भी मिलती है।

पंचास्तिकाय में अस्तिकाय की व्याख्या दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार की है—जिनका विविध गुणों और पर्यायों के साथ अपनत्व है, वे अस्तिकाय हैं और उससे तीन लोक निष्पन्न होते हैं।¹³⁹ इसी के तात्पर्य वृत्तिकार आचार्य जयसेन ने अस्तिकाय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है। अस्तिकाय अर्थात् सत्ता, स्वभाव तन्मयत्व स्वरूप है। इसी अस्तित्व और काया शरीर को ही कहते हैं। बहुप्रदेश प्रचय फैले होने से शरीर को ही काय कहते हैं और उन पंचास्तिकाय द्वारा तीनों लोकों की उत्पत्ति होती है अर्थात् विश्व व्यवस्था में इनका महत्त्वपूर्ण योग है।¹⁴⁰

अस्तिकाय को लेकर उत्तरवर्ती शास्त्रों में किसी अन्य दार्शनिकों से चर्चा हुई हो, ऐसा प्रायः जानने में नहीं आया है। लेकिन जैनागमों का पंचम व्याख्या-प्रज्ञप्ति, जिसे भगवतीजी नाम से संबोधित करते हैं, उसमें अन्य दर्शनीयों का महावीर स्वामी, गौतम स्वामी एवं मुद्गक श्रावक के साथ अस्तिकाय की चर्चा का कुछ स्वरूप मिलता है, वह इस प्रकार है—

भगवती के 18वें शतक के सातवें उद्देशक में मुद्गक श्रावक का अन्य तीर्थियों से वाद का प्रमाण मिलता है। वह इस प्रकार है—

उस समय राजगृह नाम का नगर था। गुणशील चैत्य था। उसमें पृथ्वी शिलापट्ट था। गुणशील चैत्य के समीप बहुत अन्य तीर्थक निवास करते हैं, यथा—कालादेयी शैलोदायी इत्यादि उपरोक्त यह कैसे जाना जा सकता है।

उस राजगृह नगर में धनाढ्य यावत् किसी से भी पराभूत नहीं होने वाला जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, मुद्गुक नाम का श्रमणोपासक रहता था। अन्यदा किसी दिन श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी वहां पधारे। समयसरण की रचना एवं बार पर्वदा उनकी पर्युपासना करने लगी। भगवान महावीर का आगम सुनकर मुद्गुक श्रावक का मन मयूर नृत्य करने लगा। स्नान आदि से निवृत्त होकर सुन्दर अलंकारों से अलंकृत बनकर प्रसन्नचित्त होकर घर से निकला और पैदल चलता हुआ उन अन्यतीर्थिकों के समीप होकर जाने लगा। उन अन्यतीर्थिकों ने मुद्गुक श्रावक को जाता हुआ देखा और परस्पर एक-दूसरे से कहा—हे देवानुप्रिय! वह मुद्गुक श्रावक जा रहा है। हमें वह अविदित एवं असंभव तत्त्व पूछता है तो देवानुप्रिय! हमें मुद्गुक श्रमणोपासक को पूछना उचित है। ऐसा विचार कर तथा परस्पर एकमत होकर वे अन्यतीर्थिक मुद्गुक श्रमणोपासक के निकट आये और मुद्गुक श्रमणोपासक से इस प्रकार पूछा—

तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर पंचि अस्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं। यह कैसे माना जाए?

मुद्गुक श्रमणोपासक ने कहा—वस्तु के कार्य से उसका अस्तित्व जाना और देखा जा सकता है। बिना कारण के कार्य दिखाई नहीं देता।

अन्यतीर्थिकों ने मुद्गुक श्रमणोपासक पर आक्षेप पूर्वक कहा—हे मुद्गुक! तू कैसा श्रमणोपासक है कि जो तू पंचास्तिकाय को जानता, देखता नहीं है, फिर भी मानता है।

मुद्गुक श्रमणोपासक ने अन्यतीर्थिकों से कहा—हे आयुष्यमान्! वायु बहती है, क्या यह ठीक है?

उत्तर—हाँ यह ठीक है।

प्रश्न—हे आयुष्यमान्! बहती हुई वायु का रूप तुम देखते हो?

उत्तर—वायु का रूप दिखाई नहीं देता है।

प्रश्न—हे आयुष्यमान्! गन्ध गुण वाले पुद्गल हैं।

उत्तर—हाँ, हैं।

प्रश्न—आयुष्यमान्! तुम उन गन्ध वाले पुद्गलों के रूप को देखते हो?

उत्तर—यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—हे आयुष्यमान्! क्या तुम अरणी की लकड़ी में रही हुई अग्नि का रूप देखते हो?

उत्तर—यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—हे आयुष्यमान्! समुद्र के उस पार पदार्थ हैं?

उत्तर—हाँ, हैं।

प्रश्न—हे आयुष्यमान्! तुम समुद्र के उस पार रहे उन पदार्थों को देखते हो?

उत्तर—यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—हे आयुष्यमान्! क्या तुम देवलोक में रहे हुए पदार्थों को देखते हो?

उत्तर—यह अर्थ समर्थ नहीं है।

हे आयुष्यमान्! मैं, तुम या अन्य कोई भी छद्मस्थ मनुष्य जिन पदार्थों को नहीं देखते, उन सभी का अस्तित्व नहीं माना जाए तो तुम्हारी मान्यतानुसार तो लोक के बहुत से पदार्थों का अभाव हो जायेगा। इस प्रकार मुद्गुक श्रमणोपासक ने उन अन्यतीर्थियों का पराभव किया और निरूत्तर किये। उन्हें निरूत्तर

- करके वह गुणशील उद्यान में श्रमण भगवान महावीर स्वामी की सेवा में आया और पाँच प्रकार के अभिगम से श्रमण भगवान महावीर स्वामी की पर्युपासना करने लगा।

भगवान महावीर स्वामी ने—हे मुद्गक! इस प्रकार सम्बोधित कर कहा—तुमने अन्य तीर्थिकों को ठीक उत्तर दिया है। हे मुद्गक! जो व्यक्ति बिना जाने, बिना देखे और बिना सुने किसी अदृष्ट, अश्रुत, असम्यक्, अविज्ञान अर्थ हेतु और प्रश्न का उत्तर बहुत से मनुष्यों के बीच में कहता है, बताता है, वह अरिहन्तों की अरिहन्त कथित धर्म की, केवलज्ञानियों की और केवलिप्ररूपित धर्म की आशातना करता है। हे मुद्गक! तुमने अन्यतीर्थिकों को यथार्थ उत्तर दिया है।

भगवान की वाणी को सुनकर मुद्गक श्रमणोपासक अत्यन्त आनन्द-विभोर बन गया और श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करके, न अति दूर एवं न अति समीप पर्युपासना करने लगा। भगवान महावीर ने मुद्गक श्रावक को एवं परिषद् को मधुर छवि में देशना सुनाई। तत्पश्चात् पर्वदा का विसर्जन हुआ। उस मुद्गक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान महावीर से धर्मोपदेश सुना, प्रश्न पूछे, अर्थ जाने और खड़े होकर भगवान को वन्दन करके लौट गया।¹⁴

इस प्रकार मुद्गक श्रावक भगवान महावीर का ज्ञानवान, प्रज्ञावान, श्रद्धावान श्रावक था तथा ज्ञान के बल पर अन्य दर्शनियों के हृदय में भी तत्त्व की श्रद्धा का स्थान स्थिर करवा दिया।

अतः अस्तिकाय भगवान महावीर की अद्भुत अनुपम देन है तथा जिससे सम्पूर्ण लोक की संरचना व्यवस्थित बनती है और इसलिए भगवान ने कहा कि यह लोक भी पंचास्तिकायरूप है।

आधुनिक युग में विज्ञान ने अत्यधिक प्रगति की है। उसकी अपूर्व प्रगति विज्ञानों को घमत्कृत कर रही है। विज्ञान ने भी दिक्, काल और पुद्गल—इन तीन तत्त्वों को विश्व का मूल आधार माना है। इन तीनों तत्त्वों के बिना विश्व की संरचना सम्भव नहीं है। आइन्सटाईन ने सापेक्षवाद के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दिक् और काल—ये गति-सापेक्ष हैं। गति सहायक द्रव्य जिसे धर्म द्रव्य कहा गया है, विज्ञान ने इसे ईथर कहा है। आधुनिक अनुसंधान के पश्चात् ईथर का स्वरूप भी बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका है। अब ईथर भौतिक नहीं, अभौतिक तत्त्व बन गया है, जो धर्मद्रव्य की अवधारणा के अत्यधिक सन्निकट है। पुद्गल जो विश्व का मूल आधार है, भले ही वैज्ञानिक उसे स्वतंत्र द्रव्य न मानते हों, किन्तु वैज्ञानिक धीरे-धीरे नित्य नूतन अन्वेषण कर रहे हैं। संभव है कि निकट भविष्य में पुद्गल और जीव का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य करे।

इस प्रकार अस्तिकाय द्रव्य आज सर्वमान्य हो गया है।

निष्कर्ष रूप में उपाध्याय यशोविजय ने द्रव्य, गुण, पर्याय, रस, न्यायालोक, अनेकान्त व्यवस्था आदि ग्रंथों में अस्तिकाय विषयक जो विवेचन दिया है, वह विवेचन मान्य है और स्पष्ट है। वह सभी दृष्टि से चित्रित करने योग्य है। इन टीकाओं तथा वृत्तियों में अस्तिकाय का अर्थ प्रदशों का समूह ही स्वीकार किया गया है।

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय

धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य, विश्व स्थिति के मौलिक पारिभाषिक शब्द हैं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द शुभाशुभ के अर्थ में भी लिए जाते हैं। यहाँ इसका प्रयोग स्वतंत्र विश्वरचना के मूलभूत द्रव्यों के रूप में हुआ है।

अंगप्रविष्ट में कहा है—धर्म द्रव्य एक है, लोक व्याप्त है, शाश्वत है, वर्णशून्य है, रसशून्य, गंधशून्य एवं स्पर्शशून्य है। जीव एवं पुद्गल की गति में, क्रिया में सहायक है। धर्मद्रव्य अरूपी, अजीव, शाश्वत लोक व्याप्त द्रव्य है।¹⁴²

धर्म द्रव्य अस्तिकाय¹⁴³ है, क्योंकि वह असंख्य प्रदेश युक्त, परिपूर्ण, निरवशेष है। प्रदेश वस्तु के अविभक्त सूक्ष्मतम अंश को कहते हैं। धर्म द्रव्य का एक परमाणु जितना अंश एक प्रदेश कहलाता है। उन समस्त प्रदेशों की एक वाच्यता धर्मास्तिकाय है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति लोक¹⁴⁴ में जीवों का आगमन, गमन, बोलना, पलकें खोलना, मानसिक, वाचिक एवं कायिक तथा अन्य जितनी भी गतिशील प्रवृत्तियाँ हैं, धर्मद्रव्य के सहयोग से ही सम्पन्न होती है। धर्मास्तिकाय के अभाव में लोक-अलोक की व्यवस्था भी नहीं बनती।¹⁴⁵

अन्य दार्शनिक परम्पराओं में आकाश आदि पदार्थों का उल्लेख मिलता है, किन्तु गतित्व या स्थितित्व के रूप में कहीं भी स्वतंत्र तत्त्व का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। वैज्ञानिक क्षेत्र में इसकी चर्चा कुछ अंश में मिलती है।

इस चराचर विश्व का अवलोकन करने पर हमें जो कुछ दिखाई देता है, वह दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—जड़ और चेतन। हमें जो पेड़-पौधे, प्राणी और मनुष्यादि दिखाई देते हैं, वे सब चेतन अर्थात् सजीव हैं। उनमें से जब चेतन चला जाता है तब वे अचेतन अर्थात् जड़ हो जाते हैं। अन्य दार्शनिकों ने जितने भी मूलतत्त्व माने हैं, उन सबका समावेश सजीव और निर्जीव—इन दो तत्त्वों में हो जाता है।

लेकिन जैन दार्शनिकों का चिन्तन इस विषय में कुछ और विशिष्ट है। उन्होंने अचेतन के विभिन्न गुणधर्मानुसार उसका भी वर्गीकरण किया है। उन्होंने अनुभव किया कि सचेतन और अचेतन अपने गुणधर्मानुसार कुछ-न-कुछ कार्य करते ही हैं। वे कहीं-न-कहीं स्थिर रहते हैं और उनका अवस्थान्तर होता है। ये स्थानान्तरण करते हैं और कहीं स्थिर होते हैं। सचेतन, अचेतन के इन कार्यों में सहायक होने वाले तत्त्व इनसे भिन्न गुणधर्म वाले हैं। अतः वे मूल तत्त्व हैं। ऐसे और मूलतत्त्व चार हैं। मूलतत्त्व ही मूलद्रव्य है।

जैन चिन्तकों ने मूल छः द्रव्य माने हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव प्रदेशवान् हैं अतः ये अस्तिकाय हैं। काल का कोई प्रदेश नहीं है इसलिए काल अप्रदेशी काय होने से अस्तिकाय नहीं है।

यद्यपि धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और काल का समावेश अजीव तत्त्व में ही होता है फिर भी इनमें से प्रत्येक के गुण, धर्म, कार्य भिन्न-भिन्न होने से मूल द्रव्य माने गए हैं।

यहाँ हमारा मुख्य बिन्दु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के विषय में चिन्तन करना है। यद्यपि दर्शन जगत् में सर्वज्ञ काल, कर्म, सिद्धि आदि विषयों को लेकर सभी दर्शनकारों ने अपनी-अपनी वैभवता के अनुसार चिन्तन-मन्थन प्रस्तुत किया है किन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय यह जैन-दर्शन की मौलिक मान्यता है। इसके विषय में किसी दर्शनकार ने न चर्चा की है और न ही कुछ आलेखन किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि शायद वे लोग इस विषय से अपरीचित, अनभिज्ञ होंगे।

यहाँ धर्म-अधर्म से पुण्य-पाप को अथवा वैशेषिकों के माने हुए गुण-विशेष को नहीं समझना चाहिए किन्तु ये तो अपने आप में स्वतंत्र सत्ता वाले द्रव्य हैं, जैसे कि आगे बताया जायेगा कि पुण्य-पाप तो कर्म के भेद हैं, जिनका वर्णन कर्ममीमांसा में किया जायेगा लेकिन महाप्रज्ञ जैन दर्शनकारों ने तो धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय की एक निरूपण एवं निराली व्याख्या निरूपित की है, जो हमें आगम ग्रंथों में उपाध्याय यशोविजय के ग्रंथों में एवं उत्तरकालीन जैनाचार्यों के साहित्य में स्पष्ट रूप से मिलते हैं, जैसे कि—

जीवानां पुद्गलानां च स्वभावतः एव गति परिणाम परिणतानां तत्त्वभावधारणात् तत्त्वभाव पोषणादधर्म अस्त्यचेह प्रदेशाः तेषां कायः सङ्घातः गुणकाए य निकाए खंधे वग्गे तहेव रासी य इति वचनात् अस्तिकाय प्रदेश संघात इत्यर्था धर्मश्वासौ अस्तिकायस्व धर्मास्तिकायः।¹⁴⁶

अपने स्वभाव से गतिपरिणाम प्राप्त किए हुए जीव और पुद्गलों के गतिस्वभाव को धारण करने, पोषण करने से धर्म कहलाता है तथा अस्ति अर्थात् प्रदेशों उनका काय अर्थात् समूह। कारण कि गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग तथा राशि—ये पर्यायवाची शब्द हैं। अतः अस्तिकाय यानी प्रदेशों का समूह। इससे परिपूर्ण धर्मास्तिकाय रूप अवयवी द्रव्य कहलाता है। अवयवी अर्थात् उस प्रकार का संघातरूप परिणाम विशेष है। परन्तु अवयव द्रव्यों से भिन्न द्रव्य नहीं है। कारण कि भिन्न स्वरूप में उसका बोध नहीं होता है। लम्बाई और चौड़ाई में संघात रूप से परिणाम विशेष को प्राप्त तन्तुओं को लोक में पट के नाम से पुकारते हैं। लेकिन तन्तुओं से भिन्न पट नाम का द्रव्य नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों ने भी कहा—तन्तु आदि से भिन्न पटादि का ज्ञान नहीं होता है परन्तु विशिष्ट तत्त्वादि का ही पटादि रूप में व्यवहार होता है। यही बात अनुयोग हरिभद्रीय¹⁴⁷ तथा अनुयोगमलधारीयवृत्ति¹⁴⁸ से भी है।

गतिसहायो धर्म—गमनप्रवृत्तानां जीवपुद्गलानां गंतौ उदासीनभावेन अनन्यसहायकं द्रव्य धर्मास्तिकाय, यथा—मत्स्यानां जलम्।¹⁴⁹

गति में सहायक होने वाले द्रव्य को धर्म कहते हैं। धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव या पुद्गल किसी भी प्रकार की गतिक्रिया करने में असमर्थ हैं। मछली में गति करने की शक्ति होती है पर पानी के अभाव में वह गति नहीं कर सकती। ट्रेन में चलने की शक्ति है, पर पटरी के अभाव में वह चल नहीं सकती। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के संबंध में जाननी चाहिए। प्राणी और पुद्गल में गति करने की शक्ति है पर वे गतिक्रिया तभी कर सकते हैं, जब उन्हें धर्मास्तिकाय का अनिवार्य रूप से सहयोग प्राप्त हो। यहाँ एक बात और समझनी चाहिए कि वह किसी को गति करने के लिए प्रेरित नहीं करता। हाँ, कोई उसका सहयोग ले तो वह इनकार भी नहीं करता। मध्यस्थ भाव से वह सहयोगी बनता है। इसलिए धर्मास्तिकाय को जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी के रूप में माना गया है—

गति लक्षणो धर्मास्तिकाय।¹⁵⁰

उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—धर्मास्तिकाय द्रव्य गति लक्षण है अर्थात् गति वह धर्मास्तिकाय का लक्षण है। धर्मास्तिकाय का स्वीकार अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उनका साधक आगम प्रमाण होने के साथ अनुमान प्रमाण भी है। जैसे जीवादि द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य विद्यमान है, क्योंकि गतिपरिणत होने के बाद भी जीव एवं पुद्गल द्रव्य का अलोक में आगमन अन्यथा अनुपान्न है। अगर धर्मास्तिकाय

नाम का कोई द्रव्य न होता तो जीव एवं पुद्गल का गतिपरिणत करते अलोक में भी कभी-कभी चले जाते। किन्तु ऐसा नहीं होता है। जीव एवं पुद्गल द्रव्य रात-दिन गति करने के बाद भी 14 राजलोक के बाहर अलोकाकाश में नहीं जा सकता है। इसलिए वहाँ जीव एवं पुद्गल की गति नहीं होती है। धर्मास्तिकाय द्रव्य राजलोक तक ही सीमित है इसलिए जीव एवं पुद्गल की गति भी 14 राजलोक में ही होती है।¹⁵¹

धर्मास्तिकाय के प्रतिपक्ष अधर्मास्तिकाय है? धर्मद्रव्य की तरह अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। इसका अस्तित्व भी लोकाकाश तक ही सीमित है। अधर्म द्रव्य भी अभौतिक है, अपरामाणाविक है। किसी से निर्मित नहीं है, अनादि-अनन्त है। यह अमूर्तिक अरूपी द्रव्य है तथा वर्णशून्य, गंधशून्य, रस-स्पर्श शून्य एक द्रव्य है, अखण्ड है, असंख्यात प्रदेश युक्त है। यह द्रव्य चेतन एवं अचेतन पदार्थों को ठहरने से स्थिर होने में निमित्तभूत द्रव्य है, जैसे—

स्थिति सहायोऽधर्मः स्थित्य साधारण सहायोऽधर्माः।¹⁵²

स्थानगतानां जीवपुद्गलानां स्थितौ उदासीनभावेन

अनन्यसहायकं द्रव्य अधर्मास्तिकायः यथा पथिकानां छाया।

जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होने वाले द्रव्य को अधर्म कहते हैं। जिस प्रकार धर्म जीव व पुद्गलों की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक तत्त्व अधर्म है।

अधर्म द्रव्य के सहायदान को समझने के लिए एक परंपरित दृष्टान्त, उदाहरण है—वृक्ष की घनी छाया एवं थका हुआ मुसाफिर। वृक्ष की छाया में प्रवासी जाकर रुक जाता है। वृक्ष, मुसाफिर से पहले भी था, बाद में भी रहेगा। वृक्ष ने प्रवासी को रोका नहीं, क्योंकि वह प्रेरक शक्ति नहीं है। सिर्फ रुकने वाले के निमित्त बन सकता है।

उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—

स्थितिलक्षणोऽधर्मास्तिकायः।¹⁵³

अधर्मास्तिकाय का लक्षण है—स्थिति। जीव एवं पुद्गल की स्थिति क्रिया प्रत्ये अधर्मास्तिकाय सहकारी कारण है। अधर्मास्तिकाय की सिद्धि से प्रमाण विद्यमान है। अगर अधर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य न होता तो जीव एवं पुद्गल की स्थिति संभव न होती। तब पूरे लोकाकाश में जीव एवं पुद्गल गति करने ही रहता पर ऐसा नहीं होता है। अलोक में जीव एवं पुद्गल में गति ही नहीं है तो स्थिति का तो प्रश्न ही नहीं रह सकता। अतः अधर्म तत्त्व भी लोकाकाश यानी 14 राजलोक तक ही सीमित है।¹⁵⁴

स्थिर परिणाम को प्राप्त किये हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति परिणाम को अवलम्बन अमूर्त असंख्यात प्रदेशों का समूह अधर्मास्तिकाय है। जीवाजीवाभिगम टीका,¹⁵⁵ समवायांगवृत्ति,¹⁵⁶ में इसी प्रकार की व्याख्या मिलती है। प्रदेश रूप में असंख्यात प्रदेशात्मक होने पर भी द्रव्यार्थ रूप से एकत्व होने से धर्मास्तिकाय एक है।

धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का लक्षण एवं इन दो द्रव्यों से जीव को क्या लाभ होता है, वो भगवतीसूत्र में इस प्रकार मिलता है।

धर्मास्तिकाय से जीवों का आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष आँखें खोलना, मनयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार दूसरे जितने भी चलभाव गमनशील भाव हैं, वे सब धर्मास्तिकाय के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिरूप है—

गइलक्खणे णं धम्मत्थिकाए ।

अधर्मास्तिकाय से जीवों का स्थान, निषीदन, सोना, मन को एकाग्र करना आदि तथा इसी प्रकार से अन्य जितने भी स्थित भाव हैं, वे सब अधर्मास्तिकाय को प्रवृत्त होते हैं। अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थितिरूप है—

ठाणे लक्खणे णं अहम्मत्थिकाए ।¹⁵⁷

इसी प्रकार का लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र,¹⁵⁸ उत्तराध्ययन बृहद् टीका,¹⁵⁹ स्थानांग,¹⁶⁰ स्थानांगवृत्ति,¹⁶¹ प्रज्ञापना टीका,¹⁶² बृहद् द्रव्यसंग्रह,¹⁶³ पंचास्तिकाय,¹⁶⁴ प्रशमरति,¹⁶⁵ अनुयोगमलधारीयवृत्ति,¹⁶⁶ जीवाजीवाभिगमवृत्ति¹⁶⁷ आदि में मिलता है।

पाँच द्रव्यों में से धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्य प्रदेश हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्य असंख्यात असंख्य है। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने भी कहा है—

असंख्येया प्रदेशा धर्माधर्मयोः ।¹⁶⁸

प्रदेश शब्द से आपेक्षिक और सबके सूक्ष्म परमाणु का अवगाह समझना चाहिए। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय असंख्यात प्रदेशी होने पर भी अखण्ड है, क्योंकि उसके समान जाति-गुण वाला द्रव्य अन्य कोई भी नहीं है तथा ये निष्क्रिय हैं, जैसे कि कहा—

निष्क्रियाणी च ।¹⁶⁹

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, अपर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श, अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित और लोक का अंशभूत द्रव्य है अर्थात् पंचास्तिकाय लोक का एक अंश है। वह संक्षेप पाँच प्रकार का है, जैसा कि—

द्रव्य की दृष्टि से—ये दोनों द्रव्य एक अखण्ड स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—ये दोनों समस्त लोक में व्याप्त समरूप सातत्यक के रूप में हैं। इनका अस्तित्व केवल लोक-अलोक तक सीमित है। अलोक आकाश में इसका अभाव है। लोक आकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश इनके हैं। संख्या की दृष्टि से ये प्रदेश असंख्यात हैं।

काल की दृष्टि से—इनका अस्तित्व अनादि अनन्त और अनन्त है अर्थात् शाश्वत है।

भाव अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से—ये अमूर्त (वर्ण आदि गुणों से रहित), अभौतिक और चैतन्य रहित (अजीव) तथा स्वयं अगतिशील हैं।

गुण या लक्षण की दृष्टि से—धर्म द्रव्य, गति सहायक तथा अधर्म द्रव्य स्थिति सहायक हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियाँ हैं—

1. गति स्थिति निमित्तक द्रव्य,
2. लोक-अलोक की विभाजक शक्ति।

कार्य कारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक है—उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है, जो स्वयं कार्यरूप में परिणत हो जाए तथा निमित्त कारण वह है, जो कार्य के निष्पन्न होने में सहायक हो।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त कारण के रूप में माना जाता है तो भी यह युक्त नहीं होता है, क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। यह आवश्यक है कि गति माध्यम के रूप में जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इसी प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पड़ती है, जो स्वयं गतिशून्य हो, समस्त लोक में व्याप्त हो, अलोक में न हो।

दूसरे पदार्थों की गति में सहायक है, ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यह बात निम्न श्लोक के माध्यम से पाई जाती है—

धर्माधर्मविभुत्वात् सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात् ।
 नालोकः कश्चिन् स्थान्न च समस्तभेदवर्णानाम् ॥
 तस्माद् धर्माधर्मा अवगाढो व्याप्य लोकखं सर्वम् ।
 एवं हि परिच्छिन्नः सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात् ॥¹⁷⁰

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डालें तब भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरी ने इसका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—इन दो द्रव्यों के बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती है।

लोक है इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि यह इन्द्रिय गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व-नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक का अस्तित्व अपने आप मान्य हो जाता है। तर्कशास्त्र का नियम है कि जिसका वाचक पर व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे—अघट घट का प्रतिपक्षी है। इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है।

धर्म और अधर्म को लोक और अलोक का परिच्छेद मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने?

तम्हा धम्माधम्मा लोगपरिच्छेयकारिणो जुता ।
 इयस्हागासे तुल्ले, लोगालोगेस्ति को भेओ ॥¹⁷¹

ये धर्म और अधर्म द्रव्य पुण्य और पाप के पर्यायवाची नहीं हैं, स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यात प्रदेश हैं अतः बहुप्रदेश होने के कारण इन्हें अतिस्तकाय कहते हैं और इसलिए इनका धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय रूप में निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्य के मूल परिणामी स्वभाव के अनुसार पूर्व पर्याय को छोड़ने और नई पर्यायों को धारण करने का क्रम अपने प्रवाही अस्तित्व को बनाये रखते हुए अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति स्थिति निमित्तक और लोक-अलोक विभाजक द्रव्यों के रूप में स्वीकार किये गए हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छः द्रव्यों से बना हुआ यह लोक सीमित है। इस लोक से परे आकाश द्रव्य का अनन्त

समुद्र है, जिसमें धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के अभाव के कारण कोई भी जड़ पदार्थ या जीव गति करने में और ठहरने में समर्थ नहीं है।

आकाशास्तिकाय

आकाशास्तिकाय के विषय में जैन दर्शन की एक अनुत्तर विचारणा संप्राप्त होती है। अन्य दर्शनकारों ने जिसे शून्य बताकर उपेक्षा की, वहीं तीर्थंकर प्रणीत आगमों में उसे उपकारी एवं अपवाहक कहकर सम्मानित किया गया है।

आकाश द्रव्य का विवेचन प्राचीन, प्राच्य एवं पाश्चात्य अभिधारणाओं में छिट-पुट रूप में मिलता है। आकाश द्रव्य जैन दर्शन का मौलिक तत्त्व है। विश्व शब्द की विस्तृत व्याख्या में सभी वास्तविक द्रव्यों का समावेश हो जाता है। उनमें आकाश नामक तत्त्व प्राचीन काल से अब तक दर्शन जगत् एवं विज्ञान जगत् दोनों में बहुत ही रहस्यमय रहा है। सामान्य इन्द्रिय ज्ञान के आधार पर पदार्थों द्वारा किया जाने वाला स्थान का अवगाहन अनुभव किया जा सकता है। यही आकाश नामक तत्त्व के अस्तित्व का आधार बनता है।

लोक प्रकाश¹⁷² में कहा है—आकाश द्रव्य असीम है, अमूर्त है, अखंड है, अनन्तप्रदेशी है। लोक असंख्यात प्रदेशी है और अलोक अनन्तप्रदेशी है। सर्वत्र सामान्य सत्ता के साथ उपस्थित है। यह द्रव्य लोकालोकव्यापी ह¹⁷³ अर्थात् लोक के बाहर भी इसका अस्तित्व है।

आकाश का अवस्थान—आप पूछेंगे—आकाश का अवस्थान कहाँ है? मैं कहता हूँ आकाश कहीं नहीं है और यह प्रतिप्रश्न ही पूर्व प्रश्न का उत्तर है, क्योंकि 'कहाँ है?' यह प्रश्न तभी पूछा जा सकता है, जब पदार्थ कहीं हो और कहीं न हो। पर जो चीज सर्वत्र व्याप्त हो, उसके लिए यह प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता। आकाश समुचे लोक और अलोक में व्याप्त है। आकाश को नीला कहा जाता है पर यह साहित्य की भाषा है, आगम की नहीं। आगम की भाषा में आकाश अरूपी है, फिर वह नीला कैसे हो सकता है? हमें जो आकाश नीला दिखाई देता है, उसका कारण दूरी है। निकट जाने पर वह नीला नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि दिखाई देने वाला वस्तुतः आकाश नहीं, अपितु परमाणु पिण्ड है।

अमूर्त द्रव्य इन्द्रिय ज्ञान का साक्षात् विषय नहीं बन सकता। उसकी स्वीकृति उसके लक्षण के आधार पर होती है। पदार्थों को आश्रय देने वाले द्रव्य के रूप में आकाशास्तिकाय को स्वीकार किया गया है।

आकाश का लक्षण—सर्वप्रथम आकाश शब्द की व्याख्या जैनागमों में हमें इस प्रकार समुपलब्ध हुई है—

भगवती सूत्र की टीका में—

आ मर्यादया—अभिविधिना वा सर्वेऽर्थाः काशन्ते प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम्।¹⁷⁴

जहाँ पर सभी पदार्थ अपनी मर्यादा में रहकर अपने-अपने स्वभाव को प्राप्त करते हैं तथा प्रकाशित होते हैं, वह आकाश है।

जीवाभिगम टीका में चारों ओर से सभी द्रव्य, यथा व्यवस्थित रूप से जिसमें प्रकाशित होते हैं, वह आकाश है।¹⁷⁵

प्रज्ञापना टीका में—मर्यादित होकर स्व-स्वभाव का परित्याग किये बिना जो प्रकाशित होते हैं तथा सभी पदार्थ व्यवस्थित स्वरूप से प्रतिभासित होते हैं, वह आकाश है।¹⁷⁶

उपाध्याय यशोविजय आकाश की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

अवगाहनागुणमाकाशम्।¹⁷⁷

आकाश का गुण अवगाहन है अर्थात् अवगाहना गुण का आश्रय स्वरूप आकाश द्रव्य की सिद्धि होती है।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि दशवैकालिक की टीका में आकाश की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—आकाशन्ते दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तस्मिन् स आकाश।¹⁷⁸

अपने धर्म से युक्त आत्मादि जहाँ प्रकाशित होते हैं, वह आकाश है।

आचार्यश्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में आकाश का लक्षण बताते हुए आकाश की परिभाषा दी है—

अवागाह लक्षणः आकाश।¹⁷⁹

अवगाहः अवकाश आश्रय से एव लक्षणं यस्य स आकाशास्तिकाय।

अवगाह देने वाले द्रव्य को आकाश कहते हैं। अवगाह का अर्थ है अवकाश या आश्रय। आश्रय अवगाह लक्षण वाला है। भगवती सूत्र में इसी बात को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—अवगाह लक्षणोऽग्रासत्थिकायं।¹⁸⁰

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है कि—आकाशस्यावगाहः।¹⁸¹ जो अवकाश देता है, वह आकाश द्रव्य है और यही आकाश द्रव्य का उपकार है। इसका संवादी प्रमाण उत्तराध्ययन सूत्र में भी मिलता है।

भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगोहालक्खणं।¹⁸²

सभी द्रव्यों का भाजन (आधार) आकाश है। वह अवगाह लक्षण वाला है।

स्थानांग,¹⁸³ स्थानांगवृत्ति,¹⁸⁴ न्यायालोक,¹⁸⁵ अनुयोगमलधारियवृत्ति,¹⁸⁶ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति,¹⁸⁷ जीवाभिगम मलयगिरीयावृत्ति,¹⁸⁸ लोक प्रकाश,¹⁸⁹ षड्द्रव्यविचार¹⁹⁰—इन सूत्रों में तथा टीका में आकाश के आधार एवं आकाश के अवगाह गुण को बताया गया है।

आकाश द्रव्य के विषय में संबंधित एक परिसंवाद में तीर्थंकर महावीर से गणधर गौतम ने प्रश्न किया—भंते! आकाश द्रव्य से जीव एवं अजीव को क्या लाभ होता है? अर्थात् किस रूप में आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों का उपकारी कारण है?

गौतम! आकाशद्रव्य जीव एवं अजीव के लिए भाजनभूत है।¹⁹¹ आकाश द्रव्य नहीं होता तो अन्य द्रव्यों का अवस्थान कहाँ होता? पुद्गल द्रव्यों की विचित्रताएँ किस रंगमंच पर अपना अभिनय व्यक्त करती? विश्व भी आकाश द्रव्य के अभाव में आश्रयहीन होता। आकाश ही वास्तविक सत् है। अस्तित्व आदि सामान्य गुणों से युक्त हैं।

अन्य दार्शनिक विचारधाराओं में—आकाश स्वरूप

वेदान्त¹⁹² में आकाश को स्वतंत्र तत्त्व नहीं माना है अपितु परम ब्रह्म का विवर्त माना है। सांख्य दर्शन प्रवृत्ति को उसका आदि-कारण मानता है। यह प्रकृति का विकार है। कणाद महर्षि¹⁹³ ने दिक्

आकाश को नौ द्रव्यों में एक द्रव्य माना है। वह एक है और नित्य है। उपाधि भेद से उसके पूर्व-पश्चिम आदि भाग होते हैं।

अभिधर्म कोश¹⁹⁵ में आकाश का अनावृत्ति के रूप में उल्लेख मिलता है। अनावृत्ति का अर्थ—अनावरणभव अर्थात् जो किसी को न तो आवृत करता है और न किसी से आवृत होता है। आकाश एक धातु है। आकाश धातु का कार्य रूप-परिच्छेद अर्थात् उर्ध्व अधः तिर्यक् रूपों का विभाग करना है।

इस प्रकार आकाश की चर्चा अन्य-अन्य दार्शनिकों ने की है। जैन दर्शन ने उसे एक मौलिक तत्त्व माना है तथा उसके व्यापक स्वरूप का विवेचन भी मिलता है।

आधुनिक विज्ञान में आकाश द्रव्य

आधुनिक विज्ञान में आकाश को शुद्ध द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है, जो सीमित एवं शान्त है। वैज्ञानिकों के सामने भी प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि विश्व सीमित एवं शान्त है तो अनन्त आकाश रूप समुद्र में जड़ पदार्थों के समूह रूप एक द्वीप जैसा है। तो फिर विश्व की सीमा से परे या विश्व के उस पार क्या है? इस विकट प्रश्न का हल जब उन्हें नहीं मिला तो उन्होंने कह दिया कि विश्व अनन्त है, असीम है। आकाश का रहस्य वैज्ञानिकों के लिए अभी भी अनाकलित रहा है।

पाश्चात्य दार्शनिक भी पीछे नहीं हैं। उन्होंने आकाश तत्त्व के लिए बहुत कुछ सोचा है। यूनानी दार्शनिक डिमाक्रिटस¹⁹⁶ एपिक्यरस आदि के अनुसार आकाश असत् नहीं अपितु वास्तविक तत्त्व है, जिसमें भौतिक पदार्थ को रहने का स्थान मिलता है। प्लेटो का कोश तत्त्व भी आकाश के लिए प्रयुक्त हुआ है। अरस्तू ने आकाश को अगतिशील बर्तन माना, जिसमें विविध पदार्थों को आश्रय मिलता है। वह विचार जैन दर्शन के उस सिद्धान्त से मिलता-जुलता है, जिसमें आकाश द्रव्य को भाजन कहा है। वह भाजन ऐसा है, जिसमें सब पदार्थों का समावेश होता है।

जैम्स,¹⁹⁷ मेकविलियम, जो स्कोलेस्टिशिज्म की व्याख्या कर रहे हैं, उसके अनुसार—आकाश एक अभौतिक तत्त्व है, क्योंकि वह रंग तथा तापमान आदि गुणों से रहित तथा सभी पदार्थों का आधार है। उन्होंने आकाश को ज्ञात सापेक्ष वास्तविक माना है। आकाश के तीन रूपों का उल्लेख उन्होंने किया है—

1. वास्तविक आकाश (Real Space)
2. शक्य आकाश (Possible Space)
3. निरपेक्ष आकाश (Absolute Space)।

पदार्थों के द्वारा अवगाहित आकाश वास्तविक आकाश है। पदार्थों के द्वारा अनवगाहित आकाश शक्य आकाश है। उपरोक्त दोनों आकाशों से मिलने वाला आकाश निरपेक्ष आकाश है।

डेकार्ट ने विस्तार को आकाश कहा है, क्योंकि जहाँ भौतिक पदार्थ हैं, वहीं विस्तार अर्थात् आकाश है। शून्य आकाश की संभावना को अशक्य बताया। डेकार्ट के समकालीन, फ्रेंच दार्शनिक पीयरी गेसेण्डी ने शून्य आकाश के अनस्तित्व सिद्धान्त के प्रतिपादन का खंडन करते हुए प्राचीन अणुवादी यूनानी द्वारा प्रतिपादित निरूपण को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि गति-रिक्त आकाश में जो अणुओं के बीच अस्तित्ववान है, आकाश होती है।

वैज्ञानिक न्यूटन का आकाश संबंधी निरूपण निरपेक्ष आकाश को लेकर हुआ है, जो बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा एकरूप एवं स्थिर रहता है। आकाश एक अगतिशील आधार है, जो असीम है, विस्तृत है।

इसके अतिरिक्त अनुभव ग्राह्य आकाश एवं धारणात्मक आकाश, जिसके प्रतिपादक बर्टेण्ड रसेल रहे हैं। इसके अलावा आकाश संबंधी अवधारणाएँ, जैसे—गणितीय आकाश, अभौतिक आकाश, भौतिक आकाश, विश्व आकाश, अनन्त आकाश, अवगाहित आकाश, अनवगाहित आकाश, सापेक्ष एवं निरपेक्ष आकाश आदि कई विचारधाराएँ अस्तित्व में आईं। आकाश संबंधी प्रत्येक मान्यता एवं प्रत्येक प्रतिपादन में विरोधाभास के दर्शन होते हैं।

आकाश संबंधी प्रचलित विविध विचारधाराओं से स्पष्ट होता है कि सभी द्रव्यों में आकाश द्रव्य विस्तृत एवं व्यापक है। इस सान्त, ससीम और अनन्त असीम आकाश से संबंधित मान्यताओं का जैन दर्शन में प्रतिपादित, लोकाकाश एवं अलोकाकाश में समावेश होता है। जैन दर्शन जिसे लोकाकाश कहते हैं, वह शुद्ध आकाश है। आकाश भी उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त है, क्योंकि वह द्रव्य है।

आकाश द्रव्य रूप से नित्य, पर्याय रूप से सदा परिवर्तित है। वह अमूर्त द्रव्य है अतः उसके गुण पर्याय भी अमूर्त हैं। आकाश सब द्रव्यों को अवकाश देता है, परन्तु उन-उन द्रव्यों में कदापि परिवर्तित नहीं होता, न कभी हुआ है और न कभी होगा।

भगवती¹⁹⁸ और स्थानांग में आकाशास्तिकाय का स्वरूप, आकाशास्तिकाय—अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श, अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित और लोकालोक रूप द्रव्य है।

वह संक्षेप में पाँच प्रकार का कहा गया है, जैसे—

द्रव्य की दृष्टि से—आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है, जिसकी रचना में सातत्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से—आकाश लोकालोक प्रमाण है अर्थात् असीम और अनन्त विस्तार वाला है। यह सर्वव्यापी है और इसके प्रदेशों की संख्या अनन्त है।

काल की दृष्टि से—आकाश ध्रुव निश्चित, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित, अनादि, अनन्त और नित्य है।

भाव की दृष्टि से—आकाश अमूर्त, अभौतिक, अचेतन, अशाश्वत, अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—आकाशास्तिकाय अवगाहना गुण वाला है।¹⁹⁹ अन्य द्रव्यों को आश्रय प्रदान करता है।

इस प्रकार आकाश का वास्तविक स्वरूप तो अवगाह रूप है, जो जैनाचार्यों की अनुत्तर व्याख्या है।

पुद्गलास्तिकाय—जैन दर्शन में जीव द्रव्य के, प्रति पदार्थ के रूप में पुद्गल द्रव्य की अवधारणा आती है। वर्तमान में विश्व विख्यात प्रयोगशालाओं से लेकर मजदूर एवं किसान की कुटिया तक पुद्गल परमाणु की चर्चा पहुंच चुकी है। भौतिक तथा रसायनशास्त्र के अंतर्गत द्रव्य एवं पर्याय स्वरूप परमाणु की अनश्वरता, ध्वनि, श्रवण, सीमा, वायु, अग्नि, प्रकाश, आयतन घनत्व कृत्रिम मेघ रचना, संवेदना, इन्द्रियों के विषय-विकार आदि सभी बातें पुद्गल से संबंधित रही हैं।

हमारे दृश्य जगत् की सारी लीला का मूल सूत्रधार है—पुद्गलद्रव्य। जैन दर्शन में पुद्गलद्रव्य के विषय में जो गम्भीर एवं विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध है, वह न केवल दर्शन के विद्यार्थी के लिए अनिवार्यतः

है अपितु विज्ञान के क्षेत्र में रुचि रखने वालों के लिए भी बहुत ही ज्ञातव्य होने के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के साथ तुलनीय है।

पुद्गल द्रव्य की परिभाषा

पुद्गल शब्द जैन दर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। वह केवल पारिभाषिक ही नहीं अपितु व्युत्पत्तिमूलक भी है, जो अक्षर, पद तथा धातु आदि के संयोग से बनता है। शाब्दिक रूप से संयोजन-वियोजन, संघटन-विघटन, विखंडन संलग्न की क्रियाओं से रूपान्तरित होने वाला द्रव्य पुद्गल है।

पुद्गल की व्याख्या हमें अनेक ग्रंथों में मिलती है। परम तारक परमात्मा ने भगवती सूत्र में अनन्त परमाणु एवं स्कंधों के समूह को पुद्गलास्तिकाय कहा है।

स्थानांग में पंचवर्ण, पंचरस, दो गंध, आठ स्पर्श वाला रूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित और लोक का अंशभूत द्रव्य पुद्गलास्तिकाय है।²⁰⁰

समवायांग की टीका में रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले द्रव्य को पुद्गलास्तिकाय कहा गया है।²⁰¹

पंचास्तिकाय में जो कुछ भी दिखाई देता है तथा पाँच इन्द्रियों का विषय होने योग्य है, उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं—

यद्द्रश्यमानं किमपि पंचेन्द्रियविषययोग्यं स पुद्गलास्तिकायोभव्यते।²⁰²

वाचक उमास्वाति म.सा. ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।²⁰³

सभी पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्णवान हुआ करते हैं। कोई पुद्गल ऐसा नहीं है, जिसमें ये चारों गुण न पाये जाते हैं।

उपाध्याय यशोविजय न्यायालोक में पुद्गल के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि—

ग्रहणगुणं पुद्गलद्रव्यं तत्र च क्वचित् प्रत्यक्षं क्वचिदनुमानाऽऽडगमादिकं च मानमनुसन्धेयम्।²⁰⁴

पुद्गल का लक्षण ग्रहण गुण है। अन्य के द्वारा पुद्गल भी ग्राह्य बन जाता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नहीं। घट-पट आदि ग्राह्य पुद्गल द्रव्य प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होता है। परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य की सिद्धि अनुमान आदि से होती है। अचित्त महास्कंध, शून्यवर्गणा आदि स्वरूप पुद्गल द्रव्य की सिद्धि आगम आदि द्वारा अलग-अलग प्रमाण का अनुसंधान करने की सूचना उपाध्यायजी दे रहे हैं।

पुद्गल की इसी प्रकार की व्याख्या षड्द्रव्य विचार,²⁰⁵ प्रशमरति,²⁰⁶ अनादिविंशिका,²⁰⁷ षड्दर्शन समुच्चय की टीका²⁰⁸ में मिलता है।

पुद्गलास्तिकाय का लक्षण

भगवती में पुद्गलास्तिकाय का लक्षण एवं जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है, इसका निरूपण इस प्रकार किया है—हे गौतम! पुद्गलास्तिकाय से जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजसू, कार्मण, श्रोत्रेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, धारणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मनयोग, वचनयोग, काययोग और श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। पुद्गलास्तिकाय का लक्षण ग्रहण रूप है।²⁰⁹

उत्तराध्ययन सूत्र में पुद्गल का लक्षण निम्नोक्त प्रकार से कहा है—

सद्दन्धयार उज्जोओ पहा छायाऽडतवे इ वा वण्ण रस गन्ध फासा पुग्गलाणं तु लस्खण।²¹⁰

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

वाचक उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ सूत्र²¹¹ में, नवतत्त्व²¹² में, षड्दर्शन समुच्चय की टीका²¹³ में तथा प्रशमरति²¹⁵ में इसके सिवाय संसारी जीवों के कर्म, शरीर, मन, वचन, क्रिया, श्वास, उच्छ्वास, सुख, दुःख देने वाले स्कन्ध पुद्गल हैं। जीवन और मरण में सहायक स्कन्ध हैं अर्थात् ये सब पुद्गल के उपकार यानी कार्य हैं।

ध्यानशतक की वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने पुद्गल का स्वरूप इसी प्रकार प्रस्तुत किया है—

**स्पर्शरसगन्ध वर्ण शब्दमूर्त स्वभाव का
संघात भेद निष्पन्ना, पुद्गला जिनदेशिता।²¹⁶**

पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द स्वभाव वाला और इसी से मूर्त स्वभाव वाला तथा संयोजन और विभाजन से उत्पन्न होने वाला है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

विश्व की विभिन्न शक्तियों और ब्रह्माण्ड के विभिन्न विकिरण अलग, बीटा, गामा, प्रकाश, ताप, विभिन्न तरंग, चुम्बकीय शक्तियाँ, उनका स्वीकरण संलयन ऐसे ही उनका उत्सर्जन एवं अवशोषण की प्रक्रिया पुद्गल द्रव्य में संभावित है। संगलन एवं विगलन की प्रक्रिया ही अणुबम के निर्माण की बुनियाद रही है।

पुद्गल शब्द के दो अवयव हैं—पुद्+गल।²¹⁷ पुद् का अर्थ है—मिलना, पूरा होना, जुड़ना; गल का अर्थ है—गलना, मिटना अर्थात् जो द्रव्य प्रति समय मिलता रहे, गलता रहे, झरण होता रहे, टूटता एवं जुड़ता रहे, वह पुद्गल है।²¹⁸ सम्पूर्ण लोक में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो खंडित भी होता है और परस्पर पुनः संगोपित होता है। इनके सन्दर्भ में ही पुद्गल की व्युत्पत्तिलभ्य परिभाषा जैन सिद्धान्त दीपिका में आचार्य तुलसी ने बताई है—

पूरणगलन धर्मत्वात् पुद्गल इति।²¹⁹

जिसमें पूरण एकीभाव और गलन पृथक्भाव दोनों होते हैं, वह पुद्गल है।

पुद्गल की गुणात्मक परिभाषा इस रूप में मिलती है कि जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—ये चारों अनिवार्यतः पाए जाएँ, वह पुद्गल है।²²⁰ प्रत्येक द्रव्य, गुण एवं पर्याय से युक्त हैं।

आचार्य तुलसी ने भी जैन सिद्धान्त दीपिका में गुणात्मक परिभाषा देते हुए कहा है—

स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गल।²²¹

पुद्गल की स्वरूपात्मक व्याख्या

पुद्गलास्तिकाय का भगवती में इस प्रकार स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

हे गौतम! पुद्गलास्तिकाय में पाँच रंग, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध, रूपी, अजीव, शाश्वत और अवस्थित लोकद्रव्य हैं। संक्षेप में उसके पाँच प्रकार हैं, जैसे—

द्रव्य की अपेक्षा—पुद्गल अनन्त द्रव्य है।

क्षेत्र की अपेक्षा—पुद्गल द्रव्य लोकव्यापी है।

काल की अपेक्षा—कभी नहीं था, नहीं रहेगा या नहीं है, ऐसा नहीं है किन्तु सदैव उसका अस्तित्व है। अतीत अनन्तकाल में था और अनागत अनन्तकाल में रहेगा। वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

भाव की अपेक्षा—वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से युक्त है।

गुण की अपेक्षा—ग्रहण गुण वाला है अथवा पूर्ण गलन गुण वाला मिलने-बिछुड़ने का स्वभाव वाला है।²²²

स्थानांग²²³ एवं लोकप्रकाश²²⁴ में भी ऐसा ही स्वरूप मिलता है।

पुद्गल में विविध परिणतियां होती हैं, जिसका कारण पुद्गल में होने वाला परिस्पंदन है। पुद्गल द्रव्य सक्रिय तथा शक्तिमान है। पुद्गल में भी क्रिया होती है। इसी क्रिया को परिस्पंदन कहते हैं।

पुद्गल अस्तिकाय है—प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ अनेक अवयवों का समूह है तथा आकाश प्रदेशों में फैलता है। इसलिए वह अस्तिकाय है। पुद्गल स्कन्ध संख्यात अथवा अनन्त प्रदेशों से बनता है। इसका आधार उसकी संरचना है। एक स्वतंत्र परमाणु के कोई विभाग नहीं होते।

पुद्गल का वर्गीकरण

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर पुद्गल का वर्गीकरण विभिन्न रूप से किया जा सकता है। सभी पुद्गल पुद्गल हैं—इस दृष्टि से पुद्गल का एक ही प्रकार है। यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है।

दो भेद—परमाणु और स्कन्ध—ये दो प्रकार के पुद्गल हो सकते हैं।

पुद्गल के चार भेद—

स्कन्ध परमाणु प्रचय—पूरा लड्डू

स्कन्ध देश—स्कन्ध का कल्पित भाग—आधा लड्डू

स्कन्ध प्रदेश—स्कन्ध से अपृथक्भूत, अविभाज्य अंश—एक बुंदी, जो अलग न हो सके

परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरंश तत्त्व—एक बुंदी पृथक् हो।

पुद्गल के आठ भेद—पुद्गल स्कन्धों की अनन्त वर्गणाओं में से मुख्य आठ वर्गणाएँ जीव के लिए उपयोगी हैं—औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस् वर्गणा, कर्मण वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा।

पुद्गल की संरचना कार्य

पुद्गल की रचना स्कन्धों के भवन से तथा अणुओं के संयोजन से होती है।²²⁵ पुद्गलों में आकर्षण एवं विकर्षण होता है। पौद्गलिक संलयन एवं विलयन के क्रम से स्कन्ध बनते हैं। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ एक स्कन्ध है और भौतिक जगत् के रूप से एक महास्कन्ध है।

पुद्गल की संरचना में जैन दर्शन का पदार्थ विश्लेषण प्रतिपादन करता है कि परमाणु पदार्थ की अन्तिम इकाई है, जो अविभाज्य है। परमाणुओं के संयोग से अणु बनता है और अणुओं के संघात-संयोजन से ऊतक का निर्माण होता है। इस प्रकार समस्त जैविक एवं अजैविक संरचना में एक क्रमिक परम्परा का साक्षात्कार होता है। स्कन्ध की धारणा विज्ञान की अणु-भावना से मिलती है। केवल अणुओं के

समुदाय से पदार्थ निर्मित नहीं होती, उसमें एक केन्द्रीभूत शक्ति का भी प्रयोजन होता है। इसलिए जैन दर्शन में पुद्गल एवं उसमें निहित शक्ति को एक ही माना है।

पुद्गल के कार्य—प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है। आगम की भाषा में इस कार्य को उपग्रह, उपकार कहते हैं। पुद्गल द्वारा किसी अन्य पुद्गल का उपकार होता है, जैसे—वस्त्र एवं साबुन। साबुन से कपड़ा साफ होता है। दोनों पुद्गल ही हैं। पुद्गल जीव द्रव्य का उपग्रह विविध रूपों में करता है। शरीर, मन, प्राण, वचन, श्वासोच्छ्वास,²²⁶ पुद्गल, परिणमन के माध्यम से जीव द्रव्य क उपग्रह भी करता है। सुख-दुःख, जीवन-मरण के रूप में²²⁷ जीव द्रव्य का उपकार करता है।

पुद्गल के संस्थान

आकृति को ही संस्थान कहते हैं। संस्थान से परिणत पुद्गल, परिमण्डल वृत्ति, त्रिकोण, चतुष्कोण एवं आयत पाँच प्रकार के होते हैं।²²⁸ ये पाँचों संस्थान इत्थस्थ कहलाते हैं। छद्म प्रकार—अनित्यस्थ है।²²⁹ संस्थान के सात भेद भी मिलते हैं।²³⁰ दीर्घ, ह्रस्व, त्रयंश, चतुरस्र, वृत्त, पृथुल और परिमंडला जैन दर्शन संस्थान ने उसकी पर्याय के रूप में उल्लेख किया है। भौतिक विज्ञान में मेटर पदार्थ की परिभाषा देते हुए कहा कि मेटर वह है, जिसका फार्म बनता है, किन्तु फार्म मेटर नहीं है। फार्म, परिवर्तन क्रम की परिणति है। पदार्थ की एक अवस्था एवं अभिव्यक्ति है।

संस्थानों द्वारा पुद्गल की एक ठोस आकृति सामने आती है किन्तु वह आकृति स्थायी नहीं है। परिमण्डल आदि आकृतियाँ नियत हैं, किन्तु बादल आदि की आकृतियाँ अनियत संस्थान हैं।

प्राणी जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये जीव की मुख्य क्रियाएँ हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और भाषा—वे सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्वक्षण में मनोवर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है। उसके चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियाँ बाहर निकलती रहती हैं और नई-नई आकृतियाँ बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियाँ आकाश मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्य काल तक परिवर्तित नहीं भी होती। इस मनोवर्गणा के स्कन्धों का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा विश्व दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएँ पुद्गल निमित्तक होती हैं। तात्पर्य दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब है। जैन सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु की संयोगवृत्त दशाओं का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानांग आदि इसके आकर ग्रंथ हैं। परमाणु षट्त्रिंशिका आदि परमाणु विषयक स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण जैन तत्त्वज्ञों की परमाणु विषयक स्वतंत्र अन्वेषणा का मूर्त है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के विचित्र वर्णन इनमें भरे पड़े हैं। भारतीय जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

अतः हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जीव को अपने जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों को चलाने के लिए विभिन्न रूपों में पुद्गलों को स्वीकार करना पड़ता है। खाना, पीना, चिन्तन करना आदि सभी क्रियाओं में पुद्गलों को अनिवार्य रूप से ग्रहण करता है।

जीवास्तिकाय—जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। अनन्त ब्रह्माण्ड में अनन्त जीवन बिखरा पड़ा है। प्रत्युत् अनेकता एवं अनन्तता के झरोखे में जब एकत्व दृष्टि से झाँकते हैं तो मूल रूप से दो द्रव्य, दो तत्त्व एवं दो पदार्थ के दर्शन होते हैं। जैन दर्शन यथार्थवादी है। उसकी दृष्टि में जीव एवं अजीव दोनों की स्वायत्त स्वतंत्र सत्ता है। न अजीव जीव से उत्पन्न होता है और न जीव अजीव से। विश्व संरचना के मूलभूत घटकों में जीवद्रव्य का स्थान सर्वोपरि है। ग्रहमालाओं में सूर्य केन्द्रिय स्थानीय है। वैसे ही पदार्थ जगत् में जीव पदार्थ शीर्षस्थ स्थानीय है। अन्य तद्भाव पदार्थ जीव की उन्नति एवं अवनति दर्शन अवस्थाएँ हैं। षड्द्रव्य, नव तत्त्व एवं नौ पदार्थ का ज्ञाता एवं द्रष्टा जीव ही है। जीव, अन्य द्रव्य तत्त्व से प्रभावित है तथा अन्य द्रव्य, तत्त्व जीव से प्रभावित हैं। इस प्रकार जीव शब्द के विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ सभी दर्शनों में मिलती हैं। लेकिन यहाँ जीवास्तिकाय को ही विशेष रूप से स्पष्ट करेंगे।

जीवास्तिकाय अर्थात् जीवन्ति जीवियन्ति जीवितवन्त इति जीवाः तो च तेऽस्ति—कायात्वेति समासः प्रत्येकम् संख्येयप्रदेशात्मक सकललोकभाविनानाजीव द्रव्य समूह इत्यर्थः।²⁵¹

जो जीते हैं, जियेंगे और जीवित मिल रहे हैं, वे जीव हैं, वे कायवान हैं। प्रत्येक असंख्यात प्रदेशात्मक सम्पूर्ण लोक में रहे हुए विविध जीवद्रव्य का समूह जीवास्तिकाय कहलाता है।

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में दिगम्बराचार्य जयसेनसूरि ने जीव को शुद्ध निश्चय से विशुद्ध ज्ञान, दर्शन, स्वभाव, रूप, चैतन्य, प्राण शब्द कहा है, जो प्राणों से जीता है, वह जीव है। व्यवहार नय से कर्मोदयजनित द्रव्य और भावरूप चार प्राणों से जीता है, जीयेगा और पूर्व में जीता था, वह जीव है।²⁵²

धर्मसंग्रहणी की टीका में आचार्य भल्लयगिरी ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—जो जीता है, प्राणों को धारण करता है, वह जीव है। प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण—इन्द्रियादि पाँच, तीन बल। उच्छ्वास और आयुष्य—ये दस द्रव्यप्राण भगवान ने कहे हैं तथा भाव प्राण—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य हैं।²⁵³

प्रज्ञापना की टीका में जीव की यही व्याख्या मिलती है।²⁵⁴

उपाध्याय यशोविजय ने न्यायालोक में जीव का वर्णन करते हुए कहा है कि—

चेतनागुणो जीवः स चोक्तस्वरूप एव।²⁵⁵

जीव का लक्षण है—चेतना। चेतना का अर्थ है—उपयोग। चेतना गुण स्वप्रकाशात्मक ही है। वह ज्ञान, दर्शन स्वरूप 12 भेद से प्रसिद्ध है—अष्टविधि ज्ञान चतुर्विधदर्शनात्मकोपयोगलक्षणो जीव²⁵⁶—तदुक्तं तत्त्वार्थसूत्रेऽपि उपयोग लक्षणो जीवः।²⁵⁷

नवतत्त्व प्रकरण में भी कहा है कि—

**नाणं च दंसणं चैव चरितं च तवो तहां,
विरियं उवओगे य एयं जीवस्सं लक्खणं।²⁵⁸**

आचार्य हरिभद्रसूरि ने ध्यानशतक हरिभद्रीयवृत्ति में जीव का स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित किया है—

ज्ञानात्मा सर्व भावज्ञो भोक्ता कर्ता च कर्मणाम्
नानासंसादि मुक्ताख्यो जीव प्रोक्ता जिनागमे ।²³⁹

जीव ज्ञान स्वरूप है, सर्वभावों का ज्ञाता है। कर्म का भोक्ता व कर्ता है, भिन्न-भिन्न अनेक जीव संसारी और मुक्त रूप में हैं, ऐसा जिनागमों में कहा है।

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने पारिणामिक भाव से जीव को अनादि निधन बताया है, जैसे कि—जीव पारिणामिकभाव से अनादि निधन, औदायिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक भाव से सादिनिधन, क्षायिकभाव से सादि अनन्त है। वह जीव पाँच मुख्य गुणों की प्रधानता वाला है। जीव को कर्म कर्तव्य भोक्तृत्व संयुक्तत्व आदि भी बताया गया है।²⁴⁰

उत्तराध्ययन सूत्र में जीव का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

जीवो उवजोगलक्खणो नाणेणं दंसणेणं च सुहेणं च दुहेणं य ।²⁴¹

उवजोग चेतना व्यापार जीव का लक्षण है, जो ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से पहचाना जाता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में जीव का लक्षण एवं स्वरूप इस प्रकार बताया है—

अवजोग लक्खणाइणिहणमत्थंतरं सरीराजो ।

जीवमरूवि कारि भोयं च सयस्स कम्मस्स ।²⁴²

आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। अनादि-अनन्त शरीर से भिन्न स्वयं कर्मों का कर्ता और स्वयं के किये हुए कर्मों का भोक्ता है।

उपाध्याय यशोविजय ने द्रव्य, गुण, पर्याय रास में जीव का स्वरूप इस प्रकार बताया है—जीव द्रव्य, परिणामी, अमूर्त, सप्रदेश, अनेक क्षेत्री, सक्रिय, अनित्य, अकारण, कर्ता, असर्वगत, अप्रवेश आदि गुणों के साधर्म्य, विधर्म्य से युक्त है।²⁴³

जीव का स्वरूप षड्दर्शन समुच्चय की टीका में इस प्रकार समुल्लिखित किया है—जीव चेतन है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रमाता है, प्रमेय है, असंख्य प्रदेश वाला है। इसके मध्य आठ प्रदेश हैं, भव्य हैं, अभव्य हैं, परिणामी परिवर्तनशील हैं। अपने शरीर के बराबर ही परिणाम वाला है। अतः आत्मा में ये सब अनेक सहभावी एक साथ रहने वाले धर्म पाये जाते हैं तथा हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, मति आदि ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि दर्शन चार गति, अनादि-अनन्त होना, सब जीवों से सब प्रकार से संबंध रखना, संसारी होना, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, ग्लानि आदि भावों का सद्भाव स्त्री, पुरुष और नपुंसकों के समान कामी प्रवृत्ति, मूर्खता तथा अंधा, लूला, लंगड़ा आदि क्रम से होने वाले भी अनेक धर्म संसारी जीव में पाये जाते हैं।²⁴⁴

इसी प्रकार जीव का ज्ञान और उपयोग रूप लक्षण प्रज्ञापना टीका,²⁴⁵ आचारांग टीका,²⁴⁶ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति,²⁴⁷ पंचास्तिकाय,²⁴⁸ अनुयोगवृत्ति,²⁴⁹ नवतत्त्व²⁵⁰ आदि में भी मिलता है।

इस प्रकार जीव प्रदेशों के समूह को जीवास्तिकाय कहते हैं।

भगवती में गणधर गौतम स्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं कि भगवान जीवास्तिकाय के द्वारा जीवों की क्या प्रवृत्ति है?

प्रत्युत्तर में भगवान कहते हैं—गौतम! जीवास्तिकाय आभिनिबोधिक ज्ञान की अनन्त पर्यायें, श्रुतज्ञान की अनन्त पर्यायें प्राप्त करता है। जीवास्तिकाय में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं है। वह अरूपी है, जीव है, शाश्वत है और अवस्थित लोकद्रव्य है। वह ज्ञान, दर्शन, उपयोग को प्राप्त करता है। जीव का लक्षण उपयोग है।²⁵¹

संक्षेप में वह पाँच प्रकार का है—

द्रव्य की दृष्टि से—जीवास्तिकाय अनन्त जीव द्रव्य रूप है।

क्षेत्र की दृष्टि से—लोकव्यापी है।

काल की दृष्टि से—नित्य है।

भाव की दृष्टि से—अरूपी यानी अमूर्त है।

गुण की दृष्टि से—उपयोग गुण वाला है।²⁵²

ये पाँच भेद स्थानांग में भी बताये गये हैं।²⁵³

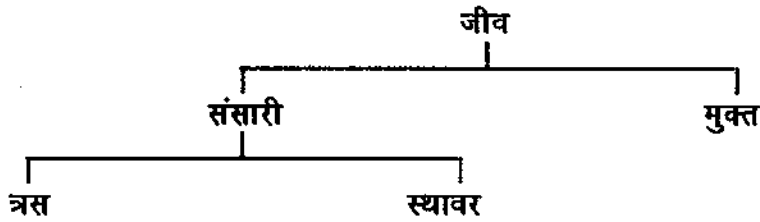
जीव का उपयोग—यह आभ्यन्तर, असाधारण लक्षण कथित करने के पश्चात् जीव का बाह्य लक्षण तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति म.सा. सूत्र द्वारा बताते हैं—परस्परोपग्रहो जीवानाम्।²⁵⁴

जीवों का अन्योन्य को अर्थात् एक-दूसरे के लिए हित-अहित का उपदेश देने द्वारा उपकार होता है, क्योंकि उपदेश के द्वारा हिताहित प्रवृत्ति जीवों में होती है।

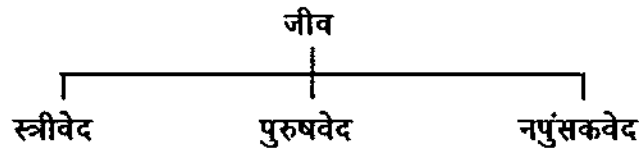
जीवों के भेद—जीवों के भेद को अलग-अलग दृष्टिकोण से बताया है।

एकविध जीव—चेतना गुण की अपेक्षा से जीव का भेद एक है।

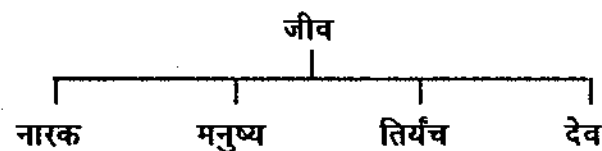
द्विविध जीव—



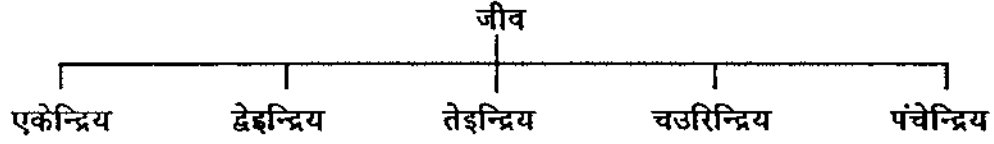
वेद की अपेक्षा से तीन भेद—



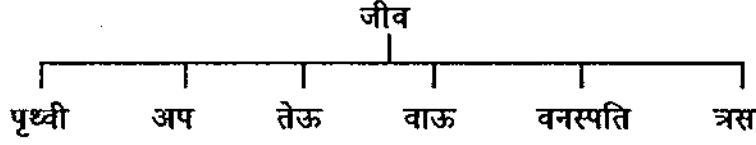
चार गति की अपेक्षा से चार भेद—



पंचविध जीव—



षड्विध जीव—



चतुर्दशविध जीव—किसी अपेक्षा से जीव के 14 भेद भी हैं, जैसे—एकेन्द्रिय जीव के चार भेद। पंचेन्द्रिय जीव के चार भेद और विक्लेन्द्रिय जीव के 6 भेद हैं—

563 भेद—

मनुष्य	303
देव	198
तिर्यच	48
नारक	14
	563

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन का जीव विज्ञान विस्तृत गहन और गम्भीर है। अन्य दर्शनों में जीवास्तिकाय का इतना गम्भीर विवेचन उपलब्ध नहीं होता। जीव एवं आत्मा के स्वरूप का जितना विस्तार तथा भेद एवं प्रभेद जैन दर्शन में है, उतना अन्य किसी भी दर्शन में नहीं किया गया है। जीवास्तिकाय का स्वरूप किसी दर्शन में नहीं मिलता है। भगवान महावीर की ही अनूठी देन है, जिसको उपाध्यायजी ने अपने शास्त्रों में सुन्दर भावों के साथ आलेखित किया है—

अनस्तिकायद्रव्य-काल

षड्रव्यों की अवधारणा में कालद्रव्य एक द्रव्य के रूप में घोषित है। वह भी अन्य द्रव्यों की तरह लोकव्यापी द्रव्य है। वाचक उमास्वाति ने कालश्च²⁵⁵ सूत्र के द्वारा काल को द्रव्यों के अन्तर्गत समाहित किया। काल भी द्रव्य रूप है। द्रव्य सत् है अतः काल भी द्रव्य होने से सत् है। वह भी गुण तथा पर्याय युक्त है। अंगश्रुत आचारांग²⁵⁶ में काल शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है, जैसे—मृत्यु, समय-सूचक आदि अर्थ में प्रयुक्त काल शब्द दृष्टिगोचर होता है।

काल द्रव्य की परिभाषा—इस मनुष्य क्षेत्र में सतत गगन मण्डल में सूर्य चन्द्रादि ज्योतिषचक्र लोक के स्वभाव से घूमते रहते हैं। उनकी गति से काल की उत्पत्ति होती है और काल विविध प्रकार का है।

ज्योतिष करंडक नामक ग्रंथ में भी कहा है कि लोक के स्वभाव से यह ज्योतिषचक्र उत्पन्न हुआ और उसकी ही गति विशेष से विविध प्रकार का काल उत्पन्न होता है, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।²⁵⁷

षड्दर्शन समुच्चय की टीका में कहा है—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र के उदय एवं अस्त होने से काल उत्पन्न होता है।²⁵⁸

काल लक्षण—धर्मसंग्रहणी में काल का लक्षण स्पष्ट करते हैं—

जं वत्तणादिरूपो कालो द्रव्यस्स चेव पज्जाती ।
सो चेव ततो धम्मो कालस्स व जस्स जोलोए ।।²⁵⁹

वर्तनादिरूप काल धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य के ही पर्याय हैं, उसमें वह वर्तनादिरूप काल, यह उसका लक्षण एवं धर्म है, क्योंकि अभिधान राजेन्द्रकोश में वर्तनादि को ही काल का लक्षण बताया है—

वर्तना लक्षणः कालः पर्यवद्रव्य भिष्यते ।²⁶⁰

न्यायालोक में उपाध्याय यशोविजय ने काल का लक्षण इस प्रकार किया है—

वर्तनालक्षणः कालः ।²⁶¹

काल द्रव्य का लक्षण वर्तना है। वर्तना यानी पदार्थ का नया-पुराना परिणाम।

काल का वर्तना परिणाम क्रिया आदि उपकार है। तत्त्वार्थकार ने काल की पहचान वर्तनादि से ही दी है—

वर्तना परिणाम किया परत्वापरत्वे च कालस्य ।²⁶²

इसी प्रकार लोकप्रकाश,²⁶³ उत्तराध्ययन सूत्र,²⁶⁴ बृहद्द्रव्य-संग्रह,²⁶⁵ द्रव्य-गुण-पर्याय-रास,²⁶⁶ श्री अनुयोग हरिभद्रीय वृत्ति,²⁶⁷ तत्त्वार्थ टीका,²⁶⁸ न्यायाखंडन-खाद्य,²⁶⁹ महापुराण²⁷⁰ आदि में भी काल का लक्षण मिलता है।

वैशेषिक आदि ने काल को एक व्यापक और नित्य द्रव्य माना है और वह काल नाम का पदार्थ विशेष जीवादि वस्तु से भिन्न किसी स्थान में प्राप्त नहीं होता है।²⁷¹ लोकप्रकाश में भी कहा है कि अन्य आचार्यों के मतानुसार जीवादि के पर्याय ही वर्तना आदि काल हैं। उसमें काल नामक अन्य पृथक् द्रव्य नहीं है, लेकिन यह बात युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि काल द्रव्य नहीं मानने से पूर्व, अपर, परत्व, अपरत्व आदि कुछ भी घटित नहीं होगा और यह प्रत्यक्ष विरोध हो जायेगा, क्योंकि हम स्वयं नया, पुराना, वर्तना आदि अनुभव करते हैं और नित्य मानने पर तो कुछ भी फेर-फार नहीं हो सकता।²⁷² अतः पर्याय को द्रव्य से कथंचिद भिन्न माना जाए तो काल-पर्याय से विशिष्ट जीवादि वस्तु भी काल शब्द से वाच्य बन सकती है,²⁷³ जिसके लिए आगमपाठ भी साक्षी रूप में है—

किमयं भर्ते? कालोति पबुच्चइ, गोयमा?

जीवा चेव अजीवा चेवति ।

काल किसे कहते हैं? हे गौतम! जीव और अजीव काल स्वरूप है।

जो पृथ्वी पर काल रूप भिन्न द्रव्य न हो तो वृक्षों का एक ही साथ में पत्र, पुष्प और फल की उत्पत्ति होनी चाहिए।

बालक का शरीर कोमल, युवा पुरुष का शरीर दैदीप्यमान और वृद्ध का शरीर जीर्ण होता है। यह सभी बाल्यादि अवस्था काल के बिना कैसे घटित होगी?

छः ऋतुओं का दिन एवं रात का अनेक प्रकार का परिणाम पृथ्वी पर अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह भी काल के बिना संभावित नहीं है।

विविध प्रकार का ऋतुभेद जगत् में प्रसिद्ध है। वह हेतु बिना नहीं हो सकता है, जिससे काल ही उसका कारण है। जैसे कि आम्र आदि वृक्ष अन्य सभी कारण होने पर भी फल रहित होते हैं। इससे वे विविध शक्ति वाले कालद्रव्य की अपेक्षा रखते हैं।

कालद्रव्य यदि न स्वीकारें तो वर्तमान, भूत, भविष्य का कथन भी नहीं होगा तथा पदार्थों का परस्पर मिश्र हो जाने की संभावना बन जायेगी। कारण कि पदार्थों का नियामक काल न हो तो अतीत अथवा अनागत पदार्थ भी वर्तमान रूप में कह सकते हैं। उससे नियामक काल है ही, यह मानना योग्य है²⁷⁴ तथा काल नामक छद्म द्रव्य उपाध्याय यशोविजय कृत द्रव्य, गुण, पर्याय के रास में भी उल्लिखित है। इसमें उपाध्याय ने कालद्रव्य को अपरिणामी, अजीव, अमूर्त, अप्रदेशी, क्षेत्री, अक्रिय, नित्य, कारण, कर्ता, असर्वगत एवं अप्रदेश रूप कहा है।²⁷⁵

काल द्रव्य मनुष्यलोक में विद्यमान है। जम्बूद्वीप, घातकीखंड तथा अर्धपुष्करावद्वीप इस प्रकार ढाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं। अतः इन ढाई द्वीप को ही मनुष्यलोक कहते हैं। काल द्रव्य का परिणमन या कार्य इस ढाई द्वीप में देखा जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा अविभागी एक समय शुद्ध कालद्रव्य है। यह एक प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय नहीं कहा जाता है, क्योंकि प्रदेशों के समुदाय को अस्तिकाय कहते हैं। यह एक समय मात्र होने से निःप्रदेशी है। षड्दर्शन समुच्चय की टीका में इसका उल्लेख मिलता है—

तस्मान्मानुष लोकव्यापी कालेऽस्ति समय एक इह ।
एकत्वाच्च स कायो न भवति कायो हि समुदाय ।।²⁷⁶

अर्थात् काल द्रव्य एक समय रूप है तथा मनुष्यलोक में व्याप्त है। वह एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काय तो प्रदेशों के समुदाय को कहते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में काल का स्वरूप

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने श्वेताम्बर संस्करण में काल का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

कालश्चैत्येके ।²⁷⁷

सोऽनन्तसमयः ।²⁷⁸

अर्थात् काल को भी द्रव्य मानते हैं, वह अनन्त समय वाला है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। निश्चयदृष्टि में काल जीव और अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि में यह द्रव्य है।²⁷⁹

संक्षेप में कह सकते हैं कि काल स्वयं में कोई स्वतंत्र वस्तु सापेक्ष वास्तविकता नहीं है किन्तु वस्तु सापेक्ष वास्तविकताओं का ही एक अंग पर्याय है।

अन्य आचार्यों की मान्यता के अनुसार नैश्चयिक काल वास्तविक द्रव्य है, जबकि व्यावहारिक काल नैश्चयिक काल का पर्याय रूप है।

दिगम्बर परम्परा में काल का स्वरूप

दिगम्बर परम्परा में नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती काल के विषय में द्रव्यसंग्रह में लिखते हैं—

द्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।

परिणामादिलकखो वट्टण लकखो व परमट्टो ।।

लोयायपदेशे इककोकके जे द्विया हु इक्केवका ।
 क्यणाणं शसीमिव से कालाणू असंख दव्वाणि ।।²⁸⁰

जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप परिणाम रूप देखा जाता है, वह तो व्यावहारिक काल है और वर्तना लक्षण का धारक जो काल है, वह नैश्चयिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित है, वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में काल को केवल जीव और अजीव के पर्याय रूप माना गया है। दिगम्बर परम्परा में नैश्चयिक काल को वस्तु सापेक्ष स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैज्ञानिक विश्व में काल की अवधारणा

वैज्ञानिक जगत् में सारा अनुसंधान केवल व्यावहारिक काल तक ही सीमित है। विज्ञान ने Unit of Time का मानदण्ड प्रस्थापित करते हुए कहा है कि एक इलेक्ट्रॉन, प्रोजिट्रॉन की मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में लगने वाला काल ही समय है। अनुसंधान क्षेत्र में सेकेण्ड को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, जैसे—सीजियम।²⁸¹ 133 परमाणु की आधारभूत अवस्था में अतिसूक्ष्म स्तरों में होने वाले 9,19,26,31,770 विकीरणों की अवधि एक सेकेण्ड के बराबर होती है। प्रोफेसर एडिंगटन ने कहा है—पुद्गल की अपेक्षा समय भौतिक वास्तविकता या सत्ता का विशेष है।

काल एक संबंध है, उसमें सात्त्विक एवं परिवर्तन है। अतीत मरता नहीं है, वर्तमान में जीवित रहता है और भविष्य में प्रवाहित होता रहता है। वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के अनुसार काल एवं आकाश स्वतंत्र वस्तु नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म हैं। जैन दर्शन ने काल को वस्तु, पदार्थ का धर्म नहीं अपितु स्वतंत्र निरपेक्ष द्रव्य के रूप में माना है।

भारतीय दर्शनों में काल

वैदिक दर्शनों में काल के संबंध में नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक एवं वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं।

जन्यानां जनकः कालो जगतमाश्रतो मतः ।²⁸²

योग, सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते।²⁸³

न्याय दर्शन के अनुसार परत्व, अपरत्व आदि काल के लिंग हैं—

परापरत्वधिर्हेतु क्षणादिः स्यादुपाधितः ।²⁸⁴

वैशेषिक पूर्व, अचर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं।²⁸⁵

बौद्ध परम्परा में पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है—काल केवल व्यवहार के लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभाव सिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्ति मात्र है।²⁸⁶

पाश्चात्य दर्शन में काल का स्वरूप

एपिक्युरस ने काल को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार कर उसे वस्तु सापेक्ष वास्तविकता माना है।²⁸⁷

प्लुटो ने माना कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना के साथ काल को बनाया अर्थात् प्लुटो ने काल को एक काल्पनिक वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया।²⁸⁸

अरस्तु के अनुसार—पहले और पीछे की अपेक्षा से वस्तु में होने वाले परिवर्तन के माप को काल कहते हैं।²⁸⁹

सेंट ऑगस्टाइन के अनुसार काल ज्ञाता सापेक्ष तत्त्व है।²⁹⁰

लाइबनीज ने काल को आकाश की तरह सापेक्ष माना है।²⁹¹

इस प्रकार काल विषयक मान्यता कहीं-कहीं अन्य दर्शनकारों की और जैनदर्शन की भी मिलती है। जैसे कि सांख्यकारिक माठरप्रवृत्ति,²⁹² सन्मतितर्कटीका,²⁹³ गोम्मटसार कर्मकाण्ड,²⁹⁴ माध्यामिक वृत्ति,²⁹⁵ चतुशताकम्,²⁹⁶ मैत्र्याव्युपनिषद् वायव्यदोष,²⁹⁷ नन्दीसूत्र मलयगिरि टीका²⁹⁸ आदि काल द्रव्य के विषय में, इस प्रकार श्वेताम्बर, दिगम्बर परम्परा, वैज्ञानिक क्षेत्र, भारतीय दर्शन, पाश्चात्य दार्शनिकों, वैज्ञानिकों में पर्याप्त विचार भिन्नता पाई जाती है। फिर भी सभी ने काल, द्रव्य की किसी-न-किसी रूप में अनिवार्यता स्वीकार की है। काल की मौलिक द्रव्यता ने पूर्व-पश्चिम के अनेक अनुसंधित्त्वकों का ध्यान आकर्षित किया है। आधुनिक विज्ञान समय को एक निर्देश यंत्र मानता है। प्रत्येक घटना समय और क्षेत्र से संबंधित होती है।

इस प्रकार काल विषयक चर्चा बौद्ध दर्शन में विस्तार से दी गई है। पर यहाँ इतना जानना ही आवश्यक होने से विस्तार को विराम देते हैं।

जैन की काल संबंधी मान्यता एक सूक्ष्मगम्य है। उपाध्याय यशोविजय ने काल-विषयक विवेचन बहुत ही विवेकपूर्ण एवं वैशिष्ट्य से युक्त किया है।

नवतत्त्व विचार

अस्तित्व की दृष्टि से जो मूल वस्तु या पदार्थ है, वह तत्त्व है, जिसे हम सत् कहते हैं। तत्त्व का दूसरा अर्थ है—तत्त्व पारमार्थिक वस्तु जो परमार्थ यानी मोक्ष की प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। मोक्ष की साधना करने वाला साधक व्यक्ति अजीव, पुण्य, पाप, बंध, जीव और आश्रय—इन छह से युक्त होकर मोक्ष तत्त्व तक पहुंचता है, जिसमें संवर और निर्जरा उसका साधन मार्ग है।

जैन शासन में सर्वज्ञ भगवंत जब मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि मोक्षपद पर समारूढ़ होने वाले मुमुक्षुओं को उन साधनों का जानना, क्योंकि साधनों के जाने बिना साध्य की संप्राप्ति संभव नहीं है। अतः उन जीवों के हित के लिए नवतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझने के लिए दो पद्धतियाँ काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहाँ जागतिक विवेचन की प्रमुखता है, वहाँ 6 द्रव्यों की चर्चा है और जहाँ आत्मिक तत्त्व प्रमुख है, वहाँ नवतत्त्व का विवेचन उपलब्ध होता है।

जैन वाङ्मय के कल्पतरु समान द्वादशांगी के दूसरे सूत्रकृतांग तथा तीसरे अंग ठाणांग में स्वयं गणधर भगवंत उनकी रचना करते हैं, जिससे उसकी उपादेयता और बढ़ जाती है।

जैन शासन में मोक्ष मुख्य साध्य है ही अतः उसको तथा उसके कारणों को जाने बिना मुमुक्षुओं की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति अशक्य है। इसी प्रकार यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी (बन्ध और आश्रव) तत्त्वों और उनके कारणों का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ पर अस्खलित प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है? और उस प्रकार की ज्ञान की सम्पूर्ति के लिए जैन वाङ्मय में तत्त्वों की विचारणा विस्तृत रूप से विवेचित की गई है।

जीवतत्त्व के कथन द्वारा जीव को मोक्ष का अधिकारी बताया गया है तथा अजीव तत्त्व से यह सूचित किया गया है कि संसार में ऐसा भी तत्त्व है, जिसे मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दिया जाता है तथा यह तत्त्व जीव पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ है। जीव अपने आत्मस्वरूप और ज्ञान-चेतना से उक्त विरोधी भावों का निरोध करता है। संवर और निर्जरा द्वारा मोक्ष के साधनों को सूचित किया गया है। पुण्यतत्त्व कथंचित् हेय एवं कथंचित् उपादेय तत्त्व है लेकिन उनका विचार-विमर्श विभिन्न रूपों में किया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में नवतत्त्व का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

जीवा जीवा यं बंधो य पुण्यं पावासवो तह।

संवरो निज्जरा मोक्खो, संतए तहिया नव।

तहियाणं तु भावाणं सत्त्वावे उपएसणं।

भावेणं सदहंतस्स सम्मतं तं वियाहियं।।²⁹⁹

अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बंध, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव तत्त्व हैं। इन तथ्यभावों के सद्भाव (वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व कहा गया है।³⁰⁰ ठाणं में तथ्य के स्थान पर सद्भाव पदार्थ का प्रयोग हुआ है। तथ्य, पदार्थ और तत्त्व—ये पर्यायवाची हैं। उत्तराध्ययन के वृत्तिकार ने तथ्य का अर्थ अवितथ किया है, अर्थात् जो वास्तविक है।

इसी प्रकार नवतत्त्व का पाठ नवतत्त्व प्रकरण,³⁰¹ पंचास्तिकाय³⁰² आदि में भी मिलता है।

वैशेषिक के द्वारा माने गये ज्ञान, सुख, दुःख, रूप, रस आदि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय आदि सात पदार्थ भी जीव और अजीव के अन्तर्गत हो जाते हैं। कोई प्रमाण, गुण आदि पदार्थों को द्रव्य से सर्वथा भिन्न रूप में नहीं जाना जा सकता। वे तो द्रव्यात्मक ही हैं।

इसी प्रकार बौद्धों के द्वारा माने गए दुःख, समुदाय आदि चार आर्यसत्त्वों का भी जीव और अजीव में समावेश हो जाता है अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थ जीवराशि में या अजीवराशि में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इससे अलग तीसरी कोई राशि नहीं है। जो इन दो राशियों में सम्मिलित नहीं है, वो मानो खरगोश के सींग की भांति असत् है। बौद्धों के दुःख तत्त्व का बन्ध में, समुदाय का आश्रव में, निरोध का मोक्ष में तथा मार्ग का संवर और निर्जरा में अन्तर्भाव हो जाता है।

वस्तुतः नव तत्त्वों में ही दो ही तत्त्व मौलिक हैं। शेष तत्त्वों का इनमें समावेश हो जाता है, जैसे कि पुण्य और पाप दोनों कर्म हैं। बन्ध भी कर्मात्मक और कर्मपुद्गल के परिणाम हैं तथा पुद्गल अजीव है। आश्रव आत्मा और पुद्गलों से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। संवर आश्रव के निरोधरूप है। निर्जरा कर्म का एक देश से क्षयरूप है। जीव अपनी शक्ति से आत्मा के कर्मों का पार्थक्य संपादन करता है। मोक्ष भी समस्त कर्म रहित आत्मा है अर्थात् जीव-अजीव इन दोनों में शेष सभी समाविष्ट हो जाते हैं, फिर नवतत्त्वों का कथन व्यर्थ में किसलिए किया गया?

इसका समाधान शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है कि यद्यपि ये सभी जीव और अजीव के अन्तर्भूत हैं, फिर भी लोगों को पुण्य-पाप आदि में सन्देह रहता है। अतः उनके सन्देह को दूर करने के लिए पुण्य-पाप का स्पष्ट निर्देश किया गया है। संसार के कारणों का स्पष्ट कथन करने के लिए आश्रव और बन्ध का तथा मोक्ष और मोक्ष के साधनों का विशेष निरूपण करने के लिए संवर तथा निर्जरा का स्वतंत्र रूप से कथन किया है। आगमों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

नवतत्त्व के भेद-प्रभेदों का वर्णन निम्नोक्त प्रकार से मिलता है—

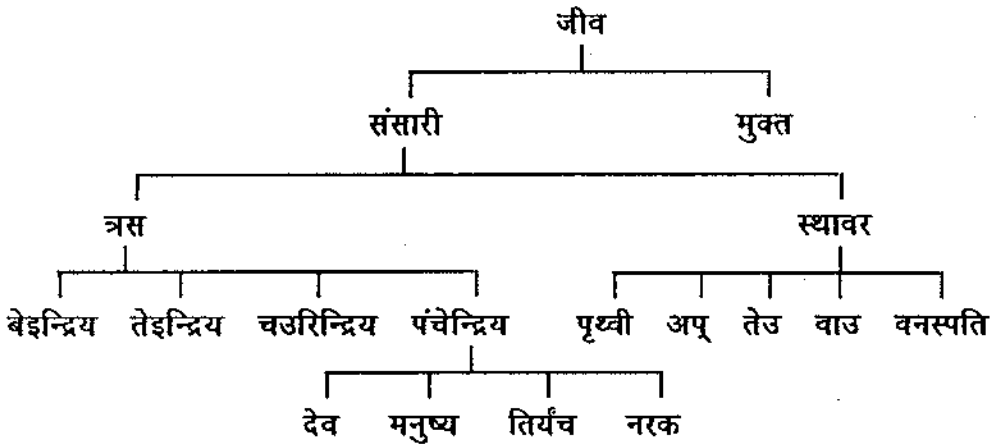
जीव तत्त्व—जीव शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या, लक्षण आदि जीवास्तिकाय में विस्तार से कह दिया है। अतः यहाँ केवल दिशा-निर्देश के लिए पुनःकथन किया जा रहा है। जो चेतनागुण से युक्त है तथा जो ज्ञानदर्शनरूप उपयोग को धारण करने वाला है, उसे जीव कहते हैं। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार लक्षण दिया है—

**त्रिकालविषय जीवानुभावनाज्जीव अथवा
चेतना स्वभाव त्वातदिकल्प लक्षणो जीवः।^{३०९}**

प्राण पर्याय के द्वारा तीनों काल के विषय का अनुभव करने से वह जीव कहलाता है अथवा जिसका स्तर द्रव्यों से भिन्न एक विशिष्ट चेतना स्वभाव है तथा उसके विकल्प ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं और उसके सान्निध्य में से आत्मा द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता होता है, उस लक्षण से युक्त वह जीव कहलाता है।

चार्वाक मत वाले जीव को स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानते। अतः वे उपरोक्त कथन से असहमत होकर इस प्रकार चर्चा करते हैं कि इस संसार में आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। पृथ्वी, जल आदि का विलक्षण रासायनिक मिश्रण होने से शरीर में चेतना प्रकट हो जाती है। इन चैतन्य के कारणभूत शरीरकार भूतों को छोड़कर चैतन्य आदि विशेषणों वाला परलोकगमन करने वाला कोई भी आत्मा नहीं है।

तत्त्वार्थ सूत्र में जीव तत्त्व के मुख्यताः दो भेद किये गए हैं—संसारिणो मुक्ताश्च,^{३०९} संसारी और मुक्त। इस भेद का आधार कर्म है। जो जीव कर्म बंधन से युक्त है, वे संसारी हैं और जो कर्मरहित हो गये हैं, वे मुक्त हैं। कर्म बंधन के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। ऐसे कर्मसहित जीव के पुनः दो भेद हो सकते हैं। संक्षिप्त में इनका विवरण इस प्रकार है—



अजीव तत्त्व—अजीव तत्त्व जीव का प्रतिपक्षी है। जहाँ जीव तत्त्व संचेतन होता है, वहाँ अजीव तत्त्व अचेतन है। जब तक जीव का इसमें साथ संबंध रहेगा, तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकेगा। अजीव तत्त्व के साथ बंधे रहने के कारण ही जीव को संसार के परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए साधना की दृष्टि से जीव की तरह अजीव को भी समझना जरूरी है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता। अजीवतत्त्व के मुख्य पाँच भेद हैं, जो निम्न हैं—

अजीव

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय काल

शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के लिए कर्मों से मुक्त होना आवश्यक होता है।

पुण्य तत्त्व—जीवों को दृष्ट वस्तु का जब समागम होता है तब वह परम आह्लाद की प्राप्ति होती है तथा सुख की जो अनुभूति करता है, उसका मूल शुभकर्म का बंध वह पुण्य और वही पुण्य तत्त्व कहलाता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने कहा है—शुभ पुण्यस्थः³⁰⁵ शुभयोग पुण्य का आश्रव है। पुनाति जो पवित्र करता है, वह पुण्य तत्त्व है। पुण्य का बंध नौ प्रकार से होता है, जो स्थानांग सूत्र में बताया है, जैसे—

पुण्य शुभ कर्म

अन्नपुण्य पानपुण्य लयनपुण्य शयनपुण्य वस्त्रपुण्य मनपुण्य दचनपुण्य कायपुण्य नायकपुण्य

इन नव कारणों से पुण्य बंध होता है। हर शुभ प्रकृतियों से वह भोगा जाता है।

यद्यपि पुण्य तत्त्व सोने की बेड़ी समान है। फिर भी संसार अटवी के महाभयंकर उपद्रव वाले मार्ग को पार करने में, जीतने में योद्धा समान है।

पाप तत्त्व—पुण्य तत्त्व से विपरीत पाप तत्त्व है अथवा अशुभ कर्म। यह पापतत्त्व अथवा जिसके द्वारा अशुभ कर्मों का ग्रहण होता है जैसी अशुभ क्रिया, वह पापतत्त्व है। इस कर्म के उदय से जीवों को अशुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। अत्यन्त उद्वेग, खेद, दुःख आदि को प्राप्त करता है। नरक आदि दुर्गति में गमन करवाता है—

पारायति मलिनयति जीवामिति पापम् ।

जो जीव को मलिन करता है, आत्मा को आच्छादन करता है, वह पाप है।

पाप का बंध होने के कारण 18 हैं, जिन्हें अठारह पापस्थान कहते हैं। वो प्राणातिपात आदि 18 प्रकार से पाप का बंध होता है। यह पापतत्त्व 82 प्रकार से उदय में आ सकता है।

पुण्य-पाप की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

1. पुण्यानुबंधी पुण्य,
2. पुण्यानुबंधी पाप,
3. पापानुबंधी पुण्य,
4. पापानुबंधी पाप।

आश्रवतत्त्व—आ अर्थात् समन्तात्, चारों तरफ से, श्रव यानी आना अथवा 'आश्रयते उपादीयते', कर्म ग्रहण होना अथवा 'अश्नानि आदते कर्म यैस्ते आश्रवाः' जीव जिसके द्वारा कर्मों को ग्रहण करता है, वह आश्रव है अथवा आ यानी चारों तरफ से श्रवति क्षरति जलं सूक्ष्मन्धेषु यैस्ते आश्रवा अर्थात् सूक्ष्म छिद्रों में से होकर जलरूप कर्म प्रवेश करते हैं, वह आश्रव है। अतः कर्म आना ही आश्रव है।

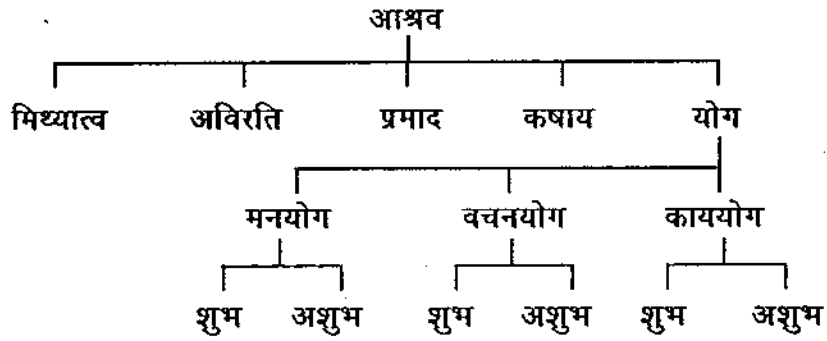
आचार्य कुन्दकुन्द के मत से आश्रव चार हैं—समयसार³⁰⁷ में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को आश्रव माना है। विनयविजय ने भी आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए इन चारों को ही आश्रव माना है।

वाचक उमास्वाति के मत से आश्रव के 42 भेद हैं—5 इन्द्रिय, 4 कषाय, 5 अन्न और 25 क्रिया आदि। आगम के अनुसार आचार्य भिक्षु ने जिन मिथ्यात्व आदि को आश्रव कहा है, उन्हीं को उमास्वाति ने बंध हेतु कहा है—

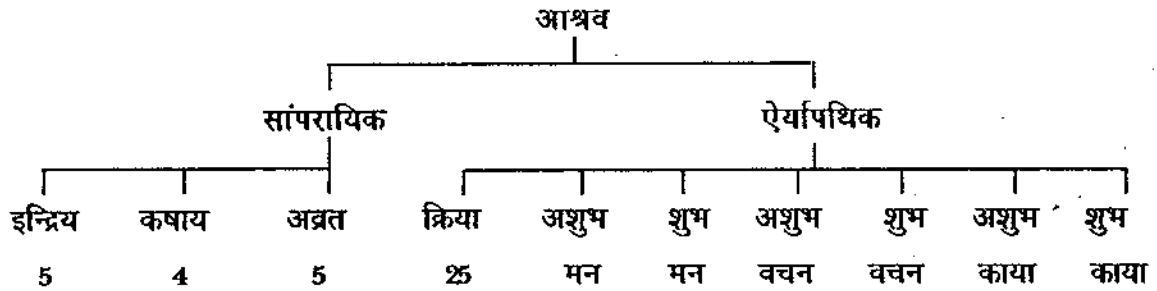
मिथ्यादर्शना विरतिप्रमादकषायायोगा बन्ध हेतवः।³⁰⁸

आत्मा के शुभाशुभ परिणाम तथा योग के द्वारा होने वाला आत्मप्रदेशों का कम्पन भावाजुव कहलाता है और उसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मप्रदेशों का ग्रहण होता है, वह द्रव्याश्रव कहलाता है।

आश्रव के भेद-प्रभेद—



वैकल्पिक रूप में—



सकषायी आत्मा के सांपरायिक आश्रव तथा वीतराग आत्मा के ऐर्यापथिक आश्रव होता है।

संवर तत्त्व—आश्रव का निरोध करना, वह संवर कहलाता है अर्थात् आनेवाले कर्मों को रोकना। जिसके द्वारा कर्मों को रोका जाता है, ऐसे व्रत पचखाण तथा समिति, गुप्ति, संवर कहलाते हैं—

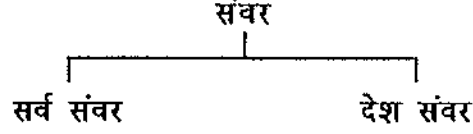
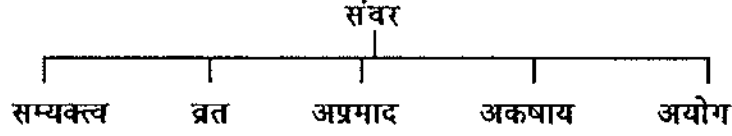
संप्रियते कर्म कारणं प्राणातिपादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः।

कर्म और कर्म के कारण प्राणातिपाति आदि जो आत्म-परिणाम के द्वारा रोके जाएँ, वे संवर। तत्त्वाष्ट टीका में संवर की व्याख्या इस प्रकार की है—

आश्रवदोष परिवर्जन संवरः।³¹⁰

आश्रव के दोषों को छोड़ना ही संवर है अथवा संवर यानी आत्मनः कर्मादान हेतुभूत परिणामाभावः संवरः। आत्मा के कर्मादान हेतुभूत परिणाम का अभाव होना संवर है।

संवर के भेद—



आश्रय के निरोधरूप संवर की सिद्धि इन कारणों से होती है।

निर्जरा तत्त्व—कर्मों का आत्मप्रदेशों से दूर होना, नाश होना निर्जरा कहलाता है। जिसके द्वारा कर्मों का नाश होता है, वह तपश्चर्या विगेरे निर्जरा कहलाती है अथवा

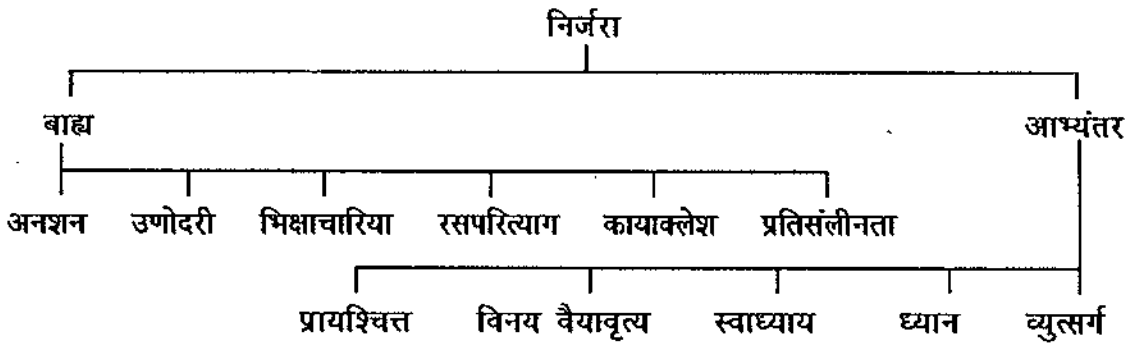
निर्जरणं निर्जरा आत्मप्रदेशेभ्योऽनुभूत सकर्म पुद्गल परिशाटनं निर्जरा इति।¹¹

आत्मप्रदेशों के द्वारा अनुभावित रसयुक्त कर्म पुद्गलों का विनाश होना निर्जरा कहलाता है।

शुभ अथवा अशुभ कर्मों का देश से क्षय होना द्रव्य निर्जरा अथवा सम्यक्त्व रहित अज्ञान परिणाम वाली निर्जरा द्रव्य निर्जरा अथवा सम्यक् परिणाम रहित तपश्चर्या, वह द्रव्य निर्जरा कहलाती है और कर्मों से देशक्षय में कारणभूत आत्मा का अध्यवसाय वह भाव-निर्जरा अर्थात् सम्यक् परिणाम से युक्त तपश्चर्यादि क्रियाएँ भाव-निर्जरा कहलाती हैं।

अज्ञान तपस्वियों की अज्ञान कष्ट वाली जो निर्जरा है, वह अकाम-निर्जरा तथा वनस्पति आदि सर्दी, गर्मी आदि कष्ट सहन करते हैं, वह भी अकालनिर्जरा, यही द्रव्य निर्जरा भी कहलाती है तथा सम्यक्त्व दृष्टिवंत जीवों की देशविरति सर्वविरती आत्माओं की सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित पदार्थों को जानने के कारण विवेक-चक्षु जागृत हो जाने के कारण उनकी इच्छापूर्वक तपश्चर्यादि क्रियाएँ सकाम निर्जरा कहलाती हैं और अनुक्रम से मोक्ष प्राप्ति वाली होने से भाव-निर्जरा कहलाती हैं।

निर्जरा के भेद—



इन बारह प्रकार के तप से कर्मों की निर्जरा होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है—

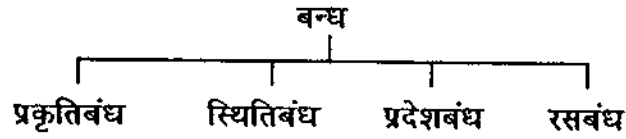
तपसाः निर्जरा च।¹²

बंधतत्त्व—जीव के साथ कर्मों का क्षीर-नीर समान परस्पर संबंध होना बंध कहलाता है।

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का संबंध होना, वह द्रव्य-बंध और उस द्रव्य-बंध के कारणरूप आत्मा का जो अध्यवसाय है, वह भावबंध कहलाता है।

बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और रसबन्ध। जिस समय कर्म का बन्ध होता है, उस समय चारों ही प्रकार का बन्ध होता है।³¹³

बन्ध का प्रकार—



मोक्ष निर्वाण—

कृत्सनः कर्मक्षयोः।³¹⁴ सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना मोक्षतत्त्व कहलाता है। तत्त्वार्थ टीका में मोक्षतत्त्व की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—

सकलकर्म विमुक्तस्य ज्ञानदर्शनीपयोग लक्षणस्यात्मन स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः।

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से ज्ञान-दर्शन के उपयोग से लक्षण वाले आत्मा का अपनी आत्मा में रहना, रमण करना ही मोक्ष कहलाता है।

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं। मोक्षतत्त्व के नव अनुयोगद्वार के नव भेद हैं—1. सत्पद प्ररूपणा, 2. द्रव्य प्रमाण, 3. क्षेत्रद्वार, 4. स्पर्शना, 5. कालद्वार, 6. अन्तरद्वार, 7. भागद्वार, 8. भावद्वार, 9. अल्पबहुत्वद्वार।³¹⁵

इस प्रकार नवतत्त्व की विचारणा नवतत्त्व, पंचास्तिकाय, उत्तराध्ययन सूत्र एवं टीका में विस्तारपूर्ण मिलती है। नवतत्त्व का इस प्रकार 2, 5 और 7 में भी समावेश हो जाता है।

अन्य मत में तत्त्व विचारणा

बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्त्वों को तत्त्वरूप में स्वीकार किये गये हैं, जिनका जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है।

नैयायिकों के मत प्रमाण आदि सोलह तत्त्व हैं—1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति, 16. निग्रहस्थान।³¹⁶

कर्म पुण्य-पाप आत्मा के विशेष गुण रूप हैं। शरीर विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, सुख-दुःख आदि का उच्छेद करके आत्मस्वरूप में स्थिति होना मुक्ति है। न्यायावसार में आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति करके नित्य अनुभव में आने वाले सुख की प्राप्ति को भी मुक्ति माना है—1. प्रकृति, 2. बुद्धि, 3. अहंकार, 4. स्पर्शन, 5. रसन, 6. घ्राण, 7. चक्षु, 8. क्षेत्र, 9. मलस्थान, 10. सूत्रस्थान, 11. वचन के उच्चारण करने के स्थान, 12. हाथ और 13. पैर—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, 14. मन, 15. रूप, 16. रस, 17. गन्ध, 18. स्पर्श और 19. शब्द—ये पाँच तन्मात्राएँ, इन पाँच भूतों की उत्पत्ति, 20. अग्नि, 21. जल, 22. पृथ्वी, 23. आकाश, 24. वायु। इस प्रकार सांख्य मत में चौबीस तत्त्व तथा प्रधान से भिन्न पुरुषत्व इस प्रकार 25 तत्त्व हैं।³¹⁷

सांख्यमत में न तो प्रकृति कारण रूप है और न कार्यरूप है। अतः उसको न बन्ध होता है, न मोक्ष और न संसार। वैशेषिक मत में 5 तत्त्व माने गए हैं—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम्।

विशेषसमवायौ च तत्त्वषडकं तु तन्भते।।³¹⁸

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छह तत्त्व वैशेषिक मत में हैं। कोई आचार्य अभाव को भी सातवां पदार्थ मानते हैं।

आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद होना ही मोक्ष है। मीमांसक तो अद्वैतवादी होने से ब्रह्म को ही स्वीकार करते हैं। ब्रह्म के सिवाय कुछ भी नहीं है तथा ब्रह्म में लय हो जाना ही मोक्ष है।

उपरोक्त अन्य दर्शनकारों के द्वारा मान्य तत्त्व जैन दर्शन के नव अथवा दो तत्त्वों में समावेश हो जाता है, क्योंकि चराचर जगत् में जीव अथवा अजीव के सिवाय एक भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसका इनमें अन्तर्भाव न हो। सात अथवा नौ भेदों की कल्पना विशेष रूप से बोध देने हेतु की गई है, जिससे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त हो सके। उपाध्याय यशोविजय ने नौ तत्त्वों की बहुत ही सुन्दर एवं मार्मिक विवेचना की है।

अंत में कह सकते हैं कि लोक की व्यवस्था के लिए छह द्रव्य आवश्यक हैं। उसी प्रकार आत्मा के आरोह और अवरोह को जानने के लिए नौ तत्त्व उपयोगी हैं। इनके बिना आत्मा के विकास या हास की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं हो सकती।

स्याद्वाद का महत्त्व

किसी भी बात को सर्वथा एकान्त में नहीं कहने का, और न ही स्वीकार करने का संलक्ष्य जैन दर्शन में मिलता है। इसी से जैन दर्शन को अनेकान्तवाद से आख्यायित किया गया है एवं स्याद्वाद स्वरूप से चरितार्थ बनाया गया है।

विचार और आचार—इन दोनों से दर्शन धर्म की सिद्धि की गई है। ऐसे दर्शन धर्म में आचारों को नियमबद्ध नीति से पालने का आदेश मिलता है। विचारों की स्वाधीनता सर्वत्र सामान्य कही गई है पर वह भी दार्शनिक तथ्यों से नियंत्रित पाई गई है।

स्याद्वाद दर्शन एक नियमबद्ध दार्शनिकता को दर्शित करता है, अनेकान्तता का आकार आयोजित करता है। एकान्त से किसी भी विचार को दुराग्रहपूर्ण व्यक्त करने का निषेध करता है पर ससम्मान सभादर भाव से संप्रेक्षण करना सत्यता का सहकारी हो जाता है।

स्याद्वाद सिद्धि का साक्षात्कार है और समन्वयता का संतुलित शुद्ध प्रकार है जो निर्विरोध भाव से विभूषित होता, विश्वमान्य दर्शन की श्रेणी में अपना सम्मानीय स्थान बनाता गया। इस अनेकान्तवाद के सूक्ष्मता के उद्गाता तीर्थंकर परमात्मा हुए, गणधर भगवन्त हुए एवं उत्तरोत्तर इस परम्परा का परिपालन चलता रहा।

इस सिद्धान्त स्वरूप को नयवाद से न्यायसंगत बनाने में मल्लवादियों का महोत्कर्ष रहा। सिद्धसेन दिवाकर से पाण्डित्य उजागर हुआ, वाचकवर उमास्वाति ने इसी विषय को सूत्रबद्ध बनाया। समदर्शी उपाध्याय यशोविजय अनेकान्तवाद के स्वतन्त्र सुधी बनकर अनेकान्त व्यवस्था जैसे ग्रन्थ के निर्वाण में अविनाभाव से अद्वितीय रहे।

आज अभी अनेकान्तदर्शन की जो महिमा और जो मौलिकता बतलाने के माधुर्य को महत्त्व दे रही है, इसका एक ही कारण है कि जैनाचार्यों ने समग्रता से अन्यान्य दार्शनिक संविधानों का सम्पूर्णता से स्वाध्याय कर समयोचित निष्कर्ष को निष्पादित करते हुए अनेकान्त की जयपताका फहराई।

वह अनेकान्त किसी एकान्त कोष का धन न होकर अपितु विद्वत् मण्डल का महत्तम विचार संकाय बना। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के संवादों को आत्मसात् बनाने का स्याद्वाद दर्शन ने सर्वप्रथम संकल्प साकार किया और समदर्शिता से स्वात्मतुल्य बनाने का आह्वान किया। इस आह्वान के अग्रेसर, स्याद्वाद के सृजक उपाध्याय यशोविजय हुए, जिन्होंने समदर्शिता को सर्वत्र प्रचलित बनाया।

उपाध्याय यशोविजय जैसे मनीषियों ने प्रमाण-प्रमेय की वास्तविकताओं से विद्याक्षेत्रों को निष्कण्टक, निरूपद्रव बनाने का प्रतिभाबल निश्छल रखा, जबकि नैयायिकों ने छल को स्थान दिया पर अनेकान्तवादियों ने आत्मीयता का अपूर्व अनाग्ररूप अभिव्यक्त किया।

स्याद्वाद को नित्यानित्य, सत्-असत्, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, अभिलाष्य-अनाभिलाष्य से ग्रंथकारों ने समुल्लिखित किया है। वही समुल्लिखित स्याद्वाद अनेकान्तवाद से सुप्रतिष्ठित बना। इसकी ऐतिहासिक महत्ता क्रमिक रूप से इस प्रकार उपलब्ध हुई है—

सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन ने आगमिक स्याद्वाद को अनेकान्तरूप से आख्यायित करने का शुभारम्भ किया। तदनन्तर मल्लवादियों ने अनेकान्तवाद की भूमिका निभाई।

इसी स्याद्वाद को स्वतंत्रता से ग्रंथरूप देने का महान् श्रेय आचार्य हरिभद्र के अधिकार में आता है। इन्होंने अधिकारिता से अनेकान्तजयपताका में अनेकान्त को सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष और अभिलाष्य-अनाभिलाष्य—इन सभी को लिपिबद्ध करके अनेकान्त के विषय को विरल और विशद् एवं विद्वद्गम्य बनाने का अपूर्व बुद्धिकौशल उपस्थित किया है। इन्हीं के समवर्ती आचार्य अकलंक जैसे विद्वानों ने अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि को विलक्षण बनाया है।

ऐसे ही वादिदेवसूरि श्रमण संस्कृति के स्याद्वाद सिद्धान्त के समर्थक सृजनहार के रूप में अवतरित हुए हैं। उन्होंने स्याद्वाद को अनेकान्तवाद रूप में आलिखित करने का आत्मज्ञान प्रकाशित किया है।

आचार्य रत्नप्रभाचार्य रत्नाकरावतारिका में भाषा के सौष्ठव से अनेकान्तवाद को अलंकृत करने का त्रियात्मक प्रयास किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी स्याद्वाद के स्वरूप को निरूपित करने में नैष्ठिक निपुणता रखते हुए अनेकान्त संज्ञा से सुशोभित किया है।

स्याद्वाद शैली को नत्य न्याय की शैली से सुशोभित करने का श्रेय उपाध्याय यशोविजय के हाथों में आता है और लघु हरिभद्र के नाम से अपनी ख्याति को दार्शनिक जगत् में विश्रुत बना गये।

वर्तमानकाल में विजयानन्दसूरि, आत्माराम श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, भुवनभानुसूरि, यशोविजयगणि, अभयशेखरसूरि आदि श्रमणवरों ने स्याद्वाद की विजयपताकाएँ फैलाई हैं।

स्याद्वाद जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। स्याद्वाद का सरल अर्थ यह है कि अपेक्षा से वस्तु का बोध अथवा प्रतिपादन जब तर्कयुक्ति और प्रमाणों की सहायता से समुचित अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब उनमें किसी भी प्रकार के विरोध का अवकाश नहीं रहता, क्योंकि जिस अपेक्षा से प्रवक्ता किसी धर्म का किसी वस्तु में निदर्शन कर रहा हो, यदि उस अपेक्षा से उस धर्म की सत्ता प्रमाणादि से अबाध्य है तो उसको स्वीकारने में अपेक्षावादियों को कोई हिचक का अनुभव नहीं होता।

सर्वज्ञ तीर्थकरों के उपदेशों में से प्रतिफलित होने वाले जैन दर्शन के सिद्धान्तों की यदि परीक्षा की जाए तो सर्वत्र इस स्याद्वाद का दर्शन होगा। स्पष्ट है कि स्याद्वाद ही जैनदर्शन की महान् बुनियाद है। सभी सिद्धान्तों की समीचीनता का ज्ञान कराने वाला स्याद्वाद है, जिसमें सकल समीचीन सिद्धान्तों की अपने-अपने सुयोग्य स्थान में प्रतिष्ठा की जाती है।

संक्षेप में कहें तो प्रमाण से अबाधित सकल सिद्धान्तों का मनोहर संकलन ही स्याद्वाद है। अप्रमाणित सिद्धान्तों का समन्वय करना स्याद्वाद का कार्य नहीं है। इस महान् स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन जैन आगमों में मिलता है तथा उसके पश्चात् रखे जाने वाले निर्युक्ति ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

हमारा गणिपिटक द्वादशांगी जितना गहन है, उतना ही गम्भीर है। इसलिए वह द्वादशांगी श्रमण संस्कृति की सर्वाधार है। इसी द्वादशांगी में स्याद्वाद का स्वरूप स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यह स्याद्वाद का एक सिद्धान्तमय निरूपण है। ऐसी निरूपणता सम्पूर्णता से स्वच्छ है, जिसको निष्कर्ष स्वीकार किया जा सकता है। इसी को औपपातिक सूत्र में इस रूप में वर्णित किया गया है—

इच्चैयं गणिपिडगं निच्चं दव्वद्वियाएँ नायव्वं,
पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवादो।

इस गणिपिटक को नित्य द्रव्यास्तिकाय जानना चाहिए। पर्याय से अनित्य रहने वाला और नित्यानित्य संज्ञा को धारण करने वाला स्याद्वाद है—

जो सियवार्यं भासति, प्रमाणपेसलं गुणाधारं।
भावेई से ण णसयं सो हि पमाणं पवयणस्स।।
जा सियवाय निवति पमाणपेसलं गुणाधारं।
भावेण दुड्ढभावो न सो पमाणं पवयणस्स।।¹⁹

प्रमाणों से सुन्दर, गुणों का आधार ऐसे स्याद्वाद का जो प्रतिपादन करता है, वह भावों से नाश नहीं होता है और वही प्रवचन का प्रमाण है तथा इससे विपरीत जो प्रमाणों से मनोहर गुणों का भाजन, जो स्याद्वाद की निंदा करता है, वह दृष्ट भाव वाला होता है तथा प्रवचन का प्रमाण नहीं बनता।

यह स्याद्वाद अनेकान्तवाद से ही एक नियोजित निश्चय है, क्योंकि उत्तर आचार्यों ने इस स्याद्वाद सिद्धान्त को ही अनेकान्तवाद से पुष्पित, प्रफुल्लित किया है। दार्शनिक दुनिया का अनेकान्तवाद जितना अस्थेय है, उतना ही अवबोधदायक भी है, क्योंकि अनेकान्तदृष्टि एक ऐसी अद्भुत पद्धति है, जिसमें सम्पूर्ण दर्शन समाहित हो जाते हैं, जैसे कि—सिद्धसेन दिवाकर सूरि ने द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका में कहा है—

उदधिविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदुष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्त्विवोदधि।।²⁰

सभी नदियां जिस प्रकार महासागर में जाकर मिलती हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थित नदियों में महासागर नहीं दिखता है, उसी प्रकार सर्वदर्शन रूपी नदियां स्याद्वाद महासागर में सम्मिलित होती हैं, परन्तु एकान्तवाद से अलग-अलग रहते हुए उन-उन दर्शनरूपी नदियों में स्याद्वाद रूपी महासागर दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस संबंध में सन्त आनन्दघनजी ने नेमिनाथ भगवान के स्तवन में अपने उद्गारों को इस प्रकार प्रकट किया है—

जिनवरमां सघला दरिसण छे दर्शन जिनवर भजना ।
सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनी सागर भजनारे ।।³²¹

इस प्रकार अनेकान्तदृष्टि एक विशाल दृष्टिकोण है। अनेकान्तदृष्टि एक वस्तु में अनन्त धर्मों का दर्शन कराती है। इसी विषय संबंधी प्रमाण स्याद्वादमंजरी,³²² अनेकान्त व्यवस्था,³²³ प्रमाणनयतत्त्वालोक,³²⁴ अनेकान्तजयपताका,³²⁵ षड्दर्शन समुच्चय³²⁶ टीका आदि में भी मिलता है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है—

यत्र सर्वत्र समता, नयेषु तनयेष्विव ।
तस्थानेकान्तवादस्य, क्व न्यूनाधिकशेमुषी ।।³²⁷

जैसे माता को अपने सब बच्चों के प्रति समान स्नेह होता है, ठीक वैसे ही जिस अनेकान्तवाद को सब नयों के प्रति समान दृष्टि होती है, उस स्याद्वादी को एक नय के प्रति हीनता की बुद्धि और एक नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी?

संक्षेप में कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद का सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों में समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करता है, जिससे मानव जाति के संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।³²⁸

स्याद्वाद चिंतामणि में प्राप्ति के इच्छुक बुद्धिमान व्यक्ति को सदैव गुरु उपदेश से उस तत्त्व को समझना चाहिए, जिससे उसकी प्रज्ञा प्रकर्ष बनकर ज्ञेयोपज्ञेय को सम्पूर्ण रीति से जान सके।

तत्त्वमीमांसीय वैशिष्ट्य

जीव जगत् आदि समस्त दृश्य-अदृश्य तत्त्वों का सम्यक् परिबोध ही तत्त्वदर्शन है। तत्त्वमूलक प्रश्नों का सम्यक् समाधान दर्शन के धरातल पर ही संभव है। अतः तत्त्व एवं दर्शन अन्योन्याश्रित हैं।

विज्ञासु साधक के मन में असंख्य वैश्विक, जैविक प्रश्नों का अन्धड़ उठता है, जो भीतर ही भीतर असंख्य ऊहापोह को जागृत करता है। बस, चिंतन की धारा जहाँ से प्रवाहित होती है, वहीं दर्शन की उद्गमस्थली बन जाती है।

चिंतन की धारा में अवगाहन करते, जिसको जो भी तथ्य प्रतिभासित हुआ, उसने उसका प्रतिपादन किया। परिणामस्वरूप दर्शन की विविध धाराएँ अस्तित्व में आईं। तत्त्वभेद ही दर्शन-भेद का ज्ञापक रहा है। तत्त्वभेद नहीं होता तो दर्शन में वैविध्यता पनप नहीं पाती।

तत्त्व की परिभाषा

तत्त्व में तत् शब्द सर्वनाम है और सर्वनाम सामान्य अर्थ के अवबोधक होते हैं। तत् शब्द को भाव अर्थ में त्व प्रत्यय लगाने से जो अर्थ निष्पन्न होता है, वह यह कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसका उसी रूप में होना। यही तत्त्व का तात्पर्य है।

तत्त्व शब्द के सामान्य अर्थ हैं—वास्तविक स्थिति, यथार्थता, असलियत। जगत् का मूल कारण पंचमहाभूत परमात्मा, ब्रह्म, सारवस्तु, सारांश आदि।³²⁹

तत्त्व शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—वास्तविक अवस्था, परिस्थिति, यथार्थ रूप आदि।³³⁰ दार्शनिक परम्परा में तत्त्व शब्द मूल कारण और यथार्थता के अर्थ में लिया गया है।

एक कोशकार ने तत्त्व की व्याख्या इस प्रकार की है—तत्त्व यानी ब्रह्म और वस्तु का यथार्थ स्वरूप।³³²

तत्त्व की शाब्दिक, व्यौत्पत्तिक, दार्शनिक, आगमिक परिभाषाओं के आधार पर तत्त्व की समग्रता मौलिक परिभाषा के रूप में यह कह सकते हैं कि जो यथार्थ है, सर्वथा निरापद है, वह तत्त्व है। सत् यही एकमेव तत्त्व है। दृश्यमान जगत् के मौलिक स्वरूप का अन्वेषण, जीव जगत् संबंधी समस्त समस्याओं की समन्विति ही तत्त्व है।

तत्त्व के पर्यायवाची नाम/अभिवचन

तत्त्व यानी परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परमापरम, ध्येय, शुद्ध, परम—ये एकार्थवाची हैं। इसी तरह रियलिटी, फिनोमिना, एसेन्स, एलिमेंट, सबस्टेन्स तथा फेक्ट आदि शब्द पाश्चात्य दर्शन में तत्त्व शब्द के अभि अर्थ में दृष्टिगोचर होते हैं।

तत्त्वदर्शन का क्षेत्र

भारतीय दर्शन में तत्त्वदर्शन का क्षेत्र निरसीन माना गया है। सम्पूर्ण विश्व उसका विवेच्य विषय है। ब्रह्माण्ड के असंख्य पदार्थों की स्थिति एवं सत्ता की बाहरी एवं भीतरी सूक्ष्मताओं का अन्वेषण इसी पर आधारित है। आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, जीव, जगत्, मन, मस्तिष्क, मोक्ष आदि मूलभूत समस्याओं पर बौद्धिक चिंतन ही इसका क्षेत्र है।

तत्त्व क्रम संख्या

तत्त्व संख्या के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों में भिन्नता पाई जाती है। यद्यपि विश्व के समस्त दार्शनिकों का तत्त्व-चिंतन, तत्त्वसंख्या एवं तत्त्वक्रम संसार का मूल तत्त्व जो सत् है, उसी पर आधारित है। दार्शनिक चाहें आत्मवादी रहे हों या अनात्मवादी किन्तु उन्होंने मुख्य रूप से और गौण रूप से जड़ चेतन रूप युग्म को प्राधान्य दिया है। सृष्टि में असंख्य पदार्थ हैं किन्तु जिन पदार्थों में अस्तित्व को मान्यता मिली, उनका समावेश तत्त्व में किया गया। तत्त्वरूप में स्वीकृत पदार्थ में धर्म, गुण, लक्षण, क्रिया आदि को व्याख्यायित कर अनुसंधान के क्षेत्र में आगे बढ़े।

तत्त्व का अन्वेषण पारमार्थिक, लौकिक एवं व्यावहारिक धरातल पर भी हुआ है। परिणामस्वरूप जीव जगत् ईश्वर, मोक्ष एवं नैतिक, आध्यात्मिक समस्याओं को तात्त्विक धरातल पर तार्किक, बौद्धिक प्रणाली से सुलझाने का जो प्रयत्न हुआ है, उसी को लेकर दार्शनिक जगत् में एक-तत्त्ववाद, दिव्यवाद, बहुतत्त्ववाद, अद्वैतवाद आदि तत्त्ववादी परम्पराओं का उद्भव हुआ।

जैन दर्शन में तत्त्व का मूल्य-मीमांसात्मक स्वरूप

लोकस्थिति का आधार तत्त्व है। तत्त्वों की समन्विति ही यह विश्व है। समग्र सत्ता दो रूपों में व्यक्त है—चेतन और अचेतन। विश्व संरचना और वैश्विक व्यवस्था में इन्हीं दो पदार्थों का सहयोग रहा है। ये दोनों स्वतंत्र सत्ता हैं।

लोकाकाश के अंचल में विद्यमान दोनों तत्त्व—जीवतत्त्व एवं अजीवतत्त्व संख्या एवं शक्ति की दृष्टि से असीम एवं अनन्त शक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। एक अमिट मर्यादा-रेखा के परिपालन में दोनों तत्त्व संलग्न हैं। एक-दूसरे से पारस्परिक प्रभावित होने पर भी निश्चय-नय की अपेक्षा से अपने-अपने स्वभाव में परिणमन करते रहते हैं। फलतः स्वाधीन सत्ताधिष्ठित होने पर भी दोनों तत्त्व सापेक्ष उपकारी हैं।

द्रव्य एवं तत्त्व में मूलभूत कुछ अंतर नहीं है किन्तु पदार्थ एवं तत्त्व में केवल सापेक्ष स्थिति ही है। गुण के व्यष्टिगत दृष्टिकोण को तत्त्व कहते हैं जबकि गुण का समूहगत दृष्टिकोण पदार्थ कहलाता है। तत्त्व का अर्थ यही है कि पदार्थ का स्वरूप जैसा है, वैसा ही होना। द्रव्य एवं तत्त्व में प्रयोग रूप में समानता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु दोनों में भिन्नता भी है।

तत्त्वों का वर्गीकरण

संक्षेप में विस्तार की दृष्टि से तत्त्व विभाग में तीन वर्गों का उल्लेख मिलता है।

प्रथम वर्ग बनता है—दो की संख्या का जीव एवं अजीव।³⁵⁴ जीव एवं अजीव का वर्गीकरण संक्षेपशैली के आधार पर हुआ है।

द्वितीय वर्ग में तत्त्व संख्या सात का समावेश होता है³⁵⁵—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

तृतीय वर्ग के अनुसार तत्त्व संख्या नव है—स्थानांग सूत्र में इसके सन्दर्भ मिलते हैं। ये नौ पदार्थ हैं³⁵⁶—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

आगम साहित्य में तत्त्वों का वर्गीकरण

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र³⁵⁷ में सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। श्रावकाचार संग्रह³⁵⁸ में भी नौ तत्त्वों का प्रतिपादन मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्र में तत्त्व शब्द का अर्थ स्वतंत्र भाव न लेकर मोक्षप्राप्ति में होने वाले ज्ञेय भाव के अर्थ में लिया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वमीमांसा

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार का है। जो जानने योग्य है, वह ज्ञेय तत्त्व है, जो छोड़ने योग्य है, वह हेय तत्त्व है, जो ग्रहण करने योग्य है, वह उपादेय तत्त्व है।³⁵⁹

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विश्व स्थिति के लिए छः द्रव्यों का ज्ञान आवश्यक है। उसी तरह जीव के हास एवं विकास की प्रक्रिया के लिए नव तत्त्व उपयोगी हैं, वो यथार्थ हैं।

सन्दर्भ सूची—

1. स्थानांग वृत्ति, गाथा-4, उद्देशक-2, सूत्र-217
2. उत्पादादि सिद्धिनामधेयं टीका, पृ. 2
3. उत्पादादि सिद्धिनामधेयं प्रकरण, श्लोक-1
4. धीतराग स्तोत्र, प्रकाश-8, श्लोक-12
5. प्रशमरति सूत्र, श्लोक-204
6. योग शतक ग्रन्थ, गाथा-71
7. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-5, सूत्र-29
8. द्रव्यगुण पर्याय रास, ढाल-1, गाथा-3, 9
9. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 350
10. न्यायविनिश्चय, पृ. 435

11. आप्तमीमांसा, श्लोक-49
12. मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ. 613
13. ध्यानशतकवृत्ति, पृ. 44
14. शास्त्रवार्ता समुच्चय श्लोक-478, 479
15. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद-59
16. तत्त्वार्थ भाष्य, पृ. 281
17. न्याय निश्चय, श्लोक-117
18. वही, श्लोक-119
19. वही, श्लोक-154
20. सन्मति तर्क टीका, पृ. 448
21. नय रहस्य, पृ. 90
22. प्रशस्त पादभाष्य व्योभावतारीका, पृ. 129
23. प्रमाणवार्तिकालंकार, 2/3
24. उत्पादादि सिद्धि नामधेय टीका, पृ. 1
25. ऋग्वेद कु. मं. 10, सूत्र-129
26. कठोपनिषद्, 2/20
27. ब्रह्मवर्तपुराण श्रीकृष्ण, खण्ड-आठ, 43
28. पातंजल महाभाष्य सूत्र, 2/30
29. वही, 2/32
30. पंचास्तिकाय, गाथा-15
31. वही, गाथा-17
32. भगवद्गीता, 2/16
33. शास्त्रवार्तासमुच्चय, श्लोक 1/76
34. धर्मसंग्रहणी टीका, पृ. 2-3
35. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-5/3
36. वही, अध्याय 5/30
37. जैन दर्शन का वैज्ञानिक रहस्य, पृ. 198
38. तत्त्वार्थसूत्र टीका, सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद
39. वही, आचार्य वीरसेन
40. तत्त्वार्थ सूत्र, उमास्वाति
41. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 28/7

42. भगवती सूत्र, 13-55
43. दशवैकालिक टीका, पृ. 58
44. पंचम कर्मग्रंथ, गाथा 5/97
45. श्री भगवतीसूत्र, श्लोक-13, उद्देशक-4
46. आवश्यक अवचूर्णि, पृ. 33
47. अनुयोगवृत्ति, पृ. 76
48. लोकप्रकाश, सर्ग-1218
49. वही, सर्ग-1218
50. शांत सुधारस भावना
51. आवश्यक निर्युक्ति शिष्यादिता टीका, पृ. 50
52. स्थानांग समवायांग सूत्र, पृ. 563 टिप्पण
53. बृहत्संग्रहणी, गाथा-137
54. लोकप्रकाशान्तर्गत अभिप्राय, भाग-2, सर्ग-12, पृ. 2, 3
55. अनुयोगवृत्ति हरिभद्रीय, पृ. 77
56. अनुयोग मलधारीय वृत्ति, पृ. 77
57. लोकप्रकाश, गाथा 9-14
58. शान्त सुधारस, ढाल-11, श्लोक 2-5
59. *Disctionary English and Sanskrit–Monier Willams*, p. 821
60. भगवती सूत्र, 4/20
61. हरिवंश पुराण, 4/32
62. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. 115
63. भारतीय सृष्टिविद्या, पृ. 11
64. स्थानांग सूत्रस्थान-4, सूत्र 259
65. सर्वार्थसिद्धि, 5/10
66. भगवती सूत्र, 5/51
67. योगशास्त्र, गाथा 4/106
68. लोकप्रकाश, गाथा-6
69. तत्त्वार्थ भाष्य, गाथा-6
70. भगवती सूत्र, पृ. 158
71. स्थानांग सूत्र, सूत्र-163, 286, 498, 600, 604
72. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 511-10-11
(ख) प्रज्ञापना देवाधिकार

73. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-3, पृ. 112-14
74. भगवती सूत्र, 11-90
75. भगवती सूत्र, शतक-13, उद्देशक-21, पृ. 1103
76. अनादिविशिका, श. 1
77. लोकप्रकाश, भाग-1, सर्ग-2, गाथा-3
78. दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 70
79. ध्यानशतक, पृ. 45
80. अनुयोग मलधारीय वृत्ति, पृ. 80
81. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका, पृ. 165
82. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 250
83. ललित विस्तारावृत्ति, पृ. 102
84. ध्यानशतक, गाथा-53
85. तत्त्वार्थ भाष्य, पृ. 159
86. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 250
87. अंगुत्तर निकाय, 9/38
88. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 30
89. वीतराग स्तोत्र, प्रकाश 7/8
- 90 सूत्रकृतांग, अध्याय-1, उद्देशक-3, गाथा 5-7
91. ललित विस्तारावृत्ति, पृ. 205
92. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका, स्तवक-3, पृ. 34
93. नन्दीसूत्र हरिभद्रीयवृत्ति, पृ. 108
94. विशेषावश्यक कोटयाचार्यवृत्ति, पृ. 18
95. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 2462
96. अनुयोग हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 8
97. नन्दी हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 3
98. नन्दीसूत्र, पृ. 2
99. आवश्यक सूत्रावचूर्णि, पृ. 4
100. पंचास्तिकाय और वृत्ति, गाथा-9, पृ. 26
101. तत्त्वार्थराजवार्तिक, प्रथम अध्याय, 29/1
102. द्रव्यास्तिकाय, अध्याय 2/1
103. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ. 21-22

104. पंचास्तिकाय, 10
105. अनेकान्तव्यवस्था प्रकरणम्, पृ. 4
106. वही, पृ. 85
107. द्रव्यगुणपर्यायरास, ढाल 2/1
108. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 28/18
109. न्यायविनिश्चय, श्लोक-115
110. श्री भगवद्गीता टीका, प्रथम भाग, पृ. 52, गाथा 57
112. श्रीमक्षवश्यकसूत्र निर्युक्ति अवचूर्णि, पृ. 4
113. नन्दीवृत्ति, हारिभद्रीय, पृ. 3
114. अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 4
115. आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 768
116. नन्दी सूत्र, पृ. 2
117. विशेषावश्यकभाष्य, पृ. 645
118. सन्मति तर्क, प्रथम काण्ड, गाथा 12
119. लोकतत्त्वनिर्णयश्लोक-11
120. वही, श्लोक-118
121. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 7/37
122. द्रव्य गुण पर्याय रास, ढाल 2/3
123. ललित विस्तरा, पृ. 339
124. द्रव्य गुण पर्याय रास, ढाल 3/15
125. श्रीभगवतीजी, शतक-25, उद्देशक-2
126. अनुयोगद्वार सूत्र, 143
127. श्रीभगवतीजी, शतक-25, उद्देशक-4
128. उत्तराध्ययन सूत्र, 28/718
129. ज्ञानसार, द्वितीय भाग, पृ. 293
130. स्थानांग वृत्ति, स्थानक-4, उद्देशक-2, सूत्र-252, पृ. 330
131. अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-1, पृ. 513
132. आचारांग टीका, श्रुत-2, अध्याय-4, उद्देशक-4
133. प्रज्ञापना टीका, स्थानक-2, पद-2, पृ. 20
134. समवायांग टीका (हिन्दी अनुवाद), स्थानक-5, सूत्र-27, पृ. 13
135. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 249

136. जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम पद, पृ. 5
137. अनुयोग मलधारीय वृत्ति, पृ. 17
138. स्थानांग टीका, स्थानक-4, उद्देशक-1, सूत्र-252
139. पंचास्तिकाय, गाथा-5
140. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, पृ. 19
141. श्रीभगवती सूत्र, शतक-18, उद्देशक-7
142. अंग यविदठ सुताणि भगवई, शतक-2, उद्देशक-10, सूत्र-117
143. वही, शतक-2, उद्देशक-10, सूत्र-118
144. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक-13, उद्देशक-4
145. लोकालोक व्यवस्थानुपयते, पृ. 130, प्रज्ञापना पद-1
146. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद, पृ. 20
147. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति, पृ. 41
148. अनुयोग मलधारीय वृत्ति, पृ. 67
149. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/14
150. न्यायालोक महो यशोविजय, तृतीय प्रकाश, पृ. 320
151. वही, तृतीय प्रकाश, पृ. 321
152. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/15
153. न्यायालोक महो यशो, तृतीय प्रकाश, पृ. 322
154. वही, पृ. 823
155. जीवाजीवाभिगम टीका, पृ. 6
156. समवायांग वृत्ति, स्थानक-5, उद्देशक-3, सूत्र 174
157. श्रीभगवतीजी सूत्र, शतक-13, उद्देशक-4
158. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 28/9
159. उत्तराध्ययन बृहद्दीपिका, पृ. 571
160. श्री स्थानांग सूत्र, स्थानक-5, उद्देशक-3, सूत्र 441
161. स्थानांग वृत्ति, पृ 4571
162. प्रज्ञापना टीका, पृ. 20
163. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 17-18
164. पंचास्तिकाय, गाथा 91-93
165. प्रशमरति, गाथा 215
166. अनुयोग मलधारीयवृत्ति, पृ. 67

167. जीवाजीवाभिगम वृत्ति, पृ. 6
168. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 5/7
169. वही, 5/6
170. प्रज्ञापना सूत्र, पद-1
171. न्यायावतार, पृ. 35
172. लोकप्रकाश, 2/25
173. भगवती सूत्र, शतक-2, उद्देशक-10
174. श्री भगवतीजी टीका, शतक-2, उद्देशक-1
175. जीवाजीवाभिगम मलयगिरियावृत्ति, पृ. 5
176. प्रज्ञापना टीका, प्रथम पद, पृ. 21
177. न्यायालोक, पृ. 324
178. दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, पृ. 69
179. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/6
180. भगवती सूत्र, 13/58
181. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-5, सूत्र-28
182. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 28/9
183. स्थानांग सूत्र, स्थानक-5, उद्देशक-3
184. स्थानांग वृत्ति, स्थानक-5, उद्देशक-3, पृ. 560
185. न्यायालोक, तृतीय प्रकाश, पृ. 324
186. अनुयोग मलधारीयवृत्ति, पृ. 68
187. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पृ. 360
188. जीवाजीवाभिगम मलयगिरियावृत्ति, पृ. 7
189. लोकप्रकाश, सर्ग 1/11
190. षड्द्रव्यविचार, पृ. 15
191. उत्तराध्ययन सूत्र, 28/9
192. दिगम्बर ब्रह्म सूत्र, पृ. 358
193. भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, पृ. 101
194. स्याद्वाद मंजरी, पृ. 48
195. अभिधर्म कोश तत्र आकासमनावृत्ति, 1/5
196. विश्व प्रहेलिका, पृ. 22
197. वही, पृ. 23

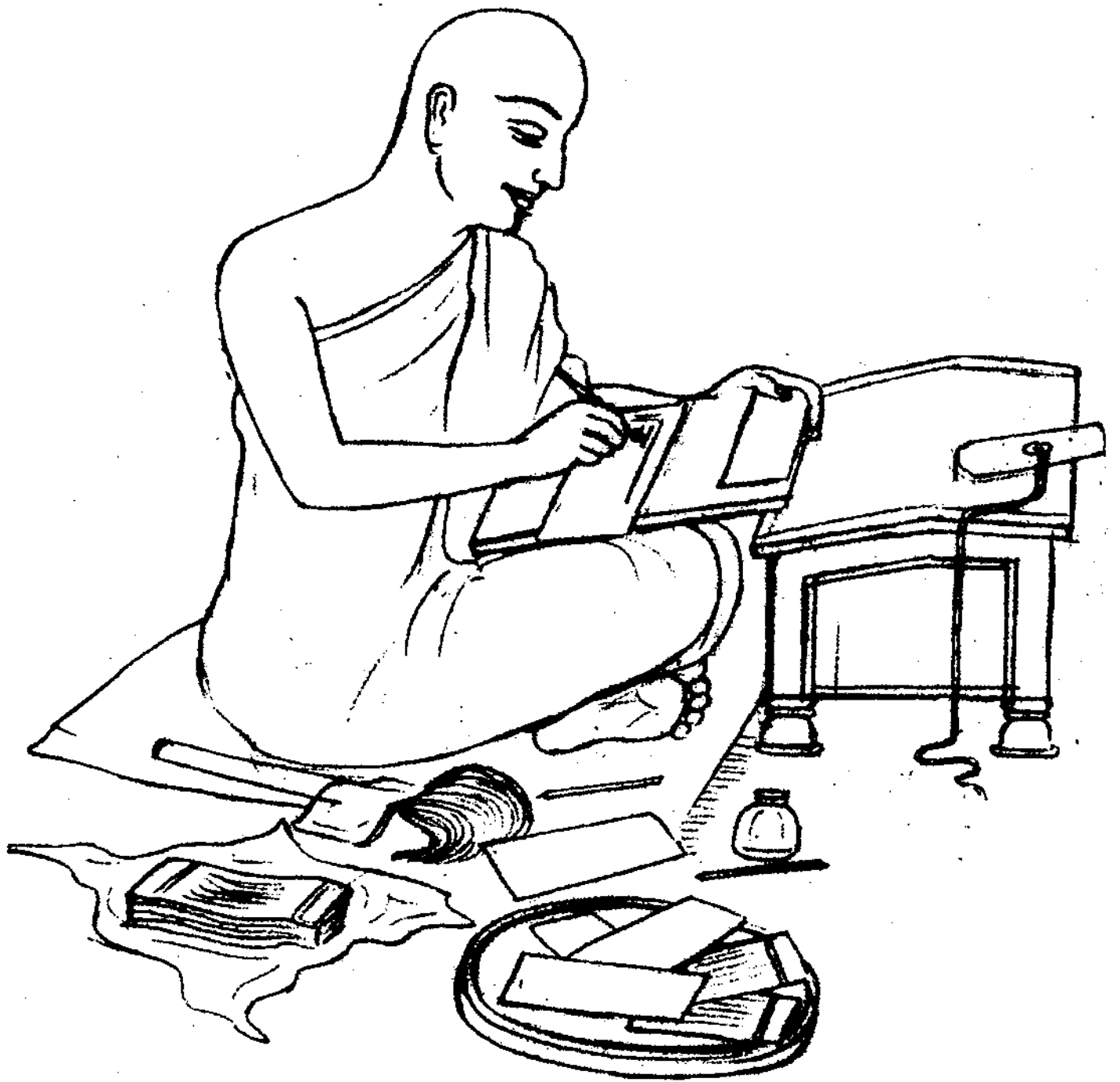
198. श्री भगवतीजी सूत्र, शतक-2, उद्देशक-10
199. स्थानांग सूत्र, स्थानक-5, उद्देशक-3, सूत्र 172
200. वही, सूत्र 174
201. समवायांग टीका (हिन्दी अनुवाद), स्था. 27, पृ. 14
202. पंचास्तिकाय वृत्ति, गाथा-3, पृ. 16
203. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 5/23
204. न्यायालोक, तृतीय प्रकाश, पृ. 331
205. षड्द्रव्य विचार, पृ. 17
206. प्रशमरति, गाथा 207
207. अनादिविशिका, गाथा 2/2
208. षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 254
209. श्री भगवती शतक-13, उद्देशक-4
210. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 28/12
211. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 5/24
212. नवतत्त्व, गाथा 11
213. लोकप्रकाश, सर्ग 11/12, 13
214. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 266
215. प्रशमरति, गाथा 215, 216
216. ध्यानशतक हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 45
217. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-5, सूत्र-19, वार्तिक-40
218. हरिवंश पुराण, सर्ग-7, श्लोक-36
219. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/14
220. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-5, सूत्र-23
221. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/14
222. श्री भगवतीजी, शतक-2, उद्देशक-2
223. स्थानांग, स्थानक-5, उद्देशक-3, सूत्र-174
224. लोकप्रकाश, सर्ग 11/2 से 4
225. तत्त्वार्थ सूत्र भेद संघोतेभ्य उत्पन्ते, 5/26
226. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-5, सूत्र-19
227. वही, सूत्र-20
228. उत्तराध्ययन सूत्र, 36/22

229. भगवती सूत्र, शतक-25, उद्देशक-3
230. ठाणांग, उद्देशक-7, सूत्र 26
231. अनुयोग मलधारीय वृत्ति, पृ. 67
232. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, पृ. 55
233. धर्मसंग्रहणी टीका, भाग-प्रथम, पृ. 40
234. प्रज्ञापना टीका, स्थानक, हिन्दी अनुवाद जीवप्रज्ञापना सूत्र, पृ. 35
235. न्यायालोक, तृतीय प्रकाश, पृ. 331
236. वही, पृ. 331
237. तत्त्वार्थ सूत्र, 2/8
238. नवतत्त्व, गाथा-5
239. ध्यानशतकवृत्ति, हारिभद्रीय, पृ. 45
240. पंचास्तिकाय, पृ. 49
241. उत्तराध्ययन सूत्र, गाथा 28/10
242. ध्यानशतक, गाथा 55
243. द्रव्य गुण पर्याय रस, ढाल 10, गाथा 10, पृ. 480
244. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 337
245. प्रज्ञापना टीका, प्रथम पद, पृ. 30
246. आचारांग टीका, पृ. 58
247. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पृ. 561
248. पंचास्तिकाय, गाथा-27
249. अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 60
250. नवतत्त्व, गाथा-5
251. श्री भगवतीजी, सूत्र श. 13, उद्देशक-4
252. वही, शतक-2, उद्देशक-10
253. श्री स्थानांग सूत्र, अ. 5/21
254. तत्त्वार्थटीका, पृ. 225
255. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/39
256. आचारांग सूत्र, अध्याय-2, उद्देशक-3, सूत्र-62; अंगसुत्ताणि, भाग-1, अध्याय-3, उ. 3, सूत्र 55
257. लोकप्रकाश, सर्ग-28, शा. 3, 4
258. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 251
259. धर्मसंग्रहणी, प्रथम भाग, गाथा-32

260. अभिधान राजेन्द्र कोष, पृ. 471
261. न्यायालोक, तृतीय प्रकाश, उपाध्याय यशोविजय, पृ. 327
262. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/22
263. लोकप्रकाश, भाग-4, सर्ग-28, गाथा-6
264. उत्तराध्ययन सूत्र (वत्तणा लक्खणो काल), अध्याय 28/10
265. बृहद् द्रव्य संग्रह, गाथा 21, पृ. 70
266. द्रव्य गुण पर्याय रास, ढाल 20, श्लोक-173
267. अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 60
268. तत्त्वार्थ टीका, पृ. 225
269. न्याय खंडन खंडरवाद्य, पृ. 629
270. महापुराण (वर्तते द्रव्य पर्याय, तस्य वर्तयिता काल), पृ. 312
271. धर्मसंग्रहणी टीका, प्रथम भाग, पृ. 36
272. लोकप्रकाश, भाग-4, स. 28, गाथा-5
273. धर्मसंग्रहणी टीका, पृ. 38
274. लोकप्रकाश, भाग-4, गाथा 11-25
275. द्रव्य गुण पर्याय रास, गाथा-3, पृ. 480, ढाल-10
276. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 251
277. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 5/38
278. वही, अ. 5/39
279. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. 193
280. द्रव्यसंग्रह, गाथा 21-22
281. तीर्थंकर मासिक, अप्रैल 1986, वर्ष 15, अंक-180, पृ. 8
282. न्यायाकारिकावली-45, वैशेषिक दर्शन, 2/2/6-10
283. सांख्यकौमुदी 33
284. न्यायाकारिका, 46
285. वैशेषिक दर्शन, 2/2/6
286. अट्टशालिनी, 1/3/16
287. जैन तत्त्वमीमांसा एवं आचार-मीमांसा, पृ. 68
288. हिस्टरी ऑफ फिलोसोफी, पृ. 166
289. फिजिक्स, 4/2/2009
290. कन्फेसन्स, 11-14

291. जैन तत्वमीमांसा और आचारमीमांसा, पृ. 68
292. सांख्यकारिका माठरवृत्ति, पृ. 76
293. सन्मति तर्क टीका, पृ. 711
294. गोम्मतसार कर्मकाण्ड, गाथा 879
295. माध्यमिकावृत्ति, पृ. 386
296. चतुःशतकम्, पृ. 38
297. मैत्र्याणुपनिषद् वाक्यकोष, पृ. 6/15
298. नन्दीसूत्र मलयगिरी टीका, पृ. 225
299. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय-28
300. स्थानांग सूत्र, स्थानक-9, सूत्र-6
301. नवतत्त्व, गाथा-5
302. पंचास्तिकाय, गाथा-116
303. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय 1/4, कारिका 7, 14
304. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 2/10
305. उत्तराध्ययन सूत्र, पृ. 446
306. स्थानांग सूत्र, 9, 25
307. समयसार, 4, 164, 65
308. शांत सुधारस, आश्रव भावना 3
309. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/1
310. तत्त्वार्थ टीका, पृ. 455
311. वही, पृ. 456
312. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/4
313. तत्त्वार्थ भाष्य, पृ. 355
314. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 10/3
315. नवतत्त्व सार्थ, पृ. 151-152
316. षड्दर्शन समुच्चय, कारिका 14-16
317. वही, कारिका-42
318. वही, कारिका-60
319. औपपातिक सूत्र, गाथा 63-65
320. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, श्लोक-4
321. नमिजिन स्तवन, गाथा-6

322. स्याद्वाद मंजरी, श्लो-22
323. अनेकान्त व्यवस्था, पृ. 65
324. प्रमाणनयतत्वालोक, पृ. 105
325. अनेकान्त जयपताका, पृ. 135
326. षड्दर्शन समुच्चय टीका, कारिका-55
327. अध्याभोपनिषद्, 1/62
328. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ—स्याद्वाद और सप्तभंगी एक चिंतन
329. तस्य भावे तत्वम्, सर्वार्थसिद्धि, 1/2/10, पृ. 4
330. नालंदा विशाल शब्दसागर, पृ. 493
331. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 485
332. भारतीय तत्त्व विद्या, पृ. 5
333. तच्च तह परमठ दब्ब सहावं तहेव परमपरं
ध्येय सुद्धं परमं एयद्धा हुंति अभिहाणा ।
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृ. 352
334. (क) स्थानांग सूत्र, 2/4/95
(ख) पणवणा सूत्र, पद-1
335. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-1, सूत्र-4
336. स्थानांग, स्थान-9
337. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय-1, सूत्र-4
(ख) षड्दर्श समुच्चय हारीभद्रीय वृत्ति-2
(तत्त्वकानि मोक्ष-रहस्यानि)
338. श्रावकाचार, संग्रह, भाग-5, पृ. 10
339. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 72



चतुर्थ अध्याय

ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा

(अ) जैन ज्ञान मीमांसा का उद्भव और विकास
ज्ञान की परिभाषा एवं भेद-प्रभेद
मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान-साम्य, वैषम्य
अवधि एवं मनःपर्यवज्ञान के भेद को दिखाने
वाले हेतु एवं साधर्म्य
केवलज्ञान की सर्वोत्तमता
ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदाभेद
ज्ञान की विशिष्टता

(ब) जैन न्याय का उद्भव एवं विकास
न्याय की परिभाषा
प्रमाण लक्षण
आगमोत्तर युग में प्रमाण एवं परोक्ष प्रमाण
प्रत्यक्ष प्रमाण एवं परोक्ष प्रमाण
न्यायशास्त्र के प्रमुख तीन अंग-प्रमेय,
प्रमिति, प्रमाता
चार निक्षेप का स्वरूप
प्रमाणमीमांसा की विशिष्टताएँ

ज्ञान मीमांसा एवं प्रमाण मीमांसा

जैन ज्ञान मीमांसा का उद्भव और विकास

ज्ञान को आत्मा का नेत्र कहा गया है। जैसे नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए सारा संसार अंधकारमय है, उसी प्रकार ज्ञान-विहीन व्यक्ति संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है। भौतिक जीवन की सफलता और आत्मिक जीवन की पूर्णता के लिए प्रथम सीढ़ी ज्ञान की प्राप्ति है। जीवन की समस्त उलझनें, अशांति, सुख-दुःख, राग-द्वेष—इन सभी का मूल कारण ज्ञान का अभाव ही है। बिना ज्ञान के न तो जीवन सफल होता है, न सार्थक। जो व्यक्ति अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है, उसे ज्ञानार्जन के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। जीवन तब ही सार्थक हो सकता है, जब उसकी गति, उसकी दिशा और उसका पथ सही हो और इनका सम्यक् निर्धारण ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है। ज्ञान के समान अन्य कोई निधि नहीं है।

उपाध्याय यशोविजय की ज्ञानमीमांसा एक दार्शनिकता को उद्घाटित करती हुई साहित्य जगत् में उजागर हुई है। उनके द्वारा रचित अनेक ग्रंथों में ज्ञान-विषयक विवरण हमें प्राप्त होता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने जीवन में ज्ञान को जाना था। उनकी गरिमा का आस्वाद लिया था। ज्ञान दृष्टि उद्घाटित हो जाने के बाद एक दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तथा चिंतन की दृष्टि बन जाने के बाद क्रमशः दिशाएँ दिग्गत अनंतरूप लेती हैं और जीवन का उत्थान उल्कान्ति का रूप लेता है अतएव ज्ञान ज्योति है, मार्गदर्शक है, स्वतत्त्व को ज्ञात कराता है। तत्त्वविभाकर बनकर ज्ञान निर्णायक शक्ति का प्रकटीकरण करता है।

उपाध्याय यशोविजय ने दार्शनिक साहित्य में ज्ञान का एक जीवन्त स्वरूप खड़ा किया है, जिसे सैकड़ों आत्माओं ने नतमस्तक होकर स्वीकारा है। उनकी उदारता एवं समदर्शिता ने उनके साहित्य को बिद्रवदवर्य के लिए हृदयगम्य बना दिया है।

ज्ञान की कक्षा जितनी विस्तृत होगी, उतनी श्रद्धा गहरी बनेगी। ज्ञान से मिथ्यात्व का परिहार और सम्यक्त्व का दर्शन होता है। सम्यग् श्रद्धा की अभिव्यक्ति में ज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है।

मानव संस्कृति के उदयकाल से ही ज्ञान विमर्श का विषय रहा है। हर सभ्यता, संस्कृति ने ज्ञान की महत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया है। धर्म-दर्शन के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान के अस्तित्व का चिंतन सुदूर अतीत तक चला जाता है।

आगम पूर्ववर्ती ज्ञान चर्चा

जैन धर्म में आगम का सर्वोच्च स्थान है। वर्तमान में उपलब्ध जैन साहित्य में आगम ग्रन्थ ही सबसे अधिक प्राचीन है। उन आगमों में तो ज्ञान सिद्धान्त का वर्णन प्राप्त है ही, किन्तु आगम से पूर्ववर्ती

पूर्व साहित्य में भी ज्ञान-चर्चा का उल्लेख था, इसका भी प्रमाण उपलब्ध है। विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान की चर्चा के सन्दर्भ में एक गाथा उद्धृत की गई है, जिसको भाष्यकार एवं वृत्तिकार ने पूर्वगाथा के रूप में स्वीकृत किया है—

बुद्धि दिद्वे अत्ये जे भासई, तं सयं भई सहियं ।

इथरपत्य वि होज्ज सुयं, उवलद्धि समं जई भणेज्जा ।।

पूर्व श्रुत जो भगवान महावीर से भी पूर्ववर्ती था तथा अब यह नष्ट हो गया है, ऐसी मान्यता है, उस पूर्वश्रुत में ज्ञान प्रवाद नाम का पूर्व था, जिसमें पंचविधज्ञान की चर्चा थी। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ इस तथ्य को स्वीकार करती हैं।

कार्य संबंधी अति प्राचीन माने जाने वाले ग्रंथों में भी पंचविध ज्ञान के आधार पर ही ज्ञानावरणीय कर्म की प्रवृत्तियों का विभाजन है। कर्म संबंधी अवधारणा निश्चित रूप से लुप्त हुए कर्म प्रवाह पूर्व की अवशिष्ट परम्परा मात्र है। उत्तराध्ययन सूत्र जैसे प्राचीन आगमों में भी उनका वर्णन है। नंदी सूत्र में तो केवल पंचज्ञान की ही चर्चा है। आवश्यक निर्युक्ति जैसे प्राचीन व्याख्या ग्रंथ का मंगलाचरण पंचज्ञान के द्वारा ही किया गया है। पंचज्ञान की चर्चा भगवान महावीर से भी पूर्ववर्ती राजप्रश्नीय सूत्र के द्वारा ज्ञात होती है। शास्त्रकार ने भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार के मुख से ये वाक्य कहलवाये हैं—

एवं खुं पएसी अहं समणाणं निउगंधाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते ।

तं जहा आभिणि बोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिनाणे, मणपच्च वणाणे केवलणाणे ।।

इस उच्चारण से स्पष्ट फलित होता है कि इस आगम के संकलनकर्ता के मत से भगवान महावीर से पहले भी श्रमणों में पाँच ज्ञान की मान्यता थी। उनकी यह मान्यता निर्मूल नहीं है। 'उत्तराध्ययन' के 29वें अध्ययन के केशी-गौतम-संवाद से स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में प्रचलित आचार-विषयक संशोधन महावीर ने किया है किन्तु पार्श्वनाथ परम्परा के तत्त्व चिंतन में विशेष संशोधन नहीं किया है। इस सम्पूर्ण चर्चा से फलित होता है कि भगवान महावीर ने पाँच ज्ञान की नवीन चर्चा प्रारम्भ नहीं की है किन्तु पूर्व परम्परा से जो चली आ रही थी, उनको ही स्वीकार कर उसे आगे बढ़ाया है।

आगम युग में ज्ञान

आगम साहित्य के आलोक में ज्ञानचर्चा के विकास-क्रम का अवलोकन करने से उसकी तीन भूमिकाओं का स्पष्ट अवभास होता है।

प्रथम भूमिका में ज्ञान को पाँच भेदों में ही विभक्त किया गया है।

द्वितीय भूमिका में ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष—इन दो भेदों में विभक्त किया गया है। पाँच ज्ञान में प्रथम दो ज्ञान परोक्ष एवं अन्तिम तीन ज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस भूमिका में केवलज्ञान आत्म सापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को परोक्ष माना गया है। जिस इन्द्रिय ज्ञान को अन्य सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष स्वीकार करते थे, वह इन्द्रिय ज्ञान जैन आगमिक परम्परा में परोक्ष ही रहा।

तृतीय भूमिका में इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस भूमिका में लोकानुसरण स्पष्ट है।

प्रथम भूमिकागत ज्ञान का वर्णन भगवती सूत्र में उपलब्ध होता है, जैसे—

कइविहे णं भंते। णाणे पण्णते?

गोयमाः पंचविहे णाणे पण्णते, तं जहा आभिणि

बोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे केवलणाणे।

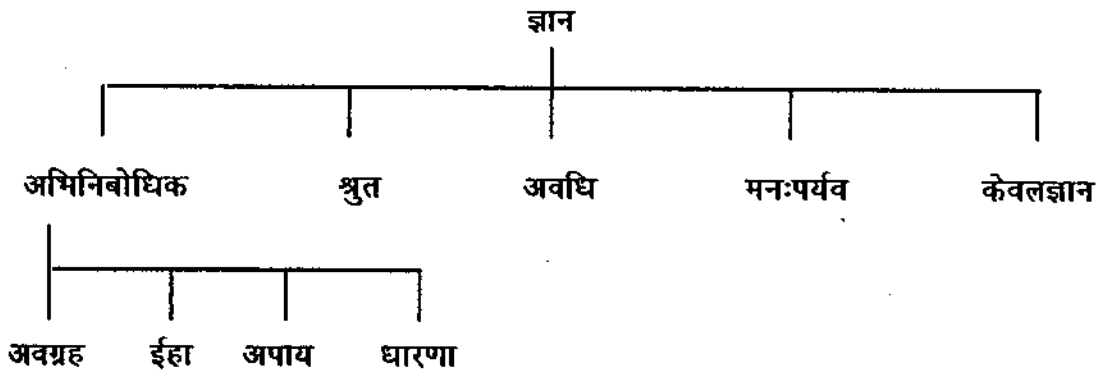
से किं तं आभिणिबोहियणाणे?

आभिणिबोहियणाणे चउव्विहे पण्णते, तं जहा—उग्गहो,

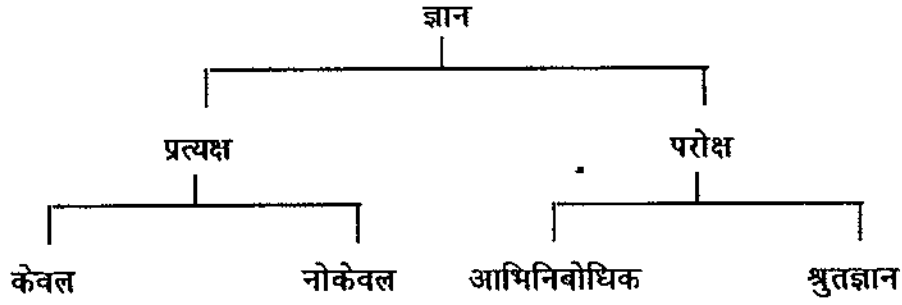
ईहा, अपाओ, धारणा एवं जहा रायप्पसेणइज्जे णाणाणं

भेओ तहेव इह भाणियव्वो, जाव से तं केवलणाणे।^२

वहाँ पर ज्ञान को पाँच भागों में विभक्त किया है, जो निम्न सारणी से समझा जा सकता है—



भगवती सूत्र में ज्ञान संबंधी इससे आगे के वर्णन को राजप्रश्नीय सूत्र से पूरा करने का निर्देश दिया गया है तथा राजप्रश्नीय में पूर्वोक्त भेदों के अतिरिक्त अवग्रह के दो भेदों का कथन करके शेष की नंदीसूत्र से पूर्ति करने की सूचना दी गई है। स्थानांगगत ज्ञान चर्चा द्वितीय भूमिका की प्रतिनिधि है। स्थानांग में ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष—ये दो भेद किये गये हैं तथा पाँच ज्ञानों का सभाहार इन दो भेदों में हुआ है।



इसी वर्गीकरण के आधार पर आचार्य उमास्वाति ने भी प्रमाण को प्रत्यक्ष, परोक्ष में विभक्त करके उन्हीं दो भेदों में पंचज्ञानों का समावेश किया है तथा पश्चातवर्ती जैन तार्किकों ने प्रत्यक्ष के सरल एवं विकल्प—ये भेद से दो विभाग किये। इस वर्गीकरण का आधार भी स्थानांग में आगत प्रत्यक्ष के केवल और नो केवल—ये दो भेद हैं। ज्ञानचर्चा विकास क्रम की तृतीय आगमिक भूमिका का आधार 'नंदी सूत्र' में उपलब्ध ज्ञानचर्चा है, जैसे—

नाणं पंचविहं पण्णतं, तं जहा—

1. आभिनिबोधयणाणं, 2. सुयनाणं, 3. ओहिनाणं, 4. मण पज्जवणाणं, 5. केवलणाणं।⁴

उपर्युक्त विवेचन से ये तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं कि—

1. अवधि : मनःपर्यव और केवल—ये ज्ञान पारमार्थिक सत्य हैं।
2. श्रुत परोक्ष ही हैं।
3. इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष हैं और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष हैं।
4. मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही हैं।

ज्ञान चर्चा की स्वतंत्रता—पंचज्ञान चर्चा के क्रमिक विकास की इन तीनों आगमिक भूमिकाओं की विशिष्टता यह है कि इनमें ज्ञानचर्चा के साथ अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाण चर्चा के साथ कोई समन्वय स्थापित नहीं किया। ज्ञान के अधिकारी की अपेक्षा से सम्यक् एवं मिथ्या माना गया है। इस सम्यक् एवं मिथ्या विशेषण रूप ज्ञान के द्वारा ही आगमिक युग में प्रमाण एवं अप्रमाण के प्रयोजन को सिद्ध किया गया। आगम युग में प्रथम तीन ज्ञान को ज्ञाता की अपेक्षा मिथ्या तथा सम्यक् स्वीकार किया गया है तथा अन्तिम दो को सम्यक् ही माना है। अतः ज्ञान को साक्षात् प्रमाण-अप्रमाण न कहकर भी भिन्न प्रकार से इस प्रयोजन को निष्पादित कर लिया है।

ज्ञान विचार विकास—जैन परम्परा में ज्ञान संबंधी विचारों का विकास भी अलग-अलग दिशाओं में हुआ है—स्वदर्शनाभ्यास और दर्शनान्तराभ्यास।

स्वदर्शन अभ्यास जनित ज्ञान विचार विकास के अन्तर्गत अन्य दर्शनों की परिभाषाओं को अपनाते का प्रयत्न देखा नहीं जाता तथा परमत खण्डन प्राप्त नहीं है।

दर्शनान्तर अभ्यास क्रम में ज्ञान विकास में अन्य दर्शनों की परिभाषाओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न है तथा परमत खण्डन के साथ-साथ जल्पकथा का भी अवलम्बन देखा जाता है।

आगम युग से लेकर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तक ज्ञान विकास की भूमिकाओं को छह भागों में विभक्त कर सकते हैं। सातवीं उनके उत्तरवर्ती आचार्य की हो सकती है—

1. कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक युग,
2. निर्युक्तिगत,
3. अनुयोगगत,
4. तत्त्वार्थगत,
5. सिद्धसेनीय,
6. जिनभद्रीय एवं
7. उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा।

कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक युग

कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक भूमिका में मति या अभिनिबोध आदि पांच ज्ञानों के नाम मिलते हैं तथा इन्हीं नामों के आस-पास में स्वदर्शन अभ्यास जनित ज्ञान के भेद-प्रभेदों का विचार दृष्टिगोचर होता है।

निर्युक्तिगत ज्ञानमीमांसा

निर्युक्तियों को आगम की प्रथम व्याख्या माना गया है। निर्युक्ति का यह भाग श्री विक्रम की दूसरी शताब्दी का माना जाता है। उसमें पंचविधज्ञान चर्चा है तथा निर्युक्ति में मति और अभिनिबोध शब्द के अतिरिक्त संज्ञा स्मृति आदि पर्यायवाची शब्दों की वृद्धि देखी जाती है तथा उसमें ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष—ये दो विभाग भी उपलब्ध हैं। यह वर्गीकरण न्यूनाधिक रूप से अन्य दर्शनों के अभ्यास का सूचक है।

अनुयोग गत आर्यरक्षित

‘अनुयोगद्वार सूत्र’⁵ जिसको विक्रम की दूसरी शताब्दी का माना जाता है। उसमें अक्षपादीय न्यायसूत्र के चार प्रमाणों का तथा उसी के अनुमान संबंधी भेद-प्रभेदों का संग्रह है, जो दर्शनान्तरीय अभ्यास का असंदिग्ध प्रमाण है। आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार में पंचविध ज्ञान को सम्मुख रखते हुए भी न्यायदर्शन के प्रसिद्ध प्रमाण विभाग को तथा उसकी चार भाषाओं को जैन विचार क्षेत्र में लाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। अनुयोग द्वार के प्रारम्भ में ही ज्ञान के पांच भेद बताये गए हैं। ज्ञानप्रमाण के विवेचन को ज्ञानप्रमाण के भेदरूप में बता देते किन्तु ऐसा न करके उन्होंने नैयायिकों में प्रसिद्ध चार प्रमाणों को ही ज्ञान प्रमाण के भेदरूप में सूचित किया है।

तत्त्वार्थगत—ज्ञान विकास की चतुर्थ भूमिका तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके स्वरचित भाष्य में उपलब्ध है। यह विक्रम की तीसरी शताब्दी की कृति है। वाचक ने निर्युक्ति प्रतिपादित प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण का उल्लेख किया है तथा अनुयोगद्वार में स्वीकृत न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाण विभाग की ओर उदासीनता व्यक्त की है। वाचक के इस विचार का यह प्रभाव पड़ा कि उनके उत्तरवर्ती किसी भी तार्किक ने चतुर्विध प्रमाण को कोई स्थान नहीं दिया। आचार्य आर्यरक्षित सूरि जैसे प्रतिष्ठित अनुयोगधर के द्वारा एक बार जैन श्रुत में स्थान पाने के कारण न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाण भगवती आदि प्रमाणभूत माने जाने वाले आगमों में हमेशा के लिए संगृहीत हो गया। वाचक ने भीमांसा आदि दर्शनान्तर में प्रसिद्ध

अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का समावेश भी मतिश्रुत में किया है। ऐसा प्रयत्न वाचक से पूर्व किसी के द्वारा नहीं हुआ है।

सिद्धसेनीय ज्ञान विचारणा—सिद्धसेन दिवाकर दार्शनिक तार्किक जगत् के दैदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र हैं। उन्होंने अपनी तार्किक प्रतिभा के द्वारा ज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न विचारणीय मुद्दों को प्रस्तुत किया है। ये विक्रम की पांचवीं शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं। ज्ञान विचारणा के क्षेत्र में उन्होंने अपूर्व बातें प्रस्तुत की हैं। जैन परम्परा में उनसे पूर्व किसी ने शायद ऐसा सोचा भी नहीं होगा। सिद्धसेन दिवाकर के ज्ञानमीमांसा के मुख्य मुद्दों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का वास्तविक एक्य। इनके अनुसार मति-श्रुत अलग-अलग नहीं है। इन्हें दो पृथक् ज्ञान स्वीकार करने की कोई अपेक्षा नहीं है।
2. अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान में तत्त्वतः अभेद है। दिवाकरजी के अनुसार इन दो ज्ञानों को पृथक् स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है एवं ज्ञान के स्वीकार से भी प्रयोजन सिद्ध हो जाती है।
3. केवलज्ञान एवं केवलदर्शन में अभेद जैन परम्परा में मान्य केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप उपयोग को पृथक् स्वीकृति नहीं दी तथा उनके अभेद समर्थन में अपनी महत्त्वपूर्ण तार्किक युक्तियों को प्रस्तुत किया।
4. सिद्धसेन दिवाकर ने श्रद्धान रूप दर्शन एवं ज्ञान में अभेद को भी स्वीकार किया है। इन चार नवीन मुद्दों को प्रस्तुत करके सिद्धसेन दिवाकर ने ज्ञान के भेद-प्रभेद की प्राचीन रेखा पर तार्किक विचार का नया प्रकाश डाला है। इन नवीन विचारों पर जैन परम्परा में काफी ऊहापोह हुआ। दिवाकरश्री ने इन चार मुद्दों पर अपने स्वोपज्ञ विचार सन्मति तर्क प्रकरण एवं निश्चय द्वात्रिंशिका में व्यक्त किया है। न्यायावतार की रचना करके प्रमाण के क्षेत्र में भी अभिनव उपक्रम प्रस्तुत किया है।

जिनभद्रीय ज्ञानमीमांसा—आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ज्ञान विचार विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आगम परम्परा से लेकर उनके समय तक ज्ञानमीमांसा का जो स्वरूप उपलब्ध था, उसी का आश्रय लेकर क्षमाश्रमणजी ने अपने विशालकाय ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान की विशद् मीमांसा की है। 'विशेषावश्यक भाष्य'⁶ में ज्ञानपंचक की ही 840 गाथा है। इस भाष्य में जिनभद्रगणि ने पंचविध ज्ञान की आगमआश्रित तर्कानुसारिणी सांगोपांग चर्चा प्रस्तुत की है। क्षमाश्रमणजी की इस विकास भूमिका को तर्क उपजीवी आगम भूमिका कहना अधिक युक्तिसंगत है। उनका पूरा तर्क बल आगम सीमा में आबद्ध देखा जाता है। विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान से संबंधित सामग्री अत्यन्त व्यवस्थित रूप से गुम्फित कर दी है जो सभी श्वेताम्बर ग्रंथ प्रणेताओं के लिए आधारभूत बनी हुई है।

जिनभद्र से उत्तरवर्ती आचार्यों की ज्ञानमीमांसा—श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती कुछ विशिष्ट आचार्यों का योगदान ज्ञान के क्षेत्र में रहा है। आचार्य अकलंक, विद्यानंद, हेमचन्द्र और उपाध्याय यशोविजय उनमें प्रमुख हैं। ज्ञान विचार के विकास क्षेत्र में भद्र अकलंक का प्रयत्न बहुमुखी है। ज्ञान संबंधी उनके तीन प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम तत्त्वार्थसूत्रानुसारी तथा दूसरी सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार सूत्र का प्रतिबिम्बग्राही कहा जा सकता है। तीसरा प्रयत्न लघीयस्त्रयी और

विशेषतः प्रमाण संग्रह में है, वह उनकी अपनी महत्त्वपूर्ण चिन्तना है। उनमें अष्टसहस्री, प्रमाण-मीमांसा आदि ग्रंथों में भी ज्ञान एवं प्रमाण संबंधी विशद चर्चा उपलब्ध है।

उपाध्याय यशोविजय ने 'ज्ञानबिन्दु प्रकरण' में सम्पूर्ण अध-प्रभूति ज्ञानमीमांसा का सार तत्त्व प्रस्तुत कर दिया।

नयदृष्टि से अनेकों विचारणीय मुद्दों का समाधान भी उपाध्यायजी के ग्रंथों में परिलक्षित है। इसके अतिरिक्त ज्ञान संबंधी अनेक नए विचार भी ज्ञानबिन्दु में सन्निविष्ट हैं, जो उनके पूर्व के ग्रंथों में प्राप्त नहीं है। जैसे अवग्रह आदि की तुलना न्याय आदि दर्शनों में आगत कारणांश, व्यापारांश आदि से की है। ज्ञानमीमांसा के परिवर्तन, परिशोधन में अनेक आचार्यों का योगदान रहा है। विशेष बात यह है कि ज्ञान के आगमिक मौलिक स्वरूप एवं भेद आदि का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हुआ है।

उपाध्याय यशोविजयजी विद्वान् तो थे ही, साथ में वे ज्ञानी भी थे। विद्वान् तो कभी तर्कों के जाल में फंस जाता है लेकिन ज्ञानी ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ होकर सिद्धि को प्राप्त करता है, क्योंकि उसको यह ज्ञान है कि तत्त्वज्ञान ही सिद्धि का मुख्य सोपान है।

उपाध्याय यशोविजय की यह महानता थी कि वे जो कुछ लिखते थे, वही स्वयं को आज्ञा दिखाकर पूर्वाचार्यों को विद्वत् बताते थे और यह नम्रता का गुण ज्ञान के बल पर ही आ सकता है। जिस प्रकार फलों से वृक्ष बन जाता है, झुक जाता है, वैसे ही उपाध्याय यशोविजय ज्ञानगुणों की नम्रता से नम्रतम बनते गये और इस ज्ञान की नम्रता ने ही उनको ज्ञान के उच्चस्थान पर आरूढ़ कर दिया था।

न्याय विषयक एवं रहस्य से अंकित 100 ग्रंथ आज भी उनकी ज्ञान गरिमा को गौरवान्वित करने में अपनी सफलता प्रदर्शित कर रहे हैं। आज भी ये ग्रंथ हमें प्रेरणा दे रहे हैं कि उपाध्याय यशोविजय का जीवन ज्ञान की सरिता में कितना आकण्ठ निमग्न होगा। ज्ञान को जीवन में कितना स्थान दिया होगा, जो हमारे जीवन में अत्यावश्यक है। ज्ञान के बिना जीवन शून्य है। ज्ञानाद ऋते न मुक्ति—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है।

ज्ञान की परिभाषा में भेद-प्रभेद

आगम ग्रंथों में ज्ञान की व्युत्पत्ति हमें इस प्रकार मिलती है—

ज्ञानदर्शनमिति भाव साधन संविदित्यर्थ ज्ञायते वाऽनेनास्माद्रैति ज्ञानं।

तदावरण क्षयक्षयोपशम परिणाम युक्तो जाना इति वा ज्ञानम्॥

जानना वह ज्ञान है। यहाँ भाव में अनट् प्रत्यय है अथवा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से जो बोध होता है, वह ज्ञान कहलाता है अथवा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम रूप परिणाम युक्त जो बोध होता है, वह ज्ञान है।

जैन शासन में ज्ञान के पाँच प्रकार बताये गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।⁸ इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

जिसके द्वारा तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जाना जाए, उसे ज्ञान कहते हैं। 'ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेति ज्ञानम्' अर्थात् जानना ज्ञान है, या जिसके द्वारा जाना जाए, उसे ज्ञान कहते हैं।

आत्मा को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम एवं क्षय से जो तत्त्व बोध होता है, वही ज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से होने वाला ज्ञान केवलज्ञान क्षायिक है और क्षयोपशम से होने वाले शेष चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं।

जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को परोक्षज्ञान कहा गया है, क्योंकि जिस ज्ञान के होने में इन्द्रिय-मन आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है, वह ज्ञान परोक्ष कहलाता है। परः+क्षय (आत्मा)—आत्मा के सिवाय पर की सहायता से प्राप्त ज्ञान। मतिज्ञान श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित—दो प्रकार का होता है।

ज्ञान योग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मोह का त्याग ज्ञान से ही होता है, जैसे—राजहंस हमेशा मानसरोवर में मग्न रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी हमेशा ज्ञान में ही मग्न रहते हैं।

उपाध्याय यशोविजय अध्यात्मसार में ज्ञानयोग की व्याख्या करते हुए कहते हैं—ज्ञानयोग शुद्ध तप है, आत्मरति उसका एक लक्षण है। ज्ञानयोग इन्द्रियों को विषयों से दूर ले जाता है। इसलिए ज्ञानयोग मोक्षसुख का साधक तप है।⁹ ज्ञानयोग ऐसा श्रेष्ठ तप है, जिसमें आत्मा के प्रति घनिष्ठ प्रीति तथा आत्मसम्मुख होने की उत्कृष्ट अभिलाषा होती है। इसलिए यह तप पुण्यबंध का निमित्त नहीं बनता है बल्कि कर्मनिर्जरा का निमित्त बनता है। इन्द्रियों के विषय जीव को पौद्गलिक सुख की तरफ खींचते हैं, किन्तु ज्ञानयोग में पौद्गलिक सुखों की इस भव के लिए या भवान्तर के लिए कोई अभिलाषा नहीं रहती है। इसमें सिर्फ मोक्षसुख की अभिलाषा रहती है, इसलिए ज्ञान का महात्म्य विशेष है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में ज्ञानयोग का वर्णन करते हुए कहा है कि—

योगजादृष्टि जनितः स तु प्रातिभसंज्ञितः।

सन्ध्येव दिन रात्रिभ्यां केवल श्रुतयोः पृथक्।¹⁰

अर्थात् प्रातिभज्ञान ही ज्ञानयोग है। यह योगजन्य अदृष्ट से उत्पन्न होता है। जैसे दिवस और रात्रि से संध्या भिन्न है उसी प्रकार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से प्रातिभज्ञान भिन्न है। इसे अनुभव ज्ञान भी कहते हैं। यह मतिश्रुत का उत्तरभावी तथा केवलज्ञान का पूर्वभावी है।

मुनि यशोविजय अध्यात्मोपनिषद् की अध्यात्म वैशारदी नामक टीका में योगज अदृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, जो मोक्ष के साथ जोड़े, इस प्रकार की सभी शुद्ध धर्मप्रवृत्तियों से उत्पन्न हुआ विशिष्ट पुण्यानुबंधी पुण्य पुष्फल दर्शनिर्जरा में सहायक होता है। उसी को योगज अदृष्टि कहते हैं, उससे प्रातिभ नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञानयोग है।¹¹

उपाध्याय यशोविजय ने षोडशक ग्रंथ की योगदीपिका नामक टीका में बताया है कि प्रातिभा ही प्रातिभज्ञान कहलाती है।¹² हरिभद्रसूरि ने भी योगदृष्टि समुच्चय में बताया है कि प्रातिभज्ञान सर्वद्रव्यपर्याय विषयक नहीं होने से केवलज्ञान स्वरूप नहीं है।¹³ उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान को अन्य दर्शनकारों ने तारकनिरीक्षण ज्ञान के रूप में मान्य किया है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी नामक टीका में कहा है कि प्रातिभज्ञान का मतलब है स्वयं की प्रतिभा से उत्पन्न हुआ उपदेश निरपेक्ष ज्ञान। यह संसार-सागर से पार होने का उपाय होने के कारण तारक कहलाता है।

ज्ञान के भेद

जैन आगमों तथा पूर्वाचार्य रचित ग्रंथों में ज्ञान के पांच भेद उपलब्ध होते हैं, जिसका सकल काल में स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं के समूह को साक्षात् करने वाला केवलज्ञान की प्रज्ञा से तीर्थंकरों ने पांच ज्ञान का उपदेश दिया है तथा गणधर भगवंतों ने उन पांच ज्ञानों को सूत्र में निबद्ध किया है। आगम ग्रंथों आदि में ज्ञान के पांच भेद उल्लिखित हैं—

णाणं पंचविहं पण्णतं—तं जहा—आभिनिषीबोहियाण, सुयणाणं, ओहिणाणं, मणमज्जवणाण,
केवलणाणं ।¹⁴

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये पाँच प्रकार ज्ञान के हैं।

इसी प्रकार के भेद अभिधान राजेन्द्र कोष,¹⁵ उत्तराध्ययन सूत्र,¹⁶ नन्दीसूत्र,¹⁷ विशेषावश्यक भाष्य,¹⁸ तत्त्वार्थ सूत्र,¹⁹ धर्मसंग्रहणी,²⁰ कर्मग्रंथ,²¹ ज्ञानबिन्दु²² आदि सूत्रों में भी निर्दिष्ट है।

आगम ग्रन्थ आदि में ज्ञान के पांच भेद देखने को मिलते हैं लेकिन उसके कारण नहीं मिलते, ये पाँच ही भेद क्यों? पांच ज्ञानों का विवेचन इस प्रकार मिलता है।

मतिज्ञान—आभिनिबोधिक ज्ञान

द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन के निमित्त से नियतरूप से रूपी और अरूपी द्रव्य को जानना आभिनिबोधि ज्ञान है।²³

इन्द्रियों के क्षयोपशम से उत्पन्न शक्ति जहाँ तक पहुंचती है, ऐसे नियत स्थान में रहे हुए पदार्थों का जो ज्ञान है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।²⁴

आचार्यश्री मल्लिसेन सूरि रचित धर्मसंग्रहणी में आभिनिबोधिक ज्ञान अर्थात् अर्थाभिमुखे, नियते बोधोऽभिनिबोध एवाभिनिबोधिकम् ।²⁵

अर्थ के सम्मुख जो बोध, वह अभिनिबोध। इसी अभिनिबोध ज्ञान के आवश्यक कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।

इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। जैन आगमों में इसके लिए आभिनिबोधिक ज्ञान शब्द का भी प्रयोग हुआ है। प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाला अर्थाभिमुख ज्ञान आभिनिबोधिक है। यह उचित क्षेत्र में अवस्थित वस्तु को ग्रहण करने वाला स्पष्ट अवबोध है। इसे एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। रात्रि में मंद प्रकाश के कारण पुरुष प्रमाण स्थाणु को देखकर व्यक्ति सोचता है—यह पुरुष है अथवा स्थाणुवल्लियों से परिवेष्टित अथवा पक्षियों से अकीर्ण स्थाणु को देखकर उसे यह ज्ञात हो जाता है कि यह स्थाणु है। जो इस अभिमुख अर्थ के सामने दिखाई देने वाले पदार्थ को यथार्थ रूप में जानता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।

उपाध्याय यशोविजय ने भी ज्ञानबिन्दु में मतिज्ञान का लक्षण बताते हुए कहा है कि—मतिज्ञानस्य लक्षणम् तत्र मतिज्ञानत्वं श्रुताननुसार्यनतिशयित ज्ञानत्वम् अवग्रहादि क्रम वदुपयोग जन्य ज्ञानत्व च ।²⁶

श्रुताश्रित न हो, ऐसा अतिशय रहित ज्ञान वह मतिज्ञान का लक्षण है। अथवा अवग्रह, ईहा आदि क्रमपूर्वक के उपयोग रूप ज्ञान वह मतिज्ञान है।

श्रुतज्ञान

द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन के निमित्त से शब्द या अर्थ को मतिज्ञान से ग्रहण कर स्मरण कर उसमें श्री वाच्य-वाचक सम्बन्ध की पर्यालोचना शब्दोल्लेख सहित शब्द और अर्थ जानना ही श्रुतज्ञान है।²⁷

जो सुना जाता है अथवा जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमें भी इन्द्रिय और मन ही काम करता है। पत्थर की गाय से नैसर्गिक गाय का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शब्द जड़ होने पर भी जितने प्रमाण में धारणा शक्ति या संचय किया होगा, उतना ही श्रुतज्ञान होगा। मतिज्ञान की शुद्धता, शुद्धतरता, शुद्धमता पर ही श्रुतज्ञान की शुद्धता आदि निश्चित होती है।²⁸

मति विणा श्रुत नवि लहे कोई प्राणी समकित्तवंत नी एह निशानी।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में त्रिविध ज्ञान या तीन स्तर की जो चर्चा की, वो निम्न है—

त्रिविध-ज्ञानमाख्यातं श्रुतं चिन्ता च भावना।

आधं कोष्ठगबीजाभ वाक्यार्थविषयं मतम्।।²⁹

ज्ञान के तीन स्तर हैं—श्रुतज्ञान, चिन्ताज्ञान एवं भावनाज्ञान। इन तीनों में प्रथम स्तर श्रुतज्ञान है। उपाध्याय यशोविजय के मतानुसार इस ज्ञान को भंडार में रखे हुए अनाज के दानों के समान माना जाता है। जिस प्रकार भण्डार में रखे हुए अनाज के दानों में उगने की शक्ति रही हुई है, किन्तु जब तक वे भंडार में रहते हैं, तब तक उनकी यह शक्ति अभिव्यक्त नहीं होती है। चिन्तन, विमर्श और अनुभूति का अभाव होता है।

श्रुतज्ञान आगम वचनों का मात्र शाब्दिक अर्थ ही मानता है, उसका फलितार्थ नहीं जानता। श्रुतज्ञान की दृष्टि से सब्बे जीवा न हंतव्वा अथवा सब्बे जीवा वि इच्छंति पाणवहां न कायव्वो आदि वाक्यों का सामान्य अर्थ हिंसा नहीं करना तक ही सीमित है। इसलिए आचार्य यशोविजय ने यह माना है कि श्रुतज्ञान में नय निक्षेप की दृष्टि से किसी प्रकार का चिन्तन नहीं होता है। यशोविजय की दृष्टि से किसी प्रकार का चिन्तन नहीं होता है। यशोविजय की दृष्टि से यह प्राथमिक बोध है। उदाहरण—किसी जीव की हिंसा नहीं करना चाहिए और श्रावक को जिनमंदिर बनाना चाहिए। दोनों ही शास्त्रवचन हैं। इनका विरोध और उसके समाधान का प्रयत्न श्रुतज्ञान में नहीं है, क्योंकि श्रुतज्ञान विमर्शात्मक नहीं है। संक्षेप में उपाध्याय यशोविजय ने श्रुतज्ञान की चार विशेषताएँ बताई हैं—

1. सर्वशास्त्रानुगत,
2. प्रमाणनयवर्जित,
3. कोठार में रहे हुए बीज के समान अविनष्ट,
4. परस्पर विभिन्न विषयक पदार्थों में गति नहीं करने वाला।³⁰

आचार्य हरिभद्र ने षोडशक प्रकरण में कहा है कि मात्र वाक्यार्थ विषयक कोठार में रहे हुए बीज के समान प्राथमिक ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मिथ्याभिनिवेश से रहित होता है। संक्षेप में श्रुतज्ञान का प्राथमिक स्तर है।

चिन्ताज्ञान

पूर्वोक्त श्रुतज्ञान के पश्चात् चिन्ताज्ञान का क्रम है। उपाध्याय यशोविजय चिन्ताज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

महावाक्यार्थजयंतु सूक्ष्मयुक्तिशतान्वितम् ।
तद्रदितिये जले तैल-बिन्दुरीया प्रसृत्वरम् ।।²¹

जो ज्ञान महावाक्यार्थ से उत्पन्न हुआ हो तथा सैकड़ों सूक्ष्म युक्तियों से गर्भित हो और पानी में तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार ज्ञान चारों ओर व्याप्त हो जाता है अर्थात् विस्तृत होता है, उसे चिन्ताज्ञान कहते हैं।

वस्तुतः यह चिन्तनपरक विमर्शात्मक ज्ञान है। यह विवेचनात्मक व्यापक ज्ञान है और नयप्रमाण से युक्त है।

भावना ज्ञान

उपाध्याय यशोविजय भावनाज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिनाज्ञा को प्रधानता देने वाला ज्ञान ऐंदपर्य ज्ञान कहा जाता है, इसे भावनाज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान में बहुमान भाव प्रधान होता है। ऐसा भावनायुक्त ज्ञान अपरिष्कारित होने पर भी बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्न की क्रान्ति के समान है।²² षोडशक में हरिभद्र सूरि ने भी भावनाज्ञान की इसी प्रकार की परिभाषा दी है²³—

सर्वत्राज्ञा पुरस्कारि ज्ञानं स्याद भावनामयम् ।
अशुद्ध जात्यरत्नाभासमं तात्पर्यवृत्तितः ।।²⁴

तात्पर्यवृत्ति से सर्वत्र भगवान की आज्ञा से मान्य करने वाला ज्ञान भावनाज्ञान है।

भावना ज्ञान का फल बताते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

चारसंजीविनीचार कारक ज्ञात तोऽन्तिमे ।
सर्वत्रैव हिता वृत्तिर्गाम्भीर्या तत्त्व दर्शिनः ।।²⁵

घास और संजीवनी दोनों को चराने वाली स्त्री के दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि सभी ज्ञानों की साधना करते हुए व्यक्ति भावनाज्ञान को प्राप्त हो जाता है।

श्रुतज्ञान बीजरूप गेहूँ के स्थान पर है। चिन्ताज्ञान अंकुरित गेहूँ के स्थान पर है तथा भावनाज्ञान फलरूप, गेहूँ रूप में दोनों के समान होने पर भी दोनों में अन्तर रहा हुआ है। उसी प्रकार आज्ञा ही प्रमाण है—इस जिनवचन से श्रुतज्ञान में जो प्राथमिक कक्षा का ज्ञान होता है, उसमें और चिन्ताज्ञान के तथा उसके बाद होने वाले भावनाज्ञान में आज्ञा ही प्रमाण है। इस पद के अर्थ में अन्तर होता है। आज भावनाज्ञान का विकास करके सारे साम्प्रदायिक झगड़े समाप्त किये जा सकते हैं।

अवधिज्ञान

द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन के बिना केवल आत्मा से रूपी पुद्गलों द्रव्यों को जानना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर इन्द्रियों और मन की अपेक्षा रहित जो आत्मा द्वारा ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी उपयुक्ति व्याख्या को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—
अवधिज्ञानत्वं रूपिसमव्याप्य विषमताशालिज्ञानवृत्ति ज्ञानत्व व्याप्य जातिमत्वम् ।
रूपि सम व्याप्य विषयता शालिज्ञानं परमावधि ज्ञानम् । रूपग्रंथ लहइ सर्व्वं (आव. 44) इति वचनात् ।।36।।

अवधिज्ञान का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि अवधिज्ञान में रहा हुआ अवधिज्ञानत्व यानी जिस ज्ञान की विषयता में रहा हुआ अवधिज्ञानत्व यानी जिस ज्ञान की विषयता सभी रूपी द्रव्यों में व्याप्त हो एवं अरूपी पदार्थ में व्याप्त न हो, ऐसे विषयतारूप ज्ञान को रूपिसमव्याप्य विषमतारूप ज्ञान कहा जाता है, ऐसा ज्ञान परम अवधिज्ञान है, क्योंकि इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में भी आता है।

जिस आत्मा को जितना अवधिज्ञान होता है, वह उस अवधि अर्थात् मर्यादा में रहे हुए रूपी पदार्थों को देखता है। इसमें वह सभी को समान रूप से नहीं होना, जिसको जितना क्षयोपशम होता है, उतना ही जानता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म के आदरणीय कर्मों का क्षय होने पर उस ज्ञान के बल से मर्यादा में रहे हुए साक्षात् रूपी द्रव्यों को देखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यवज्ञान

द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन के निमित्त बिना ही केवल आत्मा से रूपी द्रव्य मन से परिणत पुद्गल द्रव्य को देखता है। वह मनःपर्यवज्ञान है।

इस ज्ञान वाला जीवात्मा अतीन्द्रिय में स्थित संज्ञी मनुष्यों के मानसिक भावों को जान सकता है। यह ज्ञान पांच महाव्रत मनःपर्यवणीय कर्मों के क्षयोपशम की अत्यन्त आवश्यकता है। इसकी प्राप्ति पाँच महाव्रत, अप्रमत्त अवस्था वाले को ही प्राप्त हो सकता है। इसमें बाह्याचार की अपेक्षा आभ्यन्तर शुद्धि विशेष रूप से आवश्यक होती है।

उपाध्याय यशोविजय ने मनःपर्यवज्ञान का लक्षण बताते हुए ज्ञानबिन्दु में दिखाया है कि—

मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यायज्ञानम् ।³⁷

जो ज्ञान सिर्फ मनोद्रव्यों यानी मन के परिणामों का ही साक्षात्कार करने वाला है, वह मनःपर्यवज्ञान कहलाता है।

जिस आत्मा ने चरम मनुष्य भव के पूर्व तीसरे भव में तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया होता है, वही आत्मा अपने चरम मनुष्य भव से आत्मा के उत्कृष्ट विशुद्धि के कारण दीक्षा ग्रहण करते ही यह ज्ञान पा लेते हैं। इसलिए तीर्थकर परमात्मा जन्म से ही तीन ज्ञानयुक्त होते हैं और प्रवज्याग्रहण करने के साथ ही इस चतुर्थ ज्ञान के धनी बन जाते हैं।

तीर्थकर जब व्रत धरे निश्चय हुए ए नाण ।³⁸

इस ज्ञान के पश्चात् निश्चित ही आत्मा को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान होता है।

केवलज्ञान

द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन की अपेक्षा बिना ही आत्मा के द्वारा रूपी और अरूपी द्रव्यों का सम्पूर्णतया जानना ही केवलज्ञान है।

इस अद्भुत, अलौकिक ज्ञान के क्षयोपशम काम नहीं आता है, लेकिन क्षयशक्ति ही कार्य करती है। आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और

अंतराय—इन चारों घातिकर्मों का सम्पूर्ण समूल क्षय होता है, तब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और ऐसी विभूति ही सर्वज्ञ नाम से जानी जाती है।

केवलज्ञान की विशिष्टताएँ

1. केवलज्ञान होने के बाद उसके साथ अन्य चारों क्षायोपशमिक ज्ञान की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती।
2. यह परिपूर्ण रूप से एक ही साथ उत्पन्न होता है। पहले थोड़ा, फिर अधिक, ऐसा केवलज्ञान में नहीं होता है।
3. इसमें संसार के सम्पूर्ण ज्ञेय को जानने की शक्ति होती है।
4. इसकी तुलना में दूसरा कोई ज्ञान नहीं है।
5. स्वयं प्रकाशी होने से दूसरे ज्ञान की मदद की सर्वथा आवश्यकता नहीं रहती।
6. विशुद्ध कर्मों की सत्ता क्षय होने से अब तक एक भी परमाणु अवरोधक नहीं बन सकता।
7. सूक्ष्म तथा स्थूल सभी पदार्थों को जानने की शक्ति वाला है।
8. लोकाकाश और अलोकाकाश को यथार्थ रूप से जानता है।
9. ज्ञेय अनन्त होने से केवलज्ञान के पर्याय भी अनन्त होते हैं।
10. अनन्त भूत-भविष्य और वर्तमान काल में रहे हुए समस्त सत् पदार्थों का अनेक पर्योसह ज्ञान होता है।

इन सभी कारणों के कारण ही स्व-पर व्यवसायिज्ञान प्रमाणम् तथा यथार्थ ज्ञाने प्रमाणम् आदि विषयक सम्यग् ज्ञान प्रमाण की कोटि में आते हैं। केवलज्ञान का उपयोग नहीं करना पड़ता है। उनको सभी साक्षात् दिखता है। यह ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् कभी भी वापिस चला नहीं जाता। यह ज्ञान वाला जीवात्मा शेष चार अघाती कर्मों का क्षय करके अजर-अमर बन जाता है अर्थात् मोक्षगति को प्राप्त करता है।

उपाध्याय यशोविजय रचित ज्ञानबिन्दु³⁹ तथा विशेषावश्यक भाष्य⁴⁰ में भी केवलज्ञान का ऐसा ही विवेचन मिलता है।

ज्ञान के प्रभेद

मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, संज्ञाज्ञान, चिन्ताज्ञान और आभिनिबोधिक ज्ञान—ये पाँचों ही समान अर्थ के द्योतक हैं। वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न विषय के प्रतिपादक हैं। इसी से इनके लक्षण भी भिन्न-भिन्न देखने को मिलते हैं तथा अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान इसके अपर नाम हैं। ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा—ये मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं।

उपरोक्त पाँच प्रकार का ज्ञान दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय और इन्द्रिय निमित्तक। इन्द्रिय निमित्तक ज्ञान पाँच प्रकार का होता है, वे इस प्रकार हैं—

1. स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान,
2. रसेन्द्रिय से रस का ज्ञान,
3. घ्राणेन्द्रिय से गंध का ज्ञान,

4. चक्षुरेन्द्रिय से वर्ण का ज्ञान,
5. श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान।

ये पाँचों इन्द्रिय के निमित्त से होने वाले ज्ञान हैं। मन की प्रवृत्तियों अथवा विचारों को यहाँ समूहरूप ज्ञान को अनिन्द्रिय निमित्तक कहते हैं।⁴¹

अब स्वरूप एवं विषय की अपेक्षा से भेदों का विश्लेषण करते हैं। ऊपर जो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक मतिज्ञान बताया, उसमें प्रत्येक के चार-चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। अवग्रहादि में अवग्रह दो प्रकार का है—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के द्वारा नहीं होता है। वह केवल स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र—इन चारों इन्द्रियों के द्वारा ही हुआ करता है। अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा—ये पाँचों इन्द्रिय और मन के द्वारा होते हैं। $4 \times 6 = 24$ एवं व्यंजनावग्रह के 4 भेद इस तरह मतिज्ञान के 28 भेद होते हैं।

मतिज्ञान के 340 भेद

- 4 व्यंजनावग्रह—श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय
- 6 अर्थावग्रह—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन
- 6 ईहा
- 6 अपाय
- 6 धारणा
- 28 मतिज्ञान के 28 भेद

इन 28 भेदों को बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित, निश्चित, अनिश्रित, ध्रुव और अध्रुव—इन बारह भेदों से गुणा करने पर श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के $28 \times 12 = 336$ भेद होते हैं।

श्रुतनिश्चित मतिज्ञान—336

(चार प्रकार की) अश्रुत निश्चित मतिज्ञान

इस प्रकार बुद्धि के भेदों का वर्णन नन्दि हारिभद्रीय वृत्ति,⁴² जैन तर्कभाषा,⁴³ तत्त्वार्थसूत्र,⁴⁴ कर्मग्रंथ⁴⁵ आदि में मिलता है।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान का विषय मतिज्ञान की अपेक्षा महान् है। श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य। इसमें अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।

अंग बाह्य में, जैसे कि—सामायिक, चतुर्विंशति, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, निशीथसूत्र, महानिशीथसूत्र, चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, द्वीपसागर, प्रज्ञप्ति इत्यादि इसी प्रकार के ऋषियों के द्वारा कहे हुए और भी अनेक भेद हैं।

अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशांग, अनुतरोपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। श्रुतज्ञान के भेद वक्ता की विशेषता की अपेक्षा से है। श्रुतज्ञान के चौदह एवं बीस भेद शास्त्रों में बताये हैं।

अकखर सन्नी सम्मं साईय खलु सपिज्जवसियं च ।

गमियं अंगपविडुं सत वि ए ए सपडिवक्खा ।।⁴⁶

अक्षरश्रुत, संज्ञीश्रुत, सम्यक्श्रुत, आदिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत, गमिकश्रुत, अंगप्रविष्टश्रुत—इन सातों के प्रतिपक्ष भेदों सहित अनक्षरश्रुत, असंज्ञीश्रुत, मिथ्याश्रुत, अनादिश्रुत, अपर्यवसितश्रुत, अगमिकश्रुत, अंगबाह्यश्रुत—ये चौदह भेद श्रुतज्ञान के हैं।

यह चौदह भेद विशेषावश्यक भाष्य⁴⁷ एवं जैन तर्कपरिभाषा⁴⁸ में मिलते हैं।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद के सिवाय बीस भेद भी कर्मग्रंथ गोम्मटसार आदि ग्रंथों में उल्लेखित हैं।

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणि जोगं च,

दुगवारपाहुंडं च य पाहुंडं च वत्थु पुव्वं च ।

तेसिं च समासेहिं च विस विहं वा हु होदि सुदण्णाणं,

आवरणस्स विभेदा तत्तिभेत्ता हवन्ति ति ।।⁴⁹

1. पर्यायश्रुत, 2. पर्यायसमासश्रुत, 3. अक्षरश्रुत, 4. अक्षरसमासश्रुत, 5. संघातश्रुत, 6. संघातसमासश्रुत, 7. प्रतिप्रतिश्रुत, 8. प्रतिप्रति समासश्रुत, 9. अनुयोग श्रुत, 10. अनुयोग समास श्रुत, 11. प्राभृत प्राभृत श्रुत, 12. प्राभृत प्राभृत समास श्रुत, 13. प्राभृत श्रुत, 14. प्राभृत समास श्रुत, 15. पदश्रुत, 16. पदसमासश्रुत, 17. वस्तुश्रुत, 18. वस्तुसमास श्रुत, 19. पूर्व श्रुत, 20. पूर्व समास श्रुत।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के 14 एवं 20 प्रभेदों की विवेचना की गई है।

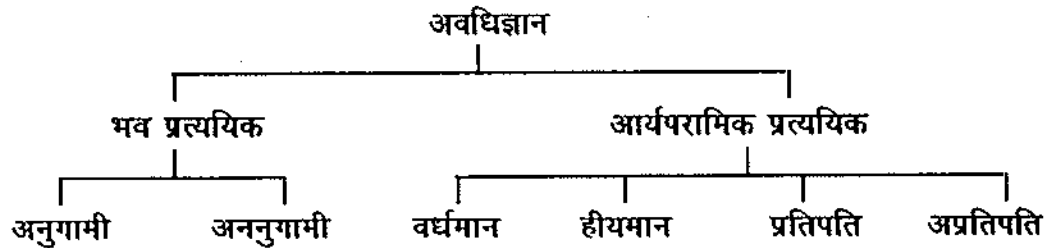
अवधिज्ञान

यह प्रत्यक्षज्ञान है। इसके दो प्रकार स्थानांग सूत्र की टीका में समुल्लिखित हैं—

“अर्वाधिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं । तद् तथा भवप्रत्ययिकं चैव क्षायोपशमिकं चैव ।”⁵⁰

अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भवप्रत्यक्ष एवं क्षायोपशमिक निमित्तक। नारदों एवं देवताओं को ही अवधिज्ञान होता है, यह भवप्रत्यक्ष कहा जाता है। नारक और देवों के अवधिज्ञान में उस भव में उत्पन्न होना ही कारण माना है, जैसे कि—पक्षियों में आकाश एवं गमन करना स्वभाव से उस भव में जन्म लेने से ही आ जाता है। उसके लिए शिक्षा एवं तप कारण नहीं है। उसी प्रकार जो जीव नरक एवं देवगति में उत्पन्न होते हैं, उनको अवधिज्ञान स्वतः ही प्राप्त होता है। लेकिन इतना जरूरत है कि सभी देवताओं के देखने का मर्यादा क्षेत्र समान नहीं होता।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान 6 प्रकार का है। यह भेद अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से है। इसके स्वामी मनुष्य और तिर्यच हैं। अर्थात् अवधिज्ञान मनुष्यों और तिर्यचों को यथायोग्य क्षयोपशम होने पर होता है।



अवधिज्ञान के इसी प्रकार छः भेद भी तत्त्वार्थ सूत्र,⁵¹ कर्मग्रन्थ,⁵² नन्दीसूत्रवृत्ति,⁵³ जैन तर्कभाषा⁵⁴ आदि में भी बताये हैं।

इसके अतिरिक्त अवधिज्ञान का तरतम रूप दिखाने के लिए देशावधि, परमावधि एवं सर्वावधि—इसके तीन भेद भी बताये हैं। देव, नरक, तिर्यच और सागरमनुज्य—इनको देशावधि ज्ञान ही हो सकता है। शेष दो भेद परमावधि और सर्वावधि मुनियों को ही हो सकता है।

मनःपर्यव ज्ञान

यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद हैं—1. ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान, 2. विपुलमति मनःपर्यवज्ञान।

ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान

सामान्य से दो या तीन पर्यायों को ही ग्रहण कर सकता है तथा इस ज्ञान वाला जीव केवल वर्तमानकालावर्ती जीव के द्वारा ही चिन्तयमान पदार्थों को विषय कर सकता है, अन्य नहीं।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञान

बहुत से पर्यायों को जान सकता है तथा त्रिकालवर्ती मनुष्य के द्वारा चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित—ऐसे तीनों प्रकार के पर्यायों को जान सकता है।

मनःपर्यवज्ञान का यह भेद तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका,⁵⁵ तत्त्वार्थ सूत्र,⁵⁶ जैन तर्क भाषा⁵⁷ में भी है।

केवलज्ञान

परमार्थ से केवलज्ञान का कोई भेद नहीं है, क्योंकि सभी केवलज्ञान वाले आत्मा समान रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप सभी पदार्थों को ग्रहण करते हैं। भवस्थ केवली, सिद्ध केवली—इसके दो भेद सयोगी केवली, अयोगी केवली—ये सभी उपचार से भेद हैं।⁵⁸

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान—साम्य, वैधर्म्य

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में स्वामी आदि पाँच कारणों में साम्य है, जिसका स्वरूप आगमों में भी मिलता है।

जं सामिकालकरण विसय परोकरवणोहि तुल्लाईं।

तष्भाभावे सेसाणि य, तेणाइए मतिसुता।।⁵⁹

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—1. स्वामी, 2. काल, 3. कारण, 4. विषय, 5. परोक्षत्व—इन पाँच कारणों से समान है।

1. स्वामी—मतिज्ञान के जो स्वामी हैं, वे ही श्रुतज्ञान के स्वामी हैं और श्रुतज्ञान के जो स्वामी हैं, वे ही मतिज्ञान के स्वामी हैं, क्योंकि कहा है—

जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाणं।

जत्थ सुयनाण तत्थ मइनाणं।।⁶⁰

जहाँ मतिज्ञान होता है, वहाँ श्रुतज्ञान होता है और जहाँ श्रुतज्ञान होता है, वहाँ मतिज्ञान होता है।

2. काल—मतिज्ञान का जितना स्थितिकाल है, उतना ही श्रुतज्ञान का है। प्रवाह की अपेक्षा से अतीत, अनागत और वर्तमान रूप सम्पूर्ण काल मतिश्रुत का है अर्थात् तीनों काल में मति-श्रुत विद्यमान है।
3. कारण—जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रियों के निमित्त से होता है, अथवा जिस प्रकार मतिज्ञान क्षयोपशमजन्य है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी क्षयोपशमजन्य है।
4. विषय—जिस प्रकार देश में मतिज्ञान का विषय सर्वद्रव्य विषयक है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान का विषय भी सर्वद्रव्य विषयक है।
5. परोक्षत्व—इन्द्रिय आदि के निमित्त से होने के कारण मतिज्ञान जिस प्रकार परोक्ष है, वैसे ही श्रुतज्ञान भी परोक्ष है, क्योंकि द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य पुद्गल स्वरूप होने से आत्मा से भिन्न है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में वैषम्य

यद्यपि जहाँ मतिज्ञान होता है, वहाँ श्रुत अवश्य होता है तथा इन दोनों की कुछ कारणों से लेकर समानता होते हुए लक्षणादि सात कारणों से दोनों में वैधर्म्य भी है अर्थात् भेद भी है। उसी के कारण आगमों में शास्त्रों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व हमें मिलता है। इस विषय को धर्मसंग्रहणी के टीकाकार आचार्यश्री मल्लिसेन ने विशेष रूप से स्पष्ट किया है—

लक्षण भेदाद्ध हेतु फलभावतो भेदेन्द्रिय विभागात् ।

वल्काक्षर मूकेतर भेदाद, भेदो मतिश्रुतयोः ॥⁶¹

1. लक्षण भेद, 2. हेतुफल भाव, 3. भेद, 4. इन्द्रियकृत विभाग, 5. वल्क, 6. अक्षर, 7. मूक ।

1. लक्षण भेद—मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के लक्षण में भेद है। जैसे कि जो ज्ञान वस्तु को जानता है, वह मतिज्ञान और जिसको जीव सुनता है, वह श्रुतज्ञान। दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से दोनों ज्ञान के भेद हैं।

2. हेतुफल भाव—मतिज्ञान हेतु कारण है और श्रुतज्ञान फल (कार्य) है, क्योंकि यह सनातन नियम है कि मतिज्ञान के उपयोग पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, क्योंकि साथ में इतना निश्चित है कि मति-श्रुत की क्षयोपशम लब्धि एक साथ होती है, उसी से वे दोनों उस रूप में एक साथ रहते हैं और इन दोनों का काल भी समान होता है। लेकिन उपयोग लब्धि के सामर्थ्य से वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने का विशेष पुरुषार्थ दोनों का साथ में नहीं हो सकता, क्योंकि यह सैद्धान्तिक नियम है कि दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते, जैसा कि स्तवन में कहा है—

सिद्धान्तवादी संयमी रे भाषे एह विरतंत ।

दो उपयोग होवे नहीं रे एक समय मतिवत रे प्राणी ॥⁶²

अर्थात् सिद्धान्तवादी संयमियों का मत है कि एक समय में दो उपयोग संभव नहीं है।

3. भेद—मतिज्ञान के 28 भेद एवं श्रुतज्ञान के 14 अथवा 20 भेद हैं। इस प्रकार प्रभेदों में भेद होने से दोनों में भेद है।

4. इन्द्रियवृत्त विभाग—श्रोत्रेन्द्रिय की उपलब्धि द्वारा होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान और शेष इन्द्रियों में अक्षरबोध को छोड़कर होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है।

5. वल्क—मतिज्ञान वृक्ष की छाल समान है, क्योंकि यह कारण रूप है और श्रुतज्ञान डोरी के समान है, क्योंकि यह मतिज्ञान का कार्यरूप है। छाल से डोरी बनती है। छालरूप कारण होगा तो ही डोरी बनती है। उसी प्रकार मतिज्ञान का बोध होने के बाद ही श्रुतज्ञान की परिपाटी का अनुसरण होता है।

6. अक्षर—मतिज्ञान साक्षर और अनक्षर—दोनों प्रकार से होता है। उसमें अवग्रहज्ञानादि अनिर्देश्य सामान्यरूप से प्रतिभास होने से निर्विकल्प है। अनक्षर है, क्योंकि अक्षर के अभाव में शब्दार्थ की पर्यालोचना अशक्य है, अतः अक्षर और अनक्षरकृत भेद है।

7. मूक—मतिज्ञान स्व का बोध ही करवा सकता है अथवा मतिज्ञान अपनी आत्मा को बोध कराता है। अतः वह मूक है अर्थात् मूक के समान है, जबकि श्रुतज्ञान वाचातुल्य है, क्योंकि यह स्व और पर दोनों का बोध कराने में समर्थ है। विशेषावश्यक भाष्य⁶⁵ में विस्तार से इसका वर्णन मिलता है।

अवधि एवं मनःपर्यवज्ञान के भेद को दिखाने वाले हेतु एवं साधर्म्य

अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान के भेद को दिखाने वाले हेतु एवं साधर्म्य निम्न प्रकार से दिखाया गया है—

मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य

अवधिज्ञान के समान मनःपर्यवज्ञान भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। दोनों ही विकल्प प्रत्यक्ष हैं। ये दोनों ही ज्ञान रूपी पदार्थ को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् करने की क्षमता रखते हैं। अरूपी पदार्थों—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और कर्मयुक्त जीव को साक्षात् करने में दोनों ही समर्थ नहीं हैं।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान के साधर्म्य के सूचक चार हेतुओं का निर्देश किया है—

1. छद्मस्थ साधर्म्य—अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान छद्मस्थ के ही होते हैं। अतः स्वामी की दृष्टि से उन दोनों में समानता है।

2. विषय साधर्म्य—दोनों ही ज्ञान का विषय केवल रूपी पदार्थ पुद्गल है। अरूपी पदार्थ उनके विषय नहीं बनते अतः दोनों में विषयकृत साम्य है।

3. भाव साधर्म्य—दोनों ही ज्ञान जैन कर्ममीमांसा के आधार पर अपने-अपने कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

4. अध्यस्थ साधर्म्य—अध्यस्थ का अर्थ है—प्रत्यक्ष अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान दोनों ही विकल्प प्रत्यक्ष हैं। इन्हें अपने विषय को ग्रहण करने में इन्द्रिय और बाह्य उपकरणों की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा स्वयं ही विषय को जान लेती है। ये दोनों पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान में साधर्म्य ऐसा वर्णन तत्त्वार्थ हरिभद्रीयवृत्ति,⁶⁶ धर्मसंग्रहणी,⁶⁶ विशेषावश्यक,⁶⁷ आदि में भी मिलता है।

दोनों के बीच में समानता, साम्यता, साधर्म्य बनता है तो कई कारणों से उसमें विषमता, अन्तर, वैषम्यता देखने को मिलती है, जो निम्न है—

मनःपर्यवज्ञान से मन की पर्यायों को जाना जाता है। इसमें यह स्पष्ट होता है कि मन प्रौद्गलिक है। अवधिज्ञान भी विषय रूपी द्रव्य है और मनोवर्गणा के सम्बन्ध भी रूपी है, द्रव्य है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों का विषय एक ही बन जाता है। मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान का एक भवान्तर भेद जैसा प्रतीत होता है। इसलिए आचार्य सिद्धसेन ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान को एक माना है। उनकी परम्परा को सिद्धान्तवादी आचार्यों ने मान्य नहीं किया। उमास्वाति ने संभवतः पहली बार अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के भेद को दिखाने वाले विशुद्ध क्षेत्र, स्वामी और विषय रूप में हेतुओं का निर्देश किया है। अवधि एवं मनःपर्यव का अंतर भिन्न चार्ट से समझा जा सकता है—

अवधिज्ञान—

1. स्वामी—अविरत, सम्यग्दृष्टि, सर्वविरत
2. विषय—अशेष रूपी द्रव्य
3. क्षेत्र—पूरा लोक और अलोक में लोक प्रमाण असंख्येय खंड
4. काल—अतीत, अनागत काल
5. प्रत्येक रूपी द्रव्य के असंख्येय पर्याय।

मनःपर्यवज्ञान—

1. ऋद्धिसम्पन्न अप्रमत्त संयत
2. संज्ञी जीवों का मनोद्रव्य
3. मनुष्य क्षेत्र
4. पल्पोपम के असंख्य भाग प्रमाण अतीत अनागत काल
5. मनःद्रव्यों के अनन्त पर्याय।

जिस प्रकार एक फिजिसियन आँख, गला आदि शरीर के सभी अवयवों की जाँच करता है, उसी प्रकार आँख, नाक, गला आदि की जाँच विशेषज्ञ डॉक्टर भी करता है। किन्तु दोनों के जाँच और चिकित्सा में अन्तर रहता है। एक ही कार्य होने पर भी विशेषज्ञ के ज्ञान की तुलना में वह नहीं आ सकता। इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता।

इन्हीं कारणों के कारण अवधि के बाद मनःपर्यवज्ञान कहा गया है। धर्म संग्रहणी,⁶⁸ विशेषावश्यक भाष्य⁶⁹ आदि में भी इनका साधर्म्य-वैधर्म्य मिलता है, जो यथार्थ है।

केवलज्ञान की सर्वोत्तमता

अतीत, अनागत और वर्तमान—तीनों कालों में विद्यमान वस्तुएँ और उनके सभी पर्याय के स्वरूप को जानने के कारण केवलज्ञान सर्वोत्तम है। उससे उसका उपन्यास अंत में किया है अथवा मनःपर्यवज्ञान का स्वामी अप्रमत्त यति है। उसी प्रकार केवलज्ञान के स्वामी भी अप्रमत्त यति है। इस प्रकार स्वामित्व की सादृश्यता के कारण भी मनःपर्यवज्ञान के बाद केवलज्ञान कहा है तथा सभी ज्ञानों के बाद अन्तिम केवलज्ञान होता है, अतः उसे अंतिम रखा गया है।⁷⁰

नंदीसूत्र⁷¹ के अनुसार जो ज्ञान सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को युगपद (एक साथ) जानता, देखता है, वह केवलज्ञान है।

आचारचूला⁷² से फलित होता है—केवलज्ञानी सब जीवों के सब भावों को जानता-देखता है। षट्खण्डागम⁷³ में भी इसी प्रकार का सूत्र उपलब्ध है। जो मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों को सर्वथा, सर्वत्र और सर्वकाल में जानता-देखता है, वह केवलज्ञान है।

आचार्य कुन्दकुन्द⁷⁴ ने निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर केवलज्ञान की परिभाषा दी है। उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानबिन्दु⁷⁵ में केवलज्ञान का लक्षण बताते हुए कहा है—‘सर्व विषयं केवलज्ञानम्’।

सभी वस्तुओं के विषयों का ज्ञान करना केवलज्ञान है।

बृहत्कल्पभाष्य⁷⁶ में केवलज्ञान के पांच लक्षण बताये गए हैं—1. असहाय—इन्द्रिय मन निरपेक्ष, 2. एक—ज्ञान के सभी प्रकारों से विलक्षण, 3. अनिवरित व्यापार—अविरहित उपयोग वाला, 4. अनंत-अनंत ज्ञेय का साक्षात्कार करने वाला, 5. अविकल्पित—विकल्प अथवा विभाग रहित।

तत्त्वार्थ भाष्य⁷⁷ में केवलज्ञान के दो भाग विस्तार से बताए गए हैं। वह सब भावों का ग्राहक, सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानने वाला है। इससे अतिशयों का कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा कोई श्रेय न हो जो केवलज्ञान का विषय न हो।

आचार्य जिनभद्रगणि⁷⁸ ने केवल शब्द के पाँच अर्थ किए हैं, जिनकी आचार्य हरिभद्र, उपाध्याय यशोविजय एवं आचार्य मलधारी ने इस प्रकार व्याख्या की है—

1. एक—केवलज्ञान मति आदि क्षायोपशमिक दोनों से निरपेक्ष है, अतः वह एक है।
2. शुद्ध—केवलज्ञान होने के कारण केवलज्ञान सर्वथा निर्मल अर्थात् शुद्ध है।
3. सकल—उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार केवलज्ञान प्रथम समय में ही सम्पूर्ण रूप में उत्पन्न हो जाता है अतः सम्पूर्ण अर्थात् सकल है। आचार्य मलधारी के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को ग्रहण करने के कारण केवलज्ञान को सकल कहा गया है।
4. असाधारण—केवलज्ञान के समान कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता, अतः वह असाधारण है।
5. अनंत—केवलज्ञान अतीत, प्रत्युत्पन्न एवं अनागतकालीन अनंतज्ञेयों को प्रकाशित करने के कारण अनंत है। केवलज्ञान अप्रतिपाति है। अतः उसका अंत न होने से वह अनंत है। मलधारी हेमचन्द्र ने काल की प्रधानता से तथा आचार्य हरिभद्रसूरि ने ज्ञेयद्रव्य की अपेक्षा से केवलज्ञान की अनंतता का प्रतिपादन किया है।

अपरिमित ठंडा एवं अपरिमित भाव को अवभासित करने का सामर्थ्य मात्र केवलज्ञान में है। अनंत द्रव्यों की अपेक्षा अनंत पदार्थों को क्षायोपशमिक ज्ञान भी जान सकते हैं पर प्रत्येक द्रव्य की अनंतानंत पदार्थों का साक्षात्कार करना केवलज्ञान का वैशिष्ट्य है।

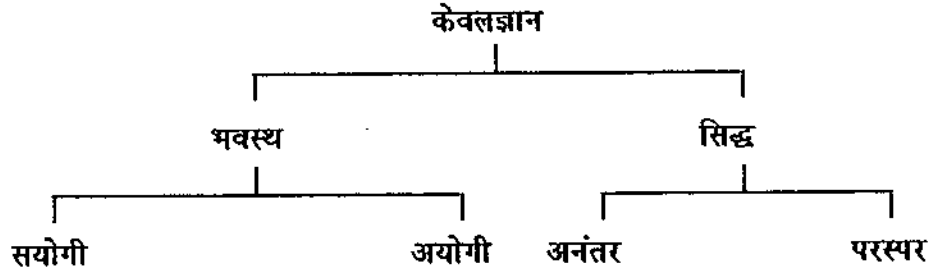
केवल शब्द अनंत—यह अर्थ एवं इसकी बहुविध दृष्टिकोणों से विभिन्न व्याख्याएं मात्र जैन साहित्य में ही उपलब्ध होती हैं, अन्यत्र नहीं होती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनन्तज्ञान सर्वज्ञता की भौतिक अवधारणा मुख्यता जैन का ही अभ्युपगम है।

उक्त व्याख्याओं के सन्दर्भ में सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की व्याख्या इस प्रकार फलित होती है—

1. सर्व द्रव्य का अर्थ है—मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों को जानने वाला।
2. सर्व क्षेत्र का अर्थ है—सम्पूर्ण आकाश को साक्षात् जानने वाला।
3. सर्व काल का अर्थ है—वर्तमान व अनन्त अतीत और अनागत को जानने वाला।
4. सर्व भाव का अर्थ है—गुरुलघु और अगुरुलघु सब पर्यायों को जानने वाला।

केवलज्ञान के भेद

केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में वस्तुतः भेद नहीं होता। वह क्षायिक ज्ञान है। क्षयोपशम से उत्पन्न अवस्थाओं में न्यूनाधिकता होती है पर क्षायिक भाव पूर्ण, अखण्ड एवं सकल होता है। अतः उसमें भेद नहीं होता। परन्तु नन्दी, प्रज्ञापना, स्थानांग आदि सूत्रों में केवलज्ञान के भी भेद किये गए हैं। इस सन्दर्भ में यह मननीय है कि वस्तुतः ये भेद केवलज्ञान के न होकर केवलज्ञानी के हैं, क्योंकि ज्ञान का ज्ञानी में ज्ञान का उपचार करने से केवलज्ञान के दो प्रकार होते हैं—



सिद्ध के 15 भेद नन्दी सूत्रकार के स्वोपज्ञ है या इनका कोई प्राचीन आधार है। प्रतीत होता है यह परस्पर प्राचीन है। उमास्वाति ने सिद्ध की व्याख्या में बारह अनुप्रयोग द्वारा बतलाए हैं। वे वस्तुतः सूत्र में निर्दिष्ट 15 भेदों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हैं।

स्थानांग में सिद्ध के 15 प्रकारों का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञापना में भी इनका उल्लेख है। स्थानांग संकलन सूत्र है इसलिए इसकी प्राचीनता के बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञापना नन्दी की अपेक्षा प्राचीन है। इसलिए प्रज्ञापना के पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र और उसके पश्चात् नन्दी में 15 भेदों का उल्लेख देखा जाता है। हो सकता है श्यामार्य ने किसी प्राचीन आगम से उनका अवतरण किया है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दु⁷⁹ में केवलज्ञान-दर्शन के विषय में मुख्यतः सिद्धसेन दिवाकर के ही मत का अवलम्बन लिया है। इसके साथ ही उन्होंने भिन्न-भिन्न नय दृष्टियों से उनका समन्वय करते हुए कहा कि व्यवहार नय की अपेक्षा से मल्लवादी का युगपद उपयोगवाद ऋजुसूत्र। नय की अपेक्षा से जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का क्रमिक पक्ष और अभेद प्रधान संग्रहनय की अपेक्षा से सिद्धसेन दिवाकर का अभिन्नोपयोगवाद युक्तिसंगत है। इस प्रकार अनेक कारणों से केवलज्ञान की सर्वोत्तमता सिद्ध होती है।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदाभेद

ज्ञाता अर्थात् जानने वाला।

ज्ञान अर्थात् जानने का साधन (कारण या साधकतम)।

ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय।

ज्ञाता अर्थात् जानने वाला। आत्मज्ञान का शाब्दिक अर्थ है—जानना और ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य विषय आत्मा जानने वाली है अर्थात् आत्मा ज्ञापक है और ज्ञान ही उसका स्वभाव है। ज्ञान आत्मा से अपृथक् ही है, किन्तु ज्ञेय से भिन्न है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों सत्ता की अपेक्षा से अलग-अलग हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ज्ञानसागर में कहते हैं—

शुद्धात्माद्रव्य में वाऽह, शुद्धज्ञान गुणो मम।⁸⁰

मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, और ज्ञान मेरा गुण है अर्थात् आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है। गुण और गुणी के बीच में हमेशा अभेद होता है। गुण आधार के बिना स्वतंत्र नहीं रह सकते हैं। अतः गुण गुणी से अभिन्न होकर ही रहता है।

उपाध्याय यशोविजय ने आत्मा और गुणों में अभिन्नता बताते हुए कहा है, जैसे—रत्न की प्रभा, निर्मलता और शक्ति रत्न से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं है, जो निम्न है—

प्रभानैर्मल्य शकतीनां तथा रत्नात्र भिन्नता।

ज्ञान दर्शन चारित्र लक्षणानाः तथात्मनः।।⁸¹

ज्ञाता और ज्ञान दोनों में भिन्नता नहीं है। यह और उसके तन्तु दोनों में जैसे तादात्म्य है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य है। दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते हैं।

व्यवहार में हम कहते हैं कि 'आत्मा का ज्ञान'। इस प्रकार यहाँ षष्ठी विभक्ति के प्रयत्न लगाने से ज्ञान और आत्मा का अलग-अलग होने का आभास होता है। वस्तुतः इसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग व्यवहार मात्र है। वास्तव में तो निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ही ज्ञान है। ज्ञानादि गुणों के साथ आत्मा की अभिन्नता है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि जैसे 'घट का रूप' इसमें भेद-विकल्प से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार 'आत्मा के गुण' या 'आत्मा का ज्ञान' इसमें भेद तात्त्विक नहीं है।⁸²

घड़े का रूप या आकार, यह व्यवहारनय से बोला जाता है। यहाँ घड़ा और उसका रूप का आकार—इन दोनों में षष्ठी विभक्ति लगाकर भेद सूचित किया गया है, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से घड़ा और उसका रूप दोनों अभिन्न हैं, अलग-अलग नहीं हैं। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान—यह कहकर व्यवहार में किसी को समझाने के लिए 'आत्मा' और 'ज्ञान' बताने में आया है, किन्तु निश्चयरूप से तो आत्मा ही ज्ञान है। आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं है, अभिन्न ही है। इस बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में पुष्ट किया है। वे कहते हैं कि 'शुद्ध नय' से आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है। यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके आत्मा ज्ञानधन है, इस प्रकार जानना चाहिए।⁸³

निश्चयनय से आत्मा ज्ञानादिमय है और व्यवहार से आत्मा ज्ञानादि गुण वाली है। वस्तुतः निश्चयनय मुख्य है, किन्तु पदार्थ को समझने के लिए व्यवहारनय की आवश्यकता पड़ती है।

उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि—

वस्तु तस्तु गुणानां तदरूपं न स्वान्मनः पृथक् ।
आत्मा स्यादन्यथाऽनात्मा ज्ञानाधय जड़ भवेत् ।।⁸⁴

यदि ज्ञानादि गुणों को आत्मा से भिन्न मानें तो उनके भिन्न होने से स्वतः आत्मा अनात्मरूप सिद्ध हो जाएगी और ज्ञानादि भी जड़ हो जायेंगे। आत्मा जो चेतनवत है, उसमें से ज्ञानादि गुण निकल जाने पर मृत शरीर रूप हो जायेंगे, अर्थात् जड़ बन जाएगी और दूसरी तरफ ज्ञानादि गुण आत्मा से अलग होने पर आधार रहित हो जायेंगे किन्तु ऐसा कभी भी शक्य नहीं है। ज्ञानादि गुण आत्मा के लक्षण हैं, जिन्हें कभी भी आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म उपनिषद् में भी कहा है—आत्मा का ही स्वरूप प्रकाश शक्ति की अपेक्षा से ज्ञान कहलाता है।⁸⁵ उपाध्याय हर्षवर्धन ने अध्यात्म बिन्दु ग्रंथ में बताया है कि—

पीतस्निग्ध गुरुत्वानां यथा स्वर्णान् भिन्नता,
तथा दुग्ज्ञानवृत्ताना निश्चयान्नात्मनो भिदा ।
व्यवहारेण तु ज्ञानादीनि भिन्नानि चेतनात,
राहोः शिरोपदप्येषोऽभेद भेद प्रतीतिकृत ।।⁸⁶

अर्थात् जैसे पीलापन, स्निग्धता और गुरुत्व स्वर्ण से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा भिन्न नहीं है। व्यवहारनय से तो ज्ञानादि गुण आत्मा से भिन्न प्रतीत होते हैं, जैसे—राहु का सिर। इसमें राहु और सिर के बीच में अभेद होने पर भी भेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानादि गुणों के अभेद होने पर भी व्यवहार से आत्मा और ज्ञानादि गुणों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है।

आचार्य अमृतचंद्र ने प्रवचनसार की तत्त्वार्थ दीपिका नामक टीका में कहा है—“आत्मा से अभिन्न केवल-ज्ञान ही सुख है।”⁸⁷ इस व्याख्या से भी यही स्पष्ट होता है कि ज्ञान ज्ञाता से भिन्न नहीं है। समयसार की टीका प्रवचन रत्नाकर में भी आत्मा और ज्ञान में तादात्म्य बताया है और कहा गया है कि “ज्ञान स्वभाव और आत्मा एक ही वस्तु है। दोनों में अन्तर नहीं है।”⁸⁸

आचारांग सूत्र में भी कहा गया है कि “जे आया से विष्णायाः जे विष्णाया से आया” अर्थात् जो विज्ञाता है अर्थात् जानने वाला है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही विज्ञाता है। इसमें यह स्पष्ट होता है कि ज्ञायक गुण या आत्मा अभिन्न है, किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि ज्ञान, ज्ञेय आधारित भी है। ज्ञेय का ज्ञाता से भेद होने के कारण ज्ञान में आत्मा से कथंचित् भिन्नता भी है। जैन दर्शन गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद और व्यवहार नय से भेद मानता है। ज्ञान ज्ञाता अभिन्न है, किन्तु ज्ञेय से भिन्न भी है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञान में जैनदर्शन भेदाभेद को स्वीकार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान आत्मा का लक्षण है और उससे अभिन्न है, लेकिन यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि यदि आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य है, आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है।

उसका समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञान का आत्मा के साथ तादात्म्य है, तथापि अज्ञानदशा में वह एक क्षण मात्र भी शुद्ध ज्ञान का संवेदन नहीं करता है। ज्ञान दो कारणों से प्रकट होता है। बुद्धत्व

काल के परिपक्व होने पर बुद्ध स्वयं ही जान ले अथवा बोधितत्त्व का कोई दूसरा उपदेश देने वाला मिले, तब जाने। जैसे सोया हुआ व्यक्ति या तो स्वयं जागे या कोई जगाए तब जागे। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, परन्तु ज्ञान मिथ्यास्वरूप भी हो सकता है और सम्यक्स्वरूप भी है। ज्ञान पूर्ण भी हो सकता है और अपूर्ण भी।

आत्मा ज्ञान से अभिन्न है किन्तु ज्ञेय, ज्ञान तथा आत्मा दोनों से भिन्न है। उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—तीनों की अभिन्नता बताते हुए कहा है—आत्मा, आत्मा में ही शुद्ध आत्मा को आत्मा के द्वारा जानता है।

आत्माऽऽन्मन्येव यच्छुद्रं ज्ञानात्पात्मानमात्मना ।⁸⁹

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ज्ञेय आत्मा से भिन्न कैसे है? यहाँ पर ज्ञाता भी आत्मा है, ज्ञेय भी आत्मा है और जब ज्ञान भी आत्मा का ही हो अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—तीनों ही आत्मस्वरूप हैं तो वहाँ तीनों में अभेद सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा स्व को ही जाने, तब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—तीनों में अपृथकत्व है, किन्तु जब आत्मा पर को जाने, तब ज्ञेय पदार्थ, ज्ञाता और ज्ञान दोनों से भिन्न होगा।

जैसे कुर्सी का ज्ञान आत्मा में ही होता है, किन्तु कुर्सी ज्ञानरूप नहीं है, वह भिन्न है, उसी प्रकार कर्म नो-कर्म आदि ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब आत्मा में दिखाई देता है। किन्तु ये ज्ञाता तथा ज्ञान—दोनों से भिन्न हैं। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञान होता है कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है और जो दर्पण में दिखाई दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है। उसी प्रकार कर्म तथा नोकर्म का प्रतिबिम्ब भी आत्मा की स्वच्छता के कारण उसमें प्रतिभासित होता है। ज्ञेय का प्रतिबिम्ब आत्मा में होता है अतः उस अपेक्षा ज्ञेय भी आत्मा से अभिन्न है।

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है—

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् देखाभिर्मिश्रमात यथा ।

विकारैर्मिश्रता भाति, तथाऽऽत्मन्य विवेक्तः ।।⁹⁰

जिस प्रकार तिमिर रोग होने से स्वच्छ आकाश में भी नील, पीत रेखाओं द्वारा मिश्रत्व भासित होता है, उसी प्रकार आत्मा में अविवेक के कारण विकारों द्वारा मिश्रत्व भासित होता है। आत्मा तो स्वभाव से ही शुद्ध है।

इस प्रकार आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है और पदार्थों का ज्ञेय स्वभाव है। पदार्थों में बदलाव हो, ऐसा उनका स्वभाव नहीं है और उनके स्वभाव में कुछ बदलाव करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव भी नहीं है। जिस प्रकार आँख नीम को नीमरूप से और गुड़ को गुड़रूप से देखती है किन्तु नीम को बदलकर गुड़ नहीं बनाती और गुड़ को बदलकर नीम नहीं बनाती और साथ ही वह नीम भी अपना स्वभाव छोड़कर गुड़रूप नहीं होता और गुड़ भी अपना स्वभाव छोड़कर नीम नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त स्व-पर ज्ञेय को यथावत् जानता है, किन्तु उसमें कहीं कुछ भी फेर बदल नहीं करता और ज्ञेय भी अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य रूप नहीं होते। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में ही विद्यमान हैं। स्वतंत्र ज्ञेयों को यथावत् जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान का कार्य जानने का है, किन्तु वह ज्ञेय से भिन्न है। ज्ञाता तथा ज्ञान अभिन्न है किन्तु ज्ञेय पृथक् है। यह ज्ञान वीतराग विज्ञान भी कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान होने से व्यक्ति में कर्तृत्व की बुद्धि समाप्त हो जाती है। वह पदार्थों में अनासक्त रहकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है।

ज्ञान की विशिष्टता

अज्ञान का पूर्ण अभाव ही वस्तुतः ज्ञान है। जैसे कि अंधकार का सम्पूर्ण अभाव ही परमार्थतः प्रकाश है। क्षण-क्षण क्षीयमान एवं प्रतिपल परिवर्तित होने वाले इस संसार में प्रत्येक प्राणी दुःख और अशांति की ज्वालाओं से छटपटा रहा है। ऐसी ज्वालाओं से बचने के लिए उसकी किसी-न-किसी रूप में रात-दिन भाग-दौड़ चल रही है। परन्तु अजस्र सुख की अनंतधारा से वह प्रतिपल दूर होता जा रहा है। इसका मुख्य कारण यदि अन्वेषण करते हैं तो ख्याल आता है कि मनुष्य का अज्ञान ही उसे अनंत सुख से पराङ्मुख बना रहा है तथा विमुक्ति के सोचने पर कदम बढ़ाने से रोके हुए है। उसका अपना अज्ञान ही उसे संसार चक्र में भटकाने का काम कर रहा है। मनुष्य का बिगाड़ और बनाव उसके स्वयं के हाथ में है। वह चाहे तो अपने जीवन का उत्थान कर सकता है और चाहे तो पतन भी कर सकता है। मनुष्य के अन्तःकरण में जब अज्ञान की अंधकारमयी भीषण आंधी चलती है, तब वह भ्रान्त होकर अपने सत्यापथ एवं आत्मपथ से भटक जाता है लेकिन ज्ञानलोक की अनंत किरणें उसकी आत्मा में प्रस्फुटित होती हैं तो उसे निजस्वरूप का भान-ज्ञान और परिज्ञान हो जाता है। तब बाह्य परीबलों से ऊपर उठकर आत्म-रमणता के पावन पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। आत्मिक विकास उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है लेकिन सुखों, क्षणिक सुखों को तिलांजलि देकर अनंत अक्षय सुख की प्राप्ति हेतु अनवरत प्रयत्नशील रहता है। सच्चे सुख की व्याख्या में जैन दर्शनकारों ने स्पष्ट उद्घोषणा की है कि अज्ञान निवृत्ति एवं आत्मा में विद्यमान निजानंद एवं परमानंद की अनुभूति ही सच्चे सुख की श्रेणी में है। अपनी आत्मा में ही ज्ञान की अजस्रधारा प्रवाहित है। आवश्यकता है उसके ऊपर स्थित अज्ञान एवं मोह के पर्दे को हटाने की फिर वह अनंत सुख की धारा, अनंत शक्ति का लहराता हुआ सागर उमड़ने लगेगा।

ज्ञान के द्वारा ही आत्मा कर्म, बंध, मोक्ष, हेय, उपादेय, ज्ञेय आदि के स्वरूप को जानता है तथा उसी के अनुरूप अपनी प्रवृत्ति करता है।

ज्ञान के द्वारा आत्मा में विवेक का दीप प्रज्वलित होता है, जिससे उसकी प्रवृत्ति भाव-सभारंभ से रहित होती है। पाप भय सदैव उसे सताता है।

ज्ञान के द्वारा ही प्रत्येक अनुष्ठान सदनुष्ठान बनता है।

अज्ञानी को विधि-विधान का भान ही नहीं होता है और जब सदनुष्ठान नहीं होता, वहाँ तक तीर्थ की उन्नति नहीं हो सकती है तथा श्रेष्ठ फल की प्राप्ति नहीं होती। अतः कहा है “ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः” ज्ञान के साथ क्रिया होगी, तभी मोक्ष की प्राप्ति संभव है। ज्ञान रहित क्रिया तो छार पर लीपण के समान है।

ज्ञान के द्वारा ही जीवात्मा अनेक तत्त्वों पर चिंतन कर सकता है। ध्यान की श्रेणी में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है और क्षणिक श्रेणी पर आरूढ़ होकर घातिकर्मों का क्षय करके दिव्य केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानी जीव कर्मों को करोड़ों वर्षों में भी क्षय नहीं कर सकता। उन्हीं कर्मों को ज्ञानी के ज्ञान के द्वारा ध्यान की श्रेणी में चढ़कर ध्यानाग्नि द्वारा एक श्वासोच्छ्वास में नष्ट कर देता है।

ज्ञान यह आत्मा का निजगुण है, निजगुण प्राप्ति से बढ़कर अन्य सुख की कल्पना करना कल्पना मात्र ही है। सुख और दुःख के हेतुओं से अपने आपको परिचित करना ही ज्ञान है।

ज्ञान के द्वारा तत्त्व का निर्णय हठाग्रह और सदाग्रह से युक्त होकर करता है तथा वह तत्त्वनिर्णय रूप ज्ञान ही वैराग्य का भी कारण बनता है।

उपाध्याय यशोविजय ने भी अपने जीवन में ज्ञान के चिन्तन से विवेक दीप को प्रज्वलित करके ज्ञान के सौष्ठव से स्वयं एवं अन्य आत्माओं को जागृत किये।

सारांश

ज्ञानमीमांसा अर्थात् जीवन के ज्ञान के प्रकाश पुञ्ज से आलोकित करना। आत्मा के आन्तरिक गुणों में अवगाहन करना है। ज्ञान की विचारणा तभी ही शक्य है, जब व्यक्ति बाह्य आडम्बरी चिन्ताओं एवं कार्य-कलापों से अपने आपको दूर रखता है और ज्ञान की अगाध गहराई में तल्लीन निमग्न हो जाता है। जो गहराई में डूबते हैं, वही चिन्तन के मोती प्राप्त करते हैं।

उपाध्याय यशोविजय ज्ञान के आगध चिन्तन में डूब गये। तत्पश्चात् उनको जो सिद्धान्त रूपी रत्न प्राप्त हुए, उनको शास्त्रों में निबद्ध किये। उन्होंने अपने चिन्तन के मन्थन द्वारा जो ज्ञान की व्युत्पत्ति की वह बहुत ही सचोट एवं सुगम्य है, जो अनेक शास्त्रों में मिलती है। जिस व्युत्पत्ति का उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकारी है तथा जो आज भी विद्वत्तजनों के लिए मननीय एवं प्रसंसनीय बनी है।

ज्ञान के भेद—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान के भेद एवं प्रभेदों का विस्तृत विवेचन और आवरणीय कर्मरूप कारण पांच होने से ज्ञान के भी भेद पांच बताये हैं, क्योंकि कारण के बिना कार्य की सिद्धि शास्त्रों में स्वीकृत नहीं की है। प्रभेदों में मतिज्ञान के 28, श्रुतज्ञान के 14, और अवधि ज्ञान के 20, मनःपर्यवज्ञान के 6 और केवलज्ञान के 2 परमार्थतः भेद नहीं हैं, उपचार से भेद किये हैं।

वैसे ज्ञान के सभी भेद-प्रभेद केवलज्ञान में अन्तर्निहित हो जाते हैं लेकिन उपाध्यायजी ने ऐसा न करके सभी के भिन्न-भिन्न भेदों-प्रभेदों की प्ररूपणा करके सभी का अपना निजी अस्तित्व अवस्थित रखने का प्रयास किया है। अन्यथा आगमों ने जो तीर्थकर प्ररूपित एवं गणधरों द्वारा रचित पांच ज्ञान के वचन के साथ विरोध आ जाता है, ऐसा न हो, इस बात को ध्यान में रखते हुए पंचज्ञान की सिद्धि जो ज्ञानबिंदु जैसे ग्रंथ में की, वह सार्थक सिद्ध होती है।

ज्ञान के कुंभ में भी महान् रहस्य छुपा हुआ है। जैसे कि व्यवहार में हम देखते हैं कि प्रत्येक शिक्षण पद्धति का क्रम होता है, उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान को आगे-पीछे रखने का मुख्य कारण एक-एक ज्ञान की उत्तरोत्तर प्रकृष्टता बढ़ती जाती है तथा दूसरी तरफ एक ज्ञान दूसरे ज्ञान के साथ स्वामी, काल, स्थिति आदि साम्यता है। अगर क्रम का प्रतिबंध नहीं हो तो सभी अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

सभी ज्ञानों में प्रकृष्ट एवं सभी ज्ञानों के बाद उत्पन्न होने के कारण केवलज्ञान सब से अन्तिम रखा गया है तथा मुक्त अवस्था में भी इसी की सर्वोत्तमता अविचल रहती है।

इस प्रकार दीपक की भाँति ज्ञान भी स्वप्रकाशित होकर पर को प्रकाशित करता है और वही प्रमाण की कसौटी पर सत्य साबित हुआ है तथा ज्ञान का वैशिष्ट्य सम्यग् यप से समुज्ज्वल हुआ है।

प्रमाण-मीमांसा

जैन न्याय का उद्भव एवं विकास

जैन न्याय तीन युगों में विभक्त होता है—

- आगमयुग का जैन न्याय,
- दर्शनयुग का जैन न्याय,
- प्रमाण-व्यवस्थायुग का जैन न्याय।

महावीर का अस्तित्व काल ई.पू. 599-527 है। उस समय से ईसा की पहली सदी तक का युग आगमयुग है। ईसा की दूसरी सदी से दर्शन युग का प्रारम्भ होता है। ईसा की आठवीं-नौवीं सदी से प्रमाण व्यवस्था युग का प्रारम्भ होता है।

आगमयुग का जैन न्याय

आगम युग के न्याय में ज्ञान और दर्शन की चर्चा विशद् प्राप्त है। आवृत्ति चेतना के दो रूप हैं—लब्धि और उपयोग। ज्ञेय को जानने की क्षमता का विकास लब्धि है और जानने की प्रवृत्ति का नाम उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का होता है—आकार और अनाकार। आकार का अर्थ है—विकल्प। आकार सहित चेतना की प्रवृत्ति आकार उपयोग कहलाती है। इसे ज्ञान कहा जाता है। आकार रहित चेतना की प्रवृत्ति अनाकार उपयोग कहलाती है। इसे दर्शन कहा जाता है। जैन आगमों में सविकल्प और अर्थ-भेद नहीं है। दर्शन चेतना निर्विकल्प और ज्ञानचेतना सविकल्प होती है।

आत्मा की चेतना एक और अखण्ड है। वह सूर्य की भांति सहज प्रदीप्त है। उसके दो रूप होते हैं—अनावृत्त और आवृत्त। पूर्णतया अनावृत्त चेतना का नाम केवलज्ञान है। यह स्वभाव ज्ञान है। इसे निरूपाधिक ज्ञान भी कहा जाता है। अनावृत्त चेतना की अवस्था में जानने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, इसलिए वह ज्ञान सहज होता है। आवृत्त अवस्था में भी चेतना सर्वथा नहीं होती। वह कुछ-न-कुछ अनावृत्त रहती ही है। फिर भी जीव-अजीव का विभाग हो सके, इतना चैतन्य निश्चित अनावृत्त रहता है। यह ज्ञान विभावज्ञान या सोपाधिक ज्ञान है। हम ज्ञान को जन्म के साथ लाते हैं और मृत्यु के साथ उसे ले जाते हैं। आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध इस शरीर जैसा नहीं है, जो जन्म के साथ बने और मृत्यु के साथ छूट जाए। आत्मा उस कोरी कागज जैसा नहीं है, जिस पर अनुभव अपने संवेदन और स्वसंवेदन रूपी अंगुलियों से ज्ञान रूपी अक्षर लिखता रहे।

ज्ञान का मूल स्रोत है उत्पत्ति

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है और यह न्यूनाधिक मात्रा में अनावृत्त रहता है। इस आधार पर कहा जाता है कि ज्ञान का मूल स्रोत चैतन्य की अनावृत्त अवस्था है। इसके अतिरिक्त तीन स्रोत और हैं—इन्द्रिय, मन और आत्मा। हमारा ज्ञान इन्द्रिय विकास के आधार पर होता है। ज्ञान विकास की तरतमता के आधार पर शारीरिक इन्द्रियों की रचना में भी तरतमता होती है। मानसिक विकास भी चैतन्य विकास पर निर्भर है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाला केवल आत्मा पर निर्भर होता है। इस प्रकार चैतन्य विकास की दृष्टि से ज्ञान के मूल स्रोत तीन हैं⁹¹—इन्द्रिय, मन और आत्मा।

ज्ञान की उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग—दोनों कारणों से होती है। बाहरी पदार्थों का उचित सामीप्य होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है तो आन्तरिक मनन के द्वारा भी ज्ञान उत्पन्न होता है।

ज्ञान की सीमा

इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत। प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक विषय को जानने की क्षमता होती है—

इन्द्रिय	विषय
स्पर्शन	स्पर्श
रसन्	रस
घ्राण	गंध
चक्षु	रूप
श्रोत	शब्द

संक्षेप में कह सकते हैं कि इन्द्रिय ज्ञान, मानसिक ज्ञान और प्रज्ञा यह मतिज्ञान की सीमा है।

अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और प्रायोगिक ज्ञान की निश्चयकता श्रुतज्ञान की सीमा है।

मूर्त द्रव्यों का साक्षात् ज्ञान करना अवधिज्ञान की सीमा है।

मन का साक्षात् ज्ञान करना अवधिज्ञान की सीमा है।

केवलज्ञान सर्वथा अनावृत्त ज्ञान है, इसलिए उसमें सब द्रव्यों और पर्यायों की साक्षात् करने की क्षमता है। यही इसकी सीमा है।

इन्द्रियज्ञान और प्रमाणशास्त्र

अतीन्द्रिय ज्ञान एक विशिष्ट उपलब्धि है। वह सार्वजनिक नहीं है। इसलिए वह न्यायशास्त्र का बहुचर्चित भाग नहीं है। उसका बहुचर्चित भाग इन्द्रिय ज्ञान है। मतिज्ञान क्रमिक होता है। उसका क्रम यह है—

1. विषय और विषयी का सन्निपात,
2. दर्शन—निर्विकल्प बोध सत्ता मात्र का बोध,
3. अवग्रह—‘कुछ है’ की प्रतीति,
4. ईहा—यह होना चाहिए इस आकार का ज्ञान,
5. अवाय—यही है इस प्रकार का निर्णय,
6. धारणा—निर्णित विषय की स्थिरता, वासना, संस्कार,
7. स्मृति—संस्कार के जागरण से होने वाला वह इस आकार का बोध,
8. संज्ञा—स्मृति और प्रत्यक्ष से होने वाला ‘यह वही है’ इस प्रकार का बोध,
9. चिन्ता—चिन्तन मन के होने पर ही होता है इस प्रकार के नियमों का निर्णायक बोध, तर्क या ऊहा,
10. आभिनिबोध—हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान, अनुमान।⁹²

हेतु चार प्रकार का होता है—

1. विधि-साधक विधि हेतु,
2. विधि-साधक निषेध हेतु,
3. निषेध-साधक विधि हेतु,
4. निषेध-साधक निषेध हेतु।

विषय-विषयी के सन्निपात और दर्शन के बिना अवग्रह नहीं होता। अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय, अवाय के बिना धारणा, धारणा के बिना स्मृति, स्मृति के बिना संज्ञा, संज्ञा के बिना चिन्ता और चिन्ता के बिना आभिनिबोध नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान का विस्तार दो रूपों में हुआ है—एक स्याद्वाद और दूसरा नय। जैन तार्किकों ने प्रमेय की व्यवस्था श्रुत-ज्ञान के आधार पर की, स्याद्वाद और नय के द्वारा की। प्रामाणिकों की परिषद् में श्रुतज्ञान का ही आलम्बन लिया गया और उसी के आधार पर न्याय का विकास हुआ। उसे इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—

“जावइया वयणपहा तावइया हुंति सुयविगप्पा”

जितने वचन के प्रकार हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। ये असंख्य हैं। प्रमाण भी असंख्य हो सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जैन न्याय के अनुसार प्रमाणों की संख्या निर्धारण सापेक्ष है।

दर्शनयुग का जैन न्याय

जैन न्याय के विकास का द्वितीय युग प्रथम की तुलना में क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। इस युग में अन्यान्य दर्शनों के बीच वैचारिक सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से कुछ नई प्रस्थापनाएँ और नए प्रयास किये गये।

दर्शन की मीमांसा ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो चुकी थी। ईसा की पहली शताब्दी तक उसमें योगीज्ञान या प्रत्यक्षज्ञान प्रमुख था और तर्क गौण। उसके बाद दर्शन के क्षेत्र में प्रमाण मीमांसा या न्यायशास्त्र का विकास हुआ है। दर्शन में प्रमाण का महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए प्रमाण के द्वारा समर्थित दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की दूसरी शताब्दी से होता है। इस युग में प्रमाण शास्त्र या न्यायशास्त्र का दर्शनशास्त्र के साथ गठबन्धन हो गया।

प्रो. जेकोबी के अनुसार ई. 200-450, धूर्त के अनुसार ईसा पूर्व की शताब्दी में न्यायदर्शनकार गौतम ऋषि ने न्यायसूत्र की रचना की। ईसा की पहली शती में कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र की रचना की। ईसा की चौथी शती में बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। ई.पू. 6-7वीं शती में कपिलमुनि ने सांख्यसूत्र का प्रणयन किया। ईसा की दूसरी से चौथी शती के बीच ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की।⁹³

न्यायशास्त्रों के विकास में बौद्ध और नैयायिकों ने पहल की। बौद्ध दार्शनिक नामार्जुन (ई. 300) ने गौतम के न्यायसूत्र की आलोचना की। वात्स्यायन (ई. 400) ने न्यायसूत्र भाष्य से उस आलोचना का उत्तर दिया। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (ई. 500) ने वात्स्यायन के विचारों की समीक्षा की। उद्योतकर (ई. 600) ने न्यायवार्तिक में उनका उत्तर दिया। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति (ई. 700) ने 'न्यायबिन्दु' में उद्योतकर की समीक्षा की, प्रत्यालोचना की। बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर (ई. 8-9वीं) ने न्यायबिन्दु की टीका

में दिङ्नाग की धर्मकीर्ति की मान्यताओं की पुष्टि की। वाचस्पति मिश्र (ई. 800) ने न्यायवार्तिक की टीका में बौद्धों के आक्षेपों का निरसन कर उद्योतकर की मान्यताओं का समर्थन किया।¹⁴

ईसा की तीसरी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक बौद्धों और नैयायिकों में खंडन-मंडन का तीव्र संघर्ष चला। इस संघर्ष में न्यायशास्त्र के नये युग का सूत्रपात हुआ।

जहाँ दर्शनों का परस्पर संघर्ष होता है। सब दार्शनिक अपने-अपने मतों की स्थापना और दूसरों के मतों का निरसन करते हैं, वहाँ आगम का गौण और हेतु का मुख्य होना स्वाभाविक है। दार्शनिक साध्य की सिद्धि के लिए आगम का समर्थन नहीं चाहता, वह हेतु चाहता है।

आगम और हेतु का समन्वय

दर्शनयुगीन जैन न्याय की कुछ विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। पहली उपलब्धि है—आगम और हेतु का समन्वय। आगम युग में अन्तिम प्रामाण्य आगम ग्रन्थ या व्यक्ति का माना जाता था। मीमांसक अन्तिम प्रामाण्य वेदों को मानते हैं। जैन परिभाषा में आगम का अर्थ होता है—पुरुष। वह पुरुष जिसके सब दोष क्षीण हो जाते हैं, जो वीतराग या केवली बन जाता है। स्थानांग सूत्र¹⁵ में पांच व्यवहार निर्दिष्ट हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी—ये छह पुरुष आगम होते हैं। आगमयुग में आगम पुरुष का और उसकी अनुपस्थिति में श्रुत का प्रामाण्य था। दर्शन युग में आगम का प्रामाण्य गौण, हेतु या तर्क का प्रामाण्य मुख्य हो गया।

जब तक केवलज्ञानी और विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न आचार्य थे तब तक जैनपरम्परा में हेतुवाद या प्रमाणमीमांसा का विकास नहीं हुआ। ईसा की पहली शताब्दी में आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारा सूत्र¹⁶ में प्रमाण की विशद् चर्चा की है। इससे पूर्ववर्ती साहित्य में प्रमाण की इतनी विशद् चर्चा प्राप्त नहीं होती। दर्शनयुग में जब हेतुवाद की प्रमुखता हुई और विशिष्ट श्रुतधर आचार्यों की उपस्थिति नहीं रही तब जैन आचार्य भी हेतुवाद की ओर आकृष्ट हुए। इसका संकेत निर्युक्ति साहित्य में मिलता है। निर्युक्तिकार का निर्देश है कि मन्दबुद्धि श्रोता के लिए उदाहरण और तीव्रबुद्धि श्रोता के लिए हेतु का प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन ने सन्मति¹⁷ में आगम और हेतुवाद—इन दो पक्षों की स्वतन्त्रता स्थापित की और यह बतलाया कि आगमवाद के पक्ष में आगम का और हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करने वाला तत्त्व का सम्यक् व्याख्याता होता है तथा आगमवाद के पक्ष में हेतु का और हेतुवाद के पक्ष में आगम का प्रयोग करने वाला तत्त्व का सम्यक् व्याख्याता नहीं होता।

अमूर्त तत्त्व, सूक्ष्म मूर्त तत्त्व और सूक्ष्म पर्याय—ये सब आगम के प्रामाण्य से ही सिद्ध हो सकते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ आगम साबित पदार्थ होते हैं।

ज्ञान का प्रमाणीकरण

दूसरी उपलब्धि है—ज्ञान का प्रमाण के रूप में प्रस्तुतीकरण। प्रमाण समर्थित दर्शनयुग में जब सभी दार्शनिक प्रमाण का विकास कर रहे थे, उस समय समन्वय की दृष्टि से जैन आचार्यों के सामने भी प्रमाण के विकास का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न का समाधान सर्वप्रथम वाचक उमास्वाति ने किया। उन्होंने ज्ञान और प्रमाण का समन्वय प्रस्तुत किया। यह आगमयुगीन ज्ञान परम्परा और प्रमाण

व्यवस्था के बीच समन्वय हेतु बना। सिद्धसेन और अकलंक ने प्रमाण को स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। वाचक उमास्वाति का समन्वय इन सूत्रों में प्रस्तुत है—

मतिश्रुतावधिमनः पर्यय केवलानि ज्ञानम् ।⁹⁸

तत् प्रमाणे ।⁹⁹

आधे परोक्षम् ।¹⁰⁰

प्रत्यक्षमन्यत् ।¹⁰¹

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये पाँच ज्ञान हैं।

ये ज्ञान ही प्रमाण हैं।

मति और श्रुत—ये दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्राचीन परम्परा में ज्ञान का वही अर्थ था, जो दर्शनयुग में प्रमाण का किया गया। वाचक उमास्वाति ने प्रमाण का लक्षण सम्यग्ज्ञान किया है। सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार की रचना की है। जैन परम्परा में न्यायशास्त्र का यह पहला ग्रन्थ है। आचार्य समन्तभद्र ने न्यायशास्त्र का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु आप्तमीमांसा तथा स्वयम्भू स्तोत्र में उन्होंने न्यायशास्त्रीय विषयों की चर्चा की। उन्होंने प्रमाण का स्व-पर-प्रकाश के रूप में प्रयोग किया है। उपाध्याय यशोविजय ने अनेक कागज लिखे थे। इनमें दूसरे पत्र (पृ. 114) में निम्न उल्लेख मिलता है—

“न्यायग्रन्थ 2 लक्ष कीघो छई” ।¹⁰²

इससे स्पष्ट होता है कि उपाध्यायजी की न्याय-विषयक रचना का परिमाण दो लाख प्रमाण है। न्याय के क्षेत्र में उपाध्यायजी ने जितना लिखा है, उतना उनके पूर्ववर्ती कोई आचार्यो ने नहीं लिखा। इनमें भी नव्यन्याय की शैली से उपाध्यायजी ने लिखकर न्याय के क्षेत्र में चार चांद लगा दिये हैं।

अनेकान्त व्यवस्था और दर्शन समन्वय

तीसरी उपलब्धि है दर्शन समन्वय और उसके अनेकान्त की व्यवस्था का विकास और उसका व्यापक प्रयोग।

उपनिषद् काल से दो प्रश्न चर्चित होते रहे हैं—

1. क्या पूर्ण सत्य जाना जा सकता है?
2. क्या पूर्ण सत्य की व्याख्या की जा सकती है?

इन पर विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न समाधान प्रस्तुत किए हैं। जैन दर्शन ने भी इसका समाधान किया है। प्रथम प्रश्न का समाधान ज्ञानमीमांसा के आधार पर दिया और दूसरे का समाधान अनेकान्त के आधार पर दिया।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने समन्वय की धारा को इतना विशाल बना दिया कि उसमें स्वदर्शन और परदर्शन का भेद परिलक्षित नहीं होता। उनका तर्क है कि मिथ्यातत्त्वों का समूह सम्यक्त्व है। अन्य दर्शन सम्यग् दृष्टि के लिए उपकारक होने के कारण वस्तुतः वह स्व-दर्शन ही है। सामान्यवाद, विशेषवाद, नित्यवाद, क्षणिकवाद—ये सब सम्यक्त्व की महाधारा के कण हैं। इन सबका समुदित होना ही सम्यक्त्व

है और वही जैन-दर्शन है। वह किसी एक नय के खण्डन या मण्डन में विश्वास नहीं करता, किन्तु सब नयों का समुदित कर सत्य की अखण्डता प्रदर्शित करता है। उनके बाद तीसरा प्रमाण व्यवस्था के क्षेत्र में विकास हुआ, उनका निरूपण आगे के मुद्दे में होगा, वो यथार्थ हैं।

न्याय की परिभाषा

वस्तु का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होता है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इससे उसके अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है, वह ज्ञान युक्त सम्यक् या निर्णायक होता है तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर न्यायशास्त्र की परिभाषा निर्धारित की गई। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण के द्वारा अर्थ का परीक्षण 'न्याय' कहलाता है।

नीयते-याथात्मने परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं अनने इति न्यायः।¹⁰³

यह व्युत्पत्ति उपाध्याय यशोविजय ने न्यायलोक में दिखाया है—न्याय शब्द युक्ति, तर्क इत्यादि अर्थ में प्रसिद्ध है। गौतमीय दर्शनानुसार पंचावयवी अनुमान प्रयोग को 'न्याय'¹⁰⁴ कहा है। पदार्थ सिद्धि के लिए जगह-जगह पंचावयवी अनुमान प्रयोग को प्रधानता आश्रयदाता के रूप में गौतमीय सम्प्रदाय 'न्याय दर्शन' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है।

आन्वीक्षिकी विद्या अर्थ में भी न्याय शब्द प्रचलित है। न्याय शब्द का अर्थ उदाहरण अथवा घटना भी होता है, जैसे—'दर्शाणभद्र न्याय'¹⁰⁵ इस अर्थ में न्याय शब्द का प्रयोग न्यायोक्तिकोश लौकिकन्यायांजलि आदि ग्रंथ के नाम का भी उल्लेख है।

व्यवहार में सामान्य लोक में भी न्याय पक्षपातरहित अथवा तटस्थता के प्रामाणिकता इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

न्यायाधीश के दिये हुए फैसले को भी न्याय कहा जाता है।

व्याकरणशास्त्र संबंधी कई स्वीकृत मर्यादाएँ, जिनका सूत्रों में उल्लेख न हो, फिर भी दूसरी रीति से दिखाया हो, जैसे अपवादसूत्र उत्सगवादक है, आदि को भी न्याय कहा जाता है।

न्याय शब्द का एक अर्थ नीति भी होता है।¹⁰⁶

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अपनी जाति के लिए निहित व्यापार को भी न्याय कहते हैं।¹⁰⁷

विशुद्ध व्यवहार को भी न्याय कहा जाता है। धर्मबिन्दुवृत्ति में—'न्यायेन-शुद्धमान तुलोचित कला व्यवहारादिरूपेण'¹⁰⁸ व्याख्या की गई है।

उपाध्याय यशोविजय ने न्यायलोक में न्याय शब्द का एक अर्थ प्रकार, पद्धति भी होता है। नियम के अर्थ में, भी न्याय शब्द का उपयोग होता है।¹⁰⁹

दार्शनिक जगत् में न्याय शब्द उस दर्शन समुदाय में रूढ़ है। मुख्यतया गौतमीयन्याय, बौद्धन्याय, जैन न्याय—इस तरह क्रमशः अक्षपात सम्प्रदाय (नैयायिकदर्शन) बौद्धमत एवं जैनदर्शन के लिए व्यवहृत हुआ है। योगानुयोग प्रस्तुत तीनों दर्शनों में भी गौतम नाम के अलग-अलग महनीय महर्षि हो गये। तीनों में क्रमशः गौतम महर्षि, गौतम बुद्ध एवं इन्द्रभूति गौतमस्वामी—इस नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत तीनों विभूतियाँ अलग-अलग हैं।

गौतमीयन्याय नैयायिक दर्शन में प्राचीन काल में होने वाले वात्स्यायन, उदयनाचार्य आदि प्राचीन नैयायिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके उत्तरकालवर्ती गणेश उपाध्याय, वर्धमान उपाध्याय, रघुकाय शिरोमणि आदि नव्य न्याय के रूप में प्रसिद्ध हैं। बौद्धदर्शन में दिङ्नाग, अर्चट, ज्ञानश्रीमित्र, धर्मकीर्ति आदि प्राचीन बौद्ध न्याय के विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हैं। मोक्षाकर गुप्त आदि बौद्ध न्याय के पुरोगामी कह सकते हैं। जैन दर्शन में सिद्धसेन, दिवाकरसूरि, मल्लवादिशूरि, शातिसूरि, वादिदेवसूरि आदि जैनाचार्यों को प्राचीन जैन न्याय के प्रस्थापक-प्रवाहक कह सकते हैं। उसी श्रेष्ठता में उपाध्याय यशोविजय गणिवर्य नव्य जैन न्याय का पुरुषकर्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस तथ्य के आधार पर जैन तर्क परम्परा की परिभाषा इस प्रकार होगी—

‘प्रमाणनयैरधिगमो न्याय’।¹¹⁰

प्रमाण और नय के द्वारा अर्थ का अधिगम करना न्याय है।

उद्योतकार ने प्रमाण, व्यापार के द्वारा किये जाने वाले अर्थाधिगम को न्याय माना है। जैन परम्परा में न्याय की अपेक्षा युक्ति शब्द अधिक प्रचलित रहा है।

यति-वृषभ का अभिमत है कि जो व्यक्ति प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ निरीक्षण नहीं करता, उसे युक्त अयुक्त और अयुक्त प्रयुक्त प्रतीत होता है।

प्रमाण का अर्थ है—यथार्थज्ञान।

नय का अर्थ है—वस्तु के एक धर्म को जानने वाला ज्ञान का अभिप्राय।

निक्षेप का अर्थ है—प्रस्तुत अर्थ को जानने का उपाय। अर्थात् प्रमाण नय और निक्षेप की युक्ति के द्वारा होने वाला अर्थ का अधिगम न्याय है। यतिवृषभ के शब्दों में यह न्याय आचार्य परम्परा से चला आ रहा है।

‘आचार्य समन्तभद्र’ के अभिमत में जैन न्याय का प्रतिनिधि शब्द स्यात् है। वह सर्वथा विधि और सर्वथा निषेध को स्वीकार नहीं करता। उक्त परम्परा के अनुसार उपाध्याय यशोविजय ने न्यायालोक में न्याय की परिभाषा यह की है—प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा किये जाने वाला वस्तु का सापेक्ष अधिगम न्याय है।¹¹¹

प्रमाण लक्षण

आचार्य हेमचन्द्र प्रमाण के स्वरूप का विवेचन करने के अभिप्राय से प्रथम सूत्र में कहते हैं—
अथप्रमाणमीमांसा।¹¹²

यहां से प्रमाण की मीमांसा प्रारम्भ होती है।

भारतीय शास्त्र-रचना में यह प्रणाली बहुत पहले से चली आ रही है कि सूत्र-रचना में पहला सूत्र ऐसा बनाया जाये, जिससे ग्रन्थ का विषय सूचित हो और जिससे ग्रन्थ का नामकरण भी आ जाये, जैसे—पातंजल योगशास्त्र का प्रथम सूत्र है—अर्थ योगानुशासनम्। विद्यानंद की प्रमाणपरीक्षा का प्रथम सूत्र है—अथ प्रमाणपरीक्षा। आचार्य हेमचन्द्र ने भी उसी प्रणाली का अनुसरण करके यह सूत्र रचा है। इसमें जो व्यक्ति प्रमाणशास्त्र में रुचि रखता है वह उसे पढ़ने के लिए प्रवृत्त हो सकता है।

प्रमाण—संशय, विपर्यय आदि से रहित वस्तु तत्त्व का जिससे ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है।

पूजित विचार वचनश्च मीमांसा शब्द

प्रमाण मीमांसा का लक्ष्य केवल तर्क जाल में उलझना न होकर मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना है—

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणः।¹¹³

पदार्थ का सम्यक् ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने प्रमाण का सामान्य लक्षण बताते हुए कहा है—

स्व पर व्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति।¹¹⁴

स्व एवं पर का यथार्थ निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है।

दर्शन जगत् का प्रमुख विषय है—प्रमाण। मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है और ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। 'यथार्थानुभवः प्रभा, तत्साधनं प्रमाणम्'¹¹⁵—प्रमाण के इस सामान्य लक्षण के विषय में सभी दार्शनिक एकमत हैं। पर उसके लाक्षणिक स्वरूप एवं विभाग व्यवस्था के विषय में विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है। कुछ नैयायिकों के मतानुसार प्रमाण का साधकतम साधन है। 'इन्द्रिय सन्निकर्ष'¹¹⁶ अतः वही प्रमाण है। जबकि कुछ प्राचीन नैयायिकों के अनुसार वह ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक सामग्री जो प्रमाण का साधन है, वही प्रमाण है अतः इन्द्रिय मन, पदार्थ, प्रकाश आदि सभी प्रमाण हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति से, मीमांसक इन्द्रिय से, बौद्ध सारूप्य एवं योग्यता से यथार्थज्ञान स्वीकार करते हैं, अतः उनके यहाँ क्रमशः इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय सारूप्य एवं योग्यता को प्रमाण माना गया है, क्योंकि ये ही प्रमाण के साधन बनते हैं।

न्यायावतार में भी प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि—'प्रमाण स्वपराभासि।'¹¹⁷

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्'¹¹⁸ परीक्षामुख में प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहा है—'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'¹¹⁹

जैन दर्शन में प्रमाण स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण का सर्वाधिक निकट का साधन बनता है, क्योंकि जानना चेतन-क्रिया है। अतः उसका साधन भी चेतन होना चाहिए। जैसे अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है, वैसे ही अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है। सन्निकर्ष, इन्द्रियां, पदार्थ, प्रकाश आदि अचेतन हैं, अज्ञानरूप हैं। अतः अज्ञाननिवृत्ति में साधकतम साधन नहीं बन सकते। प्रमाणहित-प्राप्ति और अहित-परिहार में सक्षम होता है, अतः वह ज्ञान ही होगा, अज्ञान नहीं। आगमयुगीन जैनदर्शन में प्रमाणमीमांसा का विकास नहीं हुआ था। आगमों में सर्वत्र पांच ज्ञानों की चर्चा उपलब्ध होती है। भगवती, ठाणं, अनुयोगद्वार में उपलब्ध होने वाले प्रमाण संबंधित प्रक्षिप्त होने से उत्तरवर्ती है।

उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में स्व एवं पर का निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है। स्व-पर का प्रकाशन करना, वह ज्ञान का असाधारण स्वरूप है। ज्ञान के द्वारा होने वाला प्रकाशन जब यथार्थ निश्चयात्मक होता है, तब वह व्यवसायिक ज्ञान कहलाता है। स्व एवं पर का व्यवसायी ज्ञान यो ही प्रमाण है।

उक्त लक्षण वाक्य में प्रमाण पद से लक्ष्य-निर्देश एवं शेष पदों से लक्षण-निर्देश होता है। लक्षणांश में भी ज्ञान पद वह विशेष्य पद है और स्व-पर-व्यवसायी वह उनका विशेषण है।

स्वाद्धाद रत्नाकर ग्रन्थ में श्री वादिदेवसूरि महाराज ने ज्ञान पद की सार्थकता अन्य रूप में भी दिखाई है।¹²⁰ न्यायादि दर्शनकारों इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं।¹²¹

न्याय मंजरीकार जयंतभद्र कारणसाकल्य (कारण सामग्री) को प्रमाण कहते हैं।¹²²

जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण ज्ञानात्मक ही होता है। सन्निकर्षादि सभी जड़ हैं, अज्ञानात्मक हैं। इसलिए ज्ञान पद से अन्यसम्मत सभी का व्यवच्छेदक होता है, ऐसा स्वाद्धाद रत्नाकर में दिखाया है।

इस प्रकार संक्षेप में पदार्थ का यथार्थ (वास्तविक) ज्ञान ही प्रमाण है, वो यथार्थ है।

आगमेत्तर युग में प्रमाण का क्रमिक विकास

आगमेत्तर युग में जैसे-जैसे न्यायविद्या का विकास हुआ, वैसे-वैसे प्रमाणमीमांसा की आवश्यकता महसूस होने लगी। सर्वप्रथम ज्ञान को प्रमाण रूप से प्रतिष्ठित करने का श्रेय वाचक उमास्वाति को है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में पहले पाँच ज्ञानों का उल्लेख कर उन्हीं को प्रमाण की संज्ञा दी, यथा—

मतिश्रुतावधि मनःपर्याय केवलानि ज्ञानमा तत् प्रमाणे ।

आधे परोक्षम् । प्रत्यक्ष मन्यत् ।।¹²³

अर्थात् मति, श्रुत आदि पांच ज्ञान ही प्रमाण हैं। इनमें प्रथम दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष प्रमाण। अन्तिम तीन ज्ञान आत्मा की सहायता से होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान को प्रमाण कहा किन्तु 'ज्ञान ही प्रमाण है' इतना कहने मात्र से वे न्यायविदों को संतुष्ट नहीं कर सके। अतः दार्शनिक दृष्टि से प्रमाण को व्याख्यायित करने का श्रेय मिलता है आचार्य सिद्धसेन और आचार्य समन्तभद्र को। आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण की परिभाषा यह निश्चित की—'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं (बाधविवर्जितम्)'¹²⁴ अर्थात् जो स्व-पर-प्रकाशी और निर्दोष ज्ञान है, वह प्रमाण है। सिद्धसेन की इस परिभाषा में बाधविवर्जित पर बौद्ध परम्परा के प्रभाव से गृहित हुआ है, क्योंकि प्रमाणवार्तिक में प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—

'प्रमाणविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः'¹²⁵ किया है और बाधविवर्जित अविसंवादित्व का ही पर्याय है।

आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण का जो लक्षण निबद्ध किया, वह इस प्रकार है—

'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्'¹²⁶ जो ज्ञान अपना और पर का बोद्ध कराये, वो प्रमाण है।

नैयायिकों एवं मीमांसकों की तरह ज्ञान को परोक्ष नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष ही मानते हैं। फिर भी वह ज्ञान को स्वप्रकाश्य तो नहीं मानते हैं, परन्तु प्रकाश्य ही मानते हैं, जैसे—कैसी भी तीक्ष्ण सूई अपने को भेद नहीं सकती है। कैसी भी चतुर नर्तकी अपने कंधे पर तो नृत्य नहीं कर सकती है तो फिर ज्ञान कैसा भी क्यों न हो वो स्व को नहीं जान सकता है। वैशेषिक की मान्यता भी ऐसी ही है।

मीमांसक, न्याय, वैशेषिकादि की उक्त मान्यता को निरस करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में दिखाया है कि वास्तव में ज्ञान स्व-पर उभय का निश्चय करता है। प्रदीप के दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे प्रदीप वह घट-पटादि वस्तु को प्रकाशित करता है, तब वो स्वयं भी प्रकाशित होता है, उनके लिए अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं रहती है। ठीक वैसे ही ज्ञान भी अर्थ के साथ

स्वयं भी प्रकाशित होते हैं। उनके लिए ज्ञानान्तर की आवश्यकता मानवी को युक्तियुक्त नहीं है। मीमांसकादिक की उक्त मान्यता का निरसन करने के लिए एवं ज्ञान के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि के लिए जैन दर्शन अनुमान प्रमाण देता है।

‘ज्ञानं स्वव्यवसायि पर व्यावसायि त्वान्यथाऽनुपपत्तेः प्रदीपवत्’¹²⁷—जो स्व को जानता है, वही पर को जानता है। जो स्व को नहीं जानता, वह पर को भी नहीं जानता, जैसे दीपक—इस तरह से सिद्ध होती है कि ज्ञान स्व-पर-उभय का निश्चयात्मक ज्ञान है।

जैन परम्परा में सम्यक्ज्ञान को प्रमाण माना है और उसे स्व-पर-व्यवसायात्मक बताया गया है।

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है किन्तु प्रश्न होता है कि ज्ञान की यथार्थता का बोध कैसे होता है? ज्ञान स्वसंवेदी होता है। अतः ज्ञान को अपना ज्ञान तो हो जाता है पर मैं सम्यक् हूँ या असम्यक् हूँ, इसकी अनुभूति ज्ञान को किस माध्यम से होती है, स्वतः होती है या परतः। इसका समाधान देते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

‘प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा’¹²⁸—ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय कभी स्वतः और कभी परतः होता है।

प्रामाण्यवाद की चर्चा दार्शनिक क्षेत्र की प्रमुख चर्चा रही है। प्रामाण्य का तात्पर्य है—प्रमाण के द्वारा जिस पदार्थ को जिस रूप में जाना गया है, उसका उसी रूप में प्राप्त होना, उसमें व्यभिचार का न होना। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा का प्रारम्भ वेदों को प्रमाण मानने और न मानने वाले दो पक्षों से होता है। जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का निषेध किया, तब वेद प्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक, मीमांसक विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का समर्थन करना शुरू किया।

प्रारम्भ में प्रामाण्य के स्वतः-परतः की चर्चा शब्द (आगम) प्रमाण तक ही सीमित थी, किन्तु एक बार दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद यह चर्चा सभी प्रमाणों के सन्दर्भ में होने लगी। प्रामाण्य-अप्रामाण्य को लेकर दार्शनिक क्षेत्र में चार विचारधाराएँ प्रसिद्ध रही हैं—

सांख्य दर्शन—ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः होता है।

न्याय दर्शन—ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः होता है।

बौद्ध दर्शन—ज्ञान का प्रामाण्य परतः तथा अप्रामाण्य स्वतः होता है।

मीमांसा दर्शन—ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः होता है।

जैन मान्यता शान्तरक्षित कथित बौद्ध पक्ष के समान है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी लिखा है—

‘प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा’¹²⁹

प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है।

स्वतः प्रामाण्य निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सच्चाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। परिचित वस्तुओं के ज्ञान की सत्यता एवं असत्यता का बोध तत्काल हो जाता है। जैसे—हथेली का ज्ञान, स्नान-पान आदि अर्थ क्रिया का ज्ञान।

पानी से प्यास बुझती है, स्नान से दाह शान्त होता है, इत्यादि ज्ञानों के प्रामाण्य की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इनकी प्रामाणिकता प्रतिदिन के अभ्यास से स्वतः ज्ञात हो जाती है।

परतः प्रामाण्य

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सच्चाई का पता नहीं लगता तब अन्य साधनों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। जैसे—कोई पहले सुने हुए चिन्हों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है, फिर भी उसे यह संदेह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सच्चाई मालूम हो जाती है। यहाँ ज्ञान की सच्चाई का पता दूसरे की सहायता से हुआ, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है।

अनुमान का प्रामाण्य स्वतः होता है, परतः नहीं होता, क्योंकि अनुमान का उत्थान सुनिश्चित साधन से होने के कारण उसमें शेष की संभावना ही नहीं रहती, अतः अनुमान का प्रामाण्य स्वतः होता है।

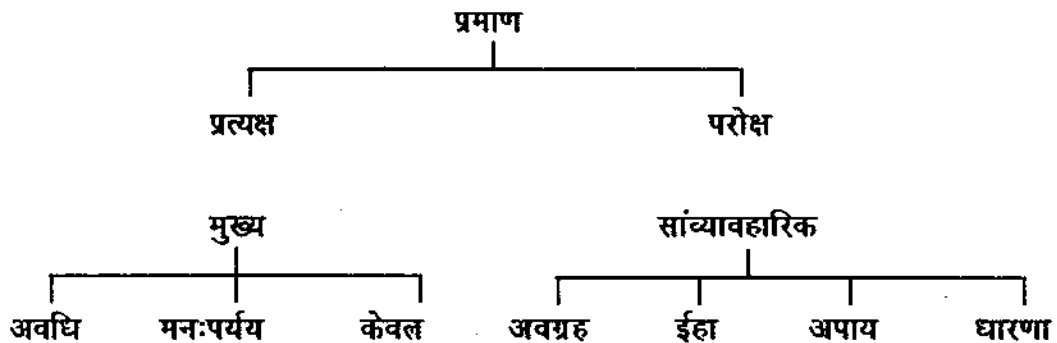
आगम प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः भी होता है और परतः भी होता है। आगम में कथित वे बातें, जिनकी प्रामाणिकता प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है, किन्तु दुर्ज्ञेय होने के कारण संवादी प्रमाण के अधीन होने से परतः है तथा कुछ बातों की संवादी प्रमाण के बिना भी आप्तकथित होने मात्र से ही प्रामाणिकता स्वीकार कर ली जाती है। अतः यहाँ आगम का प्रामाण्य स्वतः है।

जैन की एकान्ततः प्रामाण्य न स्वतः इष्ट है और न परतः। इसलिए वह एकान्त रूप से प्रामाण्य को स्वतः मानने वाले मीमांसकों का तथा एकान्त रूप से परतः मानने वाले न्याय-वैशेषिकों का समर्थन न कर अनेकान्त का अवलम्बन लेकर प्रमाण के प्रामाण्य को अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में परतः स्वीकार करते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण एवं परोक्ष प्रमाण

दर्शन जगत् में प्रमाण-स्वरूप की भाँति प्रमाण के भेदों में भी मतभेद पाया जाता है। जैन दर्शन प्रमाण के दो भेद—प्रत्यक्ष और परोक्ष स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण भी मुख्य प्रत्यक्ष और सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान है। इसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल।



प्रमाण के स्वरूप के समान ही प्रमाण की संख्या के विषय में भी विभिन्न दार्शनिक एकमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रमाणों की तालिका निम्नांकित है—

चार्वाक एक प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष।

बौद्ध और वैशेषिक—प्रत्यक्ष और अनुमान।

सांख्य—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

नैयायिक—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।

मीमांसा प्रभाकर—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति।

भट्ट मीमांसक—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव।

पौराणिक—इन छह प्रमाणों के अतिरिक्त संभव, एतिह्य तथा प्रतिभ—इन तीनों प्रमाणों को और मानता है।¹³¹

उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में प्रमाण के भेद बताते हुए कहा है—

‘द्विभेदम्-प्रत्यक्षम् परोक्षं च’।¹³²

प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रमाण के दो भेद बताए हैं—‘प्रमाणं द्विधा’।¹³³

प्रमाण दो प्रकार का है—‘प्रत्यक्षं परोक्षं च’।¹³⁴

प्रत्यक्ष शब्द प्रति उपसर्गपूर्वक अक्ष धातु से बना है। जैन परम्परा में अक्ष शब्द का ‘आत्मा’ अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है—‘अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा’। अतः आगमिक परिभाषा के अनुसार आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जिन ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की आवश्यकता रहती है, वे परोक्ष कहलाते हैं।

प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में ‘अक्ष’ पर का इन्द्रिय अर्थ मानने की परम्परा सभी वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध दर्शन में एक-सी है। उनमें से किसी दर्शन में भी ‘अक्ष’ शब्द का आत्मा अर्थ मानकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। अतः न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध-मीमांसा आदि दर्शनों के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जैनतर दर्शनों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण जैन आगमिक परम्परा में परोक्ष प्रमाण कहलाता था। जैन तार्किकों के सामने इससे कुछ कठिनाई आई और उन्होंने लोक-व्यवहार की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए दार्शनिक चर्चा-परिचर्चाओं में संभाषिता के लिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष का संव्यवहार प्रत्यक्ष की संज्ञा प्रदान की। सर्वप्रथम जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा अकलंक ने संव्यवहार प्रत्यक्ष के रूप में इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रतिष्ठापित कर आगमिक और दार्शनिक युग का समन्वय किया। सर्वप्रथम आचार्य अकलंक ने प्रत्यक्ष को परिभाषित किया—‘प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्’।¹³⁵ आचार्य विद्यानदी, माणिक्यनदी, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि ने आचार्य अकलंक का ही अनुकरण करते हुए विशद ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा, किन्तु उन्होंने विशदता का तात्पर्य क्या है, यह स्पष्ट नहीं किया। विशदता को स्पष्ट करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—

‘प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्’।¹³⁶

इस सूत्र में उन्होंने विशदता के दो अर्थ किये—जिस ज्ञान में आदि प्रमाणों की आवश्यकता न हो एवं जो इन्द्रन्तया अर्थात् ‘यह है’ इस तरह से स्पष्ट प्रतिभासित होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व अन्य प्रमाणों की तुलना में ही भलीभाँति समझा जा सकता है, क्योंकि अन्य प्रमाण अपने अस्तित्व के लिए कई दृष्टियों से प्रत्यक्ष पर आश्रित हैं, जबकि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं है। अन्य प्रमाणों की सत्यता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होने पर उसका निवारण भी प्रत्यक्ष से ही होता है, उसके अतिरिक्त कई अवसरों पर लोगों को जो भ्रम या संदेह हुआ करता है, उसके निवारण का एकमात्र उपाय भी प्रत्यक्ष ही है।

मानव की समस्त ज्ञान-प्रक्रियाएँ किसी-न-किसी अंश से प्रत्यक्ष पर ही आधारित हैं। दार्शनिक जगत् में प्रत्यक्ष ही एकमात्र ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी ने एकमत से स्वीकार किया है। विचार की प्रारम्भिक वेला में प्रत्यक्ष मात्र का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाता था। अक्षपाद ने पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्ति का उल्लेख किया और तत्त्वों में प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। न्यायशास्त्र में प्रमाण संबंधी चर्चा भी प्रत्यक्ष के विश्लेषण से ही आरम्भ होती है। अन्य प्रमाणों के प्रामाण्य की पुष्टि हेतु भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रमाणमीमांसा का आरम्भ बिन्दु एवं अन्तिम बिन्दु प्रत्यक्ष ही है।

परोक्ष प्रमाण

प्रमेय का ज्ञान प्रमाण से होता है। प्रमेय का अस्तित्व स्वभाव सिद्ध है किन्तु उसके अस्तित्व का बोध प्रमाण के द्वारा ही संभव है। 'मानाधीना हि मेयसिद्ध'—यह न्यायशास्त्र का सार्वभौम नियम है। परोक्ष प्रमाण को परिभाषित करते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—'अविशद् परोक्षम्'।¹³⁷ अविशद् परोक्ष प्रमाण है।

प्रमाण के क्षेत्र में प्रत्यक्ष, सर्वदर्शन सम्मत शब्द है, किन्तु परोक्ष शब्द का प्रयोग मात्र जैन तार्किकों ने किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण विशद् होता है। उनकी विशदता का तात्पर्य है—इदन्तया प्रतिभास एवं प्रमाणांत की अनपेक्षा। इसके विपरीत परोक्ष में इन्द्रन्तया प्रतिभास नहीं होता तथा अन्य प्रमाण की भी आवश्यकता होती है।

उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में परोक्ष का लक्षण बताते हुए कहा है कि—

'इन्द्रिय सन्निकर्षादि लक्षण व्यवधानतो वर्तते—जायते इति परोक्ष ज्ञानम्'।¹³⁸

आगमिक परम्परा के अनुसार इन्द्रिय एवं मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है अतः आगम परम्परा में संब्यवहार प्रत्यक्ष वस्तुतः परोक्ष ही है। आगम परम्परा के अनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान, जिन्हें इतर दर्शनों में इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष कहा गया है, वस्तुतः परोक्ष ही है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम—ये सभी ज्ञान भी परसापेक्ष होने से परोक्ष में परिगणित हैं। इस प्रकार परोक्ष का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। परोक्ष प्रमाण के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

'स्मृति प्रत्यभिज्ञानो हानुमानागमाक्तदविधयः'।¹³⁹

जैन दर्शन के अनुसार परोक्ष प्रमाण के पांच प्रकार माने गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम। स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञा स्मृति एवं अनुभावमूलक, तर्क प्रत्यभिज्ञामूलक तथा अनुमान तर्क निर्णित साधनामूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। आगम वचनमूलक होता है, इसलिए परोक्ष है।

स्मृति का दैनन्दिन जीवन में उपयोगितापूर्ण स्थान है, इसकी उपयोगिता प्राचीन और अर्वाचीन सभी विचारधाराओं में एकमत से मान्य रही है। सभी तार्किक विद्वान् स्मृति की परिभाषा किसी एक आधार पर नहीं करते। कणाद ने आभ्यान्तर कारण संस्कार के आधार पर ही स्मरण का लक्षण किया है—‘आत्मनः संयोगविशेषात् संस्कारशच्च स्मृतिः’।¹⁴⁰ पतंजलि ने विषय-स्वरूप के ही निर्देश द्वारा ही स्मृति को लक्षित किया है।

‘अनुभूत विषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः’¹⁴¹—कणाद ने अनुगामी प्रशस्तपाद में अपने भाष्य में कारण, विषय और कार्य—इन तीनों के द्वारा स्मृति का निरूपण किया है।

जैन परम्परा के स्मरण और उसके कारण पर तार्किक शैली से विचार करने का प्रारम्भ आचार्य पूज्यपाद और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा हुआ। लक्षण के पश्चात् स्मृति प्रमाण है या नहीं इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। स्मृति को प्रमाण मानने के बारे में दो परम्पराएँ हैं—जैन और जैनेतर। जैन परम्परा में स्मृति प्रमाणरूप से स्वीकृत है। जैनेतर परम्परा में वैदिक, बौद्ध आदि सभी दर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानते। स्मृति को प्रमाण नहीं मानने वाली ये विचारधाराएँ भी इसे अप्रमाण या मिथ्याज्ञान ही कहती पर वे प्रमाण शब्द से केवल उसका व्यवहार नहीं करते। जैसा कि न्यायमंजरी में लिखा है—

न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम् ।
अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ।

अर्थात् गृहीतग्राही होने के कारण स्मृति अप्रमाण है, ऐसी बात नहीं है अपितु पदार्थ से उत्पन्न न होने के कारण वह अप्रमाण है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष और स्मृति—दोनों का योग होने से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञा है, अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मृति के मिश्रण से संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। उसके तीन रूप बनते हैं—

1. प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन,
2. दो प्रत्यक्षों का संकलन,
3. दो स्मृतियों का संकलन।

तर्क भारतीय दर्शन का सुपरिचित शब्द है। चिन्तन के क्षेत्र में इसका महत्त्व बहुत पहले से रहा है। न्यायशास्त्र में इसका विशेष अर्थ है। अनुमान के लिए व्याप्ति की अनिवार्यता है और व्याप्ति के लिए तर्क की अनिवार्यता है, क्योंकि इसके बिना व्याप्ति की सत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी तर्कशास्त्रीय परम्पराएँ तर्क के इस महत्त्व को स्वीकार करती हैं। उनमें यदि कोई मतभेद है तो वह इसके प्रामाण्य के विषय में नहीं गिनते, प्रमाण का अनुग्राहक मानते हैं। जैन परम्परा में यह प्रमाणरूप से स्वीकृत है। इसका स्वतंत्र कार्य है, इसलिए यह परोक्ष प्रमाण का तीसरा प्रकार है। जहाँ-जहाँ धूम होती है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—यह व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान तर्क-प्रमाण के द्वारा होता है, अतः यह प्रमाण है।

अनुमान न्यायशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। अनुमान शब्द अनु और मान इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति से पूर्व अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वह अनुमान है। आचार्य हेमचन्द्र ने अनुमान का लक्षण बताते हुए कहा है—

साधनान् साध्य विज्ञानम् अनुमानम् ।¹⁴²

साधन के साध्य का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। अनुमान के मुख्य दो अंग हैं—साधन और साध्य। साधन प्रायः प्रत्यक्ष होता है और साध्य परोक्ष होता है, जैसे—‘पर्वतो वाहिनमान धूमात्’। इसमें धूम साधन है और अग्नि साध्य है। उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा से अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है—

‘साधनात् साध्य विज्ञानम्-अनुमानम् तद् द्विविधं स्वार्थ परार्थ च।’¹⁴³

हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। उनके दो प्रकार हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान—हेतु का ग्रहण एवं साधन-साध्य के बीच के संबंध का स्मरण—इन दोनों के द्वारा अपने साध्य के बीच के संबंध का स्मरण, इन दोनों के द्वारा अपने साध्य का जो ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। अर्थात् जो अपने ज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो, वह स्वार्थानुमान कहलाता है। जो दूसरों के अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो, वह परार्थानुमान कहलाता है अथवा अनुमान के मानसिक क्रम को स्वार्थानुमान तथा शाब्दिक क्रम को परार्थानुमान कहा जाता है।

स्वार्थानुमान में दूसरों की संशय निवृत्ति के लिए वाक्य-प्रयोग के द्वारा अनुमान की प्रक्रिया निष्पन्न करता है। साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान है, जैसे—किसी को धूम रेखा और दूर देश में स्थित अग्नि का ज्ञान हो गया। इस ज्ञान में पक्ष और दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है। दूसरों को समझाने के लिए पक्ष और हेतु का वचनात्मक प्रयोग करना परार्थानुमान है, जैसे—कोई व्यक्ति दूसरों से कहता है कि देखो उस नदी के किनारे अग्नि है, क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है।

इस प्रकार आत्मगत ज्ञान स्वार्थ और वचनात्मक ज्ञान परार्थ होता है।

परोक्ष प्रमाण का अन्तिम भेद आगम प्रमाण है। जैन आगमिक परम्परा में इसका प्राचीन नाम श्रुत है। जैसे जैन आगमिक परम्परा का मतिज्ञान जैन तार्किक परम्परा में संव्यावहारिक प्रत्यक्ष के नाम से अभिहित हुआ, वैसे ही श्रुत भी आगम के ज्ञान से अभिहित हुआ। आगम श्रुतज्ञान या शब्दज्ञान है।

जैन दृष्टि के अनुसार आगम स्वतः प्रमाणपौरुषेय तथा आप्तप्रणीत होता है। आप्त दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर।

लौकिक दृष्टि से जिस समय जिस विषय का यथार्थज्ञान एवं यथार्थ वक्ता होता है, वह आप्त है। उसके वचन लौकिक आगम हैं।

लोकोत्तर विषय, आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म का यथार्थ ज्ञान रखने वाला तथा यथार्थवादी महापुरुष लोकोत्तर आप्त कहलाता है। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य लोकोत्तर आगम के विषय हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने भी जैन तर्क परिभाषा में आगम का लक्षण देते हुए कहा है कि—

‘आप्तवचनादि विभूतिमर्थ संवदनमागम’।¹⁴⁴

आप्तवचन को आगम कहते हैं या आप्तवचन से उत्पन्न होने वाले अर्थ-बोध को ही आगम प्रमाण कहते हैं।

इस प्रकार परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम—ये पाँच भेद होते हैं। इन सबमें परोक्ष का सामान्य लक्षण ‘अविशदत्व’ समान रूप से पाया जाता है। अतः अवान्तर सामग्री भिन्न-भिन्न होते हुए भी ये सब परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

न्यायशास्त्र के प्रमुख तीन अंग—प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता

न्याय पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र न्यायशास्त्र कहलाता है। इसके मुख्य चार अंग हैं—
प्रमाता (आत्मा)—तत्त्व की मीमांसा करने वाला।

प्रमाण (यथार्थज्ञान)—मीमांसा का मानदण्ड।

प्रमेय (पदार्थ)—जिसकी मीमांसा की जाये।

प्रमिति (प्रमाण का फल)—मीमांसा का फल।

प्रमेय (पदार्थ का स्वरूप)

प्राणस्य विषयो द्रव्यापर्यायात्मकं वस्तु।¹⁴⁵ प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है।

अर्थक्रिया सामर्थ्यात्।¹⁴⁶ द्रव्य पर्याय रूप वस्तु ही अर्थक्रिया के सामर्थ्य से प्रमाण का विषय है।

तल्लक्षणतवाद् वस्तुनः।¹⁴⁷ अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण है।

पूर्वोतराकार परिहार स्वीकार स्थिति लक्षणपरिणामेन। स्यार्थ क्रियो पपतिः।¹⁴⁸

पूर्व पर्याय का परित्याग, उत्तर पर्याय का उत्पाद और स्थिति अर्थात् ध्रौव्य स्वरूप परिणाम से द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ में ही अर्थक्रिया संगत होती है।

‘प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि’—प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है। जब तक प्रमाण का निर्णय नहीं होता, तब तक प्रमेय की स्थापना नहीं की जा सकती। प्रमेय के विषय में दो मत हैं—कुछ दर्शन प्रमेय की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं और कुछ नकारते हैं। जो प्रमेय की वास्तविकता मानते हैं वो वस्तुवादी या यथार्थवादी दर्शन कहलाते हैं और जो प्रमेय को वास्तविक नहीं मानते, वे प्रत्ययवादी दर्शन कहलाते हैं। भारतीय दर्शन में बौद्ध एवं वेदान्त प्रत्ययवादी दर्शन एवं शेष वस्तुवादी दर्शन हैं। प्रमेय के स्वरूप में भी नानात्व दृष्टिगोचर होता है। यह मुख्य चार प्रकार का है—

1. प्रमेय नित्य है,
2. प्रमेय अनित्य (क्षणिक) है,
3. कुछ प्रमेय नित्य व कुछ अनित्य है,
4. प्रमेय नित्यानित्य है।

जहाँ वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन प्रमेय को कुटस्थ नित्य मानते हैं, वहाँ बौद्ध दर्शन में पदार्थ को उत्पाद और व्ययशील अनित्य, निश्चय विनाशी माना है। न्याय दर्शन कुछ पदार्थों, जैसे—आत्मा, आकाश आदि को नित्य मानता है तथा दीपशिखा आदि कुछ को अनित्य मानता है।

प्रमेय का स्वरूप

जैन दर्शन नित्यानित्यवादी है। उसके अनुसार आकाश से लेकर दीपशिखा तक के सभी पदार्थ नित्यानित्य हैं। आकाश के स्वभावगत परिणामन होता है इसलिए वह अनित्य भी है और दीपशिखा के परमाणु ध्रुव हैं, अतः वह नित्य भी है। स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं हो सकता। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र के अन्ययोगव्यवच्छेदिका में लिखा है—

आदिपमाव्योम् समस्वभावं स्यादवादमुद्रानतिभेदिवस्तु।

तन्नित्यमेवैककम नित्यमन्यदिति त्यादाज्ञाद्विषतां प्रलापा।¹⁴⁹

अर्थात् दीपक से लेकर आकाश तक सभी पदार्थ नित्यात्मक हैं। कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की इस भयानका का अतिक्रमण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन के अनुसार जो सत् है, वह पूर्ण रूप से कूटस्थ नित्य, निश्चय विनाशी या उसका अमुक भाग नित्य और अमुक भाग अनित्य नहीं हो सकता। अतः आचार्य हेमचन्द्र प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को बताते हुए लिखते हैं—

द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है। जैनाचार्यों के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता जैसे परस्पर विरोधी गुणधर्म कैसे ठहर सकते हैं? तो समाधान में स्याद्वादी आचार्यों ने कहा—

घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थनिष्वयम् ।

शोक प्रमोदमाध्यस्यं जनो याति सहेतुकम् ।।

एक स्वर्णकार स्वर्णकलश तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा है। उसके पास तीन ग्राहक आये। एक को स्वर्ण कलश चाहिए था, दूसरे को स्वर्ण मुकुट और तीसरे को केवल स्वर्ण चाहिए था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ, दूसरे को हर्ष हुआ और तीसरा माध्यस्थ भावना में रहा। तात्पर्य यह हुआ कि एक ही स्वर्ण में, एक ही समय में एक विनाश देख रहा है, एक उद्धार देख रहा है और एक ध्रुवता देख रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से त्रिगुणात्मक है। जैन दर्शन वस्तु को न केवल द्रव्यरूप मानता और न केवल पर्यायरूप मानता है अपितु जात्यन्तर द्रव्यपर्यायरूप मानता है। जैसा कि कहा है—

भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्रयात्मकः ।

तम भागेः विभागेन नरसिंह प्रचक्षते ।।

जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भाग में नर है और दूसरे में मनुष्य है, वह नर और सिंह दो विरुद्ध आकृतियों को धारण करता है और फिर भी नृसिंह नाम से कहा जाता है, उसी तरह नित्य-अनित्य दो विरुद्ध धर्मों में रहने पर भी स्याद्वाद के सिद्धान्त न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप है अपितु द्रव्यपर्यायरूप है।

प्रमिति—प्रमाण का फल

दर्शन जगत् में प्रमाण और प्रमेय की भाँति प्रमिति की चर्चा भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जैन दर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता जानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमाण का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। आज्ञा की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिए ज्ञान को ही प्रमाण का फल मानता है अतः जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण एवं ज्ञान ही प्रमाण का फल है।

प्रमाण के फल दो बताते हुए आचार्य हेमचन्द्र मीमांसा में लिखते हैं कि—

‘फलमर्थ प्रकाशः’¹⁵⁰—प्रमाण का फल अर्थ का प्रकाश है।

‘अज्ञाननिवृत्तिर्वा’¹⁵¹—प्रमाण का फल अज्ञान की निवृत्ति है।

‘अवग्रहादीनां वा कर्मोपजन धर्माणं पूर्वं पूर्वं प्रमाणभुतरमुतरु फलम्’¹⁵²—क्रम से उत्पन्न होने वाले अवग्रह आदि में से पूर्व-पूर्व के प्रमाण और उत्तर-उत्तर के फल हैं।

‘हानादिबुद्धयो वा’¹⁵³—प्रमाण का फल हानि आदि बुद्धि है।

‘प्रमाणाद भिन्नाभिन्नम्’¹⁵⁴—प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न और अभिन्न है, जैसे—प्रकाश अंधकार को हटाकर पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान अज्ञान को हटाकर, दूर कर पदार्थों का बोध कराता है, इसलिए प्रमाण का मुख्य फल ज्ञान है।

प्रमाण का परस्पर फल हानि, उपादान, उपेक्षा, बुद्धि है, क्योंकि वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् यदि वस्तु अहितकारी प्रतीत होती है तो ज्ञाता उसे छोड़ देता है और यदि हितकारी प्रतीत होती है तो उसे ग्रहण कर लेता है तथा यदि उस जानी हुई वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं होता, तो उसकी उपेक्षा कर देता है। जैसा कि न्यायावतार में लिखा है—

**प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखीयेचेक्षे शेष म्यादानहान घीः ॥¹⁵⁵**

इस प्रकार प्रमाण का फल दो प्रकार का है—एक साक्षात् फल अर्थात् न प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा परस्पर फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल।

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परस्पर फल दान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है। प्रमाण एवं प्रमाण फल में न एकान्त भेद और न एकान्त अभेद अपितु कथंचित् भेदाभेद है।

प्रमाता का स्वरूप

भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु आत्मा ही रहा है। आत्म-स्वरूप के विषय में परस्परविरोधी अनेक मत दर्शनशास्त्रों में पाये जाते रहे हैं। वेदान्त, सांख्य आदि दार्शनिक जहाँ आत्मा को कूटस्थ नित्य स्वीकार कर रहे थे, वहीं बौद्ध दार्शनिक आत्मा को सर्वथा क्षणिक मान रहे थे। योगाचार बौद्ध जहाँ विज्ञान बाह्य किसी चीज का अस्तित्व न होने से और विज्ञान स्वसंविहित होने से आत्मा को स्वावभासी मान रहे थे, वहीं परोक्ष ज्ञानवादी कुमारिल आदि मीमांसक आत्मा का परावभासित्व सिद्ध कर रहे थे। जैन आचार्यों ने आत्म-स्वरूप के विषय में प्रचलित विचारों में समन्वय स्थापित किया एवं आत्मा को नित्यानित्य एवं स्वपरावभासी माना।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाता के स्वरूप को परिभाषित करते हुए लिखा—

स्वपराभासि परिणाम्यात्मा प्रमाता ।

स्व और पर को जानने वाला तथा परिणमनशील आत्मा प्रमाता है। इस सूत्र में प्रमाता के दो लक्षण बताये गये हैं—

- आत्मा का स्व-पर प्रकाशी होना।
- आत्मा का परिणमनशील होना।

मीमांसक आत्मा को स्वप्रकाशी नहीं मानते। उनके अनुसार ‘स्वात्मनि क्रिया विरोध’ अर्थात् जिस प्रकार तलवार अपने आपको नहीं काट सकती, नट अपने कंधे पर चढ़कर नहीं नाच सकता, उसी प्रकार आत्मा अपने आपको नहीं जान सकती।

दूसरी बात यदि आत्मा को स्वावभासी माने तो आत्मा ज्ञेय बन जायेगी, क्योंकि जिसको जाना जाता है, वह ज्ञेय कहलाता है। आत्मा को स्वावभासी मानने से वह ज्ञेय बन जायेगी। फिर उसे ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। अतः मीमांसकों को आत्मा का स्वावभासित्व इष्ट नहीं था। दूसरी ओर योगाचार बौद्ध विज्ञान बाह्य किसी चीज का अस्तित्व न स्वीकार करने के कारण आत्मा को स्वावभासी मान रहे

थे, उन्हें आत्मा का परावभासित्व इष्ट नहीं था। जैन दर्शन ने इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया। उनके अनुसार स्वात्मनि क्रिया में विरोध नहीं होता, क्योंकि जो बात अनुभव से सिद्ध है, उसमें विरोध नहीं होता। आत्मा स्व-प्रकाशक है, क्योंकि वह पदार्थों को जानता है, जो स्व-प्रकाशक नहीं होता, वह पर-प्रकाशक भी नहीं हो सकता, जैसे—घट। स्वप्रकाशत्व के साथ परप्रकाशत्व का कोई विरोध भी नहीं है। जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित होता है, उसे प्रकाशित करने के लिए किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती तथा साथ-साथ दीपक पदार्थों को भी प्रकाशित करता ही है।

आत्मा को स्वप्रकाशी मानने से वह ज्ञेय बन जायेगी, ज्ञाता नहीं रहेगी, ऐसी शंका करना भी उचित नहीं। आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हो सकती है। आत्मा स्वयं को जानती है, इस अपेक्षा से ज्ञेय तथा पदार्थों को जानती है, इस अपेक्षा से ज्ञाता भी है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र की अपेक्षा पिता होता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र होता ही है। इस प्रकार आत्मा एकान्ततः स्वावभासी या परावभासी ही है, इन दोनों एकान्तिक मतों का निरसन और आत्मा के स्वपरावभासी मतप्रभाता का दूसरा लक्षण है—परिणामित्व। जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हो, वह परिणामी कहलाती है। आत्मा परिणामी है, इस तथ्य को स्वीकार करने से कूटस्थ नित्यता एवं एकान्त विनश्वरता से संबंध दोनों पक्षों का निराकरण हो जाता है। कूटस्थ नित्य से तात्पर्य है कि उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य मान लें तो सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि संभव नहीं हो सकते और यदि बौद्धों की तरह एकान्ततः क्षणिक मान लें तो फिर ऐसा भी मानना होगा कि व्यक्ति को अपने कृत कर्मों का फल नहीं मिलता, अकृत कर्मों का फल मिलता है, क्योंकि कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो चुकी है। इसके अतिरिक्त स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान भी अप्रमाण हो जायेंगे। आत्मा को परिणामी नित्य अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त मानने से सभी बातों का समन्वय सहज किया जा सकता है।

चार निक्षेप का स्वरूप

नय की तरह निक्षेप भी श्रुतप्रमाण के साथ विशेष रूप से संबंध रखता है। आगम ग्रंथों में पद, पद के नय एवं निक्षेप के द्वारा पदार्थों की विचारणा प्रस्तुत है। तत्त्व का निर्णय करने के लिए निक्षेप भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है। किसी भी पदार्थ निरूपण प्रारम्भ सामान्य से उनके निर्दोष लक्षण कथन के द्वारा होता है, फिर उनमें अग्र भेद हो तो उनका विस्तार किया जाता है, इसलिए सर्वप्रथम सभी भेदों में घटे, ऐसा सामान्य लक्षण कहते हुए उपाध्याय यशोविजय जैन तर्क परिभाषा में लिखते हैं—

‘प्रकरणा दिवशोना प्रतिपत्यादि व्यवच्छेदक यथास्थान विनियोगाय।

शब्दार्थ रचना विशेषा निक्षेपाः।।¹⁵⁶

प्रकरणादि के अनुरूप अप्रतिपत्ति निराकरण करने में जो यथास्थान विनियोग, उस विनियोग के लिए शब्द एवं अर्थ की रचना विशेष करना जो निक्षेप है।

ग्रंथकार स्वयं निक्षेप का फल आहरण से दिखाता है—मंगल आदि पदों के अर्थ में निक्षेप करने से नाममंगल आदि में उचित विनियोग हो सकता है, वो निक्षेप का फल है। मंगल पद के चार निक्षेप होते हैं—

• नाम मंगल—स्वयं मंगल न हो किन्तु जो पदार्थ या व्यक्ति का नाम मंगल रखने में आया हो तो वो पदार्थ था। व्यक्ति एवं उनके नाम को नाममंगल कहते हैं।

• **स्थापना मंगल**—‘म’ आदि जो वर्ण हैं, उनका उच्चार करके मंगल शब्द बोला जाता है या लिखा जाता है, वो स्थापना मंगल है।

• **द्रव्य मंगल**—अक्षत, रत्न, दही, कुंकुं आदि पदार्थों को द्रव्यमंगल कहा जाता है।

• **भाव मंगल**—जिननमन स्मरणादि क्रिया भाव मंगल है।¹⁵⁷

‘लघीयस्त्रयी’¹⁵⁸ नामक ग्रंथ में निक्षेप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि अप्रस्तुत अर्थ में उत्पन्न शंका का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ का निर्णय करने वाला निक्षेप कहलाता है।

निक्षेप का उद्भव

द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक होता है। उन अनन्त पर्यायों को जानने के लिए अनन्त शब्द आवश्यक है। शब्दकोष में शब्द बहुत सीमित हैं। हम संकेतविधि के अनुसार एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं। इनका परिणाम यह होता है कि पाठक अथवा श्रोता विवक्षित अर्थ को पकड़ नहीं पाता; फलतः अनिर्णय की स्थिति बन जाती है। उस अनिर्णय की स्थिति का निराकरण करने के लिए जैनाचार्यों ने निक्षेप विधि का आविष्कार किया। निक्षेप का उद्भव व्यवहार की सम्यक् संयोजना के लिए हुआ। व्यवहार की सम्यक् योजना करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है, उसको निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप का प्रयोजन है—वाक्य रचना का ऐसा विन्यास, जिससे पाठक अथवा श्रोता विवक्षित अर्थ को ग्रहण कर सके। इसके लिए प्रत्येक पर्याय के लिए विशेषण युक्त वाक्य रचना अपेक्षित है। निक्षेप पद्धति में एक शब्द की अनेक सन्दर्भों में जानकारी मिलती है।

मनुष्य ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है, यह एक दार्शनिक प्रश्न है। इस प्रश्न को जैन दर्शन में निक्षेप पद्धति द्वारा सुलझाया गया है।

• **निक्षेप का विकास क्रम**—क्षेत्र, काल आदि अनेक धर्म हैं। उनमें वस्तु का आरोहण किया जाता है, इसलिए निक्षेप अनेक बनते हैं। वस्तु के आन्तरिक और बाह्य जितने धर्म हैं, उतने ही निक्षेप हो सकते हैं। इसलिए सूत्रकार ने निक्षेप संख्यातीत बताये हैं। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में ‘उत्तर’ शब्द के पन्द्रह निक्षेप किये गये हैं—

नामं ठवणा दविए खित्त दिसा तावरिवत पन्नवाएं।

पइकालसंचय पहाण नाणकमगणणओ मावे।।

आचारांग निर्युक्ति में तथा कषायपाहुड में कषाय शब्द के आठ निक्षेप किये हैं—

णामं ठवणा दविए उप्पती पच्चए य आएसो।

रसभाव कसाए या तेण य कोहाइया चउरो।।¹⁵⁹

कषाओ ताव णिकिखवियव्वो णामकसाओ ठवण कसाओ।

दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुत्पतिकसाओ आदेसकसाओ रसकासाओ भावकसाओ चेदि।।¹⁶⁰

निक्षेप का वस्तु अवबोध में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस वस्तु में जितने निक्षेप किए जा सकें, उतने करने चाहिए किन्तु कम से कम चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य किया जाये। नाम और स्थापना के बिना वस्तु की पहचान नहीं होती। ये दोनों वस्तु की अवस्थाएँ हैं। वस्तु की जानकारी के लिए वर्तमान पर्याय में उसका निक्षेपण आवश्यक है। इस प्रकार नाम, रूप और अवस्था में वस्तु का निक्षेपण करना न्यूनतम अपेक्षा है। निक्षेप के इन चार प्रकारों का ही प्रयोग ग्रंथों में बहुलतया उपलब्ध होता है।

जिनभद्रगणि ने एक ही वस्तु में चार पदार्थों की संयोजना की है—

अहवा वस्तूभिहाणं णामं ठवणा य जो तयागादो कारणया से दव्यं कज्जवन्नं तयं भावो ।⁶¹

वस्तु का अपना अभिधान नाम निक्षेप है। वस्तु का आकार स्थापना निक्षेप है। कार्यरूप में विद्यमान वस्तु भाव निक्षेप है। कारणरूप में विद्यमान वस्तु द्रव्य निक्षेप है, जैसे—घड़े का 'घट' नाम नामनिक्षेप है। घट का पृथु, बुध्न, उदर आकार है, वह स्थापना निक्षेप है। मृत्तिका घट का अतीतकालीन पर्याय है। कपाल घट का भविष्यकालीन पर्याय है। ये दोनों पर्यायी घट पदार्थ से शून्य होने के कारण द्रव्य निक्षेप है। कार्यापन्न पर्याय अर्थात् घट रूप में परिणत पर्याय भाव निक्षेप है।

उत्तराध्ययन सूत्र की शान्त्याचार्यवृत्ति में कहा गया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों में सब निक्षेपों का समावेश हो जाता है। जहाँ कहीं इससे अधिक निक्षेपों का प्रयोग होता है, उसके दो प्रयोजन हैं—

1. शिक्षार्थी की बुद्धि को व्युत्पन्न करना,
2. सब वस्तुओं के सामान्य, विशेष और उभयात्मक अर्थ का प्रतिपादन करना।

नाम आदि निक्षेपों के माध्यम से शास्त्र का प्रतिपादन और ग्रहण सहज हो जाता है।

‘भण्णइ धिप्पाई य सुहं निक्खेव पयाणुसारओ सत्यं’ ।

जैन आगमों की व्याख्या के सन्दर्भ में निक्षेप पद्धति का बहुलता से प्रयोग हुआ है। अनुयोगद्वारा सूत्र में 'आवश्यक' श्रुत-स्कंध आदि शब्द के अर्थ-विमर्श के प्रसंग में निक्षेप का प्रयोग विस्तार से हुआ है। निक्षेप के द्वारा ग्रंथकार प्रतिपादित विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं, जिससे श्रोता या पाठक प्रतिबोध के हार्द को हृदयंगम करने में समर्थ हो जाता है। निक्षेप के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप-विमर्श के द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा।

निक्षेप की आवश्यकता

व्यवहार जगत् में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ परस्पर एक-दूसरे से संवाद स्थापित करना होता है, वहाँ शब्द अत्यन्त अपेक्षित है और एक ही शब्द एकाधिक वस्तु एवं उनकी अवस्थाओं के ज्ञापक होने से उसके प्रयोग में भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है। वस्तु का यथार्थ बोध दुरुह हो जाता है। निक्षेप के द्वारा भाषा प्रयोग की उस दुरुहता का सरलीकरण हो जाता है। निक्षेप भाषा प्रयोग की निर्दोष प्रणाली है। निक्षेप के रूप में जैन परम्परा का भाषा जगत् को महत्त्वपूर्ण योगदान है।

निक्षेप की परिभाषा

ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि निक्षेप पद्धति का प्रयोग, निक्षेप शब्द का प्रयोग उनके भेद-प्रभेदों का उल्लेख भगवती, अनुयोगद्वारा, निर्युक्ति साहित्य आदि में उपलब्ध है किन्तु निक्षेप की अर्थमीमांसा, निर्वचन, परिभाषा आदि सर्वप्रथम विशेषावश्यक भाष्य में उपलब्ध है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण निक्षेप का निर्वचन करते हुए कहते हैं—

निक्खप्पइ तेण तहिं तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो ।

नियओ व निच्छिओ वा खेवो नासो ति जं भणियं ।।⁶²

अर्थात् पद को निश्चित अर्थ में स्थापित करना, अमुक-अमुक अर्थ के लिए शब्द का निक्षेपण करना निक्षेप है। भाष्यकार ने निक्षेप की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा—जिस वस्तु के नाम आदि

भेदों में शब्द, अर्थ और बुद्धि—इन तीनों की परिणति होती है, वह निक्षेप है। सम्पूर्ण वस्तुएँ लोक में निश्चित ही नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार पदार्थों से युक्त हैं।

नामइ भेयसदत्थबुद्धि परिणमभावओ निययं ।

जं वत्थुमत्थि लोए च उपज्जायं तय सव्वं ।।⁶⁵

निक्षेप जैन दर्शन का परिभाषित शब्द है। निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास है, जिसका प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है। 'न्यासो निक्षेपः' निक्षेप की जैन ग्रंथों में अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। बृहद नयचक्र में निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा गया—

श्रुती सुजुतमग्गे जं चउभेचेण होइ खलु ठवणं ।

वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये ।।

युक्तिपूर्वक प्रयोजन युक्त नाम आदि चार भेद से वस्तु को स्थापित करना निक्षेप है।

जैन सिद्धान्तदीपिका में भाव अभिव्यजित करते हुए कहा है—'शब्ददेषु विशेषणबलेन प्रतिनियतार्थ प्रतिपादन शक्ते निक्षेपणं निक्षेपः' शब्दों में विशेषण के द्वारा प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करने को निक्षेप कहा जाता है। निक्षेप पदार्थ और शब्द-प्रयोग की संगति का सूत्रधार है। निक्षेप भाव और भाषा, वाक्य और वाचक की सम्बन्ध पद्धति है। संक्षेप में शब्द और अर्थ की प्रासंगिक सुसंबंध-संयोजक को निक्षेप कहा जा सकता है। निक्षेप के द्वारा पदार्थ की स्थिति के अनुरूप शब्द संयोजक का निर्देश प्राप्त होता है। निक्षेप सविशेषण सुसम्बद्ध भाषा का प्रयोग है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया—'नामस्थापना द्रव्यभाव तस्तन्नयासः'। वस्तु के सम्यक् सम्बोध में प्रमाण, नय एवं निक्षेप का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

निक्षेप का लाभ

प्रत्येक शब्द में असंख्य अर्थों को घोटित करने की शक्ति होती है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वह अनेक वाक्यों का वाचक बन सकता है, ऐसी स्थिति में वस्तु के अवबोध में भ्रम हो सकता है। निक्षेप के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ को दूर कर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत का अनावरण एवं प्रस्तुत का प्रकटीकरण ही निक्षेप का फल है। लघीयस्त्रयी में यही भाव अभिव्यजित हुए हैं—

अप्रस्तुतार्थपाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् ।

निक्षेप के भेद

पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। अतः विस्तार में जाएँ तो कहना होगा कि वस्तु विन्यास के जितने प्रकार हैं, उतने ही निक्षेप के भेद हैं किन्तु संक्षेप में चार निक्षेपों का निर्देश प्राप्त होता है। अनुयोग द्रव्य में भी कहा गया है—

जत्थ च जं जाणेण्णा निक्खेवं निक्खवे निरवसेसं ।

जत्थ वि य न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खवे तत्थ ।।

जहाँ जितने निक्षेप ज्ञात हों, वहाँ उन सभी का उपयोग किया जाये और जहाँ अधिक निक्षेप ज्ञात न हो, वहाँ कम से कम नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव—इन चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

पदार्थ का कोई-न-कोई नाम तथा आकार होता है तथा उसके भावी एवं वर्तमान पर्याय होते हैं। अतः निक्षेप चतुष्टयी पदार्थ भी स्वतः फलित होता है। पदार्थ के नाम के आधार पर नाम-निक्षेप, आकार

के आधार पर स्थापना, भूत-भावी पर्याय के आधार पर द्रव्य एवं वर्तमान पर्याय के आधार पर भाव-निक्षेप का निर्धारण होता है। निक्षेप काल्पनिक नहीं है अपितु वस्तु के स्वरूप पर आधारित यथार्थ है। नाम आदि चारों निक्षेपों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

नाम-निक्षेप

वस्तु का इच्छानुसार अभिधान किया जाता है, वह नाम-निक्षेप है। नाम मूल अर्थ से सापेक्ष या निरपेक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है किन्तु जो नामकरण संकेत मात्र से होता है, जिससे जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, लक्षण आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं होती है, वह नाम निक्षेप है। एक अनक्षर व्यक्ति का नाम अध्यापक रख दिया। एक गरीब का नाम लक्ष्मीपति रख दिया। अध्यापक और लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिए, वह उनमें नहीं मिलता, इसलिए ये नाम निक्षेप कहलाते हैं। नामनिक्षेप में शब्द के अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है। जैन सिद्धान्तदीपिका में नाम-निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा गया—

‘तदर्थनिरपेक्षं संज्ञाकर्मनाम’।¹⁶³

मूल शब्द में अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले संज्ञाकरण में नाम-निक्षेप कहा जाता है, जैसे—अनक्षरस्य उपाध्याय इति नाम—प्रत्येक अर्थवान शब्द नाम कहलाता है। उनके द्वारा पदार्थ का नाम होता है। नाम-निक्षेप की लक्षण आमग्रंथों में इस प्रकार मिलती है—

यद्धस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यर्थं तदर्थनिरपेक्षम् पर्यायान भिद्येयं च नाम यादृच्छिकं च तथा।।¹⁶⁴

अनुयोगद्वार सूत्र में भी कहा है—

‘नाम स्थापनयोः कः प्रतिविशेषः नाम यावत्कथिकं स्थापना इत्वारिका व स्याद यावत्कथिका वा।’¹⁶⁵

भाष्यकार ने भी बताया है कि ‘जावदद्वं च पाएण इति’¹⁶⁶ शब्द या अर्थ की आभ्यन्तरनिष्ठ परिणति को नाम-निक्षेप कहते हैं। उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा में बताते हुए कहा है—प्रकृतार्थ निरपेक्षे ति।¹⁶⁷ नाम किसी एक संकेत के आधार पर किया जाता है, इसलिए इसका कोई पर्यायवाची शब्द नहीं होता है। नामकरण करने के मूल अर्थ की अपेक्षा न हो, फिर भी वैसा नामकरण किया जा सकता है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर जिनभद्रगणि ने नाम को यादृच्छिक बताया है।

स्थापना निक्षेप

पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार स्थापना-निक्षेप है। मूल अर्थ से शून्य वस्तु को उसी अभिप्राय से स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहा जाता है।

‘तदर्थशून्यस्य तदभिप्रायोण प्रतिष्ठापनं स्थापना’ अर्थात् जो तदरूप नहीं है, उसको तदरूप मान लेना स्थापना-निक्षेप है, जैसे—उपाध्यायप्रतिकृतिः स्थापनोपाध्यायः। स्थापना सद्भाव एवं असद्भाव के भेद से दो प्रकार की होती है। अतः स्थापना निक्षेप दो प्रकार का होता है।

सद्भाव स्थापना—एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है। यह सद्भाव स्थापना है—‘मुख्याकार समाना सद्भावस्थापना’।

असद्भाव स्थापना—एक व्यक्ति ने शंख आदि में अपने गुरु का आरोप कर लिया, यह असद्भाव स्थापना है—

तदाकारशून्य चासद्भाव स्थापना।¹⁶⁸

नयचक्र में स्थापना के दो अन्य प्रकार निर्दिष्ट हैं—साकार और निराकार। प्रतिमा में अर्हत की स्थापना साकार स्थापना है तथा केवलज्ञान आदि क्षायिक गुणों में अर्हत की स्थापना करना निराकार स्थापना है।

सायार इयर ठवणा कितिम इयरा हु विबंजता पठमा।

इयरा र्वाइय चणिया, ठवणा अरिहो य णायव्वो।।¹⁶⁹

यही स्थापना के दो भेदों का उल्लेख उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा में दिखाया है। इसके अतिरिक्त इत्वरकलित एवं यावत्कथित—इन दो भेदों का भी निरूपण किया गया है।¹⁷⁰

अनुयोगद्वार का मन्तव्य है कि नाम यावत्कथित् अर्थात् स्थायी होता है। स्थापना अल्पकालिक एवं स्थायी दोनों प्रकार की होती है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार नाम मूल अर्थ से निरपेक्ष और यादुच्छिक अर्थात् इच्छानुसार संकेतित होता है। स्थापना मूल पदार्थ के अभिप्राय से आरोपित होती है।

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार मेरु, द्वीप, समुद्र आदि के नाम यावत् द्रव्यभावी होते हैं। देवदत्त आदि के नामों का परिवर्तन होता है। यही बात उपाध्याय यशोविजय ने भी जैन तर्कपरिभाषा में दिखाई है।¹⁷¹

नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं। नाम और स्थापना में एक अन्तर यह भी है कि जिसकी स्थापना होती है, उसका नाम अवश्य होता है किन्तु नाम निक्षिप्त की स्थापना होना आवश्यक नहीं है।

द्रव्य निक्षेप

पदार्थ का भूत एवं भावी पर्यायाश्रित व्यवहार तथा अनुप्रयोग अवस्थागत व्यवहार द्रव्य निक्षेप है—भूतभावि कारणस्य अनुप्रयोगो वा द्रव्यम्¹⁷² अतीत अवस्था, भविष्य अवस्था एवं अनुप्रयोग अवस्था—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते हैं, इसलिए इन्हें द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने भी जैन तर्क परिभाषा में द्रव्यनिक्षेप का निरूपण करते हुए बताया है कि—भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिक्षेप।¹⁷³ भूतकाल में भविष्यकाल-के पर्याय का जो कारण है, वह द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है। अनुयोगद्वार में द्रव्य निक्षेप के दो प्रकार बताये गये हैं—आगमतः एवं नोआगमतः।

आगमतः द्रव्यनिक्षेप—‘जीवादि पदार्थज्ञोऽपि तत्राऽनुपयुक्तः’ अर्थात् कोई व्यक्ति जीव विषयक अथवा अन्य किसी वस्तु का ज्ञाता है, किन्तु वर्तमान में उस उपयोग से रहित है, उसे आगमतः द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

नो आगमतः द्रव्यनिक्षेप—आगम द्रव्य की आत्मा का उसके शरीर में अमरोप करके उस जीव के शरीर को ही ज्ञाता कहना नो आगमतः द्रव्य निक्षेप है।

आगमतः द्रव्यनिक्षेप में उपयोग रूप ज्ञान नहीं होता किन्तु लब्धि-रूप में ज्ञान का अस्तित्व रहता है किन्तु न आगमतः में लब्धि एवं उपयोग उभय रूप में ही ज्ञान का अभाव रहता है।

नो आगमतः द्रव्यनिक्षेप मुख्य रूप से तीन प्रकार का है—ज्ञशरीर, भव्यशरीर, तदव्यतिरिक्त।

इनके भेद-प्रभेद अनेक हैं—

द्रव्य निक्षेप

आगमतः नो आगमतः

सशरीर भव्यशरीर तदव्यतिरिक्त।

भाव निक्षेप—पदार्थ का वर्तमान पर्यायाश्रित व्यवहार भाव निक्षेप है। 'विवक्षित क्रिया परिणतो भाव'¹⁷⁴ विवक्षित क्रिया में परिणत वस्तु को भाव निक्षेप कहा जाता है, जैसे—स्वर्ग के देवों को देव कहना।

उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा में भावनिक्षेप का स्वरूप बताते हुए कहा है—

विवक्षित क्रियानुभूति विशिष्ट स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिक्षेपः।¹⁷⁵

विवक्षित अर्थक्रिया की अनुभूति का विशिष्ट ऐसा वस्तु का स्वतत्त्व दिखाता हो, वह भावनिक्षेप है।

भावनिक्षेप भी आगमतः नो आगमतः के भेद से दो प्रकार का है।

● **आगमतः**—उपाध्याय के अर्थ को जानने वाला तथा उस अनुभव में परिणत व्यक्ति को आगमतः भावनिक्षेप उपाध्याय कहा जाता है।

● **नो आगमतः**—उपाध्याय के अर्थ को जानने वाले तथा अध्यापन क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को नो आगमतः भाव-उपाध्याय कहा जाता है।

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्यभाव कहलाता है। भावनिक्षेप पर भी आगम और नो आगम—इन दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। जो आवश्यक को जानता है, उसमें उपयुक्त है। वह ज्ञानात्मक पर्याय की अपेक्षा भाव आवश्यक है। इसी प्रकार जो मंगल शब्द के अर्थ को जानता है तथा उसके अर्थ में उपयुक्त है, वह ज्ञानात्मक पर्याय की अपेक्षा भाव मंगल है। इस विमर्श के अनुसार घट शब्द के अर्थ को जानने वाला और उसमें उपयुक्त पुरुष भावघट कहलाता है।

घट पदार्थ का ज्ञाता एवं उपयुक्त पुरुष भी भावघट है तथा घट नाम का पदार्थ जो जल आहरण आदि क्रिया कर रहा है, वह भी भावघट है।

चारों ही निक्षेपों को संक्षेप में व्याख्यायित करते हुए कहा है—

नाम जिणा जिन नामा, ठवणजिणा हुंति पडिमाओ।

दव्वजिणा, जिन जीवा, भाव जिणा समवसरणत्था।¹⁷⁶

निक्षेप का आधार—निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि बिन्दु है। भाव अकल्पित दृष्टि है, इसलिए प्रधान होता है। शेष तीन निक्षेप कल्पित हैं। अतः वे अप्रधान हैं। नाम में पहचान, स्थापना में आकार की भावना होती है, गुण की वृत्ति नहीं होती। द्रव्य मूल वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है अतः इसमें मौलिकता नहीं होती, भाव मौलिक है।

निक्षेप पद्धति जैन आगम एवं व्याख्या ग्रंथों की मुख्य पद्धति रही है। अनुयोग परम्परा में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण व्यवहार का कारण निक्षेप पद्धति है। निक्षेप के अभाव में अर्थ का अनर्थ हो जाता है। संक्षेप में निक्षेप पद्धति भाषा प्रयोग ही वह विधा है, जिसके द्वारा हम वस्तु का अग्रान्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रमाणमीमांसा की विशिष्टताएँ

भारतीय प्रमाणशास्त्र के विकास में जैनाचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन परम्परा में भगवान् महावीर के पश्चात् उनके तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के विचारों को संकलित करने के लिए प्राकृत भाषा में विभिन्न आगमों, यथा—भगवती, सूत्रकृतांग, नन्दी, अनुयोगद्वार, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों की रचना हुई। विभिन्न आगमों को सूत्रबद्ध करते हुए आचार्य उमास्वाति ने सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की, जिसमें उन्होंने सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा की। यद्यपि जैनों का पंचज्ञान का सिद्धान्त प्राचीन है, फिर भी जहाँ तक प्रमाणशास्त्र के क्षेत्र में जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। प्रमाण क्षेत्र में जैनों का प्रवेश भले ही परवर्ती हो किन्तु इस कारण वे इस क्षेत्र में कुछ विशिष्ट अवदान दे सके हैं।

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि जैनों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक कमियों का परिमार्जन करते हुए एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके।

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी जैन न्याय के विकास का एक चरण है। प्रमाणमीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूल ग्रन्थ ही और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र 100 है और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि आचार्य हेमचन्द्र यह ग्रन्थ अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र, वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्रशैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की वर्गीकरण शैली भिन्न ही है। आज मात्र दो अध्याय अपूर्ण ही उपलब्ध हैं। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है।

जैन परम्परा में 'प्रमात्व किं वा प्रामाण्य' का प्रश्न उसमें तर्कयुग आने के बाद का है, पहले का नहीं। पहले तो उसमें मात्र आगमिक दृष्टि थी। आगमिक दृष्टि के अनुसार दर्शनोपयोग को 'प्रमाण किंवा अप्रमाण' कहने का प्रश्न ही न था। उस दृष्टि के अनुसार दर्शन हो या ज्ञान, या तो वह सम्यक् हो सकता है, या मिथ्या। उसका सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी आध्यात्मिक भावानुसारी ही माना जाता था। अगर कोई आत्मा कम से कम चतुर्थ गुणस्थानक का अधिकारी हो अर्थात् वह सम्यक्त्व-प्राप्त हो तो उसका सामान्य या विशेष कोई भी उपयोग मोक्षमार्गरूप तथा सम्यग् माना जाता है। तदनुसार आगमिक दृष्टि से सम्यक्त्व युक्त आत्मा का दर्शनोपयोग सम्यक् दर्शन है और मिथ्यादृष्टियुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग मिथ्यादर्शन है। व्यवहार में मिथ्या, भ्रम या व्यभिचारी समझा जाने वाला दर्शन भी अगर सम्यक्त्वधारी आत्मगत है तो वह सम्यग्दर्शन ही है जबकि सत्य, अभ्रम और अबाधित समझा जानेवाला भी दर्शनोपयोग अगर मिथ्यादृष्टि है तो वह मिथ्यादर्शन ही है।¹⁷

दर्शन के सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का आगमिक दृष्टि से जो आपेक्षिक वर्णन ऊपर किया गया है, वह सन्मतिकार अभयदेव ने दर्शन को भी प्रमाण कहा है। इस आधार पर समझना चाहिए तथा उपाध्याय यशोविजय ने संशय आदि नामों को भी सम्यक् दृष्टियुक्त होने पर सम्यक् कहा है—इस आधार पर समझना चाहिए।

तार्किक दृष्टि के अनुसार भी जैन परम्परा में दर्शन के प्रमाणत्व या अप्रमात्व के बारे में कोई एकवाक्यता नहीं। सामान्य रूप से श्वेताम्बर हो या दिगम्बर सभी तार्किक दार्शनिक दर्शन को प्रमाण

- से बाहर ही रखते हैं, क्योंकि वे सभी बौद्धसम्मत निर्विकल्पक में प्रमाणत्व का खण्डन करते हैं और अपने प्रमाण लक्षण में विशेषावयवबोधक ज्ञान, निर्णय आदि पद दाखिल करके सामान्य उपयोग, दर्शन को प्रमाण का लक्षण का अलक्ष्य ही मानते हैं।¹⁷⁸

इस तरह दर्शन को प्रमाण न मानने की तार्किक परम्परा श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी ग्रंथों में साधारण है।

माणिक्य नंदी और वादिदेवसूरि ने तो दर्शन को न केवल प्रमाणबद्ध ही रखा है बल्कि उसे प्रमाणभास भी कहा है।¹⁷⁹

सन्मति टीकाकार अभयदेव ने दर्शन को प्रमाण कहा है पर वह कथन तार्किक दृष्टि से न समझना चाहिए।¹⁸⁰

अलबत्ता 'उपाध्याय यशोविजय' के दर्शन संबंधी प्रामाण्य-अप्रामाण्य विचार में कुछ विरोध-सा जान पड़ता है। एक ओर वे दर्शन को व्यंजनावग्रह-अन्तरभावी नैश्चयिक अवग्रहरूप बतलाते हैं।¹⁸¹ जो मति व्यापार होने के कारण प्रमाण कोटि में आ सकता है और दूसरी ओर वे वादिदेव के प्रमाण-दर्शन को 'प्रमाण-कोटि की व्याख्या में ज्ञान पद का प्रयोजन बतलाते हुए दर्शन के प्रमाण कोटि से बहिर्मुख बतलाते हैं।¹⁸²

इस तरह उनके कथन में जहाँ एक ओर दर्शन बिल्कुल प्रमाण-बहिर्मुख है, वहीं दूसरी ओर अवग्रह रूप होने से प्रमाण-कोटि में आने योग्य भी है। परन्तु जान पड़ता है कि उनका तात्पर्य कुछ और है। और संभवतः वह तात्पर्य यह है कि सत्यांश होने पर भी नैश्चयिक अवग्रह प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहारक्षम न होने के कारण प्रमाणरूप गिना ही न जाना चाहिए। इसी अभिप्राय से उन्होंने दर्शन को प्रमाण-कोटि बहिर्भूत बतलाया है। ऐसा मान लेने से फिर कोई विरोध नहीं रहता।

आचार्य हेमचन्द्र ने वृत्ति के दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले विचार तीन जगह प्रसंगवश प्रगट किए हैं।

आचार्य के उक्त सभी कथनों से फलित यही होता है कि वे जैन परम्परा प्रसिद्ध दर्शन और बौद्ध परम्परा निर्विकल्पक को एक ही मानते हैं और दर्शन को अनिर्णय रूप होने से प्रमाण नहीं मानते तथा उनका यह प्रमाणत्व कथन भी तार्किक दृष्टि से है, आगम दृष्टि से नहीं, जैसा कि अभयदेव भिन्न सभी जैन तार्किक मानते आए हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि हेमचन्द्रोक्त अवग्रह का परिणामीकरण रूप दर्शन ही उपाध्याय का नैश्चयिक अवग्रह समझना चाहिए।

हेमचन्द्राचार्य का प्रमाणभीमांसा नाम का न्याय का एक आदर्श ग्रंथ है। इस प्रकार अन्यान्य विद्याओं में अपने योगदान के समान जैन प्रमाण के क्षेत्र में भी अपने योगदान के लिए उपाध्याय यशोविजय जैन दर्शन के इतिहास में सदा याद किये जाते रहेंगे।

उपाध्याय यशोविजय ने नव्यन्याय की शैली से न्याय विषयक दो लाख श्लोक प्रमाण रचना की है। प्रमाण, नय, निक्षेप का सुंदर विवेचन जैन तर्क परिभाषा में दिया गया है। अतः निःसंदेह कह सकते हैं कि न्याय के क्षेत्र में उपाध्याय यशोविजय का योगदान अविस्मरणीय, अद्भुत, अलौकिक है।

सन्दर्भ सूची—

1. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 23
2. भगवती सूत्र, 21.8.3.6, पृ. 1298
3. स्थानांग सूत्र, स्था. 5, पृ. 215
4. नंदी सूत्र, पृ. 25
5. अनुयोगद्वार सूत्र
6. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 800
7. ज्ञान बिन्दु
8. भगवती सूत्र, श. 8, उद्देशक 2, सूत्र 318
9. ज्ञानयोग स्तपः शुद्धमात्मरत्येकलक्षणम्
इन्द्रियार्थोन्मनीभावात् स मोक्ष सुख साधकः।
10. अध्यात्मोपनिषद्
11. अध्यात्म वैशारदी, भाग 2, 5-155
12. प्रतिभैव प्रातिभं अदृष्ट्यार्थविषयो मतिज्ञान विशेषः।
13. योगदृष्टि समुच्चयवृत्ति—हरिभद्रसूरि, पृ. 71
14. स्थानांग सूत्र, स्था. 5, उद्दे. 3, पृ. 463
15. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग-5, पृ. 1288
16. उत्तराध्ययन सूत्र, 28/4
17. नन्दी सूत्र, सूत्र 59, पृ. 20
18. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 79
19. तत्त्वार्थसूत्र, 1/9
20. धर्मसंग्रहणी, भाग-2, गाथा 816
21. कर्मग्रंथ, गाथा 1/14
22. ज्ञानबिन्दु, पृ. 35
23. नंदी सूत्र, पृ. 70
24. अनुयोगद्वार हिन्दी विवेचन, पृ. 9
25. धर्मसंग्रहणी टीका, भाग-2, पृ. 122
26. ज्ञानबिन्दु, पृ. 24
27. नन्दी सूत्र, हिन्दी विवेचन, पृ. 70
28. अनुयोगद्वार, गुजराती विवेचन, पृ. 11
29. अध्यात्मोपनिषद्, गा. 65
30. देशनादात्रिंशिका, 11-10, 11

—अध्यात्मसार

—योगदीपिका

31. अध्यात्मोपनिषद्
देशनाद्वात्रिंशिका, 2/12
षोडशकप्रकरण, 11/8
32. अध्यात्मोपनिषद्
33. षोडशकप्रकरण, 11/9
34. द्वात्रिंशिदद्वात्रिंशिका—देशनाद्वात्रिंशिका उपाध्याय यशोविजय, गा. 13
35. अध्यात्मोपनिषद्, गा. 62
36. ज्ञानबिन्दु, पृ. 67
37. ज्ञानबिन्दु, पृ. 71
38. देववरेण माला (चैत्यवन्दनः मनःपर्यवज्ञान), गाथा 4/2
39. ज्ञान बिन्दु—सर्व विषयं केवलज्ञानम्, पृ. 74
40. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 78-84
41. तत्त्वार्थसूत्र, 1/4
42. नन्दि हरिभद्रीयवृत्ति, पृ. 63
43. जैन तर्कभाष्य, पृ. 38-62
44. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/15, 16
45. कर्म ग्रन्थ, भाग-1, गाथा 4-5
46. कर्म ग्रन्थ, 1/6
47. विशेषावश्यक भाष्य, 501-548
48. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 63
49. गोम्मटसार, गा. 316-317
50. स्थानांग सूत्र, स्था. 2, उद्दे. 1, सूत्र 15
51. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/23
52. कर्म ग्रन्थ, 1/8
53. नन्दी हरिभद्रीयवृत्ति, पृ. 32
54. कर्म भाषा, पृ. 69-70
55. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 82-83
56. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/24
57. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 73
58. नन्दी हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 48
59. धर्म संग्रहणी, गा. 851
60. नन्दी हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 26

61. धर्मसंग्रहणी टीका, पृ. 134
62. देववरिन माता, ज्ञान का चैत्यवंदन, 5/4
63. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 97
64. नन्दी हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 26
65. तत्त्वार्थ वृत्ति, पृ. 57
66. धर्म संग्रहणी, पृ. 254
67. विशेषावश्यक भेद, गा. 85-87
68. धर्म संग्रहणी, गा. 854
69. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 85-87
70. धर्म संग्रहणी, गा. 855
71. नन्दी सूत्र, पृ. 75
72. जैन ज्ञानमीमांसा एवं न्याय, पृ. 70
73. वही, पृ. 70
74. वही, पृ. 70
75. ज्ञान बिन्दु, पृ. 74
76. जैन ज्ञान मीमांसा एवं न्याय, पृ. 70
77. वही, पृ. 70
78. वही, पृ. 70
79. ज्ञान बिन्दु, पृ. 80
80. ज्ञानसार, 4/2
81. आत्मनिश्चयाधिकार, 48, अध्यात्मसार, याथा 7
82. आत्मनिश्चयाधिकार, अध्यात्मसार, 9/1-9
83. समयसार, 9/1-13
84. अध्यात्मसार, आत्मनिश्चयाधिकार, गा. 11
85. प्रकाश शक्त्या चद्धपमात्मानो ज्ञानमुच्चते अध्यात्मोय निषद्
86. अध्यात्म बिन्दु, 3/10-11
87. प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका, 1/60, पृ. 71
88. प्रवचन रत्नाकर, भाग-3, पृ. 29
89. ज्ञानसार, 13/2
90. ज्ञानसार दिवेकाष्टक, 15/3
91. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 80
92. वही, पृ. 81

93. वही, पृ. 82
94. वही, पृ. 82
95. स्थानांग सूत्र, पृ. 323
96. अनुयोगद्वार सूत्र, पृ. 145
97. सनमति तर्क
98. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/8
99. वही, 1/9
100. वही, 1/10
101. वही, 1/11
102. यशोदोहन, पृ. 28
103. न्यायालोक, पृ. 7
104. न्याय दर्शन, पृ. 7
105. षोडशकप्रकरण, 9/6
106. वही, 5/16
107. वही, 13/5
108. धर्मबिन्दु वृत्ति, 1/3
109. न्यायालोक, 192
110. तत्त्वार्थसूत्र, 1/6
111. न्यायालोक, पृ. 7
112. प्रमाणमीमांसा, श्लोक-1
113. वही, श्लोक-2, पृ. 2
114. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 4
115. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 101
116. वही, पृ. 191
117. न्यायावतार, पृ. 1
118. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, 1.10.77
119. परीक्षामुख, 1.1
120. स्याद्वाद रत्नाकर, पृ. 6
121. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 6
122. न्यायमंजरी
123. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/9-11
124. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 1-2

125. प्रमाण वार्तिक, 2/11
126. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 102
127. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 12
128. प्रमाणमीमांसा, सूत्र 8
129. वही, पृ. 1, सूत्र 8
130. जैन तत्त्वमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 108
131. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 25
132. वही, पृ. 24
133. प्रमाणमीमांसा, पृ. 7, सूत्र 9
134. वही, पृ. 7, सूत्र 10
135. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 110
136. प्रमाणमीमांसा, अ. 1, सूत्र 14
137. वही, पृ. 2/1
138. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 29
139. प्रमाणमीमांसा, 2/2
140. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय, पृ. 125
141. वही, पृ. 125
142. प्रमाणमीमांसा, 2/7
143. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 108
144. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 160
145. प्रमाणमीमांसा, 1/30
146. वही, 1/31
147. वही, 1/32
148. वही, 1/33
149. अन्योग व्यवच्छेदिका, 5
150. प्रमाणमीमांसा, 1/34
151. वही, 1/38
152. वही, 1/39
153. वही, 1/40
154. वही, 1/41
155. न्यायावतार, पृ. 15
156. जैन तर्क परिभाषा, तृतीय परिच्छेद, पृ. 209

157. वही, पृ. 210
158. लघीयस्त्रयी, 7.2
159. आचारांग निर्युक्ति, पृ. 190
160. कषायपाहुड, पृ. 234
161. विभा, 60
162. विशेषावश्यक भाष्य, विभा. 912
163. अनुयोगद्वार चूर्णि, विभा. 73
164. जैन तर्क परिभाषा, तृतीय परिच्छेद, पृ. 212
165. अनुयोगद्वार सूत्र, 11
166. विशेषावश्यक भाष्य, श्लोक 25
167. जैन तर्क परिभाषा, तृतीय परिच्छेद, पृ. 212
168. जैन सिद्धान्त दीपिका
169. नयचन, 274
170. जैन तर्क परिभाषा, तृतीय परिच्छेद, पृ. 216
171. वही, पृ. 214
172. अनमोल, नय निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 128
173. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 218
174. अनेकांत, नय निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 130
175. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 220
176. अनेकांत, नय निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 130
177. सम्यक्दृष्टि सम्बन्धिनां संशयादीनामपि ज्ञानत्वस्य महाभाष्यकृता परिभाषातत्यान्—
 1. ज्ञानविन्दु पृ.13
 2. नंदीसूत्र, सूत्र 4
178. तधीयस्त्रयी—परीक्षामुख, 1.3
179. परीक्षाभिमुख, 6.2, प्रमाणन, 6, 24, 25
180. सन्मतिटीका, पृ. 457
181. ज्ञानविन्दु, पृ. 138
182. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 1



पंचम अध्याय

अनेकान्तवाद एवं नय

अनेकान्तवाद का अर्थ

जैन दर्शन का आधार अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद का स्वरूप

अनेकान्तवाद का महत्त्व

नयवाद

सप्तनयों का स्वरूप

अनेकान्त और नयदृष्टि का महत्त्व

अनेकान्तवाद एवं नय

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। इसका एक शुद्ध आधार स्तम्भ है—अनेकान्त। अनेकान्त हमारे विचारों की शुद्धि करता है। “मैं सोचता हूँ, वही सत्य है”—यह आग्रह व्यक्ति को सफलता से वंचित कर देता है। सफल वही होता है, जो हर विचार में छिपी अच्छाई को ग्रहण करता है, अपने चिंतन को ही सर्वेसर्वा न मानकर अन्य विचारों का भी सम्मान करता है। हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करें या आचारमीमांसीय दृष्टि से, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में देखें या सामाजिक सन्दर्भों में अनेकान्त की उपादेयता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

अनेकान्त जैन दर्शन का हृदय है। समस्त जैन वाङ्मय अनेकान्त के आधार पर वर्णित है। उसके बिना जैनदर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है, जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुणधर्म हैं। हम अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते। वस्तु के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है। वह अनेकान्त की दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। अनेकान्त दर्शन बहुत व्यापक है। इसके बिना लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता। समस्त व्यवहार और विचार इसी अनेकान्त की सुदृढ़ भूमि पर ही टिका है। अतः उसके स्वरूप को जान लेना भी जरूरी है।

किसी भी बात को सर्वथा एकान्त से नहीं कहने का, और न ही स्वीकार करने का संलक्ष्य जैन दर्शन में मिलता है। इसी से जैनदर्शन को अनेकान्तवाद से आख्यायित किया गया है। स्याद्वाद स्वरूप से चरितार्थ बनाया है।

विचार और आचार—इन दोनों से दर्शन धर्म की सिद्धि कही गई है। ऐसे दर्शन धर्म में आचारों को नियमबद्ध नीति से पालने का आदेश मिलता है। विचारों की स्वाधीनता सर्वत्र सुमान्य कही गई है पर वह भी दार्शनिक तथ्यों से नियंत्रित पाई गई है।

अनेकान्तदर्शन एक नियमबद्ध दार्शनिकता को दर्शित करता अनेकान्तता का आकार आयोजित करता है। एकान्त से किसी भी विचार को दुराग्रहपूर्ण व्यक्त करने का निषेध करता है पर सम्मान समादर भाव से संप्रेक्षण करता सत्यता का सहकारी हो जाता है।

अनेकान्तवाद का अर्थ

संसार की संरचना के मूल में तत्त्व का द्वैत है। आगम साहित्य में स्थान-स्थान पर इस द्वैतवादी मान्यता का उल्लेख है। ‘स्थानांग सूत्र-1’ में बतलाया गया है कि लोक में जो कुछ है, वह सब दो पदों में अवतरित है। ये पदार्थ परस्पर विरोधी होते हैं। विरोध अस्तित्व का सार्वभौम नियम है। विरोध के बिना अस्तित्व ही नहीं होता है। संसार में ऐसी कोई भी अस्तित्ववान वस्तु नहीं है, जिसमें विरोधी युगल एक साथ न रहते हों।

वस्तु/द्रव्य में अनन्त धर्म होते हैं। यह कोई महत्त्वपूर्ण स्वीकृति नहीं है, किन्तु एक ही वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म युगपद् रहते हैं। यह जैनदर्शन अनेकान्त दर्शन का महत्त्वपूर्ण

अभ्युपगम है। अनेकान्त सिद्धान्त के उत्थान का आधार ही द्वैतवादी अवधारणा/विरोधी युगलों के सहावस्थान की स्वीकृति है। यदि वस्तु में विरोधी धर्म नहीं होते तो अनेकान्त स्वीकृति का कोई विशिष्ट मूल्य ही नहीं होता।

पूर्वकाल के दार्शनिक वातावरण में परस्पर विरोधों का वचन व्यवहार पाया गया है। श्रमण भगवान महावीर ने निर्विरोध विचारों को उच्चारित कर आक्षेप रहित सिद्धान्तों को संगठित करके निर्मल नयवाद को अभिनव रूप दिया, यह अभिनवता ही अनेकान्तवाद की छवी है। स्याद्वाद सिद्धि का साक्षात्कार है और समन्वयता का संतुलित शुद्ध प्रकार है, जो निर्विरोध भाव से विभूषित होता है। विश्वमान्य दर्शन की श्रेणी में अपना सम्माननीय स्थान बना पाया। इस अनेकान्तवाद के सूक्ष्मता के उद्गाता तीर्थंकर परमात्मा हुए, गणधर भगवंत हुए एवं उत्तरोत्तर इस परम्परा का परिपालन चलता रहा।

इस सिद्धान्त स्वरूप को नयवाद से न्यायसंगत बनाने में मल्लवादियों का महोत्कर्ष रहा। सिद्धसेन दिवाकर का प्रखर पाण्डित्य उजागर हुआ। वाचनाकार उमास्वाति ने इसी विषय को सूत्रबद्ध बनाया, समदर्शी आचार्य हरिभद्र अनेकान्तवाद के स्वतन्त्र सुधी बनकर 'अनेकान्त जयपताका' जैसे ग्रन्थ के निर्माण में अविनाभाव से अद्वितीय रहे। उनके उत्तरवर्ती उपाध्याय यशोविजय ने अनेकान्तवाद के अस्तित्व को सुदृढ़ बनाने वाला अनेकान्त व्यवस्था नाम के ग्रंथ का निर्माण किया। इनके लिए इसी क्षेत्र में उनका स्थान अविस्मरणीय रहा।

आज सभी अनेकान्तदर्शन की जो महिमा और जो मौलिकता उक्त प्रतिमानों के मानस मूर्धन्यता से माधुर्य को महत्त्व दे रही है इसका एक ही कारण है कि जैनाचार्यों ने समग्रता से अन्यान्य दार्शनिक संविधानों का सम्पूर्णता से स्वाध्याय कर समयोचित निष्कर्ष को निष्पादित करते हुए अनेकान्त की जयपताका फहराई।

वह अनेकान्त किसी एकान्त कोने का धन न होकर अपितु विद्वद् मण्डल का महत्तम विचार संकाय बना। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के संवादों को आत्मसात् बनाने का स्याद्वाद दर्शन ने सर्वप्रथम संकल्प साकार किया और समदर्शिता से स्वात्मतुल्य बनाने का आह्वान किया। इस आह्वान के अग्रेसर, अनेकान्त के उन्नायक उपाध्याय यशोविजय हुए, जिन्होंने समदर्शिता को सर्वत्र प्रचलित बनाई।

प्रचलन की परम्परा प्रतिष्ठित बनाने में प्रामाणिकता और प्रमेयता—इन दोनों का साहचर्यभाव सदैव मान्य रहा है। उपाध्याय यशोविजय जैसे मनीषियों ने प्रमाण-प्रमेय की वास्तविकताओं से विद्याक्षेत्रों को निष्कंकट, निरूपद्रव बनाने का प्रतिभावल निश्चल रखा, जबकि नैयायिकों ने छल को स्थान दिया पर अनेकान्तवादियों ने आत्मीयता का अपूर्व अनाग्रहरूप अभिव्यक्त किया।

स्याद्वाद को नित्यानित्य, सत्-असत्, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, अभिलाष्य-अनभिलाष्य से ग्रंथकारों ने समुल्लिखित किया है। वही समुल्लिखित स्याद्वाद अनेकान्तवाद से सुप्रतिष्ठित बना। इसकी ऐतिहासिक महत्ता क्रमिक रूप से इस प्रकार उपलब्ध हुई है।

अनेकान्त शब्द अनेक और अंत—इन दो शब्दों के सम्मेलन से बना है। अनेक का अर्थ होता है कि एक से अधिक, नाना। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अनेक के अर्थ को सुनिश्चित करते हुए उसका अर्थ कम से कम तीन और अधिक से अधिक अनन्त किया है। अंत का अर्थ है—धर्म। यद्यपि अंत का अर्थ विनाश, छोर आदि भी होता है पर वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुणधर्मों का पिण्ड है, वह सत् भी है, असत् भी है, एक भी है, अनेक भी है, नित्य

भी है, अनित्य भी। इस प्रकार परस्पर विरोधी अनेक धर्मयुगल वस्तुओं में अंतर्गर्भित है। उसका परिज्ञान हमें एकान्त दृष्टि से नहीं हो सकता। उसके लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि चाहिए।

सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन ने आगमिक स्याद्वाद को अनेकान्तरूप से आख्यायित करने का शुभारम्भ किया। तदनन्तर मल्लवादियों ने अनेकान्तवाद की भूमिका निभाई।

इसी स्याद्वाद को स्वतन्त्रता से ग्रन्थरूप देने का श्रेय आचार्य हरिभद्र के अधिकार में आता है। इनका प्रत्यक्ष उदाहरण अनेकान्त जयपताका है। इन्हीं के समवर्ती आचार्य अकलंक जैसे विद्वानों ने अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि को विलक्षण बनाया है।

ऐसे ही वादिदेवसूरि श्रमण संस्कृति के स्याद्वाद सिद्धान्त के समर्थक सृजनकार के रूप में अवतरित हुए हैं। उन्होंने स्याद्वाद को अनेकान्तवाद रूप में आलिखित करने का आत्मज्ञान किया है।

आचार्य रत्नप्रभाचार्य रत्नाकरावतारिका में भाषा के सौष्ठव से अनेकान्तवाद को अलंकृत करने का क्रियात्मक प्रयास किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी स्याद्वाद के स्वरूप को निरूपित करने में नैष्ठिक निपुणता रखते हुए अनेकान्त संज्ञा से सुशोभित किया है।

अनेकान्त परम्परा को नव्य न्याय की शैली से सुशोभित करने का श्रेय उपाध्याय यशोविजय के हाथों में आता है। इन्होंने अधिकारिता से अनेकान्त व्यवस्था में अनेकान्त को सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाष्य-अनभिलाष्य—इन सभी को लिपिबद्ध करके अनेकान्त के विषय को विरल और विशद् एवं विद्वद्गम्य बनाने का अपूर्व बुद्धिकौशल उपस्थित किया है और अपर हरिभद्र के नाम से अपनी ख्याति को दार्शनिक जगत् में विश्रुत कर गये।

अनेकान्त को परिभाषित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—एक ही वस्तु सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य स्वभाव वाली है। ऐसी एक ही वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी शक्तियुक्त धर्मों को प्रकाशित करने वाला अनेकान्त है।²

आचार्य अकलंक एकान्त के प्रतिकल्प कथन के द्वारा अनेकान्त को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि वस्तु सत् ही है, असत् ही है, इस प्रकार के एकान्तवाद को निरसित करने वाला अनेकान्त है।³

वस्तु अनेक धर्मों का समुदाय मात्र नहीं है किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों का आधार है। द्रव्य अनन्त धर्मों की समष्टि है। ये धर्म परस्पर विरोधी हैं इसलिए द्रव्य का द्रव्यत्व बना हुआ है। यदि सब धर्म अविरोधी होते तो द्रव्य का द्रव्यत्व समाप्त हो जाता। विरोधी धर्मों का युगपत् सहावस्थान होना द्रव्य का स्वभाव है।

अनेकान्त जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। स्याद्वाद का सरल अर्थ यह है कि अपेक्षा से वस्तु का बोध अथवा प्रतिपादन जब तर्क, युक्ति और प्रमाणों की सहायता से समुचित अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर वस्तुत्व का प्रतिपादन किया जाता है तब उनमें किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश नहीं रहता, क्योंकि जिस अपेक्षा से प्रवक्ता किसी धर्म का किसी वस्तु में निदर्शन कर रहा हो, यदि उस अपेक्षा से उस धर्म की सत्ता प्रमाणादि से अबाध्य है तो उसको स्वीकारने में अपेक्षावादियों को कोई हिचक का अनुभव नहीं होता।

सर्वेक्ष तीर्थकरों के उपदेशों में से प्रतिफलित होने वाले जैनदर्शन के सिद्धान्तों की यदि परीक्षा की जाए तो सर्वत्र इस अनेकान्तवाद का दर्शन होना स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद ही जैनदर्शन की महान् बुनियाद है। सभी सिद्धान्तों की समीचीनता का ज्ञान कराने वाला स्याद्वाद है, जिसमें सफल समीचीन सिद्धान्तों की अपने सुयोग्य स्थान में प्रतिष्ठा की जाती है।

संक्षेप में कहें तो प्रमाण में अबाधित सफल सिद्धान्तों का मनोहर संकलन ही स्याद्वाद है। अप्रामाणिक सिद्धान्तों का समन्वय करना स्याद्वाद का कार्य नहीं है। इस महान् अनेकान्तवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन जैन आगमों में मिलता है तथा उसके पश्चात् रचे जाने वाले निर्युक्ति ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

हमारा गणिपिटक (द्वादशांगी) जितना गहन है, उतना ही गम्भीर है। इसलिए यह द्वादशांगी श्रमण-संस्कृति की सर्वाधार है। इसी द्वादशांगी में अनेकान्तवाद का स्वरूप स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यह अनेकान्तवाद एक सिद्धान्तमय निरूपण है। ऐसी निरूपणा सम्पूर्णता से स्वच्छ है, जिसको निस्तर्क्य स्वीकार किया जा सकता है। इसी को औपचारिक सूत्र में इस रूप से वर्णित किया है—

इच्चेयं गणिपिडगं, निच्चं दच्चट्टियाएँ नायव्वं ।

पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवादो ।।

इस गणिपिटक को नित्य द्रव्यास्तिकाय जानना चाहिए। पर्याय से अनित्य रहने वाला और नित्यानित्य की संज्ञा को धारण करने वाला स्याद्वाद है।

श्री सियवायं भासति प्रमाणपेसल गुणाधारं ।

भावेइ से ण णसयं सो हि पमाणं पवयणस्स ।।

जा सियवाय निवति पमाण पेसलं गुणाधारं ।

भावेण दुद्धभावो न, सो पमाणं पवयणस्स ।।^१

प्रमाणों से सुन्दर गुणों का आधार ऐसे स्याद्वाद का जो प्रतिपादन करता है, वह भावों से नाश नहीं होता है और वही प्रवचन का प्रमाण है तथा इससे विपरीत जो प्रमाणों से मनोहर गुणों का भाजन ऐसे स्याद्वाद की निंदा करता है, वह दुष्ट भाव वाला होता है तथा प्रवचन का प्रमाण नहीं बनता।

यह स्याद्वाद अनेकान्तवाद से ही एक नियोजित निश्चय है, क्योंकि उत्तर आचार्यों ने इस सिद्धान्त को ही अनेकान्तवाद से पुष्पित, प्रफुल्लित किया है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में स्याद्वाद का आश्रय लेकर बताया है कि स्याद्वाद का आश्रय लेकर मोक्ष का उद्देश्य समान होने की अपेक्षा से सभी दर्शनों में जो साधक समानता को देखता है, वही शास्त्र का ज्ञाता है।^२

दार्शनिक दुनिया का अनेकान्तवाद जितना आस्थेय है, उतना ही अवबोधदायक भी है, क्योंकि अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी अद्भुत पद्धति है, जिसमें सम्पूर्ण दर्शन समाहित हो जाते हैं, जैसे हाथी के पैर में अन्य पशुओं का पैर, माला में मोती तथा सरोवर में सरिताएँ समाविष्ट हो जाती हैं, जैसे कि सिद्धसेन दिवाकरसूरि ने द्वात्रिंशिका में कहा है—

उदधाविव सर्व सिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्व दृष्टयः ।

न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ।।^३

सभी नदियां जिस प्रकार महासागर में जाकर मिलती हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थित नदियों में महासागर नहीं दिखता है, उसी प्रकार सर्वदर्शन रूपी नदियां अनेकान्तवाद रूपी महासागर में सम्मिलित होती हैं। परन्तु एकान्तवाद से अलग-अलग रहे हुए उन-उन दर्शनरूपी नदियों में स्याद्वादरूपी महासागर दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस सम्बन्ध में सन्त आनन्दघनजी ने नेमिनाथ भगवान के स्तवन में अपने उद्गारों को इस प्रकार प्रकट किया है—

जिनवरमां सघलां दरिसण छे, दर्शन जिनवर भजना ।
सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनी सागर भजना रे ।।⁷

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि एक विशाल दृष्टिकोण है। अनेकान्त दृष्टि एक वस्तु में अनन्त धर्मों का दर्शन करती है। जैसा कि उपाध्याय यशोविजय ने अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण⁸ में बताया है।

अनन्तधर्म वाली वस्तु प्रमाण का विषय होती है, प्रमाण के द्वारा अनन्त धर्मात्मक जाना जाता है। अनन्तधर्म वाली वस्तु प्रमेय है। अनेक धर्म या अंश ही जिसकी आत्मा हो, वह पदार्थ अनेकान्तात्मक कहा जाता है। चेतन तथा अचेतन सभी वस्तुएँ अनन्त धर्म वाली होती हैं। इसी विषय संबंधी प्रमाण षड्दर्शन समुच्चय,⁹ स्याद्वाद मंजरी,¹⁰ प्रमाणनयतत्त्वालोक,¹¹ अनेकान्त जयपताका¹² आदि में भी मिलता है।

जिसमें अनन्त तीनों कालों में रहने वाले, अपरिचित, सहभावी तथा क्रमभावी धर्मस्वभाव पाये जाते हैं, वह वस्तु अनन्त धर्मक या अनेकान्तात्मक कहलाती है।

अनेकान्त का अर्थ है—अभिन्नता का स्वीकार और भिन्नता में सह-अस्तित्व की सम्भावना का अन्वेषण करना। एक विशिष्ट प्रकार की अपेक्षा से ध्रुवता और यथार्थ है। अतः वे परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ हैं। परस्पर निरपेक्ष होकर असत्य हो जाते हैं।¹³

वस्तु का द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप ही अनेकान्त के उद्भव का मूल स्रोत है। वस्तु व्यवस्था के क्षेत्र में अनेकान्त का उद्भव हुआ और फिर उसका सभी क्षेत्रों में व्यापक प्रयोग होने लगा। आज अनेकान्त दर्शन जैन दर्शन से अभिन्न बन चुका है। भगवान महावीर के दर्शन साहित्य में अनेकान्त का जैसा विशद वर्णन हुआ है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। किन्तु जब अनेकान्त के विकासक्रम की ओर दृष्टि जाती है तो यह स्पष्ट होता है कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान महावीर से भी पूर्ववर्ती है।

आगम ग्रंथों में उपलब्ध अनेकान्त विचार के विकास में उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने अपनी प्रतिभा का सांगोपांग उपयोग किया है। सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंक, यशोविजय आदि आचार्यों के नाम अनेकान्त विकास में स्मरणीय हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने सन्मति तर्क प्रकरण में विभिन्न नयों के आधार पर अन्य दर्शन की मान्यताओं में समन्वय करने का महत्त्वपूर्ण उपक्रम किया है।¹⁴ सन्मति तर्क में ही सबसे पहले अनेकान्त शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।¹⁵ इसके बाद तो यह शब्द सर्वग्राह्य बन गया। आप्तमीमांसा में नित्यानित्य, सामान्य-विशेष आदि विरोधी वादों में सप्तभंगी की योजना का समन्वय स्थापित किया गया है।¹⁶ इस प्रकार हम क्रमशः अनेकान्त के विकास क्रम को देख सकते हैं।

स्याद्वाद शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

स्याद्वाद शब्द स्याद् और वाद—इन दो शब्दों से बना हुआ है। इसमें स्याद् शब्द अनेकान्त अर्थ का द्योतक अव्यय है। उनका अर्थ अनेकान्त अर्थात् कथंचित् सापेक्षभाव ऐसा होता है। दूसरा वाद

शब्दवद व्यक्तायां वाचि उस धातु पर से बना हुआ है। उनकी व्युत्पत्ति वदनं वादः ऐसा अर्थ कथन करना अर्थात् वचन व्यवहार करना ऐसा होता है। दोनों साथ में मिले तो स्याद् इति वादः स्याद्वादः अर्थात् स्याद् पूर्वक जो वाद हो अनेकान्तवाद ऐसा अर्थ होता है। इस तरह व्याकरणदृष्टि से व्युत्पत्त्यर्थ सहित स्याद्वाद शब्द सिद्ध होता है।

स्याद्वाद का लक्षण

एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्वा विरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः।

अर्थात् एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से विरुद्ध विविध धर्म का स्वीकार करना, वो स्याद्वाद कहलाता है। अथवा

नित्यानित्याधनेकधर्माणामेकवस्तुनि स्वीकारः स्याद्वादः।

नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्मों का एक ही द्रव्य में स्वीकार करना, वह स्याद्वाद कहलाता है।

कलिकाल सर्वज्ञ भगवान श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वर महाराजश्री ने श्री सिद्धहेम शब्दानुशासन (वृहद्वृत्ति) में स्याद्वाद संबंध में द्वितीय सूत्र की रचना करके उनका व्युत्पत्त्यर्थ बतलाया है।

स्याद्वादः नित्यानित्याधनेकधर्मशबलैकवस्तवभ्युपगम इति।¹⁷

नित्यत्व एवं अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों से मिश्रित एक ही वस्तु का स्वीकार करना ही स्याद्वाद शब्द का फलितार्थ है।

इस तरह स्याद्वाद अनेकांतवाद का लक्षण मानना उचित है। श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी अन्ययोग्यवच्छेदिका में बताया है कि—

अयं जनो नाथ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयातुरेव।

विगाहतां किन्तु यथार्थवाद मेकं परीक्षाविधि दुर्विदग्धः।¹⁸

हे नाथ! परीक्षाविधि में दुर्विदग्ध पंडित यह मनुष्य आपके गुणों की स्तवना करने में दूसरे गुणों की इच्छा तो रखता है, फिर भी आपके यथार्थवाद का एकमात्र गुण में गहरा उतरता है, वो यथार्थवाद ही स्याद्वाद है।

दर्शाव्यो स्वमुखे जिनेन्द्र प्रभुएँ अर्थ करी प्रेम थी,

गूंध्यो ए श्रुतकेवली गणधरे सूत्रे घणा भाव थी।

स्थापे शान्ति अपूर्व ए जगत्तमां तत्त्वे करी पूर्ण ए,

ने छे वंध सदा अजेय जगमां अनेकान्तवाद सिद्धांत ए।¹⁹

अनेकान्तवाद क्या है?

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। सभी दर्शन की मीट उनके पर ही है। स्याद्वाददर्शन या अनेकान्तदर्शन के नाम से उनकी प्रसिद्धि है।

अनेकान्तवाद यानी तरणतारण तीर्थंकर परमात्मा एवं श्रुतकेवली गणधर आदि के वदनादि से बहता हुआ गंगाप्रवाह है।

अनेकान्तवाद यानी विश्व को यथार्थ स्वरूप में जानने वाला दिव्यचक्षु है।

अनेकान्तवाद यानी जगत् की कोई भी वस्तु को अपेक्षाभेद से संकलन करना अलौकिक शास्त्र है।

अनेकान्तवाद यानी एकांतवादियों को जीतने का अमोघ शस्त्र है।

अनेकान्तवाद नयरूपी मदोन्मत हाथी को वश करने वाला अनुपम अंकुश है।

अनेकान्तवाद यानी सरस्वती को रहने का मनोहर महल है।

अनेकान्तवाद यानी अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने वाला सहस्रांशु सूर्य है।

अनेकान्तवाद यानी सद्ज्ञानियों का हृदय रूपी रत्नाकर की छेलों को उछालनार पूर्णचन्द्र है।

विश्व की अदालत में सही न्याय देने वाला न्यायाधीश यानी अनेकान्तवाद।

समस्त विश्व का महान् कीर्तिस्तम्भ, कर्णाग्रिय मनमोहक सुन्दर संगीत, विश्वशांति स्थापना, अद्वितीय सत्ता यानी अनेकान्तवाद।

अनेकान्तवाद वह नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न, भेदाभेद आदि रूप वस्तुओं को आकर्षक संग्रहस्थान है।

संरक्षक, अभैद्य किल्ला, अहिंसा, संयम और तपरूपी सद्धर्म का सर्वोत्कृष्ट विजयी ध्वज, सकलगुण का अकूट भण्डार, मुक्ति मन्दिर की मनोहर सोपान पंक्ति यानी अनेकान्तवाद।

इस तरह हम कह सकते हैं कि सार्वभौम, सत्तावंत, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद वह एक महान् चक्रवर्ती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस विश्व में अनेक प्रकार के वाद हैं—राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, शाहीवाद, संस्थानवाद, संदिग्धवाद, संशयवाद, शून्यवाद, असंभवितवाद, निरपेक्षवाद, एकान्तवाद, वितंडावाद, विश्ववाद, जातिवाद, कोमवाद, मूडीवाद, पक्षवाद, प्रांतवाद, भाषावाद, अज्ञेयवाद, अज्ञानवाद, द्वैतवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, अजातवाद, अक्रियावाद, क्षणिकवाद, विवर्तवाद, आरंभवाद, स्फोटवाद, शुष्कवाद, वदेवाद, नयवाद, तर्कवाद, सर्वोदयवाद, विकासवाद एवं विज्ञानवाद आदि।

इन सब से न्याय, सभी वादों पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला, सर्वत्र जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित एकमात्र स्याद्वाद—अनेकान्तवाद इस विश्व में सदा विजयवंत बने।

जैन दर्शन का आधार—अनेकान्तवाद

जैन दर्शन ने परम सत्य को समझने/समझाने/निरूपित करने के लिए अनेकान्तवाद व स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। अनेकान्तवाद वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की अविरोधपूर्ण स्थिति का तथा उसकी अनन्त धर्मात्मकता का निरूपण करता है। स्याद्वाद सीमित ज्ञानधारी प्राणियों के लिए उक्त अनेकान्तात्मकता को व्यक्त करने की ऐसी पद्धति निर्धारित करता है, जिससे असत्यता का एकांगिकता या दुराग्रह आदि दोषों से बचा जा सकता है।

यह वस्तु घड़ा ही है।

यहां घड़ा है।

मेरी अपनी दृष्टि से या किसी दृष्टि से यह घड़ा है—ये तीन प्रकार के कथन हैं। इनमें उत्तरोत्तर सत्यता अधिक उजागर होती गई है। अन्तिम कथन परम सत्य को व्यक्त करने वाली विविध दृष्टियों तथा उन पर आधारित कथनों के अस्तित्व को संकेतिक करता हुआ परम सत्य से स्वयं की समबद्धता को भी व्यक्त करता है। इसलिए वह स्वयं में एकांगी होते हुए भी असत्यता व पूर्ण एकांगिकता की कोटि से ऊपर उठ जाता है। जैसे अंजलि में गृहीत गंगजाल में समस्त गंगा की पवित्रता व पावनता निहित है, उसी प्रकार उक्त कथन में सत्यता निहित है। वास्तव में अपने कथन की वास्तविक स्थिति

बताने से सत्यता ही उद्भासित हो जाती है। जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति यह कहे कि “मैं पण्डित हूँ, किन्तु मैं झूठ बोल रहा हूँ।” तो वह असत्य बोलने का दोषी नहीं है। ठीक वही स्थिति ‘स्यात् घट है।’ इस कथन की। यहाँ स्यात् पद से कथन की एकधर्मस्पर्शिता व्यक्त की जा रही है, साथ ही अन्य विरोधी दृष्टि से जुड़े विरुद्ध धर्म की सत्ता से भी अपना अविरोध व्यक्त करता है, जिससे उक्त कथन सत्य की कोटि में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही दर्शन के स्याद्वाद अनेकान्तवाद सिद्धान्त का हार्द है।

जैन दर्शन की दृष्टि में सभी विचारभेदों में वैयक्तिक दृष्टिभेद कारण है। वास्तव में उनमें विरोध तो है ही नहीं, विरोध तो हमारी दृष्टियों में पनपता है। वस्तु तो सभी विरोधों से ऊपर है। एक ही व्यक्ति किसी का पिता है, किसी का बेटा है, किसी का भाई है तो किसी का पति। उस व्यक्ति का प्रत्येक सम्बन्ध जन दृष्टिविशेष से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः व्यक्ति पितृत्व, पुत्रत्व आदि विविध धर्मों का पुंज भी है।²⁰ यही स्थिति परमसत्य के विषय में है। सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से उसका निरूपण करते हैं, किन्तु उन सभी ज्ञात-अज्ञात दृष्टियों का समन्वित रूप ही परम सत्य है।

अनेकान्त का सिद्धान्त किसी भी एक दर्शन विशेष का नहीं, तथापि एकान्त दृष्टि के पृष्ठपाठकों ने इसके विस्तृत दायरे को सीमित करने का प्रयत्न किया। इसी को किसी एक दर्शन विशेष का अभ्युपगम कहकर नकारने का प्रयत्न किया किन्तु सच्चाई तो यह है कि अनेकान्त के बिना किसी का भी कार्य सम्यक् रूप से चल नहीं सकता। एकान्तवादी दर्शनों के सिद्धान्त किस तरह अनेकान्तवाद में सम्मिलित हैं, इस विषय का सतर्क सम्यक् प्रतिपादन उपाध्याय यशोविजय ने अपने ग्रंथ अध्यात्मोपनिषद् में किया है। अनेकान्तवाद का क्षेत्र इतना व्यापक है कि किसी भी क्षेत्र में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सिद्धान्त रूप से अनेकान्त का निराकरण करने वालों को भी अपने सिद्धान्त की व्यवस्था के लिए अनेकान्त सोपान का हठात् आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार के स्पष्ट उदाहरण उनके ग्रंथों में कई स्थलों पर उपलब्ध होते हैं।

विश्व के स्वरूप विषयक चिंतन का मूल ऋग्वेद से भी प्राचीन है। इस चिन्तन के फलस्वरूप विविध दर्शन क्रमशः विकसित और स्थापित हुए, जो संक्षेप में पांच प्रकारों में समा जाता है—

ब्रह्मवादी वेदान्ती—नित्यवाद

बौद्ध—अनित्यवाद

सांख्ययोगादि—परिणामी नित्यवाद

न्याय वैशेषिक—नित्यानित्यः उभयवादी

जैन दर्शन—नित्यानित्यात्मक अनेकान्तवादी है।

ब्रह्मवादी वेदान्ती केवल नित्यवादी है, क्योंकि उनके मत से अनित्यत्व आभासिक मात्र है। बौद्ध क्षणिकवादी होने से केवल अनित्यवादी है। सांख्य-योगादि चेतन भिन्न जगत् को परिणामी नित्य मानने के कारण परिणामी नित्यवादी है। न्याय वैशेषिक आदि कुछ पदार्थों को नित्य और कुछ पदार्थों को अनित्य मानने के कारण नित्यानित्य उभयवादी है। जैनदर्शन सभी पदार्थों को नित्यानित्यात्मक मानने के कारण नित्यानित्यात्मकवादी या अनेकान्तवादी है। नित्यानित्यत्व विषयक दार्शनिकों के उक्त सिद्धान्त श्रुति और आगमकालीन उनके अपने-अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से वर्णित पाये जाते हैं और थोड़ा बहुत विरोधी मन्तव्यों का प्रतिवाद भी उनमें देखा जाता है। यहाँ हम अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य में मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग के साथ एक तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं।

मीमांसा दर्शन एवं अनेकान्त

मीमांसा शब्द पूजार्थक मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में निष्पन्न होता है। महर्षि जैमिनी मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसा के दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड का वर्णन है और उत्तरमीमांसा का विषय है—ब्रह्म। अतः उत्तरमीमांसा वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है। इस कारण पूर्वमीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

पूर्व मीमांसा में भी कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर—इन दो प्रमुख आचार्यों के अनुवादियों के अनुसार भट्ट और प्रभाकर इस प्रकार दो भेद हैं।

मीमांसकों में कुमारिल आदि स्वयं ही सामान्य और विशेष में कथंचितादात्म्य धर्म और धर्मी में भेदाभेद तथा वस्तु को उत्पादादि त्रयात्मक स्वीकार करके अनेकान्त को मानते ही हैं। वस्तु के सम्बन्ध में कुमारिल लिखते हैं—

वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युतरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभङ्गं नामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥
ना नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम् ।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥²¹

जब सोने के एक प्याले को तोड़कर माला बनाई जाती है तब प्याला चाहने वाले को शोक होता है, माला चाहने वाले को हर्ष होता है और सोने का इच्छुक मध्यस्थ रहता है। इससे वस्तु के त्रयात्मक होने की सूचना मिलती है। उत्पाद, स्थिति और व्यय के अभाव में तीन प्रकार की बुद्धि नहीं हो सकती अतः वस्तु सामान्य से नित्य है।

मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। ये श्रुतिवाक्य को कार्यरूप अर्थ में ही प्रमाण मानते हैं। इस कार्य को वे त्रिकाल शून्य कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि वेदवाक्य त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थ को ही विषय करते हैं। इसी विषय में अनेकान्तवादियों का प्रश्न है कि यदि कार्यरूपता त्रिकालशून्य है, किसी भी काल में अपनी सत्ता नहीं रखती है तब वह अभाव प्रमाण का ही विषय हो जायेगी, उसे आगमगम्य मानना अयुक्त है। यदि वह अर्थरूप है तो कार्य को त्रिकालशून्य भी मानना होगा तथा अर्थरूप भी, तभी वह वेदवाक्य का विषय हो सकता है। इसीलिए जब अनेकान्त को माने बिना वेदवाक्य का विषय ही नहीं सिद्ध हो सकता, तब उसे अगत्या मान ही लेना चाहिए। अतः एक ही वस्तु में दो विरोधी गुण को अपेक्षाभेद से स्वीकार करना, यही तो स्याद्वाद है।

साथ ही उपाध्याय यशोविजय कुमारिल भट्ट के मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं—
“वस्तु जाति (सामान्य) और व्यक्ति (विशेष) उभयात्मक हैं। इस प्रखर अनुभवगम्य बात स्वीकार करने वाले कुमारिल भट्ट भी अनेकान्त का अपलाप नहीं कर सकते हैं,²² क्योंकि अनेकान्त का विरोध करने पर इनको मान्य वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, यह बात असिद्ध हो जाएगी।

कुमारिल भट्ट द्वारा पदार्थों को उत्पत्ति, विनाश और स्थितियुक्त मानना, अवयव और अवयवी में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तत्त्वों से इस बात को बल मिलता है कि उसके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं अनेकान्त के तत्त्व उपस्थित हैं।

वेदान्त और अनेकान्त

जैन दर्शन के द्वारा दो सत्ता स्वीकृत हैं—पारमार्थिक और व्यावहारिक।

वेदान्त के द्वारा तीन सत्ताएँ स्वीकृत हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक।

जैन दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन—दोनों पारमार्थिक सत्य हैं। दोनों की वास्तविक सत्ता है। जैनदर्शन चेतन और अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है इसलिए वह यथार्थवादी है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। वह एक है। शेष जो नानात्व है, वह वास्तविक नहीं है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म से भिन्न जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह आदर्शवादी है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन का ब्रह्म से भिन्न अचेतन की सत्ता स्वीकार करना मिथ्या-दर्शन है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य मानना सम्यक्दर्शन कहलाता है। वेदान्त के अनुसार जैसे एकत्व पारमार्थिक और प्रपंच व्यावहारिक है, वैसे ही अनेकान्त की भाषा में कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व पारमार्थिक और पर्यायत्व व्यावहारिक है।

वेदान्त का विवर्तवाद

कारण कार्य के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का मत विवर्तवाद कहलाता है। इस वाद के अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। वही जगत् का कारण है। उसी से नाना रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति होती है, किन्तु यह कार्य रूप जगत् वस्तुतः सत्य नहीं है। वह मन की कल्पना मात्र है। इसे समझाने के लिए अद्वैत वेदान्त में रस्सी एवं सर्प का उदाहरण विशेष रूप से उपयोग में लिया है।

अंधकार में एक रस्सी पड़ी है। एक व्यक्ति उधर से निकलता है। उसकी दृष्टि उस पर पड़ती है और वह उसे सर्प समझकर भयाक्रान्त हो जाता है, भाग जाता है। फिर दीपक लेकर वहाँ आता है, उसे देखता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वह रस्सी है, सर्प नहीं है। रस्सी का ज्ञात होने पर उसका सर्पज्ञान बाधित हो जाता है। वह रस्सी उसे रस्सी ही प्रतीत होती है, सर्प नहीं। अतः रस्सी में होने वाला सर्प ज्ञान सत्य नहीं है।

कार्यकारण भाव के आधार पर यह जगत् वैसी ही कल्पना है, जैसी रस्सी में सर्प की होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म है, जो कि नित्य, कूटस्थ, विभु, सर्वगर्त एवं अव्यय है। वह न किसी से उत्पन्न होता है, न किसी को उत्पन्न करता है। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्म न तो किसी से उत्पन्न होता है, न किसी को उत्पन्न करता है तो यह नाना प्रपंचात्मक जगत् क्या है? यह कैसे उत्पन्न हुआ? वेदान्त के अनुसार वह जगत् मिथ्या है और यह वैसे ही उत्पन्न हो जाता है, जैसे रस्सी में सर्पज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में वह सर्प नहीं होता परन्तु दिखाई देता है। वैसे ही यह जगत् मिथ्या है, अज्ञान के कारण प्रतिभासित हो रहा है।

वेदान्त के अनुसार यह जगत् मायारूप है। इस माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति का कार्य है—जो सत् है, उसको छिपा लेना, आवृत्त कर देना और विक्षेप शक्ति का कार्य है—जो नहीं है, उसे दिखा देना। ब्रह्म जो कि सत् है, आवरण शक्ति उसे छिपा लेती है और जगत्, जो कि मिथ्या है, विक्षेप शक्ति उसे दिखा देती है। यह वैसे ही होता है, जैसे प्रोजेक्टर सिनेमा के पर्दे को छिपा लेता है और नायक-नायिका आदि पात्रों को, जो वहाँ नहीं है, दिखा देता है। हमारे मन में आवरण और विक्षेप—ये दोनों शक्तियाँ रहती हैं।

वेदान्त शास्त्रीय भाषा में विवर्त शब्द का प्रयोग करता है। विवर्त का अर्थ है, न बदलने पर भी परिवर्तन जैसा दिखाई देता। रस्सी में वस्तुतः कोई परिवर्तन होता नहीं, किन्तु वहाँ सर्प दिखाई पड़ने लगता है अतः सर्प रस्सी का विवर्त हुआ परिणमन नहीं। इस प्रकार वेदान्त कारण से कार्य की उत्पत्ति को विवर्त मानता है, परिणमन नहीं। इसी आधार पर वह अद्वैत की सिद्धि करता है। रस्सी तो एक ही है, उसमें जो सर्प की प्रतीति है, वह भ्रांतिजन्य है, वास्तविक नहीं। ब्रह्म एक ही है, उसमें जो नानारूप जगत् दिखाई पड़ता है, वह वास्तविक नहीं है। अतः ब्रह्म की अद्वैत स्थिति ही वास्तविक है। उपाध्याय यशोविजय सभी दर्शनों में अनेकान्तवाद अन्तर्निहित है—यह सिद्ध करते हुए कहते हैं—“ब्रह्मतत्त्व परमार्थ से बंधनरहित है और व्यवहार से बंधा हुआ है। इस प्रकार कहने वाले वेदान्त अनेकान्तवाद का अनादर नहीं कर सकते हैं।”²³

डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं—“आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकारते हैं।”²⁴ ये लिखते हैं—

**ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्व शक्तिमत्त्वात् ।
महामायत्वाच्च प्रवृत्त्वप्रवृत्ति न विरुध्यते ॥**

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्, क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो फिर मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् है और न असत् है। वह न ब्रह्म से भिन्न है और न ही अभिन्न है। यहाँ अनेकान्तवाद जिस बात को विधिमुख से कह रहा है, वही शंकर उसे निषेधमुख से कह रहा है।

निम्बार्कभाष्य की टीका में श्रीनिवास आचार्य कहते हैं—जगत् और ब्रह्मतत्त्व का परस्पर भेदाभेद स्वाभाविक है। श्रुति, वेद, उपनिषद्, स्मृति स्वरूप शास्त्रों से सिद्ध है, इस कारण से उनमें विरोध कैसा? इस प्रकार श्रीनिवास आचार्य भी अनेकान्त की अवहेलना नहीं कर सकते हैं।

बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद

जिस प्रकार वेदान्त का विवर्तवाद सत्कार्यवाद का ही प्रत्ययवादी रूप है, उसी प्रकार बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद असत्कार्यवाद का प्रत्ययवादी रूप है। बौद्ध भी न्याय के समान यह मानता है कि कार्य नया उत्पन्न होता है, किन्तु वह यह मानने के लिए तैयार नहीं कि अवयवों को जोड़कर अवयवी बनता है। बौद्ध की दृष्टि में तो केवल अवयव ही सत्य हैं। अवयवी हमारी दृष्टि का भ्रम है। दीपशिखा के उदाहरण में बताया है कि हमें जो दीपशिखा दिखाई देती है, वह वस्तुतः एक नहीं है, अनेक हैं। दृष्टि भ्रम के कारण हमें एक दिखाई देती है।

बौद्ध का अवयव नैयायिक के परमाणुओं के समान नित्य नहीं है। वह अवयव उत्पन्न होता है और उसी क्षण समाप्त भी हो जाता है। उसका अस्तित्व एक क्षण के लिए ही है। यह प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला अवयव अपने समान ही दूसरे क्षणभंगुर अवयवों को जन्म दे देता है और इसी समानता के कारण हम सर्वथा दो भिन्न अवयवों को एक अवयवी मान लेते हैं। बौद्ध का क्षण न्याय के परमाणु की तरह नित्य भी नहीं है और सांख्य की प्रकृति की तरह परिणामी भी नहीं है। उसका अस्तित्व केवल एक क्षण के लिए है। प्रथम क्षण के अनन्तर जिस द्वितीय क्षण की उत्पत्ति

होती है, वह द्वितीय क्षण प्रथम क्षण से सर्वथा भिन्न होता है। उसमें हम प्रथम क्षण को कारण और द्वितीय क्षण को कार्य कह देते हैं। ये दोनों क्षण परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। दूसरा क्षण जो कार्य है, नया होता है। इसलिए हम उसे असत्कार्यवाद कहते हैं, किन्तु नया होने पर भी यह कार्य प्रथम क्षण को अपना कारण बनाता है। इसीलिए इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।

सांख्य के धर्म और धर्मी एक ही हैं, न्याय गुण और गुणी को भिन्न मानता है, बौद्ध के यहाँ धर्मी या गुणी जैसी कोई चीज है ही नहीं, वह केवल गुण अथवा धर्म को ही मानता है। धर्मों की एक-दूसरे के बाद आने वाली शृंखला संतति कहलाती है। इस संतति के कारण हमें क्षणभंगुर पदार्थ भी नित्य जैसे प्रतीत होने लगते हैं।

बौद्ध का यह क्षणभंगुरवाद इतना व्यापक है कि यह आत्मा को भी नित्य नहीं मानता। पूर्व का क्षण नष्ट होते-होते स्वभावतः ही दूसरे क्षण को उत्पन्न कर देता है। सांख्य की दृष्टि में चेतन अपरिणामी नित्य है, प्रकृति परिणामी नित्य है। न्याय की दृष्टि में गुण परिणामनशील है, गुणी नित्य है, जबकि बौद्ध दृष्टि में परिवर्तित ही एकमात्र सत्य है। स्थायी या नित्य जैसा कुछ है ही नहीं।

बौद्धदर्शन और अनेकान्तवाद

बौद्ध एक किसी भी क्षण को पूर्वक्षण का कार्य तथा उत्तरक्षण का कारण मानते ही हैं। यदि वह पूर्वक्षण का कार्य न हो तो सत् होकर भी किसी के उत्पन्न न होने के कारण वह नित्य हो जायेगा। यदि उत्तरक्षण को उत्पन्न न करे तो अर्थक्रियाकारी न होने से अवस्तु हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि एक मध्यम क्षण में पूर्व की अपेक्षा कार्यता तथा उत्तर की अपेक्षा कारणता रूप विरुद्ध धर्म मानना अनेकान्त का ही स्वीकार करना है।

सिद्धान्त रूप से अनेकान्त का निराकरण करने वाले को भी अपने सिद्धान्त की व्याख्या के लिए अनेकान्त सोपान का हठात् आश्रय लेना पड़ा। इस प्रकार के स्पष्ट उदाहरण अनेक ग्रंथों में कई स्थलों पर उपलब्ध होते हैं।

बौद्धदर्शन के प्रणेता भगवान बुद्ध ने स्थान-स्थान पर अनेकान्तदृष्टि का आश्रय लेकर व्याकरण किया है। विनयपिटक, महावग्ग और अंगुत्तरनिकाय में भगवान बुद्ध के साथ सिंह सेनापति के प्रश्नोत्तरों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। भगवान बुद्ध को अनात्मवादी होने के कारण कुछ लोग अक्रियावादी कहते थे। अतएव सिंह सेनापति ने भगवान बुद्ध से पूछा कि आपको कुछ लोग अक्रियावादी कहते हैं, क्या यह सच है? इसके उत्तर में भगवान बुद्ध ने जो कुछ कहा, उसके द्वारा उनकी अनेकान्तवादिता प्रकट होती है। उन्होंने कहा—यह सच है कि मैं अकुशल कर्मों के प्रति, संस्कार के प्रति अक्रिया का उपदेश देता हूँ अतः अक्रियावादी हूँ तथा कुशल संस्कार की क्रिया का उपदेश देता हूँ अतः क्रियावादी हूँ। भगवान बुद्ध ने संयुक्तनिकाय में कहा—जीव और शरीर को एकान्त भिन्न माना जाए तो ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं है अतएव दोनों अन्तों को छोड़कर मैं मध्यममार्ग का उपदेश देता हूँ।

आत्मा का नैश्चयिक अस्तित्व स्वीकार करने पर इन्द्रिय और मन पर आत्मा का जो समारोप किया जाता है, इसे विधि-पक्ष कहते हैं। एकान्तरूप से आत्मा के अस्तित्व की अस्वीकृति निषेध पक्ष है। बौद्ध दर्शन का कहना है—हम न एकान्त विधिपक्ष को और न एकान्त निषेधपक्ष को स्वीकार करते हैं किन्तु हम मध्यम मार्ग को मानते हैं। यह मध्यममार्ग की स्वीकृति अनेकान्त की सूचना है।

‘सर्व अस्ति’ यह एक अन्त है। ‘सर्व नास्ति’ यहाँ दूसरा अन्त है। भगवान बुद्ध ने इन दोनों को अस्वीकार करके मध्यम मार्ग का अवलम्बन लिया है। वे कहते हैं—

सर्वं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्तो....

सव्यं नत्थीति खो ब्राह्मण अयं दुतियो अन्तो।

एतेते ब्राह्मणउमो अन्ते अनुपगम्म मज्जेन तथागतो घम्मं-
देसेतिअविज्जा पच्चया संखार।।²⁵

शून्यवादी एक ही संसार को अस्ति, नास्ति रूप कहते हैं—

जगत् वैचित्र्यं व्यवहारतो अस्ति निष्चयतो नास्ति।²⁶

इस प्रकार का कथन अनेकान्तविहीन दृष्टि नहीं कर सकती।

बौद्ध दार्शनिक एक ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण एवं अप्रमाण दोनों मानते हैं। नीलादि अंश में ‘यह नीला है’ इस प्रकार अनुकूल विकल्प पैदा करने के कारण प्रमाण है तथा क्षणिकांश पक्ष में अक्षणिक विकल्प का दर्शन अप्रमाण है। बौद्ध दर्शन ने सविकल्पक ज्ञान को बाध्य नीलादि पदार्थ की अपेक्षा सविकल्पक एवं स्वरूप की अपेक्षा निर्विकल्पक स्वीकार करके स्वतः ही अनेकान्त की स्वीकृति दे दी है।

न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति ने कहा है—

दर्शनोत्तरदकालभाविनः स्वाकार-ध्यवसाविन एकस्यैय विकल्पस्य बाध्यार्थे सविकल्पत्वमात्मस्वरूपे तु
सर्वचित चैतना मात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।²⁷

जो ज्ञान जिस पदार्थ के आकार का होता है, वह उसी पदार्थ को जानता है। निराकार ज्ञान पदार्थ को नहीं जान सकता। इस तदाकारता को बौद्धों ने प्रमाणता का नियामक माना है। इस नियम के अनुसार नाना रंग वाले चित्रपट को जानने वाला ज्ञान भी चित्राकार ही होगा। अतः एक ही चित्रपट ज्ञान को अनेक आकार वाला मानना, एक को ही चित्र-विचित्र रूप मानना अनेकान्त नहीं तो और क्या है? इसी नियम के अनुसार संसार के समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ सुगत का ज्ञान सर्वाकार याने चित्र-विचित्रकार होना ही चाहिए। इस तरह सुगत के एक ही ज्ञान को सर्वाकार मानना भी अनेकान्त का समर्थन करना है। इसी सन्दर्भ में उपाध्याय कहते हैं कि “बौद्ध दर्शन भी अनेकान्तवाद से मुक्त नहीं है।” वे कहते हैं—“विचित्र आकार वाली वस्तु का एक आकार वाले विज्ञान में प्रतिबिम्ब होने को मान्य करनेवाले प्राज्ञ बौद्ध भी अनेकान्तवाद का अपलाप नहीं कर सकते।”²⁸

विभिन्न वर्ण से युक्त पट का जो ज्ञान होता है, वहाँ ज्ञान का स्वरूप तो एक ही है, परन्तु वह विविध वर्ण के उल्लेख वाले अनेक आकार से युक्त है। आशय यह है कि ग्राहकत्व रूप से ज्ञान का स्वरूप एक होने पर भी उसमें नील, पीत आदि अनेक रूप भी हैं। यह मान्यता अनेकान्तवाद का आधार लेने पर ही सम्भव है। अपने सिद्धान्त की नींव में रहे हुए अनेकान्तवाद के आधार पर अनादर करने का मतलब यही हुआ कि यह अनादर अपने पैरों पर ही कुठाराघात के प्रहार के समान है।

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद

इन दोनों एकान्तों को अस्वीकार करने वाले गौतम-बुद्ध की स्याद्वाद में मूक सहमती तो है ही। एकान्तवाद से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया, या विभाज्यवाद को अपनाया, अथवा

निषेधमुक्त से मात्र एकान्त का खण्डन किया। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं—“त्रिपिटक में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया—क्या आत्मा और शरीर भिन्न है? वे कहते हैं—मैं ऐसा नहीं कहता। फिर जब यह पूछा गया कि आत्मा और शरीर अभिन्न है, तो उन्होंने कहा कि मैं यह भी नहीं कहता।”²⁹

बौद्ध परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित अनेकान्तवाद—दोनों का ही लक्ष्य एकान्तवादी धारणाओं को अस्वीकार करना था। दोनों में फर्क इतना ही है ‘शून्यवाद निषेधपदक शैली को अपनाता है और अनेकान्तवाद में विधानपरक शैली अपनाई गई है।’

सांख्य का सत्कार्यवाद

तिल से तेल पैदा होता है—इस उदाहरण में तेल तिल में पहले से ही था, कोई नई चीज उत्पन्न नहीं हुई। यहाँ तिल कारण है और तेल कार्य है। इस दृष्टान्त को लेकर सांख्य दर्शन में यह सिद्धान्त विकसित हुआ कि कार्य-कारण में पहले से ही रहता है। वह कारण में अव्यक्त रूप में छिपा रहता है और बाद में प्रकट हो जाता है। इस प्रकट हो जाने को ही हम उत्पन्न होना कहते हैं। उत्पन्न होने का अर्थ यह नहीं कि कोई नई चीज बन जाए। सांख्यकारिका नामक ग्रंथ की नवीं कारिका में इस सम्बन्ध में अनेक तर्क दिये गये हैं—सभी यह मानते हैं कि जो है ही नहीं, उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिए उत्पन्न होने से पहले ही कार्य को कारण में होना चाहिए और वह कारण में अव्यक्त रूप में रहता है, जैसा कि तेल तिल में पहले से ही रहता है।

यदि कार्य नया उत्पन्न होता तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाना चाहिए था किन्तु ऐसा होता नहीं। घड़ा मिट्टी से ही बनता है, धागे से नहीं। कपड़ा धागे से ही बनता है, मिट्टी से नहीं। अतः यह मानना पड़ेगा कि कार्य कारण में पहले से ही रहता है।

कारण और कार्य में एक ही गुणधर्म होते हैं, जैसा कि कहा जाता है—कारणगुणाः कार्यम् आरम्भते। स्पष्ट है कि कार्य यदि नया उत्पन्न होता तो उसका स्वभाव अलग होना चाहिए था, कारण जैसा नहीं।

सांख्य के सत्कार्यवाद का आधार यह है कि सांख्यदर्शन पूरे विश्व को एक ही प्रकृति का परिणमन मानता है। यह प्रकृति स्वभाव से ही परिणमनशील है। प्रकृति के अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो इस विश्व रूपी कार्य को उत्पन्न कर सके अतः यह मानना होगा कि सम्पूर्ण कार्य प्रकृति में पहले से ही रहते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त और कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि यह तो सर्वसम्मत है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। सांख्यदर्शन के विकासवाद में प्रकृति मूल कारण है, परन्तु उसका कोई कारण नहीं है। वह अव्यक्त, सूक्ष्म है, उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ क्रमशः स्थूल होते जाते हैं। यह सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण कर लेना ही कारण से कार्य का उत्पन्न हो जाना है, न कि किसी नई वस्तु का उत्पन्न होना।

यह भी समझ लेना चाहिए कि रजोगुण के कारण प्रकृति में स्वयं ही परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप कारण से कार्य आविर्भूत होते रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति स्वयं ही सृष्टि की रचना कर देती है। उसके लिए ईश्वर जैसे किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं है।

सांख्यदर्शन और अनेकान्तवाद

सांख्यदर्शन प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानता है और ये तीनों गुण आपस में विरोधी हैं। उनका एक ही प्रकृति में सहायस्थान अनेकान्त के बिना सम्भव नहीं है। एक ही प्रकृति संसारी प्राणियों के प्रति प्रवृत्तिधर्मी तथा मोक्ष रूप पुरुषों के लिए निवृत्तिधर्मी है। यह अभ्युपगम भी अनेकान्त का द्योतक है। सांख्य प्रकृति और पुरुष को निश्चयतः भिन्न तथा व्यवहारतः अभिन्न मानते हैं। यह कथन भी अनेकान्त की पुष्टि करता है।

इसी सन्दर्भ में उपाध्याय यशोविजय भी कहते हैं कि “सत्य, रजस् और तमस्—इन तीन विरोधी गुणों से युक्त प्रकृति तत्त्व को स्वीकार करने वाले बुद्धिशालियों में मुख्य ऐसा सांख्य अनेकान्तवाद का प्रतिकेप नहीं करता है³⁰ क्योंकि स्याद्वाद का विरोध करने पर उसको मान्य प्रधान प्रकृति तत्त्व का भी उच्छेद हो जायेगा। परस्पर विरोधी गुणधर्मों से युक्त प्रकृतितत्त्व को स्वीकार करना और अनेकान्तवाद का विरोध करना तो जिस घर में रहते हैं, उनको तोड़ने जैसा है। साथ ही सांख्य दर्शन प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुणों को स्वीकार करता है। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्यात्मक और मुक्त पुरुष की अपेक्षा से निवृत्यात्मक देखी जाती है। इस प्रकार पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्यदर्शन की इस मान्यता को महाभारत में भी स्पष्ट किया गया है। उसमें लिखा है—“जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और नानात्व देखता है, वह वह दुःख से छूट जाता है।”³¹ डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि जड़ और चेतन का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकान्तवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? यही भेदाभेद की दृष्टि अनेकान्त की आधारभूमि है, जिसे किसी-न-किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है।

न्याय वैशेषिक का असत्कार्यवाद

न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह सृष्टि परमाणुओं से बनी है, प्रकृति से नहीं। परमाणु अनन्त हैं जबकि सांख्य की प्रकृति एक ही है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सांख्य की प्रकृति स्वतः परिणमनशील है जबकि नैयायिक के अनुसार परमाणु अपने आप में स्थितिशील हैं। जब तक उन्हें गति न दें, ये गति नहीं करते। अतः उनमें गति प्रदान करने के लिए उन्हें ईश्वर को मानना पड़ा, क्योंकि सृष्टि को बनाने के लिए परमाणुओं का परस्पर संयोग होना आवश्यक है और इस संयोग के लिए उनमें गति होना आवश्यक है और यह गति ईश्वर देता है। कार्य उत्पन्न होते समय परमाणुओं में तो परिवर्तन नहीं होता अपितु उनके गुणधर्मों में परिवर्तन होता है। मुख्य बात यह है कि कोई भी कार्य स्वयं नहीं हो सकता। उसके लिए किसी-न-किसी को प्रयत्न करना पड़ता है। नैयायिक का कहना है कि कार्य अनेक अवयवों को जोड़कर बनता है। अवयवों का जोड़ अवयवी कहलाता है और अवयवी सदा अवयव से भिन्न होता है इसलिए अवयवों के जुड़ने से पहले अवयवी का अस्तित्व नहीं होता। नैयायिक के अनुसार किसी चीज के उत्पन्न होने से पहले उसका अभाव होता है। इस अभाव को प्राग्भाव कहते हैं। उत्पन्न होने पर कार्य प्राग्भाव नहीं रहता। इस बात को शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार कहा जाता है कि कार्य प्राग्भाव प्रतियोगी होता है। बनने से पहले घड़ा नहीं था अतः हम कहेंगे कि घड़े का प्राग्भाव था। घड़ा पैदा हो गया तब घड़े का प्राग्भाव नहीं रहा। इसे हम इस प्रकार कहेंगे कि घड़ा प्राग्भाव का प्रतियोगी है। अपने असत्कार्यवाद के समर्थन में न्याय-वैशेषिक अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।

यदि यह मानें कि घड़ा नया उत्पन्न नहीं होता तो फिर यह प्रश्न होगा कि वह घड़ा किस कारण में रहता है? यदि यह कहा जाये कि घड़ा मिट्टी में रहता है तो फिर यह प्रश्न होगा कि यदि घड़ा मिट्टी में ही है तो पानी और आग की क्या जरूरत है और कुम्हार का प्रयत्न भी व्यर्थ है। घड़े को मिट्टी में से स्वयं ही प्रकट हो जाना चाहिए। बिना कारण कुम्भकार को क्यों प्रयत्न करना पड़ता है?

कारण में कार्य का अस्तित्व पहले से ही मानने पर कारण और कार्य एक ही हो जायेंगे। फिर भी ये दो क्यों माने जाते हैं? दोनों को दो नाम क्यों दिये जाते हैं? दोनों के लिए एक ही नाम का प्रयोग क्यों नहीं होता है? इससे सिद्ध होता है कि दोनों सर्वथा भिन्न हैं।

नैयायिक का कहना है कि यह प्रत्यक्ष तथ्य है कि घड़े में हम पानी, घी, तेल आदि रख सकते हैं। वह इन्हें धारण करने में समर्थ है किन्तु मिट्टी में हम इन्हें नहीं रख सकते, वह इन्हें धारण नहीं कर सकता। घड़े का कार्य वह नहीं कर सकता। यदि मिट्टी में घड़ा होता तो ये सब कार्य मिट्टी से ही हो जाता, जो घड़े से होता है। किन्तु व्यवहार में देखते हैं कि ऐसा नहीं होता। अतः कार्य कारण में पहले से नहीं रहता, वह सर्वथा नवीन होता है। यदि कारण और कार्य एक ही है तो फिर उन दोनों में सम्बन्ध कैसे होगा?

न्याय वैशेषिक का अनेकान्तवाद

न्याय-वैशेषिक ने भी अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में अनेकान्त दृष्टि का अवलम्बन लिया है। उनका मानना है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष में धूमज्ञान होता है। धूमज्ञान से अग्नि की प्राप्ति होती है। यहाँ इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है, धूमज्ञान उसका फल है और यही धूमज्ञान अग्निज्ञान अपेक्षा अनुमानप्रमाण है। फलस्वरूप एक ही धूमज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप प्रत्यक्षप्रमाण का फल एवं अनुमान प्रमाण दोनों है। एक ही ज्ञान फल भी है, प्रमाण भी है। यह कथन अनेकान्त का संवाहक है। न्याय वैशेषिक दर्शन ने दो प्रकार का सामान्य स्वीकार किया है—महासामान्य, अपरसामान्य। अपर सामान्य का ही अपर नाम सामान्य विशेष है। वह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। द्रव्यत्व सामान्य विशेष है। द्रव्यत्व नाम का सामान्य ही द्रव्यों में रहता है इस अपेक्षा से सामान्य है तथा गुण और कर्म से अपनी व्यावृत्ति करवाता है अतः विशेष है। यह अपेक्षा अनेकान्त के बिना असंभव है।

इस सन्दर्भ में उपाध्याय यशोविजय कहते हैं, “जो एक ही वस्तु चित्ररूप या अनेकरूप मानते हैं, वे न्याय-वैशेषिक भी अनेकान्तवाद का अनादर नहीं कर सकते।”³² जो स्वयं ही घट में व्याप्यवृत्ति की अपेक्षा एकचित्ररूप एवं अव्याप्यवृत्ति की अपेक्षा विलक्षण चित्ररूपों को मान्य करते हैं, उनके लिए अनेकान्त का अनादर करना उचित नहीं है। स्याद्वाद के उन्मूलन से उनके अपने मन्तव्य का ही उन्मूलन हो जायेगा। एकानेक रूपों का एक ही धर्मी में समावेश करना ही अनेकान्तवाद की स्वीकृति है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं—“वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ ही प्रारम्भ में तीन पदार्थ की कल्पना की गई—द्रव्य, गुण और कर्म। जिन्हें हम जैन दर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण तथा द्रव्य और गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, यही तो अनेकान्त है।”³³

वैशेषिक सूत्र में भी कहा है—

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च।²⁴

द्रव्यगुण और कर्म को युगपद सामान्य, विशेष, उभय रूप मानना ही अनेकान्त है।

पुनः वस्तु सत्-असत् रूप है। इस तथ्य को भी कणाद महर्षि के अन्योन्य भाव के प्रसंग से स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वरूप की अपेक्षा से अस्तिरूप है और पर-स्वरूप की अपेक्षा नास्तिरूप है। यही तो अनेकान्त है, वैशेषिकों को भी मान्य है।

पातंजल योगसूत्र ने वस्तु को नित्यानित्य स्वीकार किया है। उन्होंने धर्म, लक्षण एवं अवस्था रूप से तीन प्रकार के धर्मी परिणाम बतलाए हैं। सुवर्ण के उदाहरण से स्पष्ट उनका सिद्धान्त अनेकान्त का अनुयायी है। पाश्चात्य दर्शन ने भी अनेकान्त के सिद्धान्त का उपयोग किया है।

जैन का सदसत्कार्यवाद

जैन मूलतः अनेकान्तवादी है। दर्शन की किसी भी समस्या का समाधान वह अनेकान्तवाद के आधार पर देता है। अनेकान्त का आधार यह है कि किसी भी परिस्थिति का विश्लेषण जो एक सामान्य व्यक्ति करता है, वह गलत नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति से हम यह पूछें कि मिट्टी से घड़ा बनने पर कोई नई चीज बनी या नहीं तो वह उत्तर देता कि कुम्हार ने मिट्टी को टालकर घड़ा बनाया है लेकिन मिट्टी का रूप घड़ा बनने के समय बदल गया है। जैन इसे ही इस रूप में कहेगा कि द्रव्य की दृष्टि से मिट्टी और घड़ा एक ही है किन्तु पर्याय की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। कारण कार्य की भाषा में कहें तो मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य है और द्रव्य की दृष्टि से दोनों एक हैं। इसलिए हम कहेंगे कि घड़ा द्रव्य की दृष्टि से कोई नई चीज नहीं है किन्तु पर्याय की दृष्टि से वह अवश्य नया है। इस विश्लेषण का परिणाम यह हुआ कि जैन दार्शनिकों ने यह माना कि कार्य कारण में द्रव्य रूप में रहता है किन्तु पर्याय रूप में वह कारण में रहता है, अपितु नया उत्पन्न होता है। कार्य कारण के इस सिद्धान्त को सदसत्कार्यवाद या परिणामी नित्यत्ववाद कहा जाता है।

जैन दर्शन में अनेकान्त विषयक दृष्टि

जैन दर्शन ने वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक स्वीकार किया है तथा विविध दर्शनों की एकान्तिक मान्यताओं को अनेकान्त के सूत्र में पिरोकर एक विशेष दृष्टि प्रदान की। यद्यपि सभी दर्शनों की वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन की अपनी-अपनी दृष्टि है परन्तु उनकी मान्यताओं में अनेकान्त के बीज अवश्य ही विद्यमान हैं, क्योंकि उसके माने बिना कहीं-न-कहीं विसंगतियां उत्पन्न होती हैं। जैन दर्शन में नय दृष्टियों के अन्तर्गत ये सभी दृष्टियाँ मान्य हैं परन्तु उनमें धर्मान्तर सापेक्षता की स्वीकृति आवश्यक है अन्यथा वे भी कुनय की श्रेणी में आ जायेंगे। अनेकान्त के द्वारा ही विविध दार्शनिक समस्याओं का समाधान शक्य है, क्योंकि उनकी अस्वीकृति में वस्तु का अर्थक्रियाकारित्व नहीं बन सकता।

विश्व और सृष्टि की प्रक्रिया जानने के लिए जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की। उनका अभिमत था कि द्रव्य अनन्तधर्मात्मक है। उसे एकान्त दृष्टि से नहीं जाना जा सकता। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ चाहिए। उन सब दृष्टियों के सकल रूपों को प्रमाण और विकल रूपों को नय कहा जाता है।

जैन दृष्टि का समन्वयात्मक रूप

जैन दर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण उन सभी मतों को किसी अपेक्षा से सत्य मानता है जबकि अन्य दर्शन किसी एक मत को ही सत्य मानते हैं। सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के विचार के बीच जैन यह कहकर समन्वय स्थापित करता है कि पर्याय की अपेक्षा कार्य कारण में पहले से नहीं रहता, किन्तु द्रव्य, गुण की अपेक्षा कार्य कारण में पहले से ही रहता है। जैसा कि आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में कारण और कार्य में भेदाभेद सिद्ध करते हुए लिखा है—

नत्थि पुढ्वीविसिट्ठो घडोत्ति, जं तेण जुज्जइ अणणो ।

जं पुण घडोत्ति पुण्यं, ण आसि पुढ्वी तओ अण्णो ।।⁵⁵

अर्थात् मिट्टी द्रव्य है और घड़ा उसका एक पर्याय है। घड़ा मिट्टी से होता है, उसके बिना नहीं होता। इस अपेक्षा से घड़ा मिट्टी से अभिन्न है। मिट्टी में पहले से ही रहता है, किन्तु घटाकार परिणति से पूर्व मिट्टी में घट की क्रिया नहीं हो सकती, इस अपेक्षा से घट मिट्टी से भिन्न भी है, घट मिट्टी में पहले से नहीं रहता।

जैन दर्शन अभेद दृष्टि के द्वारा सत्कार्यवाद और भेददृष्टि के आधार पर असत्कार्यवाद—इन दो वस्तुवादी दृष्टियों का समन्वय करता है। द्रव्य की अपेक्षा से वह सांख्य के सत्कार्यवाद को मानता है और पर्याय की अपेक्षा से वह नैयायिक के असत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। जैन इस दृष्टि में भी न्यायवैशेषिक और सांख्य के बीच समन्वय स्थापित करता है कि वह न्याय वैशेषिक के समान क्रिया को प्रायोगिक अर्थात् प्रयत्नजन्य भी मानता है और सांख्य के समान स्वाभाविक भी स्वीकार करता है।

जहाँ तक वेदान्त और बौद्ध दृष्टि का सम्बन्ध है, जैन इन दोनों की दृष्टि को एकान्त मानता है और यह मानता है कि पदार्थ ध्रुव भी है और परिणमनशील भी है। इसलिए जैन न तो वेदान्त की एकान्त नित्यता को स्वीकार कर सकता है और न बौद्ध की एकान्त परिणमनशीलता को स्वीकार कर सकता है। इसलिए उसका वेदान्त और बौद्ध से यह मौलिक भेद बना रहता है कि जहाँ वेदान्त और बौद्ध प्रत्ययवादी दर्शन है, वहाँ जैन वस्तुवादी दर्शन है। इसलिए पंडित सुखलालजी का कहना है कि “प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी जैन दृष्टि का स्वरूप एकान्ततः वस्तुवादी ही है।”⁵⁶ तथापि जैन दृष्टि का नय सिद्धान्त इतना व्यापक है कि प्रत्ययवादी भी इसकी पकड़ से बाहर नहीं रहता। संग्रहनय की दृष्टि से परमार्थ का विश्लेषण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—“एक ऐसी भी स्थिति है, जहाँ प्रमाण, नयनिक्षेप आदि कुछ भी काम नहीं करते, वहाँ द्वैत भी प्रतीति में नहीं रहता।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमणम्, क्वचिदपि च न विघ्नो याति निक्षेप चकम् ।

किमधिकमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्गकषेहास्मिन् अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।⁵⁷

इसी आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ का कथन है—जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। इसलिए वह केवल द्वैतवादी नहीं है। वह अद्वैतवादी भी है। उसकी दृष्टि में द्वैत और अद्वैत दोनों की संगति है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् के भगवती सूत्र में सोमिल द्वारा पूछे गए प्रश्नों के भगवान महावीर द्वारा दिये गए उत्तरों की सुन्दर ढंग से व्याख्या करते हुए अनेकान्त के सिद्धान्त की पुष्टि की है। अनेकान्तवाद की पुष्टि करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने महावीरस्तव ग्रंथ में बताया है कि “हे वीतराग! इस जगत् में त्रिगुणात्मक प्रधान प्रकृति में परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकार करने वाले सांख्य,

विविध आकार वाली बुद्धि का निरूपण करने वाले बौद्ध, उसी प्रकार अनेक प्रकार के चित्रवर्ण वाला चित्ररूप को स्वीकार करने वाले नैयायिक तथा वैशेषिक आपके मत की निंदा कर सकते हैं।³⁸ अर्थात् उनको अपना मत मान्य रखना है तो वे अनेकान्त का अपलाप कर सकते हैं।

यद्यपि सभी दर्शनों में अनेकान्त की दृष्टि विद्यमान है, क्योंकि उसके बिना वस्तु की समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती। अनेकान्त सहिष्णुता का दर्शन है। जीवन में अनेक विरोधी प्रश्न आते हैं। उनका समाधान अनेकान्त में खोजा जा सकता है। हम अनेकान्त दृष्टि के द्वारा विरोधी धर्मों को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं तो उसका समाधान उपलब्ध हो जाता है एवं सत्य के द्वार स्वतः उद्घाटित हो जाते हैं। मनुष्य अनेकान्त को समझे और इसके अनुरूप आचरण करे तो युगीन समस्याओं का समाधान पा सकता है। जैन दर्शन ने इस सिद्धान्त का व्यापक रूप से अपने ग्रंथों में प्रयोग किया है। अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन के नाम से प्रख्यात है या जैन दर्शन का आधार अनेकान्तवाद है। यह यथार्थ है।

अनेकान्तवाद का स्वरूप

यह जगत् जैसा दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा ही है अथवा तद्भिन्न है? इस प्रश्न के समाधान में विभिन्न दार्शनिक धाराओं का उद्भव हुआ। उन धाराओं को हम मुख्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रत्ययवाद एवं वस्तुवाद। ये दोनों शब्द आधुनिक दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त होते हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन साहित्य में सदृश अर्थव्यंजक शब्द ढूँढना चाहें तो वस्तुवाद के लिए बाह्यार्थवाद एवं प्रत्ययवाद के लिए ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शून्याद्वैत एवं शब्दाद्वैत का समन्वित प्रयोग कर सकते हैं। सम्पूर्ण अद्वैतवादी अवधारणा का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रत्ययवाद शब्द है, ऐसा कहा जा सकता है।

वस्तुवाद

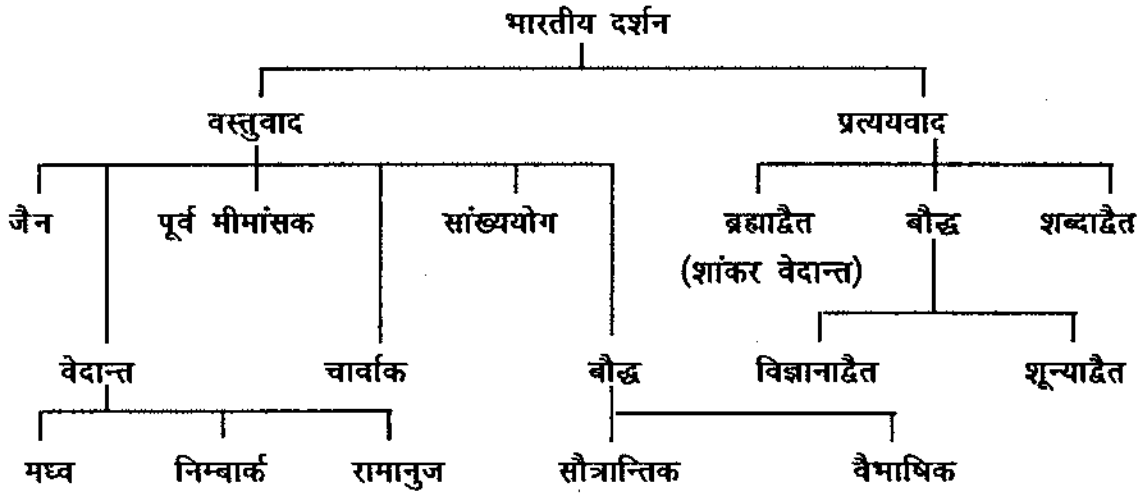
वस्तुवाद के अनुसार सत् को बाह्य, आभ्यन्तर, पारमार्थिक, व्यावहारिक, परिकल्पित, परिनिष्पन्न आदि भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। सत्य सत्य ही है, उसमें विभाग नहीं होता। प्रमाण में अवभासित होने वाले सारे तत्त्व वास्तविक हैं तथा उन तत्त्वों को वाणी के द्वारा प्रकट भी किया जा सकता है।³⁹ इन्द्रिय मन एवं अतीन्द्रियज्ञान इन सब साधनों से ज्ञात होने वाला प्रमेय वास्तविक है। इन साधनों से प्राप्त ज्ञान में स्पष्टता-अस्पष्टता में न्यूनाधिकता हो सकती है किन्तु इनमें से किसी एक प्रकार के ज्ञान द्वारा दूसरे प्रकार के ज्ञान का अपलाप नहीं किया जा सकता।

प्रत्ययवाद

प्रत्ययवादी अवधारणा के अनुसार जो दृश्य जगत् है, वह वास्तविक नहीं है। पारमार्थिक सत्य इन्द्रियग्राह्य नहीं है तथा उसको वाणी के द्वारा अभिव्यक्त भी नहीं किया जा सकता।⁴⁰ अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा गृहीत सूक्ष्म तत्त्व ही वास्तविक है। स्थूल जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

भारतीय दर्शनों का विभाजन

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों को प्रत्ययवाद एवं वस्तुवाद—इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, जो निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट है—



प्रत्ययवादी

1. ब्रह्माद्वैत—ब्रह्माद्वैत के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है।⁴¹ यहाँ नानात्व नहीं है।⁴² ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है; जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। ब्रह्म-सत्यं जगन्मिथ्या। स्वप्न, मृगमरीचिका—ये प्रातिभासिक सत् हैं। पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक के भेद से सत् वेदान्त में त्रिधा विभक्त हो जाता है। नित्यता ही सत्य है। परिवर्तन काल्पनिक मिथ्या है।

2. विज्ञानाद्वैतवाद (बौद्ध)—विज्ञानाद्वैतवाद के अनुसार दृश्य जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण विश्व विज्ञानमय है। विज्ञान ही बाह्य पदार्थ के आकार में अवभासित हो रहा है।⁴³ वास्तव में विज्ञान एकरूप ही है। बुद्धि का न तो कोई ग्राह्य है और न कोई ग्राहक है। ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित बुद्धि स्वयं ही प्रकाशित होती है।

3. शून्याद्वैतवाद—इसका अपर नाम माध्यमिक भी है। इस दर्शन की अवधारणा के अनुसार शून्य ही परमार्थ सत् है। यहाँ शून्य का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु शून्य का अर्थ है—तत्त्व की अवाच्यता। शून्य सत्, असत्, उभय एवं अनुभय रूप नहीं है। वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है।⁴⁴

बौद्धदर्शन में भी संवृत्ति सत् एवं परमार्थ सत् के भेद से सत् को द्विधा विभक्त स्वीकार किया है।⁴⁵ भगवान बुद्ध ने इन दो सत्तों का आश्रय लेकर ही धर्म की देशना प्रदान की थी। बौद्ध दर्शन में परिकल्पित, परतन्त्र एवं परि-निष्पन्न के रूप में सत् तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है।⁴⁶ इन तीनों में परिनिष्पन्न ही पारमार्थिक, वास्तविक सत् है। अवशिष्ट दो सत् तो मात्र व्यवहार के संचालन के लिए स्वीकृत हैं। माध्यमिक संवृत्ति सत् एवं परमार्थ सत् को स्वीकार करते हैं। योगाचार विज्ञानवादी सत् को परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न कहते हैं।

बौद्ध दर्शन की दो विचारधाराएँ—विज्ञानवाद एवं शून्याद्वैतवाद प्रत्ययवादी है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ये दार्शनिक स्थूल जगत् की सत्ता को संवृत्ति, परिकल्पित या परतन्त्र कहकर वास्तविक की कोटि में उसे परिगणित नहीं करते हैं अपितु इस जगत् से भिन्न शून्य अथवा विज्ञान ही इतने विचार में पारमार्थिक सत् हैं। यही प्रत्ययवादी की अवधारणा का मूल आधार है। सम्पूर्ण प्रत्ययवादी विचारधारा में भले ही वह वेदान्त आधारित है अथवा बौद्धदर्शन सम्मत, उसमें तत्त्व का अद्वैत है। तत्त्व का अद्वैत ही प्रत्ययवाद का आधार है।

वस्तुवादी विचारक

1. चार्वाक—चार्वाक दर्शन पांच या चार भूतों की ही वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। चेतना चार भूतों के विशिष्ट प्रकार के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है। इन्द्रिय ज्ञान ही वास्तविक है।⁴⁷ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से प्राप्त प्रमेय को ही यह वास्तविक मानता है। भारतीय दर्शन में यही एक ऐसा दर्शन है, जो सूक्ष्म, इन्द्रिय ज्ञान से परे के तत्त्वों को स्वीकार नहीं करता।

2. वैभाषिक (बौद्ध)—इनके अनुसार बाह्य पदार्थ की वास्तविक सत्ता है। ये बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।⁴⁸ वैभाषिक के अनुसार बाह्य जगत् हमारे प्रत्यक्ष का विषय बन सकता है।

3. सैत्रान्तिक (बौद्ध)—बौद्धों की यह विचारधारा भी बाह्य अर्थ की वास्तविक सत्ता स्वीकार करती है। इनके अनुसार पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, वह अनुमानगम्य है।⁴⁹

यह दर्शन भी वस्तुवादी है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष—ये दो मूल तत्त्व हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। प्रकृति सम्पूर्ण बाह्य जगत् का मूल कारण है। प्रकृति से महत् आदि तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। पुरुष सहित यह दर्शन पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता है।⁵⁰ सांख्य का पुरुष, अमूर्त, चेतन एवं निष्क्रिय है। विश्व के निर्माण व संचालन में इसकी कोई सम्भागिता नहीं है।

न्याय-वैशेषिक—न्याय दर्शन प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्वों को स्वीकार करता है तथा इन तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति होती है।⁵¹ वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय—ये छह पदार्थ मानता है। बाह्य जगत् की वास्तविक सत्ता है। बाह्य जगत् के उपादान कारण परमाणु हैं। ईश्वर जगत् का निर्माता है। जगत् संरचना का निमित्त कारण है।

पूर्व मीमांसा—कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर की ये दो पूर्व मीमांसीय परम्पराएँ हैं। दोनों ही वस्तुवादी हैं। प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और सांख्य नाम वाले आठ पदार्थ स्वीकार करता है। भट्ट परम्परा में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव—ये पाँच पदार्थ स्वीकृत हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं। इनके विस्तार से तत्त्वों की संख्या नौ हो जाती है। उपर्युक्त वर्णित सारे दर्शन वस्तुवादी हैं। ये बाह्य पदार्थ की वास्तविक सत्ता स्वीकार करते हैं।

प्रत्ययवादी अन्तरंग जगत् को स्वीकार कर बाह्य का निषेध कर देता है। जैन दर्शन की प्रकृति अनेकान्तवादी है। अनेकान्त अपनी प्रकृति के अनुसार बाह्य एवं अन्तर जगत् को स्वीकृति प्रदान करता है। जैन दर्शन प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी एकान्ततः वस्तुवादी है।⁵² ऐसा पण्डित सुखलाल का मन्तव्य है। किन्तु जैनदर्शन के अनेकान्तवादी प्रकृति होने के कारण प्रत्ययवादी एवं वस्तुवादी इन दोनों धाराओं में समन्वय करने में उसे कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। आगमकाल से लेकर अद्यप्रभृति जैन विचारकों के विचारों से भी हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि हो रही है। आचारांग तो ऐतिहासिक एवं कालक्रम से भी सबसे प्राचीन आगम है, उस आगम के अनेक स्थलों पर प्रत्ययवाद की अनुगूँज स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। परमात्म स्वरूप के विश्लेषण में आचारांग घोषणा कर रहा है कि परमात्मा शब्द का विषय नहीं बन सकता। सारे स्वर वहाँ से लौट आते हैं। परमात्मा न तर्कगम्य है, न ही बुद्धिग्राह्य है।⁵³ उसका बोध करने के लिए कोई उपमा नहीं है। पुरुष जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है। तुम्हारे से भिन्न दूसरा कोई नहीं है।⁵⁴

एगे आया ठाणं सूत्र⁵⁵ का यह वक्तव्य भी हमारा ध्यान ब्रह्मद्वैतवाद की तरफ आकर्षित करता है। जैन की विचारसरणी नयात्मक है अतः संग्रहनय की दृष्टि से आत्मा के एकत्व की स्वीकृति है।

उपाध्याय यशोविजय के अनुसार जैन दृष्टि में उपयोग सब आत्माओं का सदृश लक्षण है अतः उपयोग की दृष्टि से आत्मा एक है।

निश्चयनय के पुरुष्कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि केवलज्ञानी सब कुछ जानता है, वह व्यवहारनय की वक्तव्यता है। निश्चयनय से तो केवलज्ञानी अपनी आत्मा को ही जानते हैं।⁵⁶

समयसार की आत्मख्याति टीका के रचनाकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि आत्मा का अनुभव हो जाने पर द्वैत दृष्टिपथ में ही नहीं आता है।⁵⁷

भगवान महावीर के उत्तरकाल में भी आत्मतत्त्व का एकत्व एवं नानात्व प्रतिपादित होता रहा है। आचार्य अकलंक ने नाना ज्ञान स्वभाव की दृष्टि से आत्मा की अनेकता और चैतन्य के एक स्वभाव की दृष्टि से उसकी एकता का प्रतिपादन किया है।⁵⁸ इसी बात की पुष्टि करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने अपने ग्रंथों में आत्मा की तीन अवस्थाओं का चित्रण किया है।

अध्यात्मसार,⁵⁹ योगावतारद्वात्रिंशिका,⁶⁰ अध्यात्मपरीक्षा⁶¹ आदि ग्रंथों में उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन त्रिविध आत्मा की चर्चा की है।

ठाणं सूत्र के भाष्य में अपने मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा—जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, इसलिए वह केवल द्वैतवादी नहीं है और केवल अद्वैतवादी की संगति नहीं है। इन दोनों की सापेक्ष संगति है।⁶² अतः जैन को निर्विवाद रूप से प्रत्ययवादी वस्तुवादी माना जा सकता है।

भारतीय दर्शनों की प्रमुख विचारधाराओं का समावेश प्रत्ययवाद एवं वस्तुवाद में हो जाता है। वैसे ही कुछ अन्य चिन्तकों ने उसे नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि विभागों में समाहित किया है। मूढ न्य जैन विद्वान् पण्डित सुखलालजी ने नित्य एवं अनित्य इन दो अवधारणाओं को पांच भागों में विभक्त करके इनमें सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों को समाविष्ट किया है। उनके मतानुसार ये पांच विभाग निम्नलिखित हैं⁶³—

(All) Philosophical Systems can broadly be divided into five classes, viz. :

(i) Doctrine of absolute permanence (Keval Nityatvavad)

(ii) Doctrine of absolute change (Keval Anityatvavad)

(iii) Doctrine of changing permanent (Parinami Nityatvavada)

(iv) Doctrine of the changing and the permanent (Nitya-nitya-ubhyavada) and

(v) Doctrine of permanence coupled with change (Nitya-nityatmakavad).

सुखलालजी के अनुसार ब्रह्मवादी वेदान्त प्रथम विभाग में, बौद्ध द्वितीय, सांख्य तृतीय, न्याय-वैशेषिक चतुर्थ एवं जैन पांचवें विभाग के अन्तर्गत आते हैं।

भारतीय दर्शनों का ऐसा ही विभाग Jain Theories of Reality and Knowledge में Dr. Y.J. Padmarajal ने किया है। उन्होंने नित्य-अनित्य के स्थान पर अभेद एवं भेद शब्द का प्रयोग किया है।⁶⁴

In surveying the field of Indian philosophy from the point of view of the problem of the nature of reality we may adopt as our guiding principle the following five-fold classifications which includes within its scope the different school of philosophical thought in term of their adherence unequal or equal proportion.

डॉ. रज्जैया ने सुखलालजी के विभाग को ही स्वीकृत किया है। इन्होंने भर्तृप्रपंच, भास्कर, रामानुज और निम्बार्क दर्शन का समाहार तृतीय विभाग में तथा मध्य के द्वैतवाद को चतुर्थ विभाग में रखा है। इन दोनों विद्वानों ने पूर्वमीमांसा दर्शन का स्पष्ट रूप से किसी विभाग में समावेश नहीं किया है। पूर्वमीमांसा के प्रमेय विवेचन का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उसकी प्रमेय मीमांसा जैन वस्तुवाद के सदृश है। पूर्व मीमांसा भी वस्तु को उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त त्रयात्मक स्वीकार करता है। वस्तु की त्रयात्मकता की सिद्धि से वह वर्धमान, रुचक एवं स्वर्ण का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।⁶⁵ उपाध्याय यशोविजय एवं जैन दार्शनिकों ने भी वस्तु की त्रयात्मकता की सिद्धि में शब्दभेद से यही उदाहरण प्रस्तुत किया है,⁶⁶ जो अनेकान्त व्यवस्था एवं श्लोकवार्तिक के सन्दर्भ में विमर्शनीय है। श्लोकवार्तिक में वस्तु को अनेकान्तवाद कहा है।⁶⁷ जैन चिन्तक भी वस्तु को अनेकान्तात्मक कहते हैं।⁶⁸

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर पूर्व मीमांसा को पांचवें विभाग से समाहित किया जा सकता है। यद्यपि यह सुखलालजी का मन्तव्य है कि पूर्वमीमांसा का उत्पाद, स्थिति, भंगवाद चेतन का स्पर्श करता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।⁶⁹ इस अवधारणा को यदि स्वीकार किया जाए तो इस दर्शन का अन्तर्भाव सांख्य वाले तीसरे विभाग में होता है किन्तु उपलब्ध तथ्यों में पूर्व मीमांसा के अनुसार चेतन में परिमाण नहीं होता, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता अपितु श्लोकवार्तिक में स्वर्ण की अवस्थाओं में भेद की तरह पुरुष की अवस्थाओं में भिन्नता का उल्लेख किया गया है।⁷⁰

आत्मा न अपनी अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न ही। कथंचित् भिन्न भी है, कथंचित् अभिन्न भी। जैसे कुण्डल स्वर्ण से न सर्वथा भिन्न होता है, न सर्वथा अभिन्न ही।⁷¹

इससे ज्ञात होता है कि चेतन में परिणमन हो रहा है, अतः इस दर्शन का समावेश पंचम विभाग में करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सभी भारतीय पाश्चात्य दर्शनों का वर्गीकरण नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि तरह की वस्तु के अन्य धर्म सामान्य-विशेष, एक-अनेक, द्रव्य-पर्याय आदि के आधार पर भी किया जा सकता है।

जैन दर्शन में वस्तु का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहकर उसके अस्तित्व को ही नकार दिया। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक सत्य मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लिया। जैन न्याय के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों पारमार्थिक सत्य हैं। हमारा ज्ञान जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित रहता है और पर्याय गौण हो जाता है और जब ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय प्रधान एवं द्रव्य गौण हो जाता है।⁷² जैन दर्शन के अनुसार वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। यही बात उपाध्याय यशोविजय ने नयरहस्य ग्रंथ में बताई है।⁷³

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य एवं विशेष का परस्पर अविनाभाव है। ये एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते अर्थात् एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। विशेष से रहित

सामान्य एवं सामान्य से रहित विशेष विषाण की तरह अयथार्थ है।⁷⁴ सामान्य विशेष का सहअस्तित्व है। ये एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पर्याय रहित द्रव्य एवं द्रव्य रहित पर्याय सत्य नहीं है।⁷⁵

अनेकान्त का तात्त्विक आधार

वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, यह महत्त्वपूर्ण स्वीकृति नहीं है। जैन दर्शन का यह महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है कि एक ही वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं। अनेकान्त सिद्धान्त के उत्थान का आधार एक ही वस्तु में युगपत् विरोधी धर्मों के सहावस्थान की स्वीकृति है। वस्तु का द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप ही अनेकान्त के उद्भव का मूल स्रोत है। यदि वस्तु विरोधी धर्मों की समन्विति नहीं होती तो अनेकान्त की भी कोई अपेक्षा नहीं होती चूँकि वस्तु वैसी है अतः अनेकान्त की अनिवार्य अपेक्षा है। अनेकान्त के उद्भव का मूल स्रोत वस्तु की विरोधी अनन्त धर्मात्मकता ही है।

सत् की परिभाषा

भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने कहा जो उत्पन्न, नष्ट एवं स्थिर रहता है, वही सत्य है।⁷⁶ आचार्य उमास्वाति के शब्दों में भी यही सत्य अनुगूजित है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।⁷⁷ सत् अनेक धर्मों का समुदाय मात्र नहीं है किन्तु परस्पर विरोधी होने वाले अनेक धर्मों का आधार है। अनेकान्त उस वस्तु की व्याख्या करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार एक ही वस्तु सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य, अनित्य स्वभाव वाली है। ऐसी एक ही वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी शक्तियुक्त धर्मों को प्रकाशित करनेवाला अनेकान्त है।⁷⁸ वस्तु सत् ही है, असत् ही है। इस प्रकार के एकान्तवाद को निरसित करने वाला अनेकान्त है।⁷⁹ ऐसा उपाध्याय यशोविजय का मन्तव्य है।

अन्य दर्शनकृत सत् का लक्षण महोपाध्याय यशोविजय ने नहरहस्य ग्रंथ में इस प्रकार दिया है—
सदविशिष्ट मेव सर्व।⁸⁰

वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व

एकान्त द्रव्यवाद, एकान्त पर्यायवाद एवं निरपेक्ष द्रव्य एवं पर्यायवाद के आधार पर वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि एकान्त एवं निरपेक्ष द्रव्य या पर्याय में अर्थक्रिया ही नहीं हो सकती और वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया है।⁸¹ जब क्रम या अक्रम से वस्तु में अर्थक्रिया घटित ही नहीं हो सकती⁸² तब उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। इस प्रसंग में अन्य दार्शनिकों का आक्षेप है कि जो दोष एकान्त नित्यपक्ष अथवा क्षणिकपक्ष में उपस्थित होते हैं, वे ही दोष द्विगुणित होकर जैन वस्तुवाद पर क्यों नहीं आते?⁸³ उपाध्याय यशोविजय इस मर्म का समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि जैन मान्य वस्तु का स्वरूप कोरा उभयरूप होता तो इन दोषों का अवकाश वहाँ हो सकता था किन्तु जैन की वस्तु न द्रव्यरूप है, न पर्यायरूप एवं न ही उभयरूप है। वह तो नित्य-नित्यात्मक स्वरूप जात्यन्तर है।⁸⁴ एक नई प्रकार की वस्तु की स्वीकृति जैन दर्शन में है अतः वस्तुवाद पर किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं हो सकता। धवलाकार ने तो अनेकान्त को ही जात्यन्तर कहा है।⁸⁵ वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

इसका तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि वस्तु में सामान्य एवं विशेष नामक विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं अपितु इस कथन का एकपर्याय यह है कि ये विरोधी धर्म एकरसीभूत अर्थात् एकात्मक रूप में रहते हैं। एक नई वस्तु जात्यन्तर के रूप में जैन दर्शन को मान्य है।

जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ में वस्तुगत भेद नहीं है। उसमें मात्र ज्ञानगत भेद है। अनुगत आकार वाली बुद्धि सामान्य एवं व्यावृत्त आकार वाली बुद्धि विशेष का बोध कराती है। बुद्धि से ही वस्तु की द्वयात्मकता सिद्ध होती है।⁸⁶ सामान्य विशेषात्मक स्वरूप वाला प्रमेय तो एक ही है।⁸⁷ वस्तु में कोई विभाग नहीं होता। वह अभिन्न है। ज्ञान से वह द्विधा विभक्त है तथा नय से उसका कथन होता है।⁸⁸

जैन दर्शन के अनुसार प्रमेय का स्वरूप ही द्वयात्मक है किन्तु उसको विभक्त नहीं किया जा सकता। वस्तु में रहने वाले विरोधी धर्म युगपत् एकता एवं एकात्मक होकर ही वस्तु में अस्तित्व को बनाए रखते हैं।

मीमांसा दर्शन में वस्तु को उत्पाद-भंग-स्थिति लक्षण त्रयात्मक स्वीकार किया है। उनके अनुसार वस्तु अनेकान्तात्मक है, जिसकी चर्चा आगे हो चुकी है।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में हिगल द्वारा मान्य वस्तु की अवधारणा जैन वस्तुवाद के बहुत समीप प्रतीत होती है। उनके अनुसार अस्तित्व एवं नास्तित्व दोनों साथ मिलकर ही वस्तु के स्वरूप का निर्माण करते हैं।⁸⁹

अनेकान्त का तार्किक आधार

अविनाभाव हेतु

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के स्वरूप में विरोधी धर्मों की सहज अवस्थिति है, यह स्पष्ट हो चुका है। वैचारिक जगत् की यह सामान्य अवधारणा है कि दो विरोधी धर्म एकत्र नहीं रह सकते। अस्तित्व-नास्तित्व परस्पर विरोधी हैं अतः उनका सहावस्थान सम्भव नहीं है। इसके विपरीत जैन दर्शन के अनुसार विरोधी धर्मों के सहावस्थान से ही वस्तु का वस्तुत्व बना हुआ है। द्रव्य का द्रव्यत्व बनाए रखने के लिए विरोधी धर्मों का सहभाव होना अत्यन्त अपेक्षित है। अस्ति-नास्ति का परस्पर अविनाभाव है। वे एक-दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते। आचार्य समन्तभद्र ने इनके अविनाभाव का निरूपण करते हुए कहा है कि एक ही वस्तु के विशेषण होने से अस्तित्व, नास्तित्व एवं अस्तित्व-नास्तित्व का अविनाभावी है। जैसा साधर्म्य एवं वैधर्म्य में अविनाभाव होता है, वैसा ही परस्पर इनमें है।⁹⁰

विवक्षा हेतु

प्रधानता एवं गौणता से एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों की सहावस्थिति युक्तिसंगत है।⁹¹ वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसके प्रत्येक धर्म का अर्थ भिन्न है। वस्तु के धर्मों में स्थल-प्रधानता एवं गौणता नहीं होती किन्तु वक्ता की विवक्षा से वे धर्म प्रधान या गौण बन जाते हैं। वस्तु का प्रत्येक धर्म अन्य धर्मों को गौण करके सम्पूर्ण सत्ता को प्रतिपादित कर सकता है। जिस धर्म की विवक्षा होती है, वह प्रधान एवं शेष धर्म उसके अंग बन जाते हैं।⁹²

स्वचतुष्टय-परचतुष्टय

अस्तित्व विधि है और नास्तित्व प्रतिषेध है। अस्तित्व का हेतु वस्तु का स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है एवं नास्तित्व का हेतु परद्रव्य क्षेत्र आदि है। घट पदार्थ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा

अस्तिरूप एवं परद्रव्यक्षेत्र आदि की अपेक्षा नास्तिरूप है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाये तो वस्तु की व्यवस्था ही नहीं हो सकती।⁹³

वस्तु स्वरूपशून्य नहीं है इसलिए विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नहीं है इसलिए निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है। स्वद्रव्य की अपेक्षा घट का अस्तित्व है, यह विधि है। परद्रव्य की अपेक्षा घट का नास्तित्व है, यह निषेध है। इसका अर्थ ऐसा अभिव्यजित होता है कि दूसरे के निमित्त से होने वाला पर्याय है किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य यदि अस्तित्व धर्मा हो और नास्तित्व धर्मा न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध पर की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, इसलिए उसे आपेक्षिक या पर-निर्मितक पर्याय कहते हैं। घट सापेक्ष है अतः उसका अस्तित्व एवं नास्तित्व युगपत् है।⁹⁴ इसी बात की पुष्टि करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने न्यायालोक में बताया है।⁹⁵

विरोधी का समाहार

अस्तित्व-नास्तित्व विरोधी होते हुए भी एक ही वस्तु में अविनाभाव से युगपत् रहते हैं। एकान्त अस्तित्ववादी एवं एकान्त नास्तित्ववादी दर्शनों का मन्तव्य है कि दोनों एक साथ नहीं रह सकते। पदार्थ के अनुभव के द्वारा दोनों की एक साथ प्रतीति होने पर भी ये एक को मिथ्या कहकर अस्वीकार करते हैं। वेदान्त अस्तित्व को एवं बौद्ध नास्तित्व को यथार्थ स्वीकार करते हैं।

अनेकान्त सिद्धान्त को जैनेतर ग्रंथों में विरोधी धर्मों के सहावस्थान के कारण ही समीक्षा हुई है। अनेकान्त की समीक्षा बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र में नैकस्मिन्न-सम्भवात्⁹⁶ कहकर की गई है। अर्थात् एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों का सहावस्थान सम्भव नहीं है अतः अनेकान्त सिद्धान्त दोषमुक्त नहीं है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार ने भी एक ही धर्मों में युगपत् विरोधी धर्मों के अवस्थान को असम्भव बताया है।⁹⁷ बौद्ध विद्वान् कमलशील ने भी इसी तर्क के आधार पर एकत्र विरोधी धर्मों के अवस्थान को अस्वीकार किया है।⁹⁸ और इसी कारण उनको अनेकान्त सिद्धान्त संगत प्रतीत नहीं हो रहा है। ये दोनों ही सिद्धान्त व Priori Logic के समर्थक हैं।

जैन तार्किकों का मन्तव्य है कि वस्तु स्वरूप का निर्णय अनुभव निरपेक्ष तर्क से नहीं हो सकता। उसका निर्णय अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। अनुभव में वस्तु का स्वरूप उभयात्मक प्रतिभासित होता है। हमें तर्क के आधार पर वस्तु के स्वरूप का अपलाप नहीं करना चाहिए किन्तु अनुभव से प्राप्त तथ्यों को तर्क के द्वारा व्यवस्थित करना ही औचित्यपूर्ण है।

जैन तार्किकों का यह मन्तव्य है कि वस्तु का अभेदमात्र अथवा भेदमात्र मानने वालों को भी अनुभव को तो अवश्य स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वस्तु की व्यवस्था प्रतीति के द्वारा ही होती है।⁹⁹ नील, पीत आदि पदार्थों की व्यवस्था संवेदन के द्वारा ही होती है अतः विरोध में भी संवेदन ही प्रमाण है।¹⁰⁰ अर्थात् अनुभव के द्वारा अस्ति-नास्ति विरोधी धर्म एक ही वस्तु में रहते हैं। यह यथार्थ है। घट, मुकुट एवं स्वर्ण में भेद को अवभासित करने वाला ज्ञान स्पष्ट रूप से हो रहा है। वस्तु की व्यवस्था संवेदनाधीन है।¹⁰¹ इसमें विरोध की गंध का भी अवकाश नहीं है।

मीमांसा दर्शन ने भी वस्तु व्यवस्था में अनुभव को ही प्रमाण माना है। शांकरभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब तर्क एवं पदार्थ के अनुभव में से किसी एक का त्याग करना हो तो तर्क का

ही त्याग करना चाहिए, किन्तु जो प्रत्यक्ष में वस्तु दृष्टिगोचर हो रही है, उसका अपहृत करना संगत नहीं है।¹⁰²

प्रत्ययवादी दार्शनिकों का यह अभ्युपगम विचारणीय है कि भेद और अभेद एक-दूसरे का परिहार करके ही वस्तु में रहते हैं अतः इन दोनों में कोई एक ही वस्तु में रह सकता है। अस्तित्व-नास्तित्व एक साथ वस्तु में रहते हुए स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं अतः प्रत्ययवादी दार्शनिकों का अभ्युपगम यथार्थ से परे है। यदि यह कहा जाए कि उनमें परस्पर विरोध है, अतः ये साथ में नहीं रहते हैं, यह कथन भी तर्कपूर्ण नहीं है, क्योंकि विरोध अभाव के द्वारा साध्य होता है।¹⁰³ अनुपलब्धि हेतु से घोड़े के सिर पर सींग नहीं है, यह माना जा सकता है किन्तु अस्तित्व एवं नास्तित्व का सह-उपलम्भ हो रहा है तब उनका निषेध नहीं किया जा सकता। वस्तु के स्वरूप में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। इस प्रकार का वस्तु का मिश्रित स्वरूप जैन के अतिरिक्त नैयायिक, सांख्य एवं मीमांसक ने भी स्वीकार किया है। किन्तु इस तात्त्विक सिद्धान्त के तार्किक पक्ष का विस्तार केवल जैनों ने ही किया है, जिसके परिणामस्वरूप विचार के नियमों के मूल्यांकन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।¹⁰⁴

अनेकान्त वस्तु के स्वरूप का निर्माण नहीं करता। वस्तु का स्वरूप स्वभाव से है। यह ऐसा क्यों है? इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। 'स्वभावे तार्किका भग्ना' वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसकी व्याख्या करना अनेकान्त का कार्य है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्मों का सहावस्थान है। किसी भी प्रमाण के द्वारा उनकी सहावस्थिति का अपलाप नहीं किया जा सकता। उभयात्मक वस्तु हमारी प्रतीति का विषय बनती है। अतः यह प्रमाण सिद्ध है कि वस्तु विरोधी धर्मों से युक्त है। अनेकान्त वस्तु के विरोधी धर्मों में समन्वय के सूत्रों को खोजने वाला महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। दार्शनिक एवं व्यावहारिक जगत् की समस्याओं का समाधायक है।

प्रतिपाद्य के निष्कर्ष

1. समग्र भारतीय चिन्तन प्रत्यवाद एवं वस्तुवाद—इन दो धाराओं में समाविष्ट हो जाते हैं।
2. जैन दर्शन का नय सिद्धान्त वस्तुवाद एवं प्रत्ययवाद—दोनों का समन्वय करता है।
3. पूर्वमीमांसा सम्मत वस्तु त्रयात्मक है अतः उसकी जैन वस्तुवाद से सदृशता है।
4. वस्तु में विरोधी धर्मों का सहावस्थान ही अनेकान्त का तात्त्विक आधार है।
5. जैन सम्मत वस्तु की नित्यानित्यात्मकता ही जात्यन्तर है।
6. एकान्त एवं निरपेक्ष सामान्य विशेष में आने वाले दोष जात्यन्तर वस्तु में नहीं आ सकते।
7. वस्तु की व्यवस्था संवेदन से ही हो सकती है।
8. विचार के नियम अनुभव सापेक्ष होकर ही सत्य की व्याख्या कर सकते हैं।
9. सभी दर्शनों ने किसी-न-किसी रूप में एकत्र विरोधी धर्मों को स्वीकार किया है।
10. सभी दार्शनिकों को विरोधी धर्मों की व्यवस्था सापेक्षता के आधार पर ही करनी पड़ती है।
11. अनेकान्त विरोधी धर्मों में समन्वय के सूत्रों का अन्वेषण करता है।

अनेकान्तवाद का महत्त्व : समाज-व्यवस्था में अनेकान्त

विश्व का कोई भी व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ या दृष्टान्त अनेकान्तवाद के बिना नहीं घटता है। ऐसा जैन दर्शन का मानना है। अन्य दर्शनकारों ने भी किसी-न-किसी रूप में अनेकान्तवाद का आशरा लिया ही है—

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहा वा निव्वडई।

तरस भुवणेककगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।¹⁰⁴

व्यावहारिक जगत् में अनेकान्तवाद के महत्त्व को दर्शाते हुए सिद्धसेन दिवाकर भी कहते हैं—
में उस अनेकान्तवाद को नमस्कार करता हूँ, जिसके बिना इस संसार का व्यवहार भी संचालित नहीं हो सकता है। सत्य प्राप्ति की बात तो दूर, अनेकान्त के अभाव में समाज, परिवार आदि के सम्बन्धों का निर्वाह भी सम्यक् रूप से नहीं हो सकता है। अनेकान्त सबकी धुरी में है। इसलिए वह समूचे जगत् का एकमात्र गुरु और अनुशास्ता है। सारा सत्य और सारा व्यवहार उसके द्वारा संचालित हो रहा है। अनेकान्त त्राण है, शरण है, गति है और प्रतिष्ठा है।

जैनदर्शन का प्राणतत्त्व अनेकान्त है। जैसे अनेकान्त का दार्शनिक स्वरूप एवं उपयोग है, वैसे ही जीवन के व्यावहारिक पहलुओं से जुड़ी समस्याओं का समाधान भी हम अनेकान्त के आलोक में प्राप्त कर सकते हैं। भगवान महावीर का उद्घोष रहा—आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त का प्रकाश हो। अहिंसा अनेकान्त का ही व्यावहारिक पक्ष है। अनेकान्त अर्थात् वस्तु को सत्य के अनेक पहलुओं से देखना एवं समझना। वीतराग, सम्यग्दर्शन—ये अनेकान्त के ही समानार्थी हैं।

सत्य एक रूप है पर उसका प्रतिपादन अनेक रूप से हो रहा है। सत् की दृष्टि से देखने पर वह प्रतिपादन परस्पर सर्वविरोधी प्रतीत होता है किन्तु अनेकान्त के आलोक में देखने से समस्या समाहित होती है।

व्यक्ति पारिवारिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि अनेक सम्बन्धों में जुड़ा होता है। सामाजिक संबंधों का यही जाल जब अनेक रीतियों और नियमों से एक व्यवहार में परिवर्तित हो जाता है तब इसी व्यवस्था को हम समाज कहते हैं।

समाजवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव विकास के इतिहास से व्यक्ति ने समाज के द्वारा ही प्रगति की है, अतः समाज ही मुख्य है।

व्यक्तिवादी दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य समाज से बाहर का प्राणी है अथवा रह सकता है। इस मान्यता में यह विचार निहित है कि मनुष्य समाज में प्रवेश करने से पूर्व व्यक्ति विशेष है। ये अपनी सम्पत्ति, अधिकार, जीवन की सुरक्षा अन्य किसी इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं।

एक विचारधारा ने व्यक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है तो दूसरों ने समाज को। अनेकान्तवाद व्यक्ति एवं समाज दोनों की सापेक्ष व्याख्या करता है। व्यक्ति में वैयक्तिकता एवं सामाजिकता—इन दोनों के मूल सन्निहित हैं। समाज में भी व्यक्ति की वैयक्तिकता तथा उनका अभिव्यक्त होना व्यक्ति की सामाजिकता है। अतः व्यक्ति और समाज एक हैं और भिन्न भी हैं। व्यक्ति का

आधार संवेदना और समाज का आधार विनिमय है। अनेकान्त के आधार पर व्यक्ति एवं समाज की समाज एवं सापेक्ष मूल्यवत्ता की स्वीकृति ही इन समस्याओं से मुक्ति प्रदान कर सकती है।

व्यावहारिक पक्ष में अनेकान्तवाद

व्यवहार का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ अनेकान्तदृष्टि के बिना काम नहीं चलता है। परिवार के एक ही पुरुष को कोई पिता तो कोई पुत्र, कोई काका तो कोई दादा, कोई भाई, कोई मामा आदि नामों से पुकारता है। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न पारिवारिक संबंधों की इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

अनेकान्त वह सूत्र प्रदान करता है, जिससे भविष्य की सम्भावनाओं का आकलन कर अतीत से बोधपाठ लेते हुए वर्तमान में जीया जा सकता है। अनेकान्त भविष्य को अस्वीकार नहीं करता है, भूतकाल के पर्यायों को ध्यान में रखता है और दोनों को स्वीकार कर वर्तमान पर्याय के आधार पर व्यवहार का निर्णय करता है। जो व्यक्ति अनेकान्त को जानता है, वह कभी दुःखी नहीं होता। उसका लाभ-अलाभ, जय-पराजय, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मरण सभी के प्रति समभाव रहता है। वह अपना सन्तुलन नहीं खोता है।

डॉ. सागरमल जैन¹⁰⁶ लिखते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जो किसी एक तात्विक एकान्तवादी अवधारणा के आधार पर नहीं सुलझाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम एकान्त रूप से यह मान लें कि प्राणी प्रतिसमय परिवर्तनशील है, भिन्न हो जाता है तो आधुनिक शिक्षाप्रणाली में अध्ययन, परीक्षा, परिणाम आदि में एकरूपता नहीं होगी। यदि व्यक्ति क्षण-क्षण बदलता ही रहता है तो अध्ययन करने वाला, परीक्षा देने वाला और प्रमाण-पत्र प्राप्त करने वाले छात्र भिन्न-भिन्न होते। इस प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में असंगतियां होंगी। इसके विपरीत यह मान लें कि व्यक्ति में परिवर्तन नहीं होता, तो उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था निरर्थक होगी। इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि ही व्यवहार जगत् की समस्याओं का निराकरण करती है।

इसी प्रकार अनेकान्तदृष्टि के आधार पर जन-कल्याण को लक्ष्य में रखते हुए विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के मध्य संतुलन स्थापित करके पूरे विश्व में शांति की स्थापना की जा सकती है। अनेकान्तदृष्टि के कौटुम्बिक संघर्ष को भी टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण बनाया जा सकता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में बिना अनेकान्तदृष्टि को अपनाए सफल नहीं हुआ जा सकता है।

यंत्रों की अवधारणा में अनेकान्त

आज प्रौद्योगिकी का बहुत विकास हुआ है। मनुष्य प्रस्तर युग से परमाणु युग में पहुंच गया है। विज्ञान के विकास ने आज मनुष्यों को सुख-सुविधाओं के अनेक साधन प्रदान किये हैं। इस तथ्य को ओझल नहीं किया जा सकता। किन्तु विज्ञान का सदुपयोग बहुत कम हुआ है। उसका प्रयोग विध्वंसात्मक कार्यक्रमों में अधिक हो रहा है। यंत्रों ने मानवजाति को राहत से ज्यादा तनाव की जिन्दगी प्रदान की है। सारांश यह है कि समूची अर्थव्यवस्था, राजनैतिक एवं समाजतन्त्र यदि केवल एकांकी और भौतिक उपलब्धियों के आधार पर खड़े किये जायेंगे तो सर्वविनाश के सिवाय और कुछ चारा नहीं है। आज के समाजशास्त्रियों एवं अर्थशास्त्रियों ने कृत्रिम भूख को बढ़ाकर पूरे मानव समाज को संकट में डाल दिया। आवश्यकता की पूर्ति को उचित माना जा सकता है किन्तु कृत्रिम क्षुधा की शान्ति होना असम्भव है। कहा गया है—

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पांव के सैर।
मन की तृष्णा अमित है, गिलै मेर का मेर।।

मानव ने अपनी तृष्णा शान्ति के लिए प्रकृति का अंधाधुंध दोहन किया है। आगे आने वाली पीढ़ियों के अधिकार को छीन लिया है। पर्यावरण के सन्तुलन के सन्दर्भ में भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त अनर्थ दण्ड विरति व्रत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आवश्यक हिंसा को छोड़ा नहीं जा सकता है किन्तु अनावश्यक को रोका जा सकता है। अनेकान्त का चिन्तन है कि यन्त्रों का भी नियंत्रित विकास हो, जिससे सन्तुलन बना रहे। 15 कर्मादान विरति, 25 क्रियानिवृत्ति—ये पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र हैं।

राजनैतिक विचारों के हल में अनेकान्त

अनेकान्त का सिद्धान्त केवल दार्शनिक ही नहीं अपितु राजनैतिक दूरग्रहों को भी दूर करके विचारों को सुलझाता है। डॉ. सागरमल जैन¹⁰⁷ लिखते हैं कि आज के राजनैतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय हैं। मानव जाति ने राजनैतिक जगत् में राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है, उसकी सार्थकता स्याद्वाद दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस दुनिया में कोई पूर्ण नहीं, सभी अधूरे हैं, कोई निरपेक्ष नहीं, सभी सापेक्ष हैं, इसलिए एक-दूसरे के विचारों को समझकर उनका सम्मान करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। अनेकान्त का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जायेंगे। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। जो मुख्य होगा, वह दूसरों की अपेक्षा रख करके चलेगा। वह निरपेक्ष होकर नहीं चलेगा। सब उसके साथ जुड़े रहते हैं और वह सबको अपने साथ जोड़े रखता है।¹⁰⁸ अतः अनेकान्तवादी सबके विचारों को समझकर समय-समय पर उनका भी सम्मान करता है। अनेकान्तवाद में वह ताकत है कि वह दुश्मन को भी दोस्त बना लेता है। राज्य-व्यवस्था का मूल लक्ष्य जन-कल्याण है अतः अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक संतुलन स्थापित करके आपस के विचारों को समाप्त किया जा सकता है।

वैसे ही अर्थतंत्र, शिक्षा जगत्, वर्णव्यवस्था, न्यायालय के फैसलों में भी, विश्वशांति स्थापना में, झगड़ा शमन में भी अनेकान्तवाद का आश्रय लिया जाता है।

पारिवारिक संघर्षों में अनेकान्त

परिवार समाज की मुख्य इकाई है। इसके आधार पर ही समाज का निर्माण होता है। परिवार में व्यक्ति अनेक संबंधों में बंधा हुआ है। उन आपसी संबंधों में यदा-कदा खींचातान चलती रहती है। जीवन और वातावरण अशान्त बन जाता है।

प्रायः परिवार में संघर्ष भी एक-दूसरे के विचारों को नहीं समझने के कारण तथा अपने विचार को पकड़कर रखने के कारण होते हैं। फ्लैट को फर्नीचर से सजाने का काम तो पैसे कर देते हैं, परन्तु घर को प्रसन्नता से हरा-भरा बनाने का काम प्रेम के बिना सम्भव नहीं है। प्रेम अनेकान्तदृष्टि के बिना टिक नहीं सकता है। बैलगाड़ी के युग और कम्प्यूटर युग में विरोध तो है ही। पिता बैलगाड़ी के युग का और पुत्र कम्प्यूटर के युग का, सास जूनवाणी विचारों की और बहु आधुनिक विचारों की। अतः

प्रायः पिता-पुत्र और सास-बहू के बीच संघर्ष होते रहते हैं। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है और पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। यही स्थिति सास-बहू में होती है। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता है, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।¹⁰⁹ अनेकान्तवाद समस्याओं का महान् समाधान है। अनेकान्तवाद हर परिस्थिति, हर विचार के प्रत्येक पहलू पर विचार करने की उदार भावना को जन्म देता है। अनेकान्तवाद अन्य के विचारों को समझने का अवसर प्रदान करता है। अधिकार और कर्तव्य दोनों में भी सन्तुलन होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति केवल अपने अधिकार का उपयोग करना चाहे, और कर्तव्य नहीं निभावे तो भी संघर्ष उत्पन्न होता है। उसी प्रकार परिवार में प्रेम से रहने के लिए, परिवार का पालन करने के लिए केवल बुद्धि की ही नहीं बल्कि हृदय की भी आवश्यकता है। अनेकान्तवाद बुद्धि और हृदय में गाड़ी के दो पहियों की तरह सन्तुलन बनाए रखता है।

अन्य दर्शनकारों के मत से अनेकान्तवाद

भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न अनेक दर्शन प्रवर्तमान हैं। इसमें नैयायिक, बौद्ध, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक एवं चार्वाक दर्शन विशेष प्रसिद्ध हैं।

नैयायिक—एक ही पदार्थ में नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करते हैं, जैसे—घटाकाश एवं पटाकाश रूपी अनित्यता एवं आकाश रूपी नित्यता की सिद्धि होती है।

बौद्ध—मेचक ज्ञान में नील, पीत आदि चित्रज्ञान मानते हैं अर्थात् श्यामवर्ण के ज्ञान में नील, पीत आदि परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक ही चित्र ज्ञानस्वरूप स्वीकार्य है।

सांख्य—प्रकृति में प्रसाद, संतोष एवं दैन्य आदि अनेक विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करते हैं। सत्व, रजस् एवं तमस् आदि प्रकृति के भिन्न गुण हैं। इस तरह परोक्ष नीति से भी सांख्यों ने स्याद्वाद को स्वीकार किया है।

मीमांसक—प्रमाता, प्रमिति एवं प्रमेय का ज्ञान एक ही मानते हैं इसलिए मीमांसकों की भी अनेकान्तवाद की तरफ दृष्टि परिलक्षित होती है।

वेदान्त—कूटस्थ नित्य आत्मा को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएं प्राप्त होती हैं, ऐसा मानते हैं। यहाँ भी स्याद्वाद के ही दर्शन होते हैं।

वैशेषिक—द्रव्यरूप से घट नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है। इस तरह वो भी अनेकान्तवाद को मानते हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

इस तरह सार्वभौम के आलम्बन से सभी दर्शनकार अपने मन्तव्य की सुन्दर रक्षा करते हैं। किन्तु गौरव केवल अनेकान्तवाद को ही है, क्योंकि इसका मुख्य ध्येय सभी दर्शनों को समान भाव से देखकर समन्वय करना। जैसे सभी नदियों समुद्रों में मिलती हैं, वैसे ही सभी दर्शनों का समावेश अनेकान्तवाद में हो जाता है। इसलिए अनेकान्तवाद ने विश्व में सर्वोच्च, सर्वोत्तर स्थान प्राप्त किया है। नयों एवं सप्तभंगी में भी स्याद्वाद के दर्शन होते हैं।

स्याद्वाद सिद्ध के प्राचीन प्रमाणों को देखते हैं तो भी अनेकान्तवाद के महत्त्व का पता चल जाता है, जो निम्न है—

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि महाराज के रचित सिद्धहेम व्याकरणग्रंथ में सिद्धि स्याद्वादात् इस सूत्र की वृत्ति में दिखाया है कि—

एकस्यैय हि ह्रस्व दीर्घादिविधियोऽने—क कारक संनिपातः सामानाधिकरण्यम्, विशेषण विशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते ।।¹¹⁰

अर्थात् एक ही में ह्रस्व, दीर्घ आदि कार्यो, अनेक कारक का संबंध, सामानाधिकरण्य, विशेषण, विशेष्यभाव आदि होता है। उनका श्रेय अनेकान्तवाद को ही है।

और अधिक श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज इसी सूत्र की वृत्ति में स्वरचित अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका के 30वें श्लोक का प्रमाण दिया है—

अन्योन्य पक्ष प्रतिपक्षभावाद, यथा पदे मत्सरणिः प्रपादाः ।

नयान शेषान विशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तया ते ।।¹¹¹

इससे भी आगे हेमचन्द्र सूरि ने अयोगव्यवच्छेदक द्वात्रिंशिका के 28वें श्लोक में यहाँ तक किया है कि—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणा मुदारघोषामवघोषणा ब्रुवे ।

न वीतरागात् परमस्ति दैवत न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ।।¹¹²

सभी वादी के सामने हमारी उद्घोषणा है कि वीतराग के सिवाय कोई श्रेष्ठ देव नहीं है और अनेकान्त के सिवाय अन्य कोई श्रेष्ठ नयस्थिति नहीं है।

सुप्रसिद्ध श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वरचित बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रावली के विमलनाथ स्तोत्र के 15वें श्लोक में दिखाते हैं—

नयास्तव स्यात्पदलाग्घना इमे रसोपविधा इव लोहघातवः ।

भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण ।।¹¹³

न्यायाचार्य, न्यायविशारद महोपाध्याय यशोविजय ने न्यायखंडकाव्य के 42वें श्लोक की व्याख्या में दिखाया है—“एक ही वस्तु में विविध विरुद्ध वस्तु के प्रतिपादन करने वाला स्याद्वाद नहीं है बल्कि अपेक्षाभेद से उनमें अविरोध को दिखाने वाला स्थान पद से समलंकृत वाक्यविशेष अनेकान्तवाद है।”¹¹⁴

उपाध्याय यशोविजय ने ही स्वरचित अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण की प्रशस्ति के 13वें श्लोक में दिखाया है कि—

इमं ग्रन्थं कृत्वा विषयविषविक्षेपकलुषं फलं नान्यद याचे किमपि भवभूतिप्रभृतिकम् ।

इहाऽमूत्रापि स्तान्मम मतिरनेकान्तविषये ध्रुवेत्येतद याचे तदिदमनुयाचध्वमपरे ।।

अर्थात् इस ग्रंथ की रचना करके विषरूपी विष के विक्षेप से कलुषित ऐसे संसार के वैभव आदि को मैं नहीं मांगता हूँ। मात्र अनेकान्त में इस भव में, परभव में मेरी मति निश्चल रहे, इतनी ही याचना करता हूँ। और अन्य लोग भी ऐसी याचना करें, ऐसी अलिभाषा रखता हूँ।¹¹⁵

सिद्धसेन दिवाकर सूरि महाराज विरचित द्वात्रिंशिक-द्वात्रिंशिका ग्रंथ की चतुर्थ द्वात्रिंशिका के 15वें श्लोक में दिखाते हैं—जैसे सभी नदियां महासागर में मिल जाती हैं पर सभी नदियों में महासागर नहीं दिखता है, वैसे ही सर्वदर्शनरूपी नदियां अनेकान्तवाद रूपी महासागर में मिल जाती हैं पर एकान्तवाद से भिन्न-भिन्न दर्शन रूपी नदियों में आपका स्याद्वाद रूपी महासागर नहीं दिख रहा है।¹¹⁶

1444 ग्रंथ के प्रणेता आचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वर महाराज भी इस श्लोक के माध्यम से अनेकान्तवाद की सार्थकता दिखाते हैं—

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। महावीर मेरे मित्र नहीं हैं और कपिल मेरे शत्रु नहीं हैं। जिनका वचन युक्तिसंगत है, वही मुझे मान्य है।¹⁷

वाचकवर्य उमास्वाति रचित तत्त्वार्थाधिगम के 5वें अध्याय में बताते हैं—

उत्पाद-व्यय-धौव्ययुक्तं सत्
तद-भावाव्ययं नित्यम्
अर्पिताऽनर्पिता सिद्धैः।¹⁸

उपरोक्त तीन सूत्र भी अनेकान्तवाद की पुष्टि करते हैं। जैनेतर प्राचीन विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद का आसरा लिया है, जैसे—ऋग्वेद, कठोपनिषद्, ईशावास्योपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णु सहस्रनाम, मनुःस्मृति, महाभारत, महर्षि पतंजलि रचित महाभाष्य, वैयाकरण केशरीकैयट, प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट, आचार्यश्री वाचस्पतिमिश्र आदि ने भी कहीं-न-कहीं अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है।

निशीथचूर्णि, आचारांग, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्ति आदि में भी स्थान-स्थान पर अनेकान्तवाद के दर्शन होते हैं।

प्राचीन महापुरुषों का अनेकान्तवाद के प्रति योगदान

श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि ने सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशद-द्वात्रिंशिका आदि ग्रंथों में अनेकान्तवाद का वर्णन किया है।

वाचकवर्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में स्याद्वाद का सुन्दर वर्णन किया है।

वादिदेवसूरि महाराज ने स्याद्वाद रत्नाकर ग्रंथ में अनेकान्तवाद का वर्णन किया है।

श्री हेमचन्द्रसूरि ने श्री सिद्धहेमशब्दानुशासनम्, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनय, तत्त्वालोकालंकार, अन्योगव्यवच्छेदिका आदि ग्रंथों में स्याद्वाद के बारे में प्रकाश डाला है।

मल्लिषेण सूरि महाराज रचित स्याद्वादमंजरी ग्रंथ में अनेकान्तवाद का दर्शन होता है।

समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में अनेकान्त का वर्णन तार्किक दृष्टि से किया है।

वादिदेवसूरि महाराज ने प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार पर रचित 84000 श्लोकप्रमाण स्याद्वादरत्नाकर वृत्ति में अनेकान्तवाद का अनुपम निरूपण किया है।

महोपाध्याय यशोविजय ने अनेकान्तव्यवस्था, सप्तभंगीनयप्रदीप, स्याद्वाद रहस्यपत्रम् आदि ग्रंथों में नव्यन्याय की शैली में आबेहूब वर्णन किया है, वो यथार्थ है।

अनेकान्तवाद में क्या है?

अनेकान्तवाद

—सभी दर्शनों का समाधान है।

—सम्यग्दृष्टि का समासस्थान है।

- समस्त विश्व का सही सुमेल है।
- सद्धर्म का सत्कथन है।
- अहिंसा, संयम एवं तप की पराकाष्ठा रूप है।
- परिपूर्ण सच्चा ज्ञान एवं विशिष्ट विज्ञान है।
- आचार एवं विचार की विशुद्धि है।
- एकांतवाद का निरसन है।
- सच्चा त्यागमार्ग और मोक्ष का अनुपम साधन है।
- पदार्थ को देखने का सच्चा अद्भुत दृष्टिबिन्दु है।
- परस्पर विरोधी धर्मों का एकीकरण है।
- विश्वबन्धुत्व एवं संगठनबल प्रेरक अपूर्व शक्ति है।

अनेकान्तवाद क्या सिखाता है?

1. समस्त विश्व के सामने एकता रखना सिखाता है।
2. विश्व की प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष भाव से निहारना सिखाता है।
3. वस्तु का दृष्टिबिन्दु देखना सिखाता है।
4. वितंडावाद एवं विषवाद से दूर रहने को स्वीकरता है।
5. संगठनबल की प्रेरणा देता है।
6. एकान्तवाद से दूर रहना सिखाता है।
7. मध्यस्थभाव रखना सिखाता है।
8. मिथ्याभिनिवेश वर्जन सिखाता है।
9. वस्तुस्थिति का निर्णय एवं समन्वय करना सिखाता है।
10. सच्चाज्ञान प्राप्त कैसे करना चाहिए, सिखाता है।
11. संसार सागर से तरना सिखाता है।
12. आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग दिखाता है।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि अनेकान्तवाद का अपने जीवन में कितना महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे अर्थतंत्र हो, राजतंत्र या धर्मतंत्र अनेकान्तदृष्टि को स्वीकार किये बिना वह सफल नहीं हो सकता है। वस्तुतः अनेकान्तदृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है, जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है। इस प्रकार अनेकान्त का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है कि कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है।

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करता है, जिससे मानव जाति के संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।¹⁹

वास्तव में अनेकान्तवाद सत्य-पथ प्रदर्शक है, जगत् का गुरु है। विभिन्न विचारों को सुलझानेवाला, सत्य निर्णय देने वाला अनेकान्तवाद जगत् का न्यायाधीश है।

नयवाद

शब्द पर आधारित ज्ञान की एक सीमा है। सीमा यह है कि प्रत्येक शब्द एक अर्थ की ओर ही संकेत करता है। दूसरी ओर वक्ता भी एक अभिप्राय लेकर ही कोई बात कहता है। पूरा सत्य एक साथ कहने का सामर्थ्य सर्वज्ञ पुरुषों में भी नहीं होता है। पूर्ण सत्य को कहने के लिए उसे खण्ड-खण्ड में बांटा जाता है। एक-एक पक्ष को उजागर किया जाता है। खण्ड सत्यों को मिलाकर सम्पूर्ण सत्य को जाना जाता है। इसी अभिप्राय से ही नयवाद को अनेकान्तवाद का आधार कहा जाता है। खण्ड सत्य अथवा अभिप्राय विशेष से कहा गया कथन ही नय कहलाता है। नय से जुड़ा हुआ सिद्धान्त नयवाद कहलाता है।

‘णत्थि णएहिं विहूणं, सुतं अत्यो व जिणमए किंचि ।’

जिनमत में सूत्र हो या अर्थ, नय से विहीन कुछ भी नहीं है। आचार्य भद्रबाहु की इस उद्घोषणा में नय के उद्भवबीज निहित हैं। जब से अर्हत्वाणी और नय साथ-साथ चलते हैं, इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। वर्तमान कालखण्ड में भगवान् महावीर की वाणी नय का उद्भवक्षेत्र है। आवश्यकनिर्युक्ति²⁰ और विशेषावश्यक भाष्य²¹ के अनुसार सामाजिक अध्ययन के मूलस्रोत भगवान् महावीर हैं। वैशाख शुक्ला एकादशी, पूर्वाह्न काल में सामायिक का निर्गमन महावीर से हुआ। महासेन वन नामक उद्यान में सामायिक की उत्पत्ति हुई। नय का निर्गम, क्षेत्र और काल भी यही माना जा सकता है।

वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाले विषय, करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।²² जब हम किसी मनुष्य को देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यह मनुष्य है, उस समय हमें उसके किसी एक धर्म से मतलब नहीं रहता, यह प्रमाण है। किन्तु जब हम उसमें अंश कल्पना करने लगते हैं, जैसे यह इसका पिता है, उसका पुत्र है आदि तब वह ज्ञान नय कहलाता है। मतलब यह है कि प्रमाण वस्तु के पूर्णस्वरूप को ग्रहण करता है और नय उसके अंशों को। प्रमाण तो सब इन्द्रियों से हो सकता है लेकिन नय मन के द्वारा ही होता है। जब तक हम वस्तु को जानने के लिए नय का उपयोग न करेंगे, तब तक हमें वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होगा।

भगवान् महावीर और नयवाद

श्रमण भगवान् महावीर ने सत्य की शोध के लिए सापेक्ष दृष्टि का निर्धारण किया। सापेक्षता का मूल आधार नयवाद है। जैसे शास्त्र रचना का आधार मातृकापद है, तत्त्व का आधार त्रिपदी है, वैसे ही अनेकान्त का आधार नयवाद है। अनेकान्त के उद्गाता महावीर का प्रत्येक समाधान नयस्फुलिंगों से ज्योतिर्मय है। उदाहरणार्थ भगवती के कुछ प्रसंग पठनीय हैं—

गौतम ने पूछा—भंते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत? महावीर ने कहा—

गोयमा! जीवा सिय सासया, सिय असासया ।

दव्वड्ढयाए सासया, भावड्ढयाए असासया ।।²³

गौतम! जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक से जीव शाश्वत है, भावार्थिक से अशाश्वत है।

गौतम ने पूछा—नैश्चयिक शाश्वत है या अशाश्वत? महावीर ने कहा—

गोयमा! अब्बोच्छित्तिनयइयाए सासया, योच्छित्तिनयइयाए असासया ।।¹²⁴

गौतम! अव्युच्छित्तिनय से नैश्चयिक शाश्वत है और व्युत्पत्तिनय से अशाश्वत। भंते! भंवरे में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कितने होते हैं? भगवान ने कहा—

गोयमा! एत्य णं दो नया भवति, तं जहा—

नेच्छइयनए य, वावहारियनाए य ।

वावहारियनयस्स कालए भमरे,

नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे जाण अट्टफासे पण्णते ।।¹²⁵

गौतम! इसकी वक्तव्यता दो नयों से होती है—1. नैश्चयिक नय, 2. व्यावहारिक नय। व्यवहारनय की अपेक्षा से भ्रमर काला है। नैश्चयिक नय की अपेक्षा से वह पांच वर्ण यावत् आठ स्पर्श वाला है।

भंते! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है? गौतम! रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है, यह कैसे? वह रूप की अपेक्षा से आत्मा है, पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं, तदुभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।¹²⁶

स्कन्धक ने पूछा—भंते! लोक सांत है या अनन्त? भगवान ने कहा—द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सांत है, काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है।¹²⁷

सोमिल ने पूछा—भंते! आप एक हैं या अनेक? सोमिल—मैं द्रव्य की अपेक्षा से एक हूँ, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से दो हूँ। प्रदेश की अपेक्षा से अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। उपयोग की अपेक्षा से मैं अनेक हूँ।¹²⁸

भगवती के उल्लिखित उदाहरणों के आधार पर स्पष्ट है कि भगवान महावीर की उत्तर देने की शैली सापेक्षता पर आधारित है। वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इस दृष्टि से चतुष्टयी का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है। निश्चयनय, व्यवहारनय, अव्युच्छित्तिनय-व्युच्छित्तिनय, द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय—नय की इस युगलत्रयी के माध्यम से महावीर ने तत्त्वों का विशदता से प्रज्ञापन किया। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—

तीर्थकर के वचन सामान्य विशेषात्मक होते हैं। इसके प्रतिनिधि नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय सामान्य (अभेद) और पर्यायार्थिक नय विशेष (भेद) का प्रतिपादन है। शेष नय इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं।¹²⁹

कोई भी द्रव्य, उत्पाद, व्यय रूप पर्याय से रहित नहीं है और कोई पर्याय द्रव्य से रहित नहीं है—इस वस्तुस्वरूप के आधार पर दो नय हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वेदान्त ने अभेद को और बोद्धों ने भेद को सत्य माना। महावीर की अन्तर्दृष्टि ने इन दोनों में विद्यमान सत्यांश को देखा और घोषणा की कि प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, आदि-अनन्त विरोधी धर्मयुगलों का समूह है। यही अनेकान्त है। स्वतंत्र रूप से भेद और अभेद दोनों सत्य नहीं, सापेक्ष रूप से दोनों सत्य हैं—यही नयवाद की पृष्ठभूमि है।

आगमों में नय

आगमयुग में नय पद्धति का विकसित रूप या प्रत्येक सूत्र के अर्थ की प्रतिपत्ति गहन नयवाद पर आश्रित थी। आचारांग में अनेक सूत्र ऐसे हैं, जिनका हृदय नय के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है, अन्यथा मूढ़ता और भ्रांति पैदा हो सकती है। उदाहरण के लिए आचारांग के कुछ सूत्र द्रष्टव्य हैं—

जे लोयं अब्माइकखइ, से अत्ताणं अब्माइकखई।

जे अत्ताणं अब्माइकखइ से लोयं अब्माइकखइ। (1/39)

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।

जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ। (1/147)

जे एगं नामे, से बहु नामे।

जे बहु नामे, से एगं नामे। (3/74)

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।

जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ। (3/76)¹³⁰

गत प्रत्यागशैली में संबद्ध इन सूत्रों का रहस्य विविध नयों के आलोक में ही उद्घाटित हो सकता है। इस सन्दर्भ में आचारांगभाष्य पठनीय है। आचारांग (2/177) में स्पष्ट निर्देश है कि परिषद् में कौन श्रोता किस नय का पक्षधर है—यह जानकर मुनि प्रवचन करे। इसका संवादी वचन है—आसज्ज उ सोयारं णए णयविसारओ बूया।

वृत्तिकार शीलांगसूरि ने लिखा—एकनयद्रष्टयाऽवधारणात्मकप्रत्ययमनाचारम्।

एकांतदृष्टि से किया जाने वाला चिन्तन और प्रतिपादन अनाचार है। एकान्तवाद का सेवन सैद्धान्तिक अनाचार है। स्याद्वाद और नयवाद का प्रयोग वाणी का आचार है।

ठाणं में नरक का नयदृष्टि से विचार किया गया है। प्रथम तीन नयों की अपेक्षा नरक पृथ्वीप्रतिष्ठित है। ऋजुसूत्र की अपेक्षा आकाशप्रतिष्ठित और शब्दनयों की अपेक्षा आत्मप्रतिष्ठित है। इस आधार पर सात नय तीन भागों में विभक्त होते हैं—

अशुद्ध नय—प्रथम तीन नय

शुद्ध नय—ऋजुसूत्र नय

शुद्धतर नय—तीन शब्द नय।¹³¹

भगवती में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय प्रज्ञप्त है। यहाँ सात नयों का उल्लेख नहीं है।

समवाओ¹³² और नंदी¹³³ में दृष्टिवाद आगम का विवरण उपलब्ध है। वहाँ चार नय और तीन नय का भी उल्लेख है। चूर्णिकार ने चार नय ये बताये हैं—द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और उभयार्थिक।¹³⁴

दृष्टिवाद में विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टियों का निरूपण है। सब नयदृष्टियों से वस्तुसत्य का विचार किया गया है।¹³⁵ यह आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

प्रज्ञापना अंगबाह्य आगम है। इसमें रचनाकार श्यामाचार्य ने इसे दृष्टिवाद का निष्पन्द (सार) कहा है—

अज्झयणमिण चितं, सुयरयणं दिद्विवायणीसंदं।¹³⁶

अनुयोगद्वार में नय के स्थान पर वचन और नय के साथ विधि शब्द का प्रयोग भी हुआ है—सयंगहवयणं....उज्जुसुओ नयाविही।

अनुयोग और नय

अनुयोगद्वार में व्याख्या के चार द्वार प्रज्ञप्त हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। निक्षिप्त पद का अनुगम के द्वारा अर्थबोध होने पर नय के द्वारा उसके विभिन्न पर्यायों का अर्थबोध किया जाता है।

उपोदघात निर्युक्ति अनुगम के 26 द्वारों में दसवां द्वार है—नय, जिसमें विविध नयों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप बताया जाता है। इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्र में नय चार अनुयोगद्वारों में स्वयं चौथा अनुयोगद्वार है और अनुगम का एक विभाग भी है।

दृष्टिवाद में प्रत्येक विषय पर नयदृष्टि से विचार किया जाता था। अतः इस सूत्र में भी यथास्थान नयों का प्रयोग किया गया है। लगभग 80 सूत्रों में नैगम व्यवहार और संग्रहनय की वक्तव्यता के आधार पर आनूपूर्वी का स्वरूप समझाया गया है।

प्रस्तुत आगम के अंत में सात नयों के निर्वचन लक्षण बताकर ज्ञाननय और क्रियानय का प्रतिपादन किया गया है।

नय के निर्वचन और परिभाषा

प्राचीन युग में या आगमयुग में किसी भी शब्द को परिभाषित करने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं थी। सीधा भेद-प्रभेदों और दृष्टान्तों के माध्यम से विषय का सांगोपांग बोध करा दिया जाता था। नंदी, अनुयोगद्वार, ठाणं आदि के अनेक स्थल इसके साक्षी हैं। अनुयोगद्वार में भावप्रमाण के तीन भेद हैं—गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण। शिष्य ने पूछा—नय प्रमाण क्या है? आचार्य ने कहा—नयप्रमाण तीन दृष्टान्तों से प्रतिपादनीय है—प्रस्थक दृष्टान्त, वसति दृष्टान्त, प्रदेश दृष्टान्त। इन तीन दृष्टान्तों के माध्यम से सात नयों को भेद-प्रभेद सहित समझाया गया है। अनुयोगद्वार और आवश्यकनिर्युक्ति में सात नयों की परिभाषा श्लोकों में आबद्ध है।

वाचक मुख्य उमास्वाति ने एकार्थक शब्दों और निर्वचनों के माध्यम से नय को परिभाषित किया है—

नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तका निर्भासिका-उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनयान्तरम्। जीवादीन पदार्थान नयन्ति प्राप्नुवन्ति-कारयन्ति, साधयन्ति निवर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः। ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तरान्यैतानि।¹³⁹

जो जीव आदि पदार्थों के प्रापक/ज्ञापक हैं, वे नय हैं। नय ज्ञेयपदार्थ के विषय में होने वाले विभिन्न अध्यवसाय हैं।

जिनभद्रगणि ने अनेक कारकों से नय का निर्वचन किया है—

स नयइ तेण तहिं वा तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं।

बहुहा पज्जायाणं संभवओ सो नओ नामा।।¹⁴⁰

जो अनेक प्रकारों से संभावित पर्यायों से वस्तु का बोध कराता है, वह नय है। इस गाथा में प्रयुक्त तेण, तहिं और तओ—इन पदों को परिणामांतर, क्षेत्रान्तर और कालांतर का प्रतीक माना जा सकता

है। जैसा कि धवलाकार ने कहा है—अनेक गुणपर्यायों के द्वारा जो द्रव्य को परिणामान्तर, क्षेत्रान्तर और कालान्तर में ले जाते हैं यानी द्रव्य के विविध पर्यायों का देश और कालयुक्त ज्ञान कराते हैं, वे नय हैं। उच्चरित अर्थपद को अथवा निक्षिपत पद को दृष्टि में रखकर जो पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुंचा देते हैं, वे नय हैं। जिनभद्रगणि ने नय को इस रूप में परिभाषित किया है—

एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मणो जमवधारणेणेव ।
नयणं धम्मेणं तओ होइ नओ..... ।।¹⁴¹

जो अनेक धर्मान्तक वस्तु के एक धर्म का अवलम्बन लेकर अवधारणपूर्वक उसे प्रतीति का विषय बनाता है, वह नय है।

आलाप पद्धति के अनुसार जो वस्तु को नाना स्वभावों से हटकर उसके एक स्वभाव का बोध कराता है, वह नय है।

मलयंगिरि ने ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहा है—ज्ञातुरभिप्रायविशेषा नयः ।¹⁴²

शान्ताचार्य के अनुसार प्रमाण का प्रवृत्ति के पश्चात् होने वाला परामर्श नय है—

नयः प्रमाणप्रवृत्त्युत्तरकालभावी परामर्शः ।¹⁴³

वादिदेवसूरि ने अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने वाले और अन्य धर्मों का निराकरण न करनेवाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है ।¹⁴⁴

महोपाध्याय यशोविजय ने नय रहस्य में नय की परिभाषा देते हुए कहा है—प्रवृत्त वस्तु के किसी एक अंश का ज्ञान जिससे हो और उस अंश से भिन्न अंश का निषेध न हो, ऐसा अध्यवसाय विशेष ही नय पदार्थ है ।¹⁴⁵

जैन तर्क परिभाषा में भी उपाध्याय यशोविजय ने नय की व्याख्या इस प्रकार बताई है—प्रमाण परिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदि तरांशा प्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः ।¹⁴⁶

अर्थात् प्रमाण प्रदत्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश का ग्रहण करना और इतर अंशों का प्रतिक्षेप न करना—अध्यवसाय विशेष को नय कहते हैं।

देवचन्द्रकृत नयचक्रसार में नय का लक्षण बताते हुए कहा है—नीयते येन श्रुताख्यप्रमाण्य विषयी कृतस्याअर्थस्य शस्तादितदाशौदासीन्यत सम्प्रतिपत्तुरभिप्रायः विशेषो नयः ।¹⁴⁷

श्रुतज्ञान से प्रमाणित किये हुए पदार्थ के अंश विषयी ज्ञान और इतर दूसरे अंश में उदासी भाव रखता हो, ऐसा जो सम्यग् प्रकार को प्राप्त किये हुए अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। अर्थात् वस्तु के एक अंश को ग्रहण कर अन्य अंश के प्रति उदासी भाव रहे, उसे नय कहते हैं।

नय शब्द की सार्थकता

अनेक अंशवान वस्तु के एकांश का अवलम्बन करके वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने हेतु ज्ञान की ओर ले जाना नय है अथवा वस्तु की ओर से ज्ञान के आश्रय में जिसके द्वारा जाना जाए, उसे नय कहते हैं ।¹⁴⁸

अमुक स्वभाव से अमुक स्वभाव का परिच्छेद जिससे किया जाए, उसे नय कहते हैं। नय शब्द का प्रयोग अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एकांश के परिच्छेद के अर्थ में किया गया है ।¹⁴⁹

अनंतधर्मात्मक वस्तु से नियत एक धर्म के अवलम्बन से वस्तु को प्रतीति का विषय बनाने के अर्थ में नय शब्द प्रयुक्त है।¹⁵⁰

वस्तुत्व को अवबोध गोचर प्राप्त कराने वाले को नय कहते हैं।¹⁵¹

वस्तु के प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण न करते हुए ज्ञाता के अभिप्राय, जो कि वस्तु के एक अंश का ग्रहण करता है, को नय कहते हैं।¹⁵²

नय के भेद

श्रुतज्ञान स्वार्थ और पदार्थ—दोनों प्रकार का होता है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ और वचनात्मक श्रुत पदार्थ है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार नय वचनात्मक श्रुत के भेद हैं। अतः जितने वचनपथ हैं, उतने ही नय हैं। वचनपथ अनन्त हो सकते हैं तो नय भी अनन्त हो सकते हैं। किन्तु उसके मौलिक वर्ग दो हैं। आचार्य सिद्धसेन के मतानुसार भेदपदक और अभेदपदक के अनुसार मूल नय दो हैं—

- द्रव्यार्थिक नय—द्रव्यप्रधान दृष्टि,
- पर्यायार्थिक नय—पर्यायप्रधान दृष्टि।

अभिधान राजेन्द्र कोश में अत्यन्त कम शब्दों में लेकिन स्पष्टतम स्वरूप के साथ नय के दो मुख्य भेद कहे गये हैं।

निश्चयनय और व्यवहारनय

लोक व्यवहारपरक अभ्युपगम को प्रधानता देने वाले नय को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे—भ्रमर में काले रंग की अधिकता होने से व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि भौरा काला है किन्तु स्थूल शरीर में पांच वर्णों के पुद्गलों का संघात होने से निश्चय नय के अनुसार उसी भ्रमर को पांच वर्ण वाला कहा जाता है अर्थात् व्यवहारनय लोकव्यवहारपरक और निश्चयनय परमार्थपरक है।¹⁵³

इसी बात की पुष्टि उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा¹⁵⁴ में की है। अनुयोगद्वार में मूल सात नय बताये हैं। आवश्यकनिर्युक्ति¹⁵⁵ के अनुसार प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद हैं। इस प्रकार सात नयों के सात सौ भेद हो जाते हैं।

आवश्यकवृत्तिकार हरिभद्रसूरि ने 'अवि' शब्द की व्याख्या में 600, 400 और 200 भेदों का संकेत भी किया है।

जयधवला के अनुसार अग्रेयणीय पूर्व में सात सौ सुनय और दुर्नयों का प्रज्ञापना था।¹⁵⁶

निष्कर्ष में रूप कहा जा सकता है कि सोचने और प्रतिपादन के जितने तरीके हैं, जितने वचनमार्ग हैं, उतने नय हैं। इस दृष्टि से नय संख्यात, असंख्यात और अनन्त हो सकते हैं।

द्रव्यार्थिक नय

द्रव्यार्थिक नय की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर ने अभिधान राजेन्द्रकोश में कहा है कि अतीत, अनागत, वर्तमानकाल में जो द्रवित होता है अर्थात् परम्परा से एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी—ऐसे क्रमबद्ध पर्यायों को ग्रहण करता रहता है, वह द्रव्य है।¹⁵⁷ केवल द्रव्य की ही मुख्यता से जिस नय का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है।¹⁵⁸ यह नय द्रव्य मात्र की प्ररूपणा

करते हैं अर्थात् द्रव्य पर्यायस्वरूप वस्तु में मुख्य रूप से द्रव्य का अनुभव कराता है, सामान्य को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है।¹⁵⁹ अथवा द्रव्य में आस्तिक है, पर्याय में नहीं, वह द्रव्यार्थिक नय है।¹⁶⁰

राजेन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्रोक्त द्रव्यार्थिक नय की व्याख्या करते हुए कहा है कि तदाकार अनुयायियों को उसी का सदबोध कराने का विषय होने से समस्त स्थास, कोश, कुश-कपाल आदि आकारों का अनुयायी मृदादि द्रव्य ही सत्पदार्थ है, क्योंकि स्थास, कोशादि में द्रव्य रूप से तो मृद द्रव्य के अलावा अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अतः वह तरंगादियुक्त सरोवर का जल केवल अपद्रव्य है, उसी तरह तथा आविर्भाव-तिरोभाव की मात्रा से युक्त सभी भेद-प्रभेदों को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है।¹⁶¹

अभिधान राजेन्द्रकोश के अनुसार नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं।¹⁶²

उपाध्याय यशोविजय ने द्रव्यार्थिक नय¹⁶³ की परिभाषा जैन तर्क परिभाषा में इस प्रकार की है—तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राही द्रव्यार्थिकः।

द्रव्यार्थिक नय की पुष्टि करते हुए फिर उपाध्याय यशोविजय ने नय रहस्य में बताया है कि—द्रव्यमात्रग्राही द्रव्यार्थिकः।¹⁶⁴ जो द्रव्य मात्र को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है।

पर्यायार्थिक नय

अभिधान राजेन्द्रकोश में पर्याय की व्याख्या करते हुए कहा है—धर्म, पर्यव, पर्याय, पर्यय—ये सब पर्याय के पर्यायवाची नाम हैं।¹⁶⁵ सर्वथाभेद को प्राप्त करना पर्याय है।¹⁶⁶ अथवा द्रव्य के गुणों के विशेष परिणमन को पर्याय कहते हैं।¹⁶⁷ अथवा द्रव्य के क्रमभावी परिवर्तन को पर्याय कहते हैं।¹⁶⁸

अभिधान राजेन्द्रकोश में आचार्यश्री ने पर्यायार्थिक नय की परिभाषा बताते हुए कहा है कि पर्याय ही जिसका प्रयोजन (अर्थ) है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।¹⁶⁹ पंचाध्यायी के अनुसार द्रव्य के अंश को पर्याय कहते हैं। इनमें से जो विवक्षित अंश है, वह जिस नय का विषय है, वह पर्यायार्थिक नय है।¹⁷⁰ मोक्षशास्त्र में पर्यायार्थिक नय के विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नाम बताये हैं।¹⁷¹ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार सर्वभावों की अनित्यता का अभ्युपगम कराने वाला यह नय मूल नय का भेद है।¹⁷²

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत—ये चार पर्यायार्थिक नय हैं।¹⁷³

उपाध्याय यशोविजय ने नय रहस्यों में पर्यायार्थिक नय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिक।¹⁷⁴ जो नय पर्यायमात्र का ग्रहण करावे, उसको पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

जैन तर्क परिभाषा में भी उपाध्याय यशोविजय ने पर्यायार्थिक नय को परिभाषित करते हुए कहा है—प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः।¹⁷⁵

व्यावहारिक तथा नैश्चयिक दृष्टि

व्यवहार और निश्चय का झगड़ा पुराना है। जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है, उसी रूप में वह सत्य है या किसी अन्य रूप में। कुछ दार्शनिक वस्तु के दो रूप मानते हैं—प्रातिभासिक और पारमार्थिक। महावीर ने वस्तु के दोनों रूपों का समर्थन किया और अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों का पर्याय बताया। इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार की दृष्टि से यथार्थ है। इस स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है, जो इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। यह केवल श्रुत या आत्मप्रत्यक्ष का विषय होता है, यही नैश्चयिक दृष्टि है। व्यावहारिक दृष्टि और नैश्चयिक दृष्टि इन्द्रियातीत है, अतः सूक्ष्म

है। दोनों दृष्टियाँ सम्यक् हैं। दोनों यथार्थता को ग्रहण करती हैं। महावीर और गौतम के बीच एक संवाद है। गौतम महावीर से पूछते हैं—भगवन्! पतले गुड़ में कितने वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। महावीर उत्तर देते हैं—गौतम! इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से दिया जा सकता है—व्यवहारिक नय की दृष्टि से वह मधुर है और नैश्चयिक नय की अपेक्षा से वह पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श वाला है। इसी प्रकार गन्ध, स्पर्श आदि से संबंधित अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चयनय से उत्तर दिया है।¹⁷⁶ इन दो दृष्टियों से उत्तर देने का कारण यह है कि वे व्यवहार को भी सत्य मानते थे। परमार्थ के आगे व्यवहार की उपेक्षा नहीं करना चाहते थे। व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों को समान रूप से महत्त्व देते थे।

अर्थनय और शब्दनय

आगमों में सात नयों का उल्लेख है।¹⁷⁷ अनुयोगद्वार सूत्र में शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत को शब्दनय कहा गया है।¹⁷⁸ बाद के दार्शनिकों ने सात नयों के स्पष्ट रूप से दो विभाग कर दिए—अर्थनय और शब्दनय। आगम में जब तीन नयों को शब्दनय कहा गया तो शेष चार नयों को अर्थनय कहना युक्तिसंगत ही है।

जो नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, वे अर्थनय हैं। प्रारम्भ के चार नय—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थ को विषय बनाते हैं अतः वे अर्थनय हैं। अन्तिम तीन नय शब्द समभिरूढ़ एवं एवंभूत शब्द को विषय करते हैं अतः वे शब्दनय हैं। अर्थनय और शब्दनय की यह सूझ नई नहीं है। आगमों में इसका उल्लेख है।

ज्ञाननय क्रियानय

जिस कार्य से ज्ञान को प्रधानरूपी कारण मानें, उन्हें ज्ञान नय कहते हैं। 'पढमं नाणं तओ दया, जं अन्नाणी कम्मं' आदि शास्त्रवचन ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं। ज्ञान बिना की क्रिया का कोई अर्थ नहीं है। ज्ञाननय को बताते हुए उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में दिखाया है कि—ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः।¹⁷⁹

क्रियानय

अकेला ज्ञान कुछ काम नहीं करता है, क्रिया जरूरी है, क्योंकि रसोई करने का ज्ञान है पर क्रिया नहीं है तो क्षुधा शांत नहीं होती है। इसलिए कह सकते हैं कि ज्ञान के साथ क्रिया का भी उतना ही महत्त्व है। क्रियानय को परिभाषित करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा में दिखाया है कि—क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः।¹⁸⁰

उपसंहार

नय सिद्धान्त की समुचित अवगति एवं व्यवस्था के द्वारा तत्त्वमीमांसीय, आचारशास्त्रीय, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। विवाद वहाँ उपस्थित होता है, जब यह कहा जाए—I am right, you are wrong. किन्तु जब परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा दृष्टि को समझ लिया जाता है तब विरोध या विवाद स्वतः समाहित हो जाता है। अतः नयवाद का उपयोग मात्र सैद्धान्तिक क्षेत्र में ही नहीं है किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी अत्यन्त उपयोगिता है।

सप्तनयों का स्वरूप

नय की मुख्य दृष्टियां क्या हो सकती हैं, यह हमने देखा। अब हम उसके भेदों का विचार करेंगे। आचार्य सिद्धसेन¹⁸¹ ने लिखा है कि वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते हैं, नय के उतने ही भेद हैं। जितने नय के भेद हैं, उतने ही मत हैं। इस कथन को यदि ठीक माना जाए तो नय के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। इन अनन्त प्रकारों का वर्णन हमारी शक्ति की मर्यादा के बाहर है। मोटे तौर पर नय के कितने भेद होते हैं, यह बताने का प्रयत्न जैन दर्शन के आचार्यों ने किया है। वैसे तो द्रव्य और पर्याय में सारे भेद समा जाते हैं, द्रव्य और पर्याय को अधिक स्पष्ट करने के लिए अवान्तर भेद किये गए हैं। इन भेदों की संख्या के विषय में कोई निश्चित परम्परा नहीं है। जैन दर्शन के इतिहास को देखने पर हमें तीन परम्पराएँ मिलती हैं। एक परम्परा सीधे तौर पर नय के सात भेद करती है। ये सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत। आगम और दिगम्बर ग्रंथ इस परम्परा का पालन करते हैं।¹⁸² दूसरी परम्परा नय के छः भेद मानती है। इस परम्परा के अनुसार नैगम स्वतंत्र नय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस परम्परा की स्थापना की है।¹⁸³ तीसरी परम्परा तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की है।¹⁸⁴ इस परम्परा के अनुसार मूल रूप में नय के पांच भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें से प्रथम अर्थात् नैगमनय के देश-परिक्षेपी और सर्व-परिक्षेपी—इस प्रकार के दो भेद हो जाते हैं तथा अन्तिम अर्थात् शब्दनय को सांप्रत, समभिरूढ़ एवं एवंभूत—ऐसे तीन भेद हैं। सात भेदों वाली परम्परा अधिक प्रसिद्ध है। अतः नैगमादि सात भेदों के स्वरूप का विवेचन है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कथनीय वस्तु के मुख्यतः दो भेद हैं—द्रव्य और पर्याय। अतः उसके आधार पर द्रव्य को मुख्य बनाकर जानना द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय को मुख्य बनाकर जानना पर्यायार्थिक नय है। सत्य के दो प्रकार हैं—वास्तविक सत्य और औपचारिक सत्य।

वास्तविक सत्य को मुख्य मानने वाला नय है—निश्चयनय।

औपचारिक सत्य को मुख्य मानने वाला नय है—व्यवहारनय।

अभिप्राय को व्यक्त करने के साधन दो हैं—अर्थ और शब्द। अतः इस विवक्षा से नय के दो भेद हैं—शब्दनय और अर्थनय। इस प्रकार भिन्न आधारों से चिंतन करने पर नय के भिन्न प्रकार हो जाते हैं पर जैन दर्शन में नय के सात भेद सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में इन सातों को एक-एक गाथा के द्वारा निरूपित किया गया है। वे सात भेद हैं—1. नैगम नय, 2. संग्रह नय, 3. व्यवहार नय, 4. ऋजुसूत्र नय, 5. शब्द नय, 6. समभिरूढ़ नय, 7. एवंभूत नय।

1. नैगम नय

सात नयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। आर्यरक्षित ने नैगमनय की निरुक्तिपरक व्याख्या करते हुए लिखा है—णेगेहिं माणेहिं मिणइति णेगमस्स निरुति।¹⁸⁵ अर्थात् नैगमनय अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु को जानता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह वस्तु का उभयरूप—सामान्यरूप और विशेषरूप से ग्रहण करता है। इसलिए भिक्षुन्यायकर्णिमा में इसकी परिभाषा की गई—भेदाभेदग्राही नैगम।¹⁸⁶ नैगमनय भेद और अभेद—सामान्य और विशेष दोनों अंशों का संयुक्त रूप में निरूपण करता है। अतः सामान्य विशेष को स्वतंत्र पदार्थ मानने वाली वैशेषिक दृष्टि से उसकी भिन्नता स्पष्ट है। वह वस्तु के एक अंश का

ग्रहण करता है, सम्पूर्ण वस्तु का नहीं। अतः प्रमाण से उसका भेद स्पष्ट है। प्रमाण सकलादेश है, उसमें सब धर्मों को मुख्य स्थान मिलता है। नैगमनय विकलादेश है, इसमें सामान्य मुख्य होने पर विशेष गौण रहता है और विशेष मुख्य होने पर सामान्य गौण हो जाता है। 'चेतन में आनन्द है' यहाँ आनन्द अर्थात् पर्याय या भेद की मुख्यता है और आनन्दी जीव की बात ही छोड़िये, इसमें जीव अर्थात् द्रव्य की मुख्यता है, इसी प्रकार गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान, क्रिया और कारक आदि की व्यंजना का प्रतिपादक है—नैगमनय। इसी बात की पुष्टि करते हुए उपाध्याय यशोविजय जैन तर्कपरिभाषा में लिखते हैं—

सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः।¹⁸⁷

अर्थात् सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का प्रतिपादन करने वाले अध्यवसाय को नैगमनय कहते हैं।

नैगमनय का दूसरा आधार है—लोक व्यवहार। लोक व्यवहार में शब्दों के जितने और जैसे अर्थ माने जाते हैं, यह उन सबको ग्रहण करता है।

नैगमनय का तीसरा आधार है—संकल्प। नैगमनय मात्र वक्ता है, संकल्प को ग्रहण करता है।¹⁸⁸ नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है, जिससे वह कथन किया गया है। नैगमनय संबंधी प्राक्कथनों में वक्ता की दृष्टि साध्य की ओर होती है।

यह भाव और अभाव—दोनों को ग्रहण करता है। संकल्प अर्थात् आरोप। भूतकाल बीत चुका, भविष्य अभी अनुत्पन्न है, फिर भी उनमें वर्तमान का आरोप कर दिया जाता है। भूतकाल का वर्तमान में आरोप नहीं होता तो आज न कोई महावीर का जन्मदिवस मना सकता है और न तुलसी का। रसोइया खाना बनाने बैठा है, फिर भी वह कहता है—रोटी पकाई है। यह कथन भी भावी नैगमनय है। हमारी व्यावहारिक भाषा में भी ऐसे अनेक कथन होते हैं जब हम अपने भावी संकल्प के आधार पर ही वर्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं, जैसे इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने वाले विद्यार्थी को उसको भावी लक्ष्य की दृष्टि से इंजीनियर कहा जाता है। इसी प्रकार क्षमता, योग्यता आदि के आधार पर अकवि को कवि, अविद्वान् को विद्वान् कह दिया जाता है। इस नय में वस्तु को जानने का मार्ग एक नहीं बल्कि अनेक हैं, वो नैगम नय। यह नय वस्तु के सामान्य एवं विशेष दोनों धर्मों को प्रधान मानते हैं।

सामान्य विशेष का ग्राहक होने से जिसको अनेक प्रकार के ज्ञान के द्वारा जाना जाए, वह नैगमनय है अथवा निश्चित अर्थबोध में जो कुशल है, वह नैगमनय है अथवा जिसमें बोध का मार्ग एक नहीं अपितु अनेक है, वह नैगमनय है अथवा जो अर्थबोध में कुशल है, वह नैगमनय है अथवा महासत्तारूप सामान्य-विशेष ज्ञान के द्वारा एक प्रकार के मान से जो नहीं जाना जाता, वह नैगमनय है।¹⁸⁹ अथवा निगम का अर्थ जनपद (देश) करने पर लोक में देश-विशेष में जो शब्द जिस अर्थ-विशेष के लिए नियत है, वहाँ पर उस अर्थ शब्द के संबंध को जानने का नाम नैगमनय है।¹⁹⁰ जैसे मिट्टी के घड़े को घी भरने हेतु ले जाने पर उसे घी के घड़े ले जा रहा हूँ—ऐसा कहना, उस प्रदेश विशेष में घड़ा, कुंभ, कलशादि कहना। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रस्थक दृष्टान्त के द्वारा इसमें अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर आदि अनेक रूपों का सुन्दर निरूपण हुआ है। सिद्धसेन दिवाकर ने इसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं करके षड्मय की परम्परा प्रारम्भ की।

अभिधान राजेन्द्रकोश में नैगमनय के विभिन्न ग्रंथों के अनुसार अनेक प्रकार के भेद दर्शाये गए हैं, यथा—विशेषावश्यक भाष्य में इसेक तीन भेद किये गए हैं¹⁹¹—

1. सर्वविशुद्ध—निर्विकल्पमहासत्ताग्राहक।
2. विशुद्धाविशुद्ध—गाय, बैल, बछड़े आदि के लिए गोत्व सामान्य ग्राहक।
3. सर्वविशुद्ध विशेषवादी—गाय को गाय और बैल को बैल कहना।

रत्नाकरावतारिका में धर्म-धर्मी की अपेक्षा से नैगमनय के तीन भेद किये गये¹⁹²—

1. धर्म—आत्मा सचेतन है।
2. धर्मी—वस्तु पर्यायवाद द्रव्य होता है।
3. धर्म-धर्मी—क्षणमात्र सुखी विषयासक्त जीव।

तत्त्वार्थसूत्र में नैगमनय के दो भेद दर्शाये गए हैं¹⁹³—

1. सर्व परिक्षेपी समग्रग्राही—घट मात्र को ग्रहण करना।
2. देश परिक्षेपी—देशग्राही—घट को मिट्टी का या तांबे का इत्यादि ग्रहण करना।

2. संग्रह नय

एक शब्द के द्वारा पदार्थों का ग्रहण करना संग्रहनय है—एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः।¹⁹⁴ विशेषादि भेद रहित सामान्य मात्र को ग्रहण करने वाला संग्रहनय है। यह सामान्य-विशेष आदि सब को एक साथ ग्रहण करता है।¹⁹⁵ ज्ञाता का यह अभिप्राय जो वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों में एकत्व स्थापित करता है, अनेक वस्तुओं के भेद को गौण कर अभेद की स्थापना करता है। आचार्य तुलसी ने संग्रहनय की परिभाषा करते हुए लिखा है—अभेदग्राही संग्रहः।¹⁹⁶ जैसे अनेक स्त्री-पुरुष खड़े हैं, अभेद का ग्रहण करते हुए मनुष्य खड़े हैं, कह सकते हैं। एक स्थान पर मनुष्य, पशु, पक्षी, सब एकत्रित हैं—संग्रहनय से जीव हैं, कह सकते हैं। जीव और अजीव सब द्रव्यों में भी अस्तित्व धर्म की समानता है अतः अभेद की अपेक्षा से उन्हें सत् में ग्रहण किया जा सकता है। इसीलिए परसंग्रह नय की विवक्षा में विश्व एक है, क्योंकि अस्तित्व की दृष्टि से कोई भिन्न नहीं है—विश्वमेकं सतोऽविशेषात्। वस्तुतः परसंग्रहनय की द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है। अवान्तर सामान्य की सत्यता को दृष्टिमध्य रखते हुए अपरसंग्रहनय को भी संग्रहनय कहते हैं। वह द्रव्य, पर्याय, गुण, जीव आदि अपर सत्ताओं को ग्रहण करता है। इस प्रकार भेद रहित समस्त पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के अविरोध पूर्वक एक मानकर सामान्य धर्म के आधार पर सच्च को ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रहनय है। आगमों में निर्दिष्ट 'एगे आया', 'एगे दण्डे' आदि प्रतिपादन इसी दृष्टि के सूचक हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में संग्रहनय को बताते हुए कहा है—सामान्यमात्रग्राही परामर्शः सङ्ग्रहः।¹⁹⁷ सामान्य मात्र का ग्रहण करना आशय संग्रहनय है। अर्थात् सर्वेकदेशग्रहणं सङ्ग्रहः।¹⁹⁸ सर्वसामान्य एकदेश द्वारा पदार्थों का संग्रह करना, वो संग्रहनय है।

संग्रहनय की दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवादी परम्पराओं में प्राप्त होने वाले अभेद के प्रतिपाद भेद को मिथ्या मानकर उसका अपलाप करते हैं, अतः वे दुर्नय या संग्रहनयाभास है। भेद के बिना अभेद का भी अस्तित्व नहीं, अतः भेद का अपलाप करने से अभेद का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है, वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता। संग्रहनय सामान्यग्राही दृष्टि है।

संग्रहनय के दो भेद हैं—

1. पर-सामान्य—यह भेद रहित अन्तिम सामान्य को ग्रहण करता है, जैसे द्रव्य मात्र सत् है।
2. अपर-सामान्य—सत्ता रूप महासामान्य की अपेक्षा लघु जैसे द्रव्यत्व आदि सामान्य को अपर सामान्य कहते हैं।¹⁹⁹

द्रव्यानुयोगवर्गणा में इन्हें सामान्यसंग्रह और विशेषसंग्रह के नाम से कहा गया है।²⁰⁰

3. व्यवहार नय

व्यवहार नय का आधार है—वस्तु में निहित विशेष धर्म। यह नय भेदपरक दृष्टि है। संग्रहनय जहाँ जीव द्रव्य आदि का संग्रहण करता है, वहाँ व्यवहारनय जीव में सिद्ध और संसारी, व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि, जंगम और स्थावर आदि भेद करता है। इस प्रखर संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक अपहरण करने वाला नय व्यवहारनय है।²⁰¹ जिस अर्थ का संग्रहनय ग्रहण करता है, उस अर्थ का विशेष रूप से बोध कराना हो, तब उसका पृथक्करण करना पड़ता है। संग्रह तो सामान्य मात्र का ग्रहण कर लेता है, किन्तु वह सामान्य किस प्रकार का है, इसका विश्लेषण करने के लिए व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। आचार्य तुलसी के अनुसार 'भेदग्राही व्यवहारः'²⁰² भेद (विशेष) को ग्रहण करनेवाला अभिप्राय व्यवहारनय है। संग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थों का निषेध नहीं करते हुए विधान करके जो विशेष परामर्श करते हुए उसी को माने, स्वीकार करे, वह व्यवहारनय है।²⁰³ जैसे जो सत् है, वह द्रव्य है या पर्याय? द्रव्य के छः भेद—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि ऐसा विमर्श करना।²⁰⁴

उपाध्याय यशोविजय ने भी नयरहस्य में व्यवहारनय की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो अध्यवसाय विशेष लोगों के व्यवहार में उपायभूत है, वह व्यवहारनय कहलाता है।²⁰⁵

उपाध्यायजी ने जैन तर्क परिभाषा में भी व्यवहारनय की व्याख्या करते हुए लिखा है—

सङ्ग्रहणे गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः।²⁰⁶

अर्थात् संग्रहनय द्वारा गृहीत अर्थों का विधिपूर्वक अवहरण विशेष रूप से हो, उसे व्यवहारनय कहते हैं।

नयवाद में व्यवहारनय का लक्षण बताते हुए कहा है कि—विशेषण, अवहरति, प्ररुपयति, पदार्थान् इति व्यवहारः।²⁰⁷ विशेष रूप से जो पदार्थों का निरूपण किया जाता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं।

न्यायप्रदीप में व्यवहारनय की व्याख्या करते हुए कहा है कि—भेदरुपतया व्यवहियते इति व्यवहारः।²⁰⁸ संग्रहनय से ग्रहण किये गये पदार्थ का योग्य रीति से विभाग करने वाला व्यवहारनय है।

संग्रह और व्यवहार—ये दोनों दृष्टियां समान्तर रेखा पर चलने वाली हैं पर इनका गतिक्रम विपरीत है। संग्रहदृष्टि सिमटती चली जाती है और चलते-चलते एक हो जाती है। व्यवहारदृष्टि खुलती चली जाती है और चलते-चलते अनन्त हो जाती है। जैनदर्शन : मनन और मीमांसा में जीव के उदाहरण के द्वारा बहुत ही सुन्दर एवं सरल ढंग से समझाया गया है कि किस प्रकार संग्रहनय भेद से अभेद की ओर गमन करता है और व्यवहारनय अभेद से भेद की ओर गमन करता है।²⁰⁹

वस्तुतः जहाँ अस्तित्व का ज्ञान हो, वहाँ तो अभेद से काम चल सकता है किन्तु संसार के व्यवहार मात्र अस्तित्व से नहीं चलते। वहाँ उपयोगिता की चर्चा करनी होती है। उपयोगिता के लिए भेद का अवलम्बन अनिवार्य है। सत् करने मात्र से जीव अथवा अजीव का निर्णय नहीं होता और उसके बिना

- जीव का व्यवहार नहीं चलता। व्यवहार नय भेद को महत्त्व देता है पर अभेद का निराकरण नहीं करता। यदि अभेद का सर्वथा निराकरण कर दे तो उसे व्यवहार नयाभास कहना होगा। इस नय का मुख्य प्रयोजन व्यवहार की सिद्धि है।²¹⁰ वह अन्तिम विशेष का ग्रहण कर सकती है। व्यवहारगृहीत विशेष पर्यायों के रूप में नहीं होते अपितु द्रव्य के भेद के रूप में होते हैं। इसलिए व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए भी द्रव्यरूप है, न कि पर्यायरूप। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में से व्यवहार का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया गया है।

व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी दृष्टि कह सकते हैं।²¹¹ लौकिक अभिप्रायः समान उपचार बहुल विस्तृत अर्थ विषयक व्यवहारनय है।

4. ऋजुसूत्र नय

यह वर्तमानपरक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं करती। अतीत की क्रिया नष्ट हो चुकी है। भविष्य अभी उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए न अतीतकालीन वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ होती और न भविष्यकालीन वस्तु ही हमारे अभी काम की है। इसलिए वह वर्तमान में होने वाली अर्थपर्याय को ही अपना विषय बनाता है। भिक्षु न्यायकर्णिका में इसको परिभाषित करते हुए लिखा गया है—वर्तमानपर्यायग्राही ऋजुसूत्रः।²¹² ज्ञाता का वह अभिप्राय जो केवल वर्तमान की पर्याय को ही ग्रहण करे, वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे वर्तमान में सुख है। इस वाक्य में प्रत्युत्पन्नवर्ती सुख की ही मुख्यता है, उसके अधिकरणभूत जीव गौण हो जाता है। भेद अथवा पर्याय की विवक्षा से जो कथन है, यह ऋजुसूत्र नय का विषय है।²¹³ जिस प्रकार संग्रह का विषय सामान्य अथवा अभेद है, उसी प्रकार ऋजुसूत्र का विषय पर्याय अथवा भेद है। यह नयभूत और भविष्य की उपेक्षा करते केवल वर्तमान का ग्रहण करता है। पर्याय की उपस्थिति वर्तमान काल में ही होती है। भूत और भविष्यकाल में द्रव्य रहता है, जैसे—

गते शोको न कर्तव्यो, भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।

वर्तमानेन योगेन, वर्तन्ते हि विचक्षणाः ।।²¹⁴

इस नीतिकथित वचन अनुसार सुज्ञ जनों को भूत एवं भावी के सुख-दुःख का हर्ष-शोक वर्तमान में नहीं होता है किन्तु वह वर्तमान में ही प्रवर्तते हैं।

जैसे भूतकाल का राजा वर्तमान में भिखारी हो सकता है। वर्तमान का भिखारी भविष्य में भूपति हो सकता है, इसलिए वो रंक वर्तमान में राजा के सुख का अनुभव नहीं कर सकता है।

अतीत अनागत के त्यागपूर्वक जो केवल वर्तमान का बोध कराता है, वह ऋजुसूत्र नय है।²¹⁵ यह नय वर्तमान वस्तु के लिंग, वचन और निक्षेप की भिन्नता भी सामान्य रूप से ग्रहण करता है। यह नय स्वानुकूल कार्य प्रलय को ग्रहण करता है, परानुकूल को नहीं।²¹⁶

न्यायप्रदीप में ऋजुसूत्र नय की व्याख्या करते हुए कहा है कि वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करने वाला ऋजुसूत्र नय है।²¹⁷

नयचक्रसार में ऋजुसूत्रनय की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

रिजुवर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्र प्राधान्यतः सूत्र यति अभिप्रायः रिजुसूत्रः—ज्ञानोपयुक्त ज्ञानी, दर्शनोपयुक्त दर्शनी, कषायोपयुक्त कषायी, समतोपयुक्त सामायिकी।²¹⁸

अर्थात् सरलपने अतीत अनागत की गवेषणा नहीं करता हुआ वर्तमान समयवर्ती पदार्थ के पर्याय मात्र को प्रधान रूप से माने, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं, जैसे—ज्ञानोपयोग सहित जो ज्ञानी, दर्शनोपयोग सहित जो दर्शनी, कषाय उपयोग सहित जो कषायी, समता उपयोग वाले को सामायिकी—यह ऋजुसूत्र नय का मन्तव्य है।

उपरोक्त ऋजुसूत्र नय की परिभाषा उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्क परिभाषा में दी है। नयवाद में ऋजुसूत्र नय की व्याख्या देते हुए कहा है कि—

ऋजु-प्राञ्जलं वर्तमानक्षणं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः।²²⁰

जो विचार वर्तमानकाल को अवलम्बे, वह ऋजुसूत्र नय अथवा ऋजु यानी सकल-सरलता से वस्तु का जो निरूपण, वो ऋजुसूत्र नय।

ऋजुसूत्रनय संग्रहनय से विपरीत विशुद्ध क्षणिकवादी है। सिद्धसेन दिवाकर ने इसे पर्यायार्थिक नय की विशुद्ध प्रकृति कहा है। यद्यपि व्यवहारनय भी भेदमुख्य दृष्टि है परन्तु उसके द्वारा गृहीत भेद भी एक दृष्टि से अभेद का सूचक है। ऋजुसूत्र नय में व्यवहार नय की अपेक्षा भी भेद प्रमुख हो जाता है, क्योंकि वह कालगत अभेद को भी स्वीकार नहीं करता। व्यवहार नय की दृष्टि से तुला अतीत में भी तुला थी, निकट भविष्य में भी तुला ही रहेगी, पर ऋजुसूत्र नय के अनुसार तुला तभी तुला है जब उसमें तोला जाता है। सामान्य भाषा में हम कहते हैं—पलाल जलता है। 'पलालदाह' यह वस्तुतः ऋजुसूत्र नय से ठीक नहीं। ऋजुसूत्र नय के अनुसार जब पलाल है तब जलता नहीं और जब जलता है तब पलाल नहीं। इस प्रकार ऋजुसूत्र दृष्टि से क्षणक्षयवाद की सिद्धि होती है, जिसकी तुलना बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद से कर सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि बौद्ध दर्शन उस पर्याय में अनुस्यूत द्रव्य का अपलाप करता है जबकि यह नय पर्याय को मुख्यता देता हुआ भी द्रव्य का निराकरण नहीं करता। बौद्ध दर्शन क्षण की सिद्धि के लिए स्थायी सत्ता का खंडन करता है। अतः वह ऋजुसूत्र-नयाभास है। कौआ काला है—इस वाक्य में कौए और कालेपन की जो एकता है, उसकी उपेक्षा करने के लिए ऋजुसूत्रनय कहता है कि कौआ कौआ है और कालापन कालापन है। कौआ और कालापन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। यदि कालापन और कौआ एक होते तो भ्रमर भी कौआ हो जाता, क्योंकि वह काला है। ऋजुसूत्र क्षणिकवाद में विश्वास रखता है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को अस्थायी मानता है। जिस प्रकार कालभेद से वस्तुभेद की मान्यता है, उसी प्रकार देश-भेद से भी वस्तुभेद की मान्यता है। भिन्न देश में रहने वाले पदार्थ भिन्न हैं। इस प्रकार ऋजुसूत्र प्रत्येक वस्तु में भेद ही भेद देखता है। यह भेद द्रव्यमूलक न होकर पर्यायमूलक है। अतः यह नय पर्यायार्थिक है।

ऋजुसूत्र नय के दो प्रकार हैं—शुद्ध ऋजुसूत्र और अशुद्ध ऋजुसूत्र नय।²²¹ शुद्ध ऋजुसूत्र नय के अनुसार एक क्षणवर्ती अर्थपर्याय सत्य है अतः द्रव्य का लक्षण उत्पाद व विनाश है। अशुद्ध ऋजुसूत्र चक्षुग्राह्य व्यंजन पर्याय को भी ग्रहण करता है, जो दीर्घकालिक होती है।

आगम में एक स्थान पर—उज्जुसुअस्स एणे अणुवउते एणं दव्वावस्सगं पुहतं णेच्छइ।²²² ऐसा सूत्र आता है। इस सूत्र का विरोध न हो इसलिए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय में गिना है। लेकिन महावादी श्री सिद्धसेन दिवाकर आदि तार्किकों ने ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय में गिना है। इन दोनों के बीच विरोध नजर आता है। फिर भी पूर्व में कथ्यानुसार द्रव्यार्थिक नय

में पर्याय की और पर्यायार्थिक नय में द्रव्य की गौणता रहती है। इसलिए वो दोनों मत एक ही मुख्यता और एक ही गौणता के आधार पर होने से उभयगत अचिरुद्ध हैं।

शत न्यायग्रंथप्रणेता न्यायविशारद यशोविजय महाराज नयरहस्य में इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए दिखा रहे हैं—उक्तं सूत्रं त्वनुयोगांशमादाय वर्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयमिति।²²³

5. शब्द नय

हमारे व्यवहारों का महत्त्वपूर्ण आधार है—शब्द। शब्द के आधार पर अर्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय है—शब्दनय। यह भिन्न लिंग, वचन, काल, कारक आदि से मुक्त शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है, इसीलिए कहा गया है—

काल, लिंग वचनादि से वाचक है भिन्नार्थ।

शाब्दिक संयोजन सुघड, बने शब्दनय सार्थ।²²⁴

व्याकरण की लिंग, वचन आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नहीं करता, इसका अभिप्राय है।

पुल्लिंग का वाच्य अर्थ स्त्रीलिंग का वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। पहाड़ का जो अर्थ है, वह पहाड़ी शब्द से व्यक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार नद और नदी का अर्थ भी एक नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ लिंगभेद होता है, वहाँ अर्थभेद भी होता है, जैसे पुत्र और पुत्री में।

एकवचन का जो वाच्यार्थ है, वह बहुवचन का वाच्यार्थ नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो मीना छात्रा है के स्थान पर मीना छात्राएँ हैं भी प्रयोग शुद्ध गिना जाता।

शब्द के लिंग, काल, कारक, वचन आदि के भेद के अर्थभेद पूर्वक बोध कराने वाले नय को शब्दनय कहते हैं। शब्दनय लिंगादि के भेद से अर्थ भेद करता है, परन्तु पर्यायवाची शब्दों को समान मानता है।²²⁵

उदाहरण— (क) लिंग—बाल: बाला।

काल—बभूव, भवनि, भविष्यति।

कारक—बालकेन, बालकाय इत्यादि।

वचन—तट: तटी तट: आदि में करना।

(ख) घट, कलश, कुम्भ आदि को समान मानना।

नयचक्रानुसार में शब्द नय की व्याख्या बताते हुए कहते हैं कि काल, लिंगादि भेद से अर्थ का भेद होता है, उसी भेद धर्म से वस्तु को मानें, उसे शब्दनय कहते हैं।²²⁶

नयवाद में शब्दनय को परिभाषित करते हुए कहा है—

शप्यते वचनगोचरी क्रियते वस्तुयेन स शब्दः।²²⁷

जिसके द्वारा पदार्थ विषय-वचन का विषयभूत होता है, उसे शब्दनय कहते हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा में शब्दनय का विवेचन करते हुए कहा है—

कालादि भेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः।²²⁸

यह दृष्टि शब्द प्रयोग के पीछे छिपे इतिहास को जानने में बड़ी सहायक है। संकेत काल में शब्द, लिंग आदि की रचना प्रयोजन के अनुरूप बनती है। वह रूढ़ जैसी बाद में होती है। सामान्यतः हम

स्तुति और स्तोत्र—दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं पर उनका अर्थ भिन्न है। स्तुति का अर्थ है—एक श्लोक वाला भक्तिकाव्य। स्तोत्र का अर्थ है—बहुत श्लोकों वाला भक्तिकाव्य।

शब्दनय द्वारा गृहीत पर्याय ऋजुसूत्र नय द्वारा गृहीत पर्याय से शुद्धतर होती है अतः वह उससे विशुद्धतर है। शब्दनय काल आदि के भेद से अर्थभेद मानता है पर जब उन्हें सर्वथा भिन्न ही मान लिया जाता है, वह शब्द नयाभास है। शब्दनय उसे सापेक्षदृष्टि से स्वीकार करता है।

6. समभिरुद्ध नय

पर्यायनिरुक्ति भेदनार्थ भेदकृत समभिरुद्धः।²²⁹ विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के निरुक्त के भेद से अर्थभेद का स्वीकार करने वाले नय को समभिरुद्ध नय कहा जाता है। जैसे भिक्षाशील होता है उसे भिक्षु कहते हैं, जो वाणी का संयम करता है उसे वाचंयम कहते हैं, जो तपस्या करता है उसे तपस्वी कहते हैं जबकि शब्दकोश में ये तीनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं, एकार्थक हैं। शब्दनय निरुक्त का भेद होने पर भी अर्थ के अभेद को स्वीकार करता है। समभिरुद्ध नय निरुक्त भिन्न होने पर अर्थ के अभेद को स्वीकार नहीं करता, अतः वह शब्दनय से विशुद्धतर है।

एक वस्तु का संक्रमण दूसरी वस्तु में नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में निष्ठ होती है। स्थूलदृष्टि से हम अनेक वस्तुओं के मिश्रण या सहस्थिति को एक मान लेते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में रहती है। विज्ञान के अनुसार एक ही समय में आकाश में एक साथ ऑक्सीजन, कार्बन-डाई-ऑक्साइड, नाइट्रोजन आदि कितनी गैसों एक साथ रहती हैं, पर क्या ये मिलकर एक हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जहाँ आरुद्ध है, उसे वहीं प्रयोग करना चाहिए। वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से यह नय बहुत उपयोगी है।

शब्द और अर्थ का एक-दूसरे से गहरा संबंध है। शब्द प्रयोग के अनुरूप अर्थबोध हो और अर्थभेद के अनुरूप शब्द प्रयोग हो—यह यथार्थवाद की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। समभिरुद्ध नय का आधार भी यही कसौटी है। जो शब्द विभिन्न अर्थों को छोड़कर प्रधानता से किसी एक अर्थ में रूढ़ हो जाता है, वह समभिरुद्ध कहलाता है, जैसे—गौ शब्द के पृथ्वी, गाय, वचन आदि अनेक अर्थ हैं पर वह गाय के अर्थ में रूढ़ है। दूसरे दृष्टिकोण से समान लिंग, वचन, कारक, काल वाले शब्दों में व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद को स्वीकार करने वाला अभिप्राय समभिरुद्ध नय है, जैसे—घट, कुट और कुम्भ।

यह नय पर्यायवाची शब्दों में भी निरुक्ति भेद से अर्थभेद ग्रहण करता है, जैसे—शक्र, पुरन्दर, इन्द्र आदि शब्द इन्द्र के वाचक होने पर भी समभिरुद्ध नय इसे भिन्न रूप से ग्रहण करता है। समभिरुद्ध नय के अनुसार घट शब्द घट के लिए प्रयुक्त होगा और कलश का विवाह आदि मांगलिक कार्यों का मंगल कलश होगा, अतः शब्दनय की दृष्टि में अभिन्न दिखाई देने वाले घट और कलश समभिरुद्ध नय की दृष्टि में भिन्न हैं।²³⁰ इसी प्रकार नृपति, भूपति, राजा इत्यादि जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं, सब में अर्थभेद है।

नयवाद में समभिरुद्ध नय की व्याख्या करते हुए कहा है—सम्यक्प्रकारेण अभिसमीपं (अर्थस्य) रोहतीति समभिरुद्धः।²³¹ अच्छी तरह जो अर्थ के समीप जाता है, उसे समभिरुद्ध नय कहते हैं, जैसे—जिन, अर्हत्, तीर्थकर आदि परमात्मा के लिए उपयोगी शब्द हैं। लेकिन यह नय उनका भिन्न अर्थ निकालता है। इस नय के अनुसार—जयन्ति रागादीन् इति जिनः। अर्हति पूजामित्यर्हन। तीर्थ चतुर्विधसंघ प्रथमगणधरं वा करोति स्थापयतीति तीर्थकर।।²³² इसी तरह दूसरे शब्दों के बारे में भी समझना।

न्यायप्रदीप में भी समभिरूढ़ नय को परिभाषित करते हुए कहा है—जहाँ शब्द का भेद है, वहाँ अर्थ का भेद अवश्य है। इस प्रकार बताने वाला समभिरूढ़ नय है—पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् नयः समभिरूढ़ः स्यात्पूर्वपच्चास्य निश्चयः।¹²³

नयचक्रसार में भी समभिरूढ़ का वर्णन करते हुए कहा है कि—एकार्थावलान्बि पर्यायशब्देषु नियुक्ति भेदेन भिन्नार्थ समभिरुहन समभिरूढ़ः।¹²⁴ अर्थात् एक पदार्थ को ग्रहण कर उसमें एकार्थवाची जितने नाम होते हैं, उतने ही पर्यायभेद होते हैं, उतने ही नियुक्ति, व्युत्पत्ति और अर्थभेद होते हैं। इस भिन्नता का सम्यक् प्रकार से आरोह करें अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ सहित हो, उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने भी जैन तर्कपरिभाषा में समभिरूढ़ को व्याख्यायित करते हुए कहा है—पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्न अर्थ समभिरुहन समभिरूढ़ः।¹²⁵ अर्थात् पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानने वाले नय को समभिरूढ़ नय कहते हैं।

7. एवंभूत नय

यहाँ सर्वसूक्ष्मगाही दृष्टिकोण है। यह क्रियाभेद के आधार पर अर्थभेद को स्वीकार करता है। इसमें शब्दप्रयोग के वैशिष्ट्य से अर्थ के वैशिष्ट्य का और अर्थ के वैशिष्ट्य से शब्द के वैशिष्ट्य का बोध होता है। आचार्य तुलसी ने एवंभूत नय को परिभाषित करते हुए लिखा है—

क्रियापरिणतमर्थ तच्छादवाच्य स्वामुर्वन्नेवंभूत।¹²⁶

क्रिया की परिणति के अनुरूप ही शब्द प्रयोग को स्वीकार करने वाले नय को एवंभूत नय कहा जाता है। जैसे कोई साधु भिक्षा के लिए जाता है तभी वह भिक्षु कहलाने का अधिकारी है। मौन करते समय ही व्यक्ति वाच्यम होता है और तपस्या में प्रवृत्त साधु को ही तपस्वी कहते हैं।

स्वामी पूज्यपाद ने एवंभूत नय का विवेचन करते हुए लिखा है कि जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप का निश्चय करनेवाले नय को एवंभूत नय कहा जाता है। अतः जिस शब्द का जो वाच्य है, उसके अनुरूप क्रिया के परिणमन काल में ही उस शब्द का प्रयोग करना संगत है, अन्य समय विभागों में नहीं। जैसे जिस समय इन्द्र अपनी आज्ञा का प्रयोग कर रहा हो, ऐश्वर्यवान हो, उसी समय इन्द्र है। यदि वह भगवान की वन्दना करने जा रहा है तो उस समय इन्द्र नहीं कहना चाहिए।

एक व्यक्ति जब अध्यापन करवाता है, तभी अध्यापक कहना चाहिए। घर पर खाना खाते समय उसे अध्यापक, गुरु आदि शब्दों से युक्ति नहीं करना चाहिए। इस प्रकार शब्द और अर्थ की सूक्ष्म विश्लेषण करता है।

जिस पदार्थ का जिस शब्द से बोध कराया जाता हो, उस पदार्थ में उसके बोधक शब्द के व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थानुसार क्रिया जिस काल में प्राप्त होती है, तब ही उस पदार्थ को उस शब्द के द्वारा संबोधन करना, सत्यरूप में ग्रहण करना एवंभूत नय है।¹²⁷ जैसे राजा जिस समय राजचिह्न मुकुटादि धारण कर राजसभा में राजसिंहासन पर बैठकर राज्य संबंधी कार्य कर रहा हो, उसी समय उसे राजा कहना अन्यत्र नहीं।¹²⁸ जिस समय किसी देवयज्ञ के द्वारा जब वह पुरुष या बालक दिया गया हो, उसी समय उसका नाम देवदत्त या यज्ञदत्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं।¹²⁹ इस प्रकार एवंभूत नय प्रत्येक वस्तु को जिस समय वह अपने नाम के अनुसार क्रिया करता हो, उसी समय उसे स्वीकार करता है, अन्यथा नहीं करता।

न्यायप्रदीप में एवंभूत नय का विवेचन करते हुए कहा है कि—

तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवंभूतेन नीयते क्रियांतरपराङ्मुखः ।²⁴⁰

जिस शब्द का अर्थ जिस क्रियारूप हो, उस क्रिया में लगे हुए पदार्थ को ही उस शब्द का विषय करना एवंभूत नय है।

नयवाद में एवंभूत नय का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—जिस शब्द का जिस अर्थ में उपयोग किया हो, उसी अर्थ में अनुभव होता है। उनके लिए जिस शब्द का उपयोग किया जाता है, वह इस नय की मान्यता है।²⁴¹

नयचक्रसार में एवंभूत नय को परिभाषित करते हुए कहा है कि—एवं भिन्न शब्द वाच्यत्वाच्छब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्त मृतक्रिया विशिष्टमर्थ वाच्यत्वे नाभ्युपगमच्छन्नेवभूतं ।²⁴² शब्दनय की प्रवृत्ति निमित्त क्रिया-विशिष्ट अर्थयुक्त अर्थात् वस्तु वाच्यधर्म से प्राप्त हो, कारण-कार्य धर्म सहित हो, उसे एवंभूत नय कहते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ने जैन तर्क परिभाषा में एवंभूत नय का लक्षण बताते हुए कहा है कि—शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूत क्रिया विष्टमर्थ वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छनेवभूत ।²⁴³ शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत क्रिया से युक्त अर्थ ही शब्द का वाच्य है, ऐसा एवंभूत नय का मत है।

संक्षेप में भ्रान्ति का निरसन करने के लिए नयवाद का विकास आवश्यक है। कभी-कभी एक ही ग्रन्थ से एक विषय के परिप्रेक्ष्य में भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न प्रतिपादन उपलब्ध होते हैं। यदि व्यक्ति उनके पीछे छिपी अपेक्षा को नहीं जानता तो यथार्थ का बोध नहीं कर पाता, भ्रान्त हो जाता है।

नयविधि को जानने वाला व्यक्ति अपने विचार की सत्यता को जानते हुए अन्य विचारों के प्रति भी सापेक्ष दृष्टिकोण देखता है। अतः वह ज्ञेय के विषय में सम्पूढ़ नहीं बनता और सिद्धान्त की आशातना भी नहीं करता। इस प्रकार नयवाद सम्यक्त्व परिशुद्धि का मार्ग है।

माइल्लधवल के अनुसार नय का ज्ञान यथार्थ बोध का माध्यम है। यथार्थज्ञान से दृष्टिकोण सम्यक् बनता है। सम्यक् बोध और सम्यक् दृष्टि का चारित्र आराधना का हेतु है। अतः परस्पर रूप से नय मोक्ष का उपाय है।²⁴⁴

उपर्युक्त सातों नय परस्पर सापेक्ष दृष्टिकोण हैं। इनमें एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ग्रहण किया जाता है। इनका विचार क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। अतः विषय की व्यापकता भी क्रमशः अल्पतर होती जाती है। संक्षेप में—

- नैगम नय संकल्पग्राही अभिग्रह अभिप्राय है।
- संग्रह नय सत्ता मात्र को अपना विषय बनाता है।
- व्यवहार नय भेदग्राही है।
- ऋजुसूत्र नय कारक आदि भिन्न वस्तु भी वस्तु को अभिन्न मानता है।
- शब्द नय व्युत्पत्ति का भेद होने पर भी पर्यायवाची शब्दों की अभिन्नता को स्वीकार करता है।
- समभिरूढ़ नय क्रिया का भेद होने पर भी वस्तु में अभेद को स्वीकार करता है।
- एवंभूत नय क्रिया के आधार पर भिन्न अर्थ को स्वीकार करता है अतः वह सर्वाधिक सूक्ष्म है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयों के विषय में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और परिमितता आती जाती है। पूर्ववर्ती नय व्यापक और उत्तरवर्ती नय व्याप्य है। उनमें कारण कार्य की योजना भी की जा सकती है।

अनेकान्त और नयदृष्टि का महत्त्व

अनेकान्त के दो सक्षम आयाम हैं—प्रमाण (स्याद्वाद) और नय। जैन तार्किकों ने प्रमाण और नय के द्वारा प्रमेय की व्यवस्था की। एक धर्म की व्याख्या-पद्धति को नय तथा एक धर्म के माध्यम से अखण्ड वस्तु की व्याख्या पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। नय विकलादेश और प्रमाण सकलादेश है।

आगमयुग में पंचविधज्ञान को ही प्रमाण माना जाता था। अनेकान्त और स्याद्वाद के लिए नयों का प्रयोग होता था। दार्शनिक युग में प्रमाण व्यवस्था प्रारम्भ हुई, वह समय की मांग थी। आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार सूत्र का प्रारम्भ पंचविध ज्ञान के सूत्र में किया और प्रमाण की चर्चा ज्ञानगुण प्रमाण के अन्तर्गत की। यहां प्रमाण शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। भाव से वस्तु की प्रतीति की जाती है। इसलिए भाव को प्रमाण कहा गया है और भावप्रमाण के एक भेद के रूप में नय प्रमाण का उल्लेख है। समवाओ²⁴⁵ के अनुसार “व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) में अनुगम, निक्षेप, नय-प्रमाण-उपक्रम आदि विविध प्रश्नोत्तरों का प्रतिपादन हुआ है। इस प्रसंग में और अनुयोगद्वार में उपयुक्त नय-प्रमाण शब्द से संभावना की जा सकती है कि उस समय नय प्रमाण रूप में मान्य था। उत्तराध्ययन में प्रमाण और नय दोनों का उल्लेख है—

दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्ध ।

सव्वाहि नयविहीह य वित्याररुइति नायव्वो ।।²⁴⁶

जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नयविधियों से उपलब्ध है, वह विस्ताररुचि है। बहुत संभव है कि वाचक उमास्वाति में इसी आधार पर ‘प्रमाणनयैरधिगमः’²⁴⁷ इस सूत्र की रचना की है। उन्होंने प्रमाण और नय की स्वतंत्र व्याख्या की। आचार्य समन्तभद्र ने कहा—स्याद्वाद के द्वारा ज्ञात अखण्ड वस्तु के खण्ड-खण्ड का अध्यवसाय नय है।²⁴⁸

दर्शनयुग में एक समस्या ने जन्म लिया कि नय को प्रमाण माना जाये या अप्रमाण। बहुतश्रुत आचार्यों ने इस समस्या को यों सुलझाया कि नय वस्तुखण्ड का यथार्थग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण नहीं है, अखण्ड को ग्रहण नहीं करता इसलिए प्रमाण नहीं है किन्तु प्रमाणांश है। जैसे कि खड़े में भरे हुए जल को समुद्र नहीं कहा जा सकता, असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता, समुद्रांश कहा जा सकता है।

समीक्षात्मक समन्वय पद्धति के पुरस्कर्ता आचार्य सिद्धसेन ने ‘सन्मतितर्क’ में नयवाद का विशद निरूपण किया। उन्होंने जैन परम्परा में प्रमाण-व्यवस्था का भी सूत्रपात किया। उनका न्यायावतार ग्रन्थ प्रमाण का आदिग्रन्थ माना जाता है। अकलंक प्रमाण व्यवस्था के विकास पुरुष थे। लघीयस्त्रयी, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणमंगह आदि ग्रंथों के माध्यम से उन्होंने प्रमाण व्यवस्था की नींव डाली और नयवाद को नये सन्दर्भ दिये।

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नव्यन्याय के युग का प्रारम्भ गंगेश उपाध्याय से होता है। उन्होंने नवीन न्यायशैली का विकास किया। तभी से समस्त दार्शनिकों ने उसके प्रकाश में अपने-अपने दर्शन का परिष्कार

किया। किन्तु जैन दार्शनिकों में से किसी का जब तक यशोविजय नहीं हुए, इस ओर ध्यान नहीं गया। फल यह हुआ कि 13वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय दर्शनों की विचारधारा का जो नया विकास हुआ, उससे जैन दार्शनिक साहित्य वंचित रह गया।

17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाचक यशोविजय ने काशी की ओर प्रयाण किया और सर्वशास्त्र वैशारद्य प्राप्त कर उन्होंने जैन दर्शन में भी नवीन न्यायशैली के अनेक ग्रंथ लिखे और अनेकान्तवाद के ऊपर दिये गए आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेकान्त व्यवस्था²⁴⁹ लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। अष्टसहस्री और शास्त्रवार्ता समुच्चय नामक प्राचीन ग्रंथों के ऊपर नवीन शैली की टीका लिखकर उन दोनों ग्रंथों को आधुनिक बनाकर उनका उद्धार किया। जैन तर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिखकर जैन प्रमाणशास्त्र को परिष्कृत किया। उन्होंने नयवाद को अनेकान्तवाद का आधारभूत सिद्धान्त है, के विषय में नयप्रदीप, नयरहस्य, नयोपदेश आदि अनेक ग्रंथ लिखे। इसी युग में श्रीमद् विमलदास ने अनेकान्तवाद के स्वरूप को यौक्तिक धरातल पर स्पष्ट करने हेतु सप्तभंगीतरंगिणी²⁵⁰ जैसे नव्य न्याय की भाषा में चर्चा जटिल ग्रंथ की रचना की।

नय और स्यात् पद

वचनात्मक नय को नयवाक्य या सद्वाद कहा जाता है। भगवती आदि में नयवाक्यों के साथ स्यात् पद का प्रयोग हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र²⁵¹ में स्यात् शब्द से लांछित नय को इष्ट फलदायी कहा है। मल्लिषेण और मलयगिरी के अनुसार स्यात् शब्द जुड़ते ही नयवाक्य, प्रमाणवाक्य बन जाता है।²⁵² प्रमाण सर्वनयात्मक है। आचार्य अकलंक ने प्रमाणवाक्य और नयवाक्य दोनों में स्यात् शब्द का प्रयोग किया है।²⁵³

प्रमाणवाक्य—स्यात् जीव एव।

नयवाक्य—स्यात् अस्ति एव जीवः।

हेमचन्द्र ने नय के लिए सत् शब्द का प्रयोग किया है—

सदेव सत् स्यात् सदिनि त्रिधार्यो,

भीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।²⁵⁴

सत् एवं यह दुर्नय है, सत् नय है और स्यात् सत् प्रमाण है।

आचार्य सिद्धसेन आदि ने नय के तीन भंग माने हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। आचार्य अकलंक आदि ने नय की सप्तभंगी को स्वीकृति दी है।

विशेषावश्यकभाष्य²⁵⁵ और तिलोयपण्णति²⁵⁶ में नयप्रमाण का मूल्यांकन इस भावभाषा में किया गया है—

जो निक्षेप, नय और प्रमाण से विधिपूर्वक अर्थ की समीक्षा परीक्षा नहीं करता, उसे अयुक्त, युक्त और युक्त अयुक्त प्रतीत होता है।

नयविशारद व्यक्ति अपने विषय में प्रयुक्त नय को सत्य जानता है, दूसरे के द्वारा प्रयुक्त नय से पराङ्मुख होता है। इसलिए यह ज्ञेय में सम्मूढ़ नहीं होता और न सिद्धान्तों की आशातना करता है।

• अनेकान्त, नय और समन्वय

ईसा पूर्व तीसरी शती में दृष्टिवाद आगम प्रायः लुप्त हो गया। उसके बचे हुए कुछ अंशों के आधार पर आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन ने विविध नयों से विविध दर्शनों में समन्वय स्थापित किया। समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में सामान्य, विशेष, नित्य-अनित्य, भाव-अभाव आदि विरोधीवादों में सप्तभंगी की योजना कर समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने 'सन्मतिप्रकरण' में परदर्शनों की नयों से तुलना की, सापेक्षदृष्टि से समन्वय स्थापित किया। सांख्यदर्शन का द्रव्यार्थिक नय में और बौद्ध दर्शन का पर्यायार्थिक नय में समावेश किया। जैन दर्शन को मिथ्या-दर्शनों का समूह बताया। उनकी दृष्टि में सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। यदि ये निरपेक्षता से अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हैं, एक-दूसरे से सापेक्ष होते हैं तो सभी नय सम्यग् बन जाते हैं।

सन्मतितर्क प्रकरण की रचना ने एक बार पुनः नयवाद के विकास की नई दिशाएँ खोल दी। जितने वचनपथ हैं, उतने नयवाद हैं और उतने ही परसमय हैं। सिद्धसेन के इस उदार दृष्टिकोण के आधार पर जैन आचार्यों ने नय परम्परा को बहुत विकसित किया। जिनभद्रगणि तो समन्वय के शिखर तक पहुँच गये—जितने भी परदर्शन हैं, वे सम्यक्त्व के उपकारी हैं, इसलिए ये स्वदर्शन ही हैं—

मिच्छतसमूहभयं सम्मतं जं च तदुवगारम्मि
वदति परसिध्यंतो तस्स तओ ससिद्धन्तो।।²⁵⁷

उपाध्याय यशोविजय ने बौद्धों में ऋजुसूत्रनय, वेदान्त और सांख्य के संग्रहनय, न्यायवैशेषिक के नेगमनय, शब्दाद्वैतवाद के शब्दनय को सापेक्षदृष्टि से ग्रहण कर जैन दर्शन को सर्वसंग्रही दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है।²⁵⁸

मल्लिषेण ने व्यवहारनयाभास के उदाहरण के रूप में चार्वाक मत को प्रस्तुत किया है।²⁵⁹

इस समन्वयपरक दृष्टि की व्यापकता ने ही संभवतः एक नई समस्या को जन्म दिया। कुछ विद्वान् जैन दर्शन को मिथ्यादर्शनों का समवाय मात्र समझने लगे। विभिन्न नयों को विभिन्न मतों का संकलन मानने लगे। जैन दर्शन की स्वतंत्र और मौलिक आधारभिति को न समझने के कारण ऐसा हुआ। जब अन्य सब दर्शन मिथ्या हैं तो उनका संग्रही दर्शन सम्यक् कैसे हो सकता है? यह प्रश्न भी यत्र-तत्र उभरने लगा। तत्त्वार्थभाष्य और आप्तमीमांसा में इनका तृप्तिदायक समाधान सन्निहित है।

विभिन्न नय विभिन्न दर्शनों के अभ्युपगमों का संकलन नहीं है और न ही स्वेच्छा से उत्पन्न किये गये पक्षग्राही विकल्प हैं। ये नय अनन्तधर्मात्मक ज्ञेय पदार्थ के विषय में होने वाले विभिन्न अध्यवसाय हैं।²⁶⁰

मिथ्या का समूह मिथ्या ही होगा। नय मिथ्या नहीं है। वे निरपेक्ष हैं, इसलिए मिथ्या हैं। वे सापेक्ष या समुदित होते ही वास्तविक हो जाते हैं।²⁶¹

सब नय समुदित होकर ही पूर्ण बनता है। अनेकान्त का स्वरूप यही है। महावीर ने आग्रहमुक्त शैलीप्रदान की, इसीलिए गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने गाया—

आग्रहहीन गहन चिन्तन का द्वार हमेशा खुला रहे।
कण-कण में आदर्श तुम्हारा पय मिश्री ज्यों घुला रहे।।²⁶²

नय और सापेक्षता

जैन दर्शन की इस अनेकान्तपरक विचारणा का मूल आधार है—सापेक्षवाद। इस सापेक्षता के आधार पर ही एकान्तवाद का निरसन और अनेकान्तवाद का संपोषण होता है। एकान्तवादी दृष्टि में आग्रह होने से दूसरे अभिमत की अवगणना का लक्ष्य मुख्य रहता है। जैन दर्शन इन्हीं एकान्तवादी दृष्टियों को योग्य रूप में स्थापित करके उनकी उपयोगिता को उजागर कर देता है। यही अनेकान्तवाद की महत्ता है।

अनेकान्त के आधारभूत पद तीन हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। समस्त जैन तत्त्वमीमांसा का आधार होने से इसे मातृकापद भी कहा जाता है। उमास्वाति ने अस्तित्व की ये ही तीनों कसोटियां प्रस्तुत की हैं। सिद्धसेन ने उत्पाद-व्यय और वस्तु का स्वरूप बतलाते हुए भी उसका नयदृष्टि से जो विश्लेषण किया है, वह उनकी स्वोपज्ञता का प्रतीक है। उन्होंने लिखा है—

उपपज्जति वियति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।

दव्यट्ठि यस्स सव्वं सया अणुपपन्नमविणऽवं ।।²⁶²

पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश रहित अर्थात् ध्रुव है। एक नय वस्तु के उत्पादव्ययात्मक स्वरूप का वाचक है तो दूसरा उसके ध्रुव स्वरूप का। सिद्धसेन दिवाकर को जैनन्याय का पिता कहा जाता है।

नय जैनदर्शन का प्रमुख लक्षण है। किसी भी वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नय उभयात्मक हो सकता है किन्तु वस्तु का प्रतिपादन नयात्मक ही होता है। स्याद् यानी कथंचित्, सर्वाश से नहीं, ऐसा वाद यानी निरूपण वह स्याद्वाद है, उसी को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। जब प्रतिपादन मात्र स्याद्वाद गर्भित ही हो सकता है तब उसको तदरूप न मानना यह मिथ्यावाद ही है या एकान्तवाद है। स्याद्वाद शब्द में ही यह फलित होता है कि वस्तु का एक-एक अंश से प्रतिपादन। उपदेशात्मक नय भी यही वस्तु है, इसलिए स्याद्वाद को ही दूसरे शब्द में नयवाद भी कह सकते हैं। जैनशास्त्रों का कोई भी प्रतिपादन नयविधुर नहीं होता। नयगर्भित ज्ञानसम्पन्न करते समय या नयगर्भित प्रतिपादन करते समय यह अनिवार्य है कि जिस अंश के ऊपर हमारी दृष्टि हो उसमें भिन्न वस्तु के सद्भुत अंशों का अपलाप नहीं करना चाहिए। प्रतिपादन नयात्मक होने से कदाचित् सुविहित पूर्वाचार्यों के प्रतिपादनों में भी अन्योन्य विरोध प्रतीत होना असम्भव नहीं है। बहुत से विचारों की नींव यही होती है कि एक-दूसरे के प्रतिपादन की भूमिका को ठीक तरह से ध्यान में न लेना। केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग क्रमशः होता है या एक साथ? इस विषय में महामहिम तार्किक आचार्यश्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि और आगमिक श्रद्धेय आचार्यश्री जिनभद्रगणि क्षमश्रमण के ग्रंथों में विस्तृत चर्चा और एक-दूसरे के मत की समीक्षा देखी जाती है। चतुर एवं तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रीमद् उपाध्याय महाराज ने दोनों मत का गहन अध्ययन करके उन दोनों से कौन-से नय को प्रधान बना कर वैसा प्रतिपादन किया है, यह खोजकर ज्ञानबिन्दु ग्रंथ में सामंजस्य का दिग्दर्शन कराया है।²⁶⁴

अध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में उपाध्यायजी महाराज कहते हैं—

यत्र सर्वनयालम्बि विचारप्रवलाग्निना ।

तात्पर्यश्यामिका न स्यात्, तच्छास्त्र तापशुद्धिमत् ।।²⁶⁵

अर्थात् तप परीक्षाशुद्ध शास्त्र वही है, जिसमें भिन्न-भिन्न नयों के विचार रूप घर्षण से चर्चा का प्रबल अग्नि उद्दीप्त होने पर भी कही तात्पर्य धूमिल नहीं होता। इस प्रकार तात्पर्य को कालिमा न लगे,

इस प्रकार की नयावलम्बि प्रबल चर्चा यह जैनशासन का भूषण है, दूषण नहीं। इसीलिए उपमीतिकार ने भी कहा है—

निर्नष्टममकारास्ते विवादं नय कुर्वते ।

अय कुर्युस्ततस्तेभ्यो दातव्यवैकवाक्यता ।।²⁶⁶

अर्थात् जिनका ममकार नष्टप्रायः हो गया है, वे कभी विवाद नहीं करते हैं। यदि ये विवाद करने लगे तो उनकी प्ररूपणाओं में अवश्य एकवाक्यता लाने का प्रयास करना चाहिए। सारांश, कहीं भी शास्त्रों के तात्पर्य को धूमिल नहीं करना चाहिए।

अतः नयवाद भी नयगर्भित ही है, इसीलिए नयों का भी कोई एक ही विभाग नहीं है। अन्य-अन्य आचार्यों ने भिन्न-भिन्न स्थान में उनका भिन्न-भिन्न विभाग दिखाया है, जैसे—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द—ऐसा पांच नय का विभाग श्री उमास्वातिश्री ने कहा है। संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द-समंभिरूढ़ एवं एवंभूत—ऐसा छः नयों का विभाग सम्मतिकार ने दिखाया है। आवश्यकदि में नैगमादि सात नय का विभाग है। तदुपरांत द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, अर्थनय-शब्दनय, निश्चयनय-व्यवहारनय, ज्ञाननय-क्रियानय, शुद्धनय-अशुद्धनय इत्यादि अनेक प्रकार का नयविभाग उपलब्ध है। उपाध्याय यशोविजय ने नयरहस्य, नयप्रदीप, जैन तर्कपरिभाषा आदि ग्रंथों में सात नय का स्वरूप दिखाया है।

नय चिन्तन की एक पद्धति है। वह एक विचार है और विचार कभी सीमा में आबद्ध नहीं होते। सिद्धसेन ने स्पष्ट उद्घोषणा की थी—अनेकान्त अनेक नयों का समवाय है।²⁶⁷

नय की निष्पत्ति

नय की तीन निष्पत्तियाँ हैं—हेय का हान, उपादेय का उपादान और उपेक्षणीय की उपेक्षा। अनुयोगद्वारा आवश्यक निर्युक्ति आदि में ज्ञाननय और क्रियानय के माध्यम से सोदाहरण दर्शाया गया है।

अर्थ को भलीभाँति जान लेने पर उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण में प्रयत्न करना चाहिए। यह ज्ञानप्रधान उपदेश ज्ञाननय है। सभी नयों की अनेक प्रकार की वक्तव्यता सुनकर श्री चारित्र और क्षमा आदि गुणों में स्थित है, साधु है, वह सर्वनयसम्मत होता है।

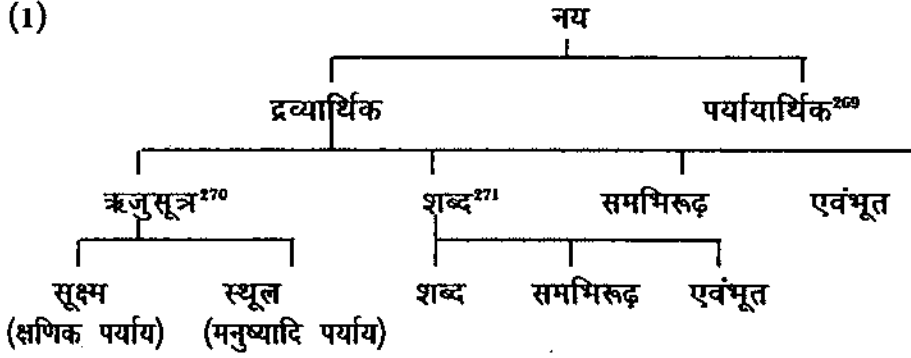
जैन शासन में नयवाद के विकास की परम्परा अविच्छिन्न रूप से गतिशील है। समय-समय पर जैन आचार्यों की जागृत प्रज्ञा ने इनमें नये सन्दर्भ जोड़े हैं। भिन्न ग्रंथों की नय विवेचना और नयविकास में अहं भूमिका रही है—तत्त्वार्थभाष्य, आप्तमीमांसा, सन्मतितर्क प्रकरण, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, धवला, प्रमाणनयतत्त्वालोक, सर्वार्थसिद्धि, नयचक्र, द्रव्यानुयोगतर्कणा, श्रीभिषु-न्यायकर्णिका, जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, जैन न्याय का विकास, जैन तर्क परिभाषा, नयरहस्य, अनेकान्त व्यवस्था, नयप्रदीप आदि।²⁶⁸

उपाध्याय यशोविजय ने अनेकान्त एवं नय के विषय में ज्ञानसार के अन्तिम अष्टक में नयज्ञान के फल का सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है—सर्वनयों के ज्ञाता को धर्मवाद द्वारा विपुल श्रेयस प्राप्त होता है जबकि नय से अनभिज्ञजन शुष्कवाद-विवाद में गिरकर विपरीत फल प्राप्त करते हैं। निश्चय और व्यवहार, ज्ञान एवं क्रिया आदि एक-एक पक्षों के विश्लेषण यानी आग्रह को छोड़कर शुद्ध भूमिका पर आरोहण करने वाले और अपने लक्ष्य के प्रति मूढ़ न रहने वाले तथा सर्वत्र पक्षपात से दूर रहने वाले, सभी नयों का आश्रय करने वाले, परमानंदमय होकर विजेता बनते हैं। सर्वनयों पर अवलम्बित ऐसा जिनमत, जिनके चित्त में परिणत हुआ और जो उनका सम्यक् प्रकाशन करते हैं, उनको पुनः-पुनः नमस्कार हो।

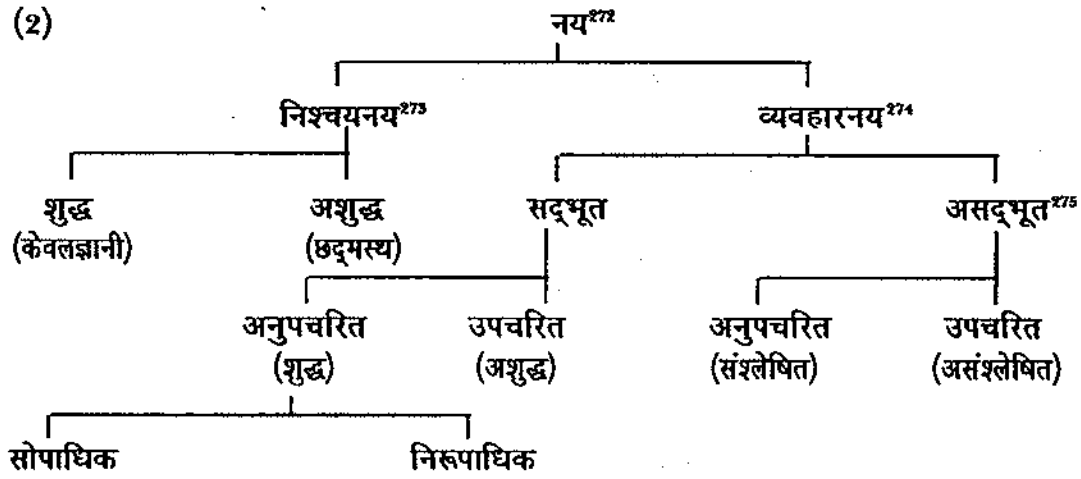
निष्कर्ष यह है कि कदाग्रह का विमोचन और वस्तु का सम्यक् बोध नय फल है और उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, पुष्ट होता है और मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति बढ़ती है।

संक्षेप में नयवाद के भेदों को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भी बताया जाता है—

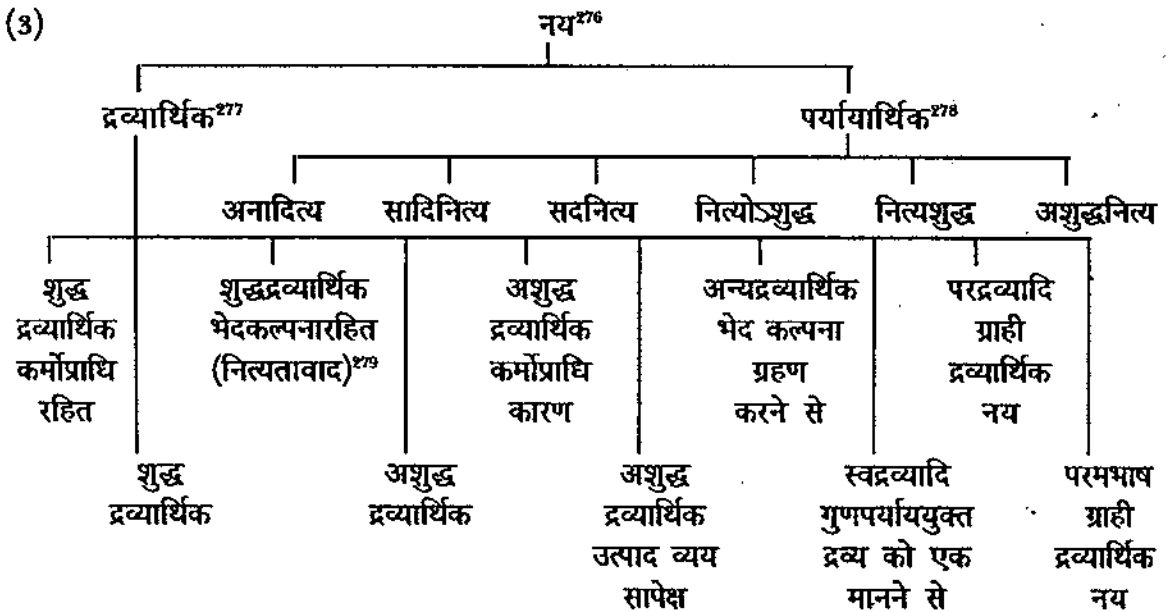
(1)



(2)



(3)



इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से नय के भेदों का विश्लेषण करके नयवाद की सार्थकता पर प्रकाश डाला है, वो यथार्थ है।

सन्दर्भ सूची—

1. जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं, तं जहा जीवच्चेव अजीवच्चेव....
—ठाणं, 2/1
2. यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवा-नित्यम् इत्येकवस्तु वस्तुत्व निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिरूप प्रकाशनमनेकान्तः।
—समयसार, आत्मख्याति, 10/247
3. सदसनित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः। —अष्टसहस्री, पृ. 286
4. औपपातिक सूत्र, गाथा 63-65
5. तेन स्याद्वादमालमव्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोदेशाविशेषण यः पश्यति स शास्त्रवित्।। —अध्यात्मोपनिषद्
6. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, श्लोक-4
7. नमिजिन स्तवन, गाथा-6, आनन्दधनधीकृत
8. अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण, पृ. 125
9. षड्दर्शन समुच्चय, कारिका-55
10. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक-22
11. प्रमाणनयतत्त्वावलोक, पृ. 170
12. अनेकान्तजयपताका, पृ. 320
13. निरपेक्षानया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेषुर्धकृत। —आप्तमीमांसा, श्लोक-108
14. सन्मति तर्क प्रकरण, 3/48-52
15. जेण विणा लोगस्स। —सन्मतितर्क, 3/68
16. आप्तमीमांसा, गाथा-23
17. सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूत्र-2
18. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक-2
19. शार्दूलविक्रीडित छंद स्याद्वाद की सर्वोक्तता, पृ. 2
20. समयसार, 113-115 पर तात्पर्यवृत्ति
21. आर्हती दृष्टि, पृ. 176
22. जातिव्यक्तमात्यमकं वस्तु, वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वाऽपि मुदारिर्वा, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।। —अध्यात्मोपनिषद्, 49
23. अबद्धं परमार्थेन, बद्धं व्यवहारतः।
ब्रवाणो बहम वेदान्ती, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।। —अध्यात्मोपनिषद्, 50
24. भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्त, पृ. 12
25. संयुक्तनिकाय, 1147

26. आर्हती दृष्टि, 175
27. वही, 175
28. विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्।
ईच्छंस्तथागतः प्राज्ञः नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥१४६॥ —अध्यात्मोपनिषद्; वीतरागस्तोत्र-8
29. भारतीय दार्शनिक चिंतन में अनेकान्तवाद, 14
30. इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैविरुद्धै गुम्फितं गुणैः।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥ —अध्यात्मोपनिषद्, 49; वीतरागस्तोत्र 8
31. योग विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति।
तथैकैकत्वं नानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ॥१७॥ —आश्वमेधिक अनुगीता, अध्या. 37
32. चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥ —अध्यात्मोपनिषद्, 1147; वीतरागस्तोत्र 8
33. भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्त
34. वैशेषिक सूत्र, 1/2/5
35. सन्मति तर्क प्रकरण
36. जैन धर्म दर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 44
37. वही, पृ. 44
38. सांख्यः प्रधानमुपयस्त्रिगुणं विचित्रां बौद्धोद्येशिद यन्नयगौतमीयः।
वैशेषिकश्च भुवि चित्रमनेकचित्रं बाधन् मतं न तव निन्दति चेत् सलज्जः ॥
—महावीरस्तव ग्रंथ, 44
39. षण्णामपिपदार्थनामस्तित्थाभिधेयत्वसेयत्वानि। —प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. 41
40. यतो वाचा निर्वचन्ते अप्राप्य मनसा सह। —तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/4
41. सर्वं खल्विदं ब्रह्मं। —छान्दोग्योपनिषद्, 14/1
42. नेह नानास्ति किंचन। —काष्ठकोपनिषद्, 2/1/11
43. चिन्मात्रं न दृश्योऽस्ति, द्विधाशिवंतं हि दृश्यते। —लंकारतार, सूत्र 3/65
44. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥ —माध्यमिक कारिका, 1/7
45. द्वै सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोक संवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥ —मध्यमकवृत्ति, 24/8
46. कल्पित परतन्त्रश्च पदिनिष्पन्न एवं च।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्रयाभावाच्च कथ्यते ॥ —बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. 222
47. पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम्।
चैतन्यभूमिरतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥ —षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक 83
48. तत्र से सर्वास्तिवादिनो बाह्यमान्तरं च वस्तु अभ्युपगच्छन्ति भूतं च भौतिकं चित्तं च चैत च।
—शांकरभाष्य, 2/2/17

49. नीलपितादिभि श्चत्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः ।
सौत्रान्तिक मते नित्यं बाह्यर्थस्त्वमुनीयते ।। —सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ. 13
50. मूलप्रकृतिरविकृतिमहदाद्यः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः ।। —सांख्यकारिका, कारिका-3
51. प्रमाणप्रमेसंशयप्रयोजन....तत्त्वज्ञानाद निश्चयसाधिगमः । —न्यायदर्शन, 1/1
52. प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ. 2
53. (1) सव्ये सरा णियड्ढंति । —आयारो, 5/123
(2) तक्का जत्थ ण विज्जइ । —वही, 5/124
(3) मई तत्थ न गाहिया । —वही, 5/125
(4) उपमा पा विज्जई । —वही, 5/137
54. तुमसि नाम सच्चेव ज हंतव्वं ति मन्सि । —आयारो, 5/101
55. स्थानांग, 1/1
56. जाणदि पस्सदि सव्वं बवहारणयेण केवली भगवं ।
केवलणाणि जाणदि पस्सदि नियमेण अप्पाणं ।। —नियमसार, गाथा 159
57. उद्यति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि न विद्रमो याति ।
निक्षेपचक्रम किमपरमभिद्धमो धाम्नि
सर्वकषेऽस्मिन्नुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।
—समयसार, आत्मख्याति, पृ. 75, कारिका-9
58. नानाज्ञान स्वभावत्वात् एकोऽनेकोऽपि नैव सः ।
चैतनैकस्वभावत्वात् एकानेकात्मको भवेत् ।। —स्वसंबोधन, श्लोक-6
59. पतङ्गभृङ्गमीनेभसारङ्गा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद् दुष्टैस्तैः किं न पंचभिः ।। —ज्ञानसार, 7
60. योगावतार द्वात्रिंशिका, श्लोक-17
61. अनुभवाधिकार
62. ठाणं
63. Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, p. 110
64. Jain Theories of Reality and Knowledge, p. 25
65. वर्धमानकभङ्गो च रुचकः क्रियते यदा,
तदा पूर्वोर्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युतरार्थिनः ।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद वस्तु त्रयात्मकम्,
नोत्पादस्थितिभङ्गानामभावे श्यान्मतित्रयम् ।। —श्लोकवार्तिक, वनवाद, श्लोक-21-22
66. घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोद माध्यस्थयं जनो याति सहेतुकम् ।। —आप्तमीमांसा, श्लोक-59

67. इहनैकान्तिकं वस्त्वित्यमेवं ज्ञानं सुनिश्चितम् । —श्लोकवार्तिक, वनवाद, श्लोक-80
68. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् । —न्यायावतार, कारिका-29
69. सन्मतितर्क प्रकरण, प्रस्तावना, पृ. 87
70. तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः ।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्य कुण्डलादिषु स्वर्णवत् ॥ —श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, श्लोक-28
71. मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ. 844-45
72. अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदित सप्तभङ्गमदीदृशसत्त्वं बुधरुपवैधम् ॥
—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक-23
73. नयरहस्य, पृ. 29
74. निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।
सामान्य रहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ॥ —श्लोकवार्तिक वनवाद, 10
75. द्वयं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्य वर्जिताः ।
कव कदा केन किंरुपा दृष्टा मानेन केन वा ॥ —स्याद्वादमंजरी कारिका-3
76. उपन्नेइवा वा विगमेइ वा धुवेइ वा ।
77. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/30
78. यदेव तत् तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकम् यदेव सत् तदेवासत् यदेव
नित्यं तदेवानित्यम्-विरुद्ध शक्तिद्रव्यप्रकाशनमनेकान्तः ॥
—समयसार, आत्मख्याति, 10/247
79. सदसन्नित्यानित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिकेपलक्षणेऽनेकान्तः ।
—जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, अष्टशती, पृ. 286
80. नयरहस्य, पृ. 90
81. तल्लक्षणत्वाद्भवस्तुमः । —प्रमाणमीमांसा, 1/1/32
82. अर्थक्रिया न युज्यते नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा च लक्षणतया मता । —लघीयस्त्रयी, 2/1
83. प्रत्येकं यो भवेद दोषो द्वयोर्भावे कथं न स । —प्रमाणमीमांसा, पृ. 29
84. प्रमाणमीमांसा, पृ. 29
85. को अणेयंतो णाम । णच्चंतरतं । —धवला, 15/25/1
86. अनुगत व्यावृत्ताकारा बुद्धिर्द्वयात्मकं वस्तु व्यवस्थापयति ।
—न्यायावतार वार्तिकवृत्ति, पृ. 88
87. एक एव सामान्यविशेषात्सार्थः प्रमेयः । —प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 180
88. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी, पृ. 180

89. Jain Theories of Reality and Knowledge, p. 98
90. आप्तमीमांसा, श्लोक 17, 18
91. अर्पितानर्पित सिद्धेः। —तत्त्वार्थ सूत्र, 5/32
92. आप्तमीमांसा, श्लोक-22
93. आप्तमीमांसा, श्लोक-15
94. जैन न्याय का विकास, पृ. 70
95. न्यायालोक, पृ. 125
96. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, 2/2/33, पृ. 510
97. वही
98. तत्त्वसंग्रह, श्लोक 1779 (टीका)
99. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 4
100. न्यायावतार वार्तिकवृत्ति, पृ. 87
101. न्यायावतार वार्तिकवृत्ति, कारिका-35
102. मीमांसादर्शनम्, पृ. 85
103. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 4
104. The Jain Philosophy of Non-absolutism, p. 6
105. सन्मतितर्कप्रकरण, 3/70
106. अनेकान्तवाद : सिद्धान्त और व्यवहार
107. स्याद्वाद और सप्तभंगी एवं चिन्तन
108. अनेकान्त है तीसरा नेत्र, पृ. 46
109. स्याद्वाद और सप्तभंगी : एक चिन्तन
110. सिद्धसेन शब्दानुशासन व्याकरण, 1/1/2
111. अयोगव्यवच्छेदक द्वात्रिंशिका, श्लोक-30
112. वही, श्लोक-28
113. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रावली, श्लोक 65
114. न्यायखण्डनस्वाद्य, श्लोक 42
115. अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण प्रशस्ति, श्लोक-13
116. द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिका, श्लोक-15
117. स्याद्वाद की सर्वोत्कृष्टता, पृ. 39
118. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/29-31
119. स्याद्वाद और सप्तभंगी का चिन्तन

120. आवश्यकनिर्युक्ति, 734
121. विशेषावश्यकभाष्य, 3343
122. वस्तुन्यनेकात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।
—सर्वार्थसिद्धि
123. भगवतीसूत्र, 7/58-59
124. वही, 7/94
125. वही, 18/108
126. वही, 12/211-212
127. वही, 2/45
128. वही, 18/219-220
129. सन्मतिप्रकरण, 1/3
130. आचारांग सूत्र, 1/39, 147, 3/74/76
131. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 731
132. वृत्तिकारपत्र, 120
133. ठाणं, 3/402
134. समवाओ, सूत्र 100-131
135. नंदीसूत्र, सूत्र 92-123
136. नंदीचूर्णि, पृ. 72-73
137. वही, पृ. 71
138. पणवणा, गाथा-3
139. तत्त्वार्थभाष्य, 1/35
140. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 914
141. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2180
142. आवश्यकवृत्ति, पत्र 369
143. उत्तराध्ययनवृत्ति, पत्र 67
144. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, 7/1
145. नयरहस्य, पृ. 4
146. जैन तर्क परिभाषा, पृ. 175
147. प्रमाणनयतत्त्वालोक, पृ. 507, सूत्र-1
148. नयत्यनेकांशाऽऽत्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयतीति,
नीयते वा अनेन तस्मिन् ततो वा नयनं नयः।
—अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-4, पृ. 1852

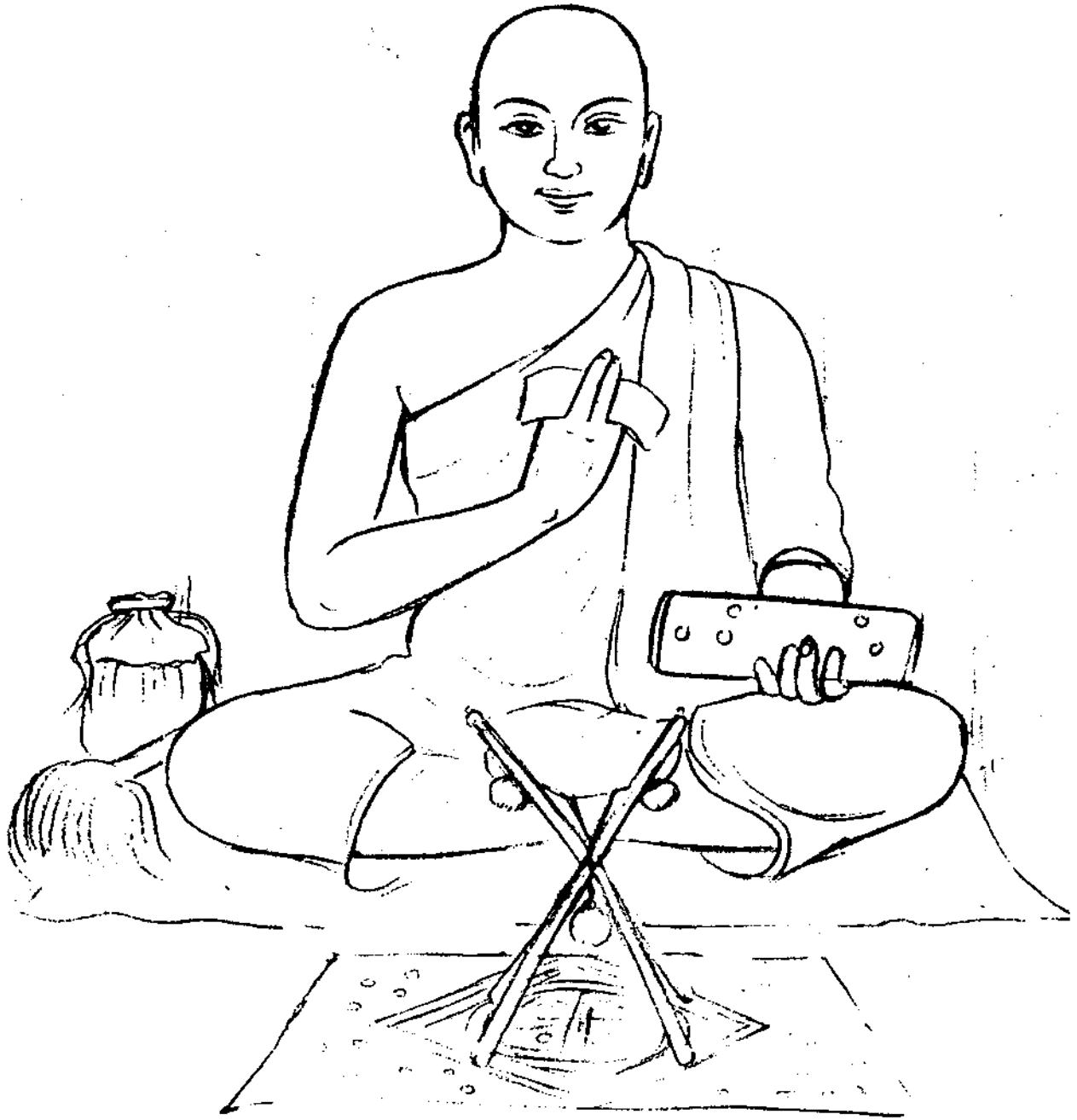
149. नीयते परिच्छिद्यतेऽनेनास्मादिति वा नयः ।
अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छितौ ।। —उत्तराध्ययन सूत्र, 4/1842
150. अनन्तधर्मोत्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्मात्मकावलम्बनेन प्रतीतो प्रापणं । —वही
151. नयंतीति नया वस्तुततं अवबोधगोचरं पावयति ति । —अ.रा., 4/1852
152. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । —प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 606
153. अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-4, पृ. 1892; विशेषावश्यक भाष्य, 3098
154. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 194
155. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 759
156. कषायपाहुड, पृ. 139-148
157. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/2462; आवश्यक मलयगिरि, 1/2
158. वही, 4/2466; पंचाध्यायी, 1/518
159. वही, 4/2467; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 31-32 की टीका; रत्नाकरावतारिका परिच्छेदन
160. वही, 4/2467; आवश्यकमलय गिरि, 1/2
161. वही, 4/2471; उत्तराध्ययन सूत्र सटीक
162. वही, 4/1856; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 31-32 की टीका
163. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 178
164. नयरहस्य, पृ. 34
165. अभिधान राजेन्द्रकोश, 5/211
166. वही, 5/211; नियमसार, गाथा 14 की टीका
167. वही, 5/211; प्रज्ञापनासूत्र-5; पद पंचास्तिकायसंग्रह 10 की टीका, जिनागमसार, पृ. 459, 460
168. वही, 5/211; आवश्यक मलयगिरि-1, अध्ययन पंचाध्यायी, 1/165
169. वही, 5/229; रत्नाकरावतारिका परिच्छेद-7; नियमसार, गाथा-19 की टीका
170. पंचाध्यायी, 1/519; जिनागमसार, पृ. 682
171. श्री मोक्षशास्त्र, 1/33 की टीका, पृ. 93
172. अभिधान राजेन्द्रकोश, 5/229; सन्मति तर्ककाण्ड
173. वही, 5/229; रत्नाकरावतारिका परिच्छेद-7
174. नयरहस्य, पृ. 35
175. जैनतर्कपरिभाषा, पृ. 1/178
176. भगवतीसूत्र, 18/6
177. (1) अनुयोगद्वार, 156
(2) स्थानांग, 7/552

178. तिहं सदनयाणं। —अनुयोगद्वार, 148
179. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 195
180. वही, पृ. 195
181. जावइया वयणवहा, तावइया चेय होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया।। —सन्मतितर्क प्रकरण, 3/47
182. स्थानांग, 7/552; तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/33
183. सन्मतितर्क नय-प्रकरण
184. 1/34-35
185. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 27
186. भिक्षुन्यायकर्णिका
187. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 180
188. संकल्पमात्रग्राही नैगमः। —सवार्थसिद्धि, 1/33
189. स्थानांग, 3/3; अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/2157; विशेषावश्यक भाष्य, 2186-87
190. तत्त्वार्थभाष्य, 1/35, पृ. 61, 62
191. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 4/2157; विशेषावश्यक भाष्य, 2188
192. वही, पृ. 4/1856; रत्नाकरावतारिका, 7/7-10
193. तत्त्वार्थसूत्र, 1/35 एवं उस पर भाष्य, पृ. 61-62
194. न्यायप्रदीप, पृ. 99
195. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1856, 7/73; तत्त्वार्थभाष्य, 1/35
196. जैन सिद्धान्त दीपिका
197. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 183
198. नयवाद, पृ. 9
199. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 4/1858; रत्नाकरावतारिका, 7/14-16, 19-20
200. अभिधान राजेन्द्रकोश, 7/73-74; द्रव्यानुयोगतर्कणा, 6/12
201. अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/33/6
202. जैन सिद्धान्त दीपिका
203. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 4/1856; रत्नाकरावतारिका, 7/23
204. वही, 7/24
205. नयरहस्य
206. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 184
207. नयवाद, पृ. 11

208. न्यायप्रदीप, पृ. 99
209. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. 385
210. व्यवहारानुकुल्यातु प्रमाणानां प्रमाणता।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्संगतः।। —लघीयस्त्रयी, 3.6.70
211. लौकिक सम उपचार प्रायो विस्तुतार्थोव्यवहार। —तत्त्वार्थभाष्य, 1/35
212. भिक्षुन्यायकर्णिका
213. भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः। —लघीयस्त्रयी, 3.6.71
214. नयवाद, पृ. 13
215. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 2/770, 4/1856; रत्नाकरावतारिका, 7/28
216. अभिधान राजेन्द्रकोश, 2/770
217. न्यायप्रदीप, पृ. 100
218. नयचक्रसार, पृ. 139
219. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 185
220. नयवाद, पृ. 12
221. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 29
222. नयवाद, पृ. 14
223. वही, पृ. 15
224. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 29
225. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 2/770, 7/366-369; रत्नाकरावतारिका, 7/32-33;
विशेषावश्यक भाष्य, 2227-2235; स्थानांग, 7/3; नयोपदेशतर्कणा, 33-35
226. नयचक्रसार, पृ. 141
227. नयवाद, पृ. 16
228. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 186
229. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 29
230. अभिधान राजेन्द्रकोश, पृ. 4/1857, 7/417; स्थानांग, 3/3; रत्नाकरावतारिका,
7/36-37; विशेषावश्यक भाष्य, 2236-2250
231. नयवाद, पृ. 27
232. वही
233. न्यायप्रदीप, पृ. 102
234. नयचक्रसार, पृ. 141
235. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 189

236. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 30
237. अभिधान राजेन्द्रकोश, 3/50-51; 41/1857; रत्नाकरावतारिका, 7/40-41
238. अभिधान राजेन्द्रकोश, 3/5
239. वही, 4/1857
240. न्यायप्रदीप, पृ. 103
241. नयवाद, पृ. 29
242. नयचक्रसार, पृ. 142
243. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 190
244. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 31
245. समवाजो, सूत्र 93
246. उत्तराध्ययन सूत्र 28/24
247. तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र 1/6
248. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 117
249. अनेकान्त व्यवस्था
250. सप्तभंगीतरंगिणी
251. स्वयंभूस्तोत्र
252. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 117
253. वही
254. वही
255. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 227
256. तिलोपपण्णति, 1/82
257. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 949
258. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 118
259. स्याद्वादमंजरी, पृ. 317
260. तत्त्वार्थभाष्य, 1/35
261. आप्तमीमांसा, श्लोक-108
262. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 119
263. वही, पृ. 4
264. ज्ञानविन्दु
265. अध्यात्मोपनिषद्
266. नयरहस्य, पृ. 4

267. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद, पृ. 3
268. ज्ञानसार, अष्टक 32
269. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1856, 5/229; तत्त्वार्थसूत्र, 1/33 पर सवार्थसिद्धि टीका
270. अभिधान राजेन्द्रकोश, 2/270
271. तत्त्वार्थसूत्र, 1/35 एवं उस पर तत्त्वार्थभाष्य
272. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1892; आलापपद्धति द्रव्यस्वभाव प्रकाशननयचक्रम्, पृ. 228; बृहत्तद्रव्यसंग्रह, गाथा 3 की टीका, पृ. 19; द्रव्यानुयोग तर्कणा, 8/1
273. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1892; द्रव्यानुयोगतर्कणा, 8/1-2
274. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1892; द्रव्यस्वभाव प्रकाश नयचक्र, पृ. 228; जिनवरस्य नयचक्रम्, पृ. 108
275. वही
276. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1876; सन्मानतर्क काण्ड, 1/12
277. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/2469-2470; द्रव्यानुयोगतर्कणा, 5/9-11
278. अभिधान राजेन्द्रकोश, 5/229, 230; द्रव्यानुयोगतर्कणा, 6/2-7
279. द्रव्य के नित्य होने के कारण सत्ता को मुख्य और उत्पाद-व्यय को गौण मानते हैं।



षष्ठ अध्याय

कर्ममीमांसा एवं योग

- (अ) कर्मस्वरूप एवं प्रकृति
कर्म की परिभाषा
कर्म का स्वरूप
कर्म की पौद्गलिकता
कर्मबन्ध की प्रक्रिया
कर्मों के भेद-प्रभेद
कर्मों का स्वभाव
रूपी का अरूपी पर उपघात
कर्म और पुनर्जन्म
कर्म और जीव का अनादि सम्बन्ध
कर्म के विपाक
सर्वथा कर्मक्षय कैसे?
गुणस्थानक में कर्म का विचार
कर्म की स्थिति
कर्म में स्वामी
कर्म का वैशिष्ट्य
- (ब) योग, स्वरूप एवं लक्षण
योग की व्युत्पत्ति
योग की परिभाषा
योग का लक्षण—व्यवहार एवं निश्चयनय से
योग के अधिकारी
योग के भेद-प्रभेद
योग शुद्धि के कारण
योग में साधक एवं बाधक तत्त्व
योग की विधि
योग की दृष्टियाँ
योग की परिलब्धियाँ
यशोविजय का योग वैशिष्ट्य

कर्म मीमांसा एवं योग

(अ) कर्म : स्वरूप एवं प्रकृति

समस्त भारतीय सन्तों ने, महर्षियों ने, तत्त्वचिन्तकों ने कर्मवाद पर गहरा चिन्तन किया है। जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक आदि सभी दार्शनिकों ने कर्मवाद के संबंध में अनुचिन्तन किया, जिसकी प्रतिच्छाया धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, कला आदि समस्त विद्याओं पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। किन्तु जैन परम्परा में कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित वैज्ञानिक रूप उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र नहीं है।

कर्म सिद्धान्त की गवेषणा का मुख्य कारण विश्व के विशाल मंच पर छाया हुआ विविधता, विचित्रता एवं विषमता का एकछत्र साम्राज्य है। कर्माधीन जीव जन्म, जरा और मरण के भय से भयभीत चारों गतियों और चौरासी लाख योनियों में अलग-अलग रूपों और अलग-अलग स्थितियों में भटकता रहता है। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख तथा तत्संबंधी अनेक अवस्थाएँ कर्म की विचित्रता एवं विविधता पर ही आधारित हैं। सब संसारी जीवों के कर्मबीज भिन्न होने से उनकी स्थिति, परिस्थिति, सूरत, शक्त की विलक्षणता है। मानव जाति को ही देखें—मनुष्यत्व सबमें समान है, पर कोई राजा है तो कोई रंक, कोई बुद्धिमान है तो कोई मूर्ख, कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई सबल है तो कोई निर्बल, कोई रोगी है तो कोई निरोगी, कोई भाग्यशाली है तो कोई भाग्यहीन, कोई रूपवान है तो कोई कुरूप, कोई लखपति है तो कोई राखपति, कोई करोड़पति है तो कोई रोड़पति है, कोई सेठ है तो कोई नौकर, कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई सज्जन है तो कोई दुर्जन, कोई उन्मत्त है तो कोई विद्वान्, कहीं जीवन, कहीं मरण आदि अनेक विविधताएँ पाई जाती हैं। सर्वत्र वैचित्र्य ही दिखता है तथा जीवन में भी अनेक विषमताएँ हैं। हमारा जीवन भी आशा-निराशा, सुख-दुःख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद, अनुकूलता, प्रतिकूलता आदि अनेक परिस्थितियों से गुजर रहा है। जीवन में कहीं समरूपता नहीं है। जगत् को इस विविधता और जीवन की विषमता का कोई-न-कोई तो हेतु होना चाहिए। वह हेतु है—कर्म। कर्म ही जगत् की विविधता एवं जीवन की विषमता का जनक है। व्यावहारिक जीवन में कोई इसे नसीब, भाग्य, कुदरत, नियति, पुरुषार्थ आदि मानते हैं। प्राणी मात्र को जो सुख और दुःख की उपलब्धि होती है, वह स्वयं किये गये कर्मों का ही प्रतिफल है। जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है। एक प्राणी किसी अन्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसम्बद्ध होता है, परसम्बद्ध नहीं।'

जैन परम्परा में जिस अर्थ में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, उस अर्थ में अथवा उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य दर्शनों में निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। माया, अविद्या, प्रकृति, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि। माया, अविद्या और प्रकृति शब्द वेदान्त दर्शन में उपलब्ध है। अपूर्व शब्द मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। वासना शब्द बौद्ध दर्शन में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। आशय शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शन में उपलब्ध है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार शब्द विशेषतया न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में प्रचलित है। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक ऐसे शब्द हैं,

जिनका साधारणतया सब दर्शनों में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने किसी-न-किसी रूप में अथवा किसी-न-किसी नाम से कर्म की सत्ता को स्वीकार की है।^१

जैन वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त गहन एवं विशाल है। जैन वाङ्मय में कर्म सिद्धान्त की महत्ता बेजोड़ एवं अद्भुत है। देह में प्राण के महत्त्व के समान उसका मूल्य अंकित किया गया है। जैन धर्म एवं दर्शन में कर्म सिद्धान्त केन्द्र में स्थित है। जिस प्रकार कुण्डली में केन्द्र स्थित शुभ ग्रहों का प्रभाव बेजोड़ होता है, जातक के लिए उसी प्रकार केन्द्र में स्थित कर्म सिद्धान्त का प्रभाव भी साधक के लिए बलवतर होता है। कर्म सिद्धान्त के अभ्यास के बिना जैन धर्म का अभ्यास संभव नहीं है। यदि करता भी है तो वह अपूर्णतया ही महसूस करेगा। अतः जैन वाङ्मय में धर्म सिद्धान्त देह पर आभूषणों की भाँति शोभाग्रयमान हो रहा है। जैन वाङ्मय में कर्म सिद्धान्तों की नींव पर अन्य सिद्धान्तों रूपी महल खड़ा होता है।

कर्म की परिभाषा

जैन आगमों में धर्म और कर्म इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्रचूर मात्रा में हुआ है। ये दोनों शब्द प्राचीन हैं। अनादि काल में कर्मचक्र के पीछे लगा हुआ है तथा जीवात्मा राग-द्वेष की परिणति द्वारा कर्मचक्र को गतिमान करता है। उस कर्मचक्र को हटाने का कार्य धर्मचक्र करता है।

‘कर्म’ बन्धन का प्रतीक है जबकि ‘धर्म’ मुक्ति का प्रतीक है। लेकिन जब तक व्यक्ति कर्म तत्त्व को पूर्णतया नहीं समझेगा तब तक वह मुक्ति मार्ग के गूढ़ धर्म तत्त्व को नहीं समझ सकेगा। अतः कर्म के सिद्धान्त से प्रबुद्ध होना आवश्यक है।

जगत् में प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वभाव की दृष्टि में एक समान है। फिर भी संसार अनेक विचित्रताओं एवं विविधताओं से भरपूर दृष्टिगोचर होता है, जैसे—कोई पशु-पक्षी है, तो कोई मनुष्य, कोई स्त्री है तो कोई पुरुष। यह सभी भेद क्यों? ऐसी शंका स्वाभाविक हो जाती है।

सृष्टि का कर्ता ईश्वर को मानने वाले तो इसका समाधान ईश्वर की इच्छानुसार यह विविधता है। इस प्रकार देखते हैं, जैसे कि—

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग वा श्वन्नमेव वा।

अन्यो जन्तुनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः।^१

ईश्वर के द्वारा भेजा हुआ जीव स्वर्ग में, नरक में जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव अपने सुख-दुःख को पाने से, उत्पन्न करने में स्वतंत्र भी नहीं है एवं समर्थ भी नहीं है। संसारस्थ सभी जीवों के सुख-दुःख की लगाम भी ईश्वर के अधीन रखी है। ईश्वर ही जैसा रखे, उसको वैसा रहना होगा। ईश्वर की इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है। यहाँ तक कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता।

इस प्रकार अनेक धर्मों एवं दर्शनों ने ईश्वर सत्ता को सृष्टि के साथ मानकर वास्तव में ईश्वर के स्वरूप को विकृत कर दिया है। ईश्वर निर्मित और संचालित विश्व किसी भी तर्क-युक्ति की कसौटी पर सिद्ध हो ही नहीं पा रहा है। ईश्वरकृत संसार को विचित्रता का समाधान अज्ञानी जनों को तृप्त कर सकता है लेकिन प्रबुद्ध जनों की वहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी। अर्थात् मेधावीजन उससे संतुष्ट नहीं होंगे।

समस्त विश्व कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया को स्वीकारे या नहीं स्वीकारे लेकिन सम्पूर्ण लोक और अनन्त जीव सबका सारा व्यवहार कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही चल रहा है। तभी तो जब लोकस्वरूप के चिन्तक एवं तत्त्वज्ञानियों के सामने जगत्-विचित्रता का प्रश्न आया तो उन्होंने सही समाधान करते हुए कहा—‘कर्मजं लोक वैचित्र्यं’ अर्थात् जीवमात्र में पाई जाने वाली विचित्रता और विषमता का कारण कर्म है। जीव-विज्ञान को यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है। भगवद्गीता 4 में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही बात कही है।

यह एक ध्रुव सत्य है कि कर्म एक ऐसी शक्ति तथा अपूर्व ऊर्जा है, जो व्यक्ति को प्रतिपल सक्रिय, क्रियाशील रखती है। जगत् में कोई भी व्यक्ति निष्क्रिय जीवन नहीं जी सकता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ क्रिया करता ही रहता है और इसी क्रियाशीलता की संप्रेरक शक्ति कर्म है। इसीलिए ही जैन दर्शनकारों ने कर्म सिद्धान्त को विशेष प्रिय बताया है—

एतो कम्मं च पंचविहं उक्खेवणमवक्खेण पसारणकुरुचणागमण।
उत्क्षेपावक्षेपावाकुश्चनकं प्रसारणं गमनम्। पञ्चविहं कर्मवेत्।⁹

उत्क्षेपण, अवक्षेपण, प्रसारण, आकुंचन और गमन—ये पांच प्रकार के कर्म न्याय दर्शन में प्रसिद्ध हैं। व्याकरण में कारक-भेद में कर्म का प्रयोग हुआ है—

कर्तुरिप्सिततमं कर्म।⁶

कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है, वह कर्म कहलाता है। “यथा स ग्रामं गच्छति” यहाँ कर्ता सः अर्थात् वह, गच्छति यानी जाना वह जाने की। क्रिया द्वारा ग्राम को प्राप्त करना चाहता है। अतः ग्राम कर्म है। लेकिन जैनागमों ने कर्म का एक विशिष्ट अर्थ किया गया है, जो इस प्रकार है—मन, वचन और काय आदि योगों का जो व्यापार, वह कर्म कहलाता है। स्थानांग की टीका 7 में भ्रमण आदि क्रियाओं को कर्म कहा है, जबकि सूत्रकृतांग 8 में संयम अनुष्ठान रूप क्रिया को कर्म कहा है।

कर्म शब्द की निष्पत्ति ‘कृ’ धातु से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—‘करना’ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया। जीवन व्यवहार में जो भी कार्य किया जाता है, वह कर्म है।⁹

जैन दर्शन के अनुसार जब मन, वचन और काया के योग से संसारी जीव रागद्वेषयुक्त प्रकृति करता है, तब आत्मा सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा विभिन्न आत्मिक संस्कारों को उत्पन्न करता है, वे कर्म हैं। कर्म वह स्वतन्त्र वस्तु भूत पदार्थ है, जो जीव की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ लग जाता है। आत्मा में चुम्बक की तरह अन्य पुद्गल परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति है और वह उन परमाणुओं को लोहे की तरह आकर्षित करती है। यद्यपि ये पुद्गल परमाणु भौतिक हैं, अजीव हैं तथापि जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक और कायिक शारीरिक क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर दूध और पानी की तरह आत्मा के साथ एकमेव हो जाते हैं। जीव के द्वारा कृत होने के कारण वह कर्म कहा जाता है।

कीरइ जिएण हेऊहिं जेणं तो भण्णए कम्मं।¹⁰

अर्थात् जीव की क्रिया का हेतु कर्म है। सारांश यह है कि राग-द्वेष से युक्त संसारी जीव शुभ या अशुभ परिणति में रमण करता है तब कर्मरूपी पुद्गल उससे आकृष्ट होकर आत्मा के साथ चिपककर जो अच्छा-बुरा फल देते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।

किन्तु कर्मग्रन्थकारों ने कर्म का अर्थ इस प्रकार किया है—

कीरइ जिएण हेऊहिं जेणं तो भंत! भण्णइ कम्मं वि।

कीरइ जिएण हेऊहिं जेणं तु भण्णए कम्मं।।¹¹

जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—इन हेतुओं द्वारा प्रेरित होकर मन, वचन और काया की जो प्रवृत्ति करता है, वह कर्म कहलाता है। अर्थात् जीव के द्वारा हेतुपूर्वक जो क्रिया की जाए, वह कर्म है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने कर्म के 'लोकतत्त्व निर्णय' में अनेक पर्यायवाची नाम बताये हैं।

विधिविधान नियतिः स्वभावः कालो ग्रहा ईश्वर कर्मदैवम्।

आग्यानि कर्माणियमः कृतान्त पर्यायः नामानि पुराकृतस्थ।।¹²

विधि, विधान, नियति, स्वभाव, काल, ग्रह, ईश्वर, कर्म, दैव, भाग्य, यम, कृतान्त—ये पूर्ववत् कर्म के पर्यायवाची नाम हैं।

इस प्रकार कर्म शब्द को जैन दर्शनकारों ने तो आदर भाव से सुग्राह्य बनाया ही है लेकिन साथ-साथ अन्य दर्शनकार भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। नामभेद हो सकता है लेकिन तत्त्वभेद नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने हेतु उदार समन्वयवादी के पुरोध्या उपाध्याय यशोविजय ने अपनी टीका में अन्य दर्शनों द्वारा मान्य कर्म के नामभेदों का उल्लेख किया है।¹³ यही बात आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ 'योगबिन्दु' में अन्य दर्शनों द्वारा बताई है।

अविद्याकलेशकर्मादिर्यश्व भवकारणम्।

तत् प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम्।।¹⁴

अविद्या, कलेश, कर्म आदि भव की परम्परा है। उसे कोई प्रधान प्रकृति भी कहते हैं तो कोई अविद्या कहते हैं, कोई उसे वासना कहते हैं। यह सभी नाम संज्ञा का भेद है। वास्तविक भेद नहीं है।

अर्थात् जगत् में प्रत्येक संसारी जीव का चार गति में जन्म-मरण का चक्र चालू है। उसका मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा अशुभ योग है। उसी कारण उसे भ्रमण करना पड़ता है। उसे ही अद्वैत मत वाले वेदान्ती अविद्या कहते हैं। सांख्यदर्शन के उपदेशक कपिल उसे कलेश कहते हैं। जैन दर्शन के पुंज पुरुष उसे ही कर्म कहते हैं। उसी प्रकार सौगत अर्थात् बौद्ध उपासक उसे वासना कहते हैं। शैव दर्शनकार पाश कहते हैं। योग दर्शन के रचयिता पतंजलि ऋषि प्रकृति कहते हैं, "उसमें भी प्रधान अर्थात् मुख्य रूप से सभी के भिन्न-भिन्न नाम होने पर भी एक कार्य को करने वाले हैं। जैसे कि विचार, अविद्या, अज्ञता जहाँ तक होती है, वहाँ तक संसार का बंधन है, अतः यह भी योग्य नाम है। 'कलेश' जीवों को आकुल-व्याकुल बनाने वाला होने से यह भी योग्य नाम है। जैन कर्म कहते हैं वह भी द्रव्य परमाणुओं का समुदाय जीवों के द्वारा शुभाशुभ अव्यवसायों से ग्रहण किया हुआ होने के कारण उदय समय में शुभाशुभ कर्म भोगे जाते हैं। उससे कर्म नाम भी युक्त है। बौद्ध वासना कहते हैं वह भी आत्मा के अध्यवसाय रूप में कर्म के हेतु हैं। उसी से कारण में कार्य का उपचार होने से वह भी योग्य है। शैव पाश कहते हैं—यह परमानंद का अनुभव करने की इच्छा वाले जीवों को संसार के बंधन में फंसा देते हैं तथा पुद्गल पदार्थ में अर्थात् सुख की भ्रमणा रूप पाश में बांध देते हैं। अतः वह भी यथार्थ नाम है। उसी प्रकार कोई माया कपट कहते हैं। यह माया जीवात्मा को अवस्तु में वस्तु का प्रदर्शन करती है। अतः माया नाम भी योग्य है। प्रकृति स्वभाव संसार में अवस्थित जीवात्मा का राग-द्वेषमय कर्म बंधन की योग्यता वालों की उस प्रकार की प्रवृत्ति करने का स्वभाव होता है। उससे

प्रकृति नाम भी योग्य है। उससे मोहनीय कर्म संसार में भ्रमण का मुख्य हेतु होने से कर्म का प्रधान नाम भी योग्य है।

अन्य दर्शनकार उन्हें भिन्न-भिन्न विशेषणों का उपचार करके एक-दूसरे से अलग नाम रखते हैं। जैसे कि कुछ कर्म को मूर्त कहते हैं, कुछ उसे अमूर्त कहते हैं। यह अपने-अपने दर्शन के आग्रह से ही कहते हैं, तो भी वे सभी कर्म को संसार में बार-बार भ्रमण का कारण तो अवश्य स्वीकारते हैं। उसमें जो भेद करते हैं, वह विशेष प्रकार से श्रेष्ठ ज्ञानरूप विवेक के अभाव में ही करते हैं परन्तु बुद्धिमान लोग जिस प्रकार देवों में नामभेद होने पर भी गुण के कारण अभेद रूप में देखते हैं, उसी प्रकार कर्म विशेष में भी नाम भेद होने पर भी संसार हेतु समान होने के कारण कर्म, वासना, पाश, प्रकृति आदि भेद होने पर भी परमार्थ रूप से भेद न होने से यह भेद मानना अवास्तविक है। अतः प्रत्येक साधक को यम, नियम द्वारा उस कर्म को दूर करने का ही प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए।¹⁵

कर्म का स्वरूप

यह सम्पूर्ण विश्व पुद्गल द्रव्य से अगाध भरा हुआ है, जिसमें परमाणुओं का पूर्ण गलन, विध्वंसन होता है। वह पुद्गल द्रव्य कहलाता है, जो निर्जीव है, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सहित रूपी है, रजकण के समान अणुसमूह रूप है। अणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं। एक-एक स्कन्ध में दो से लेकर यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्त अणुओं के समूह भी होते हैं, उसी के वर्गीकरण रूप जैन शास्त्रों में आठ भेद दिखाये हैं, जिसे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन और कार्मण वर्गणा कहते हैं। पीछे-पीछे रहने वाली वर्गणा पूर्व-पूर्व की वर्गणा में अनन्तानन्त अधिक परमाणुओं की बनी हुई होती है। उसमें कार्मण वर्गणा के अणु कर्म बनने के योग्य वर्गणा कहलाती है।

कार्मण वर्गणा आत्मा के साथ चिपकने के बाद भी उसे कर्म कहते हैं। जिस प्रकार दुनिया में हवा के साथ उड़ने वाली धूल को रज कहते हैं, परन्तु वही रज तेल आदि दाग वाले वस्त्र पर लगने पर और वस्त्र के साथ एकमेक हो जाने पर मैल कहलाता है। रज ही मैल बनता है। उसी प्रकार कार्मण वर्गणा ही कर्म बनता है। दूध-पानी, लोह-अग्नि, जिस प्रकार एकमेक होता है, वैसे ही आत्मा और कर्म एकमेक होते हैं और आत्मा के प्रदेश में व्याप्त होते हैं—

स्नेहाऽभ्यक्त शरीरस्य रेणुना शिलष्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषाऽऽकिलन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येव ॥¹⁶

प्रशमरति में उमास्वाति ने भी इसी परिप्रेक्ष्य में यह श्लोक उल्लिखित किया है। जैसे तेल का मालिश करके बाजार में घूमने पर धूल के रजकण चिपकने पर सारा शरीर भर जाता है, उसी तरह चौदह रासलोक के इस ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु भरे पड़े ये राग-द्वेष करने वाले जीव पर सतत् चिपकते जाते हैं। ये अपनी तरफ से स्वयं नहीं चिपकते परन्तु राग-द्वेष की प्रवृत्ति करके स्वयं चुम्बकीय शक्ति से उन्हें खींचते रहते हैं और जैसे आटे में पानी डालकर पिण्ड बनाया जाता है, वैसे ही जीव अपने राग-द्वेष के शुभाशुभ अध्यवसाय से उन कार्मण वर्गणाओं के पुद्गल परमाणुओं को पिण्ड रूप में बनाकर कर्म रूप में परिणमन करते हैं। ऐसे राग-द्वेष के अध्यवसाय कदम-कदम पर बनते रहते हैं, क्योंकि उन्हें वैसे निमित्त मिलते रहते हैं—

एवं अट्टविहं कम्मं राग द्वेष समज्जिअं ।¹⁷

इस तरह राग द्वेष से उपार्जित आठों ही कर्म हैं अर्थात् आठों ही कर्म राग-द्वेष से उपार्जित होते हैं।

इस प्रकार कर्म केवल संसार मात्र ही नहीं है, किन्तु एक स्वतन्त्र वस्तुभूत पदार्थ भी है, जो जीव की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ लग जाता है।

जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। तदनुसार यह लोक 23 प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से व्याप्त है। उनमें से कुछ पुद्गल परमाणु कर्म रूप से परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं। कुछ शरीर रूप में परिणत होते हैं, वे नोकर्म-वर्गणा कहलाते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव मन, वचन और काय की प्रकृतियों से इन्हें ग्रहण करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है, जब जीव के साथ कर्म संबंध हो तथा जीव के साथ कर्म तभी संबद्ध होते हैं, जब मन, वचन या काय की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति तथा प्रकृति से कर्म की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्म और प्रकृति से इस कार्य-कारण सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए पुद्गल परमाणुओं से पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म तथा रागद्वेषादिरूप प्रकृतियों को भावकर्म कहा गया है।¹⁸ द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध वृक्ष और बीज के समान अनादि है। जगत् की विविधता का कारण उक्त द्रव्य कर्म ही है तथा राग-द्वेषादि मनोविकाररूप भाव कर्म ही जीवन में विषमता उत्पन्न करते हैं।

कबसे बंधा है कर्म

जैसे स्वर्ण पाषाण को खदान से निकालने पर वह कालिमा और किट्टिमा से संयुक्त विकृतिरूप होता है। उसे रासायनिक प्रयोगों से पृथक् कर शुद्ध किया जाता है, उसी तरह संसारी जीवों का कर्मों से अनादि सम्बन्ध है। जैनदर्शन के अनुसार संसार में रहने वाला प्रत्येक जीव कर्मों से बंधा हुआ है। तपश्चर्या के बल पर कर्मों को अलग कर आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। जीव कभी शुद्ध या फिर अशुद्ध हुआ है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि वह शुद्ध था तो फिर उसके अशुद्ध होने का कोई कारण ही नहीं बनता। यदि एक बार शुद्ध होकर भी वह अशुद्ध होता है तब तो मुक्ति के उपाय ही बात निरर्थक हो जाती है।

इसी बात का समाधान करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध है। इन कर्मों के कारण ही संसार की नाना योनियों में भटकता हुआ यह जीव सदा से दुःखों का भार उठाता आ रहा है। कर्मबन्ध और संसार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने पंचास्तिकाय ग्रंथ में कहा है कि—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होरि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कमादो होदि गदि सु गदि ।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इदियाणी जायन्ते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो दु रागो व दोसो वा ।।
जायदि जीवस्सेवं भावं संसार चक्रवालम्भि ।
इदि जिणवरोहिं भणिद अणादि णिहणो सणिहणो वा ।।¹⁹

संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से कर्म बंधते हैं। कर्मों से चार जातियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है तथा शरीर में इन्द्रियां होती हैं। इनसे विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार संसार

- रूपी चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के भावों से कर्मों का बन्ध तथा कर्मबन्ध से जीव के भाव, सन्तति की अपेक्षा अनादि से चला आ रहा है। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि सांत।

अनादि का अन्त कैसे

ऐसा नहीं है कि इस अनादि कर्म बंध का अन्त असम्भव ही हो। इस विवेचन में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कर्मचक्र रागद्वेष के निमित्त से घड़ी यंत्र की भांति सतत चलता रहता है तथा जब तक रागद्वेष और मोह के वेग में कमी नहीं आती, तब तक यह कर्मचक्र निर्बाध रूप से चलता रहता है। रागद्वेष के अभाव में क्रियाएँ कर्मबन्ध नहीं करातीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्त कर धूलपूर्ण स्थान में जाकर शास्त्र संचालन करता है और ताड़, केला, बांस आदि के वृक्षों का छेदन करता है। वस्तुतः देखा जाए तो उस व्यक्ति का शास्त्र संचालन शरीर में धूल चिपकाने का सही कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप ही है, जिससे धूल का सम्बन्ध होता है। मूल कारण है कि व्यक्ति बिना तेल लगाए पूर्वोक्त क्रियाएँ करता है तो धूल नहीं लगती। इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्मरज आकर चिपकती है और आत्मा को मलिन बनाकर इतना पराधीन कर देती है कि अनन्त शक्ति सम्पन्न जीवात्मा कठपूतली की तरह कर्मों के ईशारे पर नाचा करती है।²⁰ जीव और कर्म को सन्तति की अपेक्षा अनादि मानते हुए भी पर्याय की दृष्टि से सादि माना गया है। बीज और वृक्ष के सम्बन्ध पर दृष्टि डालें तो संतति की अपेक्षा उनका कार्य-कारण भाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे आम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेंगे, यदि हमारी दृष्टि प्रतिनियत आम के पेड़ तक ही जाती है तो हम उसे उस बीज से उत्पन्न कहकर सादि सम्बन्ध सूचित करेंगे। किन्तु इस बीज के उत्पादक अन्य वृक्ष तथा अन्यवृक्ष के जनक अन्यबीज की परम्परा पर दृष्टि डालें तो उस दृष्टि से यह सम्बन्ध अनादि मानना होगा। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जो अनादि है, उसका अन्त नहीं हो सकता, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह कोई अनिवार्य नहीं है कि अनादि वस्तु अनन्त ही है। वह अनन्त भी हो सकती है तथा विरोधी कारण आ जाने पर अनन्त होने वाले सम्बन्ध का मूलोच्छेद भी किया जा सकता है। कहा भी है कि—

दग्धे बीजे यथात्यन्ते प्रादुर्भवति नाऽकुरः।

कर्मबीजं तथा दग्धेन रोहति भवाऽकुरः॥²¹

अर्थात् बीज के जल जाने पर पुनः नवीनवृक्ष का निमित्त बनने वाला अंकुश नहीं होता। उसी प्रकार कर्मबीज के भीष्म हो जाने पर भवरूपी अंकुश उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार बीज और वृक्ष की संतति की तरह जीव और कर्मों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के अशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुद्गल वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत हो जाती हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव के अशुद्ध परिणाम होते हैं। फिर भी जीव कर्मरूप नहीं होता तथा कर्म जीवरूप नहीं होता। दोनों के निमित्त से संसारचक्र चलता रहता है।²²

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि राग-द्वेष से युक्त संसारी जीव शुभ या अशुभ भाव में रमण करता है तब कर्म रूपी पुद्गल उससे आकृष्ट होकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं और अच्छा-बुरा फल देते हैं। उन्हीं का नाम कर्म अर्थात् कर्म का स्वरूप है।

कर्म की पौद्गलिकता

जैन दर्शनानुसार कर्म मूर्त है, पौद्गलिक है। आश्रव के द्वारा कर्म पुद्गल आकृष्ट होते हैं। ये आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत्त कर देते हैं। शुभ प्रवृत्ति द्वारा पुण्यबंध तथा अशुभ प्रवृत्ति द्वारा पाप का बंध होता है।

कर्म अपने आप में एक ऐसा पौद्गलिक (भौतिक) बल है, जो आत्मा के द्वारा विशेष प्रकार के स्कन्धों को ग्रहण कर उनमें अपनी आध्यात्मिक दशानुसार फल शक्ति का उत्पादन कर भोगा जाता है। इस दृष्टि से इसे आध्यात्मिक भौतिक बल के रूप में समझना होगा। मूलतः तो यह पौद्गलिक ही है।

इस संसार में अनेक पुद्गल हैं लेकिन सभी पुद्गल कर्म स्वरूप नहीं बनते हैं। आठ वर्गणाओं में जो कार्मण वर्गणा है, उसमें जो पुद्गल प्रयुक्त होते हैं, वे ही कर्म रूप में ग्रहण होते हैं, और इसी कारण से सभी कर्म पुद्गल स्वरूप कहे जाते हैं। ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रंथों में लिखा है, वह इस प्रकार है—

चितं पोग्गलरूपं विन्नेयं सव्वमेवेदं।²³

कम्मं च चितपोन्गलरुवं।।²⁴

ज्ञानावरणीय आदि कर्म चित्र विचित्र अनेक फल अनुभवों में कारणभूत होने से विचित्र स्वरूप वाले हैं तथा इन सभी कर्म पुद्गलों को द्रव्यमय समझना चाहिए।

इसी बात की पुष्टि करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में विवेचन किया है—

एगमवि गहणदव्वं, सव्वपणयाइ जीवेदेसम्मि।

सव्वप्पणया सव्वत्य वावि सव्वे गहणखंघे।।²⁵

अर्थात् एक-एक प्रदेश में रहे हुए स्कंध को ग्रहण करने में सभी जीव प्रदेश का व्यापारना सिद्ध होता है। सर्वप्रथम पर रहे हुए स्कन्धों को ग्रहण करने से सभी जीव-प्रदेशों का व्यापार अनुसंगत है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

बन्ध का सामान्य अर्थ है दो भिन्न-भिन्न अस्तित्व वाली वस्तुओं का एक-दूसरे के साथ मिल जाना, संयुक्त हो जाना। लौकिक व्यवहार में संप्रयुक्त बन्ध के इस अर्थ को शास्त्रकार भगवंतों ने भी स्वीकार किया है कि भिन्न-भिन्न अस्तित्व वाले आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का जो विशिष्ट संयोग होता है, उसे बन्ध कहते हैं। आचार्य तुलसी ने बंध की परिभाषा करते हुए कहा है—

कर्मः पुद्गलादानं बन्धा।²⁶

कर्म पुद्गलों को ग्रहण करना बंध है। दूसरे शब्दों में अपनी सद्-असद् प्रवृत्तियों के द्वारा जो कर्म बनने की योग्यता रखते हैं, ऐसे पुद्गलों का आकर्षण कर उन्हें अपने साथ बांध देती है। इसी प्रक्रिया का नाम बंध है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति की टीका में बन्ध की व्याख्या इस प्रकार की है—कषाय सहित होने के कारण जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण किया करता है, उसे बन्ध कहते हैं।²⁷ तत्त्वार्थ की टीका,²⁸ षड्दर्शन समुच्चय²⁹ एवं कम्मपयडी टीका³⁰ में भी बन्ध की इसी व्याख्या की स्वीकृति दी है।

आत्मा और कर्म के संयोग को दर्शनान्तरों ने अन्य नामों से स्वीकार किया है, जिनका योगबिन्दु में स्पष्ट उल्लेख किया है—

भ्रान्ति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगश्चेति कीर्तितम्।³¹

आत्मा और कर्म का जो सम्बन्ध है, उसे वेदान्त दर्शनवादी तथा बौद्ध भ्रान्ति कहते हैं। सांख्य उसे प्रवृत्ति कहते हैं तथा जैनदर्शनकार उसे ही बन्ध कहते हैं।

कैसे बंधते हैं कर्म—कर्मबंध के कारण

कर्म के सम्बन्ध में बहुत लम्बी चर्चा हो जाने पर भी एक प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा है। वह है—बन्धन की प्रक्रिया से संबंधित। आत्मा के साथ कर्म का बन्धन क्यों होता है? बन्धन सहेतुक है या निर्हेतुक? वह आमंत्रित है या अनायास हो जाता है? आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है? जड़ और चेतन का योग संभव है क्या?

न हि अकारणं कार्यं भवति।³²

कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता, यह शाश्वत नियम है। इसी के आधार पर कारण-कार्यवाद की परम्परा चली। कर्मबन्धन भी अकारण नहीं है। यदि उसे अकारण मान लिया जाए तो सिद्धों के भी कर्म बन्धन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसलिए बन्धन के हेतु पर विचार करना होगा।

जैन दर्शन के अनुसार लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कर्म योग्य पुद्गल परमाणु न हों। जीव के मन, वचन और काय के निमित्त से अर्थात् जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण कर्म योग्य परमाणु चारों ओर से आकृष्ट हो जाते हैं तथा कषायों के कारण जीवात्मा से चिपक जाते हैं।

कर्म बन्ध के कारण

जीवात्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि है। कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, त्याज्य हैं, क्योंकि वे संसार के कारण हैं, भवभ्रमण के कारण हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है कि शुभकर्म स्वर्णशृंखला है तथा अशुभ कर्म लोहे की शृंखला है। लोहे की बेड़ी भी बांधती है और स्वर्ण की भी बांधती है। इस प्रकार किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म जीव को बांधता ही है।

कर्मबंध का मूल कारण है—इच्छा। मानव के सुख-दुःख का कारण इच्छा ही है। यह कहा जा सकता है कि कर्म का बंध इच्छा का बंध है। परिग्रह अथवा विषयाभिलाषा का कोई अंत नहीं हो सकता। इनकी समाप्ति तभी हो सकती है जब व्यक्ति पूर्णतः इच्छामुक्त हो जाये, वीतराग हो जाये। जैसे ही वह विषय की इच्छा करता है, उसका कर्मण शरीर तदनुसार कर्मों को आकर्षित कर लेता है। यह प्रक्रिया किसी बाह्य लक्षण से नहीं होती बल्कि आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से इन कर्मण परमाणुओं को आकर्षित करता है। इसी से पुनर्जन्म प्राप्त होता है।

कर्मों के उदय, कारण और परिणामों की चर्चा जैन ग्रंथों में विस्तृत रूप से हुई है—जीव सकषाय होने से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बंध है।³³ जिस प्रकार भण्डार से पुराने धान्य निकाल लिये जाते हैं एवं नये भर दिये जाते हैं, उसी प्रकार अनादि इस कर्मण शरीर रूपी भण्डार में कर्मों का आना-जाना होता रहता है। पुराने कर्म फल देकर सड़ जाते हैं और नए कर्म आ जाते हैं। द्रव्यसंग्रह के 5 कारण दिये गये हैं।³⁴ आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक में 5 हेतु बताये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग एवं कषाय।³⁵

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का अपर नाम मिथ्यादर्शन है। विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे अधर्म को धर्म, कुमार्ग को सन्मार्ग, जीव को अजीव, अजीव को जीव, आदि रूप में समझना। दूसरे शब्दों में जिनकथित सुदेव, सुगुरु, सुधर्म को छोड़कर अन्य तत्त्व को मान्य करना या सत्य तत्त्व की अरुचि एवं असत्य तत्त्व की रुचि रखना। मिथ्यात्व दो प्रकार का है—अभिगृहीत और अनभिगृहीत। मिथ्यात्व कर्मबंधन का मूल कारण है। जैसे वस्त्र यानी कपड़े की उत्पत्ति में तन्तु धागा कारण है, वैसे ही कर्म की उत्पत्ति में मिथ्यात्व कारणभूत है। मिथ्यात्व की उपस्थिति में कर्म की अधिक प्रकृतियां बनती हैं।

अविरति

अविरति अर्थात् अत्यागभाव। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि पाप, भोग, उपभोग आदि वस्तुओं तथा सावध कर्मों से विरत न होना अर्थात् प्रत्याख्यान पूर्वक त्याग न करना अर्थात् अविरति में रहने के कारण आत्मा कर्म-बंध करता है, वह कर्मबंध का दूसरा हेतु है।

कषाय

जिससे संसार की वृद्धि हो, जो आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को कलुषित बनाये, समभाव की मर्यादा को तोड़े, उसे कषाय कहते हैं। कषाय सबसे अधिक कर्मबंधन में कारण है। तत्त्वार्थ में उमास्वाति ने बताया है—“सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानास्ते” कषायादि से युक्त जब जीव होता है तब कर्म योग्य पुद्गलों को जीव खींचता है, ग्रहण करता है। कषाय भाव में जीव कर्म से लिप्त होता है। अतः उसे कर्मबंध का कारण माना है। वाचक उमास्वाति ने इस सूत्र में अन्य चार हेतुओं को गौण मानकर कषाय को ही कर्मबंध का मुख्य हेतु माना है।

योग

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमतिरूप प्रवृत्ति योग है। जीवात्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति इन तीन योगों की सहायता से ही होती है। अतः योग भी कर्मबंध का कारण है।

प्रमाद

कुशल में अनादर का भाव प्रमाद है।³⁶ यह प्रमाद अनेक प्रकार का है। क्षमादि दस धर्मों में अनुत्साह या अनादर का भाव प्रमाद है। चार कषाय आदि इसके परिणाम हैं।

मोक्षमार्ग की उपासना में शिथिलता लाना और इन्द्रियादिक विषयों में आसक्त बनना—यह प्रमाद है। विकथा आदि में रस लाना, आलस, आंतरिक अनुत्साह—उनमें अनादर करना प्रमाद है। मन, वचन, कायादि योगों का दुष्प्रणिधान, आर्तध्यान की प्रवृत्ति प्रमाद भाव है।³⁷ प्रमाद के पाँच प्रकार हैं।

मज्जं विषय कषाया निहा विकहा य पंज्जमा भणिया ।

ए ए पग्च पमाया जीवा पांडति संसारे ।।³⁸

मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रकार के प्रमाद बताये गए हैं। जो जीवों को संसार में गिराते हैं, पतन के कारणभूत प्रमाद भी कर्मबंध का हेतु है।

मिथ्यात्व आदि हेतुओं द्वारा कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के साथ क्षीर नीरवत् या तप्त अथ पिण्ड लोहाग्निवत् एक साथ होना ही बन्ध है। मिथ्यात्व आदि पांच हेतुओं, प्रज्ञापना,³⁹ धर्मसंग्रहणी⁴⁰ तथा स्थानांगसूत्र में⁴¹ भी बताये गए हैं तथा कम्मपयडी आदि कर्म विषयक ग्रंथों में प्रमाद को असंयम या कषाय में अन्तर्भाव करके चार हेतु कहे हैं।⁴² मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—इन चार हेतुओं पर सूक्ष्मता और मूलदृष्टि से देखा जाए तो मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—ये कषाय के अंग हैं। ये कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते, जिससे कर्मशास्त्र में कषाय और योग—इन दोनों को कर्मबन्ध का हेतु मानकर भी कर्मत्व का विवेचन दिया है। इस सम्बन्ध में कर्मशास्त्रियों का मन्तव्य यह है कि जीव क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ सश्लिष्ट होने वाले कर्म-परमाणुओं को कर्म कहते हैं। संसारी जीवों के क्रिया के आधार हैं—मन, वचन और काया।

इनकी क्रिया व्यापार से आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन कम्पन्न होता है, जिसे योग कहते हैं। इस योग व्यापार से कर्म परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्मा के राग, द्वेष, मोह आदि भावों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बन्ध जाते हैं। इस प्रकार कर्म परमाणुओं को आत्मा के समीप लाने का कार्य योग करता है और आत्मप्रदेशों के साथ बन्ध कराने का कार्य कषाय करते हैं। इसीलिए योग और कषाय—इन दोनों को कर्मग्रन्थों में बन्ध हेतुओं के रूप में स्वीकार किया गया है।

दूसरा दृष्टिकोण कषाय और योग—इन दो को मुख्य मानने का कारण यह भी है कि कषायों के नष्ट हो जाने पर योग के रहने तक कर्म का आश्रव होगा तो अवश्य, किन्तु कषाय के अभाव में ये वहाँ ठहर नहीं सकेंगे। अतः वे अपना रूप नहीं दिखा सकते। उदाहरण के रूप में योग को वायु, कषाय को गोंद, आत्मा को दीवार और कर्म परमाणुओं को धूलि की उपमा दी जा सकती है।

यदि दीवार पर गोंद आदि की स्निग्धता लगी हो तो वायु के साथ उड़कर आने वाली धूलि दीवार से चिपक जाती है और यदि दीवार साफ-सुथरी, सपाट हो तो वायु के साथ उड़कर आने वाली धूलि दीवार से न चिपक कर तुरन्त झड़ जाती है। ये मिथ्यात्व आदि योग पर्यन्त कर्म मात्र के समान बन्ध हेतु होने से सामान्य कारण कहलाते हैं। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि स्वाभाविक भाव हैं तथा राग-द्वेष और मोह—ये वैभाविक भाव हैं। आत्मा जब वैभाविक भावों में जाती है तब कर्मबन्ध के बन्धनों से बंधती है, इस बात से सभी दार्शनिक सहमत हैं। औपनिषद् ऋषियों ने स्पष्ट कहा कि अनात्मा-देहादि में आत्मतत्त्व का अभिमान करना मिथ्याज्ञान है, मोह है और वही बन्ध है।

न्यायदर्शन में भी मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का कारण माना है और मिथ्याज्ञान का दूसरा नाम मोह है तथा यही कर्मबन्ध का कारण है।⁴³ वैशेषिक दर्शन और न्यायदर्शन समानतंत्रीय है। अतः न्यायदर्शन का समर्थन करते हुए उसने भी मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का हेतु माना है।⁴⁴ सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के अभेदज्ञान, मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का कारण माना है।⁴⁵ योग में कर्मबन्ध का कारण क्लेश को बताया है और क्लेश का हेतु अविद्या माना है।⁴⁶ इसी प्रकार वेदान्त दर्शन, भगवद् गीता में भी कर्मबन्ध का हेतु अविद्या कहा है।⁴⁷

जैनदर्शन ने भी अन्य दर्शनकारों की तरह सामान्यतः मिथ्याज्ञान, मोह, अविद्या आदि को कर्मबन्ध का हेतु माना है, जैसे कि—

रागो य दोसोशिवय कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।⁴⁸

अर्थात् राग-द्वेष और मोह कर्मबन्ध के कारण हैं। इस कथन में दर्शनान्तरों की मान्यता का समावेश हो जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी योगशतक में राग-द्वेष तथा मोह को आत्मा के दूषण बताये हैं तथा उनको आत्मा के वैभाविक परिणाम कहे हैं⁴⁹ तथा श्रावकप्रज्ञप्ति,⁵⁰ कम्मपयडी टीका⁵¹ में भी कर्मबन्ध के हेतु कहे हैं।

उपरोक्त बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। ऐसा उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका में बताया है—तथाऽविशेषिताऽचिवक्षिता रस प्रकृतिः उपलक्षणात् स्थित्यादयोऽपि यस्मिन् स प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः। तु शब्दस्याधि कार्यसंसूचकत्वाद् विवक्षित रस प्रकृति प्रदेशः स्थितिबन्धः, अविवक्षित प्रकृतिस्थिति प्रदेशो रसबन्धः अविवक्षित प्रकृति स्थितिरसः प्रदेशबन्ध इत्यपि दृष्टव्यं।⁵²

जिस प्रकार सन्तप्त लोहे के गोले को पानी में डालने पर वह सब ओर से पानी को ग्रहण किया करता है, उसी प्रकार क्रोधादि कषायों से सन्तप्त हुआ जीव, जो सब ओर से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण किया करता है, वह बन्ध कहा जाता है। वह चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों का अर्थ नवतत्त्व में संक्षेप में इस प्रकार बताया है—

पयई सहावो बुतो ठिई कालावहारणं।

अणुभाग रसो णेओ पएसो दल संचओ।।⁵³

प्रकृति का अर्थ स्वभाव, स्थिति अर्थात् समय की निश्चितता, अनुभाग यानी रस-प्रदेश यानी परमाणुओं का प्रमाण। इन चारों का अर्थ पंचसंग्रह में भी संक्षेप में बताया गया है—

ठिईबंधु दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसग्रहणं ज।

ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो।।⁵⁴

अर्थात् स्थितिबन्ध यानी दलिक की स्थिति, प्रदेशों का ग्रहण यानी प्रदेशबन्ध। उनका जो रस वो अनुभाग, उनके समुदाय को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

उपाध्याय यशोविजय द्वारा रचित कम्मपयडी टीका के भावानुवाद में इसी स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है—

1. प्रकृतिबन्ध—ज्ञानावरण आदि स्वभाव वो प्रकृति। बन्धन के स्वभाव का निर्धारण प्रकृतिबन्ध करता है। यह, यह निश्चय करता है कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत्त करेंगे।

2. स्थितिबन्ध—स्थिति यानी प्रतिनियतरूप काल अवस्था। कर्म परमाणु कितने समय तक आत्मा से संयोजित रहेंगे और कब निर्जरित होंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति बन्ध करता है। अतः यह बन्धन की समय-मर्यादा का सूचक है।

3. अनुभागबन्ध—अनुभाग यानी शुभ-अशुभ आदि रस हैं। कर्मों के बन्धन और विचार की तीव्रता एवं मन्दता का निश्चय करना, यह अनुभाग बन्ध का कार्य है। दूसरे शब्दों में यह बन्धन की तीव्रता या गहनता का सूचक है।

4. प्रदेशबन्ध—कर्मों की बहुत बहुतम रूप अवस्था। यह कर्म-परमाणुओं की आत्मा के साथ संयोजित होने वाली मात्रा का निर्धारण करता है। अतः यह मात्रात्मक होता है।⁵⁵

प्रकृतिबन्ध आदि उक्त चारों प्रकारों का स्वरूप शास्त्रों में दिये गये लड्डुओं के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट होता है।

मोदक का दृष्टान्त

जैसे आटा, घी, चीनी के समान होने पर भी कोई लड्डु वायु, कोई पित्त या कोई कफ का नाश करे, वैसे ही आत्मा द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में से कुछ कर्म-पुद्गलों में ज्ञान को आच्छादित करने की, कुछ में दर्शनगुण को आवृत्त करने की शक्ति, मोहनीय सुख, आत्मसुख, परमसुख, शाश्वतसुख के लिए घातक है। अन्तराय से वीर्य (शक्ति) का घात होता है, वेदनीय सुख-दुःख का कारण है। आयु से आत्मा को नरकादि विविध भावों की प्राप्ति होती है। नाम के कारण जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते हैं और गोत्र प्राणियों के उच्चत्व-नीचत्व का कारण है। इसे प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार गृहीत कर्म-पुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों, स्वभावों के बन्ध और स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रवृत्ति-बन्ध कहते हैं।

जैसे उक्त औषधि मिश्रित लड्डुओं में से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की एक पक्ष, कुछ की एक माह तक अपने स्वभाव में बने रहने की काल मर्यादा होती है। इस मर्यादा को स्थिति कहते हैं। वैसे कोई कर्म 20/30/70 कोडाकोडि सागरोपम काल तक रहे—इसे स्थितिबंध कहते हैं और उस स्थिति के बाद बद्ध कर्म अपने स्वभाव का भी त्याग कर देते हैं।

स्निग्ध, रुक्ष, मधुर-कटुकादि इसमें से किसी मोदक में एक गुण हो, कोई द्विगुण, कोई त्रिगुण हो, वैसे किसी कर्म में एकस्थानीय, किसी में द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय या चतुस्थानीय रस होता है, इसे अनुभाग/रस-बन्ध कहते हैं।

जैसे कोई लड्डु 100 ग्राम, कोई 500 ग्राम, कोई 1 किलो का होता है, वैसे ही किसी कर्म के दलिक कम, किसी कर्म के ज्यादा होते हैं। इसे प्रदेशबंध कहते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न परमाणु संख्यायुक्त कर्मदलिकों का आत्मा के साथ बंधना प्रदेशबंध है।⁵⁶

कर्मबंध की पद्धति मकान बांधते समय सीमेंट रेती में पानी डालकर जो मिश्रण किया जाता है, उसमें भी मिश्रण की प्रक्रिया पदार्थों पर आधारित है। पानी यदि बिलकुल कम होगा तो मिश्रण बराबर नहीं होगा। उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मबंध में भी कषायादि की मात्रा आधारभूत प्रमाण है। सीमेंट रेती में मिश्रण पानी के आधार पर होता है, वैसे ही आत्मा के साथ जड़ कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का मिश्रण कषाय के आधार पर होता है। जिस प्रकार पानी कम-ज्यादा हो तो मिश्रण में फर्क पड़ता है, उसी तरह कषायों में तीव्रता या मंदता आदि के कारण कर्म के बंध में भी शैथिल्य या दृढ़ता आती है। अतः कर्मबंध की पद्धति के चार प्रकार हैं—1. स्पृष्ट, 2. बद्ध, 3. निधत, 4. निकाचित।

1. स्पृष्ट बन्ध—सूचि समूह के परस्पर बन्ध के समान गुरु कर्मों का जीव-प्रदेश के साथ बन्धन होता है, वह स्पृष्ट बन्ध है। अल्प कषाय आदि के कारण से बंधे कर्म जो आत्मा के साथ स्पर्शमात्र सम्बन्ध से चिपक कर रहे हैं, उन्हें सामान्य पश्चात्ताप मात्र से ही दूर किये जा सकते हैं। धागे में हल्की-सी गांठ जो शिथिल ही लगाई गई है, वह आसानी से खुल जाती है, वैसे कर्मबंध स्पर्श मात्र कहलाता है। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान में विचारधारा बिगड़ने से जो कर्मबंध हुआ, वह शिथिल स्पर्श मात्र ही था। अतः 2 घड़ी में तो कर्मक्षय भी हो गया।

2. बद्ध बन्ध—पैक बण्डल में बंधी हुई सुइयों के समान गुरु कर्मों का जीव-प्रदेशों के साथ कर्मबन्धन होता है। उसे बद्धबन्ध कहते हैं। यह विशेष प्रयत्न अर्थात् प्रायश्चित्त आदि द्वारा क्षय होता है, जैसे धागे में गांठ खींचकर लगाई हो तो खोलने में कठिनाई होती है, वैसे ही यह गांठ बंध होता है। जैसे अङ्मुता मुनि को प्रायश्चित्त करते हुए कर्मों का क्षय हो गया। स्वेच्छा से कर्म करता है।

3. निधत बन्ध—सूईयां कई वर्षों से चिपकी हुई पड़ी हैं, जिनमें पानी या जंग लग जाने से एक-दूसरे से ज्यादा चिपक जाने से आसानी से अलग नहीं पड़ती। रेशमी धागे में लगाई गई पक्की गांठ खोलना बहुत मुश्किल है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्म का बंध तीव्र कषाय से ज्यादा मजबूत होता है, जो आसानी से नहीं छूटता। यह निधत बन्ध तपश्चर्या आदि से बड़ी कठिनाई से क्षय होता है। जैसे अर्जुनमाली इच्छा से आनन्दपूर्वक कर्म करता है।

4. निकाचित बन्ध—सूइयां अग्नि की गर्मी के कारण पिघल कर लोहे की प्लेट के जैसे एक रस हो गई। अब सूई स्वतंत्र आकार में नहीं दिखती है। अब उसे किसी भी प्रयत्न से अलग नहीं कर सकते। रेशमी धागे में गांठ कसकर लगा दी, ऊपर मोम लगा दिया, अब वह खुलना संभव नहीं। उसी प्रकार निकाचित कर्म-बंध तपादि अनुष्ठान से सूक्ष्म नहीं होते हैं। जैसे महावीर स्वामी ने 18वें त्रिपुष्ट वासुदेव के भव में राटयापालकों के कानों में गर्म-गर्म शीशा डलवाकर जो भयंकर निकाचित कर्म बांधा था फलस्वरूप अन्तिम सत्ताइसवें भव में महावीर स्वामी के कानों में खीले ठोके गए।⁵⁷ यह स्वतंत्र शंकारहित रसपूर्वक करता है।

कर्मों के भेद-प्रभेद

सामान्यतः कर्म का कार्य है मोक्षप्राप्ति न होने देना। इस दृष्टि से विचारें तो कर्म का कोई भेद नहीं होता है और भेद-प्रभेद करने की आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन जैसे हम क्षुधा शान्त करने के लिए भोजन करते हैं, तब ही वह भोजन रुधिर मांस आदि धातु, उपधातुओं के रूप में परिवर्तित होते हैं, उसी प्रकार कर्म परमाणु भी कृत-कर्म के अनुरूप जीव के गुणों को आवृत्त करने के साथ-साथ सुख-दुःख का वेदना कराते रहते हैं। इसी आपेक्षिक दृष्टिकोण के अनुसार कर्मों के भेद किये गये हैं।

साधारणतया सभी दार्शनिकों ने कर्म के भेदों का उल्लेख अच्छा कर्म और बुरा कर्म—इन दो प्रकारों में किया है। लोक-व्यवहार में भी कर्म के भेदों के लिए यही धारणा प्रचलित है। इन्हीं को विभिन्न शास्त्रकारों ने शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुक्ल-कृष्ण, अच्छा-बुरा आदि नामों से सम्बोधित किया है, जैसे—षड्दर्शन समुच्चय की टीका में कर्म के दो भेद इस प्रकार मिलते हैं—तत्र पुण्यं शुभाः कर्म कर्मपुद्गला । त एव त्वशुभाः पापम् ।⁵⁸ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।⁵⁹ अच्छा फल देने वाला कर्म पुद्गल पापरूप है। इससे यह कहा जा सकता है कि कर्म के शुभ-अशुभ आदि के रूप में जो दो भेद दिये हैं, ये प्राचीनतम हैं और प्रारम्भिक कर्म विचारणा के समय दार्शनिकों ने यही दो भेद स्वीकार किये होंगे। इनके अतिरिक्त भी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कर्म के भेद किये हैं। जैसे कि गीता में सात्विक, राजस् और तामस्—ये तीन भेद मिलते हैं।⁶⁰ इसका पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ आदि पूर्वोक्त सर्वमान्य भेदों में समावेश हो जाता है।

फल की दृष्टि से कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियामण—ये तीन भेद दर्शनान्तरों में दिखाई देते हैं। जिसका फल आरब्ध हुआ, वह प्रारब्ध, जो वर्तमान जन्म में कृत हो रहा है, वह क्रियामण है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरब्ध नहीं हुआ, वह संचित है। इन भेदों में जैन दर्शन मान्य उदय के

लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिए संचित और बन्ध के लिए क्रियामण शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् प्रारब्ध, संचित और क्रियामण क्रमशः उदय, सत्ता और बन्ध के ही अपर नाम हैं।

वेदान्त दर्शन में कर्म के प्रारब्ध कार्य एवं अनारब्ध कार्य—ये दो भेद किये हैं।⁶¹ यद्यपि इतर दर्शनों के कर्मविपाक का कुछ-न-कुछ संकेत अवश्य मिलता है।

अच्छा कर्म और बुरा कर्म मानने की दृष्टि से बौद्ध और योगदर्शन में कृष्ण, शुक्ल, कृष्णशुक्ल और शुक्लकृष्ण—ऐसे चार भेद किये हैं—

कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रि विधमितरेषाम् ।⁶²

योगियों के कर्म अशुक्लाकृष्ण हैं परन्तु दूसरों के कर्म त्रिविध हैं। भाष्य में इसका वर्णन विस्तार से मिलता है।⁶³

योगदर्शन में कर्माशय के दो भेद किये गए हैं, जैसे कि—

कलेशमूलः कर्माशयोः द्रष्टाद्रष्ट जन्मवेदनीयः ।⁶⁴

कलेशमूलक कर्माशय दो प्रकार का है—दृष्टि जन्म वेदनीय और अदृष्ट जन्म वेदनीय।

न्यायवार्तिककार ने कर्मविपाक को अनियत बताया है। कर्म का फल इसी लोक में या परलोक में या जात्यन्तर प्राप्त हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। कर्म के अन्य सहकारी कारणों का संविधान न हो तथा सन्निहित कारणों में भी कोई प्रतिबन्धन न हो तब कर्म अपना फल प्रदान करता है। परन्तु यह नियम कब पूरा हो, उसका निर्णय होना कठिन है। कर्म की गति दुर्विज्ञेय है। अतः मनुष्य उस प्रक्रिया का पार नहीं पा सकता।⁶⁵

इस प्रकार इतर दर्शनों में भी विपाक और विपाककाल की दृष्टि से कर्म के कुछ भेद बताये गये हैं लेकिन जैन ग्रंथों में कर्म के भेद-प्रभेदों को व्यवस्थित वर्गीकरण एक ही दृष्टि से नहीं अपितु विविध अपेक्षाओं, स्थितियों आदि को लक्ष्य में रखकर किया गया है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जैन दर्शन में भी विपाकों को दृष्टि में रखकर कर्मों के भेद गिनाये हैं लेकिन विपाक के होने न होने, अमुक समय में होने आदि की दृष्टि से जो भेद हो सकते हैं उन्हें विविध दशाओं के रूप में चित्रित किया गया है कि कर्मों के अमुक-अमुक भेद हैं और अमुक अवस्थाएँ होती हैं। किन्तु अन्य दर्शनों में इस प्रकार का श्रेणी विभाजन नहीं पाया जाता है।

जैन वाङ्मय में कर्म के भेद-प्रभेदों का अत्यन्त विस्तार से विवेचन किया गया है। जैनागम में सर्वमान्य द्वादशांगी, जिसमें चौदह पूर्व समाविष्ट हैं, जिसका आठवां कर्मवाद पूर्व है, जिसमें कर्म का गहनता-गंभीरता से विश्लेषण किया गया है तथा यह सर्वज्ञ कथित होने से निःशंकित है और उसी कारण आज दिन तक कर्म-विवेचन का स्वरूप वैसा ही चला आ रहा है, क्योंकि सर्वज्ञ राग-द्वेष से विरक्त होने से उनका कथन निष्पक्ष होता है, जबकि अन्य दर्शनों में वैसा अभाव होने के कारण अनेक विचारधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं लेकिन जैनदर्शन में अस्खलित रूप से वही धारा प्रवाहित होती रहेगी। जैसे कि आगम में कर्म के प्रधानतया आठ भेद बताये हैं तथा 158 उत्तर प्रकृतियों का विवेचन किया है।

वैसे तो आत्मा में अनन्त गुण हैं, जिसमें से कुछ सामान्य और कुछ असामान्य, जो गुण जीव में तथा उसके अतिरिक्त में भी पाये जाते हैं, वे प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि साधारण गुण कहे जाते हैं तथा जो जीव में ही पाये जाते हैं, जैसे—सुख, ज्ञान, दर्शन, चैतन्य आदि ये असामान्य गुण हैं।

यद्यपि आत्मा में अनन्तगुणों के होने से उनको आवृत्त करने वाले कर्मों के भी अनन्त भेद होंगे, परन्तु सरलता से समझने के लिए उन अनन्त गुणों में से आठ गुण मुख्य हैं। उनमें शेष सभी गुणों का समावेश हो जाता है। ये आठ गुण इस प्रकार द्रव्यसंग्रह की टीका में मिलते हैं—

सम्मतणाण दंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं अगुरुलहु अव्वावाहं अद्दुगुणां हुति सिद्धाणं।⁶⁶

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य, अव्याबोध सुख, अटल अवगाहन, अमूर्तत्व और अगुरुलघुत्व।

उक्त आठ गुणों को आवृत्त करने के कारण कर्म परमाणु भी आठ गुणों में विभक्त हो जाते हैं और अलग-अलग नामों से संबोधित किये जाते हैं अर्थात् आत्मा के अनन्त गुणों में से ज्ञान, दर्शन आदि आठ गुणों को मुख्य मानने से उनको आवृत्त करने वाले कर्मों के भी आठ भेद हैं। उनके नाम उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार मिलते हैं—

नाणस्सावरणिज्जं दंसावरणं तहा।

वेयणिज्जं तहा मोहं अडकम्मं तहेव य।।

नाम कम्मं च गोयं च अन्तराय तहेव य।

एवमयाइं कम्माइं अद्देव उ समासओ।।⁶⁷

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका में इन्हीं नामों का उल्लेख किया है—

ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाख्याः कर्मणोष्टौ-मूलप्रकृतयः।⁶⁸

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय—ये आठ मूल कर्म हैं। इन आठ कर्मों का वर्णन श्री भगवतीजी,⁶⁹ स्थानांग,⁷⁰ प्रज्ञापना,⁷¹ अभिधान राजेन्द्रकोश,⁷² पंचसंग्रह,⁷³ प्रथम कर्मग्रंथ,⁷⁴ तत्त्वार्थ,⁷⁵ नवतत्त्व,⁷⁶ धर्मसंग्रहणी,⁷⁷ श्रावकप्रज्ञप्ति,⁷⁸ प्रशमरति⁷⁹ आदि ग्रंथों में भी है, क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है। शेष चार अघाती प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती। इतना ही नहीं, ये आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती हैं, जो उसका निजी नहीं अपितु पौद्गलिक—भौतिक है।

ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की घाती संज्ञा सार्थक है। इनका सीधा प्रभाव जीव के स्वाभाविक मूल पर पड़ता है। ये इन गुणों का घात करते हैं, जैसे कि ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान गुण को, बादलों का समूह जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करके उसे निस्तेज कर देते हैं, उसी प्रकार घाती कर्म भी आत्मगुणों को घात करके उसे निस्तेज कर देते हैं, लेकिन इतना तो अवश्य समझने योग्य है कि घाती कर्म आत्मा के गुणों को कितना ही आच्छादित कर दे, फिर भी उसका अनन्तवां भाग तो अवश्य अनावृत्त रहता है, क्योंकि घाती कर्म का भी सम्पूर्ण आवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं है। यदि अनन्तवां भाग भी आवृत्त हो जाए तो जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा तथा जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जीव ही अजीव माना जायेगा, जैसा कि नदीसूत्र में कहा है—

सव्व जीवाणं णियमं अक्खरस्स अनंतं भागो णिच्चुधादिओ हवइ।

जइ पुण सो वि आवदिज्जा तेणं जीवो अजीवतं पावेज्जा।।⁸⁰

सभी जीवों का निश्चित अक्षर का अनन्तवां भाग अनावृत्त होता है। यदि वह भी आच्छादित हो जाए तो जीव अजीवता को प्राप्त कर लेगा। आत्मगुणों का साक्षात् घात करने से घाती कर्मों को कर्म कहते हैं और अघाती कर्मों का आत्मा के साथ परोक्ष सम्बन्ध होने से तथा कर्मों के कार्य में सहायक

होने से उन्हें नोकर्म भी कहते हैं। आठ कर्मों का लक्षण, प्रभेद एवं कर्मबंध का कारण से स्पष्ट किया जाता है।

1. ज्ञानावरण कर्म

पदार्थ को जानना ज्ञान है। जो कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत्त करे, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। अभिधान राजेन्द्रकोश के अनुसार ज्ञानावरण अर्थात् पदार्थ के स्वरूप के विशेष बोध की प्राप्ति में मत्यादि—पाँचों ज्ञान को अपने प्रभाव से आच्छादित करने वाला आवरण। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढंक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की ज्ञान शक्ति को ढंक देती हैं और ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।⁸¹

आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है। ज्ञान अर्थात् विशेष रूप से वस्तु का बोध होना, जिससे मतिज्ञान आदि आते हैं—

सामान्य विशेषात्मके वस्तुनि विशेष ग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः।⁸²

आद्य ज्ञानावरण ज्ञायते अर्थो विशेषरूप तथाऽतेनेति ज्ञानं मतिज्ञानादि।⁸³

ज्ञानमाप्रियते येन कर्मणा करणेऽनीयदि ज्ञानावरणीयं विशेषावधारणाभित्यर्थः।⁸⁴

ज्ञानस्य आवरणं ज्ञानावरणं ज्ञानं मतिज्ञानादि।⁸⁵

जो आवृत्त करता है वह आवरण। इसमें जो कर्म ज्ञान का आवरण। इसमें जो कर्म ज्ञान का आवरण करता है, वह ज्ञानावरण। ज्ञानावरण कर्म का आवरण जितना प्रगाढ़ होगा, इतना ही जीव की ज्ञान चेतना का विकास अल्प होगा और आवरण जितना अल्प होगा, उतना विकास अधिक होगा।

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में ज्ञानावरणीय को व्याख्यायित करते हुए कहा है—
सामान्य विशेषात्मकं वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानं, तदात्रियते आच्छाद्यतेऽतेनेति ज्ञानावरण।⁸⁶

ज्ञानावरण के उत्तर-भेद

जीव जिस शक्ति के द्वारा संसार के समस्त पदार्थों का बोध करता है, वह ज्ञान कहलाता है। आत्मा की इस शक्ति को आवृत्त करने वाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं। उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद बताये हैं—

मतिश्रुताधिमनः पर्याय केवल ज्ञानावरण भेदात् पश्चं ज्ञानावरणोत्तर प्रकृतयः।⁸⁷

1. मतिज्ञानावरणीय, 2. श्रुतज्ञानावरणीय, 3. अवधिज्ञानावरणीय, 4. मनःपर्यवज्ञानावरणीय, 5. केवलज्ञानावरणीय।

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण⁸⁸

जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुण्ठित करते हैं, ये निम्न छः प्रकार के हैं—

1. ज्ञान प्रत्यनीकता—ज्ञान का ज्ञानी से प्रतिकूलता रखना।
2. ज्ञान निन्द्य—ज्ञान तथा ज्ञानदाता का अपलाप करना अर्थात् ज्ञानी को कहना कि ज्ञानी नहीं है।
3. ज्ञानान्तराय—ज्ञान को प्राप्त करने में अन्तराय डालना।
4. ज्ञान-प्रद्वेष—ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना।

5. ज्ञान आसातना—ज्ञान या ज्ञानी की अवहेलना करना ।

6. ज्ञान विसंवादन—ज्ञान या ज्ञानी के वचनों में विसंवाद अर्थात् विरोध दिखाना ।

2. दर्शनावरण कर्म

जो दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व को आवृत्त करे, वह दर्शनावरण कहलाता है। पदार्थ के सामान्य बोध स्वरूप दर्शन की प्राप्ति में अपने प्रभाव से जो रुकावट डालता है, वह दर्शनावरण कहलाता है। जीव के व्यापार के द्वारा आकृष्ट हुई कार्मण वर्गणाओं के अन्तर्गत मिथ्यात्वादि संबंधी कार्मण वर्गणाओं के विशिष्ट पुद्गल समूह का आवरण दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करने वाले बोध को दर्शन कहते हैं—

सामान्य विशेषात्मके वस्तुनि सामान्य ग्रहणात्मको बोधः।⁸⁹

दर्शनावरण कर्म द्वारा जीव को पदार्थ के सामान्य रूप का अवलोकन करने वाली शक्ति आवृत्त होती है—चक्षुदर्शनादि—

सामान्यावबोध वादकत्वात् । दर्शनं चक्षुदर्शनादि ।⁹⁰

दर्शन का आवरण दर्शनावरण या दर्शनावरणीय कहलाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में दर्शनावरण का वर्णन करते हुए कहा है—

सामान्यग्रहणात्मको बोधो दर्शन, तदाप्रियतेऽतेनेति दर्शनावरण ।⁹¹

अर्थात् सामान्य ग्रहण स्वरूप बोध को दर्शन तथा उनको आच्छादित करने वाला आवरण दर्शनावरण कहलाता है।

कोश में दर्शन के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। लेकिन यहाँ हम दर्शनावरण कर्म के भेदों का विचार कर रहे हैं। अतः दर्शनावरण शब्द में जो दर्शन शब्द है, उसे वस्तु के सामान्य बोध का परिचायक समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य विशेषात्मक पदार्थों के आकार रूप विशेष अंश को ग्रहण नहीं करके जो केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं।⁹² आत्मा के दर्शन-गुण को जो आच्छादित करता है, वह कर्म दर्शनावरण कहलाता है।

दर्शनावरणीय की उत्तर प्रकृतियाँ

दर्शनावरण के असंख्यात भेद हो सकते हैं। लेकिन सरलता से समझने के लिए उन असंख्यात भेदों का समावेश मुख्य नव भेदों में हो जाता है—

निद्रा-निद्रा निद्रा पयला तह होइ पयलपयला य ।

धीण्डी अ सुरुद्रा निद्रापणगं जिणाभिहितं ।।

नयणेयरोहि केवल दंसणवरण चउव्विहं होइ ।⁹³

अर्थात् 1. निद्रा, 2. निद्रा-निद्रा, 3. प्रचला, 4. प्रचलाप्रचला, 5. धीण्द्रि, 6. चक्षुदर्शन, 7. अचक्षुदर्शन, 8. अवधिदर्शन, 9. केवलदर्शन।

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में दर्शनावरण के उत्तर-भेद को बताते हुए कहा है—चक्षुदर्शनावरणचक्षुदर्शनावरणवधिदर्शनावरणकेवलदर्शनवरण निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचला प्रचला स्त्यानग्धिभेदान्नव दर्शनावरणोत्तर प्रकृतयः।⁹⁴

नव भेदों का वर्णन संक्षिप्त में इस प्रकार है—

निद्रा—जिस निद्रा में प्राणी सुख पूर्वक आवाज लगाते ही जाग उठे।

निद्रा निद्रा—जिस निद्रा में प्राणी बड़ी मुश्किल से जाग पाता है।⁹⁵

प्रचला—जिस निद्रा में प्राणी बैठे-बैठे ही सो जाया करता है।⁹⁶

प्रचला प्रचला—जिस निद्रा में प्राणी चलते-चलते निद्रा करता है।⁹⁷

थिणद्री—जिसमें व्यक्ति दिन में या रात्रि में उठना-बैठना, चलना आदि अनेक क्रियाएँ निद्रावस्था में ही सम्पन्न कर देता है।⁹⁸

चक्षुदर्शनावरण—नयन शब्द चक्षुवाचक है। चक्षु इन्द्रियजन्य सामान्य उपयोग का जो आवरण किया करता है, उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण—चक्षु के अलावा शेष इन्द्रियों से होने वाले सामान्य बोध को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधि दर्शनावरण/केवल दर्शनावरण—अवधि और केवल रूप सामान्य उपयोग के आवरण कर्म को-क्रम से अवधि दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण जानना चाहिए।⁹⁹

दर्शनावरण में जो पांचवां भेद थिणद्री है, उसकी विशेषता बताते हुए पुण्यम् कर्मग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ब्रज ऋषभ नाराच संहनन वाले जीव को सत्यान्द्रि निद्रा का उदय हो तो उसमें वासुदेव के आधे बल के बराबर बल हो जाता है।¹⁰⁰ इस निद्रा वाला जीव नरक में जाता है।

दर्शनावरण कर्म बंध के कारण¹⁰¹

ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आवरण के द्वारा दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है—

दर्शनप्रत्यनीकता—दर्शन या दर्शनी से प्रतिकूलता रखना।

दर्शन निन्दव—दर्शन या दर्शनदाता का अपलाप करना अर्थात् दर्शनी को कहना कि वह दर्शनी नहीं है।

दर्शनान्तराय—सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक बनना, विघ्न डालना।

दर्शन-प्रद्वेष—सम्यक्त्व या सम्यक्त्वी पर द्वेष करना।

दर्शन-आसातना—दर्शन या दर्शनी की अवहेलना करना।

दर्शन विसंवादन—दर्शन या दर्शनी के वचनों में विसंवाद अर्थात् विरोध दिखाना।

3. वेदनीय कर्म

यह कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छादित करता है। इस वेदनीय कर्म द्वारा शांता-अशांता दोनों का वेदन होता है। उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

तृतीय वेदनीयं साता सातरूपेण वेद्यते इति वेदनीयम्।¹⁰²

इस कर्म के उदय से संसारी जीवों को ऐसी वस्तुओं से संबंध हो जाता है, जिसके निमित्त से वो सुख-दुःख दोनों का अनुभव करते हैं। संसारी जीवों को एकान्तरूप से सुख नहीं मिलता है किन्तु दुःख का अंश भी मिश्रित रहता है।

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।¹⁰³

वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा को सुख या दुःख का वेदन होता है।¹⁰⁴ यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बनाकर अनन्त दुःख के समुद्र में धकेल देता है।

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में वेदनीय कर्म को बताते हुए कहा है—

वेद्यते आहमादिरूपेण यत्तध्वेदनीयं।¹⁰⁵

आह्लाद आनंदरूप से जो वेदाता है, उसे वेदनीय कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से व्यक्ति को सुख-दुःख की प्राप्ति हो, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यद्यपि ज्ञानावरण आदि सभी कर्म अपने विपाक का वेदन कराते हैं, लेकिन पंकज जैसे कमल के अर्थ में रूढ है¹⁰⁶ वैसे ही वेदनीय शब्द को साता-असाता रूप फल विवाद के वेदान्त कराने में रूढ समझना चाहिए।

वेदनीयकर्म की उत्तर प्रकृति

वेदनीय कर्म दो प्रकार का है—1. सातावेदनीय, 2. असातावेदनीय।¹⁰⁷

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका में वेदनीय कर्म के भेद बताते हुए कहा है—

वेदनीयस्य द्वे प्रकृति सातमसातं च। तत्र यत्र उदयाद्वारोग्यविषयोप-भोगादि जनितमाह्लादलक्षणं सातं वैद्यते तत्सातवेदनीयं। तदिवपरीतमसातवेदनीयं।¹⁰⁸

जिसके उदय से आरोग्य, विषय, उपभोग आदि उत्पन्न होते ही आनन्द होता है, उसे सातावेदनीय कहते हैं, उससे विपरीत असातावेदनीय है।

1. सातावेदनीय—जिसका वेदन सुख स्वरूप से होता है या जो सुख का वेदन कराता है, उसे सातावेदनीय कहते हैं। रति मोहनीय कर्म के उदय से जो जीव को सुखकारक इन्द्रिय विषयों का अनुभव कराता है, उस कर्म को सातावेदनीय कहते हैं।¹¹⁰

इसके उदय से जीव अनुकूल सांसारिक विषय, भोजन, वस्त्र आदि तथा शारीरिक एवं मानसिक सुख का अनुभव करता है।¹¹¹

2. असातावेदनीय—इसके उदय से प्रतिकूल विषयों का, प्रतिकूल शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का संयोग होने से दुःख वेदना असाता उत्पन्न होती है।¹¹²

जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव होता है, उसे असाता वेदनीय कहते हैं।

समस्त संसारी जीव वेदनीय कर्म के उदय से दुःख-सुख का अनुभव करते हैं। वे न तो एकान्त रूप से सुख का ही और न दुःख का ही वेदन करते हैं। उनका जीवन सुख-दुःख से मिश्रित होता है। फिर भी देवगति, मनुष्यगति प्रायः शब्द से यह संकेत किया गया है कि देव और मनुष्य में साता के सिवाय असाता वेदनीय कर्म का भी और तिर्यच और नरक में असाता के सिवाय साता का भी उदय संभव है। चाहे वह अल्पांश हो, लेकिन संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वेदनीय कर्मबंध के कारण¹¹⁵

‘साता वेदनीय’ कर्मबंध के छह कारण हैं—

1. प्राण, भूत, जीव, सत्वों को अपनी असत् प्रवृत्ति से दुःख न देना।
2. प्राण, भूत, जीव, सत्वों को हीन न बनाना।
3. प्राण, भूत, जीव, सत्वों के शरीर को हानि पहुंचाने वाला शौक पैदा न करना।
4. प्राण, भूत, जीव, सत्वों को न सताना।
5. प्राण, भूत, जीव, सत्वों पर लाठी आदि से प्रहार न करना।
6. प्राण, भूत, जीव, सत्वों को परितापित न करना।

उक्त कामों को करने से सातावेदनीय कर्म का बंध होता है अर्थात् उपरोक्त कारण से विपरीत कारण असातावेदनीय बंध के हैं।

4. मोहनीय कर्म

यह कर्म आत्मा को मोहित कर लेता है, विकृत बना देता है, जिससे हित-अहित का भान नहीं रहता और सदाचरण में प्रवृत्ति नहीं करने देता है। स्व-पर विवेक जीव का सम्यक्त्व गुण तथा अनन्तचारित्र गुण की प्राप्ति में जीव को बाधा पहुंचाने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—**कम्मं च मोहण्यभवं वयन्ति।**¹¹⁴ अर्थात् कर्म मोह से उत्पन्न होता है। मोह की ही लीला है समस्त संसार। इसीलिए मोहनीय कर्म को कर्मों का राजा कहा गया है। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे बलवान और भयंकर होता है। अतः मोक्षाभिलाषी प्रत्येक प्राणी को सबसे पहले इसी कर्म को नष्ट करने का प्रयास करना पड़ता है। सेनापति के मरते ही जिस प्रकार सारी सेना भाग जाती है, ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, वह मोहनीय कर्म है।¹¹⁵ इस कर्म के कारण जीव मोहग्रस्त होकर संसार में भटकता है। समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसलिए इसे अरि या शत्रु भी कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय कर्म के अधीन हैं। मोहनीय कर्म राजा है तो शेष कर्म प्रजा। जैसे राजा के अभाव में प्रजा कोई कार्य नहीं कर सकती, वैसे ही मोहनीय के अभाव में अन्य कर्म अपने कार्य में असमर्थ रहते हैं। वह आत्मा के वीतराग भाव तथा शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा रागद्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्व-पर विवेक एवं स्वरूप रमण में बाधा डालता है।¹¹⁶

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका में मोहनीय कर्म को परिभाषित करते हुए कहा है—

मोहयति सद्सदविवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयं।¹¹⁷

जो सद्-असद् विवेक को विकल करता है, वो मोहनीय कर्म है।¹¹⁸

मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृति

मोहनीय कर्म के उदय से जीव अपने हिताहित को नहीं समझ पाता है। उनके मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—1. सम्यक्त्व मोहनीय, 2. मिथ्यात्व मोहनीय, 3. मिश्र मोहनीय।

दुविहं च मोहणीयं दसणमोहं चरितमोहं च ।
देसणमोहं तिविहं सम्मेयर मीसवेयणियं ।।¹¹⁹

दर्शन से यही सम्यक् दर्शन अभिप्रेत है। तत्त्वार्थ श्रद्धान् रूप सम्यग् दर्शन को जो मोहित करता है, वह दर्शनमोहनीय कहलाता है। वह तीन प्रकार का है।¹²⁰

उपाध्याय यशोविजय ने भी कम्मपयडी की टीका में मोहनीय कर्म की प्रकृति को बताते हुए कहा है—

मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं षोमज्ञ कषाया नव नोकषाया श्वेत्यष्टाविशतिर्मोहनीय प्रकृतयः ।।¹²¹

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, मिश्र, 16 कषाय, 9 नोकषाय—इस प्रकार 28 प्रकृति मोहनीय की है।

दर्शन मोहनीय—सम्यक् दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म पुद्गल।

सम्यक्त्वमोहनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक् दृष्टि से प्रतिबंधक कर्म पुद्गल यानी जिन प्रणीत तत्त्व की सम्यक् श्रद्धा।

मिथ्यात्व मोहनीय—क्षायोपशमिक के प्रतिबंधक कर्मपुद्गल। अर्थात् जिन प्रणीत तत्त्व की अश्रद्धा।

मिश्र मोहनीय—जिन प्रणीत तत्त्व श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।

चारित्र मोहनीय—चरित्र विचार उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।

कषाय मोहनीय—राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।

1. अनन्तानुबंधी, 2. अप्रत्याख्यानी, 3. प्रत्याख्यानी, 4. संज्वलन।

नोकषाय मोहनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म पुद्गल—

1. वेदत्रिक—1. पुरुषवेद, 2. स्त्रीवेद, 3. नपुंसक वेद।

2. हास्यादिषटक—1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. भय, 5. शोक, 6. जुगुप्सा।¹²²

कषाय मोहनीय के 16, नोकषाय के 9 और दर्शनमोहनीय के तीन—28 भेद हुए

मोहनीय कर्म

कषाय मोहनीय	चारित्र मोहनीय	नोकषाय मोहनीय	दर्शन मोहनीय
1. अनन्तानुबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ	4	हास्यादिषटक—वेदत्रिक	1. सम्यक्त्व मोहनीय
2. अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ	4	1. हास्य, रति	2. मिश्र मोहनीय
3. प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ	4	2. अरति, शोक	3. मिथ्यात्व मोहनीय
4. संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ	4	3. भय, जुगुप्सा	3. नपुंसकवेद

16+6+3+3=28 प्रकृति

मोहनीय कर्मबंध के कारण

दर्शनमोहनीय सत्यमार्ग की अवहेलना करने से और असत्य मार्ग का पोषण करने से तथा केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, उपाध्याय, आचार्य, साधु, धर्म और देवों का अवर्णवाद बोलने से,¹²³ सत्य पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म का तीव्र बन्ध होता है।¹²⁴

चरित्र मोहनीय—‘कषायोदयातीव्रात्म-परिणामश्चारित्र मोहस्य’¹²⁵ अर्थात् स्वयं दोषादि कषायों को करना और दूसरों में कषाय भाव उत्पन्न करना, कषाय के वश होकर अनेक अशोभनीय प्रवृत्तियाँ आदि करना—ये सब चरित्र-मोहनीय कर्म के बंध के कारण हैं।

स्वयं पाप करने से, कराने से, तपस्वियों की निंदा करने से, धार्मिक-कार्यों में विघ्न उपस्थित करने से, मद्य, मांस आदि का सेवन करने एवं कराने से, निर्दोष व्यक्तियों में दूषण लगाने से चरित्र मोहनीय कर्म का बंध होता है।¹²⁶

5. आयुष्य कर्म

जिस कर्म के अस्तित्व में लोक-व्यवहार में जीवित और क्षय होने पर ‘मर गया’ कहलाता है—

यद भावाभावयोः जीवितमरणं तदायुः।¹²⁷

अर्थात् इस कर्म के सद्भाव से प्राणी जीता है और क्षय हो जाने पर मर जाता है अथवा जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति में से किसी एक पर्याय विशेष में समय विशेष तक रोक दिया जाता है, उसे आयु कर्म कहते हैं।

जीव की किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्तभूत कर्म आयु कर्म कहलाता है।¹²⁸ जीवों के जीवन की अवधि का नियामक आयु कर्म है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु के मुख में।¹²⁹ मृत्यु का कोई देवता या उस जैसी कोई अन्य शक्ति नहीं है अपितु आयु कर्म के सद्भाव और क्षय पर ही जन्म और मृत्यु अवलम्बित है।

अभिधान राजेन्द्रकोश में आउ शब्द अप, आतु, आकु (गु) और आयुष अर्थ में प्रयुक्त होता है। आयुष की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री ने कहा है—जो प्रतिसमय भुगतने में आता है, जिसके कारण जीव नरकादि गति में जाता है, जो एक भव से दूसरे भव में संक्रमण करते समय जीव अवश्य उदय में आता है, जन्मान्तर में अवश्य उदय में आने वाला, जिसके कारण से तद्भव प्रायोग्य शेष सभी कर्म विशेषारूप से उदय में आते हैं—भवोपग्राही कर्मविशेष आयु भवस्थिति के कारणभूत कर्म पुद्गल जीवित, जीव का शरीर संबंध का काल, को आयुःकर्म कहते हैं।¹³⁰

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में आयुष्य कर्म की व्याख्या देते हुए कहा है कि—

एत्यागच्छति प्रतिबन्धकतां कुगतिनिर्धियासोर्जन्तोदिन्यायुः।¹³¹

कुगति में से निकलने की इच्छायुक्त प्राणी को प्रतिबंधकता को थामे या रोके, उसे आयुःकर्म कहते हैं।¹³²

आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृति

जीवों के अस्तित्व का नियामक आयुःकर्म है। आयु कर्म के दो प्रकार—1. अपवर्तनीय, 2. अनपवर्तनीय।

1. अपवर्तनीय—निमित्त या कारण प्राप्त होने पर जिस आयु को काल-मर्यादा में कमी हो सके, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु विषभक्षण, वेदना, रक्तक्षय, शास्त्रघात, पर्वत से पतन,

फांसी आदि निमित्तों से सौ-पचास आदि वर्षों के लिए आयु बांधी गई थी। उसे अन्तमुहूर्त में भोग लेना आयु का अपवर्तन है। इस आयु को अकाल मरण या कदलीघात मरण कहते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जैनदर्शन के नियमानुसार आयु कर्म घट तो सकता है किन्तु पूर्व में बांधी हुई आयु में एक क्षण की भी वृद्धि नहीं हो सकती।

2. अनपवर्तनीय—बड़े-बड़े कारण आने पर भी निर्धारित आयु की काल-मर्यादा एक क्षण को भी कम न हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं।

उपपात जन्म वाले अर्थात् देव, तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और असंख्य वर्ष वाले देवगुरु, उत्तरगुरु में उत्पन्न मनुष्य और तिर्यच अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष मनुष्य, तिर्यच अपवर्त्य वाले हैं।

आयुष्य कर्म चार प्रकार का जानना चाहिए—

आउं च एत्थ कम्मं चउच्चिहं नवरि होंति नायव्वं ।

नारयतिरियनरामरगति भेद विभागतो जाण ।।¹⁵⁵

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में भी आयुष्य कर्म के चार भेद बताये हैं—

सुरायुर्नरायुस्तिर्यगायुर्निरयायुश्चेति चतस्त्र आयुषः प्रकृतयः।¹⁵⁶

गति या भव की अपेक्षा से आयु के चार प्रकार हैं—1. देवायु, 2. मनुष्यायु, 3. तिर्यचायु, 4. नरकायु।¹⁵⁷

1. सुर—देवआयु—सुष्ठु शन्ति (ददाति) इति सुरा सुरन्ति-विशिष्टाएश्वर्य अनुभवन्ति इति सुराः । नमस्कार करने वालों को इच्छित देने वाले सुर की आयु में जीव की अवस्थिति सुरायु कहलाती है।

2. नर—मनुष्य आयुः नृणन्ति-निश्रन्वन्ति वस्तुज्ञत्वमिति नराः—जो वस्तु तत्त्व का निश्चय करता है, उसे नर कहते हैं, उसकी आयु या उनमें जीव की अवस्थिति नरायु, मनुष्यायु कहलाती है।

3. तिर्यश्चायु—तिरोऽच्छन्ति गच्छन्ति इति तिर्यचः । उन तिर्यचों की आयु में जीव की अवस्थिति तिर्यश्चायु कहलाती है।

4. नरकायु—नरान् उपलक्षणात् तिरश्चोऽपि प्रभुतपापकारणः कायन्ति । आहवायन्ति इति नरकाः नरकावासाः । नरकवास में उत्पन्न जीव नरक कहलाता है। उनकी आयु नरकायु कहलाती है। श्रावकप्रज्ञप्ति में भी आयुष्य के चार भेद बताये गये हैं। स्थानांग¹⁵⁹ में भी नाम, स्थापना, द्रव्य, ओष, भव, तद्भव, भोग, संयम, यशकीर्ति एवं जीवित आदि दस प्रकार की आयु का वर्णन प्राप्त होता है।

आयुष्य कर्म बन्धन के कारण

सभी प्रकार के आयुष्य कर्म के बंध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है।¹⁶⁰ फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। कर्मग्रंथ, तत्त्वार्थसूत्र एवं स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य के बंध के चार कारण माने गये हैं¹⁶¹—

1. नरकायु बंधने का कारण—1. महारम्भ, 2. महापरिग्रह, 3. पंचेन्द्रिय वध और 4. मांसाहार।
2. तिर्यञ्च आयु बंधने का कारण—1. माया करना, 2. गूढ़ माया करना, 3. असत्यवचन बोलना, 4. कूट तोल-माप करना।
3. मनुष्यायु बंधने का कारण—1. सरलता, 2. विनयशीलता, 3. करुणा, 4. ईर्ष्या न करना।
4. देवायु बंधने का कारण—1. सरागसंयम, 2. संयमासंयम, 3. बाल तपस्या, 4. अकाम निर्जरा।

कर्मग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यञ्च, देशविरत श्रावक, सरागी साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थितिवश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम निर्जरा करने वाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।¹⁴²

6. नाम कर्म

जीवों के नाना भिनोतीति नाम¹⁴³—जो जीव के चित्र-विचित्र रूप बनाता है, वह नामकर्म है। जीवों के विचित्र परिणाम के निमित्तभूत कर्मों के हेतुस्वरूप कर्म नामकर्म है। जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यच, देव और नरकादि में ले जाने वाला कर्म नामकर्म है।¹⁴⁴ अथवा जिस कर्म के उदय से चारों गतियों को प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायों प्राप्त करता है अथवा जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह नामकर्म है अथवा जो नाना प्रकार की रचना निर्वाचित करता है¹⁴⁵ या जिस कर्म के उदय से जीव गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करता है अथवा उसके शरीर आदि बनते हैं, उसे नामकर्म कहते हैं।¹⁴⁷

आचार्य हरिभद्र सूरि ने श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका में नामकर्म की व्याख्या इस प्रकार की है—

तथागत्यादि शुभाशुभनमनाम्नामयतीति नाम।¹⁴⁸

नामयतीति नाम

इस निरुक्ति के अनुसार जो कर्म शुभ या अशुभ गति आदि पर्यायों के अनुभव के प्रति नमाता है, उसे नामकर्म कहा जाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में नामकर्म को परिभाषित करते हुए कहा है—

नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम।¹⁴⁹

नामयति अर्थात् गत्यादि पर्यायों के अनुभव प्रति जीव को ले जाने वाले कर्म को नामकर्म कहते हैं।¹⁵⁰

नामकर्म की उत्तर-प्रकृति

नाम कर्म शुभ भी हो सकते हैं और अशुभ भी। शुभ नामकर्म में सुन्दर-सुडौल, आकर्षक व प्रभावशाली शरीर बनता है तथा अशुभ नामकर्म के उदय से बदसूरत, बेडोल, कुरूप आदि शरीर की रचना होती है।¹⁵¹

नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियों की संख्या संक्षेप व विस्तार दृष्टि से शास्त्रों में बयालीस, सड़सठ, तिरानवे और एक-सौ तीन बताई है। इस प्रकार संक्षेप दृष्टि से नामकर्म के 42 भेद माने गये हैं।¹⁵²

उपाध्याय यशोविजय ने भी कम्मपयडी की टीका में नामकर्म की उत्तर-प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा है—

चतुर्दश पिण्मप्रकृतयोऽष्टाऽप्रतिपक्षाः प्रत्येक प्रकृतयस्त्रसाधा दश च सप्रतिपक्षा विंशतिरिति
द्विचत्वादिंशन्नामकर्म प्रकृतयः।¹⁵³

14 पिण्ड प्रकृतियाँ, 8 प्रत्येक प्रकृति, त्रसादी 10, प्रतिपक्ष-20—42 प्रकृति नामकर्म की है।¹⁵⁴
नामकर्म के मुख्य 42 भेद, उपभेद 93 या 103 होते हैं।

नामकर्म की 103 प्रकृतियाँ

प्रत्येक प्रकृति	8 भेद
पिण्ड प्रकृति	75 भेद
त्रसदशक	10 भेद
स्थावरदशक	10 भेद

103 भेद

प्रत्येक प्रकृति-8

1. अगुरुलघु, 2. निर्माण, 3. आताप, 4. उद्योत, 5. पराघात, 6. उपघात, 7. उच्छ्वास तथा 8. तीर्थकर आदि नामकर्म हैं, जो शारीरिक बनावट आदि से संबंधित हैं।

पिण्ड प्रकृति-14, उत्तरभेद-75

गई जाइ तणु उवंगा बंधण—संघयणाणि संघयणा संठाण वण्ण गंधरस फास अणुपुव्विं विहगगई पिण्ड पयडिति चउदस ।¹⁵⁵

उपाध्याय यशोविजय ने भी कम्मपयडी की टीका में पिण्ड प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा है—

गतिजातिशरीराऽगोपाऽगंबन्धन संऽथात संहननसंस्थानवर्ण गन्धरस स्पर्शानुपूर्वी
विहायोगतपश्चतुर्दशः पिण्डमप्रकृतयः ।।¹⁵⁶

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघात, संघयण, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्ति, विहायोगति—इन चौदह पिण्ड प्रकृतियों के उत्तरभेद 75 हैं—

4 गति—1. देव, 2. नारक, 3. तिर्यच, 4. मनुष्य।

5 जातियाँ—1. एकेन्द्रिय, 2. बेइन्द्रिय, 3. तेइन्द्रिय, 4. चउरिन्द्रिय और 5. पंचेन्द्रिय।

5 शरीर—1. औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस, 5. कार्मण।

3 उपांग—1. औदारिक अंगोपांग, 2. वैक्रिय अंगोपांग, 3. आहारक अंगोपांग।

15 बंधन—1. औदारिक-औदारिक, 2. औदारिक तैजस, 3. औदारिक कार्मण, 4. औदारिक तैजस कार्मण, 5. वैक्रिय वैक्रिय, 6. वैक्रिय तैजस, 7. वैक्रिय कार्मण, 8. वैक्रिय तैजस कार्मण, 9. आहारक आहारक, 10. आहारक तैजस, 11. आहारक कार्मण, 12. आहारक तैजस कार्मण, 13. तैजस तैजस, 14. तैजस कार्मण, 15. कार्मण कार्मण।

5 संघातन—1. औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस, 5. कार्मण।

6 संघयण—1. ब्रजऋषभनाराच, 2. ऋषभनाराच, 3. अर्धनाराच, 4. नाराच, 5. कीलिका, 6. छेवडु।

6 संस्थान—1. समचतुःरस्त्र, 2. न्यग्रोधपरिमंडल, 3. सादि, 4. कुल्ज, 5. वामन, 6. हुंडक।

5 वर्ण—1. कृष्ण, 2. नील, 3. लोहित, 4. हारिद्र, 5. सित।

2 गंध—1. सुरभिगंध, 2. दुरभिगंध।

5 रस—1. तिक्त, 2. कटु, 3. कषाय, 4. आम्ल, 5. मधुर।

8 स्पर्श—1. गुरुलघु, 2. मृदुकर्कश, 3. शीत उष्ण, 4. स्निग्ध रुक्ष।

4 आनुपूर्वी—1. देवानुपूर्वी, 2. मनुष्यानुपूर्वी, 3. तिर्यचानुपूर्वी, 4. नरकानुपूर्वी।

2 विहायोगति—1. शुभ विहायोगति, 2. अशुभ विहायोगति।

75

त्रस दशक—1. त्रस, 2. बादर, 3. पर्याप्त, 4. प्रत्येक, 5. स्थिर, 6. शुभ, 7. सुभग, 8. सुस्वर, 9. आदेय, 10. यश।

स्थावर दशक—1. स्थावर, 2. सूक्ष्म, 3. अपर्याप्त, 4. साधारण, 5. अस्थिर, 6. अशुभ, 7. दुर्भग, 8. दुस्वर, 9. अनादेय, 10. अपयश।

इसी प्रकार नामकर्म की उपयुक्त 103 (75 पिण्डप्रकृतियाँ + 8 प्रत्येक प्रकृतियाँ + 10 त्रसदशक + 10 स्थावर दशक)—उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इन्हीं प्रकृतियों के आधार पर प्राणियों के शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है।¹⁵⁷ संक्षेप में नामकर्म की सभी प्रकृतियों का दो में समावेश हो सकता है—शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म।

नामकर्ममे दुविहे पण्णते तं जहा शुभणामे चेत्र अशुभ णामे चेव।¹⁵⁸

शुभः पुण्यस्थ। अशुभ पापस्थ।¹⁵⁹

शुभ प्रकृतिया पुण्य और अशुभ प्रकृतियाँ पाप रूपात्मक होती हैं।

नामकर्म के बंधन के कारण

शुभ नामकर्म—जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गए हैं—

1. काय ऋजुता (शरीर की सरलता),
2. भाव ऋजुता (मन या विचारों की सरलता),
3. भाषा ऋजुता (वाणी की सरलता),
4. अहंकार एवं मात्सर्य रहित जीवन (अविसंवादन योग)।¹⁶⁰

अशुभ नामकर्म के कारण—मन, वचन, काया की वक्रता और अहंकार-मात्सर्यवृत्ति या असामंजस्यपूर्ण जीवन। इन कारणों से प्राणी को अशुभ नामकर्म प्राप्त होता है।¹⁶¹ मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, वित्त की अस्थिरता, झूठे माप-तोल आदि रखने से अशुभ नामकर्म का बन्ध होता है।¹⁶²

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि शरीर के कण-कण की रचना करनेवाला नामकर्म ही है, जो चित्रकार की भांति चित्र बनाता है और उसमें रंग-रूप आकर्षण, विकर्षण, गति आदि पच्चीकारी के द्वारा तस्वीर को पूर्ण करता है।

गोत्र कर्म

लोक व्यवहार संबंधी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोक पूज्य आचरण की परम्परा है, उसे उच्च गोत्र कहते हैं तथा जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे नीचगोत्र नाम दिया है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म गोत्रकर्म कहलाता है।¹⁶³

जो कर्म जीव के उच्च, नीच कुल में जन्म लेने का निमित्त बनता है, जिस कर्म के उदय से पूज्यता या अपूज्यता का भाव पैदा होता है, जीव उच्च या नीच कहलाता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।¹⁶⁴

अभिधान राजेन्द्र कोश में गोत्रशब्द के कुल, समस्तागमाधार, पर्वत, बोध, कानन, क्षेत्र, मार्ग, छत्र संघ, वित्त, धन आदि अर्थ दर्शाये हैं। जिसके द्वारा जीव उच्च या नीच कहा जाए, जो उच्च या नीच कुल को ले जाता है, ऐसा उच्च-नीच का ज्ञान कराने वाला कर्म गोत्र कर्म है।¹⁶⁵

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में गोत्रकर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि—
 गूयते शब्धते उच्चावचैः शब्दैर्यतगोत्रं उच्चनीचकुलोत्पत्यभिव्यऽय पर्यायविशेषः तइयाकवेधं
 कर्मापि गोत्रं । यथा गूयते शब्धते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्तगोत्र ।¹⁶⁶

जिस आत्मा को उच्च-नीच शब्द से संबोधन करते हैं, उच्च-नीच की कुल उत्पत्ति से व्यस्त होता, पर्याय विशेष या भोगने योग्य या उच्च-नीच के विपाक से वैध ऐसा कर्म गोत्र कर्म कहलाता है।¹⁶⁷

गोत्र कर्म का उत्तर-भेद

गोत्रकर्म दो प्रकार का है। वह इस प्रकार है—

गोयं टुविहं भेयं उच्चागोयं तहेव नीयं च ।¹⁶⁸

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका में गोत्रकर्म के भेद बताते हुए कहा है—

गोत्रस्य द्वै उत्तर प्रकृति—उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्र च ।¹⁶⁹

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ हैं—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

उत्तराध्ययन,¹⁷⁰ प्रज्ञापना,¹⁷¹ कर्मप्रकृति,¹⁷² तत्त्वार्थ,¹⁷³ कर्मग्रन्थ,¹⁷⁴ धर्मसंग्रहणी,¹⁷⁵ अभिधान राजेन्द्रकोश,¹⁷⁶ में भी दो भेद बताये हैं।

उच्च गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है, उसे उच्चगोत्र कहते हैं। उच्च गोत्र देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सम्मान, ऐश्वर्य के उत्कर्ष का कारण होता है।¹⁷⁷ जिसके उदय से जीव अज्ञानी एवं विरूप होने पर भी उत्तमकुल के कारण पूजा जाता है, उसे उच्चगोत्र नामकर्म कहते हैं।¹⁷⁸

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में भी बताया है कि—

यदुदयादुत्तमजातिकुलबलतपौरुपैश्वर्यं श्रुतसत्काशम्युत्यानासनप्रदानाज्जलिप्रग्रहा दि संभवस्तटुच्चैर्गौत्र ।¹⁷⁹

उच्च गोत्र कर्म के आठ उपभेद हैं—जाति कुल बल रूप तय श्रुत लाभ ऐश्वर्य।¹⁸⁰

नीच गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है, उसे नीचगोत्र नामकर्म कहा जाता है, यथा—चाण्डाल, मच्छीमार आदि।¹⁸¹

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में बताया है कि—

यदुदयात् पुनर्ज्ञानादिसंपन्नोऽपि निन्दा लभते हीन जात्यादिसंभवं च तन्नीचै गोत्रं ।¹⁸²

गोत्र नामकर्म बंधन के कारण

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सदगुणों का आच्छादन और असदगुणों का प्रकाशन—यह सब नीच-गोत्र कर्म-बन्ध के कारण हैं।

इससे विपरीत पर-प्रशंसा, स्व-निन्दा, सदगुण प्रकाशन, असदगुण गोपन, नम्रवृत्ति और निरभिमानता—ये उच्चगोत्र के बन्ध के हेतु हैं।¹⁸³

अंतराय कर्म

जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यरूप शक्तियों का विघात करता है, दानादि में विघ्नरूप होता है अथवा मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने देता—

जीवं चार्थं साधनं चान्तरा एति पततीत्यन्तरायम् ।

इस कर्म के कारण जीव का सामर्थ्य केवल कुछ अंशों में ही प्रगट होता है। मनुष्य में संकल्प विकल्पशक्ति साहस, वीरता आदि की अधिकता या न्यूनता दिखती है, उसका कारण अंतराय कर्म है।

आचार्य हरिभद्र ने श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका में भी इसी प्रकार की व्याख्या की है। दानादि विघ्न का नाम अंतराय है। इस अन्तराय के कारणभूत कर्म को अन्तराय कहा जाता है अथवा अन्तरा इति अन्तरा—इस निरुक्ति के अनुसार जो जीव और दानादि के मध्य में अन्तरा अर्थात् व्यवधान रूप से उपस्थित होता है, उसे अंतराय कर्म जानना चाहिए।¹⁸⁴

अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा गया है कि जो दाता और प्रतिगाहक के अन्तर/मध्य/बीच में विघ्न/बाधा हेतु आता है, उपस्थित होता है, जो जीव को दानादि में व्यवधान पहुंचाता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। तद्योग्य पुद्गल कार्मण वर्गणाओं का कर्मरूप में आत्मा के द्वारा ग्रहण करना कर्म का आठवें भेद स्वरूप अन्तराय कर्म है।¹⁸⁵ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुंचाने वाला कारण को अंतराय कर्म कहते हैं।¹⁸⁶

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में अंतरायकर्म को परिभाषित करते हुए कहा है कि—

जीवं दानादिकं चान्तरा व्यवधानापादनायैति गल्लक्षीत्यन्तरायं।¹⁸⁷

जीव एवं दानादि के बीच में अंतराय रूप कारण बने वो अंतराय कर्म है।¹⁸⁸

अन्तराय कर्म की उत्तरप्रकृति

अन्तराय कर्म जीव को लाभ आदि की प्राप्ति के शुभ कार्यों को करने की क्षमता, सामर्थ्य में अवरोध खड़ा करता है। अन्तराय कर्म अपना प्रभाव दो प्रकार से दिखाता है—1. प्रत्युत्पन्न विनाशी, 2. विहित आगमिक पथ।¹⁸⁹

प्रत्युत्पन्न विनाशी अंतराय कर्म के उदय से प्राप्त वस्तुओं का भी विनाश हो जाता है और विहित आगमिक पथ अन्तराय भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति में अवरोधक है। अंतराय कर्म पांच प्रकार का परमात्मा द्वारा कहा गया है—

चरिमं च पंचभेदं पन्नतं वीयरगे हिं ।

तं दाणलाभ भोगोपभोग विरियंतशइयं जाणं ।।¹⁹⁰

1. दानान्तराय कर्म, 2. लाभान्तराय कर्म, 3. भोगान्तराय कर्म, 4. उपभोगान्तराय कर्म, 5. वीर्यान्तराय ।

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी की टीका में भी अंतराय कर्म का भेद बताया है—

दानलाभ भोगोपभोगवीर्यान्तराय भेदात् पंचोत्तर प्रकृतयः।¹⁹¹

उत्तराध्ययन सूत्र,¹⁹² तत्त्वार्थ सूत्र,¹⁹³ प्रथम कर्मग्रंथ,¹⁹⁴ अभिधान राजेन्द्रकोश,¹⁹⁵ में भी ये भेद हैं—

दानान्तराय—दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके।

लाभान्तराय—किसी कारण से कोई प्राप्ति में बाधा आना।

भोगान्तराय—भोग में बाधा उपस्थित होना।

उपभोगान्तराय—उपभोग की सामग्री होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता।

वीर्यान्तराय—शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उस शक्ति का उपयोग नहीं करना।¹⁹⁶

दानादि की परिभाषा कर्मप्रकृति में भी मिलती है।¹⁹⁷

अन्तराय कर्म बंधन के कारण

दान आदि में बाधा उपस्थित करने से पापों में रत रहने से मोक्ष मार्ग में दोष बताकर विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।¹⁹⁸

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय कर्म के बंध का कारण है।¹⁹⁹

जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश के अनुसार भी दानादि में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आश्रव है।²⁰⁰

आठों कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों के भेद उत्तराध्ययन सूत्र,²⁰¹ तत्त्वार्थसूत्र,²⁰² प्रशमरति,²⁰³ कर्मग्रंथ,²⁰⁴ हरिभद्रसूरि रचित श्रावक प्रज्ञप्ति,²⁰⁵ धर्मसंग्रहणी²⁰⁶ एवं उपाध्याय यशोविजय विरचित कम्मपयडी टीका²⁰⁷ में मिलते हैं।

इन्हीं उत्तर-प्रकृतियों का विवेचन तत्त्वार्थभाष्य,²⁰⁸ उत्तराध्ययन टीका,²⁰⁹ प्रशमरति टीका,²¹⁰ प्रथम कर्मग्रंथ टीका,²¹¹ धर्मसंग्रहणी टीका,²¹² श्रावक प्रज्ञप्ति टीका²¹³ एवं कम्मपयडी टीका²¹⁴ एवं प्रज्ञापना में किया है।

इन आठ कर्मों का वर्णन हरिभद्रसूरि रचित प्रज्ञापना सूत्र की टीका, तत्त्वार्थ टीका, मलयगिरि रचित धर्मसंग्रहणी की टीका में मिलता है तथा कर्म के स्वभाव का दृष्टान्त नवतत्त्व में भी मिलता है।

इस प्रकार आठ कर्मों के भेद एवं प्रभेदों व उनमें लक्षण का संक्षेप में दिग्दर्शन किया गया। कर्म विचारणा के प्रसंग में उनका सैद्धान्तिक रूप अभिव्यक्त किया गया है।

कर्मों का स्वभाव

आठ कर्मों के भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं और भिन्न-भिन्न गुण को रोकता है—

1. ज्ञानावरण—इस कर्म का स्वभाव कपड़े की पट्टी जैसा है। यदि आँख पर मोटे, पतले कपड़े की जैसी पट्टी बंधी होगी तो कुछ भी दिखाई नहीं देता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की निर्मल दृष्टि को आवृत कर देता है। तदनुसार पदार्थ को विशेष रूप से नहीं देखने देता है। ज्ञान दृष्टि पर पड़ा आवरण आत्मा को स्वभाव से विभाग की ओर धकेल देता है, आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानगुण को आवृत कर देते हैं।²¹⁵

एसिं जं आवरणं पडुव्व च चक्खुस्स तं तहाऽऽवरणं।²¹⁶

कर्म रूप पट के समान ज्ञानरूप चक्षु से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। इस कर्म से जीव का अनन्त ज्ञानगुण आवृत बना हुआ रहता है।

जिस प्रकार देवता की मूर्ति पर ढका हुआ वस्त्र देवता को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म को आच्छादित किये रहता है।²¹⁷

2. दर्शनावरण—इसका स्वभाव द्वारपाल के समान है। विति समं दर्शनावरण।²¹⁸ जिस प्रकार द्वारपाल द्वार पर ही रोककर व्यक्ति को राजा के दर्शन नहीं करने देता अर्थात् द्वारपाल की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति राजा से नहीं मिल सकता, जिस प्रकार द्वारपाल दर्शनार्थी को राजदर्शन से

वंचित रखकर महल के अंदर प्रवेश में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखकर मुक्ति महल में प्रवेश करने में रुकावट डालता है।²¹⁹ अथवा दर्शनावरण कर्म-वस्तुओं के सामान्य बोध को रोकता है अथवा दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट नहीं होने देता अथवा द्वारपाल के द्वारा रोके गये मनुष्य को राजा नहीं देख सकता, उसी प्रकार जीवरूपी राजा दर्शनावरण कर्म के उदय से पदार्थ और विषय को नहीं देख सकता है। इस कर्म से जीव का अनन्त दर्शन आवृत बना हुआ रहता है।

3. वेदनीय कर्म—वेदनीय कर्म मधुलिप्त असिधार की तरह है। जैसे शहद से लिपटी तलवार को चाटने से पहले सुख का अनुभव होता है लेकिन जिह्वा कट जाने से दुःख का भी अनुभव होता है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म के उदय से संसारी जीव को शांता और अशांता, सुख और दुःख दोनों प्राप्त होता है। कहा गया है कि खणमित सुकखा, बडुकाल दुकखा। सांसारिक सुख अल्पकाल का और दुःख दीर्घकाल तक रहता है। शहद को चाटने के समान शांता वेदनीय और जीभ कटने की तरह अशांता वेदनीय है।²²⁰ अर्थात् वेदनीय कर्मजन्य वैषयिक सुख वास्तव में दुःख का रूप है। यह कर्म जीव के अव्याबाध अनन्त सुख को रोकता है।²²¹

4. मोहनीय कर्म—इसका स्वभाव मदिरा के समान है—मज्जं व मोहनीयं।²²² मदिरा पीने से व्यक्ति अपने कर्तव्याकर्तव्य, हिताहित व अच्छे-बुरे का भान भूल जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव सत्-असत्, अच्छे-बुरे के विवेक से शून्य होकर परवश हो जाता है। वह सांसारिक विवादों में फंस जाता है। अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थों को अपना समझ लेता है। उनकी प्राप्ति होने पर वह सुखी होता है तथा चले जाने पर दुःखी होता है।

ममकार और अहंकार से भरा मोहनीय कर्म—वेष्टिक जीव। इनके संयोग से सुख तथा वियोग से दुःख और शोक का अनुभव करता है²²³ अथवा मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों में उलझ जाता है।²²⁴

5. आयुष्य कर्म—इनका स्वभाव बेड़ी के समान है—आउ हडिसरिसं।²²⁵ जैसे अपराधी को दण्ड देने पर अमुक समय तक कारागार में डाल दिया जाता है। अपराधी तो चाहता है कि मैं जेल से मुक्त हो जाऊँ, लेकिन इच्छा रखते हुए वह अवधि पूरी हुए बिना जेल से छूट नहीं सकता, वैसे ही आयुष्य कर्म जब तक रहता है, तब तक दुःखी से भी दुःखी जीव चाहते हुए भी प्राप्त शरीर से वहाँ तक छूट नहीं सकता है तथा सुखी जीव इच्छा रखते हुए भी आयु के पूर्ण होने पर एक क्षण के लिए भी जिन्दा नहीं रह सकता है। आयुष्य कर्म का कार्य सुख-दुःख देना नहीं है, किन्तु निश्चित समय तक किसी एक भव में रोके रहना मात्र है।²²⁶ इसलिए कह सकते हैं कि इस कर्म की तुलना कारागार से की है।²²⁷

जैसे स्वयं महावीर परमात्मा को निर्वाण के समय इन्द्र महाराज ने आकर विनती की थी कि हे परम तारक परमात्मा! आप तो मोक्ष में जा रहे हैं पर आपके सन्तानिकों को दो हजार वर्ष तक पीड़ा होगी। अब दो घड़ी यह भस्मग्रह शेष रहा है। इसलिए दो घड़ी तक अपनी आयु बढ़ा ले तो भस्मग्रह उतर जाने के कारण, पश्चात् के आपके सन्तानिकों अर्थात् साधु-साध्वी को शांता उत्पन्न होगी।

यह सुनकर भगवान ने कहा है कि हे इन्द्र! यह बात न भूतो न भविष्यतो। तुम दो घड़ी आयु बढ़ाने के लिए कह रहे हो पर मुझसे एक समय मात्र भी आयु बढ़ाई नहीं जा सकती। टूटी आयु किसी से भी बढ़ाई नहीं जा सकती।²²⁸

नाम कर्म

इस कर्म को चित्रकार की उपमा दी है, जैसे कि—

नाम कम्मचितिसमं ।²²⁹

नामकर्म चित्रकार के समान होता है। जैसे चित्रकार अनेक चित्र बनाता है, वैसे ही नामकर्म भी जीव के अमूर्त होने पर भी उसके उसमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक रूपों का निर्माण करता है, जैसा स्थानांग टीका में कहा है—

जह चित्तयरो मिडगो अणेग रुवाइं कुणइ सुवाइं ।
सोहषामसोहणाइं चोकरवंम चोखेहिं वण्णेहिं ।।
तह नाम पि हुं कम्मं, अणेग सूराइं कुणइ जीवस्स ।
सोहणम सोहणाइं इट्टाणि ढाइं लोयस्स ।।²³⁰

यह कर्म जीव को अरूपी स्वरूप प्राप्त नहीं होने देता है।

गोत्र कर्म

इनका स्वभाव कुंभकार के समान है—गोदे कुलाल सरिस ।²³¹ स्थानांग में—

जह कुम्भारो भंडारं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स ।
इस गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेय मय्यं ।।²³²

जैसे कुम्भकार मिट्टी के छोटे-बड़े आदि विविध प्रकार के बर्तन बनाता है, उनमें से कुछ घड़े ऐसे होते हैं, जिन्हें लोग कचरा बनाकर अक्षत चन्दन आदि से चर्चित करते हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें मदिरा रखने के कारण नीचे माने जाते हैं। इसी प्रकार जिस कर्म के कारण जीव का व्यक्तित्व प्रशंसनीय, पूजनीय बनता है, उसे उच्च कहते हैं और जिसका व्यक्तित्व अप्रशंसनीय, अपूजनीय बनता है, उसे नीच कहते हैं। इसमें मुख्य कारण गोत्रकर्म है।

इस कर्म का स्वभाव ऐसा है कि वह जीव के अगुरुलघु गुण को प्राप्त नहीं होने देता है।

अंतराय कर्म

इस कर्म का स्वभाव भण्डारी के समान है—सिरि हरिअ समएअ ।²³³ राजा की आज्ञा होते हुए भी यदि खजांची प्रतिकूल है तो धन प्राप्ति में बाधा आती है, ठीक उसी प्रकार आत्मा रूपी राजा को भी अनंतशक्ति होते हुए भी अंतराय कभी उसमें बाधा उत्पन्न करते हैं।²³⁴

जह दाया दाणाई ण कुणइ भंडारिए विकूलंमि ।
एवं जेणं जीवो कम्मं तं अन्तरायं पि ।।²³⁵

जैसे राजा की आज्ञा होने पर भी भण्डारी के प्रतिकूल होने पर याचक को इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही अन्तराय कर्म भी जीव की इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधक बन जाता है। अर्थात् यह जीव अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धि वाला है। परन्तु अंतराय कर्म के उदय से जीव को अनन्त दान-लाभादिक कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है।²³⁶

इस प्रकार आठ कर्मों के स्वभाव को संक्षेप में समझाया है, जो यथार्थ है।

रूपी का अरूपी पर उपघात

कर्म की मूर्तता की एवं आत्मा की अमूर्तता का संबंध तथा उपघात अनुग्रह आदि को लेकर विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद में चर्चाएँ हुई हैं, वहाँ दूसरे गणधर अग्निभूति के शंका का समाधान करते हुए कहा कि जिस प्रकार रूपी ऐसे घट का, अरूपी ऐसे आकाश के साथ संयोग-संबंध है तथा अंगुली आदि द्रव्यों का संकोचन-प्रसारण आदि क्रियाओं के साथ समवाय संबंध है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म का संबंध भी है।²³⁷

इस प्रसंग में यह जिज्ञासा सहज ही हो जाती है कि जीव चेतनावान, अमूर्त पदार्थ है तथा कर्म पौद्गलिक मूर्त पिण्ड। तब मूर्त का अमूर्त आत्मा से बंध कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यों ने अनेकान्तात्मक शैली से दिया है। जैन दर्शन में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है, उसे अनादि बन्धन बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बन्ध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी यह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इस प्रकार किसी दृष्टि से मूर्त होने से उसका मूर्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाता है।²³⁸

जिस प्रकार घी मूलतः दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुनः दूध रूप में परिणत करना असम्भव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण मूलतः पाषाण में पाया जाता है, परन्तु एक बार पाषाण से पृथक् होकर स्वर्ण बन जाने पर उसे उस प्रकार की किटिमा के साथ मिला पाना असम्भव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलतः कर्मबद्ध पाया जाता रहा है, परन्तु एक बार कर्मों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असम्भव है। जीव मूलतः अमूर्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मों से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण मूलतः अमूर्तिक न होकर कथंचित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाना विरोध को प्राप्त नहीं होता। हाँ, एक बार मुक्त हो जाने पर अवश्य वह सर्वथा अमूर्तिक हो जाता है और तब कर्म के साथ उसमें बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्म जिस शरीर/देह में रहता है वह मूर्त (रूपी) है। आत्मा यद्यपि अमूर्त है परन्तु संसारी जीव की आत्मा एकान्तिक अमूर्त नहीं है अतः जैसे स्वस्थ व्यक्ति में भी मदिरापान, विषभक्षण आदि का उपघात/प्रभाव होता है और शुद्ध पौष्टिक स्नानपान औषध आदि का भी प्रभाव देखा जाता है, वैसे अमूर्त आत्मा में भी मूर्त कर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे लोहे के गोले में अग्नि सम्पूर्ण व्याप्त होकर रहता है, वैसे आत्मा के सभी प्रदेशों में जीव को कर्म का संबंध होता है। यही बात आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि—हे सौम्य! जिस प्रकार अमूर्त ऐसे आकाश के साथ घड़ा का संबंध है, द्रव्य अंगुली आदि का अमूर्त संकोचन, प्रसारण आदि क्रियाओं के साथ संबंध है, वैसे आत्मा और कर्म का संबंध है।²³⁹ मूर्त ऐसे कर्मों का अमूर्त से, अमूर्त ऐसे आत्मा पर अनुग्रह या उपघात वैसे घटित हो सकता है, क्योंकि कर्म तो मूर्त है, वर्ण वाला है, रूपी है और आत्मा अमूर्त है, वर्णादि रहित है, अरूपी है। जैसे आकाश अमूर्त है, उसको मूर्त ऐसे पत्थर से उपघात या फूल की माला से अनुग्रह अथवा अग्नि की ज्वाला से उपघात या चन्दन से अनुग्रह नहीं होता, वैसे ही मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा पर उपघात या अनुग्रह नहीं होना चाहिए।

लेकिन उनकी यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। आचार्य हरिभद्रसूरि इस तथ्य को दार्शनिक युक्तियों से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

मुतेणममुतिमओ उवधायाऽगुग्गहा वि जुज्जति ।
जह विण्णाणस्स इहं मइशपाणोसहादीहिं ।।²⁴⁰

जिस प्रकार बुद्धि अमूर्त है फिर भी मदिरापान से उपघात और बाहमी आदि औषधि से अनुग्रह होता है, वैसे ही मूर्त कर्मों के द्वारा अमूर्त आत्मा को उपघात और अनुग्रह घटित होता है अर्थात् विज्ञान विवाद करने की इच्छा, धैर्य, स्मृति आदि आत्मा के अमूर्त धर्म हैं। उसको मदिरापान, विष और मच्छर आदि के भक्षण से उपघात होता है और दूध, शक्कर, घी से युक्त औषधि सेवन से अनुग्रह होता ही है। लेकिन पत्थर और पुष्पमाला के द्वारा अमूर्त ऐसे आकाश को उपघात या अनुग्रह नहीं होता है। यह जो दृष्टान्त दिया है, वह बराबर है, क्योंकि आकाश चैतन्य रहित निर्जीव द्रव्य है, यही सच्चा कारण है। जो चेतन होता है, उसे उपघात या अनुग्रह होता है। निर्जीव में ज्ञान संज्ञा का ही अभाव होता है। यही बात धर्मसंग्रहणी टीका,²⁴¹ योगशतक की टीका²⁴² एवं कम्मपयडी की टीका²⁴³ में है।

अथवा संसारी आत्मा एकान्त में सर्वथा अमूर्त नहीं है, अनादि कर्म प्रवाह के परिणाम को प्राप्त किया हुआ है। आत्मा अग्नि और लोहपिण्ड के संबंध के सदृश कर्म के साथ मिला हुआ है और कर्म मूर्तिमान होने से आत्मा भी उससे कथंचित् अनन्य होने से अमूर्त होने पर भी कथंचित् मूर्त है। उससे आत्मा अमूर्त होने से अनुग्रह या उपघात नहीं होता है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए।

अहवा षेगंतोऽयं संसारी सब्बहा अभुतोति ।
जमणादिकम्मसंतति परिणामावन्नरूपो सो ।।²⁴⁴

उपरोक्त सम्पूर्ण तथ्य विशेषावश्यक भाष्य²⁴⁵ में भी स्पष्ट किया है।

कर्म और पुनर्जन्म

कर्म और पुनर्जन्म का चक्र साथ ही चलता है। प्राणी में जब तक राग-द्वेष है, कर्मबंधन होता ही रहेगा और कर्म होता है तो पुनर्जन्म भी होना ही है। कहा है—

कर्मणः जन्म जन्मात् पुनः कर्म ।

पुनरपि जन्म पुनरपि मरण पुनरपि कर्म ।।

पाप-प्रवृत्ति से बांधे हुए कर्म के कारण भवान्तर में जीव को जन्म धारण करना पड़ता है और उस जन्म में जीव पुनः कर्म उपार्जन करता है और आगे पुनः जन्म धारण करता है। इस तरह कर्म के कारण जन्म और जन्म के कारण पुनः कर्म का विषमचक्र अनन्तकाल तक चलता रहता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्वयं परमात्मा ने कर्म को जन्म-मरण का कारण बताया है—

कम्मं च जाई मरणस्स भूलं दुःखं जाइ-मरणं वयन्ति ।²⁴⁶

अर्थात् कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही दुःख है।

दिगम्बर ग्रंथ पंचास्तिकाय में भी इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जीव संसार में स्थिर अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है। उसके राग और द्वेष परिणाम होते हैं। उन परिणामों के कारण नये कर्म बंधते हैं। कर्मबंध के फलस्वरूप गतियों में जन्म लेना पड़ता है।²⁴⁷

कर्म पुनर्जन्म का मूल कारण है। प्रत्येक आत्मप्रदेश के साथ कर्मपुद्गलों का संयोग होता है और कर्म के द्वारा उत्पन्न प्रभाव से आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करती रहती है। कर्म अपने आप में जड़ है, फिर भी आत्मा के साथ अबद्ध होने से उनमें आत्मा को प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कर्म को हम चैतसिक भौतिक बल के रूप में मान सकते हैं। यही बल आत्मा को पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। अनादिकाल से प्रत्येक जीव जन्म-मृत्यु की शृंखला से गुजरता हुआ अपना अस्तित्व बनाए रखता है। यही जैनदर्शन का पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

अन्य दर्शनों की दृष्टि में पुनर्जन्म

आस्तिक या अध्यात्मवादी एवं नास्तिक या भौतिकवादी दर्शन पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। सभी अस्तित्ववादी या आस्तिक दर्शन आत्मा को चैतन्यशील जड़ पदार्थ से सर्वथा स्वतंत्र एवं अनश्वर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने वाला स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकवादी नास्तिकदर्शन आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते तथा मृत्यु के पश्चात् उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। न्यायशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के ग्रंथों में इन दोनों मतों के प्रतिपादकों के पारस्परिक वाद-विवाद की विस्तृत चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं। ये चर्चाएँ तर्क, अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर की गई हैं। दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने मत को स्थापित कर विपक्ष को खण्डित करने की चेष्टा की गई है।

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएँ सामने आती हैं—

1. यदि हमारा पूर्वभव होता, तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ स्मृतियाँ होती।
2. यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते?²⁴⁸

पहली शंका का समाधान हम बाल्यजीवन की तुलना से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनाएँ हमें स्मरण नहीं आती तो क्या इसका अर्थ होगा कि हमारी शैशव अवस्था हुई नहीं थी? एक दो वर्ष के नव शैशव की घटनाएँ स्मरण नहीं होती तो भी अपने बचपन में किसी को संदेह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पुनर्जन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं? पुनर्जन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जागृत हो जाए। जिसे जाति स्मृति-ज्ञान हो जाता है, वह अनेक जन्मों की घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शंका एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके दो कारण हैं—

1. वह अमूर्त है, इसलिए दृष्टिगोचर नहीं होता,
2. वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता।²⁴⁹

इससे उसका अभाव थोड़े ही माना जा सकता है। अविचार में कुछ नहीं दिखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहाँ कुछ भी नहीं है। ज्ञान शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत् पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होगा।

कर्म सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म की अवधारणा भी जुड़ी हुई है। उनका उल्लेख आचारांग,²⁵⁰ सूत्रकृतांग,²⁵¹ उत्तराध्ययन,²⁵² स्थानांग,²⁵³ भगवती,²⁵⁴ प्रज्ञापना आदि में उपलब्ध हो जाता है।

अर्थात् सारांश रूप में यह कहते हैं कि कर्म संसारी सन्तति का मूल कारण है—जब कर्म का विच्छेद होगा, तब ही जन्म-मरण की परम्परा का अंत होगा, अन्यथा पुनर्जन्म निश्चित ही है।

कर्म और जीव का अनादि सम्बन्ध

कर्म और जीव का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। जब वह अव्यवहार राशि निगोद में आया तब भी कर्म से वह संयुक्त था तथा व्यवहार राशि में आने के बाद भी उसकी विकास दृष्टि जागृत हुई है। लेकिन अभी भी संसार में है वहाँ तक कर्मों से जुड़ा हुआ है अर्थात् कर्मों की आदि कब हुई—इस कथन को हम किसी भी युक्ति से चरितार्थ नहीं कर सकते, क्योंकि आगमग्रंथों में उसकी अनादि के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं—

जीव और आत्मा का सम्बन्ध कब से है?—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस सन्दर्भ में आचार्य भिक्षु ने एक सुन्दर प्रश्नोत्तर रूप संवाद प्रस्तुत किया है—

प्रश्न-1. क्या जीव और कर्म आदि हैं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि ये कभी उत्पन्न हुए ही नहीं। अर्थात् अनादि हैं।

प्रश्न-2. पहले जीव और बाद में कर्म हुए—क्या यह बात ठीक है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि पहले जीव हुआ तो कर्म रहित अवस्था में वह कहाँ रहा? मुक्त जीव कभी संसार में वापिस आता नहीं।

प्रश्न-3. पहले कर्म, बाद में जीव हुए—क्या यह बात ठीक है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि कर्म जीव के करने से होते हैं अतः यदि पहले जीव नहीं था, तो कर्म किए किसने? किये बिना कर्म होते नहीं।

प्रश्न-4. जीव और कर्म एक साथ उत्पन्न हुए—क्या यह बात ठीक है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि इन्हें उत्पन्न हुए मानने से प्रश्न होगा कि इन्हें उत्पन्न करने वाला कौन है। इनका कोई उत्पादक नहीं है, अतः ये एक साथ उत्पन्न हुए—ऐसा कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न-5. क्या जीव कर्म मुक्त है, यह बात ठीक है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि जीव कर्ममुक्त हो, तो क्रिया किसलिए करेगा?

प्रश्न-6. तो फिर जीव और कर्म का मिलाप कैसे होता है?

उत्तर—जीव और कर्म दोनों का अनुबंध अनादिकाल से अपश्चानुपूर्वी अर्थात् न पहले, न पीछे—चला आ रहा है। ज्यों तेल और तिल, घृत और दूध, धातु और मिट्टी दोनों परस्पर मिले हुए हैं, त्यों जीव और कर्म का बंध प्रवाहरूप से अनादि काल से है।²⁵⁵

इस संवाद से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने आत्मा और कर्म के अस्तित्व को आदि रहित मानकर एक साथ अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। आदि मानने से ही उपर्युक्त सारी शंकाएँ खड़ी होती हैं, जिनका समाधान कठिन है। ईश्वरवाद के सिद्धान्त में भी मूलतः ईश्वर का अस्तित्व अनादि ही माना जाता है। आधुनिक विज्ञान भी मूल उपादान को अनादि ही स्वीकार करता है। आइन्स्टीन के अभिमत को प्रस्तुत करते हुए डॉ. लिंकन बारनेट अपनी पुस्तक दी युनिवर्स एण्ड डॉ. आइन्स्टाइन में लिखते हैं—“विश्व के निर्माण का चिन्तन विश्व की आदि को अनन्त भूत में ढकेल देता है।” इस प्रकार जैन दर्शन का अनादि जीव कर्म सम्बन्ध का सिद्धान्त सहज बुद्धिगम्य हो जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि योगबिन्दु आदि ग्रंथों में जीव और कर्म के अनादि संबंध बताते हुए कहते हैं कि जीव कर्म का संयोग भी जीव की योग्यता बिना संभव नहीं है। उसी से जीव और कर्म सम्बन्धी जो योग्यता है, वही उसका अनादि स्वभाव है। उसी से कर्म का जीव के साथ जो संयोग सम्बन्ध है, वह भी अनादिकाल का ही जानना चाहिए।²⁵⁶

यह अनादि सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से है—जब रागादि परिणामों का आगमन होता है तब कर्म का बंध होता है। वह कर्म की सादि कहलाती है। लेकिन जब कर्म का बंध हुआ तब भी उसके पास पूर्वबद्ध कर्म तो अवस्थित है, वह कर्म जब बंधा होगा तब भी उस कर्म के पहले पूर्वबद्ध कर्म तो होगा ही। इस प्रकार बीजांकुर न्याय से एक कर्म दूसरे कर्म का कारण बनता है। इस प्रकार आत्मा और कर्म का संबंध अनादि मानना ही न्यायपूर्वक है।²⁵⁷ जैसे अनुभव किया है वर्तमान काल का जिसने, ऐसा सम्पूर्ण अतीत काल प्रवाह से अनादि है, वैसे ही कर्म व्यक्ति रूप में कार्यरूप होने पर भी प्रवाह से अनादि है।

अर्थात् जितना अतीत काल गया है, वह सभी अतीतकाल एक बार अवश्य वर्तमान अवस्था को प्राप्त कर चुका है। उदाहरण के रूप में जैसे कि अभी 2011 चल रहा है, उसके पूर्व में 2008, 2009, 2010 आदि वर्ष सभी भूतकाल कहे जाते हैं। परन्तु उन वर्षों का जब प्रारम्भ हुआ था तब तो वे भी वर्तमान ही थे। उसके पश्चात् भूतकाल बने हैं अतः वर्तमान ही है। उसकी सादि है, फिर भी सम्पूर्ण भूतकाल अनादि है, कारण कि समय के बिना यह लोक कभी भी संभावित नहीं है।

अर्थात् बीता हुआ अतीत काल विवक्षित वर्ष में वर्तमान काल में सादि होने पर भी प्रवाह से अनादि है, उसी प्रकार कर्म भी विवक्षित कर्म के आश्रयी सादि होने पर भी प्रवाह से अनादि है। इसी को उपाध्याय यशोविजय दार्शनिकता को सिद्ध करते हैं। जैसे जीव और कर्म पुद्गलों का संयोग तथा बंध का सम्बन्ध पूर्वोक्त योग्यता से प्रवाह से अनादिकालीन है, वैसे ही सांत अर्थात् अंत वाला भी है, जो ऐसा स्वीकार नहीं करे तो प्रथम जीव कमलपत्र के समान शुद्ध होना चाहिए और पश्चात् उसको कर्म का सम्बन्ध हुआ, वैसे मानना पड़ेगा और वैसे मानने पर पूर्व जो कहा गया, उसके साथ विरोध आयेगा। उसी से जीव के साथ अनादिकाल से प्रवाह पूर्वक आने वाली योग्यता के द्वारा कर्म संयोग कर्मबंध कर्म भोक्तृत्व आदि प्रवाह से अनादि काल का ही सिद्ध होता है।

कंचन और मिट्टी के समान जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी उपायों के द्वारा दोनों का वियोग भी अवश्य हो सकता है। उसी को उपाध्याय यशोविजय अनेक युक्तियों के द्वारा बताते हैं। जिज्ञासु अथवा अज्ञानी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जिसका संबंध अनादि से है, उसका अंत कैसे हो सकता है? उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि काल से होने के कारण अनन्त काल तक रहना चाहिए। उससे जीव की मुक्ति की बात घटित नहीं होती है।

लेकिन यह बात युक्तिसंगत नहीं है। जिसका सम्बन्ध अनादिकाल से हो, उसका अनन्तकाल तक सम्बन्ध रहे, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि यह नियम तो व्यभिचार युक्त है। जैसे कंचन और मिट्टी का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी खार, मिट्टी आदि के पुटपाक से उस सम्बन्ध का अंत आ सकता है, उसी प्रकार जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयी की उपासना से अंत लाया जा सकता है।

कंचन और उपल की तरह दूसरे भी ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं, जो अनादि होने पर भी अनन्त नहीं हैं, परन्तु उनका अन्त है—

1. प्राग्भाव न्यायदर्शन में अनादि है, फिर भी सान्त है।
2. बीज और अंकुर की उत्पत्ति प्रवाह से अनादि है, फिर भी बीज को न बोते अथवा अंकुर के नाश हो जाने पर अंत होता है।
3. मुर्गी और अण्डे की उत्पत्ति अनादि होने पर भी दोनों में से एक का विनाश होने पर अंत भी होता है।

उसी प्रकार जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर रत्नत्रयी की उपासना आदि से अंत आ सकता है।²⁵⁸

इसी बात का उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य²⁵⁹ में भी ग्यारहवें गणधर की शंका के समाधान पर किया गया है।

कर्म के विपाक

सम्पूर्ण प्रकृतियों का जो फल होता है, उसको विपाक अथवा विपाकोदय कहते हैं। इसी का नाम अनुभाग अथवा अनुभाग बन्ध है। जैसा कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—विपाकोऽनुभावः।²⁶⁰ वि शब्द का अर्थ है विविध, अनेक प्रकार का और पाक शब्द का अर्थ परिणाम या फल। बंधे हुए कर्मों का फल अनेक प्रकार का हुआ करता है। अतएव उसको विपाक कहते हैं तथा सभी जीव पूर्वकृत कर्मों के फल-विपाक को प्राप्त करते हैं।

ज्ञानावरण आदि आठों कर्म स्व-स्वभाव के अनुसार उदयकाल में अपना विपाक दिखाते हैं। सामान्य रूप में देखा जाए तो विपाक हेय है। लेकिन विशेष की अपेक्षा से यहाँ विपाक कथंचित् शुभ रूप भी है और कथंचित् अशुभ रूप भी। इसलिए उनकी अनुभाग शक्ति को विपाक की दृष्टि से पुण्य और पाप दो भागों में विभक्त की जा सकती है। दान, शील, मंदकषाय, सेवा, भक्ति, परोपकार आदि शुभ परिणामों से जिन कर्मों में शुभ अनुभाव विपाक प्राप्त होता है उन्हें पुण्य कर्म तथा मदिरापान, मांसभक्षण, कूड़-कपट आदि अशुभ परिणामों से जिनका अशुभ अनुभाव प्राप्त होता है, उन्हें पाप कर्म कहते हैं। पुण्यकर्म का सुख और पापकर्मों का दुःखरूप विपाक होता है।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति ।

दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवन्तिः ।।²⁶¹

दर्शनान्तरों में भी कर्मों के विपाक को स्वीकारा है।

ते ह्यादपरितापकलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वाद ।²⁶²

जाति, आयु तथा भोग-पुण्य और अपुण्य के सुख-फल तथा दुःख-फल हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कृत कर्मों का फल-भोग किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्राप्त होता है। कडाण कम्माण णत्थि मोकक्खो।²⁶³ जो कर्म किये हैं, उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता किन्तु कर्म की अवस्थाओं में समयशक्ति, रस आदि के अनुसार कुछ कर्म नियत विपाकी होते हैं, कुछ अनियत विपाकी होते हैं। जिनका विपाक नियत है, उनमें किसी भी प्रकार से हेराफेरी नहीं की जा सकती। वे कर्म जैन परिभाषा में निकाचित कर्म कहलाते हैं। इसके विपरीत जिन कर्मों के बंधन के समय कषाय की अल्पता होती है, वे अनियत विपाकी कर्म हैं अर्थात् उनमें फल एवं समय में परिवर्तन किया जा सकता है। जैन कर्मसिद्धान्त की संक्रमण, उद्बर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशमन की अवस्थाएँ कर्मों के अनियत विपाक की ओर संकेत करती हैं।

बौद्ध दर्शन में कर्मों को नियत विपाकी और अनियत विपाकी दोनों प्रकार का माना गया है। कुछ बौद्ध आचार्यों ने नियत-विपाकी और अनियत-विपाकी कर्मों में प्रत्येक को चार-चार भागों में विभक्त किया है—

नियतविपाकी कर्म चार भेद

1. दृष्ट धर्म वेदनीय, 2. उपपद्यवेदनीय, 3. अपरपर्यायवेदनीय, 4. अनियतवेदनीय।

इस प्रकार बौद्ध विचारक कर्मों की नियता एवं अनियता की तुलना जैन कर्म सिद्धान्त के निकाचित एवं दलिक कर्मों के साथ होती है।²⁶⁴

योगदर्शन के अनुसार कर्म का फल-विपाक, जाति, आयु और भोग से तीन प्रकार का होता है। योगदर्शन में जैनदर्शन की भांति कर्माशय को नियत विपाकी एवं अनियत विपाकी उभयविध माना है। योगदर्शन में कर्म की अनियतता पर अधिक बल दिया गया है। विपाक के सम्बन्ध में जैन मत में प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है, वैसे योगदर्शन में नियत नहीं है। योग मत के अनुसार सभी संचित कर्म मिलकर उक्त जाति, आयु और भोगरूप विपाक के कारण बनते हैं।²⁶⁵

दुःख के हेतु अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश है। अतः जो कर्म अविद्या आदि के विरुद्ध होते हैं या जिनके द्वारा वे क्षीण होते हैं, वे पुण्यकर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों द्वारा अविद्या आदि अपेक्षाकृत क्षीण हो जाते हैं, वे भी पुण्यकर्म कहलाते हैं और अविद्या के पोषक कर्म अपुण्य या अधर्म कर्म होते हैं।²⁶⁶

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म, कर्म के रूप में गणित होते हैं।²⁶⁷ मैत्री तथा करुणा और परोपकार दान आदि भी अविद्या के कुछ विरोधी होने के कारण पुण्यकर्म होते हैं। क्रोध, लोभ और मोहमूलक हिंसा आदि पुण्य विपरीत कर्म समूह को पापकर्म कहा जाता है। गौडपादजी कहते हैं कि यम, नियम, दया और दान में धर्म या पुण्य कर्म है।²⁶⁸

अशुभ कर्मों की विपाक शक्ति के तारतम्य की अपेक्षा से चार भेद हो जाते हैं—लता, दारु, अस्थि और शैल अर्थात् लता आदि में जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक कठोरता है, वैसे ही उनकी विपाक शक्ति में उत्तरोत्तर तीव्रता समझना चाहिए। लेकिन शुभ कर्मों की विपाक शक्ति पुण्य और अशुभ कर्मों की विपाक शक्ति पाप, ऐसी पुण्य-पाप रूप से शक्ति दोनों प्रकार की होती है। इसीलिए उन दोनों प्रकारों में भी प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। पुण्यरूप विपाक शक्ति के गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृत—ये चार भेद हैं तथा नीम, कांजीद, विष और हलाहल—ये चार भेद पापरूप विपाक शक्ति के होते हैं—ऐसा उपाध्यायजी महाराज ने बताया है।²⁶⁹

सभी प्रकार के कर्मों के शुभ या अशुभ रूप विपाक फल का भोग जीव करता है। जैसे कि ज्ञानावरणादि कर्मों का जब तीव्र विपाक से उदय होता है, तब ये सम्यक्त्व रूप पुद्गल मिथ्यात्व के प्रदेशरूप होने से अपने स्वभाव से युक्त हो जाते हैं तथा नरकादि गति उदय होने पर जीव तत्रस्थ भयंकर वेदना भोगता है।²⁷⁰ आयु कर्म का उदय होने पर जीव पूर्वभव का त्याग कर नवीन भव धारण करता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विपाक के लिए भी जानना चाहिए। लेकिन प्रत्येक कर्म के विपाक फल में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी सहकारी कारण है। जैसे कि अनुपूर्वी नामकर्म का उदय मरण के बाद पूर्व शरीर को छोड़कर परभव का शरीर ग्रहण करने के लिए जाने पर आकाश प्रदेशों की श्रेणी

के अनुसार गमन करते समय होता है। तब वह जीव के स्वभाव के स्वरूप को स्थिर करता है। कुछ कर्मों का विपाक शारीरिक पुद्गलों आदि के माध्यम से भी प्राप्त होता है। फिर भी इन सबका संबंध जीव से है। लेकिन विपाक माध्यमों व निमित्तों की प्रमुखता का बोध कराने के लिए उन्हें चार विभागों में विभाजित कर लिया गया है। जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-विपाकी और भव-विपाकी।

जीव विपाकी—जो प्रकृति जीव में ही अपना फल देती है अर्थात् जिसका फल साक्षात् अनुजीवी गुणों के घातरूप प्राप्त होता है, उसे जीव विपाकी कर्म कहते हैं।

पुद्गल विपाकी—जो प्रकृत शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं के माध्यम द्वारा अपना फल देती है, वह पुद्गल विपाकी है।

क्षेत्र विपाकी—विग्रह गति में जो कर्म उदय में आते हैं, उन्हें क्षेत्र विपाकी कहते हैं।

भव विपाकी—जो कर्म नर-नरकादि भावों में अपना फल देते हैं, उन्हें भवविपाकी कहते हैं।²⁷¹

इन विभागों में दर्शनान्तर मान्य सभी विपाक भेदों का समावेश हो जाता है। इन चार प्रकारों का वर्णन उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका²⁷² में भी किया है।

सर्वथा कर्मक्षय कैसे?

कर्म का आत्मा के साथ क्षीरनीरवत् एकमेव सम्बन्ध होने से उनका सम्पूर्ण नाश अशक्य लगता है। हाँ! अंशतः उनका नाश हो सकता है। लेकिन यह विचारधारा अज्ञानता की ही सूचक है। उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि के सेवन से कर्मावरणों का अंशतः क्षय होता है, यह ज्ञानादि में दृष्टिगोचर होता है। जैसे ज्ञान प्राप्ति के लिए पढ़ाई का परिश्रम करते हैं तो क्रमशः ज्ञानवृद्धि का अनुभव होता है। जैसे एक व्यक्ति, एक समय, एक लाइन भी याद नहीं कर सकता था वह भी भविष्य में 5 श्लोक भी याद करता है, क्योंकि पढ़ाई करते-करते उत्तरोत्तर ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है और ज्ञान वृद्धि को प्राप्त करता जाता है। प्रथम ज्ञानावरण अधिक था तो ज्ञान प्रगट नहीं था, अब कुछ ज्ञान प्रगट हुआ है तब समझना चाहिए कि आवरणों का कुछ नाश हुआ है। तो इससे फलितार्थ होता है कि सर्वोच्च-प्रतिपक्ष सेवन से कर्मावरण बिल्कुल नष्ट होकर सर्वज्ञता भी उत्पन्न हो सकती है। जैसे कि अल्पचिकित्सा से रोग का कुछ क्षय और उत्कृष्ट चिकित्सा से सर्वथा रोगनाश एवं अल्प पवन से बादल का कुछ बिखरना और अतिशय पवन से बादल का सर्वथा अभाव होता है। उसी प्रकार जीव से एकरस हुए भी कर्म आवरण चिकित्सा से रोग की तरह प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शन के सेवन से क्षीण हो ही जाए, इसमें कोई शंका का स्थान नहीं है। ऐसा नहीं होता तो आज तक सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके अनन्त आत्मा मोक्ष में गई है। वह बात कैसे घटेगी?²⁷³

इस प्रकार कर्म के बंध के भेद, स्वभाव, विपाक एवं कारणों को जानकर जीव उससे मुक्त होने का प्रयत्न करते हुए सम्यग्ज्ञान के सत्यार्थ बल से मिथ्याज्ञान से निवृत्त होता है, मिथ्यात्व का नाश होने से उसके मूल स्वरूप रागादि नहीं रहते, रागादि के अभाव में तदाधीन धर्म-अधर्म की उपपत्ति नहीं होने से पूर्वकृत एवं वर्तमान बध्यमान कर्मों का तत्त्वज्ञान से, उपभोग से प्रक्षय सम्पूर्ण क्षय होता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्मीभूत करता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सर्वकर्मों को भस्मीभूत करता है। नित्य-नैमित्तिक आराधना से दुरित क्षय होता है, उससे आत्मा ज्ञान को निर्मल करके अनुभवपूर्वक दृढ़ करता है, अभ्यासपूर्वक अनुभव ज्ञान से मनुष्य केवलज्ञान को प्राप्त कर अंत में शैलेयी अवस्था में

- योग निरोध करके सर्व कर्म क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होता है।²⁷⁴ इस तरह आराधना, तप, शुभ अध्यवसाय आदि के निमित्त से नये बंधते कर्मों को रोककर (संवर) करके और बांधे हुए कर्मों की निर्जरा करते-करते सम्पूर्ण कर्मों का क्षय संभव है।

गुणस्थानक में कर्म का विचार

गुणस्थान में कर्म का विचार करने के पहले संक्षेप में गुणस्थान, लक्षण एवं नाम का निर्देश अत्यावश्यक है। अतः पहले उसका स्वरूप प्रदर्शन करते हैं।

गुण्यस्थान

गुण एवं स्थान दो शब्दों से निष्पन्न पारिभाषिक शब्द है। गुणस्थानी का क्रम ऐसा है, जिससे उन वर्गों में सभी संसारी जीवों की आध्यात्मिक स्थितियों का समावेश होने के साथ-साथ बंधादि संबंधी योग्यता दिखलाना सहज हो जाता है और एक जीव की योग्यता, जो प्रति समय बदलती रहती है, उसका भी दिग्दर्शन किसी-न-किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। इससे यह बताना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आंतरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी और अमुक-अमुक कर्म-प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता का अधिकारी है तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से देखा जाए तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थानक का महत्त्व अधिक है।

यद्यपि गुणस्थानक की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैनागमों, यथा आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। गुणस्थानक शब्द का प्रयोग आगमोत्तर कालीन टीकाकारों एवं आचार्यों ने कर्मग्रंथों एवं अन्य धार्मिक ग्रंथों में किया है। किन्तु आगमों में गुणस्थानक के बदले जीवस्थानक शब्द का प्रयोग देखने में आता है और आगमोत्तर कालीन ग्रंथों में जीवस्थान शब्द के लिए भूतग्राम शब्द प्रयुक्त किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इसका उल्लेख किया गया है। उसमें जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि कहा है²⁷⁵ और उसकी टीका में अभयदेवसूरिजी महाराज ने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरणीय कर्मों की विशुद्धिजन्य बताया है। उनके मतानुसार आगम में जिन चौदह जीवस्थानों के नामों का उल्लेख है, वे ही नाम गुणस्थानों के हैं। वे चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भावाभावजनित अवस्थाओं से बनते हैं तथा परिणाम और परिणामी में अभेदोपचार से जीवस्थान का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है।²⁷⁶ किन्तु वहाँ नामों का उल्लेख होते हुए भी उन्हें गुणस्थान नहीं कहा गया है। आवश्यकचूर्णि के अलावा तत्त्वार्थ इस सिद्धान्त का गुणस्थानक के नाम से विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। दिगम्बर परम्परा में भी सर्वप्रथम समयसार, षट्खण्डागम, प्राकृत पंचसंग्रह, मूलाधार, भगवती आराधना, कर्मग्रन्थ, गोम्भटसार, राजवार्तिक आदि में गुणस्थानक पर विस्तृत चर्चा का उल्लेख पाया जाता है।

गुणस्थान का पारमार्थिक अर्थ

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप जीव स्वभाव विशेष आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्था आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की, उसके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्था में क्रमशः शुद्ध और विकास करती हुई आत्म-परिणति का स्थान अथवा कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था में होने वाले परिणामों का स्थान। उन परिणामों से युक्त जीव उस गुणस्थानक वाले कहे जाते हैं।

ये चौदह गुणस्थानक मोक्ष प्राप्त करने के, आत्मिक सुख को प्राप्त करने के एवं कर्मबंधन से मुक्त होने की सीढ़ियों के समान हैं। जैसे मकान के ऊपरी मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां होती हैं। वैसे ही गुणस्थानों की भी स्थिति है। पूर्व-पूर्व गुणस्थानों से उत्तर-उत्तर गुणस्थानों में शुद्धि के बढ़ने से अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियों का बंध अधिक होता है और फिर इन शुभ प्रकृतियों का भी बंध-विच्छेद हो जाने से शुद्धात्मदशा मोक्षदशा प्राप्त होती है।

चौदह गुणस्थानों के नाम

मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत अपमते ।

नियट्टि अनियट्टि सुइम वसम रवीण सजोगी अजोगि गुणा ।।²⁷⁷

मिथ्यादृष्टियाद्ययोगिपर्यन्तेषु ।²⁷⁸

1. मिथ्यादृष्टि, 2. सास्वादन, 3. सम्यग् मिथ्यादृष्टि, 4. अविरत सम्यग्दृष्टि, 5. देशविरती, 6. प्रमतसंयत, 7. अप्रमतसंयत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृति वादर संपराय, 10. सूक्ष्मसंपराय, 11. उपशान्तमोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोगी केवली, 14. अयोगी केवली।

उपाध्याय यशोविजय ने भी गुणस्थानों का वर्णन आठ दृष्टि की सज्जाय²⁷⁹ एवं अध्यात्मसार,²⁸⁰ ज्ञानसार²⁸¹ में भी किया है।

जैन दर्शन में आत्म-विकास के क्रम को दिखलाने के लिए जैसे चौदह गुणस्थान माने गये हैं, वैसे ही योगवाशिष्ठ में भी 14 भूमिकाओं का बड़ा रुचिकर वर्णन है। उनमें सात अज्ञान की और सात ज्ञान की भूमिकाएँ हैं, जो जैन परिभाषा के अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की ओर सम्यक्त्व की सूचक है।²⁸²

अज्ञान की सात और ज्ञान की सात भूमिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—अज्ञान की सात भूमिकाएँ—
1. बीज जागृत, 2. जागृत, 3. महाजागृत, 4. जागृतस्वप्न, 5. स्वप्न, 6. स्वप्न जागृत, 7. सुषुप्तक। ज्ञान की सात भूमिकाएँ—1. शुभेच्छा, 2. विचारणा, 3. तनुमानसा, 4. सत्त्वापत्ति, 5. असशक्तित, 6. पदार्थाभाविनी, 7. तुर्यागा।²⁸³

अज्ञान की भूमिकाओं में उत्तरोत्तर ज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल और ज्ञान की भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञान-विकास में वृद्धि होने से उन्हें विकास-क्रम की श्रेणियां कह सकते हैं। योगदर्शन में चित्त की पांच अवस्थाओं का वर्णन है—1. मूढ, 2. क्षिप्त, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र, 5. निरुद्ध।²⁸⁴ इन चित्तवृत्तियों की गुणस्थानों के साथ एक देश से तुलना हो सकती है, पूर्णतः नहीं। यही चित्तवृत्तियों का वर्णन उपाध्याय यशोविजय ने योगविंशिका²⁸⁵ में भी किया है।

जैन शास्त्रों में जैसे बंध के कारण कर्म प्रकृतियों का वर्णन है वैसे ही बौद्ध दर्शन में दस संयोजनाएँ बताई गई हैं—1. समकाय, 2. दिट्ठी, 3. विचिकित्सा, 4. सीलव्वत, 5. पराभास, 6. कामराग, 7. परीघ, 8. रूपराग, 9. अरूपता, 10. मान, 11. उदधव्व और 12. अविज्जा।

इनमें से प्रथम तीन संयोजनाओं के क्षय होने पर सोत्तापन्न अवस्था प्राप्त होती है। पांच औदभागीय संयोजनाओं के नाश होने पर औपचारिक अनागामी अवस्था एवं दसों संयोजनाओं का नाश होने पर अरहा अवस्था प्राप्त होती है। यह वर्णन जैन शास्त्रगत कर्म प्रकृतियों के क्षयक्रम से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्म-विकास के इच्छुक दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से विकास-युग का उल्लेख किया है पर उनमें क्रमबद्ध धारा के दर्शन नहीं हैं। जैन दर्शन में इसकी विस्तार में चर्चा हुई है।

गुणस्थान में जब कर्म विषयक चिन्तन करते हैं तब एक अपूर्व धारा प्रवाहित होती है, वह है बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता की। जीवों को सामान्य से मूल आठ कर्म और उत्तर प्रकृतियों में से कौन-कौन से गुणस्थान तक कितनी-कितनी प्रकृतियाँ बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता में रह सकती है, क्योंकि प्रत्येक प्रकृतियों का अपने निश्चित गुणस्थानक तक ही बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता होती है। मर्यादा में रहकर ही अपना प्रभाव दिखाती है। तत्पश्चात् उसका प्रभाव-विच्छेद हो जाता है। सामान्य अपेक्षा से बंध प्रकृतियाँ-120, उदय व उदीरणा-122 एवं सत्ता प्रकृतियाँ-148 हैं।

बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता में उत्तर-प्रकृतियाँ कौन-से गुणस्थानक में कितनी रहती है उसका विवरण भिन्न है—

बंध—बंध में ओघ से मूल प्रकृतियाँ 8, उत्तरप्रकृतियाँ 120 हैं।

प्रथम गुणस्थानक में उत्तरप्रकृतियाँ—117, द्वितीय गुणस्थानक-101, तृतीय गुणस्थानक-74, चतुर्थ गुणस्थानक-77, पंचम गुणस्थानक-67, षष्ठम गुणस्थानक-63, सप्तम गुणस्थानक-49, 48, अष्टम गुणस्थानक-58, 56, 26, नवम गुणस्थानक-22, 21, 20, 19, 18, दशम गुणस्थानक-17, एकादश गुणस्थानक-1, द्वादश-त्रयोदश गुणस्थानक-1, चतुर्दश गुणस्थान-0 उत्तरप्रकृतियों का बंध होता है।

उदय—उदय में ओघ से मूल प्रकृतियाँ 8, उत्तरप्रकृतियाँ 122 हैं।

प्रथम गुणस्थानक में उत्तरप्रकृतियाँ—117, द्वितीय गुणस्थानक-111, तृतीय गुणस्थानक-100, चतुर्थ गुणस्थानक-104, पंचम गुणस्थानक-87, षष्ठम गुणस्थानक-81, सप्तम गुणस्थानक-78, अष्टम गुणस्थानक-72, नवम गुणस्थानक-66, दशम गुणस्थानक-60, एकादश गुणस्थानक-59, द्वादश गुणस्थानक-57, 55, त्रयोदश गुणस्थानक-42 एवं चतुर्दश गुणस्थानक-12 प्रकृतियों का उदय होता है।

उदीरणा—उदीरणा में ओघ से मूल प्रकृतियाँ 8, उत्तरप्रकृतियाँ 122 हैं।

प्रथम गुणस्थानक में उत्तरप्रकृतियाँ—122, द्वितीय गुणस्थानक-111, तृतीय गुणस्थानक-100, चतुर्थ गुणस्थानक-104, पंचम गुणस्थानक-87, षष्ठम गुणस्थानक-81, सप्तम गुणस्थानक-73, अष्टम गुणस्थानक-69, नवम गुणस्थानक-63, दशम गुणस्थानक-57, एकादश गुणस्थानक-56, द्वादश गुणस्थानक-54, 52, त्रयोदश गुणस्थानक-39 एवं चतुर्दश गुणस्थानक-1 भी उत्तरप्रकृति एवं मूल प्रकृति की उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता—प्रथम गुणस्थानक—148, द्वितीय गुणस्थानक-147, तृतीय गुणस्थानक-147, चतुर्थ गुणस्थानक-148, पंचम गुणस्थानक-148, षष्ठम गुणस्थानक-148, सप्तम गुणस्थानक-148, अष्टम गुणस्थानक-148, नवम गुणस्थानक-148/138, दशम गुणस्थानक-148/102, एकादश गुणस्थानक-148, द्वादश गुणस्थानक-101, त्रयोदश गुणस्थान-85 एवं चतुर्दश गुणस्थान-12 या 13 उत्तरप्रकृति की सत्ता होती है।

इस प्रकार बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता में उन गुणगाथाओं के योग्य प्रकृतियों का अपने-अपने गुणस्थानक तक बंधादि रहता है और उत्तर गुणस्थानों में बंधादि का विच्छेद होता जाता है।²⁸⁷

उपाध्याय यशोविजय ने कम्मपयडी टीका²⁸⁸ में मूल चौदह पिण्ड प्रकृति और उत्तर 75 प्रकृतियों का वर्णन गुणस्थानक में किया है एवं कर्मप्रकृति में भी ध्रुवबंध आदि 31 द्वारों का स्वरूप दिखाया गया है, वो यथार्थ है।

कर्म की स्थिति

कर्मों की समय मर्यादा का विचार जिसमें किया जाए, उसको शास्त्र में स्थितिबंध कहते हैं।

जैसे स्थितिबंध शब्द का प्रयोग गमन रहितता वस्तु के अस्तित्व विद्यमानता रहने के काल-आयु के अर्थ में किया जाता है, लेकिन यहाँ स्थिति का अर्थ है—आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्मण पुद्गल स्कंध की कर्मरूप में बने रहने की काल-मर्यादा। बन्ध हो जाने के बाद जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ अवस्थित रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है और बन्धन वाले कर्मों में इस स्थितिकाल की मर्यादा के पड़ने को स्थितिबंध कहते हैं।

कर्म का जब बन्ध होता है, तब से लगाकर फल देकर दूर होने तक के समय को स्थितिकाल कहते हैं। एक समय में एक साथ जितनी स्थिति का बंध होता है, उसे स्थितिस्थानक कहते हैं।

जैन शास्त्रों में कर्मों की स्थिति का वर्णन अनेक दृष्टि से किया गया है, जैसे—उत्कृष्ट, जघन्य और उपरितन स्थिति, सान्तर-निरन्तर स्थिति आदि-अनादि स्थिति है।

स्थिति के उक्त भेदों में उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति—ये दो प्रमुख हैं। उपाध्याय यशोविजय कम्मपयडी की टीका²⁸⁹ में इन दो स्थितियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—स्थिति अर्थात् सांसारिक शुभ अथवा अशुभ फल देने वाला काल बंध होने के समय से लेकर निर्जीव होने के अन्तिम क्षण के काल को कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं तथा प्रत्येक प्रकृति की जघन्य स्थिति का बन्ध उनके बन्ध-विच्छेदक के समय में होता है अर्थात् जब उन प्रकृतियों के बन्ध का अनन्तकाल आता है, तभी जघन्य न्यूनतम स्थिति बंधती है। उसे जघन्य स्थिति कहते हैं। उपाध्याय यशोविजय ने उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का वर्णन निम्न रूप से किया है—

उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—

एमेव विसीहिओ विग्धावरणेषु कोडिकोडिओ ।
उरही तीसभसाते तद्धं थीमणुवदुगसाए ।।70 ।।
तिविह मोहे सत्तरि चतालीसा य वीसई य कमा ।
दस पुरिसे हासरई देवइगे खगदु चेड्डाए ।।71 ।।
थिर सुभ पंचगउच्चे, चेय सद्वाण संघवण मूले ।
तब्बीतियाइ बिवुड्ढि अट्टारस सुहम विगलतिगे ।।72 ।।
तिथ्यगदाहारदुगे अतो वीसं सनिच्चनामाणं ।
तेतीसुदही सुदनारयाउ सेसाउ पल्लतिगं ।।73 ।।
आउचउक्कुक्कोसो पत्तासंखेजभागममणेसु ।
संसाण पुव्व कोडी साउतिभागो अबाहा सि ।।74 ।।²⁹⁰

आद्यतीन—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय—इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोडाकोडी सागरोपम, मोहनीय की 70 कोडाकोडी सागरोपम है। नाम एवं गोत्र कर्म की 20 कोडाकोडी सागरोपम एवं आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम है।

• जघन्य स्थिति

जघन्य स्थिति का वर्णन करते हुए उपाध्याय यशोविजय कम्मपयडी टीका में बताते हैं कि—

भिज्जमुहुत्तं आवरण विग्घ दंसणचउलोभंते ।

बारस साय मुहुर्ता अठ य जसकिति उच्चेसु ।।76।।²⁹¹

वेदनीय की 12 मुहुर्त, नाम, गोत्र की 8 मुहुर्त और शेष कर्मों की जघन्य-स्थिति अन्तमुहुर्त है।

कम से कम स्थिति जघन्य और अधिक से अधिक स्थिति उत्कृष्ट कहलाती है। कर्मों की प्रबलता के अनुसार उनमें स्थितिकाल में अन्तर रहता है। भिन्न-भिन्न कर्मों की स्थिति इस प्रकार है—

क्र.सं.	कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
01.	ज्ञानावरणीय	अन्तमुहुर्त	30 कोडाकोडि सागरोपम
02.	दर्शनावरणीय	अन्तमुहुर्त	30 कोडाकोडि सागरोपम
03.	वेदनीय	12 मुहुर्त	30 कोडाकोडि सागरोपम
04.	मोहनीय	अन्तमुहुर्त	70 कोडाकोडि सागरोपम
05.	दर्शनमोहनीय	अन्तमुहुर्त	70 कोडाकोडि सागरोपम
06.	चारित्र मोहनीय	अन्तमुहुर्त	40 कोडाकोडि सागरोपम
07.	आयुष्य	अन्तमुहुर्त	33 कोडाकोडि सागरोपम
08.	नाम	8 मुहुर्त	20 कोडाकोडि सागरोपम
09.	गोत्र	8 मुहुर्त	20 कोडाकोडि सागरोपम
10.	अंतराय	अन्तमुहुर्त	30 कोडाकोडि सागरोपम

यह मूल कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति है। इसी प्रकार उत्तर-प्रकृतियों की भी भिन्न-भिन्न उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति होती है।

मूल कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र,²⁹² तत्त्वार्थ सूत्र,²⁹³ श्रावक प्रज्ञप्ति,²⁹⁴ प्रज्ञापना टीका,²⁹⁵ कर्मग्रंथ,²⁹⁶ नवतत्त्व,²⁹⁷ पांचवां कर्मग्रंथ²⁹⁸ एवं कम्मपयडी की टीका²⁹⁹ में उत्तर-प्रकृतियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का वर्णन मिलता है।

कर्म के स्वामी

जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म के स्वामी की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है, जैसे कि मूल कर्म के स्वामी, उत्तर-प्रकृतियों के स्वामी, प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेशबन्ध के स्वामी, सामान्य से बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता के स्वामी, लेकिन सामान्य दृष्टिकोण से चिन्तन किया जाए तो आठों कर्मों के स्वामी चारों गति के जीव हैं, क्योंकि सामान्यतः सर्वज्ञ भगवंतों का यह उपदेश है कि जब तक जीव कम्पता है, धुजता है, चलता है, फिरता है, स्पंदन करता है, दुःखी होता है, उन-उन भावों में परिणाम आता है, तब तक जीव आयुष्य को छोड़कर सात प्रकार के कर्म प्रतिसमय बांधता है। आयुष्य कर्म जीवन में एक बार ही बांधता है।³⁰⁰

गुणस्थानक की दृष्टि से देखा जाए तो 1 से 10 गुणस्थानक के जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय के स्वामी हैं। वेदनीय के 1 से 13 गुणस्थानक के जीव हैं। आयुष्य कर्म के मिश्र गुणस्थानक के बिना 1 से 6 गुणस्थानक वाले जीव हैं।³⁰¹

चारों गतियों एवं 84 लाख जीवयोनि के जीवों को आठ कर्मों का उदय होता है। अतः देव, मनुष्य, तिर्यच, नरक—चारों गतियों के जीव 8 कर्मों के स्वामी हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अंतराय का 1 से 12 गुणस्थानक तक उदय होता है। मोहनीय का एक से दस गुणस्थानक तक उदय होता है। इन चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने पर शेष चार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म का 11 से 14 गुणस्थानक तक उदय होता है। अतः ये इनके स्वामी हैं।

आठ कर्मों की सत्ता भी चारों गतियों के जीवों को होती है। जिसमें कर्मों की सत्ता होगी, वही सत्तावान (स्वामी) बनेगा। मोहनीय की सत्ता 1 से 11 ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय की सत्ता 1 से 12 और वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र की सत्ता 1 से 14 गुणस्थानक तक होती है।

विशेष रूप में विचार किया जाए तो बासठ मार्गणा आदि से भी बंध, उदय, सत्ता का स्वामीत्व है। जैसे गति में नरक गति में कितनी प्रकृतियों का बंध, उदय, सत्ता आदि इसका विचार किया जाता है। स्वामीत्व का विश्लेषण बहुत ही विस्तृत रूप से कर्मग्रंथ एवं कर्मप्रकृति³⁰² में किया गया है।

कर्म का वैशिष्ट्य

कर्म सिद्धान्त भारतीय चिन्तकों के चिन्तन का मकखन है। सभी आस्तिक दर्शनों का भव्य भवन कर्मसिद्धान्त रूपी नींव पर ही अवलम्बित है। भले कर्म के स्वरूप में मतैक्य न हो लेकिन सभी दार्शनिक विचारकों एवं चिन्तकों ने आध्यात्मिक विकास के लिए कर्ममुक्ति आवश्यक मानी है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने कर्म-विषयक अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है परन्तु जैन दर्शन में कर्म विषयक चिन्तन बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

इस संसार में चारों गति के जीव पूर्वकृत कर्मों का भोग करते हैं, क्योंकि पूर्व में किये हुए शुभ हो या अशुभ कर्म असंख्य वर्षों के बाद भी भोगे बिना क्षय नहीं होते।³⁰³ जिस प्रकार सैकड़ों गायों में भी बछड़ा अपनी माता को ढूँढ लेता है तथा कोष के धन के समान पूर्वकृत कर्म का फल पहले से ही विद्यमान रहता है और जिस-जिस रूप में अवस्थित रहता है, उस-उस रूप में उसे सुलभ करने के लिए मनुष्य की बुद्धि सतत् उद्धत रहती है। उसी तरह इस प्रकार प्रत्येक संसारी जीवात्मा कर्म की बलवत्ता से दबे हुए हैं लेकिन इतना तो निश्चित है कि चारों गतियों में से तीन गतियों के जीव कर्म को पुरुषार्थ, संयोग के द्वारा सम्पूर्ण नाश करने में समर्थ नहीं है तथा मनुष्य गति में जिसका तथाभव्यत्व परिपक्व नहीं हुआ, चरम पुद्गल परावर्तन काल तक नहीं पहुंचा हो, वह भी कर्मों से पराजित हो जाता है। लेकिन जिस आत्मा का भव्यत्व परिपक्व हो जाता है और चरम पुद्गल में आता है, वह सम्पूर्ण कर्मों को अपने प्रबल पुरुषार्थ, तप, त्याग, ध्यान, भावना द्वारा क्षय कर सकता है और वह मनुष्यगति में ही शक्य है।

कर्मवाद का सिद्धान्त जीवन में आशा, उत्साह और स्फूर्ति का संवाद करता है। उस पर पूर्ण विश्वास होने के बाद निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह ही नहीं सकते। सुख-दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते। कर्म ही आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है। हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही कर्मों का फल है। मनुष्य जो कुछ पाता है, वह उसी की बोई हुई खेती है।

हम अपने विचारों और वासनाओं के अनुरूप भाग्य निर्माण करते हैं। आज हम जो कुछ हैं, वह हमारे ही पूर्वजन्मों का फल है। हमारी वर्तमान अवस्था के लिए ईश्वर जिम्मेदार नहीं है। हम स्वयं अपनी इस अवस्था के लिए जिम्मेदार हैं। यदि इस तथ्य को, आत्मा के इस गुप्त रहस्य को अच्छी तरह समझ लें तो अपने भविष्य का ऐसा सुन्दर निर्माण कर सकते हैं कि हमारा पतन तो रुक जाएगा और जब तक कि जीवन के लक्ष्य को प्राप्त न कर लें क्रमशः ऊँचे-ऊँचे उड़ते जाएंगे।³⁰⁴

आत्मा किसी रहस्यमय शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के अधीन नहीं है। उसे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए शक्तिशाली सत्ता का दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। आम उत्थान के लिए या पापों का नाश करने के लिए हमें किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की जरूरत है और न उसके सामने रोने, गिड़गिड़ाने या मस्तक झुकाने की। कर्मवार हमें बताता है कि संसार की सभी आत्माएँ एक समान हैं। सभी में एक-सी शक्तियाँ विद्यमान हैं। चेतन जगत् में जो भेदभाव दिखाई पड़ता है, उसका कारण इन आत्मिक शक्तियों का न्यूनाधिक विकास ही है।

कर्म कितना बलवान होगा, यह बात केवल कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है।³⁰⁵ जैसे सुप्रीम कोर्ट के घोषित किये हुए दण्ड में कोई फेरबदल नहीं होता है, ऐसा कानून है। ऐसा कानून होने के बाद भी राष्ट्रपति उस दण्ड को माफ कर सकता है, ऐसा विशिष्ट नियम है। वैसे ही प्रथम से निकाचित कर्म या बाद में बंधे हुए निकाचित कर्म में आठ प्रकार के कारण के द्वारा भी कोई परिवर्तन नहीं होता है। लेकिन जिस तरह कर्मों को बांधा हो, उसी तरह भुगतना भी पड़ता है। फिर भी राष्ट्रपति की तरह श्रेणिगत अध्यवसाय द्वारा, उसी प्रकार के शुक्लध्यान, धर्मध्यान द्वारा बिना भोगे हुए भी निकाचित कर्म भी क्षय हो सकते हैं। कम्मपयडी की टीका के अनुवाद कर्मप्रकृति में यही बात बताई है।³⁰⁶

अतः कर्म-विज्ञान का विज्ञाता स्वकीय में निराश, हताश और दीन शोकाकुल नहीं बनता है, क्योंकि वह स्पष्ट जानता है कि ईश्वर संज्ञक कोई विशिष्ट दिव्य शक्ति कर्म प्रदायक नहीं है, कर्मफल का विधायक भी नहीं है। प्राणी के पुरुषार्थ के संयोग से कर्मों में एक ऐसी शक्ति निश्चयतः प्रगट हो जाती है कि वे स्वयं ही प्राणी को उसके कृत-कर्मों का फल करवाने में सर्वथा सक्षम है। कर्म स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि भी नहीं है। वह प्राणी के पुरुषार्थ का और उसकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है। बहुत कर्मवाद का महारथ भाग्यवाद की वैशाखी पर नहीं परन्तु पुरुषार्थ के राजपथ पर अग्रसर है।

कर्मवाद के अनुसार विकास की सर्वोच्च सीमा को प्राप्त व्यक्ति ही ईश्वर है, परमात्मा है। हमारी शक्तियाँ कर्मों से आवृत्त हैं, अविकसित हैं, परन्तु आत्मबल के द्वारा कर्म का प्रभाव दूर हो सकता है और इन शक्तियों का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर हम परमात्मस्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न विशेष से परमात्मा बन सकती है।

कर्म सिद्धान्त के वैशिष्ट्य से विशिष्ट आत्माएँ बाह्य भौतिक सुख-सुविधाओं से शायद शून्य हो सकती हैं लेकिन आध्यात्मिक आत्म-वैभव से आपूरित रहती हैं। उत्तरोत्तर समुत्थान मार्ग को संप्राप्त करती रहती हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपाध्याय यशोविजय ने कर्म सिद्धान्त जैसे गम्भीर, गहन और व्यापक विषय को आगमिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषित किया गया, यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही सूचक है।

(ब) योग, स्वरूप एवं लक्षण

योग शब्द भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की बहुमूल्य सम्पत्ति है। भारत भूमि में दर्शन एवं योग के बीज तो बहुत पहले से ही बोये गये हैं। उसकी उपज भी क्रमशः बहुत बढ़ती गई है। योग विद्या ही एक ऐसी विद्या है जो प्रायः सभी धर्मों तथा दर्शनों में स्वीकृत है। अनेकता में एकता की खोज है। यह ऐसी आध्यात्मिक साधना है, जिसे कोई भी बिना किसी वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म-विशेष की अपेक्षा से अपना सकता है। प्राचीन भारतीय धर्म, पुराण, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि योग प्रणाली की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है। वैदिक तथा अवैदिक वाङ्मय में आध्यात्मिक वर्णन बहुलता से पाया जाता है। इनका अन्तिम साध्य उच्च अवस्था की प्राप्ति है और योग उसका एक साधन है।³⁰⁷

योगमूलक जैन साहित्य

योगविद्या के प्रवर्तकों में महर्षि पतंजलि अग्रगण्य एवं प्रधान आचार्य हैं, जिन्होंने अनेक प्राचीन ग्रंथों में बिखरे हुए योग संबंधी विचारों को अपनी असाधारण प्रतिभा तथा प्रयोगों द्वारा सजा-संवार कर योगदर्शन ग्रंथ का प्रणयन किया। यह ग्रंथ उनकी असाधारण प्रतिभा तथा गम्भीर मेधाशक्ति का परिचायक है।

जैन परम्परा में सर्वप्रथम ई. 8वीं शती में हरिभद्रसूरि ने योग शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में किया है। उन्होंने जैन योग पर योगदृष्टि समुच्चय और योगबिन्दु नामक दो ग्रंथ संस्कृत में तथा योगशतक और योगविंशिका नामक दो ग्रंथ प्राकृत में लिखे। इन चार ग्रंथों में जैन योग पर विभिन्न अपेक्षाओं से विचार-मंथन किया गया है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र हुए, जो अपने युग के महान् विद्वान् थे। उन्होंने व्याकरण, कोष, काव्य, न्याय आदि विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे। ये कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद्ध से विभूषित थे। उनकी प्रेरणा से कुमारपाल ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। कुमारपाल के निवेदन पर उन्होंने अध्यात्म, उपनिषद् या योगशास्त्र की रचना की। इसमें था जैन साधना का योग के रूप में प्रतिपादन। आचार्य हेमचन्द्र के समय के आस-पास दिगम्बर परम्परा में भी एक महान् विद्वान् योग निष्णात आचार्य हुए, जिन्होंने ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ की रचना की। वह भी जैन योग पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। और भी अनेक विद्वानों ने इस विषय में रचनाएँ कीं, जिनमें उपाध्याय यशोविजय का नाम बहुत प्रसिद्ध है।

उपाध्याय यशोविजय ने दर्शन एवं योग को आत्मसात् किया तथा उत्तरकाल में योग प्रियता उत्तरोत्तर विकास की श्रेणी में विकस्वर बने, अतः उन्होंने अर्दानि मति वैभवता को विपुल बनाते हुए एवं प्राणियों के हित की इच्छा से योग ग्रंथों की रचना कर एक अचिन्त्य चिन्तन जगत् के सामने प्रस्तुत किया। यशोविजय का समय 18वीं शताब्दी है। इन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार बत्तीसी, पातंजल योगसूत्र वृत्ति, योगविंशिका की टीका, षोडशक प्रकरण की टीका, योगदीपिका आदि की रचना की है। इन ग्रंथों में इन्होंने योग संबंधी बहुत-सी बातों का विवेचन व स्पष्टीकरण किया है।

इन ग्रंथों में उपाध्याय यशोविजय ने योग की सामग्री भर दी है, साथ ही उदारवादी एवं सभन्वयवादी बनकर सभी दर्शनों की योग मान्यताओं को स्थान दिया है। इसी कारण इनमें योग विषयक ग्रंथों का प्रभाव अध्यात्म जिज्ञासुओं पर गहरा पड़ा।

उपाध्याय यशोविजय को विशाल साहित्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। उनके पास केवल साहित्यिक उत्तराधिकार ही था, ऐसा भी नहीं है। उनके योग-विषयक विविध आचार और प्रतिपादन के ऊपर से ऐसा निःशंक प्रतीत होता है कि वे योगमार्ग के अनुभवी भी थे। इसी से उन्होंने अपने अनुभव तथा साहित्यिक विरासत के बल पर योग विषय से सम्बद्ध ऐसी कृतियों की रचना की है, जो योग परम्परा विषयक आज के ज्ञान-साहित्य में अपनी अनोखी विशेषता रखती है।

योग की व्युत्पत्ति

आगम शास्त्रों में भी योग शब्द की व्युत्पत्ति मिलती है। 'योजनं योगः' यूज धातु से योग शब्द की निष्पत्ति होती है। युज् धातु को व्याकरण का धञ् प्रत्यय लगने पर योग शब्द बनता है, जिसका अर्थ जोड़ना, संयुक्त करना स्वीकारा गया है। वैसे युज् धातु के अन्य भी अर्थ होते हैं।

योग शब्द युज् धातु से बना है। संस्कृत व्याकरण में दो युज् धातुओं का उल्लेख है, जिनमें एक का अर्थ जोड़ना या संयोजित करना³⁰⁸ तथा दूसरे का अर्थ समाधि, मनःस्थिरता है।³⁰⁹ अर्थात् सामान्य रीति से योग का अर्थ सम्बन्ध करना तथा स्थिरता करना है। इस प्रकार लक्ष्य तथा साधन के रूप में दोनों ही योग हैं। इस शब्द का उपयोग भारतीय दर्शनों में दोनों अर्थों में हुआ है।

योग शब्द युज समाधौ धातु से बनता है। इसका अर्थ है—समाधि। युजिर योगे धातु से भी योग शब्द बनता है। इसका अर्थ है—जुड़ना।³¹⁰ जैन परम्परा में योग शब्द का अर्थ जोड़ने के अर्थ रूप में स्वीकार किया गया है। जैसा कि हरिभद्र सूरि की योगविंशिका में—मोकरवेण जोयणाओ जोगो³¹¹ तथा उपाध्याय यशोविजय की भोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुध्यते³¹² से स्पष्ट है। जैन परम्परा के अनुसार जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता है, उन सब साधनों को योग कह सकते हैं।

योग शब्द के समानार्थक संवर, ध्यान, तप आदि आगमों में मिलते हैं। आगमों में ध्यान के भेद-प्रभेद तथा आचार-संहिता आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।³¹³ आगमों में योग से संबंधित विषयों का विशद् वर्णन नियुक्ति में मिलता है।³¹⁴

योग की परिभाषा

योग विद्या एक ऐसी विद्या है, जिसको प्रायः सभी दर्शनों ने, सभी धर्मों ने स्वीकारी है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक साधना है, जिसको कोई भी व्यक्ति जात-पात, वर्णन के भेदभाव बिना मान्य करता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति के जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। अतः मोक्षमार्ग या मुक्ति प्राप्त करने के लिए अनिवार्य एवं आवश्यक साधन योग है।

जैसे चिकित्सा शास्त्र में चतुर्व्यूह के रूप में—1. रोग, 2. रोग का कारण, 3. आरोग्य, 4. आरोग्य का कारण-निमित्त वर्णित है, वैसे ही योगशास्त्र के भी चतुर्व्यूह का उल्लेख है—1. संसार, 2. संसार का कारण, 3. मोक्ष, 4. मोक्ष का साधन।³¹⁵

चिकित्सा शास्त्र के समान ही योग भी आध्यात्मिक साधना के लिए चारों बातों को स्वीकार करता है—

1. आध्यात्मिक दुःख,
2. उसका कारण (अज्ञान)

3. अज्ञान को दूर करने के लिए सम्यक् ज्ञान और
4. आध्यात्मिक बंधन से मुक्ति अर्थात् पूर्णता की सिद्धि।

इस प्रकार सभी आध्यात्मिक साधनाएँ इन चारों सिद्धान्तों को स्वीकार करती हैं, भले ही विभिन्न परम्पराओं में ये विभिन्न नामों से व्यवहृत हुए हों।

योग-साधना के अन्तर्गत अनेक प्रकार के आचार, ध्यान तथा नय का समावेश है। परन्तु इस सबका लक्ष्य आत्मा का विकास ही है और उसके लिए मनोविकारों को जीतना आवश्यक है।

यौगिक क्रियाओं के आदर्श विभिन्न ग्रंथों में अलग-अलग हैं। ये इस प्रकार हैं—

भारतीय दर्शन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है और उसके लिए योगदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन में क्रमशः कैवल्य, निर्वाण तथा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से समान ही है। विभिन्न दर्शनों के विभिन्न मार्ग होने पर भी फलितार्थ सबका एक ही है, क्योंकि चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग उपलब्ध होता है, न आत्मलीनता सधती है। अतः चंचल मन-प्रवृत्तियों को रोकना अथवा उनका नियंत्रण करना सभी दर्शनों का उद्देश्य रहा है।

योगदर्शन में पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है।³¹⁶

बौद्धदर्शन में योग का अर्थ समाधि किया है।³¹⁷

जैनदर्शन के अनुसार शरीर, वाणी तथा मन के कर्म का निरोध संवर है और यही योग है।³¹⁸ यहाँ पतंजलि का योग शब्द संवर शब्द का समानार्थक ही है। जैन हरिभद्र के मतानुसार—भोक्खेणउ जोयणाओ ति।³¹⁹ मोक्ष के साथ आत्मा का पूजन करे वह योग माना है। अर्थात् आत्मा को महानन्द से जोड़ता है। अतः वह योग है।

ज्ञानसार में भी योग की परिभाषा यही मिलती है—भोक्षेण योजनात् योगः।³²⁰ उपाध्याय यशोविजय ने भी योगविंशिका टीका³²¹ में परिशुद्ध धर्म-व्यापार को योग कहा है। हरिभद्रसूरि के अनुसार योग मोक्ष प्राप्त कराने वाला अर्थात् मोक्ष के साथ जोड़ने वाला है।³²² हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपायरूप योग को ज्ञान, श्रद्धा और चारित्रात्मक कहा है।³²³ यशोविजय भी हरिभद्र का ही अनुसरण करते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन में योग का अर्थ चित्तवृत्ति निरोध तथा मोक्षप्रापक धर्मव्यापार है।³²⁴ उससे वही क्रिया या व्यापार विबक्षित है, जो मोक्ष के लिए अनुकूल हो अतः योग समस्त स्वाभाविक आत्मशक्तियों की पूर्ण विकासक क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुखी चेष्टा है।

योग का स्रोत एवं विकास अन्य सन्दर्भों में

योग शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद³²⁵ में मिलता है। उपनिषदों³²⁶ में योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में मिलता है। महाभारत³²⁷ एवं श्रीमद्भगवद्गीता में योग के विभिन्न अंगों का विवेचन एवं विश्लेषण उपलब्ध है। यहां तक की गीता में 18 अध्यायों में 18 योगों का वर्णन है³²⁸ जिनमें अनेकविध साधनाएँ कही गई हैं। भागवत³²⁹ एवं स्कन्धपुराण³³⁰ में कई स्थलों पर योग की चर्चा है। योगवाशिष्ठ³³¹ में छह प्रकरणों में योग के विभिन्न सन्दर्भों की विस्तृत व्याख्या है।

न्यायदर्शन³³² में भी योग को यथोचित स्थान मिला है। कणाद ने वैशेषिक दर्शन³³³ में यम, नियमादि योगों का सम्यक् उल्लेख किया है। ब्रह्मसूत्र³³⁴ के तीसरे अध्याय का नाम साधना पाद है, जिसमें आसन, ध्यान आदि योगों की चर्चा है।

तन्त्रयोग³³⁶ के अन्तर्गत हठयोग सिद्धान्त की स्थापना करते हुए आदिनाथ ने योग की क्रियाओं द्वारा शरीर के अंग, प्रत्यंगों पर प्रभुत्व प्राप्त करने तथा मन की स्थिरता प्राप्त करने का रहस्य बताया है।

उपरोक्त सम्पूर्ण व्याख्याओं को भी समाविष्ट करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने योग विषयक यह भी एक व्याख्या प्रस्तुत की है—मोक्ष का कारणभूत ऐसा सम्पूर्ण धर्म व्यापार योग ही कहलाता है।³³⁶

योग की विस्तृत और अविच्छिन्न में जैनों का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। बौद्धों की भाँति निवृत्तिपरक विचारधारा के पोषक जैन साहित्य में भी योग की बहुत चर्चा हुई है और उसका महत्त्व स्वीकारा गया है। सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में उल्लिखित अज्जप्पजोग,³³⁷ समाधिजोग³³⁸ आदि पदों में जिनका अर्थ ध्यान या समाधि है, योग की ही ध्वनि सन्निहित है। वास्तव में देखा जाए तो योग के क्रमबद्ध विवेचन का सूत्रपात आचार्य हरिभद्र ने किया है। उन्होंने योग की सांगोपांग व्याख्या योगशतक, योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविशिका आदि ग्रंथों में की है। इस सन्दर्भ में शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव, हेमचन्द्र का योगशास्त्र तथा महोपाध्याय यशोविजय के योगावतार बत्तीसी, पातंजल योगसूत्र, योगविशिका की टीका तथा योगदृष्टि की सज्जावमाला, अध्यात्मोपनिषद् आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनमें योगविषयक विस्तृत विवेचन हुआ है।

उपाध्याय यशोविजय ने यहाँ तक कह दिया—ठाणा इगओ विसेसेण³³⁹ के द्वारा उन्होंने आत्मा की आलय विहारादि कोई भी धर्मप्रवृत्ति यदि आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करवाकर स्वाभाविक महानगर के साथ जोड़े, यह धर्मप्रवृत्ति योग है।

इस प्रकार योग की परम्परा भारतीय संस्कृति में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है और चिरकाल से भारतीय मनीषियों, विचारकों तथा महापुरुषों ने अपने-अपने जीवन एवं विचारों में योग को यथोचित स्थान दिया है।

संक्षिप्त में योग शब्द का सम्बन्ध युग शब्द से भी है, जिसका अर्थ जोतना होता है और जो अनेक स्थलों पर इसी अर्थ में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त है। युग शब्द प्राचीन आर्य शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है। यह जर्मन के जोक (Jock), एंग्लो सैक्सन (Anglo Saxon), गेओक (Geoc), इउक (IUC), इंओक (IOC) समानार्थकता में देखा जा सकता है।³⁴⁰

योग की परिभाषा का परिष्कृत लक्षण उपाध्याय यशोविजय ने प्रस्तुत किया है।

योग का लक्षण—व्यवहार एवं निश्चयनय से

निश्चय नय से योग का लक्षण

जो अवश्य फल देता है अथवा शीघ्र फल की प्राप्ति हो, उसे निश्चयनय की अपेक्षा से योग कहा जाता है।

निश्चय नय का लक्षण बताते हुए योगशतक में कहा गया है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इस रत्नत्रयी का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना, आत्मा के साथ एकमेक होना, आत्मा में अवस्थित होना ही निश्चय नय से योग कहलाता है, क्योंकि वही आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ता है। ऐसा लक्षण है, यह अपनी मति—कल्पना से नहीं परन्तु योगियों के नाथ तीर्थकर भगवन्तों ने कहा है।³⁴¹

जिस प्रकार इष्ट नगर में पहुंचने के लिए उसके मार्ग का यथार्थ ज्ञान, उस मार्ग के यथार्थ ज्ञान के प्रति विश्वास, उसी मार्ग पर गमन—इन तीनों का समन्वय होना आवश्यक है, तब वह इष्ट नगर की प्राप्ति कर सकता है। उसी प्रकार मोक्षमार्ग की प्राप्ति में भी सम्यग् ज्ञानादि हेतु है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणी मोक्षमार्गः।³⁴²

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र ही मोक्षमार्ग है। इन रत्नत्रयों को अपनाकर अनेक आत्मा मोक्ष के अधिकारी बनते हैं, बन रहे हैं। इसलिए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि मुक्त जीव एक, दो, पांच या संख्यात-असंख्यात नहीं हैं परन्तु अनन्त हैं और इसके द्वारा जो ईश्वर सर्वज्ञ परमात्मा एक ही है, ऐसा मानते हैं, उनका प्रतिक्षेप हो जाता है।

जो मुक्तात्मा को एक ही, अद्वैत माने तो अन्य संसारी जीवों के द्वारा मुक्ति प्राप्ति के लिए किया जाता हुआ योग का सेवन निरर्थक होने का प्रसंग आ जायेगा। कारण कि ईश्वर एक होने से दूसरे जीव को मुक्ति असंभावित होगी। दूसरे जीव को मोक्ष गमन का अवसर ही प्राप्त नहीं होगा, जिससे योग सेवन भी नहीं करेंगे और धीरे-धीरे योग मार्ग ही विलीन हो जायेगा, जो कि यथार्थ नहीं है।³⁴³

साथ ही उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि निश्चयनय का यह लक्षण तभी सार्थक सिद्ध होता है जबकि ये तीनों रत्नत्रयी आत्मा से जुड़ें। जब ये तीनों तत्त्व आत्मा से जुड़ते हैं, तभी कर्मों का क्षय होता है। कर्मों का क्षय होते ही आत्मा मोक्षमार्ग का अधिकारी बन जाती है।

व्यवहारनय से योग का लक्षण

आगमों में निश्चय नय को जितना महत्त्व दिया है, उतना ही महत्त्व व्यवहार-नय को भी दिया है।

उपाध्याय यशोविजय ने योगविंशिका में निश्चय एवं व्यवहार की बात बताते हुए कहा है कि नैश्चयिक दृष्टि से स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन योग—इस प्रकार पांच प्रकार का योग उन्हें सिद्ध होता है, जो चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से, आंशिक रूप से या सम्पूर्ण रूप से चारित्र सम्पन्न होते हैं। जो वैसे नहीं होते उनमें यह केवल बीज मात्र रहता है, सिद्ध नहीं होता। व्यावहारिक दृष्टि से विद्वानों ने बीज मात्र को योग कहा है।³⁴⁴ आचार्य हरिभद्र सूरि ने गुरुविनयादि को भी योग के अन्तर्गत समाविष्ट किया है, क्योंकि उन्होंने इस सत्य को उजागर किया है कि यदि निश्चय नय से योग को प्राप्त करना हो, लोकोत्तर कोटि के योग को पाना हो तो लौकिक व्यवहार को भी अपनाना होगा। अतः उन्होंने योगशतक में व्यवहारनय का उल्लेख इस प्रकार किया है—

व्यवहारओ उ एसो, विन्नेओ एयकारणाणं चि।

जो संबंघो सो विय, कारण कज्जोवयाराओ।।

गुरु विणओ सूस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।

तह चेवाणुठाणं विहि—पहिसेहेसु जहसतिं।।³⁴⁵

इस रत्नत्रयी के कारणों के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध है वह भी कारण से कार्य का उपचार कहने से व्यवहारनय मत में योग कहलाता है।

जो योग फल प्राप्ति के प्रति सामान्यता से योग्यता धारण करता है, ऐसा जो प्रस्तुत योग, व्यवहारनय से योग कहलाता है। जिस प्रकार प्रत्येक धान के कण में अंकुरोत्पादन की योग्यता सामान्य रूप से होती है परन्तु प्रत्येक कण में से अनन्तर या निश्चय में अंकुरें उत्पन्न हो हीं, ऐसा नियम नहीं है। कारण कि उनका चूर्ण करके भोजन भी बनाया जाता है। परन्तु योग्यता मात्र से कारण कार्योत्पत्ति का कारण समझकर व्यवहार होता है, उसी प्रकार गुरु विनयादि गुण भी योग की उत्पत्ति की योग्यता धारण करने से व्यवहार नय से योग कहलाते हैं।

रत्नत्रयी तो आत्मा का वास्तविक गुण है। इनका तो आत्मा के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। उसी से उन गुणों के साथ आत्मा का जो संबंध है, वह तो योग कहलाता ही है, कारण कि वे मुक्ति के प्रधान कारण हैं। परन्तु रत्नत्रयी के कारणभूत ऐसे गुरु विनय, शुश्रूषा आदि को भी कहा है, वह सभी नयों के अभिप्राय को स्वीकार करके कहा है। अर्थात् निश्चयनय से जैसे कार्य को कार्य कहते हैं, वैसे ही व्यवहारनय से कारण को भी कारण में कार्य का उपचार करके कहा जाता है। उसी में व्यवहारनय से गुरु विनयादि रूप धर्मानुष्ठान भी रत्नत्रय के कारण होने से योग कहलाते हैं।

जिस प्रकार रत्नत्रयी का जो संबंध है, वह निश्चयनय से योग कहलाता है, उसी प्रकार रत्नत्रयी के कारणों के साथ जो संबंध है, वह भी व्यवहारनय से योग कहलाता है।

व्यवहारनय से कारण में कार्य का उपचार करके जो योग कहा है, वे कारण दो प्रकार के हैं—
1. अनन्तर, 2. परस्पर। भिन्न-भिन्न कारण होने से दोनों कारणों को योग कहा गया है।

व्यवहार योग का स्वरूप इस प्रकार है—धर्मशास्त्रों में कथितविधि, गुरु का विनय, परिचर्या करना, यथाशक्ति विधि-निषेधों का पालन करना, गुरुदेवों का विनय करना, धर्मशास्त्र सुनने की अतिशय उत्कण्ठा होना, शास्त्रों का ज्ञानाभ्यास स्थानशुद्धि, शरीरशुद्धि, मनशुद्धि, वस्त्रशुद्धि पूर्वक करना।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगशतक की वृत्ति में यहाँ तक कह दिया कि—

अविधि, प्रत्यवाय हेतुत्वात् अकृतोऽविधिकृत योगादवदम् असचिकिन्सोदाहरणादिति-भावनीयम्।²⁶

अविधि से किया गया योग का सेवन अनर्थ का कारण बनता है। अविधि से किये गये योग के सेवन से तो नहीं किये गये योग का सेवन श्रेष्ठ है। प्रतिक्रिया लाए, वैसी विपरीत चिकित्सा करने से तो चिकित्सा न करनी अच्छी है। अर्थात् जिस औषधि से विपरीत परिणाम आये, उससे तो औषधी न लेना अच्छा है। उसी प्रकार अविधि से योग का सेवन करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। परन्तु उससे विपरीत अन्य का पराभव स्वर्ग यशादि की इच्छा होने से संसार बढ़ता है।

उन्होंने यह बात विधि-निरपेक्ष जीवों के लिए की है कि ये अविधि से योग का सेवन करके गर्व धारण करते हैं, प्रायश्चित्त आदि का सेवन भी नहीं करते, अविधिमार्ग को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसे जीवों के लिए अविधिकृत योग सेवन से योगसेवन नहीं करना ही अच्छा है, लेकिन विधि सापेक्ष वाले जीवों के लिए यह बात नहीं है, क्योंकि उनके संधयणबल, रोगावस्था आदि के कारण अविधि हो ही जाती है तो उनको अत्यन्त दुःख होता है। प्रायश्चित्त आदि भी ग्रहण करते हैं, अतः उन जीवों के लिए तो नहीं करने से तो अविधि से भी करना अच्छा है।

इस कथन के द्वारा योगमार्ग के साधक आत्माओं को योग का अनुष्ठान विधिपूर्वक करने का आग्रह सूचित किया है, साथ में ही व्यवहार योग को विशेष महत्त्व दिया है और कहा है कि कालक्रम

से व्यवहारयोग से प्रकृष्ट स्वरूप ऐसे सम्यग्ज्ञानादि गुणों की निश्चय प्राप्ति होती है, क्योंकि सेवा आदि व्यवहारयोग का पुनः-पुनः आसेवन करने से भविष्य में यह व्यवहारयोग निश्चययोग की प्राप्ति को अबन्ध्य कारण होने से निश्चय रूप से सिद्धि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार व्यवहार योग के संस्कार एक बार जो बीज रूप में आत्मा में स्थिर बन जाते हैं तो उत्तरोत्तर भवों में अनुबन्धरूप बनने के कारण भवोभव में चारों तरफ से अत्यन्त गाढ़ बनने से मार्गानुसारी और परमात्मा की आज्ञा का अनुसरण करने से विशुद्ध बना हुआ ऐसा यह धर्मानुष्ठान गाढ़ अनुबन्ध वाला बनता है। अन्त में निश्चित निश्चययोग की प्राप्ति होती है। इसी बात का सन्दर्भ उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय³⁴⁷ में किया है।

योग के अधिकारी

योगबिन्दु के अनुसार योगाधिकारी साधक की दो कोटियाँ हैं—अचरमावर्ती तथा चरमावर्ती। अचरमावर्ती जीव पर मोहादि भावों का दबाव रहता है, जिसके फलस्वरूप उसकी प्रवृत्ति पर घोर सांसारिक विवेकरहित एवं अध्यात्म—भावनादि क्रियाकर्मों से विमुख होती है।³⁴⁸ सांसारिक पदार्थों में लोभ-मोह के कारण ही जीव को भवाभिनन्दी कहा गया है। यद्यपि अचरमावर्ती अथवा भवाभिनन्दी जीव धार्मिक व्रत-नियमों का अनुष्ठान भी करता है, लेकिन यह सब श्रद्धाविहीन होता है। सधर्म एवं लौकिक कार्य भी वह कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की कामना से करता है। इस दृष्टि से उसे लोकपकितकृतादर भी कहा गया है।³⁴⁹

चरमावर्ती में चरम और आवर्त दो शब्द हैं। चरम का अर्थ है अन्तिम और आवर्त का अर्थ है पुद्गलावर्त। अतः इस आवर्त में स्थित जीव चरमावर्ती कहलाता है। इसमें जीव की धार्मिक, यौगिक अथवा आध्यात्मिक जागृति होती है अर्थात् योगदृष्टि का प्रादुर्भाव यहीं से होता है।³⁵⁰

उपाध्याय यशोविजय ने द्वात्रिंशिका में बताया है कि—चरमावर्ती जीव स्वभाव से मृदु, शुद्ध तथा निर्मल होते हैं।³⁵¹

चरमावर्त में आया हुआ प्राणी मुक्ति के निकट होता है। उसने बहुत से पुद्गल परावर्तों का उल्लंघन कर दिया है। उसका एक बिन्दु स्वरूप मात्र एक आवर्त शेष है, जैसे कि समुद्र में एक बिन्दु जल अवशिष्ट रहे।³⁵²

उपाध्याय यशोविजय ने कहा है कि चरमावर्तकाल में जीव सम्पूर्ण आन्तरिक भावों से परिशुद्ध होकर जिन क्रियाओं का सम्पादन करता है, उन क्रियाओं के साधनों को योग कहा गया है।³⁵³

लेकिन प्रश्न होता है कि इस योगमार्ग के अधिकारी कौन? क्योंकि योग्य जीव ही योग का अधि करी बन सकता है, योग्यता के बिना कार्य करना संभव नहीं है तथा योग्यता के साथ ही योग्य सामग्री की अनुकूलता भी आवश्यक है। जैसे हम व्यवहार में देखते हैं कि मूंग में पकने की योग्यता होगी तो ही अनुकूल अग्नि, पानी आदि सामग्री मिलने पर पकते हैं। करडु मूंग में पकने की योग्यता नहीं होने के कारण अनुकूल सामग्री मिलने पर भी नहीं पकते हैं। अर्थात् योग्यता एवं अनुकूल सामग्री दोनों का मिलन होना आवश्यक है। उसी प्रकार उपाध्याय यशोविजय योगमार्ग के ज्ञाता थे।³⁵⁴ उन्होंने योगमार्ग में उन्हीं जीवों को ग्रहण किया है, जो योग्य हों, अतः योगविंशिका की टीका में उन्होंने यथार्थ जैन जीवन के चार क्रम विकास विभाग बताये हैं। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ

- और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। जैनत्व जाति से, अनुवंश से या किसी प्रकृति विशेष से नहीं माना गया है परन्तु वह तो आध्यात्मिक भूमिका पर निर्भर है। जब किसी व्यक्ति की दृष्टि मोक्षाभिमुख होती है तब वह जैनत्व की प्रथम भूमिका है। इसका पारिभाषिक नाम अपुनर्बन्धक है। मोक्ष के प्रति सहज श्रद्धा, रुचि का प्रगट होना एवं यथाशक्ति तत्त्वों की जानकारी होना—यह सम्यग्दृष्टि नाम की दूसरी भूमिका है। जब वह श्रद्धा, आस्था, रुचि एवं समझ आंशिक रूप से जीवन में उतरती है तब वह देशविरति नाम की तीसरी भूमिका प्रगट होती है। इसके आगे सम्पूर्ण रूप से चारित्र एवं त्याग की कला उत्तरोत्तर विकसित होने लगती है तब सर्वविरति नाम की चौथी भूमिका अर्थात् अन्तिम भूमिका आती है। इन भूमिका वाले आत्मा ही उत्तरोत्तर योग को प्राप्त करते हैं।

आत्मविकास की ओर अग्रसर होने के क्रम में चरमावर्ती जीव जिन-जिन स्थितियों से गुजरता है, उन स्थितियों की चार कोटियां हैं—1. अपुनर्बन्धक, 2. सम्यग्दृष्टि, 3. देशविरति एवं 4. सर्वविरति।³⁵⁵

1. प्रथम अधिकारी अपुनर्बन्धक

उपाध्याय यशोविजय सर्वप्रथम जिसने सच्ची भूमिका का स्पर्श नहीं किया और केवल उस ओर अभिमुख बने हुए आत्मा को योग का अधिकारी बताते हुए कहते हैं कि वह जीव जो अनादिकाल से तीव्र राग-द्वेष-मोह आदि के परिणाम होने से कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधता था। लेकिन अब मोह का अंश अल्प क्षीण हो जाने के कारण तथा कर्म प्रकृतियों का आधिक्य कम होने के कारण, चरमावर्तकाल में भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधने के कारण अपुनर्बन्धक कहलाता है।³⁵⁶

योगशतक में अपुनर्बन्धक के लक्षण बताते हुए कहा है कि—

1. यह जीव तीव्र भाव से हिंसादि पापों को नहीं करता है।
2. संसार की समस्त वस्तुएं स्वजन-परिजन-धन-माल-मिल्कत आदि को न तो बहुमान देता है और न उन वस्तुओं की इच्छा करता है।
3. सभी स्थानों में उचित आचरण करता है, धार्मिक कार्यों में अपनी शक्ति को छुपाता नहीं है और व्यावहारिक में धर्म या धर्मों की निन्दा हो, वैसा आचरण नहीं करता है।³⁵⁷

अपुनर्बन्धक अवस्था से निम्न कक्षा वाले सकृदबन्ध, द्विर्बन्धक और चरमावर्ती जीव भी योग के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि सकृद बंधादि त्रिविध जीवों में योग्यता अत्यन्त अल्प होने से अधिकारी नहीं हैं।

योगदृष्टि समुच्चय में कुलयोग और प्रवृत्तचक्रयोगी महात्माओं को ही इस योग के अधिकारी कहे हैं, गोत्रयोगी और निष्पन्न योगी को नहीं।³⁵⁸

उपाध्याय यशोविजय ने तो यहाँ तक कह दिया है कि योग के ग्रन्थ पढ़ने के भी योग्य जीव ही अधिकारी होते हैं। अयोग्य आत्माओं को तो पढ़ने की भी आज्ञा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि उल्टा अनर्थ हो जाता है। उन आत्माओं का शास्त्र भी उपकार नहीं कर सकते हैं।³⁵⁹

2. सम्यग्दृष्टि

योग का दूसरा अधिकारी सम्यग्दृष्टि आत्मा है। यह आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि करते हुए ग्रंथिभेद करके औपशमिक आदि सम्यक्त्व प्रगट करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को जिनोक्त तत्त्वों पर श्रद्धा होती है। दुःखी जीवों को द्रव्य से और भाव से दुःख होते हैं, उनको दूर करने की इच्छा होती है। संसार की निर्गुणता जानकर विरक्त बनता है। मोक्ष की अभिलाषा और क्रोध तथा विषयतृष्णा का शमन करता है।³⁶⁰ इन पांच गुणों का आविर्भाव होने से आत्मा का चित्त मोक्षमार्ग के चिन्तन में रहता है। फिर चाहे उसका शरीर संसार में रहे, लेकिन उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ भाव से योगरूप होती है।³⁶¹

3. देशविरति

योगमार्ग का तीसरा अधिकारी चरित्रवंत आत्मा है। यह आत्मा—1. मार्गानुसारी, 2. श्रद्धावान्, 3. धर्मोपदेश के योग्य, 4. क्रियातत्पर, 5. गुणानुरागी, 6. शक्य में प्रयत्नशील होता है।³⁶²

ये लक्षण देशविरति और सर्वविरति के हैं। यद्यपि सम्यग् दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् उसे 9 पल्योपम काल बीत जाने के बाद चारित्र मोहनीयादि कर्म का क्षयोपशम होता है तब देशविरति धर्म जीव प्राप्त करता है और संख्यात सागरोपम जाने के बाद सर्वविरति चारित्र को प्राप्त करता है।³⁶³

अन्य दर्शनकारों ने भी कहा है कि आत्मा ने जो-जो आश्रय कार्य किये हों, परन्तु जिस कार्य के आगे-पीछे समाधिरूप फल की प्राप्ति होती हो तो ये साश्रवकार्य भी समाधि कहलाते हैं। अन्य दर्शन जिसे समाधि कहते हैं, उसे ही जैनदर्शन भावयोग कहते हैं।³⁶⁴

4. सर्वविरतिवान

योग का चतुर्थ अधिकारी सर्वविरतिवान आत्मा है। चारित्रवान आत्मा के जिनेश्वर की आज्ञा पालन की परिणति भिन्न-भिन्न होने से सामायिक की शुद्धि भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः चारित्रवान जीव अनेक प्रकार के हैं, लेकिन ये जीव अन्त में यावत् क्षायिक वीतरागी होते हैं।

इस प्रकार सामान्य रूप से चारों प्रकार के आत्माओं को मोक्ष के अधिकारी बताये हैं। लेकिन योगविशिका टीका में उपाध्याय यशोविजय³⁶⁵ ने स्थानादि पांच योगों के अधिकारी देशविरति और सर्वविरति वाले को ही स्वीकार करते हैं तथा अपुनर्बन्धकादि में तो योग का बीजमात्र ही मानते हैं। इस प्रकार इन सब अधिकारियों के विषय में जब चिन्तन करते हैं तब यह प्रतीत होता है कि उपाध्याय यशोविजय तेमज हरिभद्रसूरि ने योग के अधिकारियों की अधिकारिता उनके अनुरूप ही बताई है, साथ ही जो योग के अनधिकारी हैं, उनका भी स्पष्ट कथन किया है, साथ में सकृदबन्धक आदि अनधिकारियों के लिए यह भी कहा कि यद्यपि सकृदबन्धक, द्विवर्धक और चरमावर्ती जीव अपुनर्बन्ध कायस्थ की पूर्वभूमिका उत्तरोत्तर नीचे-नीचे होने के कारण परम्परा से वे योगदशा के अभिमुख हैं और क्रमशः वृद्धि होने पर योगदशा प्राप्त करने के अधिकारी हैं। उसी से अन्य शास्त्रों में उनको भी अधिकारी कहे हैं, तथापि यह योग्यता अल्प होने से योग-प्रकरण में इन अपुनर्बन्धकादि चतुर्विध जीवों से अन्य सकृदबन्धकादि त्रिविध जीवों को योग के अधिकारी नहीं कहे हैं। जिस प्रकार अल्पधर्म से मनुष्य धनवान नहीं कहलाता, अल्परूप से रूपवान् नहीं कहलाता, अल्पज्ञान से ज्ञानवान् नहीं कहलाता, उसी प्रकार सकृदबन्धकादि जीवों में योग की अल्पता होने से उनको अधिकारी नहीं कहे।³⁶⁶

योग के भेद-प्रभेद

आत्मा प्रारम्भ में अनेक क्लेश एवं कर्म आवरण से युक्त होती है। नदीघोल के न्याय से वह धीरे-धीरे अपने विकासक्रम में अग्रसर बनती है। उसमें प्रत्येक आत्मा के परिणामों में भिन्नता होती है,

जिसमें योग के भी भेद-प्रभेद शास्त्रकारों ने किये। कुछ भेद में आत्मा के योग परिणाम अल्प होते हैं तो कुछ भेद में उत्कृष्ट भी होते हैं। इस प्रकार उपाध्याय यशोविजय एवं आचार्य हरिभद्र ने पूर्वाचार्यों का अनुकरण एवं अपने अनुभव बल पर अपने ही ग्रंथों में भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है तथा अन्य दर्शनकारों ने जो योग के भेद माने हैं, वे भी इनके द्वारा प्ररूपित भेदों में समाविष्ट हो जाते हैं। उनकी माध्यस्थवृत्ति ने अन्य दर्शन के योग को भी अलग नहीं रखा है, इतना अवश्य हो सकता है कि नाम में भेदता आ सकती है, लेकिन पारमार्थिक भिन्नता नहीं है।

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानयोग एवं क्रियायोग दोनों को महत्त्व प्रदान किया है। ज्ञानयोग और क्रियायोग दोनों का जब समन्वय होता है तब आत्मा अपने गन्तव्य स्थान में पहुंचती है। योगविशिका में सर्वप्रथम स्थानादि पांच भेद बताकर उनको दो भागों में विभक्त किये हैं—

ठाणुनत्थालंबणनहिओ तंतम्भि पंचहा एसो ।

दुगमित्थ कम्मजोगो तहा तियं नाणजीगो ।³⁶⁷

स्थान, उर्ण, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन—यह पाँच प्रकार का योग शास्त्रों में कहा है। प्रथम दो प्रकार का योग क्रियायोग है तथा पीछे के तीनों योग ज्ञानयोग हैं।

इसी बात की पुष्टि करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने योगविशिका टीका में बताया है कि—

स्थानादिगतौ धर्मव्यापारो विशेषेण योग इत्युक्तम्, तत्र के ते स्थानादयः?

कतिभेदं च तत्र योगत्वम्? इत्याह ।³⁶⁸

स्थानयोग—जिसके द्वारा स्थिर बना जाए, ऐसा आसन विशेष स्थानयोग कहलाता है, यथा—कायोत्सर्ग, पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन, विरासन आदि।

उर्णयोग—धर्मक्रिया में उच्चार्यमाण सूत्रों के शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना, यद्यपि यह वाचिक क्रिया है, फिर भी मोक्षानुकुत्पाल परिणामजनक होने से योग कहलाती है।

अर्थयोग—धर्मक्रिया में उच्चार्यमाण सूत्रों के वाच्य अर्थ को जानने के लिए आत्मा के परिणाम, वह अर्थयोग कहलाता है।

आलंबन योग—प्रतिमा विषयक ध्यान! योग को प्रतिमा आदि के आलंबन में स्थिर करना।

निरालंबन योग—बाह्यालंबन बिना ज्ञान मात्र में ही लीन हो जाना।

इन पाँच योगों में से प्रथम के दो योग क्रियात्मक होने से कर्मयोग है और पश्चात् के तीन चिन्तनात्मक होने से ज्ञानयोग है।

स्थानादि पांच योगों में योग का लक्षण आत्मा को मोक्ष के साथ गुंजित करे, वह योग। यह लक्षण घटित होने से निरूपचरित अर्थात् वास्तविक योग है। परन्तु महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोध ही मोक्ष का आसन्न कारण माना है। उससे चित्तवृत्ति निरोध को है, उसी से स्थानादि पांचों योग चित्तवृत्तिनिरोधात्मक—ऐसे मुख्य योग के कारण बनते हैं, परन्तु अनन्तरूप से मोक्ष का कारण नहीं है। षोडशकजी की टीका में भी यम, नियम, चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग के अंग होने से अंग ने अंगी का उपचार करके योग कहा है।

जैनदर्शनकार के मान्य ऐसे योग के लक्षण को ध्यान में रखा जाए तो चित्तवृत्तिनिरोध और स्थानादि—पांचों योग उभय निरूपचरित है।³⁶⁹

मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के तारतम्य से स्थानादि योगों के असंख्यभेद होते हैं। फिर भी सभी को ध्यान में आ सके, ऐसी स्थूल योगों से परिणामों की तरतमता के आधार से 14 गुणस्थान के समान योगशास्त्र में बताई हुई रीति से 1. इच्छा, 2. प्रवृत्ति, 3. स्थिरता, 4. सिद्धि—ये चार भेद किये हैं।

इच्छा योग—स्थानादि योग से युक्त ऐसे योगी-महात्माओं की कथा करने और सुनने में अतिशय प्रीति वाली और दिन-प्रतिदिन अधिक उल्लास से विशेष परिणाम को बढ़ाने वाली ऐसी भावना इच्छायोग कहलाती है।

प्रवृत्ति योग—सर्वत्र उपशम भावपूर्वक स्थानादि में योग का सेवन, वह प्रवृत्ति योग कहलाता है।

स्थिरता—स्थानादि में योग बाधक विघ्न उसकी चिंतारहित जो पालन करे वह स्थिरता योग कहलाता है।

सिद्धि—उस स्थानादि योगों का स्वयं को जो फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार का फल दूसरे में भी प्राप्त बन सके, ऐसा सिद्ध बना हुआ अनुष्ठान सिद्धियोग कहलाता है।³⁷⁰

उपरोक्त भावों को प्रस्तुत करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार के प्रबंध तीसरे द्वेष श्लोक में इस प्रकार बताया है—

इच्छा तदवत्कथा प्रीतियुक्ताऽविपरिणाभिनी ।

प्रवृत्तिः पालनं सम्यक् सर्वत्रोपशमान्वितम् ॥

सत्क्षयोपशमोत्कर्षा दत्तिचारादिचिन्तया ।

रहितं तु स्थिरं सिद्धि पदेषामर्थसाधकम् ॥³⁷¹

ज्ञानसार³⁷² में भी उपाध्याय यशोविजय ने ऐसा ही उल्लेख किया है। इस प्रकार स्थानादि पांचों योग इच्छादि चार-चार प्रकार के होते हैं अर्थात् प्रत्येक के चार-चार भेद होने से 20 भेद हुए।

योग के 80 भेदों में कुछ मतभेद है, जैसे कि योगविशिका के मूलः 8वीं गाथा की टीका में—

तदेव हेतुभेदानुभावभेदेन चेच्छादिभेदविवेचनं कृतं।³⁷³

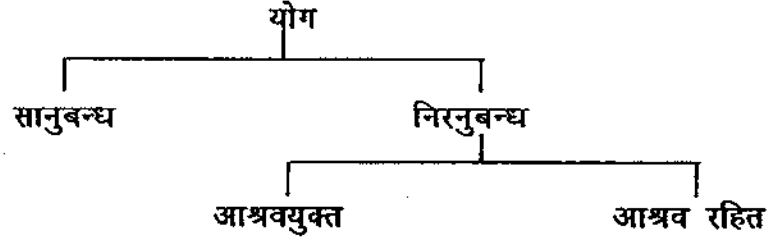
जो पंक्ति है, यह देखते हुए ऐसा ज्ञात होता है कि श्रद्धा-प्रीति-धृति-धारणा स्वरूप पूर्वतरवर्ती कारणभेद और अनुकंपा निर्वेद संवेग शमत्व स्वरूप पश्चादवर्ती कारणभेद के साथ स्थानादि पांच योगों का गुणाकार कर अशीति भेद 80 होते हैं, ऐसा अर्थ होता है।

कुछ गीतार्थ महामुनि इसी ग्रंथ की 18वीं गाथा में आने वाले प्रीति, भक्ति, वचन और असंग—इस प्रकार चार अनुष्ठान इच्छादि योग वाले होने से स्थानादि पांच योगों को इच्छादि चार से और उनको प्रीति आदि से गुणाकार करने पर 80 भेद होते हैं। योग वाला अनुष्ठान का विषय होने से यह अर्थ अधिक युक्तिसंगत लगता है। बीच में प्रासंगिक विधि-अविधि की चर्चा होने से प्रीति आदि अनुष्ठान का वर्णन दूरवर्ती बना है।³⁷⁴ अध्यात्मादि योग भी चारित्रवान् आत्मा को ही प्राप्त होते हैं। अतः स्थानादि योगों का आध्यात्मिक योगों के साथ संबंध है तथा अध्यात्म योग का स्थानादि योग में अन्तर्भाव होता है। वह इस प्रकार है—

1. देवसेवा, पूजा, जप, तत्त्वचिंतन स्वरूप भेद वाला अध्यात्म योग का समावेश अनुक्रम से स्थान, उर्ण और अर्थयोग में होता है।

2. भावना योग भी-स्थान, उर्ण और अर्थयोग में समाविष्ट होता है।
3. प्रशस्त एक अर्थ विषयक चित्त की स्थिरता वह आध्यान कहा जाता है।
4. अविधा के द्वारा इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में जो कल्पना जीवों को होती है, उस कल्पना को सम्यग्ज्ञान के बल से दूर करके समभाव की जो वृत्ति, वह समतायोग है।
5. अन्य द्रव्य के संयोग से उत्पन्न मानसिक और कायिक वृत्तियों का नाश, वह वृत्तिसंक्षय है। इन दोनों का निरालम्बन योग में समावेश किया है।³⁷⁵

योगबिन्दु³⁷⁶ में भी इन पांच योगों का वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरि ने किया है। योगशास्त्र में विविध प्रकार से योग के दो-दो भेद बताये हैं—



षोडशक और ज्ञानसार में योग के दो भेद बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—

सालम्बनो निरालम्बनश्च, योग पदो द्विधा रोयः।

जिनरूपध्यानं खल्वाद्यस्ततत्वगस्तत्वपरः।।³⁷⁷

परमयोग सालम्बन और निरालम्बन दो प्रकार का है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगविशिका में भी ये दो भेद किये हैं—

आलम्बण पि एयं रुक्मरुक्वी इत्य पदमु ति।

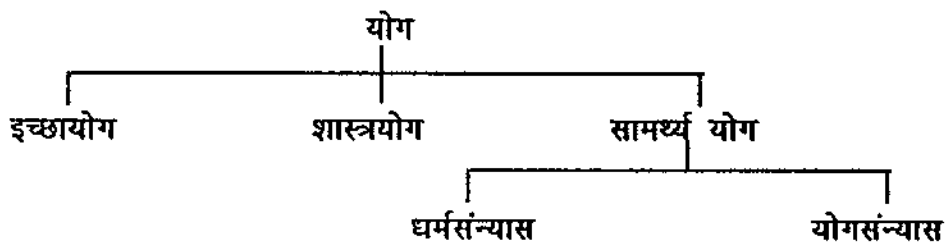
तगुण पदिणइरुवो सुहुमो अणालंबणो नाम।।³⁷⁸

इस योग संबंधी प्रकरण में समवसरणस्थ जिनप्रतिमास्वरूप रूपी और सिद्ध परमात्मा स्वरूप अरूपी—दो प्रकार का आलम्बन है। वहाँ सिद्ध परमात्मा के गुण जो केवलज्ञानादि हैं, उसके साथ एकाकारता रूप जो परिणति विशेष, वह सूक्ष्म अनालम्बन योग है।

योगबिन्दु में संप्रज्ञातयोग और असंप्रज्ञात योग दो प्रकार के योग बताये हैं।³⁷⁹

उपाध्याय यशोविजय ने योगविशिका की टीका³⁸⁰ में इसी बात की पुष्टि की है कि जैनदर्शन की जो क्षपकश्रेणी कहलाती है, उसे ही अन्य दर्शनकार संप्रज्ञात समाधि कहते हैं तथा क्षपकश्रेणी के पश्चात् जो केवलज्ञान प्राप्त होता है, उसे परदर्शनकार असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इन दोनों में नामभेद है, लेकिन अर्थ बिल्कुल अघटित नहीं है।

योगदृष्टि समुच्चय में तीन प्रकार के योग बताये हैं³⁸¹—



जैन योग साधना शारीरिक कष्टों अर्थात् अनेक प्रकार के तपों पर भी जोर देती है, क्योंकि उनके द्वारा इन्द्रियों के विषयों को स्थिर किया जाता है। इन्द्रियों को स्थिर करने पर मन एकाग्र होकर अनेकविध धर्म-व्यापारों द्वारा चित्त-शुद्धि, समताभाव आदि गुणों को प्राप्त करता है, जिनसे कि साधक क्रमशः आत्मोन्नति करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हुए मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

योगशुद्धि के कारण

योग को प्राप्त करने के लिए हमारे जीवन में सर्वप्रथम उनके कारणों को अर्थात् योगशुद्धि के कारणों एवं योगशुद्धि को भी जानना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक के अन्दर योगशुद्धि के कारणों को प्रस्तुत किये हैं। ये इस प्रकार हैं—

निष्पाप ऐसा गमन, आसन, शयन आदि के द्वारा काया की शुद्धि, विचारणा, निष्पाप ऐसे ही वचनों का उच्चारण करने के द्वारा वचनयोग की शुद्धि, विचारणा तथा निष्पाप ऐसे शुभ चिन्तनों से मन शुद्धि, विचारणा अर्थात् धर्म के अविरोधी या उत्तरोत्तर धर्मसाधक ऐसा शुभ चिन्तन यही सत्य योगशुद्धि का कारण है तथा भिन्न-भिन्न गुणस्थानकों की अपेक्षा से योगशुद्धि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टादि भेदों से भी होती है। जैसे कि जिस प्रकार अपना जीव देशविरतिधर बना हो तो उस गुणस्थानक के योग्य जघन्ययोग शुद्धि प्राप्त करता है, उसके पश्चात् मध्यम और उत्कृष्ट, पश्चात् सर्वविरतिवान् आत्मा होता है, वहाँ भी क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट योगशुद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार क्रमशः जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट योगशुद्धि को प्राप्त करना और इस प्रकार क्रमशः विकास होने पर उत्तरोत्तर गुणस्थान के समीपता की प्राप्ति होती है तथा आरोहण सरल और सफलतादायक बनता है।

अन्य दर्शनकार इन तीन प्रकार की योगशुद्धि को प्रकाशान्तर से बताते हैं। वह इस प्रकार है—

सामुद्रिक शास्त्र अथवा अंगशास्त्रों में वर्णित आकृति द्वारा देहशुद्धि जानना, प्रतिभासम्पन्नता, आकर्षकता आदि कायाशुद्धि के अन्तर्गत आती है। बाहर से दिखने वाली काया की प्रतिभा भी श्रोताओं को गुणवृद्धि और आकर्षण का कारण बनती है तथा वाणी भी गम्भीर, मधुर-अल्पाक्षर तथा आज्ञापक इत्यादि भिन्न-भिन्न अनेक भेदों से उस-उस योग में उचित ऐसी वागशुद्धि जानना तथा मैं समुद्र में तैरता हूँ, मैं नदी पार उतरता हूँ, इत्यादि हमेशा अथवा कथंचित् भिन्न-भिन्न उज्ज्वल स्वप्नों को निद्रा में देखने के द्वारा मन की शुद्धि जानना।

अन्य दर्शनकारों के मत को प्रस्तुत करके उपाध्याय यशोविजय अपने आशय को बताते हैं कि यह शुद्धि भी हमको मान्य है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि यह जो तत्रान्तरीय मान्य योगशुद्धि बाह्य है तथा अत्यावश्यक नहीं है जबकि जैन सम्मत योगशुद्धि अभ्यन्तर और जरूरी है एवं यदि उभय योग-शुद्धि हो तो सोने में सुगन्ध के समान स्वीकारने योग्य है।

इस प्रकार उस गुणस्थानक के योग की उचितता को स्वीकार करके योग की शुद्ध भूमिका समझनी चाहिए। बाह्य मन, वचन और काया संबंधी शुद्धि भी सुन्दर योगशुद्धि कहलाती है, जो स्वयं को, अन्य को प्राप्त और स्वीकार्य गुणस्थानक में स्थिरता और ऊर्ध्वारोहण कराने वाली है।

योगशुद्धि दो प्रकार की है—

1. 42 पुण्य प्रकृतियों के उदयजन्य,
2. मोहनीय कर्म के क्षयोपशम जन्य।

प्रथम की बाध है, दूसरी आभ्यन्तर है। वादियों को जीतने में, विशालसभा में, श्रोतावर्ग को प्रतिबोध करने में और बाल जीवों को धर्म में आकर्षित करने में शरीर की सुन्दरता, वाणी की मधुरता और मन के शुभ संकल्प अवश्य सहायक हैं। कारण है, निमित्त है, उसी से छेदसूत्रादि आगमों में जब जैनाचार्य वादियों के समक्ष वाद-विवाद करने राज्यसभा में उपस्थित होते हैं तब उनको सुन्दर, स्वच्छ और शुद्ध ऐसे श्वेत वस्त्र धारण करने का कहा परन्तु यह बाध शुद्धि आत्यंतिक जरूरी नहीं है, जबकि मोहनीय कर्म के क्षयोपशमजन्य है। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि अन्य दर्शन मान्य योगशुद्धि का भी निषेध नहीं करते हैं। परन्तु साध्वेव कहकर सम्मति देते हैं लेकिन उसकी प्रधानता बताने में वे दूर रहते हैं।³⁸²

योग में साधक एवं बाधक तत्त्व

योग के बाधक तत्त्व

प्रत्येक श्रेष्ठ, उत्तम, विशिष्ट कार्य में कुछ-न-कुछ विघ्न प्रायः आते ही रहते हैं। अतः नीतिकारों ने कहा है—“श्रेयासि बहु विघ्नानि” श्रेष्ठ कार्य बहुत विघ्न वाले होते हैं। आध्यात्मिक विकास श्रेणी में योग भी एक श्रेष्ठ कार्य है। अतः योगसिद्धि में भी अनेक प्रतिबंधक भावों का प्रादुर्भाव होता है, जिसे शास्त्रकार भगवंत बाधक तत्त्व कहते हैं। बाधक अर्थात् अंतराय विघ्न। विघ्न में कंटकविघ्न, ज्वरविघ्न और मोहविघ्न—ये तीनों आत्मा को लक्ष्य स्थान पर पहुंचाने में बाधक बनते हैं। जब योगी इन पर विजय प्राप्त करता है तब निश्चित श्रेणी को प्राप्त करता है। इनका वर्णन आशय शुद्धि में, योग में पांच आशयों में विघ्नजय नाम के आशय में विस्तार से किया जायेगा।

साथ में उपाध्याय यशोविजय ने इन बाधक तत्त्वों के साथ राग, द्वेष और मोह—आत्मा के इन तीन दोषों का भी उल्लेख किया है। मोहविघ्न जो आंतरिक विघ्न है, इसके अन्दर राग-द्वेष और मोह का भी समावेश हो सकता है। जिस प्रकार मोहविघ्न आत्मा को भ्रमित बना देता है, उसी प्रकार राग-द्वेष और मोह भी आत्मा के वैभाविक परिणाम हैं। ये आत्मा को दूषित बनाते हैं। ये दोष आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आच्छादित करते हैं। आत्मा को विभावदशा में ले जाते हैं।³⁸³

राग एक प्रकार की आसक्ति है। द्वेष अप्रीति का सूचक है तथा मोह अज्ञानमूलक है।³⁸⁴ इन तीनों के कारण आत्मा कर्मों के बंधन करती है और अनेक पीड़ाओं को प्राप्त करती है। ये भी आत्मा को गन्तव्य स्थान में पहुंचने में बाधक बनते हैं, क्योंकि रागादि से कर्म की परम्परा सतत चालू रहती है, जिससे भवभ्रमण भी अनवरत चलते रहते हैं। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन बाधक तत्त्वों को दूर करने के उनके प्रतिपक्षी साधक तत्त्वों की भी स्थापना की है।

योग के साधक तत्त्व

साधक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख यद्यपि प्राप्त नहीं होता है, फिर भी कंटकविघ्न आदि पर विजय प्राप्त करने के शुभ परिणाम एवं रागादि दोषों की प्रतिपक्ष भावनाओं का तत्त्व-चिन्तन करना साधक तत्त्वों के अन्तर्गत गिन सकते हैं।

प्रतिपक्ष भावना में साधक आत्मा संप्रेषण करता है और चिन्तन करता है। इन रागादि तीन दोषों में से मुझे अतिशय हत-प्रहत कौन करते हैं? उसकी गवेषणा करता है।

ये तीनों आत्मा के दोष हैं। इनका अपनयन करने के लिए स्वरूपचिन्तन, परिणामचिन्तन और विपाकदोषचिन्तन—इस प्रकार क्रमशः एक-एक दोष का तीन-तीन प्रकार से तत्त्वचिन्तन करना चाहिए।³⁸⁵

संसार में राग के अनेक साधन हैं। उसमें सर्वोच्च कक्षा का राग स्त्री है। साधक स्त्री संबंधी राग होने पर सम्यग्बुद्धि पूर्वक उस स्त्री के शरीर का स्वरूप चिंतन करता है कि यह शरीर कीचड-मांस-रुधिर-अस्थि तथा विष्टामय मात्र ही है। शारीरिक रोग और वृद्धत्व रोग के परिणाम हैं तथा नरकादि दुर्गतियों की प्राप्ति विपाक स्वरूप है।

इसी प्रकार धर्माजन सैकड़ों दुःखों से युक्त है। यह इसका स्वरूप है तथा अत्यन्त पुरुषार्थ से प्राप्त किया हो तो भी गमनपरिणाम वाला है तथा उसको प्राप्त करने में अर्जित पापों से कुगति के विपाक देने वाला है। जब द्वेषभाव आता है तब जिसके ऊपर द्वेष होता है, वह जीव और पुद्गल मेरे से भिन्न है तथा यह द्वेष अनवस्थित परिणति वाला है और परलोक में आत्मा को पतन की खाई में गिरा देने वाला है। मोह के विषय में भी सामान्य से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त वस्तु के स्वरूप को अनुभाव पूर्वक युक्तियों के साथ सम्यग् प्रकार से विचारना।³⁸⁶

राग-द्वेष तथा मोह—ये दोष आत्मा को अनादिकाल से सताते हैं। उसको दूर करने के लिए भावनाश्रुतपाठ, तीर्थश्रवण, आत्म-संप्रेक्षण—इन तीन उपायों को अपनाने से अवश्य रागादि दोष दूर होते हैं और परमात्मा की आज्ञानुसार तत्त्वचिंतन करने पर अवश्य तत्त्वबोध प्राप्त होता है और तत्त्वबोध से योगसिद्धि प्राप्त होती है। यह आत्म-संप्रेक्षण योग सिद्धि का कारण है। अतः विधिपूर्वक होना चाहिए तब ही अबन्ध्य फल की प्राप्ति होती है।³⁸⁷

योग की विधि

आत्म-संप्रेक्षण योग सिद्धि का कारण है। अतः इसे हम योग की विधि भी मान सकते हैं। उपाध या यशोविजय का कथन है कि सभी कार्य में विधि की अपेक्षा सर्वप्रथम होती है। सामान्य रूप से एक घट या पट बनाना हो तो भी विधिपूर्वक बनायेंगे तो घट या पट बनेगा, उसी प्रकार यह तो महान् कार्य है। अतः तत्त्वचिंतन में विधि अवश्य अपनानी चाहिए।

तत्त्वचिंतन से पहले सर्वप्रथम वीतराग परमात्मा बलवान है, अतः उनकी आज्ञा पालन और उनके प्रति हार्दिक बहुमान निर्बल को भी बलवान बनाता है।

एकान्त स्थान में चिन्तन करना, जिससे चिन्तन की धारा में व्याघात न हो।

सम्यग् उपयोगपूर्वक चिन्तन करना।

गुरुदेवों को प्रणाम करना, प्रणाम करने से अनुग्रह होता है। अनुग्रह से अधिकृत तत्त्वचिंतन की सिद्धि होती है।

पद्मासन आदि आसन लगाना। आसन विशेष से काया का निरोध होता है और योग सेवन करने वाले अन्य योगी-महात्माओं के प्रति बहुमान भाव होता है।

डांस, मच्छर आदि की अवगणना वैसा करने में वीर्योल्लास की वृद्धि तथा इष्टफल की प्राप्ति होती है।

एकाग्रचित होकर इन रागादि निमित्तों का तत्त्वचिंतन करना।

इन सात विधियों से युक्त किया गया तत्त्वचिंतन ही इष्टसिद्धि अर्थात् यथार्थ योगदशा की सिद्धि का प्रधानतर अंग है।

यह तत्त्वचिंतन ही असत् प्रवृत्तियों की निवृत्ति करने वाला, चित्त की स्थिरता करने वाला तथा उभय लोक का साधक है, ऐसा समयज्ञ पुरुष कहते हैं।³⁸⁸

उपरोक्त विधिपूर्वक तत्त्वचिंतन करते-करते जो तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रथम के दो ज्ञान—श्रुतज्ञान चिंतामयज्ञान का निरास करके भावनामय ज्ञान होता है। इस तत्त्वज्ञान से बड़ी से बड़ी उक्त तीन प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इस प्रकार उपाध्याय यशोविजय ने योग की विधि भी अत्यावश्यक समझकर उसका उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। पातंजल योग में इसके समकक्ष योग विधि या तत्त्वचिंतन का वर्णन नहीं मिलता।

योग की दृष्टियाँ

जीवन में समग्र कार्यकलापों का मूल आधार दृष्टि ही होती है। सत्त्व, रज और तम में से जिस ओर हमारी दृष्टि मुड़ जाती है, हमारा जीवन प्रवाह उसी ओर स्वतः बढ़ जाता है। जीवन में दृष्टि या दर्शन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। ये दोनों शब्द संस्कृत में 'दृश' धातु से बने हैं। दृश धातु प्रेक्षण के अर्थ में है। प्रेक्षण शब्द के आरम्भ में प्र उपसर्ग लगा हुआ है। प्रकर्षण ईक्षणम्—प्रेक्षणम्—प्रकृष्ट या उत्कृष्ट रूप में देखना प्रेक्षण है। देखते तो सभी हैं किन्तु देखने वालों में योग्यता की दृष्टि से भेद होता है। कुछ लोग बहुत ही स्थूल दृष्टि से देखते हैं। उनका देखना गहरा नहीं होता। ये पदार्थ के केवल बाहरी रूप को देखते हैं, किन्तु जिनकी दृष्टि तीक्ष्ण या पैनी होती है, वे वस्तु के स्वरूप का सूक्ष्म दर्शन करते हैं। प्रेक्षण वैसे ही सूक्ष्म दृष्टि का सूचक है।

मनुष्य की दृष्टि जैसी होगी, उसी के अनुरूप भाव होंगे। जैसे मार्ग में पड़ी हुई स्वर्ण और राशि पर एक द्रव्य लोभी की दृष्टि पड़ती है तो वह उसे अपने अधिकार में ले लेने को तत्पर होता है। एक त्यागी साधक की दृष्टि उस पर विशेष रूप से जाती ही नहीं। उस ओर वह उपेक्षित रहता है। एक संतोषी सद्-गृहस्थ उसे देखता है, तब उसके मन में आता है, बेचारे किसी मनुष्य का स्वर्ण गिर पड़ा, यदि उसे पहुंचाया जा सके तो कितना अच्छा हो।

एक ही पदार्थ पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की दृष्टियां भिन्न-भिन्न होती हैं। विकारयुक्त दृष्टि अशुभ या पाप-पुण्य कार्यों में जाती हैं। निर्विकार दृष्टि शुभात्मक या पुण्यात्मक कार्यों में जाती है। वही जब और निर्मलता पा लेती है, तब वह शुभ को भी पार कर जाती है और शुद्धत्व की भूमिका पा लेती है।

जैनशासन की परम्परा में मोक्ष तक की श्रेणियां बनाई हैं। इसमें मानव अत्यन्त निम्न, निकृष्ट श्रेणी से अत्यन्त उज्ज्वल स्वरूप तक अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है। इन्हीं चौदह विकासोन्मुख श्रेणियों को गुणस्थानक कहा है। योगदृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास श्रेणी की नूतन पद्धति ही प्रस्तुत की है। उन्होंने आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर आध्यात्मिक उत्क्रांति को आठ अवस्थाओं में विभाजित किया है, जिन्हें आठ दृष्टियां कहकर संबोधित किया है। ये आठ दृष्टियां उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की सङ्गाय³⁹⁹ में वर्णन किया है।

आत्मा के क्रमिक विकास—चौदह गुणस्थानों को ध्यान में रखकर आचार्य हरिभद्र ने योग की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। उनके अनुसार दृष्टि उसको कहते हैं, जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और इससे असत् प्रवृत्तियों का क्षय करके सत् प्रवृत्तियां प्राप्त हो। दृष्टि दो प्रकार की है—ओघदृष्टि और योगदृष्टि। सांसारिक भाव, सांसारिक सुख, सांसारिक पदार्थ तथा क्रियाकलाप में जो रची-बसी रहती है, वह ओघदृष्टि है। इसी प्रकार आत्मत्व, जीवन के सत्यस्वरूप तथा उपादेय विषयों को देखने की दृष्टि योगदृष्टि कही जाती है।³⁹⁹

योगदृष्टि के प्रकार को बताते हुए उपाध्याय यशोविजय ने योगावतार द्वात्रिंशिका में बताया है—

तृणगोमयकाष्ठा ग्निकण दीपप्रभोपमा ।

रत्नतारार्कचंद्राभाः क्रमेणेश्यादि सन्निमा ।।⁵⁹¹

इसी प्रकार आठ प्रकार की योग दृष्टियां उद्योत की दृष्टि से उत्तरोत्तर उत्तम होती हैं। यहाँ उद्योत की आभा के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के सन्दर्भ में चन्द्र का स्थान अन्तिम इसलिए माना गया है कि उसका प्रकाश योग्यता, हृदयता, शीतलता आदि की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

आठ दृष्टियों का क्रमशः वर्णन उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय में किया है, जैसे—

1. मित्रा, 2. तारा, 3. बला, 4. दीप्रा, 4. स्थिरा, 6. कोता, 7. प्रभा तथा 8. परा।

इन आठ दृष्टियों का जो सत्पुरुष अभ्यास करते हैं, यम-नियमादि योग के आठ अंग क्रमशः सिद्ध हो जाते हैं। खेद, उद्वेग आदि दोषों का परिहार हो जाता है तथा अद्वेष, जिज्ञासा आदि गुण हो जाते हैं।⁵⁹²

उपाध्याय यशोविजय के अनुसार इन आठ योग-दृष्टियों की आराधना एक ऐसी यात्रा है, जो संसार से मोक्ष की ओर जाती है। यात्रा में अनेक विघ्न होते हैं। पथिक थक जाता है। कभी-कभी निरुत्साह और बलहीन हो जाता है, किन्तु फिर वह आत्मबल का सहारा लेता हुआ आगे बढ़ता है। पहले ही चार दृष्टियों में ऐसी ही स्थिति रहती है। बाधाएँ आती हैं, साधक फिर उत्साहित होता है। आत्मबल का सहारा लेता हुआ इन चार दृष्टियों को लांघ जाता है और पांचवीं स्थिर दृष्टि को प्राप्त कर लेता है। फिर वह गिरता नहीं है। इस दृष्टि का स्थिर नाम इसी सत्य का सूचक है। उसकी गति सिद्ध मार्ग की ओर बढ़ती रहती है।

यात्रा करने वाला दिन में चलता है, रात में विश्राम करता है। यद्यपि वह विश्राम यात्रा में रुकावट तो है, किन्तु इससे यात्रा-क्रम टूटता नहीं है। इसी प्रकार साधक की यात्रा तो चलती है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों में जिस कर्म का भोग शेष रह जाता है, उसे पूर्ण करने हेतु उसका देवयोनि आदि में जन्म होता है। संचित कर्मों के विषयात्मक भोग को पूर्ण कर फिर वह मानव रूप में जन्म लेता है। साधना पथ का अवलम्बन कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर अपना लक्ष्य पूरा करता है।

एक यात्री जब यात्रा पर जाता है तो साथ में पाथेय लेता है, खाद्य सामग्री लेता है, जो यात्रा में उसके उपयोग में आती है। इसी प्रकार आठ दृष्टियों के माध्यम से साधना की यात्रा पर यह सब पाथेय के तुल्य है, जो उसे आगे बढ़ने में बल देता है, परिश्रोत नहीं होने देता। अब आगे आठ दृष्टियों का विवेचन किया जा रहा है।

1. मित्रा दृष्टि

समस्त जगत् के प्रति मैत्री भाव के कारण वह मित्रादृष्टि कही गई है। इसके प्राप्त हो जाने पर दर्शन सत् श्रद्धामूलक बोध होता तो है, किन्तु वह भेद होता है। साधक इस दृष्टि में योग के प्रथम भेद यम को, जो इच्छा आदि रूप में विभाजित है, प्राप्त कर लेता है। देवकार्य, गुरुकार्य तथा धर्मकार्य में उसे खेद तथा परिश्रोति का अनुभव नहीं होता। वह अखिन्न होता हुआ यह सब करता है। उसका खेद नामक आशय दोष मिट जाता है जो देव कार्य आदि नहीं करते, उसके मन में उसके प्रति द्वेषभाव नहीं होता।

उपाध्याय यशोविजय ने मित्राद्वात्रिंशिका³⁹⁵ में बताया है कि इस दृष्टि में दर्शन की मंदता, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा और देवपूजादि धार्मिक अनुष्ठानों में अखेदता होती है। यद्यपि इस दृष्टि में साधक को ज्ञान तो प्राप्त होता है, तथापि उस ज्ञान से स्पष्ट तत्त्वबोध नहीं होता, क्योंकि मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना घना होता है कि वह दर्शन, ज्ञान पर आवरण डाल देता है। इसलिए साधक को तात्त्विक एवं पारमार्थिक ज्ञान का बोध नहीं हो पाता है। वह अल्पस्थितिक होती है। माध्यस्थादि भावनाओं का चिंतन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्रियों को जुटाते रहने के कारण इसे योगबीज भी कहा गया है।³⁹⁴

इस दृष्टि को उपमा देते हुए उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की सज्जाय में कहा है—

एह प्रसंग की थी मे कहयुं, प्रथम दृष्टि हवे कहीये रे।

जिहां मित्रा तिहां बोध जे, तृण अग्निश्यो लहीये रे।।

—वीर जिनेश्वर देराना³⁹⁵

इस दृष्टि की तुलना घास की अग्नि में अंगारों के प्रकाश से की जाती है अर्थात् इस दृष्टिकाल में ज्ञान-बोध होता है, वह तृणाग्नि समान होता है।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच यमों का प्रतिपादन किया है। पतंजलि योग के समान उपाध्याय यशोविजय ने भी यम के पाँच प्रकार का उल्लेख आठ दृष्टि की सज्जाय में किया है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता रूप पांच यम की प्राप्ति होती है। यहां से दया के बीज शुरू होते हैं।

मिथ्यादृष्टि में कौन-से तीन गुण की प्राप्ति होती है, वो दिखाते हुए उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—

व्रत पण यम इहां संपमे, खेर नहीं शुभ काजे रे।

द्वेष नहीं वली अवरशुं, एह गुण अंग विराजे रे।।

—वीर जिनेश्वर देराना।³⁹⁶

इस दृष्टि में पांच व्रतों रूप यम की प्राप्ति, खेद दोष का त्याग और अद्वेष गुण की प्राप्ति होती है। संक्षेप में इस दृष्टि में साधक आत्मा के विकास की इच्छा तो करता है, परन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों अर्थात् कर्मों के कारण वैसा कर नहीं पाता।

मिथ्यादृष्टि में आत्मगुणों में एक संस्कृति की दशा उत्पन्न होती है। अंतरविकास की दिशा में वह पहला उद्वेलन है। यद्यपि यहाँ प्रथम गुणस्थानक की स्थिति होती है, दृष्टि समरूक् नहीं हो पाती, किन्तु आत्म-जागरण की यात्रा का यहाँ से शुभारम्भ होता है।³⁹⁷

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक का गुणस्थानक ऐसा नाम जो प्रवर्तना है, वो दशा को प्राप्त जीवों को आश्रयी यथार्थता को प्राप्त करता है। यहाँ से आत्म-विकास की यात्रा शुरू होती है। अब यह जीव को मोक्षमार्ग का पथिक कह सकते हैं।

2. तारादृष्टि

मित्रा आदि दृष्टियां क्रमशः बोध ज्योति की उत्तरोत्तर स्पष्ट होती हुई स्थितियों के साथ जुड़ी हुई हैं। मित्रादृष्टि में बोध ज्योति के उद्भास का शुभारम्भ होता है। तारादृष्टि में बोध ज्योति मित्रादृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होती है।

इस दृष्टि में साधक मोक्ष की कारणभूत सामग्रियां अर्थात् योगबीज की पूर्णता तैयारी करके सम्यक्बोध प्राप्त करने में समर्थ होता है।

उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की संज्ञाय में तारा दृष्टि को उपमित करते हुए कहा है—
दर्शन तारा दृष्टिमां मन मोहन मेरे, गोमय अग्नि समान। मन....।

शौच संतोष ने तप भलु मन मोहन मेरे, सज्जाय ईश्वर ध्यान।। मन.....।।³⁹⁸

इस दृष्टि में बोधज्ञान कण्डे के अग्निकर्णा से की जाती है। उसमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरध्यान आदि पाँच नियम रूपी योगांग प्रवर्तमान हैं।

यह प्रकाश अल्पवीर्य वाला और अचिरकाल स्थायी होता है। पटुस्मृति के संस्कार नहीं होने से वंदनादि क्रियाएँ द्रव्य ही होती हैं। भावक्रिया हो, वैसे संस्कार दृढ़ नहीं बनते हैं, हृदय में वैराग्य होता है पर गांठ अनुबंध वाला नहीं होने से निमित्त मिलते ही निस्तेज बन जाता है। बाह्य दृष्टि से धर्मानुष्ठान विधि सहित करता है, लेकिन विषय-कषाय की वासना का पूर ज्यादा होता है, उससे क्रियाकाल में यह उछलने लगता है। वासनाओं के प्रति उपादेय बुद्धि अभी दूर नहीं होती है।

इस दृष्टि में साधक को शौचादि नियमों का पालन करते हुए आत्महित का कार्य करने में उद्वेग नहीं होता और उसकी तात्त्विक जिज्ञासा जागृत होती है।³⁹⁹ इस अवस्था में मिथ्यात्व के कारण साधक अथवा योगी को कण्डे के अग्निकर्णों की तरह क्षणिक सत्य का बोध होता है।

पातंजल योगसूत्र में भी 1. शौच, 2. संतोष, 3. तप, 4. स्वाध्याय और 5. ईश्वरप्रणिधान—ये पांच नियम बताये हैं तथा इच्छादि रूप से चार-चार भेद किये हैं। इन्हीं नियमों के पांच प्रकारों का उल्लेख उपाध्याय यशोविजय ने भी आठ दृष्टि की संज्ञाय में किया है।⁴⁰⁰

यह नियमों का अंतर स्पष्ट करते हुए डॉ. भगवानदास कहते हैं कि यमों का जीवनभर पालन होता है तो नियमों का विशिष्ट कालखण्ड में ही पालन किया जाता है।⁴⁰¹

इस दृष्टि में साधक योगी एवं योगियों की कथाओं के प्रति अतिशय प्रेम रखता है। उनका हार्दिक बहुमानभाव, वैयावच्च, सेवाभक्ति करने के भाव जागते हैं। अनुचित आचरण का त्याग एवं उचित आचरण का सेवन, गुणवान महात्माओं के प्रति अधिक विनय, अपने गुणों की हीनता के दर्शन, संसार के दुःखमय त्रासमय लगना, उनसे छूटने की तीव्र इच्छा, शास्त्रों में ज्यादा है, मति अल्प है, ऐसा ज्ञान होना शिष्टों के वचनों को प्रमाणभूत मानकर प्रवृत्ति करना—ये सब तारादर्शन में स्थित जीव सदा मानता है।⁴⁰²

तात्पर्य यह है कि तारादृष्टि में साधक को अचानक अध्यात्म उद्बोध की कुछ विशद् झलक दिखाई तो देती है, परन्तु साधक का कोई पूर्व संस्कार नहीं छूट पाता है। इसलिए साधक के कार्यकलापों में द्रव्यात्मकता से अधिक विकास नहीं हो पाता है।

इस प्रकार इस दृष्टि में साधक योगलाभ प्राप्त करने की उत्कण्ठा, आकांक्षा रखते हुए भी अज्ञान के कारण अनुचित कार्यों में लगा रहता है। मतलब कि सत्यार्थ में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियाँ रहती हैं।

3. बलादृष्टि

इस अवस्था में ज्ञानबोध और भी दृढ़ होता है। जिसकी उपमा काष्ठ के अग्निकर्ण के प्रकाश से की है। यह दीर्घकाल तक स्थायी और तीव्र शक्ति वाला होता है। इसमें साधक तात्त्विक चर्चाओं

में तीव्र जिज्ञासा वाला होता है। उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टियों की सज्जाय में बलादृष्टि को परिभाषित करते हुए कहा है—

त्रीजी दृष्टि बला कही जी, काष्ठ अग्निसम बोध ।
क्षेप नहीं आसन सधेजी, श्रवण समीहा शोध ॥

—रे जिनजी, धन धन तुज उपदेश ॥⁴⁰³

यहाँ तीसरी दृष्टि का बोध काष्ठ के अग्नि समान होता है, उसके क्षेप दोष नहीं होता है। विश्रामपूर्ण आसन को प्राप्त करता है। तत्त्व सुनने की इच्छारूप गुण की प्राप्ति होती है।

इस दृष्टि में योगी सुखासन मुक्त होकर काष्ठाग्नि जैसा तेज एवं स्पष्ट दर्शन प्राप्त करता है। उसे तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा योग-साधना में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं होता।⁴⁰⁴

पतंजलि का तृतीय योगांग आसन है।⁴⁰⁵ हरिभद्रानुसार इस दृष्टि में स्वभाव से असत् तृष्णा समाप्त हो जाती है, जिससे सर्वत्र सुखपूर्वक आसन होता है।⁴⁰⁶ लेकिन उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि— आध्यात्मिक स्थिति के बिना शारीरिक आसन स्थितियों का कोई महत्त्व नहीं है। तन-मन स्थिरता ही सच्चा सुखासन है।⁴⁰⁷ वस्तुतः पतंजलि के शास्त्रों में बताये गए आसनों में आध्यात्मिक पात्रता दिखाई नहीं देती है। वह तो केवल शारीरिक पात्रता की अहमियत रखती है। इस विषम परिस्थिति से बचने के लिए कहा गया है कि अपने स्वभाव में स्थिर होने से शारीरिक पात्रता में भी स्थिरता आ जाती है।⁴⁰⁸ कहा है—

आप स्वभावमां रे अवधु, सदा मगन में रहना ।

जगत जीव है कर्माधीना, अचरीज कच्छुह न लीना ॥

तुम नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्यों करे मेरा मेरा ।

तेरा है सो तेरी पासे, अवर सब अनेरा ॥आप ॥⁴⁰⁹

इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

तरुण सुखी स्त्री परिवर्या रे, चतुर सुणे सुरगीत ।

तेहथी रागे अतिथणे रे, धर्म सुज्यारी रीत रे ॥⁴¹⁰

तरुण सुखी स्त्री परिवर्या जी, जिम चाहे सुरगीत ।

तेम सांभलवा तत्व ने जी, एह दृष्टि सुविनित रे ॥जिनजी ॥⁴¹¹

इस दृष्टि से चारित्रपालन के अभ्यास को करते-करते साधक की वृत्तियाँ एकाग्र बनती हैं और तत्त्व-चिन्तन में स्थिरता का अनुभव होता है।

इस प्रकार इस दृष्टि में साधक की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं, मन की स्थिरता प्राप्त होती है, समता भाव प्रगट होता है और आत्मा की विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।⁴¹² एक और विशेषता उसमें आ जाती है कि वह अध्यात्म साधना में उपकारक या सहायक साधनों में इच्छा का प्रतिबंध नहीं करता अथवा वह साधना को ही सब कुछ नहीं मान लेता। आत्म-सिद्धि रूप साध्य को प्राप्त करने में उसका प्रयत्न होता है।

4. दीप्रादृष्टि

यह चौथी दृष्टि है। इस दृष्टि में दीपक के प्रकाश के समान तत्त्वबोध स्पष्ट और स्थिर होता है।⁴¹⁵ लेकिन वायु के झोंके से जिस प्रकार दीपक की लौ समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार कभी-कभी साधक का ज्ञानदीपक मिथ्यात्व के उदय से बुझ जाता है। इसमें साधक आध्यात्मिक को सुनता है किन्तु सूक्ष्मता से बोध नहीं होता है। इस दृष्टि से प्राणायाम नाम के योग का चौथा अंग प्राप्त होता है।⁴¹⁶

यह दृष्टि प्राप्त हो जाने पर साधक के अन्तःकरण में सहजतया प्रशोत्तरस का ऐसा प्रवाह बहता है कि उसका चित्त योग से हटता ही नहीं। यहाँ तत्त्व-श्रवण सिद्ध होता है अर्थात् तत्त्व सुनने और समझने के प्रसंग उपलब्ध होते रहते हैं। न केवल बाह्य रूप में वरन् अन्तःकरण द्वारा तत्त्व श्रवण की स्थिति उत्पन्न होती है, किन्तु सूक्ष्मबोध प्राप्त करना फिर भी बाकी रहता है।⁴¹⁵

उपाध्याय यशोविजय आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय में दीप्रादृष्टि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—
योगदृष्टि चौथी कही जी, दीप्रा तिहां न उत्थान।
प्राणायाम ते भावधीजी, दीप प्रभासम ज्ञान।।

—मनमोहन जिनजी, मीठी ताहरी वाण।⁴¹⁶

शास्त्रों में योगधर्म की चौथी दृष्टि दीप्रा नहीं है। उसमें उत्थान दोष का त्याग, तत्त्व-श्रवण गुण की प्राप्ति, भावप्राणायाम की सिद्धि एवं दीपक की प्रभा समान ज्ञानगुण प्राप्त होता है।

प्राणायाम में पतंजलि के अनुसार आध्यात्मिक पात्रता की आवश्यकता नहीं है, मात्र शारीरिक पात्रता की आवश्यकता है। किन्तु धर्म पर प्राणायाम का अर्थ सिर्फ श्वास-नियंत्रण नहीं लिया गया है⁴¹⁷ अपितु दो प्रकार के प्राणायाम का वर्णन करते हैं—द्रव्य प्राणायाम और भाव प्राणायाम।⁴¹⁸

उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय में बताया है कि द्रव्य प्राणायाम में श्वास खींचना पूरक है, श्वास छोड़ना रेचक है तथा श्वास को रोककर रखना कुम्भक है।⁴¹⁹ यह पतंजलि के समानान्तर है⁴²⁰ और इसको ही योग का चौथा अंग मानते हैं, जबकि जैनाचार्य द्रव्य प्राणायाम नहीं, भाव प्राणायाम को ही योग का चतुर्थ अंग स्वीकारते हैं।⁴²¹ इस भाव प्राणायाम का वर्णन पतंजलि के योगदर्शन में नहीं मिलता है। भाव प्राणायाम से अवश्य योगदशा प्राप्त होती है।⁴²²

उपाध्याय यशोविजय ने भाव प्राणायाम का वर्णन करते हुए कहा है—जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही सुदृढ़ बनाता है बल्कि आन्तरिक नाड़ियों के साथ-साथ मन के मैल को भी धोता है, ठीक उसी प्रकार इस दृष्टि में रेचक प्राणायाम की तरह बाह्य परिग्रहादि विषयों में समत्व बुद्धि तो रहती है लेकिन पूरक प्राणायाम की भाँति विवेकशक्ति की भी वृद्धि होती है और कुम्भक प्राणायाम की तरह ज्ञान केन्द्रित होता है। ताराद्वात्रिंशिका में इसे भावप्राण कहा गया है तो साधक इस दृष्टि पर अपना अधिकार कर लेते हैं। वे बिना किसी सदेह के धर्म पर श्रद्धा करने लगते हैं। उनकी श्रद्धा इतनी प्रबल हो जाती है कि वह धर्म के लिए प्राण का त्याग कर सकता है, लेकिन प्राण की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नहीं कर सकता।⁴²³

इस दृष्टि में आये हुए व्यक्ति को यह बोध होता है कि धर्म ही एक सच्चा मित्र है। परभव में आत्मा के साथ वही आता है। शेष सभी तो शरीर के साथ ही विनाश हो जाते हैं। इस प्रकार उत्तम आशय से युक्त तत्त्वश्रवण करता है। उसके प्रभाव से प्राणों से भी श्रेष्ठ धर्म को स्वीकारता है। इस प्रकार संसार को क्षारयुक्त पानी के तुल्य मानता है और तत्त्वश्रुति को मधुर जल के समान मानता है।⁴²⁴

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार⁴²⁵ में तथा विनयविजय ने श्री पुण्यप्रकाश स्तवन⁴²⁶ में इन भावों को प्रस्तुत किया है।

5. स्थिरा दृष्टि

स्थिरा दृष्टि प्राप्त होने पर दर्शन या श्रद्धा नित्य अप्रतिपाती हो जाती है। फिर वह मिटती नहीं है। योग का पांचवां अंग प्रत्याहार वहीं सिद्ध होता है।⁴²⁷

उपाध्याय यशोविजय ने स्थिरादृष्टि को परिभाषित करते हुए कहा है—

दृष्टि स्थिरा मांहे दर्शन, नित्ये रतनप्रभा सम जाणो रे।

भ्रान्ति नही वली बोध ते, सूक्ष्म प्रत्याहारा वरवाणो रे।⁴²⁸

स्थिरा नाम की पांचवी दृष्टि में रत्न की प्रभा समान बोध होता है। भ्रान्ति दोष का त्याग, सूक्ष्मबोध नामक गुण की प्राप्ति एवं प्रत्याहारा नाम के योगांग की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि में रत्न इस स्थिति में राग-द्वेष की ग्रंथी का भेदन होता है, जिससे लौकिक घटना में बच्चों के मिट्टी के घरों के समान ये ग्रंथी रहती है।

पतंजलि योग में प्रत्याहार का पांचवां स्थान है।⁴²⁹ इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से खींचकर मन में विलीन करने का अभ्यास प्रत्याहार है। ज्ञानेन्द्रिय का कार्य अपने-अपने विषयों में रत होना है, किन्तु उससे एकाग्र न होना यह मन का भाव प्रत्याहार है।⁴³⁰ प्रत्याहार का वर्णन करते हुए व्यास कहते हैं कि मधुमक्खी जिस तरह राज मक्खी का अनुसरण करते हुए उठती-बैठती, उसी तरह ज्ञानेन्द्रियां मन का आज्ञानुसार चलती रुकती है।⁴³¹

भोगों को भोग लेने से इच्छा नष्ट हो जायेगी, यह सोचना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे कोई भारवाहक गड्ढर को अपने एक कंधे से हटाकर दूसरे कंधे पर रखे और सोचे, वह भारमुक्त हो गया है। ठीक वैसे ही स्थिर दृष्टि में स्थित साधक का चिंतन इस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर होता है।⁴³²

इस प्रकार की दृष्टि में सम्यक्त्व आ जाने पर आस्था स्थिर हो जाती है, विश्वास सुदृढ़ हो जाता है तथा जीव दर्शन प्रत्याहार से युक्त कृत्य, अभ्रान्त, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध वाला हो जाता है। जिस प्रकार रत्न का प्रकार कभी मिटता नहीं है, उसी प्रकार स्थिरदृष्टि में प्राप्त बोध नष्ट नहीं होता और साधक का बोध सद्अभ्यास, सद्चिन्तन आदि के द्वारा उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता जाता है।⁴³³

6. कान्तादृष्टि

यह छठी दृष्टि है। योगदृष्टि की दूसरी दृष्टि है। उपाध्याय यशोविजय ने कान्तादृष्टि को परिभाषित करते हुए कहा है कि—

छट्टी दिट्टी रे हवे कान्ता कहुं, तिहां ताराभ प्रकाश।

तत्त्वमीमांसा रे दढ होये, धारणा नहीं अन्यश्रुत नो संवास।।⁴³⁴

इस दृष्टि में तारा के प्रकाश समान ज्ञान-बोध होता है। तत्त्वमीमांसा नाम के गुण की प्राप्ति होती है। अन्यश्रुत का सहवास नाम का दोष नहीं होता है। धारणा नाम का योगांग प्रवर्तमान होता है।

इस दृष्टि में विद्यमान योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसी विशेषता आ जाती है कि उसके सम्यक् दर्शन आदि उत्तमोत्तम गुण औरों को सहज ही प्रीतिजनक प्रतीत होते हैं। उसे देखकर दूसरों के मन

में द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होता। प्रीति उमड़ती है। इस दृष्टि में साधक को योग का छठा अंग धारणा सिद्ध हो जाता है।⁴³⁵

महर्षि पतंजलि ने धारणा का लक्षण बताते हुए लिखा है कि नाभिचक्र, हृदय-कमल आदि देह के आंतरिक स्थानों और आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि बाहर के पदार्थों में से किसी एक पर चित्तवृत्ति को लगाना धारणा है।⁴³⁶

कान्तादृष्टि योगी का ज्ञान प्रकाश आकाश के ताराओं के प्रकाश के समान स्थिर, शान्त और दीर्घकालीन होता है।⁴³⁷ इस दृष्टि में साधक धर्म की गरिमा को बहुमान देता है। सम्यक् आचार विशुद्धि में जागरूक रहता है। उसका मन धर्म में एकाग्र या तन्मय हो जाता है। आत्म भाव की ओर आकृष्ट रहता है। अनासक्त भाव से वह सांसारिक कार्य करता है अतः सांसारिक भोग उसके भवभ्रमण के हेतु नहीं बनते। इस दृष्टि से साधक को शान्त, धीर एवं परम आनन्द की अनुभूति होने लगती है। ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर आदि दोषों का सर्वथा परिहार हो जाता है। अतः यह दृष्टि साधक के शान्त एवं निर्मलचित्त की प्राप्ति में सहायक होती है और आगे की दृष्टियों की पूर्णता में प्रमुख भूमिका निभाती है।⁴³⁹

7. प्रभा दृष्टि

यह सातवीं दृष्टि है। इस दृष्टि की उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गई है। उपाध्याय यशोविजय ने प्रभादृष्टि का वर्णन करते हुए आठ दृष्टि की सज्जाय में कहा है—

अर्कप्रभा सम बोध प्रभामां, ध्यानक्रिया ए दिट्टि ।
तत्त्वतणी प्रतिपत्ति इहा, वली दोग नहीं सुखापुटी रे ॥

—भविका, वीर वचन चित्त धरीए।⁴⁴⁰

इस दृष्टि में सूर्य की प्रभा समान बोधज्ञान प्राप्त होता है। ध्यान नाम का योगांग प्राप्त होता है। तत्त्व का स्वीकार रूप प्रतिपत्ति नाम का गुण प्राप्त होता है और रोग दोष नष्ट होता है, जिसमें आत्मिक सुख की पुष्टि होती है।

इस दृष्टि में साधक ध्यानप्रिय होता है। योग का सातवां अंग ध्यान इसमें सिद्ध हो जाता है। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों को वह जीत लेता है। साधक में प्रशांत भाव की प्रधानता होती है। इस दृष्टि में आत्मत्व का दर्शन प्राप्त होता है। आत्मदर्शन से आत्मविभोर बन जाता है। यहाँ योगी का चित्त पूर्णतया निरोगी बनता है अर्थात् चित्त का एक भी विकार नहीं होता है। ध्यान का प्रकार सारासार ज्ञान पर अवलम्बित है।

पतंजलि में भी ऐसा स्वरूप दर्शन होता है। सातवां योगांग ध्यान ही है।⁴⁴¹ ध्यान का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जहाँ चित्त को लगाया जाए, उसी में प्रत्ययैकतानता-वृत्ति का एक तार की तरह निरन्तर चलते रहना ध्यान है अर्थात् जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाए, उसी में उसे एकाग्र करना, केवल ध्येय मात्र की एक ही प्रकार की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके मध्य किसी भी प्रकार की अन्य प्रवृत्ति का न उठना ही ध्यान है।⁴⁴²

यहाँ से मोक्षमार्ग का श्रीगणेश होता है। असंगानुष्ठान चार प्रकार के होते हैं—प्रीति, भक्ति, वचन और असंगानुष्ठान। जिसे योगदृष्टि समुच्चय में प्रशांतवाहिता, विसंभाग-परिक्षय, शैववर्त्य और ध्रुवाध्यां

के नाम से बताया गया है। इसी बात का उल्लेख उपाध्याय यशोविजय ने आठ दृष्टि की सज्जाय में बताया है—

विसभागक्षय शान्तवाहिता, शिवमारग धुवनाम ।
कहे असंगक्रिया इहां योगी, विमल श्रुयश परिणाम रे ॥⁴⁴⁴

—माविका ॥

अतः यहाँ साधक का प्रातिभज्ञान या अनुभूति प्रसूतज्ञान इतना प्रबल एवं उज्ज्वल हो जाता है कि उसे शास्त्र का प्रयोजन नहीं रहता। ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि उसे हो जाती है। आत्मसाधना की यह बहुत ही ऊँची स्थिति होती है। ऐसी उत्तम, अविचल, ध्यानावस्था से आत्मा में अपरिमित सुख का स्रोत फूट पड़ता है।⁴⁴⁵

8. परा दृष्टि

यह अन्तिम दृष्टि है, जिसमें समाधिनिष्ठता प्राप्त होती है। आध्यात्मिक उल्कान्ति की यह सर्वोच्च अवस्था है। इस दृष्टि से ज्ञानबोध की समानता चन्द्र द्वारा प्राप्त प्रकाश से की है।⁴⁴⁶ यहाँ योग का आठवाँ अंग समाधि सिद्ध हो जाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने परादृष्टि को परिभाषित करते हुए आठ दृष्टि की सज्जाय में कहा है—

दृष्टि आठमी सार समाधि, नाम परा तस जाणुं जी,
आप स्वभावे प्रवृत्ति पूरण, शशिसम बोध वखाणुजी ॥
निरतिचार पर एहमां योगी कहीए नहीं अतिचारीजी ।
आरोहे आरुढे गिरीने, तेम एटनी गति न्यारी जी ॥⁴⁴⁷

यह अन्तिम दृष्टि है, जिसकी उपमा चन्द्रमा की प्रभा से दी गई है। जो शीतल, सौम्य तथा शांत होता है और उसके लिए आनन्द, आह्लाद और उल्लासप्रद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की ज्योत्सना सारे विश्व को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार चन्द्रमा की ज्योत्सना के समान परादृष्टि में प्राप्त बोधप्रभा समस्त विश्व को जो जेयात्मक है, उद्योतित करती है। इसमें परमतत्त्व को साक्षात्कार होता है। यह दृष्टि समाधि की अवस्था मानी गई है, जिसमें मन के सभी व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और आत्मा केवल आत्मा के रूप को देखती है।⁴⁴⁸

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव हो जाता है, ध्येय से भिन्न उपलब्धि अनुभूति नहीं रहती, उस समय वह ध्यान समाधि कहलाता है।⁴⁴⁹

उपाध्याय यशोविजय की परादृष्टि की तुलना पतंजलि योग समाधि से की जा सकती है। जैसे वस्तु सम्पूर्ण स्वयं प्रकाशित होती है, उस तरह समाधि होती है।⁴⁵⁰ पूर्ण अंतःस्थल तक की समाधि में मन भी ध्यान समाधि के आकार में लीन हो जाता है।⁴⁵¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय यशोविजय ने गुणस्थान के आधार पर आध्यात्मिक विकास की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि गुणस्थानक तथा उपर्युक्त आठ दृष्टियों में कोई असमानता नहीं है, क्योंकि प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम तीन गुणस्थानक, 5, 6 दृष्टि में 4 व 7 गुणस्थानक तथा अन्तिम यानी दृष्टि में 8 से 14 गुणस्थानक का समावेश हो जाता है।⁴⁵²

संक्षेप में उपाध्याय यशोविजय की योगदृष्टियों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। प्राथमिक योग में प्रथम की चार दृष्टियाँ समाविष्ट होती हैं। इन्हें ओघदृष्टियाँ या मिथ्यादृष्टियाँ भी कहते हैं। यहाँ साधक मिथ्यात्व लिये रहता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए बहुत प्रयत्नशील रहता है। ये चार दृष्टियाँ गुणहीन होती हैं तथा अन्तिम की चार दृष्टियों में योगी मोक्ष का सच्चा स्वरूप समझ जाता है। मोक्ष प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा बनती है। यम-नियम के पालन में दृढ़ता आती है तथा उत्तरोत्तर विकास साधता है।

योग की परिलब्धियाँ

जैसा कि पहले बताया गया है—योगी तप, आसन, प्राणायाम, समाधि, ध्यान आदि द्वारा योग सिद्ध करता है अथवा मोक्षाभिमुख होता है। साधना के क्षेत्र में योगसाधक चिरकाल से उपार्जित पापों को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे इकट्टी की हुई लकड़ियों को अग्नि क्षणभर में भस्म कर देती है।⁴⁵³ योग-साधना के ही क्रम में अनेक चमत्कारी शक्तियों का भी उदय होता है, जिन्हें लब्धियाँ कहते हैं।

योग का सामर्थ्य बल ही ऐसा है कि मुनियों के योग के सामर्थ्य बल से रत्नादि विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा योग संबंधी जैन-जैनेत्तर लब्धियों का वर्णन वैदिक, बौद्ध एवं जैन योग में क्रमशः विभूति, अभिज्ञा तथा लब्धियों के रूप में मिलता है और कहा है कि लब्धियों का उपयोग लौकिक कार्यों में करना वांछित नहीं है। साधक इन लब्धियों का उपयोग अभिमान, स्वार्थ वैद को पुष्ट करने के लिए नहीं करता, बल्कि मात्र परोपकार ही करते हैं।

मनुष्य धन के अभाव में अनेक कल्पनाओं में खो जाता है। यदि धन-प्राप्ति हो जाए तो देश-विदेश में भ्रमण करूँ, गाड़ी में बैठकर आनन्द का उपभोग करूँ और विशिष्ट धन की प्राप्ति हो जाए तो प्लेन द्वारा देश-विदेश में घूम जाऊँ, उसी प्रकार जीव की जब तक इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती, तब तक अभिलिप्साएँ बढ़ती जाती हैं। यदि मुझे वैक्रिय शरीर मिले तो सभी जगह घूम जाऊँ, आहारक शरीर मिले तो सीमंधर स्वामी के पास पहुँच जाऊँ, आकाशगामिनी लब्धि मिले तो नंदीचर द्वीप पहुँच जाऊँ, परन्तु योगदशा के बिना प्रायः ऐसी लब्धियाँ अलभ्य हैं। योग का सामर्थ्य जब प्रगट होता है तब योग के बल से ये लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु उस समय भोगी के समान लिप्सा ही समाप्त हो जाती है। इसलिए महात्मा पुरुष लब्धियों का उपयोग नहीं करते हैं। प्रसंग आता है, तभी करते हैं।

विष्णु कुमार के पास वैक्रिय लब्धि थी, परन्तु नमुचि का प्रसंग आया तब ही उपयोग किया। वज्रस्वामी के पास आकाशगामिनी विद्या थी परन्तु पालितणा में पुष्पपूजा का प्रसंग आया तो ही उपयोग किया। पूर्वधरों के पास आहारक लब्धि होती है। परन्तु प्रश्नोत्तरादि का प्रसंग होता है तब ही उपयोग करते थे। अर्थात् लब्धि की प्राप्ति सातवें गुणस्थानक में होती है, परन्तु जब उपयोग करता है तब अग्रमत्त गुणस्थान में आता है।⁴⁵⁴

जैसे-जैसे विशिष्ट योग का सामर्थ्य विकसित होता है, वैसे-वैसे रत्नादि लब्धियाँ, चित्र-विचित्र ऐसी अणिमादी लब्धियाँ तथा आमर्षोषधि आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं।⁴⁵⁵

वैदिक योग में लब्धियाँ

उपनिषद् में सपष्ट उल्लेख है कि लब्धियों से निरोगता, जन्म-मरण का न होना, शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषय-निवृत्ति, शरीरक्रान्ति, स्वरमाधुर्य मलमूत्र की अल्पता आदि प्राप्त होती है।⁴⁵⁶ इसी प्रकार

विभिन्न प्रकार की लब्धियों का वर्णन उपनिषदों, गीता, पुराण एवं हठयोगादि ग्रंथों में है, जिनका विवेचन, विश्लेषण करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल योगदर्शन में वर्णित लब्धियों का परिचय ही अभिप्रेत है।

योगदर्शन में लब्धियाँ

रत्नादि लब्धियों का वर्णन महर्षि पतंजलि प्रणीत योग दर्शन में मिलता है—

स्थान्युपनिमन्त्रणो संगमयाकरणं पुनरनिष्टाप्रसङ्गत् ॥⁴⁵⁷

योगी महात्मा जब योग अवस्था में आरूढ़ होते हैं तब उस स्थानगत देव योगी को योगमार्ग से विचलित करने, अप्सरादि का वर्णन पूर्वक दैविक योगों को उपनिमंत्रण करते हैं तब दैविक भोगों के संग का अकरण तथा मेरे योग का कैसा प्रभाव है कि देवता भी मुझे निमंत्रण देते हैं, इत्यादि अभिमान नहीं होना चाहिए। कारण कि दैविक संग और योग दशा का अभिमान पुनः अनिष्ट का ही कारण बनता है। अतः इनसे विरक्त आत्मा को ही योगदृढ़ता से लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

योगदर्शन के प्रभाव से अणिमादि लब्धियों का प्रादुर्भाव होता है तथा प्रकाम्य आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

1. अणिमा—स्थूल शरीर को छोटा बना सकते हैं।
2. लघिमा—गुरु शरीर को हल्का बनाना।
3. महिमा—विस्तार वाला शरीर बनाना।
4. प्राप्ति—भूमि पर स्थित रहा हुआ अपनी अंगुली के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्र को स्पर्श करना।
5. प्राकाम्य—पानी के समान भूमि में उतर जाना।
6. इशित्व—भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति—नाश द्वारा स्वयं की रचना करना।
7. वशित्व—भौतिक पदार्थों के परवश नहीं रहना।
8. कामावसायित्व—अपनी इच्छानुसार संकल्पमात्र से भूतों में रचना कर सके।⁴⁵⁸

इनके अतिरिक्त भी योगदर्शन में यम, नियमादि जो योग के आठ अंग कहे गये हैं, उनमें से प्रत्येक अंग की साधना से आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार योगदर्शन में अनेक विभूतियों या लब्धियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जिनकी सिद्धियाँ जन्म, औषध, मन्त्र, तप, समाधि आदि से प्राप्त होती है।⁴⁵⁹

बौद्ध योग में लब्धियाँ

बौद्ध परम्परा में लब्धियों का वर्णन अभिज्ञा नाम से मिलता है। इनके अनुसार अभिज्ञाएँ अर्थात् लब्धियाँ दो प्रकार की हैं—लौकिक और लोकोत्तर।⁴⁶⁰

लौकिक अभिज्ञाओं के अन्तर्गत ऋद्धिविध, दिव्यस्तोत्र, आकाशगमन, पशु-पक्षी की बोलियों का ज्ञान, परिचित विज्ञानता, पूर्वजन्मों का ज्ञान तथा दूरस्थ वस्तुओं का दर्शन होता है।

लोकोत्तर अभिज्ञा की प्राप्ति तब होती है, जब साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त करके पुनः जन-साधारण के समक्ष निर्वाण मार्ग को बतलाने के लिए उपस्थित होता है।

जैनदर्शन में लब्धियाँ

वैदिक एवं बौद्ध योग की ही भांति जैन योग में भी तप, समाधि, ध्यानादि द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। जैन दर्शन में भी आवश्यकनिर्युक्ति तथा उसी पर रचित जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यकभाष्य में आगमौषधि आदि लब्धियाँ योगदशा में प्राप्त होती हैं, यह बताया है।

अन्य जैन आगमौषधि, त्रिपौषधि, श्लेषोषधि, जल्लौषधि, सम्भिन्नश्रोतोपलब्धि, ऋजुमति सर्वोषधि, चारणलब्धि, आशीविषलब्धि, केवलिलब्धि तथा मनःपर्यवज्ञानित्व, पूर्वधरत्व, अरिहंतत्व, चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व, वासुदेवत्व, वासुदेवत्व इत्यादि लब्धियाँ भी आत्मा को योग प्रभाव से प्राप्त होती है। योगवृद्धि के बल से ऐसी लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तो शोभन आहार की प्राप्ति तो सामान्य वस्तु है।⁴⁶¹ पातंजल योगदर्शन में आमर्षोषधि आदि लब्धियों का वर्णन नहीं मिलता है।

अन्य जैनयोग ग्रंथों की अपेक्षा ज्ञानार्णव⁴⁶² एवं योगशास्त्र⁴⁶³ में लब्धियों का विवेचन स्पष्ट एवं विस्तृत रूप में हुआ है। इन दोनों ग्रंथों में विस्तारपूर्वक विभिन्न प्रकार की लब्धियों और चमत्कारिक शक्तियों का वर्णन है। जैसे जन्म-मरण का ज्ञान, शुभ-अशुभ शुक्नों का ज्ञान, परकाया प्रवेश कालज्ञान आदि।

लब्धियों के प्रकार

जैन योग ग्रंथों में लब्धियों के प्रकारों के विषय में विभिन्न प्रतिपादन है। भगवतीसूत्र⁴⁶⁴ में जहाँ दस प्रकार की लब्धियों का उल्लेख है, वहाँ तिलोयपण्णति⁴⁶⁵ में 64, आवश्यकनिर्युक्ति⁴⁶⁶ में 28, षट्खण्डागम⁴⁶⁷ में 44, विद्यातुशासन में 48, मंत्रराजरहस्य⁴⁶⁸ में 50 एवं प्रवचनसारोद्धार⁴⁶⁹ में 28 लब्धियों का वर्णन है। संक्षेप में उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—ध्यातव्य है कि इन लब्धियों की प्राप्ति जैन योग-साधना का बाह्य अंग है, आन्तरिक नहीं, क्योंकि योग-साधना का मूल उद्देश्य कर्म एवं कषायादि का क्षय करके सम्यक् दर्शन ज्ञान तथा सिद्धि रूप में मोक्ष प्राप्त करना है। जैन दर्शन के अनुसार लब्धि प्राप्ति के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं, वे तो प्रासंगिक फल के रूप में स्वतः निष्पन्न या प्रकट होती हैं। अतः साधक अथवा योगी इन लब्धियों से युक्त होकर भी कर्मों के क्षय का ही उपाय करते हैं⁴⁷⁰ तथा मोक्षपथिक बनते हैं। वे लब्धियों में अनासक्त रहकर आत्म-साधना में लगे रहते हैं।

यशोविजय का योग वैशिष्ट्य

उपाध्याय यशोविजय ने योग को अनेक वैशिष्ट्य से विशिष्ट बनाया है। उनका अपना वैदुष्य विरल एवं विशाल था। अपने आत्म-वैदुष्य से उन्होंने योग को समलंकृत बनाया। उन्होंने हरिभद्रसूरि जैसे ही योग के विषय के सम्बन्ध में ऐसी श्रेष्ठ कृतियों की रचना की है, जो योग परम्परा में आज भी अद्वितीय विशेषता रखती है।

उपाध्यायजी का चिन्तन बड़ा उर्वर और विशिष्ट रहा है। उन्होंने जैन तत्त्वों और साधना की पद्धतियों को अनेक रूपों में व्याख्यायात करने का सख्ययास किया है, जिससे भिन्न-भिन्न रुचि के साधक अपनी-अपनी भावानुसार साधना का मार्ग अपना सकें। तत्त्वज्ञान विषयक स्वग्रंथों में उन्होंने तुलना एवं बहुमानवृत्ति द्वारा जो समत्व भाव दर्शाया है, उस समत्व की प्रकर्षता उनके योग विषयक ग्रंथों में प्रस्फुटित होती है। उपाध्याय यशोविजय ने योगपरक ग्रंथ, जैसे—अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार बत्तीशी, पातंजल योगसूत्रवृत्ति, योगविशिका की टीका तथा आठ दृष्टि की सञ्ज्ञायमाला आदि की रचना की है।

अध्यात्मसार में योगाधिकार एवं ध्यानाधिकार प्रकरण में मुख्यतः गीता एवं पातंजल योगसूत्र के विषयों के सन्दर्भ में जैन योग परम्परा के प्रसिद्ध ध्यान के भेदों का समन्वयात्मक विवेचन है। अध्यात्मोपनिषद् में भी शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग एवं साम्ययोग पर समुचित प्रकाश डाला है। औपनिषदिक एवं योगवाशिष्ठ की उद्धरणियों के साथ जैन दर्शन की तात्विक समानता दिखलाई गई है। योगावतार बत्तीशी में 32 प्रकरण हैं, जिसमें आचार्य हरिभद्र के योग ग्रंथों की ही विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या प्रतिपादित है।

पातंजल योगसूत्र के सन्दर्भ में जैन योग का विश्लेषण एवं विवेचन इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है। प्रसंगवश दोनों परम्पराओं के योगों में समानता एवं असमानता पर भी प्रकाश डाला गया है। योगविंशिका में योगसूत्रगत समाधि की तुलना जैन ध्यान से की गई है। आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय में आठ दृष्टियों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत है।

इन सभी ग्रंथों में उन्होंने योगतत्त्व का सांगोपांग प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं, उनके समय में भिन्न-भिन्न धर्म-परम्पराओं में योगविषयक जो साहित्य रचा गया और जो उपलब्ध है, उसमें साहित्य की दृष्टि से भी अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद् ग्रंथ निराले हैं।

प्राचीन जैनागमों में प्रतिपादित ध्यान-विषयक समग्र विचारसरणि से उपाध्याय यशोविजय सुपरिचित थे। साथ ही वे सांख्य, योग, शैव, पाशुपत और बौद्ध आदि परम्पराओं के योगविषयक प्रस्थानों से भी विशेष परिचित एवं ज्ञाता थे। अतः उनकी चिन्तनधारा किसी विशाल दृष्टिकोण को लेकर चली। भिन्न-भिन्न परम्पराओं में योगत्व के विषय में मात्र मौलिक समानता ही नहीं, किन्तु एकता भी है। ऐसा होने पर भी उन परम्पराओं में जो अन्तर माना या समझा जाता है, उनका निवारण करना। यशोविजय ने देखा कि सच्चा साधन भले किसी भी परम्परा का हो, उसका आध्यात्मिक विकास तो एक ही क्रम से होता है। उसके तारतम्ययुक्त सोपान अनेक हैं परन्तु विकास की दिशा तो एक ही होती है। अतः भले ही उसका प्ररूपण विविध परिभाषाओं में हो, विभिन्न शैली में हो, परन्तु प्ररूपणा का आत्मा तो एक ही होगा। यह दृष्टि उनकी अनेक योगग्रंथों के अवगाहन के फलस्वरूप बनी होगी।

उपाध्याय यशोविजय का योगचतुष्टय

1. शास्त्रयोग

कोई व्यक्ति रास्ते से गुजर रहा हो, और मार्ग पर अंधकार हो, साथ ही प्रकाश की व्यवस्था न हो तो वह भटक जाता है, अपने इष्ट स्थान पर पहुंच नहीं सकता। यह संसार भी अज्ञानरूपी अंधकार से घिरा हुआ है, लेकिन जिसके हृदय में, दिल में शास्त्ररूपी दीपक है, तो वह अपने इष्ट स्थान पर पहुंच जाता है।

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है—“सामान्यतः मनुष्य चमड़े की आंख वाले होते हैं। देवता अवधि ज्ञानरूपी चक्षु वाले होते हैं। सिद्ध सर्वत्र चक्षु वाले अर्थात् केवल ज्ञानरूपी चक्षु वाले होते हैं और साधु आगम (शास्त्र) रूपी चक्षु वाले होते हैं।”¹⁷¹ समयसार में भी साधुओं को आगमरूपी चक्षु वाले कहा है।¹⁷² साक्षात् परमात्मा की अनुपस्थिति में जीवों के लिए उनकी वाणी का ही आधार है, इसलिए उपाध्याय यशोविजय ने योगचतुष्टय में सर्वप्रथम शास्त्रयोग का वर्णन किया है व शास्त्र शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ बताते हुए कहते हैं कि जो हितोपदेश करे और जिसमें रक्षण करने का सामर्थ्य हो, उसे पण्डित ने शास्त्र कहा है। इन शास्त्रों में वीतराग के वचन हैं, किसी अन्य के नहीं।¹⁷³

शास्त्ररूपी स्वर्ण की छेद-परीक्षा का वर्णन करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

विधीनां च निषेधाना, योगक्षेमकदी क्रिया।

वच्यंते यत्र सर्वत्र, तच्छास्त्र छेदशुद्धिमत्।⁴⁷⁴

मुनि यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् की टीका अध्यात्म वैशारदी में कहा है—अन्य दार्शनिकों के शास्त्रों में उत्सर्ग का प्रयोजन अलग और अपवाद का प्रयोजन अलग होता है, जैसे—छान्दोग्योपनिषद् में उत्सर्ग कथन करते हुए कहा है कि किसी भी जीव को मारना नहीं।⁴⁷⁵ प्रयोजन—दुर्गति का निवारण।

शास्त्रों की प्राप्ति होने पर भी अभव्य तथा अचरमावर्ती भव्य जीवों को शास्त्रयोग संभावित नहीं है, क्योंकि जो मोक्ष से जोड़े, वह योग कहलाता है। इसलिए अभव्यादि को मिले हुए शास्त्र भी उनको मोक्ष से नहीं जोड़ सकते हैं। अपुनर्बन्धक मार्गानुसारी जीवों को शास्त्रयोग संभव है, किन्तु शास्त्रयोग शुद्धि संभव नहीं है, क्योंकि उन्हें अभी ग्रन्थ भेद नहीं हुआ है। निर्मल सम्यक्त्व वाला व्यक्ति ही शास्त्रयोग की शुद्धि को प्राप्त कर सकता है।

विशुद्ध शास्त्रयोग तब ही सफल होता है जब साधक ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे, इसलिए उपाध्याय यशोविजय के अनुसार शास्त्रयोग की विवेचना के बाद अवज्ञानयोग आता है।

2. ज्ञानयोग

ज्ञानयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मोह का त्याग ज्ञान से ही होता है। जैसे राजहंस हमेशा मानसरोवर में मग्न रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी हमेशा ज्ञान में ही मग्न रहते हैं। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मसार में ज्ञानयोग की व्याख्या करते हुए कहा है—ज्ञानयोग जैसा श्रेष्ठ तप है, आत्मरति उसका एक लक्षण है। ज्ञानयोग इन्द्रियों के विषयों से दूर ले जाता है, इसलिए ज्ञानयोग मोक्ष सुख का साधक तप है।⁴⁷⁶

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में ज्ञानयोग का वर्णन करते हुए कहा है कि “प्रातिभज्ञान ही ज्ञानयोग है। यह योगजन्य अदृष्ट से उत्पन्न होता है। जैसे दिवस और रात्रि से संध्या भिन्न है, उसी प्रकार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से प्रातिभज्ञान भिन्न है।⁴⁷⁷ इसे अनुभवज्ञान भी कहते हैं। यह मतिश्रुत का उत्तरभावी तथा केवलज्ञान का पूर्वभावी है।

यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् की टीका में योगज अदृष्ट का वर्णन करते हुए कहा है—जो मोक्ष के साथ जोड़े, इस प्रकार की सभी शुद्ध धर्म-प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुआ विशिष्ट पुण्यानुबंधी पुण्य पुष्कल कर्म-निर्जरा में सहायक होता है। उसी को योगज अदृष्ट कहते हैं। उसमें प्रातिभ नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञानयोग है।⁴⁷⁸

इनके अतिरिक्त भी उपाध्याय यशोविजय ने षोडशक ग्रंथ की योगदीपिका नामक टीका में बताया है कि—प्रतिभा ही प्रातिभज्ञान कहलाती है।⁴⁷⁹ यह मतिज्ञान का विशेष स्वरूप है।

किन्तु ज्ञानयोग का अधिकारी कौन? अभव्यों के पास भी नौ-पूर्व से कुछ अधिक ज्ञान होता है, किन्तु मिथ्यात्व होने के कारण उनका ज्ञान अज्ञानरूप ही है। अपूर्व बन्धक जीवों का जो बोध है, वह सहजमलहास के कारण ज्ञान के बीजरूप हैं। सम्यग् दृष्टि के पास जो ज्ञान है, वो वास्तविक ज्ञानरूप है। 8 से 12 गुणस्थानक के जीवों के पास रहा हुआ ज्ञान निश्चय ही ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग की परिपूर्ण शुद्धि या सार्थकता तो केवलज्ञान में है।

ध्यानदशा में ज्ञान मुख्य होता है और व्यवहारदशा में क्रिया मुख्य होती है, इसलिए आगे यशोविजय की दृष्टि में क्रियायोग का वर्णन है।

3. क्रियायोग

ज्ञानस्य फल विरति ज्ञान का फल विरति है। क्रिया बिना ज्ञान निरर्थक है। यह गद्ये द्वारा चंदन का भार ढोने के समान है। क्रिया सहित ज्ञान ही हितकारी है। उपाध्याय यशोविजय ने क्रियायोग का वर्णन करते हुए कहा है—

क्रिया विरहितं हन्तः ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।

गति विना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।⁴⁸⁰

क्रिया रहित अकेला ज्ञान मोक्षरूपी फल को साधने के लिए असमर्थ है। मार्ग को जानने वाला भी कर्म आगे बढ़ाये अर्थात् गति बिना इच्छित नगर में नहीं पहुंच पाता है। जहाँ क्रिया होती है, वहाँ ज्ञान होता है और जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ क्रिया होती है। पुष्प में जैसे सुगंध समाई हुई है, नमक में जैसे खारापन रहा हुआ है, वैसे ही ज्ञान में क्रिया समाविष्ट है। यह बात जरूर है कि एक गौणरूप में है तो दूसरा प्रधानरूप में है।

नाणचरणेण मुक्खो—ज्ञान सहित चारित्र्य द्वारा ही मोक्ष होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—दीपक स्वयं प्रकाशरूप है तो भी जैसे तेल डालना आदि क्रिया करनी पड़ती है, उसी प्रकार स्वयं के स्वभाव में स्थित रहने की क्रिया तो पूर्णज्ञानी को ही करना जरूरी है।⁴⁸¹

उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—गुणवृद्धि के लिए अथवा स्वतन्त्रता न हो इसलिए क्रिया करनी चाहिए। एक अखण्ड संयम स्थान तो जिनेश्वर भगवन्त को ही होता है।⁴⁸² सभी कर्मों के क्षय के लिए ज्ञान और क्रिया का समुच्चय जरूरी है। गुणों की पूर्णता प्राप्त न हो तब तक शास्त्रोक्त क्रिया करने योग्य है।

संक्षेप में अपुनर्बन्धक आदि जीवों में क्रियायोग का बीज होता है, किन्तु क्रियायोग नहीं होता है। अविगत सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्रमण आदि क्रियायोग संभव होने पर भी क्रियायोग की शुद्धि संभव नहीं है। क्रियायोग की शुद्धि पांचवें गुणस्थानक से शुरू होती है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग इमारत के समान है तथा साम्ययोग नींव के समान है। यदि नींव के बिना इमारत बनाएं तो वह टिक नहीं सकती है, उसी प्रकार साम्ययोग रूपी नींव के बिना ज्ञान और क्रियारूपी इमारत की महत्ता नहीं है। इसलिए अब साम्ययोग का वर्णन किया जा रहा है।

4. साम्ययोग

प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई हेतु अवश्य होता है। यह प्राचीन कहावत है कि—प्रयोजन बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता है। जैसे व्यापार करने का हेतु धन कमाना है। यदि व्यापार में मुनाफा नहीं मिला तो की हुई मेहनत या पुरुषार्थ व्यर्थ है, ठीक वैसे ही ज्ञान भी प्राप्त किया, तप, जप, व्रत आदि क्रियाएँ भी कीं, किन्तु साम्ययोग को नहीं साधा, समता प्राप्त नहीं की तो सब व्यर्थ है। मोक्षमार्ग में केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधने योग्य सर्वश्रेष्ठ वस्तु समता है। समभाव के बिना सभी क्रियाएँ वस्तुतः छाट पर लीपण जैसी है।

उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है कि ध्यानरूप वृष्टि से दयारूपी नदी में साम्य या समतारूपी तूफान आने पर नदी के किनारे पर रहे हुए विकार रूपी वृक्ष जड़ से नष्ट हो जाते हैं, बह जाते हैं।⁴⁸³

साम्ययोग का वर्णन करते हुए अध्यात्मसार में यशोविजयजी ने कहा है—स्वर्ग का सुख तो दूर है और मोक्ष का सुख तभी बहुत दूर है, परन्तु समता का सुख तो हमारे मन के भीतर ही रहा हुआ है, जिसे स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं।⁴⁸⁴

अध्यात्मोपनिषद् में उपाध्याय ने कहा है कि समतारूपी सागर में डुबकी लगाने वाले योगी को बाह्य सुख में आनन्द ही नहीं आता है। जिसके घर में कल्पवृक्ष प्रकट हो गया हो, वह अर्थ का इच्छुक व्यक्ति धन के लिए बाहर क्यों भटके?⁴⁸⁵

संक्षेप में साम्यभाव तो अभव्य आदि में भी हो सकता है, किन्तु साम्ययोग नहीं हो सकता। अप्रबन्ध एक जीवों को साम्ययोग संभव हो सकता है, क्योंकि इनका साम्यभाव इनको मोक्ष के साथ जोड़ने में सहायक बनता है, लेकिन हेय, उपादेय आदि का सम्यग्ज्ञान तथा स्वानुभूति नहीं होने के कारण इनके साम्ययोग में शुद्धि नहीं होती है।

वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः के अनुसार इस विषय के सूक्ष्म अध्ययन एवं अनुशीलन से तात्त्विक बोध के रूप में साधक को एक अन्तःस्फूर्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह अपने मंतव्यानुसार गंतव्य पर अग्रसर होता हुआ प्राप्य को प्राप्त कर लेता है और साध्य को सिद्ध कर लेता है।

सन्दर्भ सूची—

1. अभिधान राजेन्द्र कोश, पृ. 3/246
2. कर्मविपाक, हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, पृ. 23
3. लोकतत्त्व निर्णयः, श्लोक 62
4. श्रीमद्भगवद्गीता, 3/6
5. षड्दर्शन समुच्चय, का. 64
6. श्री अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-3, पृ. 255
7. श्रीस्थानांगसूत्र, स्या. 1
8. श्रीसूत्रकृतांग सूत्र, श्रुत-1, अ. 1
9. अभिधान राजेन्द्र कोश, पृ. 3/241
10. वही, पृ. 3/245; कर्मग्रंथ, 1/1
11. कर्मग्रंथ, 1/1
12. लोकतत्त्व निर्णय, श्लोक-12
13. कम्मपयडी टीका—उपाध्याय यशोविजय
14. योगबिन्दु—श्री हरिभद्रसूरि, श्लोक-305
15. योगबिन्दु टीका, श्लोक 305, 306

16. प्रशमरति, गाथा-55
17. वदितुसूत्र, गाथा-39
18. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड-6
19. पंचास्तिकाय, 128-130
20. समयसार, गाथा 252-255
21. तत्त्वार्थवार्तिक, 10/9 पर उद्धृत, पृ. 725
22. समयसार, 86-87
23. धर्मसंग्रहणी, गाथा 623
24. योगशतक, गाथा 54
25. कम्मपयडी टीका (भावानुवाद), गा. 21, पृ. 66
26. जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/6
27. श्रावक प्राप्ति, अ. 80 (पूर्वाद्धी)
28. तत्त्वार्थ टीका, कारिका 8/3, पृ. 370
29. षड्दर्शन समुच्चय टीका, गा. 47, पृ. 2/2
30. कम्मपयडी टीका, भावानुवाद, गा. 24, पृ. 73
31. योगबिन्दु, गाथा 18
32. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा में आचार्य भिक्षु, पृ. 136
33. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 8/2
34. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/1
35. योगशतक, 54
36. ठाणांग, 10/1/734
37. तत्त्वार्थ टीका, गा. 8/12, पृ. 365-367
38. संबोधसितरी, पद-73
39. प्रज्ञापना, गा. 23/1/287
40. धर्मसंग्रहणी, गा. 569
41. स्थानांग सूत्र, स्था. 5/2/418
42. प्रथम कर्मग्रंथ टीका, गा. 1
43. न्यायसूत्र, पृ. 4/1/5
44. प्रशस्तपाद, विपर्यय निरूपण, का. 538
45. सांख्यकारिका, सूत्र 44, 47, 48
46. योगदर्शन, अ. 2/3/4

47. श्री भगवद्गीता, अ. 5/156
48. उत्तराध्ययन सूत्र, 32/6
49. योगशतक, गा. 53
50. श्रावक प्रज्ञप्ति, गा. 393
51. कम्मपयडी टीका
52. वही
53. नवतत्त्व, गा. 37
54. पंचसंग्रह, बंधनकरण, गाथा 40
55. कम्मपयडी टीका, भावानुवाद, पृ. 73
56. प्रथम कर्मग्रंथ टीका, गा. 1/2
57. प्रशमरति, श्लोक-22
58. षड्दर्शन समुच्चय टीका, पृ. 212
59. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/1, 3
60. श्रीभगवद्गीता, अ. 18
61. वेदान्त दर्शन, 5/1/15
62. पातंजल योगदर्शन, 4/7
63. पातंजल भाष्य, 4/7, पृ. 416
64. वही, सू. 4/1, पृ. 416
65. न्यायमंजरी, पृ. 505, 275
66. द्रव्य संग्रह टीका, गा. 6
67. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/2, 3
68. कम्मपयडी टीका
69. श्रीभगवतीसूत्र, 33/2, 3
70. स्थानांग टीका, 8/3/573
71. प्रज्ञापना सूत्र, 23/1
72. अभिधान राजेन्द्रकोश, 3/258; कर्मग्रंथ 1/3
73. पंचसंग्रह, 2/2
74. प्रथम कर्मग्रंथ, 1/3
75. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/5
76. नवतत्त्व, गाथा 51
77. धर्मसंग्रहणी, गाथा 607, 608

78. श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा 10-11
79. प्रशमरति, गा. 35
80. नंदीसूत्र, सूत्र 75
81. अभिधान राजेन्द्रकोश, 4/1995, 3/258
82. प्रथम कर्मग्रंथ टीका, गाथा 3
83. धर्मसंग्रहणी टीका, गाथा 607
84. प्रज्ञापना हारिभद्रीय टीका, 23/103
85. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गाथा 10
86. कम्मपयडी टीका
87. वही
88. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/10; तत्त्वार्थराजवार्तिक 6/10; सर्वार्थसिद्धि, 6/10; कर्मविपाक, पृ. 57
89. प्रथम कर्मग्रंथ टीका, गाथा 3
90. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गाथा 607
91. कम्मपयडी टीका
92. पंचसंग्रह, 1/138
93. धर्मसंग्रहणी, गाथा 610; तत्त्वार्थवार्तिक 8/13-15
94. कम्मपयडी टीका
95. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 23-24
सुद पडिवोहा निद्रा-निद्रा निद्रा व दुक्खपडिबोहा-कर्मविपाक
96. कर्मकाण्ड, गाथा-2
97. कर्मकाण्ड, 24
98. कर्मकाण्ड, 23
99. श्रावकप्रज्ञप्ति टीका, गा. 13-14, पृ. 1, 10
100. प्रथम कर्मग्रंथ, गा. 70
101. तत्त्वार्थसूत्र, 6/11; जैन विद्या के आयाम, पृ. 6/211
102. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गा. 10
103. अभिधान राजेन्द्र कोश, 3/260, 6/1448
104. जैन सिद्धान्तकोश, 3/591
105. कम्मपयडी
106. प्रथम कर्मग्रंथ टीका, गा. 3
107. धर्मसंग्रहणी, गा. 611

108. कम्मपयडी टीका
 109. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गा. 15
 110. जीवप्राभृत, 25/1718
 111. अभिधान राजेन्द्रकोश, 3/260
 112. वही, 6/1448
 113. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 144
 114. उत्तराध्ययन सूत्र, 33
 115. सर्वार्थसिद्धि
 116. ध.पु. 1, पृ. 45
 117. कम्मपयडी टीका
 118. वही, भावानुवाद, पृ. 11
 119. कर्मप्रकृति, गा. 62
 120. कर्मग्रंथ, गा. 40
 121. कम्मपयडी टीका
 122. वही, भावानुवाद, पृ. 13
 123. सर्वार्थसिद्धि, 6/13
 124. स्थानांग, 5/2/426; तत्त्वार्थसूत्र, 6/14
 125. तत्त्वार्थसूत्र, 6/15; प्रथम कर्मग्रंथ, 56; कर्मप्रकृति 147; जैन सिद्धान्तकोश, 3/343
 126. तत्त्वार्थवार्तिक, 6/14/3
 127. प्रश्न राजवार्तिक, 8/10/2
 128. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 1/251
 129. यद् भावाभावयोः जीवित मरणं तदायु। तत्त्वार्थवार्तिक, 8/102, पृ. 469
 130. अभिधान राजेन्द्रकोश, 2/9-10
 131. कम्मपयडी टीका
 132. कम्मपयडी टीका का भावानुवाद, पृ. 11
 133. ध.पु., 10/233-234; अभिधान राजेन्द्रकोश, 2/9-10
 134. तत्त्वार्थसूत्र, 2/52
 135. धर्मसंग्रहणी, गा. 104
 136. कम्मपयडी टीका
 137. अभिधान राजेन्द्रकोश, 2/24
- कम्मपयडी टीका भावानुवाद (कर्मप्रकृति), पृ. 13

138. श्रावक प्रज्ञप्ति, गा. 19
139. स्थानांग, 1/1 की टीका
140. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/19
141. कर्मग्रंथ 1/57-59; तत्त्वार्थसूत्र 6/10-20; स्थानांग, 4/4/373
142. तत्त्वार्थसूत्र, 6/20; कर्मग्रंथ, 1/59
143. जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व, पृ. 49
144. अभिधान राजेन्द्र कोश, 4/1999
145. स्थानांग टीका, 2/5/105
146. जैन सिद्धान्त कोश, 2/583
147. प्रज्ञापना टीका, 23/1/288
148. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गा. 11, पृ. 8
149. कम्मपयडी टीका
150. वही, भावानुवाद, पृ. 11
151. अभिधान राजेन्द्र कोश, 4/1999
152. प्रथम कर्मग्रंथ, गा. 23
153. कम्मपयडी टीका
154. वही, भावानुवाद, पृ. 13
155. प्रथम कर्मग्रंथ, गा. 25
156. कम्मपयडी टीका
157. कर्मग्रंथ-1, गा. 23-31
158. स्थानांग, स्था. 2, सू. 105
159. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/3, 5
160. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/22
161. जैन विद्या के आयाम, पृ. 6/214
162. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/22
163. संताणकर्मणागय जीवायरणस्स गोदमिदिसण्णा । --कर्मकाण्ड, 11-13
164. प्रज्ञापना सूत्र, 23/1/288
165. अभिधान राजेन्द्र कोश, 3/954; जैन सिद्धान्त कोश, 2/520
166. कम्मपयडी टीका
167. कर्मप्रकृति, पृ. 11
168. श्रावक प्रज्ञप्ति, गा. 25

169. कम्मपयडी टीका
170. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/35
171. प्रज्ञापना सूत्र, 23/2
172. कर्मप्रकृति, गा. 101
173. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/13
174. कर्मग्रंथ, 1/54
175. धर्मसंग्रहणी, गाथा 622
176. अभिधान राजेन्द्र कोश, 3/954; जैन सिद्धान्त कोश, 2/520
177. तत्त्वार्थ भाष्य, 8/13
178. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गा. 25
179. कम्मपयडी टीका
180. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/15
181. तत्त्वार्थ भाष्य, 8/13
182. कम्मपयडी टीका
183. सर्वार्थसिद्धि, 6/26/340
184. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, गाथा 11
185. अभिधान राजेन्द्र कोश, 1/98-99, 3/258; जैन सिद्धान्त कोश, 1/27
186. जैन विद्या के आयाम, पृ. 6/214
187. कम्मपयडी टीका
188. कर्मप्रकृति, पृ. 11
189. स्थानांग, 2/105
190. धर्मसंग्रहणी, गाथा 622, 623
191. कम्मपयडी टीका
192. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/15
193. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/5
194. प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 52
195. अभिधान राजेन्द्र कोश, 1/98
196. अभिधान राजेन्द्र कोश, 1/98, 3/261; तत्त्वार्थ सूत्र 8/14; जैन सिद्धान्त कोश, 1/27
197. कर्मप्रकृति, पृ. 21
198. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/27; गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 810
199. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/26

200. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 1/28
201. उत्तराध्ययन सूत्र, 5/15
202. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/7-15
203. प्रशमरति, गाथा 35
204. कर्मग्रंथ, 1/3-31
205. श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा 12-16
206. धर्मसंग्रहणी, गाथा 609-623
207. कम्मपयडी टीका
208. तत्त्वार्थभाष्य, 8/7-15, पृ. 35-373
209. उत्तराध्ययन टीका, 33/5-15
210. प्रशमरति टीका, गाथा 35
211. प्रथम कर्मग्रंथ टीका, गाथा 1/30-31
212. धर्मसंग्रहणी टीका, गाथा 609-623, पृ. 29-38
213. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, पृ. 1-21
214. कम्मपयडी टीका
215. अभिधान राजेन्द्र कोश, 3/259, 4/1995-96
216. प्रथम कर्मग्रंथ, 1/6
217. बृहद् द्रव्य संग्रह, 35, टीका-1
218. प्रथम कर्मग्रंथ, 1/6
219. अभिधान राजेन्द्र कोश, 4/2438
220. बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 33
221. प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 1/12
222. वही, गाथा 23
223. अभिधान राजेन्द्रकोश, 6/451; जैन सिद्धान्त कोश, 3/341-42
224. द्रव्य संग्रह टीका, गाथा 33
225. प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 23
226. दुक्खं ण देइं आउ णवि सुहं देइं चरुसुवि गईसु। दुक्ख सुहाणाहार धरेई देहद्वियं जीवं।
—ठाणांग, टीका 2/4/105
227. जीवस्स अवटाण कदेदि हलिव्वणरं—कर्मकाण्ड-11
228. कल्पसूत्र, पृ. 262-263
229. प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 23

230. स्थानांग टीका, 2/5/105
231. कर्मप्रकृति, गाथा 35
232. स्थानांग टीका, 2/5/105
233. प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 53
234. अभिधान राजेन्द्रकोश, 1/98-99
235. स्थानांग टीका, 2/5/05
236. बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 33
237. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1635
238. द्रव्य संग्रह, गाथा 7
239. अभिधान राजेन्द्र कोश, 3/249-50
240. योगशतक, गाथा 56
241. धर्मसंग्रहणी टीका, गाथा 625, पृ. 39
242. योगशतक की टीका, गा. 56, पृ. 187
243. कम्मपयडी टीका
244. धर्मसंग्रहणी टीका, गाथा 626
245. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1638
246. उत्तराध्ययन सूत्र, 32/7
247. पंचास्तिकाय, गाथा 128
248. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 216
249. वही, पृ. 216
250. आचारांग, 3/2/31
251. सूत्रकृतांग, 1/5/50
252. उत्तराध्ययन सूत्र, 13/23
253. स्थानांग, 4/250
254. भगवती, 17/50-64
255. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा में आचार्य भिक्षु, पृ. 136
256. योगबिन्दु, गाथा 8
257. कम्मपयडी टीका
258. योगशतक की टीका, गाथा 57
259. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1977
260. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/22

261. दशाश्रुतस्कंध, अ. 6
262. पातंजल योगदर्शन, 2/15
263. जैन धर्म-दर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 85
264. वही, पृ. 86
265. वही
266. पातंजल योगदर्शन टीका, 2/15, पृ. 174
267. मनुस्मृति, 6/92
268. सांख्यकारिका, 23
269. कम्मपयडी टीका
270. श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा 98
271. कर्मग्रंथ, 5/19-21; कर्मप्रकृति, पृ. 30
272. कम्मपयडी टीका
273. ललित विस्तरा टीका एवं पञ्चिका, पृ. 184-185
274. अभिधान राजेन्द्र कोश, 3/334-35
275. कम्मवियोहिमगं पडुच्च जीवठणा पन्नता। -समवायांग, 14/1
276. मिच्छादिठी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिद्विय,
अविरसम्मदिद्वि विरसाविरण पमते य।
तते य अप्पभता निपट्टिअनियद्विबायरे सुहुमे,
उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी या।।
-आवश्यकनिर्युक्ति, पृ. 149; समवायांग उद्धृत
277. द्वितीय कर्मग्रंथ; भूलाचार पर्याप्ताधिकार, गाथा 1997-1998
278. सम्यक्त्व सप्ततिका टीका, गाथा 10
279. आठ दृष्टि की सज्जाय
280. अध्यात्मसार
281. ज्ञानसार, 23/1, लोकसंज्ञात्याग, त्यागाष्टक
282. योगवशिष्ठ उत्पत्तिकरण, सर्ग 117/11-12
283. वही, सर्ग 118/5-6
284. पातंजल योगदर्शन भाष्य, पाद 1/1
285. योगविंशिका
286. मराठी में भाषान्तरीय दीर्घनिकाय, पृ. 175 की टिप्पणी
287. कम्मपयडी टीका

288. कम्मपयडी की टीका
 289. वही
 290. कम्मपयडी की टीका का भावानुवाद, गा. 70-74
 291. कर्मप्रकृति, पृ. 167, गाथा 76
 292. उत्तराध्ययन सूत्र, 32/19-23
 293. तत्त्वार्थसूत्र, 8/15
 294. श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा 28-30
 295. प्रज्ञापना टीका, पद-23, पृ. 150
 296. कर्मग्रंथ, 5/26-27
 297. नवतत्त्व, गाथा 50-52
 298. पंचम कर्मग्रंथ, गाथा 5/28-52
 299. कम्मपयडी टीका
 300. वही
 301. कर्मग्रंथ, गाथा 615
 302. कर्मप्रकृति, पृ. 92-93, 155-160, 198-200
 303. कम्मपयडी टीका
 304. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 176
 305. जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व, पृ. 61
 306. कर्मप्रकृति (कम्मपयडी टीकानुवाद), पृ. 14
 307. जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 1
 308. युजवी योगे—हेमचन्द्र, धातुमाला, गण-7
 309. युजिंच समाधि, गण-4
 310. ध्यानयोग एवं कर्म-मीमांसा, पृ. 77
 311. योगविंशिका
 312. योगविंशिका टीका
 313. स्थानांग सूत्र, 4/1; भगवती सूत्र 25/7; समवायांग सूत्र-4, उत्तराध्ययन सूत्र 30/35
 314. आवश्यकनिर्युक्ति, 1462-1486
 315. योगदर्शन-व्यास भाष्य, 2/15
 316. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः—योगदर्शन, 1/2
 317. बौद्धदर्शन, पृ. 222
 318. आश्रवनिरोधः संवरः—तत्त्वार्थसूत्र, 9/1

319. योगशतक टीका, गाथा 22
320. ज्ञानसार, अ. 28, गाथा 1
321. योगविशिका टीका, गाथा-1
322. मोक्खेण जोयणाओ जोगो—योगविशिका-1
323. अभिधान चिन्तामणि, 1/77
324. योगतक्षण (द्वात्रिंशिका)
325. ऋग्वेद, 1/5/3
326. कठोपनिषद्, 1/2/12/2/3/11
327. महाभारत के शान्तिपर्व—अनुशासनपर्व एवं भीष्मपर्व
328. गीतायोग, पृ. 6
329. भागवत पुराण, 3/28, 11/15, 19-20
330. स्कन्धक पुराण, भाग-1, अध्याय 55
331. योगवाशिष्ठ के वैराग्य, मुमुक्षु, व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण प्रकरण
332. न्यायदर्शन, 4/2/36
333. वैशेषिक दर्शन, 6/2/2
334. ब्रह्मसूत्र, 4/1/7-11
335. हठयोग से संबंधित हठयोग प्रदीपिका, शिवसंहिता आदि ग्रंथ द्रष्टव्य हैं।
336. योगविशिका टीका, गाथा-1
337. सूत्रकृतांग, 1/16/3
338. उत्तराध्ययन सूत्र, 8/14
339. योगविशिका टीका, गाथा-1
340. योगा फिलोसोफी, पृ. 43
341. योगशतक, गाथा-2
342. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/1
343. योगशतक टीका, गाथा 2
344. योगविशिका टीका
345. योगशतक, गाथा 4, 5
346. योगशतक टीका, गाथा 6, 7
347. आठ दृष्टि की सज्जाय
348. योगबिन्दु, 73
349. योगबिन्दु 86-88; योगसार प्राभृत, 8/18-21

350. योगशतक परिशिष्ट, पृ. 109; आत्मस्वरूप विचार, 173-174
351. योगलक्षण द्वात्रिंशिका-18
352. मुक्त्यद्वेष प्राधान्य द्वात्रिंशिका, 28
353. योगलक्षण द्वात्रिंशिका-22
354. योगविंशिका टीका
355. योगशतक, 13-16; योगबिन्दु 177-8, 253, 351-2, 102
356. योगावतार बन्नीशी
357. योगशतक टीका, गाथा 13
358. योगदृष्टि समुच्चय, गाथा 209, 213
359. योगविंशिका टीका
360. योगशास्त्र, पृ. 2/15
361. योगबिन्दु, गाथा 203
362. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1222
363. योगशतक, गाथा 30-31
364. योगशतक टीका, गाथा 15
365. योगविंशिका टीका
366. योगबिन्दु, गाथा 359, 369
367. योगविंशिका, गाथा 2
368. योगविंशिका टीका
369. योगविंशिका टीका, गाथा-2
370. वही, गाथा-2, पृ. 29
371. अध्यात्मसार, गाथा 3/87, 88
372. ज्ञानसार, 28/4
373. योगविंशिका टीका, गाथा 8
374. योगविंशिका मूल तथा टीका, गाथा 8, 9
375. योगविंशिका टीका, गाथा 3
376. योगबिन्दु, गाथा 357-369
377. षोडशक प्रकरण, 14/1
378. योगविंशति, गाथा 19
379. योगबिन्दु, गाथा 420, 421
380. योगविंशिका टीका

381. हरिभद्रसूरि के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य, पृ. 406
382. योगशतक, गाथा 40-41
383. योगावतार बत्रीशी
384. योगशतक, गाथा 53
385. वही, गाथा 59
386. वही, गाथा 60
387. वही, गाथा 67-71
388. योगशतक, गाथा 60-66
389. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय
390. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 8
391. योगावतार द्वात्रिंशिका, 26
392. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-16
393. मित्राद्वात्रिंशिका, 1
394. योगदृष्टि समुच्चय, 22-23, 26-28
395. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय-मित्रा दृष्टि, गाथा 6
396. वही, गाथा-7
397. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक 38-40
398. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, तारादृष्टि-1
399. योगदृष्टि समुच्चय-41
400. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, तारादृष्टि, पृ. 50
401. योगदृष्टि-समुच्चय, पृ. 209
402. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, पृ. 66
403. वही, बलादृष्टि, पृ. 67
404. योगदृष्टि समुच्चय, 49
405. पातंजल योगसूत्र, पृ. 2/29
406. योगदृष्टि समुच्चय, गाथा 50
407. योगदृष्टि की सञ्ज्ञाय, गाथा 3/1
408. योगदृष्टि समुच्चय, पृ. 49
409. आनन्दघन सञ्ज्ञाय, गाथा 1, 2
410. समकित सङ्गठ बोल की सञ्ज्ञाय, ढाल 2/2
411. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, ढाल 3/2

412. योगदृष्टि की सञ्ज्ञाय, गाथा 54-56
413. योगदृष्टि समुच्चय, गाथा 15
414. वही, गाथा 57
415. वही, गाथा 56-57
416. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 4/1, पृ. 78
417. योगदृष्टि समुच्चय, पृ. 143
418. वही, पृ. 255
419. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 4/2
420. पातंजल योगसूत्र, पृ. 2/29
421. योगदृष्टि समुच्चय टीका, गाथा 57
422. वही, पं. धीरुभाईकृत विवेचन, गाथा 57, पृ. 224
423. तारा द्वात्रिंशिका
424. योगदृष्टि समुच्चय, गाथा 58-62
425. अध्यात्मसार, प्रबन्ध-1, अधिकार-4
426. पुण्यप्रकाशस्तवल, 4/1, 2
427. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक 58-65
428. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 5/14, पृ. 145
429. पातंजल योगसूत्र, 2/29
430. वही, 2/54
431. व्यास योगसूत्र, 2/54
432. योगदृष्टि समुच्चय, 155, 156
433. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 10
434. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 6/5, पृ. 173
435. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक 162
436. योगसूत्र विभूति पाद, सूत्र-2
437. योगदृष्टि समुच्चय, गाथा 15
438. वही, श्लोक 163-164
439. जैनयोग का आलोचनज्ञात्मक अध्ययन, पृ. 212
440. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 7/1, पृ. 186
441. पातंजल योगसूत्र, 2/29
442. योगसूत्र विभूतिवाद, सूत्र-2

443. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 11
444. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 7/5, पृ. 197
445. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 11
446. योगदृष्टि समुच्चय, गाथा 15
447. आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, 8/1, पृ. 203
448. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 11
449. योगसूत्र विभूतिवाद, सूत्र 3
450. पातंजल योगसूत्र, 3/3
451. योग एवं फिलोसोफी एण्ड रिलीजन, पृ. 147-148
452. ध्यानयोग एवं कर्ममीमांसा, पृ. 12
453. योगशास्त्र, 1/7
454. योगशतक मूल तथा टीका, गाथा 82
455. वही, गाथा 84
456. श्वेताश्वतर, 2/12-13
457. पातंजल योगसूत्र, 3/51
458. योगशतक टीका, गाथा 24
459. जन्मोषधिमंत्रतपः समाधिजाः सिद्धयः, योगदर्शन, 4/1
460. विशुद्धि मार्ग, मार्ग-1, पृ. 34
461. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 779-780
462. ज्ञानार्णव, प्रकरण-26
463. योगशास्त्र प्रकाश, 5, 6
464. भगवती सूत्र, 8/12
465. तिलोपपण्णती, भाग-1, 4/10.67-91
466. आवश्यकनिर्युक्ति, 69-70
467. षट्खण्डागम, खण्ड-4, 1/9
468. श्रमण, वर्ष-1964, अंक 1-2, पृ. 73
469. प्रवचनसारोद्धार, 270, 1492-1508
470. कथाद्वात्रिंशिका, 14; योगशतक, 83-85
471. ज्ञानसार, 24
472. समयसार
473. अध्यात्मोपनिषद् तथा ज्ञानसार

474. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा-21
475. न द्विंश्चात् सर्वभूतानि—छान्दोग्योपनिषद्
476. अध्यात्मसार
477. अध्यात्मोपनिषद्, 2
478. अध्यात्म वैशारदी, भाग-2, पृ. 105
479. योगदीपिका (षोडशकवृत्ति)
480. ज्ञानसार, क्रियाष्टक, गाथा-2
481. वही, गाथा-3
482. गुणवृद्धये ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा ।
483. ज्ञानसार, शमाष्टकम्-4
484. अध्यात्मसार, समताधिकार, गाथा 13
485. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 5

सप्तम अध्याय भाषा दर्शन

भाषा से तात्पर्य
भाषा के प्रयोजन
भाषा पद के निक्षेप
द्रव्यभाषा लक्षण
भाष्यमाण भाषा
भावभाषा के लक्षण
भाषा के भेद

भाषा दर्शन का महत्त्व

भाषा दर्शन एवं पाश्चात्य मन्तव्य

साधारण भाषा दर्शन रसल, मूर, विडगेस्टाईन, आस्टिन
भाषा दर्शन में उपाध्याय यशोविजय का वैशिष्ट्य

भाषा दर्शन

भाषा से तात्पर्य

प्रत्येक प्राणी की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को दूसरे प्राणियों के सम्मुख प्रकट करता है और इस प्रकार दूसरों को भी अपने ज्ञान, अनुभूति और भावना का सहभागी बनाता है। प्राणी की इस पारस्परिक सहभागिता की स्वाभाविक प्रवृत्ति को जैनाचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' नामक सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है। वस्तुतः यह पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति ही सामाजिक जीवन की आधारभूमि है। हम सामाजिक हैं, क्योंकि हम अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं में दूसरों को सहभागी बनाए बिना, दूसरों की भावनाओं एवं अनुभूतियों में सहभागी बने बिना नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहाँ उसे जीवन जीने की सारी सुख-सुविधाएँ तो उपलब्ध हों किन्तु वह अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सके, तो निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगेगा और सम्भव है कि वह कुछ समय पश्चात् पागल होकर आत्महत्या कर ले। केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी भी बिना आत्माभिव्यक्ति के जी नहीं सकते हैं। संक्षेप में जैनदर्शन के अनुसार आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से दूसरों को अपनी अनुभूति और भावनाओं का सहभागी बनाना और दूसरों की अभिव्यक्तियों के अर्थ को समझकर उनकी अनुभूति और भावनाओं में सहभागी बनना—यह प्राणीय प्रकृति है। अब प्रश्न यह उठता है कि अनुभूतियों और भावनाओं का यह सम्प्रेषण कैसे होता है?

आत्माभिव्यक्ति का साधन—भाषा

विश्व के समस्त प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति/प्रस्तुति दो प्रकार से करते हैं—1. शारीरिक संकेतों के माध्यम से और ध्वनि-संकेतों के माध्यम से।

इन्हीं ध्वनि संकेतों के माध्यम से ही भाषाओं का विकास हुआ है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य इसलिए सबसे अधिक सौभाग्यशाली है कि उसे अभिव्यक्ति या विचार-सम्प्रेषण के लिए एक विकसित भाषा मिली हुई है। शब्द प्रतीकों, जो कि सार्थक ध्वनि-संकेतों के सुव्यवस्थित रूप हैं, के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों को अभिव्यक्ति दे पाना, यही मनुष्य की अपनी विशिष्टता है; क्योंकि शब्दप्रधान भाषा के माध्यम से मनुष्य जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण कर सकता है, उतनी स्पष्टता से विश्व का कोई दूसरा प्राणी नहीं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति मात्र ध्वनि-संकेतों या अंग-संकेत से किसी वस्तु की स्वादानुभूति की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से नहीं कर सकता है, जितनी शब्दप्रधान भाषा के माध्यम से कर सकता है। यद्यपि भाषा या शब्दप्रतीकों के माध्यम से की गई यह अभिव्यक्ति अपूर्ण, आंशिक एवं मात्र संकेतरूप ही होती है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक स्पष्ट कोई अन्य माध्यम खोजा नहीं जा सका है।

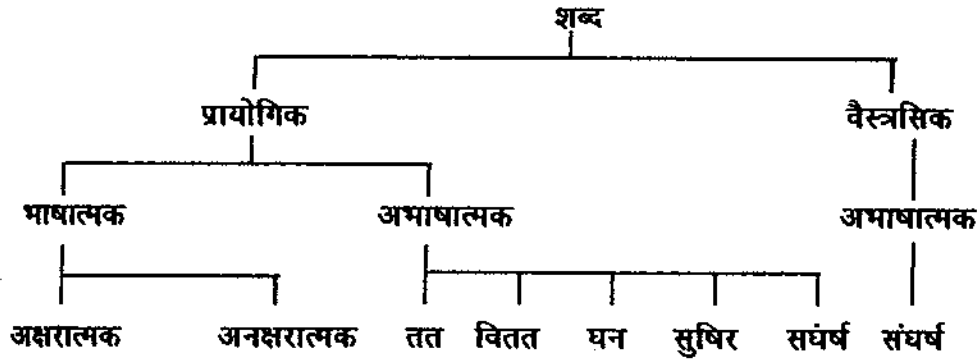
भाषा और भाषा-दर्शन

हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द प्रतीक बना लिये हैं और भाषा हमारे इन शब्द प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें

नाम दे दिये हैं और इन्हीं नामों के माध्यम से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य संबंधी जानकारीयों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। उदाहरण के लिए हम टेबल शब्द से एक विशिष्ट वस्तु को अथवा करुणा या वात्सल्य शब्द से एक विशिष्ट भावना को सांकेतिक करते हैं। मात्र यही नहीं, व्यक्तियों, वस्तुओं, गुणों, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के लिए एवं उनके पारस्परिक विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के लिए अथवा उन सम्बन्धों के अभाव के लिए भी हमने शब्द प्रतीक बना लिये हैं और भाषा की रचना इन्हीं सार्थक शब्द-प्रतीकों के ताने-बाने से हुई है। भाषा शब्द-प्रतीकों की वह नियमबद्ध व्यवस्था है, जो वक्ता के द्वारा सम्प्रेषणीय भावों का ज्ञान श्रोता को कराती है। भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने वाली ज्ञान की दो शाखाएँ हैं—भाषा विज्ञान और भाषा-दर्शन। यद्यपि भाषा-विज्ञान और भाषा-दर्शन दोनों ही भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हैं। दोनों के अध्ययन की विषय-वस्तु भाषा ही है। यह भी सत्य है कि दोनों किसी भाषा विशेष को अपने अध्ययन का विषय न बनाकर भाषा के सामान्य तत्त्वों का ही अध्ययन करते हैं, फिर भी दोनों की मूलभूत समस्याएँ और अध्ययन की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। भाषा-विज्ञान मुख्यतः भाषा की संरचना तथा भाषा एवं लिपि के विकास का अध्ययन करता है, जबकि भाषा दर्शन मुख्य रूप से भाषा की वाच्यता-सामर्थ्य, शब्द और उसमें वाच्यार्थ का सम्बन्ध एवं कथन की सत्यता की समीक्षा करता है। इस प्रकार भाषा दर्शन भाषा-विज्ञान से भिन्न है, क्योंकि वह भाषा के सम्बन्ध में दार्शनिक समस्याओं पर ही विचार करता है, जबकि भाषा-विज्ञान मुख्यतः भाषा की संरचना एवं स्वरूप पर विचार करता है।

भाषा और शब्द

प्रज्ञापना सूत्र का प्रथम प्रश्न भाषा के प्रादुर्भाव से संबंधित है तो दूसरा प्रश्न भाषा की अभिव्यक्ति से संबंधित है। भाषा की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में महावीर का प्रत्युत्तर यह था कि भाषा शरीर से अर्थात् शारीरिक प्रयत्नों से उत्पन्न या अभिव्यक्त होती है।¹ जैन दार्शनिकों ने शब्दों को दो विभागों में बांटा है—प्रायोगिक और वैस्त्रसिक।² साथ ही यह भी माना है कि भाषा प्रायोगिक शब्दों से ही बनती है; वैस्त्रसिक शब्दों से नहीं। भाषा जीव के शारीरिक प्रयत्नों का परिणाम है। अतः प्रज्ञापना का यह कथन समुचित ही है कि भाषा शरीर से उत्पन्न होती है। भाषा के लिए न केवल इन्द्रिय युक्त शरीर आवश्यक है अपितु वक्ता और श्रोता में बुद्धि या विचार-सामर्थ्य का होना भी आवश्यक है। भाषा श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान अनिवार्य रूप से मतिज्ञान पूर्वक ही सम्भव है, पुनः मतिज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन का होना आवश्यक है। अतः भाषा चाहे वह ध्वनि संकेत के रूप में हो या अन्य शारीरिक संकेतों के रूप में हो, वह इन्द्रिय और बौद्धिक मन के माध्यम से ही सम्भव होती है। जीव के अपने शरीर के माध्यम से भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति के जो प्रयत्न होते हैं, वे ही भाषा का रूप ग्रहण करते हैं और यही भाषा की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति का आधार है। इस दृष्टि से प्रज्ञापना का यह कथन कि भाषा की उत्पत्ति शरीर/शारीरिक प्रयत्नों से होती है, समुचित ही है। यद्यपि सभी प्रकार के शारीरिक संकेतों से होने वाले अर्थबोध को भाषा कह सकते हैं, किन्तु सामान्यतया जब हम मानवीय सन्दर्भों में भाषा की बात करते हैं तो हम उसमें सभी प्रकार के शारीरिक संकेतों का समावेश न करके केवल ध्वनि-संकेतों का समावेश करते हैं। इस दृष्टि से मानवीय भाषा अक्षरात्मक या शब्दात्मक कही जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि शब्द भाषात्मक होती है किन्तु सभी शब्द भावनात्मक नहीं होते हैं। जैन चिन्तकों ने शब्दों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है—



प्रथमतः प्रयत्नजन्यता की दृष्टि से शब्दों के प्रायोगिक और वैस्त्रसिक दो विभाग भी किये हैं। प्रायोगिक शब्द वे हैं, जिनकी ध्वनि जीव के प्रयत्नों से उत्पन्न होती है, जबकि वैस्त्रसिक शब्द वे हैं, जिनकी ध्वनि जड़ वस्तुओं के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होती है। वैस्त्रसिक शब्द अनिवार्यतः अभाषात्मक होते हैं जबकि प्रायोगिक शब्द भाषात्मक एवं अभाषात्मक दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। भाषात्मक प्रायोगिक शब्द भी अक्षरात्मक एवं अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार के माने गये हैं। इनमें जो ध्वनि, वर्णों-या अक्षरों से युक्त होती है, वह अक्षरात्मक कही जाती है और जो ध्वनि वर्णों या अक्षरों से रहित होती है, वह अनक्षरात्मक कही जाती है। जड़ वस्तुओं से जो ध्वनि निःसृत की जाती है, वह अभाषात्मक प्रायोगिक शब्द है। यह अभाषात्मक प्रायोगिक शब्द पाँच प्रकार के माने गये हैं—

1. तत—चमड़े से लपेटे हुए वाद्यों से निःसृत शब्द तत कहे जाते हैं।
2. वितत—सारंगी, वीणा आदि तार वाले वाद्यों से निःसृत होने वाले शब्द वितत कहे जाते हैं।
3. घन—झालर, घंटा आदि पर आघात करने से जो शब्द होता है, वह घन कहा जाता है।
4. सुषिर—फूँक कर बजाये जाने वाले शंख आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं।
5. संघर्ष—दो वस्तुओं का घर्षण करके उनसे जो शब्द उत्पन्न किया जाता है, उसे संघर्ष कहते हैं, जैसे—झांझ।

यद्यपि स्वरूपता से ये सभी अभाषात्मक कहे गये हैं, किन्तु प्रायोगिक (प्रयत्नजन्य) होने के कारण इनसे होने वाली शब्द ध्वनियों को भाषात्मक रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। संगीत के स्वर इन्हीं वाद्यों से ही तो निकाले जाते हैं। अतः मेरी दृष्टि में इनमें भाषात्मक रूप में परिणत होने की क्षमता तो माननी ही होगी। ध्वला में कहा गया है कि नगारे आदि के शब्दों को उपचार से भाषात्मक कहा जाता है।⁵

अतः तत-वितत आदि वाद्यों से निकली शब्द-ध्वनि में भी किसी सीमा तक अक्षरात्मक ध्वनि हो सकती है। फिर भी वह स्पष्ट नहीं है, अतः उन्हें भाषात्मक शब्द-ध्वनि के अन्तरभाषित नहीं किया गया है।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि जब जीव के प्रयत्नों के द्वारा संघर्ष करके जो ध्वनि निकाली जाती है, वह प्रायोगिक होती है किन्तु स्वाभाविक रूप से ही जब पदार्थों के संघर्ष से ध्वनि निकलती है तो वह वैस्त्रसिक कही जाती है, जैसे—बादलों की गर्जना, मेघ का जोर से बरसना आदि से होने वाला शब्द। यह पूर्णतः अभाषात्मक है।

शब्द की परिभाषा

शब्द ध्वनि संकेत है; फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सभी प्रकार की ध्वनियाँ शब्द नहीं कही जा सकती हैं। भाषा के सन्दर्भ में शब्द का तात्पर्य वर्णात्मक (अक्षरात्मक) सार्थक ध्वनि संकेत से है। अभिधान राजेन्द्रकोश में शब्द को जैनाचार्यों द्वारा दी गई कतिपय परिभाषाओं का उल्लेख हुआ है। सामान्यतया श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य वर्णों को नियत क्रम में होने वाली ध्वनि को शब्द कहा जाता है।⁶ यद्यपि शब्द की यह परिभाषा उसमें समग्र स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करती है, क्योंकि शब्द मात्र वर्णों को नियत क्रम में होने वाली ध्वनि नहीं है किन्तु अर्थबोध भी उसका अपरिहार्य तत्त्व है। वर्णों की नियत क्रम से होने वाली ध्वनि से अर्थबोध होता है। इसमें निम्न बातें आवश्यक हैं—

1. ध्वनि का वर्णात्मक या अक्षरात्मक होना,
2. उसका नियत क्रम में होना और
3. उसके द्वारा अर्थबोध का होना।

शब्द के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—‘शब्दते प्रतिपाद्यते वस्तत्त्वेनेति शब्दः’ अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ या वस्तु का प्रतिपादन होता है, वही शब्द है।⁷

शब्द की इस परिभाषा की पुष्टि पतंजलि के महाभाष्य की वृत्ति से भी होती है। उसमें कहा गया है—अथ गौरित्यत्र कः शब्दा? गकारौकार विसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः। श्रोतग्रहणे ह्यर्थे शब्दशब्दा प्रसिद्धः। यद्येवमर्थप्रत्ययो नोपपद्यते। अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्धोः गोशब्दोऽस्ति यतोऽर्थ प्रतिप्रति स्यात्।⁸ अर्थात् शब्द उस ध्वनि समूह को नहीं कहते, जिनमें संयोग से तथाकथित शब्दरूप बनता है, बल्कि शब्द वह है, जिसमें किसी अर्थ का विनिश्चय या प्राप्ति होती है। वस्तुतः शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है। वाच्यार्थ का प्रतिपादन ही शब्द की शक्ति है। यदि उससे वस्तुत्व का प्रतिपादन नहीं होता है तो वह निरर्थक ध्वनि ही होगी। सार्थक ध्वनि ही शब्द कही जाती है। भर्तृहरि ने शब्दों को अर्थ से अवियोज्य माना है।⁹ जैनाचार्य ने भी शब्द और अर्थ में अवियोज्य सम्बन्ध तो माना है, फिर भी वे उनमें तदरूपता या तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं, मात्र वाच्यवाचक सम्बन्ध मानते हैं। यहां हमारा प्रतिपाद्य यही है कि वस्तु वाच्यत्व ही शब्द का वास्तविक धर्म है। जैन दर्शन के अनुसार शब्द वह है, जिसमें वाच्यार्थ की सांकेतिक शक्ति है। वाच्यत्व का गुण शब्द में है किन्तु उसका वाच्य उससे भिन्न है। शब्द वाचक है और वस्तु वाच्य है।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि भाषा का प्रारम्भ कब हुआ और किसने किया? जैन साहित्य में भी भगवान ऋषभदेव को लिपि का आविष्कर्ता बताया गया है, भाषा का नहीं।

जहाँ तक भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न है, हमें जैन साहित्य में कहीं भी ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया, जिसमें यह बताया गया हो कि भाषा का प्रारम्भ अमुक व्यक्ति या अमुक समय में हुआ। जैन आगम प्रज्ञापनासूत्र में भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न उठाया गया है, उसमें गौतम ने महावीर के सम्मुख भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में निम्न चार प्रश्न उपस्थित किये हैं—

भासा णं भंते! किमारिया, किंपवहा, किंसीठिया, किंपज्जवसिया? गोयमा!

भाषा णं जीवादिया, सरीरप्पभवा, वज्जसंठिया लोगंत पज्जवसिया पण्णता ।

- अर्थात्— 1. हे भगवन्! भाषा का प्रारम्भ कब से है?
2. भाषा की उत्पत्ति किससे होती है?
3. भाषा की संरचना (संस्थान) क्या है और
4. उसका पर्यवसान कहाँ है?

इन प्रश्नों में प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर ने कहा—भाषा का प्रारम्भ जीव (प्राणी जगत्) से है।¹⁰ महावीर का यह उत्तर वर्तमान युग की भाषा वैज्ञानिक खोजों से प्रमाणित हो जाता है। भाषा प्राणी जगत् में ही सम्भव है। यह बात अलग है कि विभिन्न प्राणियों में अथवा मानव इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं में भाषा का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा हो, परन्तु इतना निश्चित सत्य है कि प्राणी जगत् के अस्तित्व के साथ भाषा का भी अस्तित्व जुड़ा हुआ है। भाषा आत्माभिव्यक्ति का साधन है और यह आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति सभी प्राणियों में पाई जाती है। सभी प्राणी आत्माभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट प्रकार से ध्वनि संकेतों अथवा शारीरिक संकेतों का प्रयोग करते हैं। जैन चिन्तकों ने भाषा को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है—1. अक्षरात्मक भाषा और 2. अनक्षरात्मक भाषा।¹¹

जैन दर्शन में मनुष्यों की भाषा को अक्षरात्मक और मनुष्येतर प्राणियों तथा अक्षरात्मक के बालकों एवं मूक मनुष्यों की भाषा को अनक्षरात्मक भाषा के रूप में मान्य किया है।¹² आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि पशु-पक्षी जगत् में अपनी आत्माभिव्यक्ति के लिए ध्वनि को शारीरिक संकेतों का उपयोग होता है अतः जैन दार्शनिकों की यह मान्यता कि पशु जगत् में भी अव्यक्त रूप में भाषा की प्रवृत्ति पाई जाती है, समुचित सिद्ध होती है। भाषा का तात्पर्य संकेतों के माध्यम से भाषा का सम्प्रेषण है। चाहे कितने ही अस्पष्ट रूप में ही क्यों न हो, पशुओं में ही यह प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः जैन विचारकों की यह मान्यता समुचित है कि विश्व में जब से प्राणी का अस्तित्व है, तभी से भाषा का अस्तित्व है। प्रज्ञापना के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य ही यह है कि भाषा के आदि का प्रश्न प्राणी जगत् के आदि के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है और उससे पृथक् करके इसे नहीं देखा जा सकता है। चूँकि जैन मान्यता के अनुसार प्राणी जगत् का अस्तित्व अनादिकाल से है, अतः भाषा का प्रवाह भी अनादिकाल से चला आ रहा है। यद्यपि कालक्रम एवं देशादि के भेद से उसमें भिन्नता का होना भी स्वाभाविक है। जैनों के अनुसार सत् के स्वरूप के समान भाषा के स्वरूप को भी परिणामी-नित्य ही मानना होगा। भाषा परिवर्तनों के मध्य जीवित रहती है। उनके अनुसार भाषा का कोई स्रष्टा नहीं है। वह जीवन के अस्तित्व के साथ ही चली आ रही है, फिर भी देश एवं कालक्रम में उसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

भाषा सादि है या अनादि? इस प्रश्न का समाधान जैन दार्शनिकों ने श्रुत के सादिश्रुत और अनादिश्रुत—ऐसे दो भेद करके भी किया है। श्रुत भाषा पर आधारित है। अतः उसके सादि या अनादि होने का प्रश्न भाषा के सादि या अनादि होने के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। यदि जैन दर्शन में अपेक्षा भेद से श्रुत को सादि और अनादि या दोनों माना जा सकता है तो फिर अपेक्षा-भेद से भाषा को भी सादि और अनादि दोनों कहा जा सकता है। किसी विशेष व्यक्ति के द्वारा या किसी देश या काल में विकसित होने की अपेक्षा से अथवा किसी प्रयत्न विशेष द्वारा बोली जाने की दृष्टि से भाषा सादि है, किन्तु भाषा परम्परा या भाषा-प्रवाह अनादि है। यद्यपि भाषा को अनादि मानने का तात्पर्य इतना ही है कि जब

से प्राणी जगत् का अस्तित्व है, भाषा का अस्तित्व है अर्थात् संकेतों के माध्यम से भावों एवं विचारों के संप्रेषण का कार्य होता रहा है। यह बात अलग है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि से इस पृथ्वी पर किसी काल-विशेष में जीवन का प्रारम्भ माना जाता है किन्तु विश्व में जीवन के अस्तित्व को अनादि मानकर हम भाषा को अनादि मान सकते हैं, यद्यपि देश और कालगत परिवर्तन भाषा के स्वरूप को परिवर्तित करते हैं।

भारतीय दर्शन में मीमांसक वेद को नित्य और वैयाकरणिक वर्ण ध्वनि को क्षणिक मानकर भी स्फोट को नित्य मानते हैं; और उस आधार पर भाषा को अनादि मानते हैं। दूसरी ओर नैयायिक शब्द को प्रयत्नजन्य और जगत् को सृष्ट मानते हैं और इस आधार पर भाषा को भी सादि या ईश्वर-सृष्ट मानते हैं, जबकि जैन सामान्य भाषा अर्थात् संकेतों को अर्थबोध-सामर्थ्य को नित्य मानकर भी भाषा-विशेष को सादि या अनित्य मानते हैं।

भाषा की उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्त और जैन दर्शन

भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं, किन्तु इनमें प्राचीनतम सिद्धान्त भाषा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जो यह मानता है कि भाषा की रचना ईश्वर के द्वारा की गई है। भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन भाषा को ईश्वर के द्वारा सृष्ट मानता है। ईसाई एवं इस्लाम धर्मों में भी भाषा को ईश्वर द्वारा सृष्ट बताया गया है। यद्यपि मीमांसक दार्शनिक शब्द को अनादि मानने के कारण भाषा को भी अनादि बताते हैं। शब्दाद्वैतवादियों ने शब्द को ही ब्रह्म मानकर भाषा को अनादि माना है। फिर भी उनकी अनादि की कल्पना जैनों की अनादि की कल्पना से भिन्न है। जैनों का अनादि से आशय मात्र इतना ही है कि भाषा का प्रारम्भ कब से हुआ, यह बता पाना कठिन है। उन्होंने भाषा को ईश्वर सृष्ट नहीं माना है। जैनों के अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं अपितु जीव-जगत् या प्राणी-जगत् से है। जैन चिन्तकों के अनुसार भाषा की बहुविधता ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि भाषा ईश्वर-सृष्ट न होकर जीव-सृष्ट है। जीव-जगत् की विविधता ही भाषा की विविधता का आधार है। यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक भाषा-विज्ञान में जैनों को भी भाषा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मानने वाला बता दिया है। इसके लिए उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वही उनके कथन को असंगत सिद्ध करता है। वे लिखते हैं—जैन लोग तो संस्कृत षण्डितों और बौद्धों से चार कदम आगे हैं। उनके अनुसार जो अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही मूल भाषा नहीं, अपितु सभी जीवों की मूल भाषा है।और जब महावीर स्वामी इस भाषा में उपदेश देते हैं तो क्या देवी योनि के लोग और क्या पशु-पक्षी—सभी उस उपदेश का रसास्वादन करते थे।¹³ डॉ. भोलानाथ तिवारी की अवधारणा वस्तुतः जैन परम्परा को सम्यक्त्व से नहीं समझ पाने के कारण है। जैनों ने यह कभी नहीं माना कि अर्धमागधी सभी जीवों की मूल भाषा है। जैन दार्शनिकों के अनुसार सभी प्राणियों की अपनी-अपनी भाषा होती है और तीर्थकरों के उपदेश को वे अपनी-अपनी भाषा में ही समझते हैं कि अर्धमागधी भाषा में। समवायांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भगवान अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। उनके द्वारा बोली गई अर्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य आदि मनुष्य, मृग, पशु आदि चतुष्पद, परिसृप और पक्षी सभी को अपनी-अपनी हितकर, कल्याणकर और सुखरूप भाषा में परिणत हो जाती है।¹⁴ अर्थात् वे सभी उसे समझकर अर्थबोध प्रगट कर लेते हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि उन सबकी अपनी-अपनी अलग भाषा है। यद्यपि यह एक भिन्न प्रश्न है कि वे उसे अपनी भाषा में

किस प्रकार समझते हैं? इसका सम्भाव्य उत्तर यही हो सकता है कि तीर्थंकर कुछ ऐसे ध्वनि-संकेतों और शारीरिक-संकेतों और मुद्राओं का प्रयोग करते थे, जिससे वे उनके कथन के आशय को समझ लेते थे। आज भी मानव-व्यवहार में ऐसे अनेक ध्वनि-संकेत और शरीर-संकेत हैं, जिनका अर्थ अन्य भाषा-भाषी ही नहीं, पशु-पक्षी भी समझ लेते हैं। दिगम्बर परम्परा तो तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि को अक्षरात्मक न मानकर अनक्षरात्मक ही मानती है।¹⁵ अतः जैनों के अनुसार न तो ईश्वर जैसी सत्ता है, न तीर्थंकर भाषा के स्रष्टा हैं। भाषा ईश्वर-सृष्ट न होकर प्राणी-सृष्ट है तथा प्रवाह रूप से अनादि है। इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनमत नैयायिकों से भिन्न है।

भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भाषा-वैज्ञानिकों में दूसरे सिद्धान्त—धातु सिद्धान्त, निर्णय सिद्धान्त, ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त, मनोभाव अभिव्यक्ति-सिद्धान्त, इंगित सिद्धान्त आदि प्रचलित हैं। यद्यपि इनमें से कोई भी सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की निर्विवाद व्याख्या कर पाने में समर्थ नहीं है। वस्तुतः भाषा एक विकासमान एवं गत्यात्मक प्रक्रिया है। उस पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। इसलिए केवल किसी एक सिद्धान्त के आधार पर उसकी उत्पत्ति को सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैनियों के अनुसार भाषा अर्थसंकेत और अर्थबोध जीव के प्रयत्नों का ही परिणाम है; और ये प्रयत्न देश, काल और परिस्थिति के अनेक तथ्यों से प्रभावित होते हैं। जैन दर्शन अनेकान्तवाद का समर्थक है और इसलिए एकान्तरूप से किसी एक अवधारणा को अन्तिम मानकर नहीं चलता।

निष्कर्ष रूप में भाषा ईश्वर-सृष्ट न होकर अभिसमय या परम्परा से निर्मित होती है। उसके अनुसार भाषा कोई ऐसा तथ्य नहीं है, जो बना बनाया (रेडिमेड) मनुष्य को मिल गया है। भाषा बनती रहती है, वह स्थित नहीं, अपितु सतत् रूप से गत्यात्मक (डायनेमिक) है। यह किसी एक व्यक्ति, चाहे वह ईश्वर हो या तीर्थंकर, की रचना नहीं है अपितु कालक्रम में परम्परा से विकसित होती है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही ऐसा सिद्धान्त है, जो जैनों को मान्य हो सकता है।

भाषा के प्रयोजन

शिष्ट पुरुष किसी भी कार्य के प्रारम्भ में उस कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण करते हैं। व्याख्याकार श्रीमद्गुजी भी इस शिष्टाचार का पालन करते हुए अपने इष्टदेव को नमस्कार, जो मंगलरूप हैं, करते हैं। इससे विवरणकार की आस्तिकता भी प्रतीत होती है।

भाषा रहस्य ग्रंथ के विवरण के मंगलश्लोक को दिखाते हुए कहा है—

एन्द्रवृन्दनतं पूर्णज्ञानं सत्यगिरं जिनम्।

नत्वा भाषा रहस्यं स्वं विवृणोमि यथामिति।।¹⁶

विवरण ग्रंथ के मंगलश्लोक में भाषा रहस्य नामक ग्रंथ का विवरण करने की प्रतीज्ञा का उल्लेख है। विवरण का अर्थ है—तुल्यार्थक स्पष्ट करना। मूल वाक्य से इसका विवक्षित अर्थ स्पष्ट न होता तब इसे स्पष्ट करने वाली शब्दश्रेणी को विवरण कहा जाता है। वह तो मूलग्रंथ में अंतर्निहित रहस्यार्थ को खोलने की कुंजी मात्र है। इस कथन से मूल ग्रंथ की गम्भीरता सूचित होती है।

भाषा रहस्य स्वयं इससे अभिधेय बताया गया है। इसको विषयरूप अनुबन्ध भी कहा जाता है। अनुबन्ध का अर्थ है—स्वविषयक ज्ञानद्वारा शास्त्रे प्रवर्तकः, अर्थात् अपना ज्ञान कराकर जो शास्त्र में प्रवर्तन करता है, वह अनुबन्ध कहा जाता है। ग्रंथ के विषय का ज्ञान होने पर विषय के अर्थी

श्रोता एवं पाठक इस शास्त्र में प्रवृत्ति करते हैं। अतः अभिधेय अनुबन्ध रूप कहा जाता है। विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन के भेद से अनुबन्ध चार प्रकार का है। यहाँ विषयरूप अनुबन्ध को कंठतः ग्रहण किया गया है, शेष तीन अनुबन्ध सामर्थ्यगम्य हैं। जैसे कि अपने वाच्यार्थ के साथ इस विवरण का अभिधेय-अभिधायक भाव सम्बन्ध है। जो भाषा-विषयक रहस्यार्थ का जिज्ञासु होगा, वो ही यहाँ अधिकारी है—यह बात भी अर्थतः प्रतीत होती है तथा व्याख्याकार का अनंतर प्रयोजन शिष्यों पर उपकार करना और श्रोता-पाठक का अनंतर-साक्षात् प्रयोजन है—भाषा-विषयक ऐदम्पर्य ज्ञान की प्राप्ति। दोनों का परम्परप्रयोजन है—मोक्ष की प्राप्ति। यह बात भी सामर्थ्यगम्य है। यद्यपि यहाँ विवरणकार ने शब्दतः सिर्फ अभिधेयरूप अनुबन्ध का ही ग्रहण किया है, तथापि 'तदग्रहणे च तत्सजातीयोऽपि गृह्यते' अर्थात् न्याय से अनुबन्ध सजातीय होने से सम्बन्ध-अधिकारी और प्रयोजन को भी अर्थतः ग्रहण किया गया है।

स्व-पर को मोक्ष की प्राप्ति के लिए जैसे रत्नत्रयी की प्ररूपणा, ज्ञान एवं इसका पालन आवश्यक है, वैसे ही रत्नत्रय के उपकारक और वह उपकारक जिसके अधीन हो—इन दोनों का ज्ञान एवं पालन के लिए दोनों का भी प्ररूपण आवश्यक प्रतीत होता है। मोक्ष का प्रधान हेतु चारित्र है और उसके उपकारक रूप से 5 समिति और 3 गुप्ति प्रसिद्ध है, जिनमें भाषासमिति और वचनगुप्ति भी अंतःप्रविष्ट है। भाषा-समिति और वचनगुप्ति भाषा विशुद्धि के अधीन हैं। तदर्थ भाषा-विशुद्धि का प्रतिपादन भी आवश्यक है। भाषा-विशुद्धि भाषाविशुद्धि के ज्ञान पर अवलम्बित है तथा प्रस्तुत प्रकरण भाषा-विशुद्धि का प्रतिपादक होने से भाषाविशुद्धि विषयक ज्ञान का, जो कि मोक्ष के प्रधान कारणभूत चारित्र के अंगरूप भाषा समिति-गुप्ति की नियामक भाषा विशुद्धि की इच्छा का जनक है, कारण है। अतः यह प्रकरण भी परम्परा से मोक्ष का कारण-प्रयोजन है।

मुमुक्षु के लिए मोक्ष के प्रधान कारण चारित्र के उपकारक भाषा समिति और वाक्यगुप्ति जिसके अधीन हैं, वह भाषा-विशुद्धि अवश्य उपादेय है, क्योंकि कार्य की सिद्धि के लिए कार्य के उपायों में प्रवृत्ति आवश्यक है तथा उपायों में प्रवृत्ति करने के लिए उपायों का ज्ञान भी अनिवार्य है। इससे उपाध्याय यशोविजय द्वारा साक्षात् प्रयोजन में निर्देशित 'परोपकाराय सतां विभूतयः महापुरुषाणां प्रवृत्तिः परोपकारव्याप्ताभवति।' ¹⁷ ये दो उक्तियां यहां स्मृतिपट पर आती हैं।

किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने के पूर्व में अपने इष्टदेव को नमस्कार करना—यह शिष्टों का आचार होने से मंगलाचरण से शिष्टाचार का परिपालन भी सम्पन्न हुआ है, जैसे—'भोजनेन तृप्तो भवति' वाक्य से भोजन में तृप्ति की प्रयोजकता का और तृप्ति में भोजन-प्रयोजकता का ज्ञान होता है अर्थात् भोजन का प्रयोजन तृप्ति है, ऐसा बोध होता है। वैसे यहाँ 'तेन शिष्टाचारः परिपालितो भवति' ¹⁸ इस वाक्य से मंगल में शिष्टाचार परिपालन की प्रयोजकता और शिष्टाचार परिपालन में मंगल-प्रयोज्यता ज्ञात होती हैं। अतः मंगल का प्रयोजन शिष्टाचार है, यह ज्ञात होता है।

उपाध्याय यशोविजय की दृष्टि से भाषा, भाषादर्शन एवं भाषा रहस्य ग्रंथ को समझकर, जानकर सदाचारी शिष्ट जन चारित्र की निर्मलता को प्राप्त करे, यह ग्रंथकार का प्रयोजन है। ¹⁹

भाषा का प्रयोजन यानी भाषा का अगर ज्ञान नहीं होगा तो अपन कुछ भी चिंतन, मनन, विचार, व्यवहार वही कर सकते हैं। कई बार भाषा का ज्ञान नहीं होने के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है और यह अनर्थ पाप का कारण एवं अन्य का मारक बनता है। इसलिए भाषा के साथ-साथ भाषाविशुद्धि

भी बहुत ही उपयोगी है। अगर भाषा का ज्ञान है पर उनकी शुद्धि नहीं है तो भी अनर्थ खड़ा हो जाता है, जैसे—युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका की सरकार ने कुछ साल पहले फल के पौधे की, जिनकी आयात हो रही थी, करमुक्त करने का तय किया था, जिसका All foregin fruit-plants ऐसा उल्लेख न होकर All foreign fruit-plants ऐसा लिखित उल्लेख प्रकट हुआ था। भाषा की अशुद्धि की बदौलत आम केले आदि फलों को आयात कर-मुक्त बनने से 20,00,000 डॉलर का नुकसान हुआ। भाषा की अविशुद्धि से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इस सत्य की समर्थक एक दूसरी घटना इस तरह घटी थी। किसी एक संसदसदस्य ने दूसरे संसदसदस्य पर झूठ बोलने का इल्जाम लगाया जिसकी वजह से उसे लिखित क्षमापात्र देने को मजबूर होना पड़ा कि I said he was a liar, it is true, and I am sorry for it. मगर वर्तमान पत्र में इसका निर्देश I said he was a lair it is true and I am sorry for it.—इस ढंग से होने के सबब से भारी गैर-समझ हो गई। विषं दधात् का विषां दधात्—ऐसा परिवर्तन होने से भौत के स्थान में राजकन्या, सार्वभौम साम्राज्य आदि पाने का दृष्टान्त भी सुप्रसिद्ध है। ऐसे तो अनेक प्रसंग हैं जो भाषाशुद्धि की उपादेयता एवं भाषा अविशुद्धि की हेयता को घोषित कर रहे हैं। भाषा (वचनयोग) में एक ऐसा सामर्थ्य निहित है, जो कोबाल्ट बॉम्ब की भांति महाविनिपात का सृजन करने में सक्षम होता है तो कभी पुष्करावर्त मेघ की तरह दूसरों के जीवन में नई चेतना, अनूठा आनन्द, अनुपम स्वस्थता आदि को फैलाने में भी। जीवन व्यवहार में आग की भांति वाणी अति आवश्यक भी है एवं विस्फोटक भी। अतएव न तो उसका सर्वथा त्याग किया जा सकता है और न निर्विवाद एवं बेखौफ उपयोग भी। एतदर्थ जीव में से शिव बनने के लिए सारा उद्योगी साधनों के लिए भाषा से भलीभांति सुपरिचित होना अनिवार्य ही नहीं बल्कि अति आवश्यक है—यह बताने की जरूरत नहीं है। भारतीय के माध्यम से किस पहलू से अपने इष्ट फल की सिद्धि हो, जिससे जिनाज्ञा का भंग न हो, यह ज्ञान होना प्रत्येक साधक के लिए प्राणवायु की भांति आवश्यक है।²⁰

अद्यतन काल में भाषा का ज्ञान साधु भगवन्त एवं जन-साधारण के लिए नितान्त आवश्यक है। कोई भी भाषा हो परन्तु वह भाषा सभी प्रकार से विशुद्ध होनी चाहिए, क्योंकि भाषा विशुद्ध परम्परा से मोक्ष का कारण है। यह भाषा रहस्य ग्रंथ का हार्द है। यह बात उपाध्याय यशोविजय ने ग्रन्थ की अवतरणिका में ही कही है, जैसे—इह खलु निःश्रेयसार्थिना भाषाविशुद्धि खश्यमादेया, वाकसमितिगुण्योश्च तदधीनेत्वात् तयोश्च चारित्राङ्गत्वात् तस्य च परमनिःश्रेयसहेतुत्वात्।²¹

भाषा (वाक्गुप्ति) अष्टप्रवचन माता का अंग है। भाषा विशुद्धि का अनभिज्ञ अगर संज्ञादि परिहार से मौन रखे तो भी उसे वाक्गुप्त का फल प्राप्त नहीं होता है। अतः भाषा विशुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसलिए सावध, निरवघ, वाच्य, अवाच्य, औत्सर्गिक, आपवादिक, सत्य, असत्य आदि भाषा की विशिष्ट जानकारी हेतु, अष्टप्रवचनमाता के आराधकों के लिए भाषा रहस्य ग्रंथ गागर में सागर है। ऐसा उपाध्यायजी का कहना है।

विचार और भाषा

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि क्या भाषा के बिना विचार या चिंतन संभव है? सामान्यतया यही माना गया है कि चिंतन के लिए भाषा या शब्द व्यवहार आवश्यक नहीं है। कोई भी चिंतन बिना भाषा या शब्द व्यवहार के संभव नहीं है। जैन दर्शन में भाषा और विचार के पारस्परिक सम्बन्ध के इस प्रश्न को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में उठाया गया है। यद्यपि सभी जैन आचार्यों

ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि श्रुतज्ञान (भाषायी ज्ञान), मतिज्ञान (इन्द्रिय बोध) के बिना सम्भव नहीं है। श्रुत मतिपूर्वक है, इस बात को तत्त्वार्थ एवं अन्य ग्रंथों में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।²² वस्तुतः चिंतन या विमर्श के पूर्व इन्द्रिय संवेदन आवश्यक है। इन्द्रियबोध ही वह सामग्री प्रस्तुत करता है, जिस पर चिन्तन या मनन होता है और जिसका सम्प्रेषण दूसरों के प्रति किया जाता है। अतः जैनों की यह अवधारणा समुचित ही है कि मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान का पोषण करता है, उसे पूर्णता प्रदान करता है, क्योंकि मतिज्ञान से श्रुत का पुनरावर्तन होता है। मतिज्ञान से ही श्रुतज्ञान प्राप्त किया जाता है और मतिपूर्वक ही श्रुतज्ञान दूसरों को प्रदान किया जाता है।

विशेषावश्यक भाष्य में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध को लेकर गम्भीर चर्चा उपस्थित की गई है। विशेषावश्यक भाष्यकार भी इस बात को स्वीकार करता है कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, किन्तु मतिज्ञान श्रुतज्ञान पूर्वक नहीं होता है।²³ यद्यपि मल्लधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यक वृत्ति में इतना अवश्य स्वीकार कर लिया है कि मतिज्ञान भी द्रव्यश्रुत पूर्वक होता है। वस्तुतः इस चर्चा में उतरने के पूर्व हमें यह समझ लेना होगा कि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान का और मतिज्ञान में श्रुतज्ञान का अवदान किस प्रकार से होता है। जैन आचार्यों ने मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रिय संवेदन और मानसिक संवेदनों के साथ चिंतन, विचार और तर्क को भी समाहित किया है। यदि यह प्रश्न होता है कि चिन्तन, मननादि क्या बिना भाषायी व्यवहार से संभव है और यदि वे बिना भाषा के सम्भव नहीं हैं तो फिर मतिज्ञान के जो अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा—ऐसे चार भेद किये गए हैं, उनमें अवग्रह को छोड़कर शेष सभी प्रकारों में चिंतन और विमर्श होता है, जो भाषा के बिना नहीं होता, अतः हमें यह मानना होगा कि अवग्रह को छोड़कर शेष सभी प्रकार का मतिज्ञान श्रुतज्ञान का अनुसारी है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि जहाँ भाषा व्यवहार है, वहाँ श्रुतज्ञान है और अवग्रह के बाद ईहा और अपाय में निश्चित रूप से भाषा व्यवहार है। विशेषावश्यक भाष्य एवं उपाध्याय यशोविजय की जैन तर्कपरिभाषा²⁴ में यह प्रश्न उठाया गया है कि अवग्रह ही मतिज्ञान है; ईहादि भाषा, शाब्दोल्लेख सहित होने से मतिज्ञान नहीं होंगे, अतः उन्हें श्रुतज्ञान मानना पड़ेगा। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि यद्यपि ईहादि शब्दोल्लेख सहित है, फिर भी वे शब्दरूप नहीं हैं, क्योंकि अभिलाष्य ज्ञान जब श्रुत अनुसारी होता है, तभी वह श्रुत कहलाता है, अन्यथा नहीं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अन्तर व्यक्त वचन, व्यवहार एवं अक्षरप्रयोग के आधार पर किया गया है। वस्तुतः मतिज्ञान में अव्यक्तरूप से ही भाषा-व्यवहार देखा जाता है, व्यक्त रूप से नहीं। मति और श्रुत में भेद मूक और अमूक के आधार पर ही है। यह भी कहा जा सकता है कि ईहादि श्रुत निश्चित ही है, क्योंकि संकेत काल में सुने हुए शब्द का अनुसरण किए बिना वे घटित नहीं होते। यह ठीक होते हैं कि श्रुत से संस्कार प्राप्त मति वाले व्यक्ति को ईहादि उत्पन्न होते हैं, इसीलिए उन्हें श्रुत-निश्चित कहा गया, किन्तु उनमें व्यवहार काल में श्रुत का अनुसरण नहीं होता, अतः उन्हें श्रुतज्ञान रूप नहीं माना जा सकता। वस्तुतः चिंतन और मनन में अव्यक्त रूप में भाषा व्यवहार होते हुए भी बाह्यरूप से वचन-प्रवृत्ति का अभाव होता है और इसी बाह्य-वचन प्रवृत्ति के आधार पर या व्यक्त संकेतात्मकता के आधार पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का भेद किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में मतिज्ञान के ईहादि भेदों में अव्यक्त रूप से भाषा-व्यवहार है और श्रुतज्ञान में व्यक्त रूप से भाषा व्यवहार है।

पं. सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्र की विवेचना में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता है और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनों का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित है, वह श्रुतज्ञान है और जो शब्दोल्लेख रहित है, वह मतिज्ञान है। शब्दोल्लेख के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए आगे वे लिखते हैं कि शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्दशक्तिग्रह जन्यत्व से है अर्थात् जैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत, स्मरण और श्रुतग्रन्थ का अनुसरण अपेक्षित है, वैसे ही ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके, वह श्रुतज्ञान और जो ज्ञान भाषा में उतारने लायक परिपात्र भी प्राप्त न हो, वह मतिज्ञान है। श्रुतज्ञान खीर है तो मतिज्ञान दूध।²⁵ श्रुतज्ञान को भी जैनाचार्य ने दो भागों में विभक्त किया है—1. अक्षरश्रुत, 2. अनक्षरश्रुत। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि श्रुतज्ञान भाषा से संबंधित है तो फिर अनक्षरश्रुत का क्या अर्थ होगा? वह तो मतिज्ञान का ही रूप होगा। इस सम्बन्ध में जैन मान्यता यही है कि जब ज्ञाता स्वयं जानता है तो अनक्षर श्रुत है और जब दूसरों को ज्ञान कराता है अथवा दूसरों से ज्ञान प्राप्त करता है तो वह अक्षरश्रुत है। स्वयं ज्ञान करने में भाषा का प्रयोग होता है, निजी अक्षरों का उच्चारण नहीं होता है अतः वह अनक्षर श्रुत है। अनक्षर का अर्थ भाषा रहित नहीं बल्कि शब्दोच्चारण से रहित होना है। अनक्षर श्रुत का दूसरा अर्थ यह होता है कि उसमें शब्दों के अतिरिक्त अन्य संकेतों का अर्थबोध कराया जाता है, क्योंकि इसमें शब्दों का प्रयोग नहीं है, फिर भी अर्थबोध है। अतः यह अनक्षर श्रुत है। अतः संकेत की व्यक्तता और अव्यक्तता ही श्रुतज्ञान और मतिज्ञान के भेद का आधार है।

मतिज्ञान में भाषा का कोई स्थान ही नहीं है, यह मान्यता भी उचित नहीं है। मेरी दृष्टि में अवग्रह को छोड़कर ईहा आदि मतिज्ञान में अन्य सभी रूप भी भाषा से संबंधित है, क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र में जहाँ चिन्तन या विचार का प्रारम्भ होता है, वहाँ स्वाभाविक रूप से भाषा आ ही जाती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के साथ ही मतिज्ञान में भी अवग्रह के पश्चात् की समस्त प्रक्रिया भाषा से संबंधित है, क्योंकि वह चिन्तन एवं विमर्श से युक्त है। यह एक अद्भुत सत्य है कि मनुष्य में जो भी सोचने-विचारने की प्रक्रिया घटित होती है, वह भाषा में घटित होती है, उससे अन्यथा नहीं। भाषा के बिना चिन्तन और मनन संभव ही नहीं है। अतः निर्विशेष और निर्विकल्प इन्द्रियानुभूति और आत्मानुभूति को छोड़कर शेष सभी ज्ञानात्मक व्यवहार भाषा पर आधारित है। इस प्रकार जैनों का मतिज्ञान भी किसी सीमा तक भाषा से संबंधित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल—इन पाँच ज्ञानों में आंशिक रूप से मतिज्ञान और पूर्णरूप से श्रुतज्ञान भाषा से संबंधित है। मात्र अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीन ज्ञान अपरोक्ष आत्मानुभूति के रूप में भाषा से संबंधित नहीं हैं। मतिज्ञान में मात्र व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह ही ऐसे हैं जो भाषा से संबंधित हैं, क्योंकि इनमें संशय, चिन्तन और विमर्श होता है और ये सभी बिना भाषा के संभव नहीं हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी चिन्तन अव्यक्त भाषा व्यवहार ही है।

अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में विचार और भाषा अपरिहार्य रूप से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। बिना भाषा के विचार एवं चिन्तन संभव नहीं है। अतः भाषा का प्रयोजन भाषा, भाषारहस्य, भाषादर्शन एवं भाषा-विशुद्धि का ज्ञान होना अनिवार्य ही नहीं बल्कि आवश्यक है।

भाषा शब्द के निक्षेप

जैन दर्शन में शब्द (भाषा) के वाच्यार्थ का निर्धारण करने के लिए दो प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए हैं—नय-सिद्धान्त और निक्षेप-सिद्धान्त। यहाँ हम भाषा पद के निक्षेप के बारे में चर्चा करेंगे।

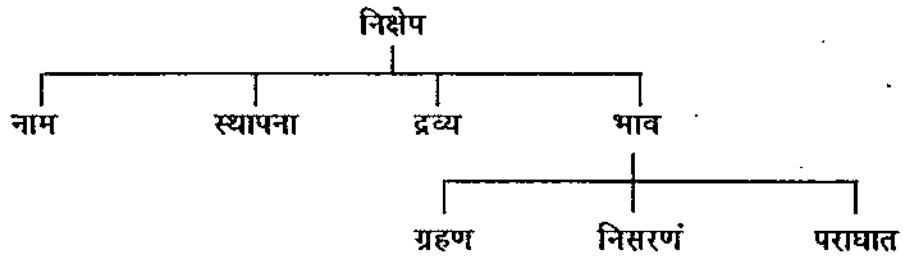
उपाध्याय यशोविजय ने निक्षेप के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिससे प्रकरण (सन्दर्भ) आदि के अनुसार अप्रतिपाति अन्तर का निराकरण होकर शब्द के वाच्यार्थ का यथास्थान विनियोग होता है, ऐसी रचना विशेष को निक्षेप कहते हैं।²⁶

लघीयस्त्रयी में भी निक्षेप की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि निक्षेप के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का निषेध और प्रस्तुत अर्थ का निरूपण होता है।²⁷ वस्तुतः शब्द का प्रयोग वक्ता ने किस अर्थ में किया है, इसका निर्धारण करना ही निक्षेप का कार्य है। हम राजा नामधारी व्यक्ति, नाटक में राजा का अभिनय करने वाले व्यक्ति, भूतपूर्व शासक और वर्तमान में राज्य के स्वामी—सभी को राजा कहते हैं। इसी प्रकार गाय नामक प्राणी को भी गाय कहते हैं और उसकी आकृति के बने हुए खिलौनों को भी गाय कहते हैं। अतः किस प्रसंग में शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, इसका निर्धारण करना आवश्यक है। निक्षेप हमें इस अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया को समझाता है। पं. सुखलाल संघवी अपने तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन में लिखते हैं कि “समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है।²⁸ भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ सामान्य के चार विभाग हैं। ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है। जैन आचार्यों ने चार प्रकार के निक्षेपों का उल्लेख किया है—1. नाम, 2. स्थापना, 3. द्रव्य और 4. भाव।

इसी सन्दर्भ में उपाध्याय यशोविजय ने निक्षेप के भेद बताते हुए भाषा रहस्य में कहा है—

नामाई निक्खेवा चउरो चउरेहि एत्थ णायव्वा।
दव्वे तिविहा गहणं तहं य निसिरणं पराघाओ।।²⁹

अर्थात् यहाँ चतुर पुरुषों से भाषा के नामादि चार निक्षेप ज्ञातव्य हैं। भाषा के द्रव्य-निक्षेप के तीन भेद हैं—1. ग्रहण, 2. निसरण, 3. पराघात।



कुशल पुरुषों को यहाँ निरूपणीय भाषा के चार निक्षेप ज्ञातव्य हैं—1. नाम भाषा, 2. स्थापना भाषा, 3. द्रव्य भाषा, 4. भाव भाषा। उनका संक्षिप्त में विवरण इस प्रकार है—

1. नाम भाषा-निक्षेप

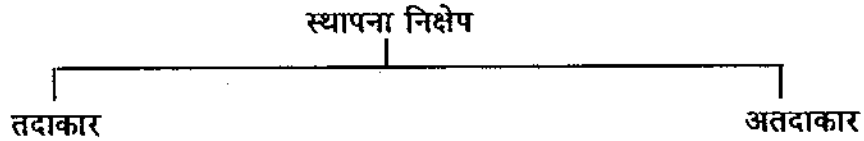
व्युत्तिसिद्ध एवं प्राकृत अर्थ की अपेक्षा न रखने वाला जो अर्थ माता-पिता या अन्य व्यक्तियों

के द्वारा किसी वस्तु को दे दिया जाता, वह नाम भाषा-निक्षेप है। जैसे भाषा शब्द यह भाषा का नामनिक्षेप है।

नाम निक्षेप में न तो शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ का विचार किया जाता है और न उसके लोक-प्रचलित अर्थ का विचार किया गया है, और न उस नाम के अनुरूप गुणों का ही विचार किया जाता है; अपितु मात्र किसी व्यक्ति या वस्तु को सांकेतिक करने के लिए उसका एक नाम रख दिया जाता है।³¹ उदाहरण के रूप में कुरूप व्यक्ति का नाम सुन्दरलाल रख दिया जाता है। नाम देते समय अन्य अर्थों में प्रचलित शब्दों, जैसे—सरस्वती, नारायण, विष्णु, इन्द्र, रवि आदि अथवा अन्य अर्थों में अप्रचलित शब्द, जैसे—रिंकू, पिंकू, मोनु, टोनु आदि से किसी व्यक्ति का नामकरण कर देते हैं और उस शब्द को सुनकर उस व्यक्ति या वस्तु में संकेत ग्रहण होता है। नाम किसी वस्तु या व्यक्ति को दिया गया शब्द-संकेत है, जिसका अपने प्रचलित अर्थ, व्युत्पत्तिपरक अर्थ और गुण निष्पन्न अर्थ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि नामनिक्षेप में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसमें एक शब्द से एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।

स्थापना भाषा निक्षेप

किसी वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र में उस मूलभूत वस्तु का आरोपण कर उसे उस नाम से अभिहित करना स्थापना निक्षेप है। उपाध्याय यशोविजय ने भी स्थापना भाषा निक्षेप का विवरण करते हुए कहा है—लिपि, अक्षर, भाषा का स्थापना निक्षेप, यानी स्थापना निक्षेप यदि स्थापना भाषा है या तो किसी चीज की संज्ञा भाषा की स्थापना करने पर यह चीज स्थापना-भाषा स्वरूप होती है, जैसे—जिन प्रतिमा को जिन, बुद्ध प्रतिमा को बुद्ध और कृष्ण की प्रतिमा को कृष्ण कहना। नाटक के पात्र, प्रतिकृतियाँ, मूर्तियाँ, चित्र—ये सब स्थापना निक्षेप के उदाहरण हैं। जैन आचार्यों के इस स्थापना निक्षेप के दो प्रकार माने गए हैं—



वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति में उस मूल वस्तु का आरोपण करना यह तदाकार स्थापना निक्षेप है। उदाहरण के रूप में गाय की आकृति के खिलौने को गाय कहना, जो वस्तु अपनी मूलभूत वस्तु की प्रतिकृति तो नहीं है, किन्तु उसमें उसका आरोपण कर उसे जब उस नाम से पुकारा जाता है तो वह अतदाकार स्थापना निक्षेप है। जैसे हम किसी अनगढ़ प्रस्तर खण्ड को किसी देवता का प्रतीक मानकर अथवा शतरंज के मोहरों को राजा, वजीर आदि के रूप में परिकल्पित कर उन्हें उस नाम से पुकारते हैं।³²

द्रव्य का निक्षेप

जो अर्थ या वस्तु पूर्व में किसी पर्याय, अवस्था या स्थिति में रह चुकी हो अथवा भविष्य में किसी पर्याय, अवस्था या स्थिति में रहने वाली हो, उसे वर्तमान में उसी नाम से सांकेतिक करना—यह द्रव्य निक्षेप है। जैसे—कोई व्यक्ति पहले अध्यापक था, किन्तु वर्तमान में सेवानिवृत्त हो चुका है, उसे वर्तमान में भी अध्यापक कहना अथवा वह विद्यार्थी, जो अभी डॉक्टरी का अध्ययन कर रहा है, डॉक्टर

कहना अथवा किसी भूतपूर्व विधायक को तथा वर्तमान में विधायक का चुनाव लड़ रहे व्यक्ति को विधायक कहना—ये सभी द्रव्य निक्षेप के उदाहरण हैं। लोक-व्यवहार में हम इस प्रकार की भाषा के अनेकशा प्रयोग करते हैं, यथा वह घड़ा जिसमें कभी घी रखा जाता था, वर्तमान काल में चाहे वह घी रखने के उपयोग में न आता हो फिर भी घी का घड़ा कहा जाता है।⁵⁴

भाव निक्षेप

जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त सम्यक् प्रकार से घटित होता हो, वह भाव-निक्षेप है, जैसे—किसी धनाढ्य व्यक्ति को लक्ष्मीपति कहना, सेवाकार्य कर रहे व्यक्ति को सेवक कहना आदि।⁵⁴

वक्ता के अभिप्राय अथवा प्रसंग के अनुरूप शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करने के लिए निक्षेपों की अवधारणा का बोध होना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में किसी छात्र को कक्षा में प्रवेश करते समय कहा गया—राजा आया, इस कथन का वाच्यार्थ किसी नाटक में मंच पर किसी पात्र को आते हुए देखकर कहा गया—राजा आया, इस कथन के वाच्यार्थ से भिन्न है। प्रथम प्रसंग में 'राजा' शब्द का वाच्यार्थ है—राजा नामधारी छात्र है, जबकि दूसरे प्रसंग में राजा शब्द का वाच्यार्थ है—राजा का अभिनय करने वाला पात्र। आज भी हम महाराजा बनारस और महाराजा ग्वालियर शब्दों का प्रयोग करते हैं, किन्तु आज इन शब्दों का वाच्यार्थ वह नहीं है, जो सन् 1947 के पूर्व था। वर्तमान में इन शब्दों का वाच्यार्थ द्रव्य-निक्षेप के आधार पर निर्धारित होगा, जबकि सन् 1947 के पूर्व वह भावनिक्षेप के आधार पर निर्धारित होता था। राजा शब्द कभी राजा नामधारी व्यक्ति का वाचक होता है तो कभी राजा का अभिनय करने वाले पात्र का वाचक होता है। कभी वह भूतकालीन राजा का वाचक होता है तो कभी वह वर्तमान में शाकार करने वाले व्यक्ति का वाचक होता है। निक्षेप का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि हमें किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण कर उसके कथन प्रसंग के अनुरूप ही करना चाहिए, अन्यथा अर्थबोध में अनर्थ होने की संभावना बनी रहेगी। निक्षेप का सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ के सम्यक् निर्धारण का सिद्धान्त है, जो कि जैन दार्शनिकों की अपनी एक विशेषता है।

द्रव्य भाषा लक्षण

उपाध्याय यशोविजय ने द्रव्यभाषा का लक्षण बताते हुए कहा है—'वस्तु तस्तु भावभाषाभिन्नत्वे सति भावभाषाजनकत्वस्यैव स्वरूपतो द्रव्यभाषा लक्षणम्' अर्थात् ग्रहणादि तीन भाषा विवक्षा से द्रव्यभाषा नहीं है किन्तु स्वरूपतः द्रव्यभाषा है।

भव्य शरीर व्यतिरिक्त द्रव्यभाषा का निरूपण करते हुए विवरणकार ने कहा कि तद्रव्यतिरिक्त द्रव्यभाषा के तीन भेद हैं—

1. ग्रहण द्रव्यभाषा,
2. निसरण द्रव्यभाषा,
3. पराघात द्रव्यभाषा।⁵⁵

1. ग्रहण—तद्रव्यतिरिक्त द्रव्यभाषा के प्रथम भेद का निरूपण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं—काययोग से परिणत आत्मा भाषा-परिणमन योग्य द्रव्यों को ग्रहण करके जब तक उनका त्याग नहीं करता है, तब तक वे भाषा द्रव्य की आगम से तद्रव्यतिरिक्त ग्रहणद्रव्यभाषा कहे जाते हैं। हृदय, कंठ आदि शब्द

• उत्पादक स्थानों में प्रयत्न करके तत् विभाग के अनुसार पूर्वगृहीत भाषा द्रव्यों को पुरुष छोड़ता है, तब वे भाषाद्रव्य निसरण द्रव्यभाषा स्वरूप होते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण लोक में भाषा वर्गणा यानी भाषा परिणमन प्रयोग द्रव्य चारों ओर फैले हुए हैं। फिर भी हम उनको नहीं देख सकते हैं, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं लेकिन विशेष शक्ति से भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त जीव इन भाषा-द्रव्यों को ग्रहण कर पाता है। भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त जीव भाषायोग्य द्रव्य को सदा ग्रहण नहीं करता है, किन्तु जब वह वचन उच्चारण का प्रयत्न करता है तब अपनी सम्पूर्ण काया से भाषा द्रव्य को ग्रहण करता है, जिसे ग्रहण द्रव्य भाषा कहते हैं।

2. निसरण—जीव गृहीत भाषा द्रव्यों को कण्ठ, ओष्ठ आदि शब्दजनक स्थानों में विशेष प्रयत्न करके शब्दविशेष रूप से परिणत करके ग्रहण के अनन्तर समय में छोड़ता है, जो निसरण द्रव्य भाषा स्वरूप होते हैं।

जैसे क, ख आदि शब्द का उत्पत्तिस्थान कण्ठ है तो प, फ आदि का उत्पत्तिस्थान ओष्ठ है। जब प शब्दोच्चारण का प्रसंग उपस्थित होता है तब जीव वाग्योग से परिणत होकर काययोग से भाषावर्गणा पुद्गल को ग्रहण करने के बाद प शब्दोत्पत्तिस्थान होठ में प्रयत्न करके पूर्वगृहीत भाषावर्गणा पुद्गल को प रूप में परिणत करके छोड़ता है। यह बात अनुभव सिद्ध है। हम कभी भी एक होठ को दूसरे होठ से छूए बिना प, फ, ब, भ, म शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते हैं। ये निःसृष्ट भाषाद्रव्य यहाँ तद्द्रव्यतिरिक्त निसरण द्रव्यभाषा पर से वाच्य हैं।

3. पराघातश्च—वक्ता विवक्षित शब्दरूप में परिणत करके जिन भाषाद्रव्यों को छोड़ता है, वे भाषा द्रव्य भाषा परिणमनयोग्य द्रव्यों को अपने समानरूप से वासित करते हैं, जैसे कि निःसृष्ट प शब्द अन्य भाषा योग्य द्रव्य को प शब्द के रूप में परिणत करता है। ये वासित भाषाद्रव्य यहाँ तद्द्रव्यतिरिक्त पराघात द्रव्यभाषा शब्द से अभिप्रेत हैं।

भाषा के सम्बन्ध में जैनदर्शन की उपर्युक्त मान्यता सत्य प्रतीत होती है। आजकल वैज्ञानिकों ने भी भाषा शब्द को पुद्गलरूप स्वीकार किया है। प्रतिध्वनि, तीव्र शब्द से कान में बधिरता, पराघात आदि से शब्द में पुद्गलरूपता सिद्ध होती है। भाषा वर्गणा के पुद्गलों को शब्दरूप में परिणत करके छोड़ने के लिए सर्वप्रथम उनका ग्रहण करना आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम द्रव्यभाषा के भेदरूप में ग्रहण द्रव्यभाषा का निरूपण संगत ही है। श्रोता को अर्थबोध कराने के लिए शब्दद्रव्यों का विवक्षित रूप में परिणमन करके त्याग करना भी आवश्यक है, जो ग्रहण के बाद होता है। अतः ग्रहण भाषाद्रव्य के बाद निसरण भाषाद्रव्य का उपन्यास समीचीन है। शब्द मुँह में से बाहर निकलने के बाद ही अन्य भाषा परिणमन योग्य द्रव्यों को वासित करता है। अतः निसरण द्रव्यभाषा के बाद पराघात द्रव्यभाषा का प्रतिपादन यथोचित है।

आपने यहाँ भाषा के तीन भेद बताये हैं, वे निराधार हैं, अशास्त्रीय हैं, ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए विवरणकार दशवैकालिक निर्युक्ति या प्रामाणिक हवाला देते हैं, देखिए, द्रव्यभाषा के तीन भेद हैं—ग्रहण में, निसरण में और पराघात में।

परम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामीजी के उपर्युक्त वचन से द्रव्यभाषा के तीन भेद सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त शास्त्रपाठ में ग्रहण इत्यादि पदों में जो सातवीं विभक्ति है, वह विषय-विषयता अर्थ में है। अतः यह अर्थ प्राप्त होता है कि ग्रहण आदि क्रियाविषयक द्रव्यभाषाग्रहण आदि क्रिया संबंधी द्रव्यभाषा।

यहाँ यह शंका कि 'ग्रहणे' पद तो प्रथमा विभक्ति एकवचन, सप्तमी विभक्ति एकवचन, संबोधन एकवचन : द्वितीया विभक्ति बहुवचन में भी आता है। तब अन्य विभक्तियों को छोड़कर और अपनी मनपसंद विभक्ति को ही लेकर उसके अर्थ का व्याख्यान करना कैसे संगत होगा? ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी महाराज ने दशवैकालिक निर्युक्ति³⁸ के उपर्युक्त श्लोक की 'ग्रहणे च' इत्यादि रूप से ग्रहणक्रिया के आश्रय से, आलम्बन से ग्रहणद्रव्यभाषा, निसरणक्रिया का आश्रय करके निसरणद्रव्यभाषा तथा पराघात क्रिया का आलम्बन लेकर पराघातद्रव्यभाषा ऐसा निरूपण किया है। जैसे घट के आलम्बन वाला ज्ञान घटविषयक कहा जाता है, वैसे ग्रहणादि क्रिया के आलम्बन वाली ग्रहणादि द्रव्यभाषा को भी ग्रहणादि क्रिया-विषयक कहने में कोई विरोध नहीं है। जब सूरिपुरंदरन श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने सप्तमी विभक्ति लेकर विषयत्व अर्थ बताए तो इसमें क्या दोष है? ऐसा उपाध्यायजी का कहना है—महाजनो येन गतः स पन्थाः। इत्यादि! यदि श्री हरिभद्रसूरिजी की व्याख्या छोड़कर चूर्णिकार की व्याख्या का आलम्बन लेकर यहाँ ग्रहणे इत्यादि पदों में साधुत्वार्थक प्रथमा विभक्ति का आश्रयण करे तब भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि चूर्णिकार ने (द्रव्य) भाषा का त्रिविध है—ग्रहण, निसरण और पराघात, ऐसा स्पष्ट रूप से प्रथमा विभक्ति का ग्रहण करके व्याख्यान किया है। उपर्युक्त दोनों पक्ष सुसंगत हैं, क्योंकि वे दोषमुक्त हैं, आपेक्षिक हैं। उनके अर्थघटन में कोई बाधा नहीं है। संबोधन एकवचन तथा द्वितीय बहुवचन का अर्थ लेने में तो यहाँ स्पष्ट रूप से बाधा ही है³⁸ अतः उनका प्रतिपादन न करना ही उचित है। इस तरह द्वितीय गाथा में द्रव्यभाषा के तीन भेदों के स्वरूप का कथन उपाध्याय यशोविजय ने किया है।³⁹

शंका—यहाँ शंका हो सकती है कि ग्रहण भाषा, निसरण भाषा और पराघात भाषा द्रव्यभाषा स्वरूप ही क्यों है? भावभाषा स्वरूप क्यों नहीं? इन तीन भाषा में भावभाषा का व्यवहार करने में क्या दोष है? इस शंका का निराकरण उपाध्याय यशोविजय द्वारा रचित भाषारहस्य ग्रंथ में गाथा-11 से करते हैं—

निराकरण— पाहन्न द्रव्यस्सं य अप्पाहन्नं तदेव किरिआणं।

भावस्स य आलंबिय ग्रहणाइसु द्रव्यववाएसो।।

अर्थात् द्रव्य के प्राधान्य की विवक्षा और भाव तथा क्रिया की अप्रधानता की विवक्षा करके ग्रहणादि तीन भाषा में द्रव्यभाषा का व्यवहार होता है।⁴⁰

ग्रहणादि द्रव्यभाषा में ग्रहणादि क्रिया विद्यमान है और भाषा के परिणामरूप भाषा भी विद्यमान है तब तो ग्रहण-निसरण-पराघात भाषा में भावभाषा का व्यवहार होना चाहिए। अतः ग्रहणादि भाषा को द्रव्यभाषा कहना ठीक नहीं है। यहाँ शंका करना उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि वास्तव में सब चीजों में अनंत धर्म रहते हैं यानी सब चीजें अनंतधर्मात्मक होती हैं। अगर वस्तु में रहे हुए सब धर्म का व्यवहार कोई भी नहीं करता और वह शक्य भी नहीं है। कोई भी व्यक्ति देश-कालादि की अपेक्षा से और प्रयोजन के अनुसार वस्तु में रहे हुए अनंत धर्म में से किसी धर्म की मुख्यता और किसी धर्म की गौणता का आलम्बन लेकर व्यवहार करती है। लौकिक व्यवहार इस तरह ही चलता है। यहाँ भी ग्रहण आदि भाषा में विद्यमान ग्रहणादि क्रिया और भाषारूप परिणमन की विवक्षा किये बिना द्रव्य की विवक्षा करने से ग्रहणादि भाषा को द्रव्यभाषा कहा गया है। मतलब यह है कि ग्रहणादि भाषाद्रव्य में ग्रहणादि क्रिया की और भाषा परिणामस्वरूप भाव की गौणता और द्रव्यत्व की मुख्यता विवक्षित होने से ग्रहणादि भाषाद्रव्य को द्रव्यभाषा रूप में बताया गया है। प्रयोजन के अनुसार किसी

धर्म में मुख्यता और किसी धर्म में गौणता की विवक्षा करने में कोई दोष नहीं है। हाँ, दोष तब आता है, यदि ग्रहण आदि भाषा में ग्रहण आदि क्रिया और भाषापरिणामस्वरूप भाव का अपलाप किया जाए। मगर ऐसा अपलाप नहीं किया है। अतः द्रव्य की प्रधानता तथा क्रिया और भाव की अप्रधानता की विवक्षा करके ग्रहणादि तीनों में द्रव्यभाषा का व्यवहार करना निर्दोष है। यह हमारी मनमानी कल्पना नहीं है, किन्तु शास्त्रविशारद श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने दशवैकालिक सूत्रनिर्युक्ति की टीका बनाई है, इसका पाठ भी इसके लिए साक्षीभूत है। दशवैकालिक निर्युक्ति के वृत्ति पाठ का अर्थ यह है कि ग्रहणादि तीन प्रकार की क्रिया द्रव्यभाषा है, क्योंकि ग्रहणादि में द्रव्ययोग में प्राधान्य की विवक्षा है। अतः हरिभद्रसूरि के वचन से भी यही सिद्ध होता है कि ग्रहणादि में द्रव्य की प्रधानता विवक्षित है।¹⁴

ग्रहणादि भाषा में द्रव्य के प्राधान्य की विवक्षा न की जाए और स्वरूप से ही द्रव्यभाषात्व को अंगीकार किया जाए, ऐसी मान्यता को स्वीकार करने पर वचनयोगप्रभवा भाषा सिद्धान्त का भी विरोध होगा। इस सिद्धान्त का अर्थ है—वचनयोग भाषा का जनक है और भाषा वचनयोग से जन्य है। यहाँ वचनयोग का अर्थ है निसर्ग के अनुकूल कायव्यापार। जो कायव्यापार निसर्ग का हेतु है, वह कायव्यापार वचन-योगात्मक है अथवा वचनयोग की दूसरी व्याख्या विवरणकार ने इस तरह बताई है कि काययोग से गृहीत भाषाद्रव्यों के समूह के आलम्बन से जीव जो व्यापार करता है, वह जीवव्यापार वचनयोग है। वचनयोग के दोनों अर्थ में क्या अंतर है? इसका स्पष्टीकरण स्वोपज्ञ टीका में उपाध्याय यशोविजय ने किया है।

प्रस्तुत में विवरणकार कहते हैं कि वचनयोग चाहे भाषाद्रव्य त्याग हेतुभूत शरीरव्यापारात्मक हो या चाहे काम योग से गृहीत भाषाद्रव्यों की सहायता में होने वाला जीव व्यापारात्मक हो, इस विषय में हमारा कोई आग्रह नहीं है। मगर हमारा कहना तो यह है कि तादृश वचनयोग से जो उत्पन्न होता है, वह भावभाषा ही है, न कि द्रव्यभाषा। यह तो एक प्रसिद्ध नियम है कि जीव किस कार्य के अनुकूल प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न से वह कार्य उत्पन्न होता है, अन्य कार्य नहीं। जैसे कुम्हार घटोत्पाद के अनुकूल प्रयत्न करे और पट की उत्पत्ति हो जाए, यह तो कथंमपि संभव नहीं है। इसी तरह यहाँ वचन-योग निसर्गानुकूल काव्य-व्यापार रूप माना जाए, तब उससे निःसर्ग की उत्पत्ति अवश्य होगी, अन्यथा वह वचनयोग निःसर्ग अनुकूल ही नहीं होगा। अर्थात् वह वचन-योग वचनयोगरूप ही नहीं होगा, अन्यरूप ही होगा। चाहे निःसर्ग कहो या चाहे भाषाद्रव्यों का त्याग कहो या चाहे भावभाषा कहो, सिर्फ शब्द में ही फर्क है, अर्थ में नहीं।

अतः तादृश वचन योगजन्य भाषा को भावभाषा स्वरूप ही मानना होगा। यदि वचनयोग को काययोग से गृहीत भाषाद्रव्यों में आलम्बन वाले जीव व्यापारस्वरूप माना जाए, तब भी इससे भावभाषा की ही उत्पत्ति होगी, क्योंकि गृहीत भाषाद्रव्यों में आलम्बन से जीव गृहीत भाषा-द्रव्यों में भाषा परिणाम का आधार करके उन भाषा-द्रव्यों को छोड़ने का ही काम करता है, दूसरा नहीं। अतः तादृश जीव व्यापारस्वरूप वचनयोग से जन्य भी भावभाषा ही होगी, न कि द्रव्यभाषा। तादृश वचनयोग से जन्य भाषा निसर्गरूप ही है। अतः निःसर्ग भाषाद्रव्य में स्वरूपतः द्रव्यभाषात्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः ग्रहणादि तीन भाषाद्रव्यों में विवक्षा से ही द्रव्यभाषात्व का स्वीकार उचित है। द्रव्यप्राधान्य की विवक्षा से निसर्गभाषा द्रव्य में द्रव्यभाषात्व के स्वीकार से भावभाषात्व का अपलाप नहीं होता है। अतः 'वचोयोगप्रभवः भाषा' इस सिद्धान्त का भंग भी नहीं होता है और ग्रहणादि तीन भाषा-द्रव्यों में

द्रव्यभाषात्व की उपपत्ति भी हो सकती है। अतः द्रव्यभाषा लक्षण यथार्थ है।⁴² अन्य शास्त्रों के साथ विरोध की क्या बात करें, अगर ग्रहणादि तीनों भाषास्वरूप से ही द्रव्यभाषा हैं, न कि विवक्षा से द्रव्यभाषा—ऐसा अभिप्राय स्वीकार किया जाए तो भगवती सूत्र के साथ भी विरोध आयेगा। देखिए भगवती सूत्र⁴³ में वीर प्रभु ने गौतम स्वामी से कहा—भाषणकाल में ही भाषा होती है, भाषण के पूर्व काल में या पश्चात् काल में नहीं। यहाँ स्वयं भगवंत ने ही भाषणकाल में भावभाषात्व का विधान किया है। यदि भाषणकाल में भावभाषात्व का विधान न माना जाए तो शब्दोच्चारण के पूर्व काल में और पश्चात् काल में भाषा नहीं होती है। यह निषेध अनुपपन्न रह जायेगा। अतः भाषणकाल में ही भावभाषा ही होती है—यह स्वीकार आवश्यक है। भाषणकालीन भाषा कहो या निःसर्गकालीन भाषा कहो, या निसरण भाषा कहो, अर्थ में कोई फर्क नहीं है। निसरण भाषा में स्वरूपता द्रव्यभाषात्व की उपपत्ति आपके अभिप्राय के अनुसार नामुमकिन होने से यह मानना होगा कि ग्रहणादि तीन भाषा विवक्षा से ही द्रव्यभाषा है।

भाष्यमाण भाषा

भाष्यमाण भाषा अर्थात् भाषण काल में ही भाषा होती है। यहाँ भी भास धातु से जो अर्थ बताना है, वही अर्थ भाषा पद भी बता रहा है। अतः भाषापद् के सन्निधान में भाषण अर्थ वाले भाष् धातु का अर्थ केवल प्रयत्न विशेष ही है। यहाँ भाष धातु कृतिविशेष बोधक होने से ही इस प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य ग्रंथ में बताते हुए कहा है—भाष्यमाण भाषा का अर्थ होगा—‘वर्तमानकालीन प्रयत्नविषयिणी भाषा’।⁴⁴ अर्थात् सांप्रतकालीन जो प्रयत्न है, इसका विषय भाषा है। इस व्यवस्था के अनुसार ही लोक प्रसिद्ध, जैसे—वाचमुच्चस्ति इत्यादि, प्रामाणिक प्रयोग की भी उपपत्ति हो सकती है। इस व्यवस्था के अस्वीकार में कथित प्रयोग की उपपत्ति कदापि सम्भव नहीं है। उपर्युक्त व्यवस्था के स्वीकार किए बिना वाचमुच्चयति का अर्थ यह प्राप्त होता है कि वाक्कर्मक—वर्तमानकालीन—वागनुकूलकृतिमान (चैत्रादि) जो कि पुनरुक्ति दोषयुक्त होने से अयुक्त हैं जबकि पूर्वोक्त-व्यवस्था का स्वीकार करने पर वाक्कर्मक—वर्तमानकालीन कृतिमान (चैत्रादि)—यह अर्थ प्राप्त होता है जो संगत प्रतीत होता है। उक्त व्यवस्था से ही इस लौकिक प्रयोग की उपपत्ति भी हो सकती है। लोग भी यह व्यवस्था होने के कारण वाचमुच्चरति इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते हैं। अतः भाष्यमाण भाषा यह सिद्धान्त वचनप्रयोग की दृष्टि से भी शुद्ध ही है, अशुद्ध नहीं।

यह भाषा लक्षण. अव्याप्तिदोषग्रस्त है—भाष्यमाणैव भाषा अर्थात् वक्ता जब शब्दोच्चारण करता है, तभी वह भाषा है, अन्यथा नहीं। यह भाषा का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। निसरण भाषा के दो भेद हैं—1. भिन्न भाषाद्रव्य, 2. अभिन्न भाषाद्रव्य।⁴⁵ दोनों ही भाषारूप होने से लक्ष्य ही हैं। निसरणभाषारूप लक्ष्य के एक देशभूत अभिन्न भाषाद्रव्य में बताया गया भाषालक्षण नहीं जाता है, क्योंकि अभिन्न भाषाद्रव्य अपने आरम्भ-उत्पत्तिकाल—निसर्गकाल के बाद शब्द परिणाम का त्याग करते हैं। अतः निसर्ग के दूसरे समय में वे भाषारूप नहीं हैं और जब वे आरम्भकाल में शब्दोच्चारण काल में भाषा स्वरूप हैं तब इनमें भाष्यमाण भाषा यह लक्षण जाता है; मगर अभिन्न भाषाद्रव्य में जो कि अपने निसर्गकाल—आरम्भकाल के बाद तीन समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होता है, भाष्यमाण भाषा यह लक्षण नहीं जाता है। भाष्यमाणत्व यानी वर्तमानकालीन कृतिविषयत्व सिर्फ आरम्भकाल में ही भिन्न भाषा द्रव्य में रहता है जबकि शब्द परिणाम तो आरम्भकाल के बाद भी रहता है। भिन्न भाषाद्रव्य 4 समय

में लोकव्याप्त होते हैं, ऐसा आगम में कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण लोक में फैलने तक ये भाषापरिणाम का त्याग नहीं करते हैं। यदि वे उत्पत्तिकाल में अनंतर शब्दपरिणाम को छोड़ दें तब तो ये भाषा स्वरूप ही न होने से भिन्न भाषाद्रव्य सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं—यह वचन ही अनुत्पन्न रह जायेगा। अतः आरम्भकाल के बाद भी शब्दपरिणाम से युक्त होने से द्वितीयादि समय में भी भिन्न भाषा द्रव्यभाषा के लह्यभूत ही है, अलह्य नहीं। मगर द्वितीयादि समय में भिन्न भाषाद्रव्यों में भाष्यमाणत्व नहीं है। वर्तमानकालीन प्रयत्न विषयत्वरूप लक्षण नहीं है। इसी प्रकार भाष्यमाण भाषा ऐसा भावभाष का लक्षण अव्याप्ति दोष से दृष्ट है। अव्याप्ति होने से ही भाष्यमाणेव भाषा इस प्रतिज्ञा का विरोध होगा।

शंका—भाषाद्रव्यों का निसर्ग करने के बाद द्वितीयादी समय में भाषाद्रव्य वासित होने से उनमें वासना से शब्द परिणाम उत्पन्न होता है। अतः प्रथम समय की अपेक्षा द्वितीय समय में विलक्षण होने से ही वह भावभाषा का लक्ष्य नहीं है। अतः अव्याप्ति दोष नहीं है प्रत्युत्तर अलक्ष्य में न जाने से लक्षण समीचीन होता है। द्वितीयादि समय के भिन्न भाषाद्रव्य भी अलक्ष्य होने से भाष्यमाणा भाषा यह प्रतिज्ञा संगत है।

अन्य भाषाद्रव्य में शब्द संस्कार का आधीन करने पर भी निसरणभाषा में शब्दपरिणाम रहता है।

समाधान—जनाब! तीर नहीं तो तुक्का, यह यहाँ नहीं चलेगा। द्वितीयादि समय में वासना-पराघात से निसृष्ट भाषाद्रव्य भले अन्य भाषापरिणमन योग्य द्रव्यों में भाषापरिणाम को उत्पन्न करे, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि अन्य भाषाप्रयोग द्रव्य में भाषापरिणाम को उत्पन्न करने से निसृष्ट भाषाद्रव्य में विद्यमान शब्द का परिणाम चला जाए। अन्य भाषाद्रव्यों को वासित करने के बाद भी निसृष्ट भाषा में द्वितीयादी समय में शब्दपरिणाम के स्वीकार में कोई बाधा नहीं है, प्रत्युत्त इसका समर्थक भगवतीसूत्र भी है, जिसमें भाषापरिणाम की उत्कृष्ट स्थिति आवलिका के असंख्यभाग प्रमित असंख्य समय की बताई गई है। अतः आपकी यह शंका निराधार है।¹⁶

शंका—जनाब! आँखें मूंदकर बोलने से समस्या भी हल नहीं होती है, मगर सूक्ष्म बुद्धि से सोचने पर सही समाधान प्राप्त होता है। यहाँ सूक्ष्मदृष्टि-सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि का आलम्बन लिया जाए तो भाष्यमाण भाषा—यह प्रतिज्ञावचन निर्दोष प्रतीत है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से सब चीज सत् होने से बिजली की तरह क्षणिक होती है। उत्पत्ति के अनन्तर समय में कार्य अपने-अपने उपादान कारण के साथ नष्ट होता है, जिसको निरन्वय नाश कहते हैं। भिन्न भाषाद्रव्य भी सत् होने से सूक्ष्म ऋजुसूत्र भी बिजली की तरह निरन्वय नष्ट होते हैं, द्वितीय क्षण में भाषा ही नहीं रहती है, तब भाष्यमाण भाषा इस लक्षण की प्रवृत्ति न होने से अव्याप्ति का अपादान करना कैसे संगत होता? क्योंकि द्वितीयादि समय में भाषा ही नहीं रहती है, तब अव्याप्ति कैसे आयेगी?

सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय से भाष्यमाण भाषा का सिद्धान्त

इस दुनिया में शेर को सवाशेर मिलना मुश्किल नहीं है। हमने बाल धूपों में नहीं पकाये हैं कि तुम्हारी बातों से हम मान जायें। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से द्वितीय समय में भले ही भाषाद्रव्य का नाश हो जाय, इसका हम विरोध नहीं करते हैं। मगर सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से भी विजातीय संतति का प्रयोजक जब तक न आयेगा तब तक सजातीय संतति चलती रहती है, नष्ट नहीं होती है। यह तो सब को मालूम है न? निसर्ग के पश्चात् काल में भी भिन्न भाषाद्रव्यनिष्ठ शब्दपरिणाम के सजातीय

शब्दपरिणाम की संतति-धारा चलती रहेगी। अतः सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से भी निसर्गान्तर समय में शब्दपरिणाम होने से वह भी भाषा भाषास्वरूप ही है। अतएव यही लक्ष्य ही है, अलक्ष्य नहीं। मगर शब्दपरिणाम के होते हुए भी द्वितीयादि समय में भाष्यमाणत्व न होने से अव्याप्ति दोष का निराकरण नहीं हुआ है। धांची का बैल सो मील चले, फिर भी वहाँ का वहाँ। आप इतने दूर तक सोचते हैं, फिर भी अव्याप्ति से मुक्त नहीं हो पाते हैं।⁴⁷

शंका—इस तरह आप हमारे दाँत खड़े नहीं कर सकते हैं। अव्याप्ति दोष का निराकरण बहुत सरल है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय तक जाने की कोई जरूरत नहीं है। व्यवहार नय से भी अव्याप्ति का निराकरण हो जाएगा। यहाँ नैश्चयिक सूक्ष्मसमरूप वर्तमान काल को लेने की आवश्यकता नहीं है। व्यावहारिक वर्तमान काल का ग्रहण ही उचित है। यह व्यावहारिक वर्तमान समय तो निसर्ग समय में और निसर्ग समय के बाद तीन समय तक भी रहेगा ही, क्योंकि सूक्ष्म समय व्यवहार्य नहीं है। अतः स्थूल वर्तमान काल को लेकर वर्तमानकालीन प्रयत्न विषयत्वरूप भाष्यमाणत्व, जो कि भावभाषा के लक्षणरूप से इष्ट है, निसर्गान्तर काल में भी भिन्न भाषाद्रव्य में रहेगा। अतः अव्याप्ति दोष नहीं है।

समाधान—तुम किस खेत की मूली हो? हमने सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का भी खंडन कर दिया, फिर व्यवहार नय की तो बात ही क्या? स्थूल व्यावहारिक वर्तमान काल लेने पर भी अव्याप्ति दोष तद्वस्थ ही है। देखिए, आप स्थूल कालरूप वर्तमानकाल कितने समय का मानेंगे? आपसे कल्पित-विवक्षित स्थूलकालरूप वर्तमानकाल में चरमसमयपर्यन्त भाषाद्रव्यों के निसर्ग में जीव प्रयत्न करेगा तब आपका विवक्षित स्थूलकालरूप वर्तमानकाल समाप्त हो जायेगा, मगर उसके बाद वे भिन्न भाषाद्रव्य लोक में व्याप्त हो तब तक उनमें भाषा का परिणाम तो अवश्य रहेगा ही, लेकिन उस वक्त आपका विवक्षित स्थूल कालात्मक वर्तमानकाल खत्म हो चुका होगा। इसलिए उस वक्त भाष्यमाणत्व—स्थूलवर्तमानकालिक प्रयत्नविषयत्व उन भिन्न भाषाद्रव्यों में न होने से अव्याप्ति दोष फिर आयेगा ही। बंदर ठेर का ठेर।

भाष्यमाण भाषा—सिद्धान्त क्रियारूप भावभाषा के उद्देश्य से है। 'सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे—ऐसा मार्ग लेने से कोई बाधा नहीं होती' ऐसा सोचकर उपाध्याय यशोविजय ने भाषासहस्य ग्रंथ में कहा है—भावभाषा दो प्रकार की है—1. क्रियारूप भावभाषा, 2. परिणाम रूप भावभाषा।⁴⁸

क्रिया शब्द से यहाँ निसरण क्रिया ग्राह्य है और परिणाम शब्द से शब्द परिणाम ग्राह्य है। भाष्यमाण भाषा सिद्धान्त वचन में निसर्ग क्रियारूप भावभाषा अभिप्रेत है, शब्दपरिणामरूप भावभाषा नहीं। तात्पर्य यह है कि जो निसर्ग क्रियारूप भावभाषा है, वह भाष्यमाण-वर्तमानकालीन प्रयत्न की विषयभूत होती है, अविषयभूत नहीं। यहाँ यह शंका कि भाषा परिणामस्वरूप भावभाषा को छोड़कर निसरण क्रियारूप भावभाषा का ही ग्रहण क्यों किया? यह तो अर्धजातीय न्याय है, करना मुनासिब नहीं है, क्योंकि शब्दोच्चारण क्रियारूप भावभाषा का ग्रहण करने पर ही भाषाशब्द के अर्थ की उत्पत्ति होती है। भाषा शब्द का अर्थ है—कंठ, तालु आदि के अभिघात से शब्द का उत्पादक व्यापार। यह अर्थ तभी घटता है जब भाषा शब्दोच्चारण क्रियारूप ली जाए। शब्दपरिणामरूप भावभाषा का ग्रहण करने पर भाषा शब्द के अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

यहाँ यह संदेह हो सकता है कि भावभाषा के इस तरह क्रियारूप और परिणामरूप दो विभाग करने की अपेक्षा से उचित तो यह है कि निसर्ग काल के बाद भिन्न भाषाद्रव्यों में शब्दपरिणाम को ही स्वीकार न किया जाए। जब निसरण क्रिया के काल के बाद में भिन्न भाषाद्रव्य में शब्द परिणाम

ही न होगा तब उसमें अव्याप्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। अतः शब्दोच्चारण-काल के बाद भिन्न भाषाद्रव्यों में शब्दपरिणाम के नाश की कल्पना करना ही उचित प्रतीत होता है। मगर यह समीचीन इसलिए नहीं है कि विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति से श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि महाराज ने स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि पराघात स्वरूप सम्पूर्ण लोक में भिन्न भाषाद्रव्यों को फैलाने में हेतु होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भिन्न भाषाद्रव्य भिन्न भाषाद्रव्य के रूप में ही लोक में फैलते हैं। अतएव तब तक उनमें शब्द का परिणाम भी अवश्य रहता है। उसमें कोई विवाद नहीं है।

एवंभूत नय की दृष्टि से भाषण के पूर्वोत्तर काल में भाषा का निषेध

शब्दार्थवियोगादिति—वापस यहाँ यह संदेह कि यदि निसर्गकाल के बाद भी भिन्न भाषा द्रव्यों में शब्दपरिणाम विद्यमान हैं तब शब्दोच्चारण काल में ही भाषा भाषारूप हैं, शब्दोच्चारण के पूर्व में और पश्चात् काल में नहीं ऐसा भगवतीसूत्र में बताकर शब्दोच्चारण के पश्चात् काल में भिन्न भाषाद्रव्य में भाषातत्त्व का निषेध क्यों किया गया है? यह तो परस्पर विरुद्ध है। “चोर को कहे चोरी करना और साहूकार को कहे जागते रहना।”—इसलिए निराकृत हो जाता है कि शब्दोच्चारण काल के बाद भाषा शब्द का अर्थ कण्ठ, तालु आदि से शब्दोत्पादक व्यापाररूप अर्थ भिन्न भाषाद्रव्य में नहीं रहता है। अतः क्रियारूप भावभाषा का ही निसर्गोत्तर काल में निषेध है, भाषा परिणामरूप भावभाषा का नहीं—ऐसा हमें प्रतीत होता है, ऐसा प्रकरणवाद श्रीमद् कहते हैं।⁵⁰ इस तरह उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य में 12वीं गाथा में ग्रहणादि भाषा भवभाषा का कारण होने से द्रव्यभाषा नहीं है, किन्तु द्रव्यप्रधानता की विवक्षा से ही द्रव्यभाषा है—यह भाष्यमाण भाषा इत्यादि तीन सिद्धान्त की अनुपपत्ति के बल पर सिद्ध किया है और साथ-साथ द्रव्यभाषा के वक्तव्य को प्रकरणकार ने जलांजलि दी है।⁵¹

भावभाषा के लक्षण

भावभाषा का निरूपण करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य ग्रंथ में बताया है कि—

उवउताणं भासा णायव्वा एत्थ भावभासति ।

उवओगो खलु भावो णुवओगो दव्यमिति कहु ।।⁵²

अर्थात् उपयोग वाले जीव की भाषा भावभाषा है, यह जानना चाहिए क्योंकि उपयोग ही भाव है, अनुपयोग तो द्रव्य है। यहाँ खाने, पीने, गाने के उपयोग नहीं लेने हैं, किन्तु भावभाषा के प्रसंग में “मुझे यह इस तरह बोलना चाहिए, मैं ऐसा बोलूँगा तभी श्रोता को अर्थज्ञान हो सकेगा।” ऐसा उपयोग प्रणिधान लेना है और इस उपयोग से वक्ता बोले तब उसकी भावभाषा कही जाती है। आशय यह है कि बुद्धिमान वक्ता जब श्रोता को अपने इष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए नियत शब्दों का नियतरूप में उच्चारण करता है और तभी श्रोता को वक्ता के तात्पर्य के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। जैसे कि घट शब्द की शक्ति कम्बुप्रीवादिमान घटपदार्थ में है। अतः वक्ता जब श्रोता को घटार्थ का बोध कराने के तात्पर्य से ‘घट’ शब्द को बोलता है तब इसको सुनकर श्रोता को घटार्थ का बोध होता है। यहाँ वक्ता घट शब्द से इसको घट अर्थ का बोध हो—इस उपयोग से घटशब्दोच्चारण करता है। अतः यह भावभाषा है। उपयोग को शास्त्र में भाव कहा गया है और अनुपयोग में द्रव्य। अतः उपयोगात्मक भाव से प्रयुक्त होने से कार्य में कारण का उपचार करके इस भाषा को भी भावभाषा कहते हैं। ऐसा उपाध्यायजी ने बताया है।

विवरणकार वाक्यशुद्धि चूर्ण का पाठ बताकर उपर्युक्त बात का ही समर्थन करते हैं। वाक्यशुद्धि चूर्णवचन का अर्थ यह है कि जिस अभिप्राय से भाषा उत्पन्न होती है, वह भाषा भावभाषा होती है। अर्थात् अभिप्रायजन्य भाषा भावभाषा होती है। यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो वक्ता बोलना चाहता है, वह शब्दोच्चारण के पूर्व में ही अपने को मुझे यह बोलना चाहिए—एकसा अभिप्राय से भावित करता है और बाद में वैसे बोलता हुआ दूसरे श्रोताओं को अर्थ का बोध कराता है। भाषा का यही प्रयोजन है कि वह भाषा दूसरों को और अपने के अर्थ का बोध कराती है। चूर्णकार श्री जिनदासगणि के वचन से भी सिद्ध होता है कि अभिप्राय यानी उपयोग से जन्य भाषा ही भावभाषा है, अनुपयोग से जन्य नहीं।⁵⁴

वचन भावभाषा नहीं है—भावभाषा शब्द का अर्थ उपयोगपूर्वक वचनप्रयोग समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है कि जैसे अनुयोगद्वारसूत्र आदि में अग्निविषयक उपयोगरूप भाव को ही आगमतः भाव अग्नि कहा है, वैसे भाषा विषयक उपयोगरूप भाव को ही भावभाषा कहना मुनासिब है। दूसरी बात यह है कि अग्निविषयक उपयोगरूप भाव को ही भावाग्नि मानने में भावाग्नि शब्द की यथार्थता उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि भाव ही आग या भावात्मक आग, ऐसा भावाग्नि इस सामसिक पद का विग्रह भी उत्पन्न होता है। इसी तरह भाव ही भाषा ऐसा विग्रह वाक्य भी तब सार्थक हो सकता है जब भाषाविषयक उपयोग को ही भावभाषारूप माना जाए। दूसरी बात यह है कि उपयोग के विषयभूत वचन को भावभाषा कहने में 'भाव ही भाषा' इस विग्रह वाक्य की उपपत्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि वचन तो जैन दर्शन में पौद्गलिक होने से द्रव्यात्मक है, भावात्मक नहीं। अतः द्रव्यात्मक वचन को भावभाषा कहने में शब्दार्थ का भी बोध होता है। अतः उपयोग के विषयभूत वचन को भावभाषा कहना युक्त नहीं है बल्कि वचनविषयक उपयोग को ही भावभाषा कहना ठीक है।⁵⁵

वचन भावभाषा रूप है—आपकी यह बात ठीक नहीं है। आपके अभिप्राय के अनुसार यदि 'भाव ही भाषा' इस विग्रह वाक्य को अनुमति दी जाए तो आपका बताया हुआ दोष आ सकता है, मगर हमने यहाँ आपका बताया हुआ विग्रह मान्य नहीं किया है। हम तो यहाँ भावेन भाषा=भावभाषा ऐसा विग्रह करते हैं। अतः अब भावभाषा शब्द का अर्थ होगा भावकरणभाषा अर्थात् भाव यानी उपयोग जिसका असाधारण कारण है ऐसी भाषा। इस विग्रह के अनुसार तो उपयोग से वचन को भावभाषा कहना सुसंगत ही है, क्योंकि वचन का असाधारण कारण उपयोग होता है। उपर्युक्त विग्रहवाक्य के स्वीकार करने से जन्य वचन में भावभाषत्व की उपपत्ति होती है। अतः कोई दोष नहीं है।⁵⁶

शंका—अब यह शंका हो सकती है कि आपने मनपसंद रूप से समास का विग्रह करके अपने इष्ट अर्थ की निष्पत्ति आप कर रहे हैं तब तो अन्य कोई बहुव्रीहि समास आदि के अनुकूल विग्रह करके अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि बिना किसी रोकटोक से कर सकता है, जैसे कि 'भाव ही है, भाषा जिसकी' ऐसा विग्रह करने पर भूक पुरुष भी भावभाषा कहलायेगा, क्योंकि हाव-भाव ही उसकी भाषा होती है। यह तो बकरी को निकालते (?) ऊँट घुस गया।

अर्थघटन परिभाषाकार की इच्छा के अनुसार—यहाँ भावभाषारूप समास का विग्रह कैसे करना? इसमें न आपकी इच्छा नियामक है, न हमारी इच्छा नियामक है और न अन्य किसी की इच्छा नियामक है, किन्तु शास्त्र की परिभाषा बनाने वाले शास्त्रकार भगवन्तों की ही इच्छा नियामक है।

प्रस्तुत में भाव=अभिप्राय=उपयोग से जन्य भाषा भावभाषा है। इस चूर्णिकार के वचन से सिद्ध होता है कि यहाँ भावेन भाषा=भावभाषा ऐसा विग्रह इष्ट है, न कि भाव एवं भाषा=भावभाषा ऐसा कर्मधारयसमासानुकूल विग्रह या बहुव्रीहीसमासानुकूल विग्रह। अतः हम दोनों के ऊपर, अरे! सभी के ऊपर जब शास्त्रकारों का अनुशासन है तब उनके वचन के अनुसार ही अर्थघटना करना मुनासिब है।

अनुयोगद्वारा आदि सूत्र के अनुसार भी वचन नौ आगम से भाव-भाषास्वरूप ही हैं। अतः कोई दोष नहीं है। यह तो एक दिशासूचन मात्र है।⁵⁷

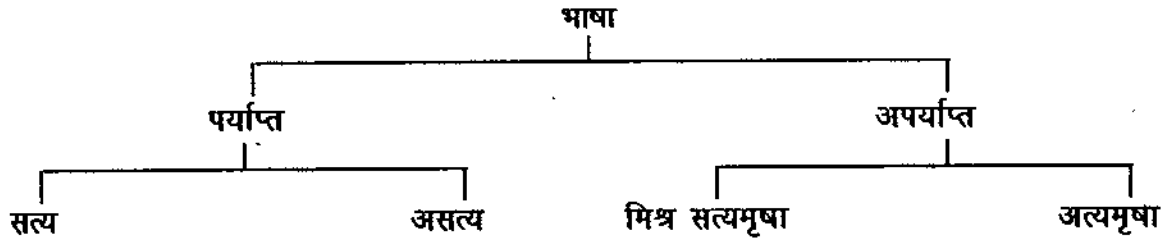
शब्द प्रमाण नहीं है : बौद्ध के अनुसार—अन्य को बोध कराने के लिए वक्ता उपयोगपूर्वक शब्दोच्चारण करता है, वह भावभाषा है—यह आपका कथन जलमन्थन की तरह निष्फल है, क्योंकि भाषा अर्थ का निर्णय कराने में समर्थ ही नहीं है। भाषा से अर्थ का निर्णय तब हो सकता है, जब भाषा और अर्थ के बीच संबंध हो। अर्थ के बाद असंबद्ध होकर भाषा अर्थ का निर्णय कराये—यह कथंमपि संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि अर्थ से असंबद्ध होने पर भाषा या तो सब अर्थ का निर्णय करायेगी या तो एक भी अर्थ का नहीं। इसलिए शब्दों का अर्थ का निर्णय कराने के लिए अर्थ से संबद्ध रहना आवश्यक है, मगर शब्द का अर्थ के साथ संबंध नहीं घटता है। यदि शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य संबंध माना जाए तो वह संगत नहीं है, क्योंकि तब तो लड्डु शब्दोच्चारण से ही मुँह लड्डु से भर जायेगा और शस्त्र शब्द को बोलने पर जीभ कट जायेगी, क्योंकि अर्थ और शब्द अभिन्न हैं। ऐसा स्वीकार अर्थ और शब्द के बीच तादात्म्य संबंध के स्वीकार में निहित रहता है। यदि शब्द का अर्थ के साथ तदुत्पत्ति संबंध माना जाए तो वह भी संगत नहीं है, क्योंकि यदि आप शब्दों को अर्थ का जनक मानेंगे तब धन शब्द का उच्चारण करने से ही धन पैदा हो जायेगा, फिर इस जगत् में कोई दरिद्रनारायण नहीं रहेगा। यदि शब्द को अर्थ से जन्य मानेंगे तब जगत् में घट-पट आदि अनेक अर्थ विद्यमान होने से सदा के लिए शब्द की उत्पत्ति होती रहेगी और सारे जहाँ में कोलाहल ही सदा के लिए बना रहेगा। अतः शब्द और अर्थ में जन्यजनकभाव न होने से शब्द में अर्थ के साथ तदुत्पत्तिसंबंध ही संभव नहीं है। तादात्म्य और तदुत्पत्ति के सिवा अन्य कोई संबंध तो शब्द के साथ संभव नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं है। अतः शब्द से प्रतिनियत अर्थ का बोध नहीं हो सकता है। अतएव शब्द में अर्थनिर्णायकत्व और प्रामाण्य नहीं है।⁵⁸

भाषा के भेद

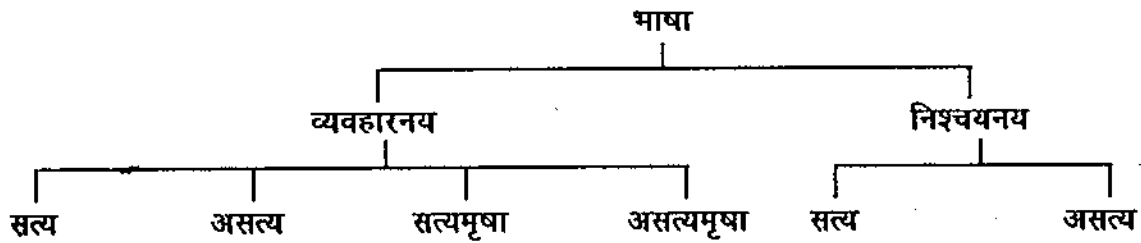
जैन दार्शनिकों ने कथन की सत्यता और असत्यता के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। प्रज्ञापना सूत्र में सर्वप्रथम भाषा को पर्याप्त भाषा और अपर्याप्त भाषा—ऐसे दो भागों में विभाजित किया है।⁵⁹

पर्याप्त भाषा वह है, जिसके कथन की सत्यता या असत्यता का निश्चय किया जा सकता है⁶⁰ अथवा जिसके स्वरूप का निश्चय हो सके, ऐसी भाषा। और अपर्याप्त भाषा वह है,⁶¹ जिसके कथन की सत्यता या असत्यता का निश्चय नहीं किया जा सकता⁶² अथवा जिसके स्वरूप का अवधारण—निश्चय करना नामुमकिन है, वह भाषा अन्य यानी अपर्याप्त है।⁶³ सम्भवित और सत्यापन के अयोग्य कथन अपर्याप्त भाषा का लक्षण है। यहाँ विवरणकार वाक्यशुद्धि चूर्ण का हवाला देते हैं, जिसका अर्थ है—पर्याप्त भाषा का मतलब है कि जिसके स्वरूप का अवधारण इस तरह हो सके कि 'यह भाषा सत्य ही है' या 'यह भाषा असत्य ही है'। जो भाषा (मिश्र) सत्य भी होती है और मिथ्या भी होती है वह

उभयपक्ष में आती है तथा जो भाषा (मिश्र) सत्य भी होती है और मिथ्या भी होती है, वह उभयपक्ष में आती है तथा जो भाषा न सत्य होती है, न मृषा वह एक भी पक्ष में समाविष्ट नहीं होती है। अतएव वहाँ हम यह नहीं सोच सकते हैं कि यह भाषा सत्य है या मृषा है अतः ये भाषा अपर्याप्त भाषा है।⁶⁶ तुलनात्मक दृष्टि से पाश्चात्य परम्परा की सत्यापनीय भाषा, गणितीय भाषा एवं परिभाषाएँ पर्याप्त भाषा के समतुल्य मानी जा सकती है, जबकि शेष भाषा व्यवहार अपर्याप्त या अपूर्ण भाषा का ही सूचक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम उन्होंने पर्याप्त भाषा की सत्य और असत्य—ऐसी दो कोटियाँ स्थापित कीं। इसी प्रकार असत्य पर्याप्त भाषा की भी दो कोटियाँ स्थापित की—सत्यमृषा (मिश्र) और असत्य—अमृषा। संक्षेप में भाषा के भेदों को निम्न चार्ट से बता सकते हैं—



दूसरी दृष्टि से भी भाषा के भेद—



इस बात की पुष्टि उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य-ग्रंथ में की है—

भाषा चउव्विहति य व्यवहारणया सुअम्मि पन्नाणं ।

सच्चा मुसत्ति भाषा रुचिहच्चिय हदि णिच्छयओ ।।17।।⁶⁶

अर्थात् आगम में व्यवहारनय से भाषा के चार भेद हैं और निश्चयनय से भाषा के सत्य और मृषा दो ही भेद हैं। यह प्रसिद्ध ही है। संक्षेप में चार भाषा का वर्णन किया जा रहा है—

1. सत्य भाषा,
2. असत्य भाषा,
3. सत्य मृषां,
4. असत्य अमृषा ।

1. सत्य भाषा

व्यवहारनय से सत्यभाषा लक्षण को बताते हुए कहा है—जब किसी वस्तु के स्वरूप में विवाद हो तब वस्तु के मूल स्वरूप को स्थापित करने की इच्छा से आगम के अनुसार जो बोला जाए, वह सत्य भाषा है—यह व्यवहारनय की परिभाषा है। जैसे कि नैयायिक और नास्तिक जीव के विषय में विवाद करते हैं। नैयायिक कहता है कि जीव एकान्त सद्रूप है, जबकि उसके विरुद्ध नास्तिक कहता है कि

“जीव एकान्तं असद्रुप है अर्थात् जीव है ही नहीं”। ऐसा विवाद-विरुद्ध अभिप्राय या वक्तव्य उपस्थित होने पर वस्तु के मूल स्वरूप की प्रतिष्ठा करने की इच्छा से जीव सद् और असद्रुप है। इस तरह आगम के अनुसार जो भाषा बोली जाती है, वह भाषा व्यवहारनय से सत्यरूप से परिभाषित है, क्योंकि यह भाषा आराधनी है। जो भाषा आराधनी है, वह सत्य है—यह व्यवहारनय की परिभाषा उपाध्याय यशोविजय ने की है।⁶⁷

वे कथन जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं, सत्य कहलाते हैं। कथन और तथ्य को संवादिता या अनुरूपता ही सत्य की मूलभूत कसौटी है। जैन दार्शनिकों ने पाश्चात्य अनुभववादियों के समान ही यह स्वीकार किया है कि जो कथन तथ्य का जितना अधिक संवादी होगा, वह उतना ही अधिक सत्य माना जायेगा। यद्यपि जैन दार्शनिक कथन की सत्यता को उसकी वस्तुगत सत्यापनीयता तक ही सीमित नहीं करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि आनुभविक सत्यापनीयता के अतिरिक्त भी कथनों में सत्यता हो सकती है। जो कथन ऐन्द्रिक अनुभवों पर निर्भर न होकर अपरोक्षानुभूति के विषय होते हैं उनकी सत्यता का निश्चय तो स्वयं अपरोक्षानुभूति पर ही निर्भर होता है। अपरोक्षानुभव के ऐसे अनेक स्तर हैं जिनकी तथात्मक संगति खोज पाना कठिन है। जैन दार्शनिकों ने सत्य को अनेक रूपों में देखा है। स्थानांग,⁶⁸ प्रश्नव्याकरण,⁶⁹ प्रज्ञापना⁷⁰ और भगवती⁷¹ आराधना में सत्य के दस भेद बताये गये हैं—

1. जनपद सत्य, 2. सम्मत सत्य, 3. स्थापना सत्य, 4. नाम सत्य, 5. रूप सत्य, 6. प्रतीति सत्य, 7. व्यवहार सत्य, 8. भाव सत्य, 9. योग सत्य, 10. उपमा सत्य। अकलंक ने सम्मत सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य के स्थान पर संयोजना सत्य और काल सत्य का उल्लेख किया है।⁷² भगवती आराधना में योग सत्य के स्थान पर संभावना सत्य का उल्लेख हुआ है।⁷³

इन्हीं भेदों का उल्लेख उपाध्याय यशोविजय ने भी भाषारहस्य ग्रंथ में किया है—

तम्मीतव्वयण खलु, सच्चाववहारणिवकभावेण ।
 आराहणी य ऐसा; सुअभि परिभासिया दसहा ।।2 ।।
 जणवय संमय ठवणा नामे रुवे पदुच्चसच्चे य ।
 ववहार भावं जोए दसमे ओवम्मसच्चे य ।।22 ।।⁷⁴

अर्थात् मात्र अवधारणैकभाव से उस वस्तु में उस वस्तु का कथन करना यह सत्य भाषा है। आगम में यह आराधनी भाषारूप से परिभाषित है, जिसके दस भेद हैं—1. जनपद सत्य, 2. सम्मत सत्य, 3. स्थापना सत्य, 4. नाम सत्य, 5. रूप सत्य, 6. प्रतीत्य सत्य, 7. व्यवहार सत्य, 8. भाषा सत्य, 9. योग सत्य और 10. औपम्य सत्य है।

1. जनपद सत्य—जनपद सत्य भाषा की व्याख्या करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—
 जां जणवय संकेया, अत्यं लोगस्स पतियावेई ।
 एसा जणवयसच्चा पण्णता धीरपुरिसेहि ।।23 ।।⁷⁵

अर्थात् जो भाषा जनपद संकेत से लोक को अर्थ का बोध कराती हो, वह जनपद सत्य भाषा है—ऐसा उपाध्यायजी ने प्रतिपादन किया है।

जिस देश में जो भाषा या शब्द व्यवहार प्रचलित हों, उसी के द्वारा वस्तु तत्त्व का संकेत करना जनपद सत्य है। एक जनपद या देश में प्रयुक्त होने वाला वही शब्द दूसरे देश में असत्य हो जायेगा।

बाईजी शब्द मालवे में माता के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि उत्तरप्रदेश में वेश्या के लिए। अतः बाईजी से माता का अर्थबोध मालवे में व्यक्ति के लिए सत्य होगा, किन्तु उत्तरप्रदेश में व्यक्ति के लिए असत्य।

2. सम्मत सत्य—सम्मत सत्य भाषा को व्याख्यायित करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

णाइकक्रमितु रुढिं जा जोगत्वेण णिच्छयं कुणइ ।
सम्मय सच्चा एसा, पंकयभाषा जहा पउमे ।।24।।⁷⁶

अर्थात् सम्मत सत्य भाषा वह होती है, जो रुढ़ि का उल्लंघन करके सिर्फ योगार्थ से ही वस्तु का निश्चय कराये, जैसे—पद्य में पंकज शब्द।

वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करना सम्मत सत्य है, जैसे—राजा, नृपति, भूपति आदि एवं घट, कलश, कुम्भ आदि। यद्यपि ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से अलग-अलग अर्थों के सूचक हैं। जनपद सत्य एवं सम्मत सत्य प्रयोग सिद्धान्त Use Theory से आधारित अर्थबोध के सूचक हैं।

3. स्थापना सत्य—स्थापना सत्य भाषा को व्याख्यायित करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—

ठवणाए वडंती अपगयभावत्थरहियसंक्रेया ।
ठवणासच्चा भन्नइ जह जिणपडिमाइ जिणसहो ।।25।।⁷⁷

अर्थात् जिस भाषा का संकेत भावार्थ से शून्य में है, ऐसी भाषा जब स्थापना में प्रवर्तमान होती है, तब स्थापना सत्य भाषा कही जाती है, जैसे कि—जिन प्रतिमा में जिन शब्द।

शतरंज के खेल में प्रयुक्त विभिन्न आकृतियों को राजा, वजीर आदि नामों से संबोधित करना स्थापना सत्य है। इसमें वस्तु के प्रतिबिम्ब या स्थानापन्न को भी उसी नाम से संबोधित किया जाता है, जैसे—महावीर की प्रतिमा को महावीर कहना।

4. नाम सत्य—नाम सत्य को परिभाषित करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

भावत्यविहूणच्चिय; णामाभिप्पायल षसरा खा ।
सा होइ णामसच्चा, जह धणरहिओवि घणवंतो ।।26।।⁷⁸

अर्थात् नाम के अभिप्राय से ही जो भाषा भावार्थ रहित में ही प्रवृत्त होती है, वह भाषा नाम सत्य भाषा है, जैसे कि धनरहित भी नाम से धनवान कहा जाता है।

गुण निरपेक्ष मात्र दिये गये नाम के आधार पर वस्तु को सम्बोधित करना, यह नाम सत्य है। एक गरीब व्यक्ति को भी लक्ष्मीपति नाम दिया जा सकता है। एक अभग्न व्यक्ति को भी सरस्वती नाम दिया जा सकता है, उसे इस नाम से पुकारना नाम सत्य है।

5. रूप सत्य—रूप सत्य भाषा को परिभाषित करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है—

एमेव रूपसच्चा णवरं णामाभि रुवअभिलावो ।
ठवणा पुण ण पवट्टई तज्जातीए सदोषे च ।।27।।⁷⁹

अर्थात् नामसत्य की तरह रूपसत्य को जानना चाहिए। सिर्फ नाम के स्थान में रूप शब्द का अभिलाप—प्रयोग करना होगा। रूपसत्य भाषा के विषय में, जो कि तज्जातीय और दृष्ट है, स्थापनासत्य भाषा प्रवृत्त नहीं होती है।

वेश के आधार पर व्यक्ति को उस नाम से पुकारना रूपसत्य है। चाहे वस्तुतः वह वैसा न हो, जैसे नाटक में राम अभिनय करने वाले व्यक्ति को 'राम' कहना या साधुवेशधारी को साधु कहना।

6. प्रतीति सत्य—प्रतीत्य सत्य भाषा का निरूपण करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है—

अविरोहेण विलकखणपडुच्च भावाण दंसिणी भाषा।

भन्नइ पडुच्च सच्चा; जह एगं अणु महंतं च।।28।।⁸⁰

अर्थात् विलक्षण प्रतीत्यभावों को बिना विरोध के बताने वाली भाषा प्रतीत्यसत्य भाषा कही जाती है, जैसे कि एक ही वस्तु को अपेक्षाभेद से अणु और महान् कहने वाली भाषा।

सापेक्षिक कथन अथवा प्रतीति को सत्य मानकर चलना प्रतीत्य सत्य है, जैसे—अनामिका बड़ी है, मोहन छोटा है आदि। इसी प्रकार आधुनिक खगोल विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी स्थिर है। यह कथन भी प्रतीत्य सत्य है, वस्तुतः सत्य नहीं।

7. व्यवहार सत्य—व्यवहार सत्य को परिभाषित करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है—

ववहारो हु विवकरवा, लोमाणं जा पउज्जण तीए।

पिज्जर नई व डज्जइ गिरिति ववहारसच्चा सा।।31।।⁸¹

अर्थात् लोगों की विवक्षा ही व्यवहार है। उस विवक्षा से जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह भाषा व्यवहार सत्य है, जैसे कि नदी पी जाती है, पर्वत जलता है।

व्यवहार से प्रचलित भाषायी प्रयोग व्यवहार सत्य कहे जाते हैं। यद्यपि वस्तुतः ये असत्य होते हैं, जैसे—घड़ा झरता है, बनारस आ गया। वस्तुतः घड़ा नहीं पानी झरता है, बनारस नहीं आता, हम बनारस पहुंचते हैं।

8. भाव सत्य—भाव सत्य भाषा को परिभाषित करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है—

सा होई भावसच्चा जा सदभिप्पायपुव्वमेवुता।

जह परमत्थो कुंभो सिया बलाया य एसति।।32।।⁸²

अर्थात् सद्भिप्राय पूर्वक ही बोली गई भाषा भावसत्य होती है, जैसे कि पारमार्थिक कुंभ और सफेद बगुला ये वचन।

किसी एक गुण की प्रमुखता के आधार पर वस्तु को वैसा कहना भाव सत्य है, जैसे—अंगूर मीठे हैं। यद्यपि उनमें खट्टापन भी रहा हुआ है।

9. योग सत्य—योग सत्य का निरूपण करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है—

सा होइ जोगसच्चा उवयारो जत्थ वत्थुजोगम्मि।

छताइअभावे वि हु जह छती कुंडली दंडी।।33।।⁸³

अर्थात् जिस भाषा में वस्तु का योग होने पर उपचार होता है, जैसे कि छत्र आदि के अभाव में भी यह छत्री है, यह कुंडली है, यह दंडी है, इत्यादि भाषा।

वस्तु के संयोग के आधार पर उसे उस नाम से पुकारना योग सत्य है, जैसे—दण्ड धारण करने वाले को दण्डी कहना या जिस घड़े में घी रखा जाता है, उसे घी का घड़ा कहना।

10. उपमासत्य—औपम्य सत्य भाषा को परिभाषित करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि औपम्य का अर्थ है—उपमा, जो कि उपमान से सापेक्ष होती है, जैसे कि चाँद-सा मुँह। यहाँ चाँद उपनाम है

और जिसको उपमा दी जा रही है, वह उपमेय है। मुँह में चाँद की समानता का भान चाँद के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता है। अतः उपमा से सापेक्ष कही जाती है।⁶⁴

यद्यपि चन्द्रमा और मुख दो भिन्न तथ्य हैं और उनमें समानता भी नहीं है, फिर भी उपमा में ऐसे प्रयोग होते हैं, जैसे—चन्द्रमुखी, भृगनयनी आदि। लोकभाषा में इसे सत्य माना जाता है।

वस्तुतः सत्य को इस रस रूपों का संबंध तथ्यगत सत्यता के स्थान पर भाषागत सत्यता से है। भाषा-व्यवहार में इन्हें सत्य माना जाता है। यद्यपि कथन की सत्यता मूलतः तो उसकी तथ्य से संवादिता पर निर्भर करती है, फिर भी अपनी व्यावहारिक उपादेयता के कारण ही इन्हें सत्य की कोटि में परिगणित किया गया है।

2. असत्य भाषा

व्यवहार नय से असत्य भाषा का निरूपण करते हुए कहा है कि—जब वादी और प्रतिवादी के अभिप्राय परस्पर विरुद्ध हों, तब आगम से विपरीत जो कथन किया जाए, वह असत्य भाषा है, क्योंकि यह भाषा विराधनी है। व्यवहारनय की यह परिभाषा है कि—जो भाषा विराधनी होती है, वह असत्य होती है, जैसे कि जीव नित्य है या अनित्य। इस तरह जीव के विषय में विरुद्ध अभिप्राय उपस्थित होने पर आगम से विरुद्ध जीव एकान्त नित्य है अर्थात् जीव सर्वथा नित्य है, यह प्रतिपादन किया जाए, तब वह भाषा व्यवहारनय की दृष्टि में विराधनी भाषा होने से मृषा असत्यभाषा स्वरूप है। जीव एकान्त नित्य है, यह वचन आगमविरुद्ध इसलिए है कि आगम में जीव नित्यानित्यरूप है, ऐसा तर्कसंगत यथार्थ प्रतिपादन उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य में किया है।

जैन दार्शनिकों ने सत्य के साथ-साथ असत्य के स्वरूप पर भी विचार किया है। असत्य का अर्थ है—कथन का तथ्य से विसंवादी होना या विपरीत होना। प्रश्नव्याकरण में असत्य की काफी विस्तार से चर्चा है। उसमें असत्य के 30 पर्यायवाची नाम दिये गये हैं।⁶⁵ मुख्यतः असत्य वचन के चार प्रकार हैं—

1. अलोक—जिसका अस्तित्व नहीं है, उसको अस्तिरूप कहना अलोक वचन है।
2. अवलोप—सहवस्तु को नास्तिरूप कहना अवलोप है।
3. विपरीत—वस्तु के स्वरूप का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करना विपरीत कथन है।
4. एकान्त—ऐसा कथन जो तथ्य के सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के साथ अन्य पक्षों या पहलुओं का अपलाप करता है, वह भी असत्य माना गया है। इसे दुर्नय भी कहा गया है।

इनके अतिरिक्त जैनों के अनुसार हिंसाकारी वचन, कटु वचन, विश्वासघात, दोषारोपण आदि भी असत्य के ही रूप हैं।

भगवती आराधना में असत्य के निम्न चार भेद बतलाये हैं—1. सद्भूत वस्तु का निषेध करना, 2. असद्भूत का विधान करना, 3. अन्यथा कथन (विपरीत कथन), 4. गर्हित, सावध और अप्रिय वचन।⁶⁶

उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य में असत्यमृषा की व्याख्या एवं भेद को परिभाषित करते हुए कहा है—

सच्चाए विवरीया, होइ असच्चा विराहणी तत्य ।

दव्वाइ चउभंगा, दसहा सा पुण सुए भणिया ॥38॥

कोहे माणे माया लोभे पिज्जे तहेव दोसे अ ।

हास भए अवखाइ उवधाए णिस्सिया दसमा ॥39॥⁶⁷

अर्थात् सत्य भाषा से विपरीत असत्य भाषा है, जो कि विराधक भाषा है। असत्य भाषा के इत्यादि चार भेद हैं। आगम में असत्य भाषा के दस भेद हैं—

निश्चित का क्रोधादि प्रत्येक में संबंध होने से असत्य भाषा के ये दस भेद प्राप्त होते हैं⁸⁸—

1. क्रोध निश्चित, 2. मान निश्चित, 3. माया निश्चित, 4. लोभ निश्चित, 5. प्रेम निश्चित, 6. द्वेष निश्चित, 7. हास्य निश्चित, 8. भय निश्चित, 9. आख्यायिका निश्चित, 10. उपघात निश्चित।

प्रज्ञापना सूत्र में भी असत्य या मृषा भाषा के उपरोक्त ही दस भेद का विवेचन किया गया है। इन सबका विवरण उपाध्यायजी ने किया है—

1. क्रोध निश्चित—क्रोधाविष्ट होकर जो कोई अपने लड़के से कहता है कि—“तू मेरा पुत्र नहीं है।” यह वाक्य क्रोधःनिश्चितमृषा भाषा है। या तो क्रोधाविष्ट व्यक्ति का सर्ववचन क्रोध निःसृत असत्य भाषा स्वरूप ही है। ऐसा उपाध्याय यशोविजय ने कहा है।⁸⁹

2. मान निश्चित—मान कषाय से ग्रस्त जीव बोलता है कि मैं बहुत धनी हूँ, मैं बहुत ज्ञानी हूँ। इत्यादि यह माननिःसृत असत्य भाषा है या माननिःसृत सब वचन असत्य ही है। ऐसा उपाध्यायजी ने कहा है।⁹⁰

3. माया निश्चित—माया अविष्ट पुरुष बोलता है कि—“यह देवेन्द्र है”, वह माया-निःसृतमृषा भाषा है या तो मायावी का सर्ववचन माया निःसृत भाषा स्वरूप है। ऐसा यशोविजयजी ने कहा है।⁹¹

4. लोभ निश्चित—लोभाविष्ट पुरुष बोलता है कि जैसे कि यह मान माप सम्पूर्ण है, कम नहीं है। इत्यादि यह लोभ निःसृत मृषाभाषा है या तो लोभाविष्ट पुरुष का सर्ववचन लोभ निःसृत मृषा भाषा है।⁹²

5. प्रेम निश्चित—उपाध्यायजी ने प्रेमाविष्ट व्यक्ति का वचन, जैसे कि—“मैं तेरा दास हूँ”, यह वचन प्रेम निःसृत मृषाभाषा रूप है या तो प्रेमी का सब वचन प्रेम निःसृत मृषाभाषा रूप है।⁹³

6. द्वेष निश्चित—द्वेष से व्याप्त जीव बोलता है कि जिनेश्वर कृतकृत्य नहीं हैं—इत्यादि, वह वचन द्वेष निःसृत भाषा है। या तो द्वेषप्रयुक्त सर्व भाषा द्वेषनिःसृत मृषाभाषा ही है, ऐसा वाचकवर ने कहा है।⁹⁴

7. हास्य निश्चित—हास्यनिश्चित को परिभाषित करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है—प्रेक्षकों को हंसाने के लिए कुछ वस्तु देखने पर भी मैंने यह नहीं देखा है—ऐसा कहा जाता हुआ वचन हास्यनिश्चित मृषा भाषा है।⁹⁵

8. भय निश्चित—भय से निश्चित से जो विपरीत वचन कहा जाता है, वह भय निःसृत भाषा है। जैसे कि राजा से पकड़ा गया चोर मार-पीट, फाँसी आदि सजा के भय से न्याय की कचहरी में कहता है कि “मैं चोर नहीं हूँ” इत्यादि वचन भयनिःसृत भाषा का उदाहरण है।⁹⁶

9. आख्यायिका निःसृत—झूठी कथा कहने की जो क्रीड़ा है, आदत है, वह आख्यायिका निःसृत भाषा है, जैसे कि भारत-रामायण आदि शास्त्र में ग्रथित अयुक्त वचन।⁹⁷

10. उपघात निःसृत—उपघात में परिणत होकर जो झूठ वचन कहा जाता है, जैसे कि चोर नहीं है, उसे भी ‘तू चोर है’—इत्यादि वचन, वह उपघात निःसृतमृषा भाषा है।⁹⁸

वस्तुतः यहाँ दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्रोध, अहंकार, कपटवृत्ति, लोभ, राग, द्वेष और हास्य और भय के वशीभूत होकर बोली गई भाषा को असत्य क्यों कहा गया? यद्यपि क्रोध, भय आदि की स्थिति में बोला गया वचन अधिकांश रूप में तथ्य का विसंवादी भी होता है लेकिन कभी-कभी वह सत्य भी होता है, फिर भी जैन आचार्यों ने इसे सत्य की कोटि में स्वीकार नहीं किया है। वे उसे असत्य ही मानते हैं। हमारी दृष्टि में इसका आधार यह है कि दृष्ट आशय के द्वारा बोली गई भाषा चाहे वह तथ्य की संचारी क्यों न हो, सत्य नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः उपर्युक्त असत्य भाषा के जो दस प्रकार बताये गये हैं, वे भाषा की सत्यता या असत्यता का प्रतिपादन करने के स्थान पर उन स्थितियों को बताते हैं, उनके कारण असत्य भाषण होता है। ये वे स्थितियाँ हैं, जो असत्य को जन्म देती हैं। जब भी व्यक्ति असत्य सम्भाषण करता है, इनमें से किसी एक कारण के आधार पर करता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण में दो प्रकार ऐसे हैं, जिन पर और अधिक विचार अपेक्षित है। इनमें आख्यायिका भाषा को असत्य कहा गया है। आख्यायिका का मतलब क्या होता है। जब व्यक्ति किसी आख्यान या कथा का चित्रण करता है तो उसमें अनेक असम्भवित कल्पनाओं को भी स्थान दे देता है और इस प्रकार का कथन प्रामाणिकता को खो देता है। उपन्यास आदि कथा-साहित्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रकार उपघात निःसृत भाषा भी असत्य कही गई है, क्योंकि इसमें दूसरों पर मिथ्यादोषारोपण की प्रवृत्ति कार्य करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों ने भाषा की सत्यता-असत्यता का विचार मात्र तथ्यगत सम्पादिता के आधार पर ही नहीं किया अपितु उन मूलभूत कारणों के आधार पर भी किया, जिसमें कथन की प्रामाणिकता, सत्यता खण्डित हो जाती है।

3. सत्यमृषा कथन—वे कथन जिनका अर्थ उभय कोटिक हो सकता है, सत्य मृषा कथन है। अश्वत्थामा मारा गया, यह महाभारत का प्रसिद्ध कथन सत्यमृषा भाषा का उदाहरण है। वक्ता और श्रोता इसके भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अतः जो कथन दोहरा अर्थ रखते हैं, वे सत्यमृषा भाषा के उदाहरण हैं। इसी प्रकार अनिश्चयात्मक कथन भी इस कोटि में आते हैं। संभावनात्मक कथन को कुछ जैनाचार्यों ने सत्य का एक भेद माना है किन्तु सही में तो उसे सत्यमृषा भाषा की कोटि में परिगणित करना चाहिए।

उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य में बताया है कि—

अंसे जीसे अत्थो विवरीओ होइ तह तहारुवो ।

सच्चामोसा; मीसा, सुअंमि परिभासिआ दसहा ॥56॥

उत्पन्न विगय मिसग जीवमजीवे अ जीवअज्जीवे ।।

तहणेतमीसिया खलु परित अध्या य अद्धधा ॥57॥⁹⁹

यही दस भेद का उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र¹⁰⁰ में भी किया गया है।

जिस भाषा का विषय एक अंश में विपरीत हो और अन्य अंश में तथारूप अविपरीत हो, वह भाषा सत्यमृषा है। वह आगम में मिश्रभाषा रूप से परिभाषित है, जिसके दस भेद हैं—1. उत्पन्न मिश्र, 2. विगत मिश्र, 3. उत्पन्न विगत मिश्र, 4. जीव मिश्रित अजीव मिश्रित, 5. जीवाजीव मिश्रित, 7. अनंत मिश्रित, 8. प्रत्येक मिश्रित, 9. अद्धा मिश्रित, 10. अद्धाधा मिश्रित—ये दस भेद मिश्र भाषा के हैं, जैसे—

1. **उत्पन्न मिश्रित**—जिस भाषा में उत्पन्न भाव संख्या की पूर्ति के लिए अनुत्पन्न भावों से मिश्रित होते हैं, वह उत्पन्नमिश्रित भाषा है। ऐसा उपाध्यायजी ने कहा है।¹⁰¹

प्रज्ञापना के टीकाकारों ने उत्पन्न मिश्रिता भाषा का उदाहरण देते हुए कहा है कि पूर्णतया निश्चित संख्या का ज्ञान न होने पर कभी आनुमानिक रूप से उत्पत्ति संबंधी कथन करना उत्पन्न मिश्रित भाषा है। जैसे इस ग्राम में दसों बालकों का जन्म हुआ। वर्तमान सन्दर्भ में उसे हम आनुमानिक अंकों का प्रस्तुतीकरण कह सकते हैं। आनुमानिक संख्या संबंधी कथन न तो पूर्णतः असत्य ही कहे जा सकते हैं और न पूर्णतया सत्य ही। अतः उन्हें मिश्र भाषा की कोटि में मानना होगा। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि वाराणसी की जनसंख्या 10 लाख है तो हमारा यह कथन न तो असत्य ही कहा जा सकता है और न सत्य ही। सामान्यतः लगभग का प्रयोग करके जो कथन किये जाते हैं, वे इस कोटि में आते हैं। इसमें संख्या निश्चित न होकर आनुमानिक होती है।

2. **विगत मिश्रित**—उपाध्याय यशोविजय ने कहा कि जिस भाषा में विगत भाव अविगत भाव के साथ संख्यापूर्ति के लिए मिश्रित किये जाते हैं, वह भाषा विगतमिश्रित कही जाती है। टीकाकारों की दृष्टि में इसका अर्थ मरण संबंधी अनिश्चित संख्या का प्रतिपादन माना गया है, जैसे—आज नगर में दस लोगों की मृत्यु हो गई अथवा युद्ध में लाखों व्यक्ति मारे गये। विगत मिश्रित का एक अर्थ भूतकालिक घटनाओं के अनुमानित आंकड़े प्रस्तुत करना भी हो सकता है।¹⁰²

3. **उत्पन्न विगत मिश्रित**—जिस भाषा से वास्तव में उत्पन्न और विगत भाव एक साथ अधिक या न्यून कहे जाते हैं, उस भाषा को उत्पन्न विगत मिश्रित कहते हैं।¹⁰³ जैसे भारत में हजारों बालक जन्म लेते हैं और मरते हैं। यहाँ भी पूर्णतया निश्चित संख्या के अभाव में इसे भी मिश्र भाषा की कोटि में माना जाएगा।

4-6. **जीव मिश्रित-अजीव मिश्रित और जीव-अजीव मिश्रित**—उपाध्याय यशोविजय ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि जीव और अजीव दोनों के समूह में अजीव को छोड़कर 'यह अनेक जीवों का समूह है', इत्यादि जो कहा जाता है, वह जीवमिश्रित भाषा है।¹⁰⁴

जीव और अजीव के समुदाय में न्यून या अधिक संख्या का जब स्पष्ट रूप में प्रयोग किया जाता है, तब यह भाषा जीवाजीवमिश्रित भाषा कही जाती है।

टीकाकारों ने जीवमिश्रित भाषा का उदाहरण देते हुए कहा है कि अनेक जीवित और अनेक मृत शक्तियों के समूह को देखकर यह कहना कि 'यह जीवों का समुह है', जीवित शक्तियों की अपेक्षा से यह भाषा सत्य है किन्तु मृत शक्तियों की अपेक्षा से यह असत्य है। अतः इसे मिश्रभाषा कहा गया है। एक अन्य अर्थ भी हो सकता है कि जीवमिश्रित, अजीवमिश्रित और जीवाजीवमिश्रित—ये तीनों प्रकार की भाषाएँ वस्तुतः सजीव एवं निर्जीव दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त वस्तु के सन्दर्भ में एकान्तित रूप से जीवित या मृत होने का कथन करना है। उदाहरण के लिए हम शरीर को न जड़ कह सकते हैं, न चेतन, अपेक्षाभेद से वह जड़ भी हो सकता है, चेतन भी हो सकता है और उभय भी। उस अपेक्षाओं की अवहेलना करके उसे एकान्तिक रूप से जड़, चेतन या उभय कहा जायेगा तो वह मिश्र भाषा का ही उदाहरण होगा, क्योंकि उस भाषा को एकान्तिक रूप से सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता है।

7-8. **अनन्तमिश्रित और परिमित मिश्रित**—उपाध्याय यशोविजय ने इन दो को परिभाषित करते हुए कहा है—प्रत्येक काय पत्र आदि से युक्त कंद में सर्वत्र यह अनंत काय है—ऐसा प्रयोग अनन्तमिश्रित भाषा है।¹⁰⁷

अनंतकाय से मिश्रित प्रत्येक काय के समूह में 'यह प्रत्येक काय है'—ऐसी भाषा प्रत्येक मिश्रित है, ऐसा उपाध्यायजी ने कहा है।¹⁰⁸

टीकाकारों ने यहाँ अनन्त मिश्रित की व्याख्या अनन्तकायिक वनस्पति के सन्दर्भ को लेकर की है किन्तु मेरी दृष्टि से अनन्त मिश्रित और सीमित मिश्रित का तात्पर्य वनस्पतिकायिक जीवों से न होकर संख्या संबंधी कथनों से ही है। भाषायी प्रयोग में हम अनेक बार असीम और ससीम का अनिश्चित अर्थ में प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि समुद्र की जलराशि अनन्त है, उसकी प्रज्ञा का कोई अन्त नहीं आदि। यद्यपि उपर्युक्त दोनों कथनों में न समुद्र की जलराशि अनन्त है और न प्रज्ञा की। वस्तुतः वे सीमित हैं किन्तु भाषायी प्रयोग में उन्हें असीम या अनन्त कह दिया जाता है। यद्यपि यहाँ वक्ता का प्रयोजन मात्र उसकी विशालता को बताना है। इसी प्रकार कभी-कभी अल्पता को बताने के लिए निषेधात्मक भाषा का प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे—आज उसने कुछ नहीं खाया। यहाँ कुछ नहीं खाया का तात्पर्य पूर्णतः निषेधात्मक नहीं है। अतः भाषायी प्रयोगों में ससीम को असीम और न कुछ कहकर अभिव्यक्त करने की जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे एकान्त यप में सत्य या असत्य नहीं कही जा सकती हैं, इसलिए मिश्र भाषा की कोटि में आती हैं।

9-10. कालमिश्रित और अकाल मिश्रित—उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—प्रयोजनवश दिन और रात का विपर्यास जिस भाषा में हो, वह काल मिश्रित सत्यामृषा भाषा है।¹⁰⁹

रात या दिन का कुछ भाग अन्य भाग से जहाँ मिश्रित हो जाता है, यह भाषा अकाल मिश्रित सत्यामृषा भाषा कही जाती है।¹¹⁰

काल और अकाल मिश्रित कथनों के उदाहरण निम्न हो सकते हैं—जैसे सवेरा होने के पहले ही किसी व्यक्ति को जगाने के लिए कहा जाये कि “भाई उठो! दिन निकल आया है।” अथवा किसी को जल्दी की स्थिति में 10 या 11 बजे भी यह कह देता है कि “अरे! दोपहर हो गई।” वस्तुतः उपर्युक्त सभी कथन व्यावहारिक भाषा में प्रचलित होते हैं, किन्तु उनकी सत्यता और असत्यता का एकान्त रूप से निर्धारण नहीं होता है। अतः उसे मिश्रभाषा कहा जाता है।

जब कथनों को निश्चित रूप से सत्य या असत्य की कोटि में रखना सम्भव नहीं होता है तो उन्हें सत्यामृषा कहा जाता है।

4. असत्यमृषा कथन—उक्त भेद को परिभाषित करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—

अणहिणया जा तीसुवि, ण य आराहणविराहणुवउता ।

भासा असच्चमोसा एसा भणिया दुवालसहा ।।91 ।।

आमंतणि आणवणी जायणी तह पुच्छणीय पन्नवणी ।

पच्चरखाणी भासां भासां इच्छाणुलोभाय ।।70 ।।

अणभिग्गहिआ भासा, भासा य अभिग्गहम्मि बोधच्चा ।

संसयकरणी भासा, वायड अब्वायहा चेव ।।71 ।।¹¹¹

अर्थात् जो सत्यादि तीन भाषा में अनधिकृत हो और जो आराधक और विराधक भी न हो, वह भाषा सत्यामृषा है, जिसके 12 भेद हैं—1. आमंत्रणी भाषा, 2. आज्ञापनी भाषा, 3. याचनी भाषा, 4. पृच्छनी भाषा, 5. प्रज्ञापनी भाषा, 6. प्रत्याख्यानी भाषा, 7. इच्छानुलोमा भाषा, 8. अनभिगृहीत भाषा, 9. अभिगृहीत भाषा, 10. संशयकरणी भाषा, 11. व्याकृत भाषा, 12. अव्याकृत भाषा।

प्रज्ञापना सूत्र में कथनों के कुछ प्रारूपों को असत्य-अमृषा कहा गया है। वस्तुतः ये कथन जिन्हें सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता, असत्य-अमृषा कहे जाते हैं। जो कथन किसी विधेय का विधान या निषेध नहीं करते, उनका सत्यापन सम्भव नहीं होता है और जैन आचार्यों ने ऐसे कथनों को असत्य अमृषा कहा है, जैसे—आदेशात्मक कथन। प्रज्ञापना में भी भिन्न बाराह प्रकार के कथनों को असत्यअमृषा कहा गया है¹¹²—

1. **आमन्त्रणी**—उपाध्याय यशोविजय ने आमन्त्रणी भाषा को परिभाषित करते हुए कहा—जो भाषा संबोधन युक्त होती है और जिसको सुनकर श्रोता को अवधान होता है, वह भाषा आमन्त्रणी है, ऐसा तत्त्वदर्शी पुरुषों ने कहा है।¹¹³ आप हमारे यहाँ पधारें! आप हमारे विवाहोत्सव में सम्मिलित होयें—इस प्रकार आमन्त्रण देने वाले कथनों की भाषा आमन्त्रणी कही जाती है। ऐसे कथन सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए ये सत्य या असत्य की कोटि से परे होते हैं।

2. **आज्ञापनीय**—आज्ञायचन से युक्त भाषा आज्ञापनी भाषा है।¹¹⁴ 'दरवाजा बन्द कर दो', 'बिजली जला दो' आदि आज्ञावाचक कथन भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं आते। ए.जे. एयर प्रभृति आधुनिक तार्किक भाववादी विचारक भी आदेशात्मक भाषा को सत्यापनीय नहीं मानते। इतना ही नहीं, उन्होंने समग्र नैतिक कथनों के भाषायी विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि विधि या निषेधरूप में आज्ञासूचक या भावनासूचक ही हैं, इसलिए वे न तो सत्य हैं और न असत्य हैं।

3. **याचनीय**—इच्छित वस्तु की प्रार्थना में तत्पर भाषा याचनी भाषारूप से ज्ञातव्य है। ऐसा उपाध्यायजी ने कहा है।¹¹⁵ यह दो इस प्रकार की वाचना करने वाली भाषा भी सत्य और असत्य की कोटि से परे होती है।

4. **पृच्छनीय**—जिज्ञासित अर्थ कथन-पृच्छनी भाषा है। ऐसा उपाध्यायजी ने भाषा रहस्य में दिखाया है।¹¹⁶ यह रास्ता कहाँ जाता है? आप मुझे इस पद्य का अर्थ बतायेंगे? इस प्रकार के कथनों की भाषा पृच्छनीय कही जाती है। चूँकि यह भाषा भी किसी तथ्य का विधि-निषेध नहीं करती है, अतः इसका सत्यापन सम्भव नहीं है।

5. **प्रज्ञापनीय अर्थात् उपदेशात्मक भाषा**—विनेयजन के प्रति विधि को बताना, यह प्रज्ञापनी भाषा है, ऐसा जिनेश्वर भगवन्तों ने बताया है।¹¹⁷ जैसे चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए आदि। चूँकि इस प्रकार के कथन भी तथ्यात्मक विवरण न होकर उपदेशात्मक होते हैं अतः ये सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते।

6. **प्रत्याख्यानीय**—प्रार्थित चीज का निषेध वचन प्रत्याख्यानी है—ऐसा उपाध्यायजी ने कहा है।¹¹⁸ जैसे तुम्हें यहाँ नौकरी नहीं मिलेगी अथवा तुम्हें भिक्षा नहीं दी जा सकती—यह भाषा सत्यापनीय नहीं है।

7. **इच्छानुकूलिका**—अपनी इच्छा का लोभ प्रदर्शन करना—यह इच्छानुलोभ भाषा है।¹¹⁹ किसी कार्य में अपनी अनुमति देना अथवा किसी कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी स्पष्ट करना इच्छानुकूलित भाषा है। तुम्हें यह कार्य करना ही चाहिए, इस प्रकार के कार्य को मैं पसंद करता हूँ, मुझे झूठ बोलना पसंद नहीं है, आदि। आधुनिक नीतिशास्त्र का संवेगवादी सिद्धान्त भी नैतिक कथनों के अभिरुचि या पसंदगी का ही एक रूप बताता है और उसे सत्यापनीय नहीं मानता है।

8. अनभिग्रहीता—अनेक कार्य की पृच्छा करने पर निश्चित रूप से किसी एक कार्य का जिस प्रत्युत्तर से श्रोता को निश्चय न हो, वह भाषा अनभिग्रहीत भाषा है।¹²⁰ जैसे 'जो पसंद हो वह कार्य करो', 'जो तुम्हें सुखप्रद हो वैसा करो' आदि। ऐसे कथन भी सत्यापनीय नहीं होते, इसलिए इन्हें भी असत्यमृषा कहा गया है।

9. अभिग्रहीता—अनभिग्रहीत भाषा से विपरीत भाषा अभिग्रहीत भाषा कही जाती है, ऐसा उपाध्यायजी का कथन है।¹²¹ किसी दूसरे व्यक्ति के कथन को अनुमोदित करना अभिग्रहीत कथन है, जैसे—हाँ! तुम्हें ऐसा ही करना चाहिए—ऐसे कथन भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते हैं।

10. संदेह कारिणी—जिस भाषा के अनेकार्थ पद को सुनकर श्रोता को संशय हो वह संदेहकारिणी भाषारूप से कथन है, ऐसा वाचकवर ने कहा है।¹²² जो कथन द्व्यर्थक हो या जिनका अर्थ स्पष्ट न हो, संदेहात्मक भेद कहे जाते हैं, जैसे—सैन्धव अच्छा होता है—यहाँ वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है कि सैन्धव से उसे नमक नाम अभिप्रेत है या सिन्धु देश का घोड़ा, अतः ऐसे कथनों को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य।

11. व्याकृता—स्पष्ट अर्थ वाली असत्य मृषा भाषा कही जाती है। वे कथन जो किसी तथ्य की परिभाषाएँ हैं, इस कोटि में आते हैं।¹²³ आधुनिक भाषा विश्लेषण दार्शनिकों की दृष्टि से कहें तो वे पुनरुक्तियाँ हैं। जैन विचारकों ने इन्हें भी सत्य, असत्य की कोटि में नहीं रखा है, क्योंकि इतना कोई विधान नहीं होता या ये कोई नवीन कथन नहीं करते हैं।

12. अव्याकृतभाषा—अव्याकृत भाषा वह है, जो अत्यन्त गम्भीर पदार्थ की बोधक होती है। यह अव्यक्त भाषा अव्याकृत भाषा है—यह जानना चाहिए।¹²⁴ जैसे—यह नहीं कहा जा सकता है कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत, अव्याकृत भाषा तथ्य का स्पष्ट रूप से विधान या निषेध नहीं करती है, इसलिए वह भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आती है।

आज समकालीन दार्शनिकों ने भी आमंत्रणी, आज्ञापनीय, याचनीय, पृच्छनीय और प्रज्ञापनीय आदि कथन को असत्यमृषा माना है। एयर आदि ने नैतिक प्रवचनों को आज्ञापनीय मानकर उन्हें असत्यापनीय कहा है—जो जैन दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के साथ संगतिपूर्ण है।

भाषा दर्शन का महत्त्व

यहाँ दार्शनिक प्रश्न यह है कि क्या शब्द प्रतीकों या भाषा में अपने विषय या अर्थ को अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य है? क्या कुर्सी शब्द कुर्सी नामक वस्तु को और प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है? यह ठीक है कि शब्द अपने अर्थ का वाचक अथवा सांकेतिक है किन्तु क्या कोई भी शब्द अपने वाच्य विषय की पूर्णतया अभिव्यक्ति करने में सक्षम है? क्या शब्द अपने विषय के समस्त गुणधर्मों और पर्यायों का एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। यदि हम यह मानते हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक नहीं है तो फिर भाषाजन्य ज्ञान की प्रामाणिकता और भाषा की उपयोगिता संदेहात्मक बन जाती है, किन्तु इसके विपरीत यह मानना भी पूर्णतया सही नहीं है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का सम्पूर्णतया के साथ निर्वचन करने में समर्थ है और वह अपने वाच्य का यथार्थ चित्र श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। जैसा कि हमने देखा है, जैन आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध को लेकर एक मध्यममार्गीय दृष्टिकोण अपनाया है। न तो वे बौद्धों के समान यह मानने के लिए सहमत हैं कि शब्द अपने अर्थ

- या विषय का संस्पर्श ही नहीं करता है और न मीमांसकों एवं वैयाकरणिकों के समान यह मानते हैं कि शब्द अपने विषय का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा सांकेतिक अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है, किन्तु यह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि शब्द अपने विषय या अर्थ का स्थान ही ले ले। शब्द अर्थ या विषय का संकेतक तो है, किन्तु उसका स्थान नहीं ले सकता। अर्थबोध की प्रक्रिया में शब्द को अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधि तो कहा जा सकता है, फिर भी शब्द अपने विषय या अर्थ का हू-ब-हू चित्र नहीं है। जैसे नक्शों में प्रदर्शित नदी वास्तविक नदी की संकेतक तो है, किन्तु न तो वह वास्तविक नदी है और न उसकी हू-ब-हू प्रतिबिम्ब ही है, वैसे ही शब्द और उनसे निर्मित भाषा भी अपने अर्थ या विषय की संकेतक तो है किन्तु उसका हू-ब-हू प्रतिबिम्ब नहीं है। फिर भी शब्द या भाषा अपनी सहज योग्यता और संकेतक शक्ति से विषय का एक चित्र श्रोता या पाठक के सम्मुख अवश्य उपस्थित कर देता है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापन और ज्ञाप्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में प्रतिपादन और प्रतिपाद्य का वाचक और वाच्य सम्बन्ध है। यद्यपि जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध स्वीकारते हैं किन्तु यह सम्बन्ध मीमांसकों के समान नित्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषा के प्रचलन में अनेक बार शब्दों के अर्थ बदलते रहे हैं और एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। भाषा (शब्द) अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है किन्तु अपने अर्थ के साथ उसका न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है और न तदरूपता सम्बन्ध है। जैन दार्शनिक मीमांसकों के समान शब्द और अर्थ में नित्य तथा तद्रूप संबंध स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार हस्त-संकेत आदि अपने अभिव्यञ्जनीय अर्थ के साथ अनित्य रूप से संबंधित होकर इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं, उसी प्रकार शब्द संकेत भी अपने अर्थ से अनित्य रूप से संबंधित होकर भी अर्थबोध करा देते हैं।¹²⁵

जैनों के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों की विविक्त सत्ताएँ हैं। अर्थ में शब्द नहीं है और न ही अर्थ शब्दात्मक ही है, फिर भी दोनों में एक सम्बन्ध अवश्य है। जैन आचार्यों को बौद्धों का यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कथन है कि यदि शब्द का अपने अर्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जायेगा तो समस्त भाषा-व्यवहार की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जायेगी और पारस्परिक अभिव्यक्ति का कोई साधन ही नहीं रहेगा। इसीलिए जैन दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सापेक्ष एवं सीमित वाच्यवाचक सम्बन्ध माना है, जैसे—प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अभिव्यक्त तो करता है, किन्तु उसमें प्रेम की अनुभूति की सभी गहराइयाँ समाविष्ट नहीं हैं। प्रेम के विविध रूप हैं। प्रेम अनुभूति की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर हैं। अकेला प्रेम शब्द उन सबका वाचक तो नहीं हो सकता। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से, एक पुत्र अपनी माता से, एक भाई अपने भाई से और एक मित्र अपने मित्र से 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ'—इस पदावली का कथन करता है। किन्तु क्या उन सभी व्यक्तियों के सन्दर्भ में इस पदावली का एक ही अर्थ होगा? वस्तुतः वे सब समान पदावली का उपयोग करते हुए भी जिस भावप्रवणता को अभिव्यक्त कर रहे हैं, वह भिन्न-भिन्न ही है। दो भिन्न सन्दर्भों में और दो भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही सन्दर्भ में एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकता है। मात्र यही नहीं, एक ही पदावली के सन्दर्भ में वक्ता और श्रोता—दोनों की भावप्रवणता और अर्थग्राहकता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। हम अनेक सन्दर्भों में दूसरों के कथनों को अन्यथा ग्रहण कर लेते हैं। बालक को जब भाषा सिखाई जाती है तो शब्द के उच्चारण के साथ उसे वस्तु भी दिखाते हैं। धीरे-धीरे बालक उनमें संबंध जोड़ लेता है और जब भी उस शब्द को सुनता है, पढ़ता है तो उसे

उस अर्थ का बोध हो जाता है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा के शब्द हमें कोई अर्थबोध नहीं दे पाते हैं। इसीलिए जैन दार्शनिक मीमांसा दर्शन के शब्द में स्वतः अर्थबोध की सामर्थ्य का खण्डन करते हैं। अनेक प्रसंगों में वक्ता का आशय कुछ होता है और श्रोता उसे कुछ और समझ लेता है, अतः यह मानना होगा कि शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध श्रोता या पाठक सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अन्यथा दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही पदावली का भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करना कभी संभव नहीं होता।

जैन दार्शनिकों के लिए भाषा-दर्शन का, भाषा-विश्लेषण का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण रहा है, इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जैन धर्म में महावीर के जीवनकाल में ही प्रथम संघभेद भाषा-विश्लेषण को लेकर हुआ। इस प्रथम संघ-भेद के कर्ता भी अन्य कोई नहीं, स्वयं भगवान महावीर के भागिनेय एवं जामाता जमाली थे। विवाद का मूल विषय था—क्रियमान का क्या अर्थ है? उसे कृत कहा जा सकता है, या नहीं? महावीर की मान्यता थी कि क्रियमान को कृत कहा जा सकता है, जबकि जामाली क्रियमान को अकृत कहते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में गौतम महावीर के सम्मुख यही प्रश्न उपस्थित करते हैं।

हे भगवान! क्या चलमान को चलित, उदीर्यमान को उदीरित, वैद्यमान को वेदित, प्रहीणमान को प्रहीण, छिद्यमान को छिन्न, भिद्यमान को भिन्न, दग्धमान को दग्ध, प्रियमान को मृत, निर्जीयमान को निर्जीण कहा जा सकता है।

हाँ गौतम! जो चल रहा है उसे चला, जो उदीर्यमान है उसे उदीरित, जो वैद्यमान है उसे वैद्य, जो प्रहीणमान है उसे प्रहीण, जो छिद्यमान है उसे छिन्न, जो भिद्यमान है उसे भिन्न, जो दग्धमान है उसे दग्ध, जो प्रियमान है उसे मृत और जो निर्जीयमान है उसे निर्जीण कहा जा सकता है।¹²⁶

इसके विपरीत जमाली की मान्यता यह थी कि कोई भी क्रिया जब तक पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक उसे कृत नहीं कहा जा सकता। वे दूसरे शब्दों में जो चल रहा है उसे चला और जो जल रहा है उसे जला नहीं कहा जा सकता। जमाली के द्वारा इस मान्यता को स्वीकृति देने के पीछे भी एक घटना रही हुई है—

किसी समय जमाली अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ ग्रामानुगाम विचरण करते हुए श्रीवस्ती नगर में आये। उस समय रुक्ष एवं प्रांत आहार के कारण उनका शरीर रोगग्रस्त हो गया और उन्हें असह्य पीड़ा होने लगी। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया है कि मेरे लिए संस्तारक (बिछौना) बिछा दो। दो शिष्य उनके आदेश को मान्य करके बिस्तर बिछाने लगे। इधर प्रबल वेदना से पीड़ित हो ये बार-बार पूछने लगे कि क्या बिस्तर बिछा दिया गया है? शिष्यों का उत्तर था—बिस्तर अभी बिछा नहीं है, बिछाया जा रहा है। बस इसी घटना ने जमाली को महावीर के क्रियमाण कृत में सिद्धान्त का विरोधी बना दिया। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान महावीर जो इस प्रकार आख्यात करते हैं, प्ररूपित करते हैं कि चलमान चलित, उदीर्यमान उदीरित, आदि—वह मिथ्या है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जब तक शय्यासंस्तारक बिछाया जा रहा है, तब तक वह बिछाया गया नहीं है अर्थात् जो क्रियमान है, वह अकृत है। अतः चलमान चलित नहीं, अपितु अचलित है, उदीर्यमान उदीरित नहीं अपितु अनुदीरित है, वैद्यमान वेदित नहीं अपितु अवेदित है, प्रहीणमान प्रहीण नहीं अपितु अप्रहीण है, छिद्यमान छिन्न नहीं अपितु अछिन्न है, क्रियमान कृत नहीं अपितु अकृत है, निर्जीयमान निर्जीण नहीं अपितु आनिर्जीण है।¹²⁷

वस्तुतः महावीर और जमाली के मध्य जो यह विवाद चला, उसका मुख्य आधार भाषा-विश्लेषण है। महावीर की मान्यता यही थी कि चाहे व्यवहार के क्षेत्र में क्रियमान, दग्धमान, भिद्यमान आदि क्रियाविशेषणों का प्रयोग करते हो, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से ये भाषायी प्रयोग असंगत हैं। अंग्रेजी भाषा में जिसे हम Continue present कहते हैं और संस्कृत भाषा में जिसे वर्तमानकालिक कृदन्त के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं अथवा हिन्दी भाषा में—वह खा रहा है, जा रहा है, लिख रहा है आदि के रूप में जो क्रियापद प्रयोग करते हैं—वे वस्तुतः वर्तमान कालिक न होकर तीनों कालों में उस क्रिया का होना सूचित करते हैं। मैं लिख रहा हूँ—इस वाक्य का तात्पर्य है मैंने भूतकाल में कुछ लिखा, वर्तमान में लिखता हूँ और मेरी यह लिखने की क्रिया भविष्य में भी होगी। वस्तुतः महावीर ने उपर्युक्त व्याख्या में क्रिया के भूतकालिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना और यह सिद्धान्त स्थापित किया कि क्रियमान को कृत कहा जा सकता है, जबकि जमाली ने उसके भविष्यकालिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना और क्रियमान को अकृत कहा।

महावीर ने जमाली की मान्यता—कि जब तक कोई क्रिया पूर्णतः समाप्त न हो जाये, तब तक उसे कृत नहीं कहना—मैंने यह दोष देखा कि क्रियमान क्रिया के पूर्व समयों में कुछ कार्य तो अवश्य हुआ है, अतः उसे अकृत कैसे कहा जा सकता है? जैसे यदि कोई व्यक्ति चल रहा है, तो कथन काल के पूर्व वह कुछ तो चल चुका है अथवा कोई वस्तु जल रही है तो कथन काल तक वह कुछ तो जल चुकी है। अतः उन्होंने माना कि वाच्यता के पूर्व में क्रिया के भूतकालिक पक्ष की दृष्टि से क्रियमान को कृत और दग्धमान को दग्ध कहा जा सकता है।

व्यावहारिक भाषा में भी हम ऐसे प्रयोग करते हैं, जैसे यदि कोई व्यक्ति बोम्बे के लिए घर से रवाना हो गया है तो उसके सम्बन्ध में पूछने पर हम कहते हैं कि वह बोम्बे गया, चाहे वह अभी बोम्बे पहुंचा नहीं हो। उसी प्रकार पेण्ट या शर्ट में एक भाग के जलने पर हम यह कहते हैं कि मेरी पेण्ट या शर्ट जल गया। महावीर के उपासक ठंक् नामक कुम्भकार ने भाषा के इस व्यावहारिक प्रयोग के आधार पर जमाली की मान्यता को असंगत बताया था।

किसी समय महावीर की पुत्री एवं जमाली की सांसारिक पत्नी प्रियदर्शना अपने श्रमणी समुदाय के साथ ठंक् कुम्भकार की कुम्भकारशाला में ठहरी हुई थी। ठंक् कुम्भकार ने उसके साड़ी के पल्लू पर एक जलता हुआ अंगारा डाल दिया, फलतः उसकी साड़ी का एक कोना जल गया। यह देखकर उसने कहा—मेरी साड़ी जल गई। ठंक् ने अवसर का लाभ उठाते हुए कहा—आपके सिद्धान्त के अनुसार जब तक कोई क्रिया पूरी नहीं हो जाती, तब तक वह अकृत होती है—दग्धमान तो दग्ध नहीं अपितु अदग्ध है, अतः जब तक पूरी साड़ी जल नहीं जाती तब तक आपका यह वचन व्यवहार कि साड़ी जल गई, मिथ्या एवं आपके सिद्धान्त का विरोधी होगा। ठंक्-कुम्भकार की यह युक्ति सफल रही और प्रियदर्शना को महावीर के सिद्धान्त की यथार्थता का बोध हो गया।¹²⁶

विभज्यवाद, समकालीन भाषा दर्शन का पूर्वरूप

महावीर और बुद्ध के समय अनेक दार्शनिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं। उस समय जैनों के अनुसार¹²⁹ 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 32 विनयवादी और 67 अज्ञानवादी—इस प्रकार 363 और बौद्धों के अनुसार 62 दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित थे।¹³⁰ बुद्ध और महावीर ने इस सबके दार्शनिक विरोधों में देखा और पाया कि ये सभी दार्शनिक मतवाद दार्शनिक जिज्ञासाओं के एकपक्षीय समाधानों

पर खड़े हुए हैं और इसलिए परस्पर एक-दूसरे के विरोधी बन गये हैं। उनकी दृष्टि में तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के एकपक्षीय एवं निरपेक्ष उत्तर ही मिथ्या धारणाओं को जन्म देते हैं। आत्मा नित्य है या अनित्य? शरीर और आत्मा भिन्न है या अभिन्न? आदि प्रश्नों का उत्तर जब एकान्तिक या निरपेक्ष रूप में दिया जाता है तो वस्तु-स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन नहीं हो पाता।

विश्व की समस्त सत्ताएँ और समग्र घटनाएँ अपने आप में एक जटिल तथ्य हैं और जटिल तथ्यों का सम्यक् प्रतिपादन तो भाषादर्शन की विश्लेषण की पद्धति के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए महावीर और बौद्ध ने एक ऐसी प्रणाली विकसित की, जिसमें दार्शनिक एवं व्यावहारिक जटिल प्रश्नों के उत्तर उन्हें विविध पहलुओं में विश्लेषित कर दिये जाते थे। प्रश्नों को विश्लेषित कर उत्तर देने की यह पद्धति जैन और बौद्ध परम्पराओं में विभज्यवाद के नाम से जानी जाती है। विभज्यवाद एक विश्लेषणवादी पद्धति है। प्रश्नों का यह विश्लेषण ही हमें तात्विक (Analytic Method) समस्याओं की सही समझ दे सकता है। यही कारण था कि अनेक सन्दर्भों में बुद्ध ने समकालीन भाषा-विश्लेषणों के समान ही तत्त्व-मीमांसा का प्रत्याख्यान कर तात्विक प्रश्नों की आनुभवित स्तर पर ही व्याख्या करना उचित समझा और यह कहा कि जहाँ आनुभविक स्तर पर व्याख्या करना सम्भव नहीं है, वहाँ मौन रहना ही अधिक श्रेयस्कर है। महावीर ने भी अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे तात्विक चर्चा या व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान में विभज्यवादी या विश्लेषणात्मक पद्धति ही अपनाये और निरपेक्ष रूप से कोई भी कथन न करे।¹³¹ बुद्ध भी अपने को विभज्यवादी कहते थे।

अंगुत्तर निकाय में भगवान बुद्ध कहते हैं कि विद्वान् अर्थ और अनर्थ दोनों का ज्ञाता होता है। जो अनर्थ का परित्याग करके अर्थ का ग्रहण करता है, वही अर्थ के सिद्धान्त का जानकार दार्शनिक हो जाता है।¹³² बुद्ध के उपर्युक्त कथन में समकालीन भाषा दर्शन का उत्स निहित है। जैन परम्परा भी शब्द पर नहीं, उनके अर्थ पर बल देती है। तीर्थंकर अर्थ का वक्ता होता है।¹³⁴ आज का भाषा-विश्लेषण भी प्रत्ययों या शब्दों के अर्थ का विश्लेषण करके उन्हें स्पष्ट करता है तथा आनुभविक सन्दर्भ में उनकी व्याख्या करता है। दार्शनिक आधारों में आंशिक भिन्नता के होते हुए भी पद्धति की दृष्टि से विभज्यवाद और भाषा-विश्लेषण में समानता है और इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आज से 2000 वर्ष पूर्व प्रस्तुत महावीर और बुद्ध का विभज्यवाद समकालीन भाषा विश्लेषणवाद का पूर्वज है।

भाषायी अभिव्यक्ति की सापेक्षित सत्यता

जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि जन-साधारण का ज्ञान एवं कथन सीमित और सापेक्ष हो जाता है। वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने भी कहा था कि “हम केवल सापेक्षिक सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा।” We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer.¹³⁵

यदि हमारा समस्त ज्ञान, आंशिक अपूर्ण एवं सापेक्षिक है तो हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरा कथन ही एकमात्र सत्य है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि किसी अन्य दृष्टि से अथवा किसी अन्य सन्दर्भ में उस कथन का विरोधी कथन ही सत्य हो। चाहे केवल ज्ञान की निरपेक्ष सत्यता को स्वीकार कर भी लिया जाये, किन्तु कथन की निरपेक्ष सत्यता को कथंमपि सम्भव नहीं है। जो कुछ भी कहा जाता है वह किसी सन्दर्भ विशेष में ही कहा जाता है। अतः उसकी सत्यता

और असत्यता भी उसी सन्दर्भ विशेष में निहित होती है। किसी भी कथन की सत्यता और असत्यता उस सन्दर्भ से बाहर नहीं देखी जा सकती, जिसमें कि वह कहा गया है। अतः सत्यता या असत्यता का विचार किसी सन्दर्भ विशेष में सत्यता या असत्यता का विचार है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि हमारी भाषा सापेक्ष है और उसकी सत्यता किसी दृष्टि विशेष, अपेक्षा विशेष या सन्दर्भ विशेष में निर्भर करती है तो हमें कथन की कोई ऐसी पद्धति खोजनी होगी जो अपनी बात को कहकर भी अपने विरोधी कथनों की सत्यता की सम्भावना का निषेध न करे। जैन आचार्यों ने इस प्रकार की कथन-पद्धति का विकास किया है और उसे स्याद्वाद एवं सप्तभंगी के नाम से विवेचित किया है। स्याद्वाद और सप्तभंगी क्या है? इस सन्दर्भ में तो यहाँ कोई विस्तृत चर्चा नहीं करना चाहते, किन्तु मैं इतना अवश्य ही कहना चाहूँगा कि हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन-व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रान्ति न हो, इसलिए कथन-पद्धति में हमें अपने विधि-निषेधों को सापेक्ष रूप से नहीं रखना चाहिए। यह सापेक्षिक कथन पद्धति ही स्याद्वाद है। जैन आचार्यों ने स्यात् को सत्य का चिह्न¹⁵⁶ इसीलिए कहा है कि अपेक्षापूर्वक कथन करके जहाँ एक ओर वह हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है, वहीं दूसरी ओर श्रोता को कोई भ्रान्ति नहीं होने देता।

भगवान महावीर ने इसीलिए अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे ऐसी भाषा का प्रयोग करे, जो विभज्यवादी हो। विभज्यवाद भाषायी अभिव्यक्तियों की वह प्रणाली है, जो प्रश्नों को विभाजित करके उत्तर देती है। भगवान महावीर और भगवान बुद्ध दोनों ने ही इसी बात पर सर्वाधिक बल दिया था कि हमें अपनी भाषा को स्पष्ट बनाना चाहिए। विभज्यवाद के सन्दर्भ में पूर्व में कहा जा चुका है। विभज्यवाद कथन की वह प्रणाली है जो किसी प्रश्न के सन्दर्भ में ऐकान्तिक निर्णय नहीं देकर प्रश्न का सम्यक् विश्लेषण करती है।

जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने कहा कि यदि गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों ही मिथ्यावादी हैं तो वे आराधक नहीं हैं। यदि वे मिथ्यावादी नहीं हैं तो आराधक हो सकते हैं। इसी प्रकार जब जयन्ती ने महावीर से पूछा कि सोना अच्छा है या जागना?¹⁵⁷ तो उन्होंने कहा—कुछ जीवों का सोना अच्छा है, कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मी को जागना। उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि वक्ता को उसके प्रश्न का विश्लेषण पूर्वक उत्तर देना ही विभज्यवाद है। प्रश्न के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा सत्य के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है।

आधुनिक भाषा-विश्लेषणवाद किसी सीमा तक कथन को विश्लेषित करने वाली इस पद्धति को स्वीकार करके चलता है। भाषा-विश्लेषणात्मक का मूलभूत उद्देश्य कथन के उन अन्तिम घटकों के अर्थ स्पष्ट करना है, जिन्हें उन्होंने तार्किक अण्ड (Logical Atom) कहा है। किसी कथन के वास्तविक प्रतिपाद्य का पता लगाने के लिए यह पद्धति उस कथन को विश्लेषित करके यह स्पष्ट करती है कि उस कथन का वास्तविक तात्पर्य क्या है? यह सत्य है कि भाषा-विश्लेषणवाद एक विकसित दर्शन के रूप में हमारे सामने आया है किन्तु इसके मूल बीज बुद्ध और महावीर के विभज्यवाद दर्शन के आचार्यों ने भाषा-दर्शन के विविध आयाम प्रस्तुत किये हैं, वे अभी गम्भीर विवेचन की अपेक्षा रखते हैं।

शब्द के वाच्यार्थ के प्रश्न को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने जितनी गम्भीरता से चिंतन किया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और कोई भी भाषा-दर्शन उसकी उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकता है। आज

आवश्यकता इस बात की है कि पश्चिम में विकसित हो रहे इस भाषा-दर्शन को भारतीय भाषा-दर्शन के सन्दर्भ में देखा या परखा जाये। आशा है कि भाषादर्शन की इन प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतियों के माध्यम से मानव सत्य के द्वार को उद्घाटित कर सके।

भाषा-दर्शन एवं पाश्चात्य मन्तव्य

भारतीय चिन्तन से भाषा-दर्शन का विकास

जहाँ तक भारतीय दर्शन का प्रश्न है, यह सत्य है कि यहाँ भी दर्शन का प्रारम्भ तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों से हुआ है। परमसत्ता, जीव और जगत् प्रारम्भिक भारतीय चिन्तन के केन्द्रबिन्दु रहे हैं। फिर ईसा पूर्व छठी शती से बन्धन या दुःख, बन्धन या दुःख का कारण, मुक्ति और मुक्ति के उपाय भारतीय दार्शनिक चिन्तन के आधार बने और तत्त्वमीमांसा के स्थान पर आचारदर्शन प्रधान केन्द्र बना, किन्तु दार्शनिक चिन्तन के विकास के साथ ही ईसा की प्रथम शताब्दी से ही यहाँ ज्ञानमीमांसा और भाषा-दर्शन की विविध समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के साथ-साथ सत्ता की वाच्यता को लेकर भाषादर्शन के क्षेत्र में भी किसी सीमा तक दर्शन का प्रवेश हो गया था।

भाषादर्शन की अनेक समस्याएँ भारत के दार्शनिक साहित्य में प्राचीन काल से ही उपलब्ध होती है। परमतत्त्व की अनिर्वचनीयता के रूप में भाषा को सामर्थ्य एवं सीमा की चर्चा हमें औपनिषदिक चिन्तन में भी उपलब्ध हो जाती है। पाणिनि और पतंजलि ने भाषादर्शन संबंधी अनेक समस्याओं को उद्घाटित किया है और जिनके आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने पूरा वैयाकरण दर्शन ही खड़ा कर दिया है। इतना ही नहीं न्याय तथा मीमांसा जैसे आस्तिक दर्शनों में और बौद्ध तथा जैन नास्तिक कहे जाने वाले दर्शनों में शब्द और उसके वाच्यार्थ की समस्या, शब्द प्रामाण्य की समस्या तथा भाषायी कथनों की सत्यता व असत्यता की समस्या पर काफी गम्भीरता से चर्चा हुई है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में वैयाकरणिकों का पूरा सम्प्रदाय ही भाषा की समस्या को प्रमुख बनाकर चलता है। यह बात अलग है कि शब्द-ब्रह्म की स्थापना कर उसने अपने चिन्तन की दिशा तत्त्वमीमांसा की ओर मोड़ दी है। बौद्धों ने अपने अपोहवाद में शब्द के वाच्यार्थ के प्रश्न पर काफी गम्भीरता से चर्चा की है। इसी प्रकार वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध करते हुए मीमांसकों ने भाषा-दर्शन के अनेक प्रश्नों को गम्भीरता से उठवाया है।

जहाँ तक जैनों के भाषा-दर्शन का प्रश्न है, चाहे उन्होंने शब्द की नित्यता एवं शब्द का अर्थ से संबंध आदि के सन्दर्भ में मीमांसकों, वैयाकरणिकों और बौद्धों के बाद प्रवेश किया हो, किन्तु वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता, कथन की सत्यता आदि भाषा दर्शन के कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर प्राचीनतम जैन आगमों में भी प्रकाश डाला गया है। शब्द की वाच्यता-सामर्थ्यता का प्रश्न आचारांग में उपलब्ध है। स्थानांग के 10वें स्थान में सत्यभाषा-असत्यभाषा की चर्चा है। प्रज्ञापना का भाषापद, अनुयोगद्वार का नामपद भाषादर्शन से संबंधित है। भगवती सूत्र में भी भाषा संबंधी कुछ विवेचनाएँ उपलब्ध हैं। महावीर के जीवनकाल में क्रियमानकृत के प्रश्न पर उनमें ही जामातृ जमाली द्वारा उठाया गया विवाद, जिसमें कारण संघर्ष भी हुआ—भाषा दर्शन से ही संबंधित था। भगवती सूत्र के प्रारम्भ में एवं पुनः जमाली वाले प्रसंग में इस चर्चा को विस्तार से उठाया गया है। इन सभी को जैनों में भाषा-दर्शन का एक प्रमुख आधार माना जा सकता है। पुनः निक्षेप और नय की अवधारणाएँ भी आगमों में उपलब्ध है। इन अवधारणाओं का मूलभूत उद्देश्य भी वक्ता के कथन की विवक्षा अर्थात् वक्ता के आशय को समझना

-है। अतः ये अवधारणाएँ भी मूलतः अर्थविज्ञान Science of Meaning और भाषादर्शन से संबंधित हैं। पूज्यपाद माणिक्यनंदी, प्रभाचन्द्र एवं उपाध्याय यशोविजय ने क्रमशः तत्त्वार्थवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, भाषा-रहस्य आदि ग्रंथों में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर काफी गम्भीरता से चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विश्लेषण की प्रवृत्ति, जो जैन आगमों में उपलब्ध है, आगे चलकर जैन न्याय के ग्रंथों में तो काफी विस्तरित हो गई है।

पाश्चात्य चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास

भाषा-दर्शन और भाषा-विश्लेषण वर्तमान युग में दर्शन की प्रमुख और महत्त्वपूर्ण विचार-प्रणाली है। यदि हम पाश्चात्य देशों में दर्शन के विकास का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम से प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक एवं समकालीन दर्शनधाराओं की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। प्राचीनकाल में दर्शन का विवेच्य विषय तत्त्वमीमांसा रहा है। जीवन और जगत् के मूलभूत उपादानों की खोज ही प्राचीन ग्रीक दर्शन की मूलभूत प्रवृत्ति थी। उस युग में दार्शनिक चर्चा में मूलभूत प्रश्न थे—परमतत्त्व क्या है? कैसा है? इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? जगत् के मूलभूत उपादान कौन-कौन से हैं? आदि-आदि। पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में दूसरा मोड़ ईसाई धर्म की स्थापना के पश्चात् आया। इसका काल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक है। इस युग में दर्शन धर्म के आधीन हो गया और उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ईश्वर और शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध करना हो गया। ईश्वर के स्वरूप और अस्तित्व को सिद्ध करना ही इस युग की मुख्य दार्शनिक प्रवृत्ति थी। इस युग में श्रद्धा प्रधान और तर्क गौण बन गया था।

पश्चिमी दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में तीसरा मोड़ देकार्त और स्पीनोजा से माना जा सकता है, जब दर्शन को धर्म की अधीनता से मुक्त कर वैज्ञानिक तर्क पद्धति पर अधिष्ठित किया गया। यद्यपि दार्शनिक भी मूलतः तत्त्वमीमांसा प्रधान ही रहे। इस युग में दर्शन का वास्तविक दिशा-परिवर्तन तो लोक और बर्कले के चिंतन से ही प्रारम्भ होता है। इन दार्शनिकों के सामने मूलभूत प्रश्न था कि परम तत्त्व आदि की चर्चा करने से पूर्व हम इस बात पर विचार करें कि हमारे ज्ञान की सामर्थ्य क्या है? हमारे जानने की प्रक्रिया क्या है? हम किसे जानते हैं अर्थात् हमारे ज्ञान का विषय क्या है? इस प्रकार इस युग में दार्शनिक विवेचन तत्त्वमीमांसा और ईश्वरमीमांसा से हटकर ज्ञानमीमांसा पर केन्द्रित हो गया। मानवीय ज्ञान के साधन, मानवीय ज्ञान का सीमाक्षेत्र और मानवीय ज्ञान के विषय की चर्चा ही प्रमुख बनी। यद्यपि यह दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा कि इन सारी चर्चाओं की अन्तिम परिणति अज्ञेयवाद और सन्देहवाद के रूप में हुई।

पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में चौथा मोड़ वर्तमान बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रारम्भ होता है। इस युग के दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति भाषा विश्लेषण है। इन दार्शनिकों ने यह माना कि दार्शनिक चिन्तन, विमर्श और विवेचन का आधार भाषा है। जब तक हम भाषा के स्वरूप और शब्दों के अर्थ का सम्यक् निर्धारण नहीं कर लेते, तब तक दार्शनिक विवेचनाएँ निरर्थक बनी रहती हैं। क्योंकि हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ बोलते हैं और अपने विचारों को जिस रूप में अभिव्यक्त करते हैं अथवा दूसरों के विचारों को जिस रूप में समझते हैं, इन सबका आधार भाषा है। इसलिए सर्वप्रथम हमें भाषा के स्वरूप का तथा उससे होने वाले अर्थ बोध का विश्लेषण करना होगा। भाषा विश्लेषण के प्रमुख दार्शनिक विट्गेन्स्टीन का कथन है कि हमारे बहुत से दार्शनिक प्रश्न और तर्क वाक्य इसलिए खड़े होते हैं कि हम अपनी

भाषा की प्रकृति को नहीं जानते। अनेक दार्शनिक समस्याएँ केवल इसलिए बनी हुई हैं कि हम भाषा के तार्किक स्वरूप को सम्यक् रूप से नहीं समझ पाते हैं।¹³⁸ यदि हम अपनी भाषा की तार्किक प्रक्रिया को समझ लें तो अनेक दार्शनिक समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी। विट्गेन्स्टीन बलपूर्वक यह भी कहते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ तभी उठती हैं जबकि भाषा अवकाश ग्रहण कर लेती है।¹³⁹ समकालीन पाश्चात्य दर्शन में आज भाषा-विश्लेषण दार्शनिक चिन्तन की एक प्रमुख विद्या बना हुआ है।

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण का यह अर्थ नहीं कि उन-उन युगों में दार्शनिक चिन्तन की अन्य विद्याएँ पूर्णतया अनुपस्थित हैं। ग्रीक और मध्ययुगीन पाश्चात्य दर्शन में भी ज्ञानमीमांसा के साथ-साथ भाषादर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर कुछ चर्चा अवश्य होती रही है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने भाषा संबंधी पर दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा की है। मात्र यही नहीं, उन्होंने अनेक दार्शनिक प्रत्ययों का अर्थ-विश्लेषण भी किया। उदाहरणार्थ जब सुकरात—न्याय क्या है? ज्ञान क्या है? शुभ क्या है? इन प्रश्नों को उपस्थित करता है तो उसका मूल उद्देश्य इन दार्शनिक प्रत्ययों के अर्थ का विश्लेषण करना ही है। इसी प्रकार प्लेटो जब कहता है—अनेक विशेष वस्तुओं का एक सामान्य नाम होता है तो हम मानते हैं कि उनमें नाम के अनुरूप एक आकार निहित रहता है।¹⁴⁰ अरस्तू यह मानता है कि क्रिया का प्रयोग बिना कर्ता के नहीं होता। हम यह नहीं कहते—बैठता है, चलता है बल्कि कहते हैं—वह बैठता है, वह चलता है। इस भाषिक विशेषता से वह यह निष्कर्ष निकालता है कि कर्ता का स्वतंत्र अस्तित्व होता है, क्रिया का नहीं।¹⁴¹ इसी प्रकार बर्कले यह मानता है कि सामान्य धारणा में विपरीत भाषा का मुख्य उद्देश्य केवल विचारों का सम्प्रेषण ही नहीं अपितु अन्य उद्देश्य भी हैं, जैसे—भावना को उभारना, किसी क्रिया के लिए प्रेरित करना या अवरुद्ध करना, मन में किसी प्रवृत्ति को उत्पन्न करना आदि।¹⁴² हमारे उपर्युक्त वर्गीकरण का अभिप्राय इतना ही है कि किस युग में दार्शनिक चिन्तन की कौन-सी विद्या प्रमुख रही है। भाषा का दार्शनिक विश्लेषण पहले भी होता रहा है, तब यह केवल एक साधन माना गया था। आज भाषा-विश्लेषण दर्शन का एक मात्र कार्य बन गया है। आज दर्शन मात्र वे भाषा विश्लेषण हैं।¹⁴³

यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि दर्शन के क्षेत्र में जब एक विद्या प्रमुख बन जाती है तब अन्य विद्याएँ मात्र उसका अनुसरण करती हैं और उनमें निष्कर्ष उसी प्रमुख विद्या के आधार पर निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए मध्ययुग में तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा धर्मशास्त्र का अनुसरण करती प्रतीत होती है तो समकालीन चिन्तन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारदर्शन सभी भाषा विश्लेषण पर आधारित हो गये हैं और भाषा विश्लेषण के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों के द्वारा उनकी व्याख्या होने लगी है।

साधारण भाषा दर्शन रसल, मूर, विडगेस्टाइन, आस्टिन

साधारण भाषा दर्शन, विश्लेषी दर्शन और भाषायी दर्शन का प्रयोग कमोबेश के रूप में एक विशेष प्रकार के दर्शन के लिए किया जाता है, जो मूलतः भाषा-विश्लेषण है।

साधारण भाषा दर्शन किसी सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित अर्थ में दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है। ए.फ्ल्यु. के अनुसार किसी एक भाषिक दर्शन को पृथक् करना कठिन एवं भ्रामक है।¹⁴⁴ इन दार्शनिकों में अनेक विषमताएँ हैं तथा जान-बूझकर सम्प्रदाय न बनने की प्रवृत्ति है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधारण भाषा दार्शनिकों में कुछ भी साम्य नहीं है। इन सभी में निश्चित रूप से कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं, जो आगे देखेंगे। किन्तु विडगेस्टाइन के शब्दों में उन्हें

पारिवारिक साम्य के रूप में ही लिया जा सकता है। इस सन्दर्भ में एक और भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है। कुछ आलोचक भाषा-दर्शन को भी तर्कीय अनुभववाद ही मानते हैं, यह पूर्णतः गलत एवं शरारतपूर्ण है। तर्कीय अनुभववाद भी दर्शन को विश्लेषणात्मक मानता है और भाषा विश्लेषण को महत्त्व देता है, किन्तु इस दर्शन का अर्थ सिद्धान्त इसे साधारण भाषा-दर्शन से पृथक् कर देता है। इसके विश्लेषण की विधि भी संकुचित एवं त्रुटिपूर्ण है। विश्लेषी दर्शन व्यापक अर्थ में साधारण भाषा-दर्शन के लिए प्रयुक्त होता है।

साधारण भाषा-दर्शन की पृष्ठभूमि

अरस्तू के दर्शन में सभी विज्ञान दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु धीरे-धीरे विज्ञान पृथक् होते गये और अन्ततोगत्या यह समस्या आती है कि दर्शन का विषय एवं क्षेत्र क्या है? विश्लेषी दार्शनिकों के अनुसार इसमें दर्शन अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है, जो इसे सदैव होना चाहिए था और जो यह सदा किसी-न-किसी स्तर पर था अर्थात् भाषा-विश्लेषण। किन्तु यह जानना उपयोगी है कि किन सिद्धान्तों ने साधारण भाषा-दर्शन की उत्पत्ति में योगदान किया। इसके सम्बन्ध में सर्वप्रथम रसल एवं मूर के नाम आते हैं।

रसल का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वाक्यों के व्याकरणात्मक आकार उनके तार्किक आधार नहीं हैं। रसल का उदाहरण देखिए। देवरली का लेख स्फाट है। वाक्य व्याकरण की दृष्टि से सरल वाक्य प्रतीत होता है किन्तु तार्किक दृष्टि से ऐसा नहीं है। तार्किक दृष्टि से यह एक भिन्न वाक्य है और इसका निम्न तार्किक वाक्य में विश्लेषण होता है—

कम से कम एक व्यक्ति ने देवरली लिखा,
अधिक से अधिक एक व्यक्ति ने देवरली लिखा तथा
जिसने देवरली लिखा, वह स्फाट है।

रसल का यह सिद्धान्त विश्लेषी दर्शन के विकास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। तर्कीय अनुभववाद एवं साधारण भाषा दर्शन में किसी-न-किसी रूप में इसे स्वीकार किया गया है। इन सभी दर्शनों के अनुसार वाक्यों के व्याकरणात्मक रूपों एवं तार्किक क्रियात्मक में तादात्म्य नहीं माना जा सकता। इनके अनुसार वाक्यों का विश्लेषण क्रमशः सरल वाक्यों, मूल वाक्यों एवं सन्दर्भों के अनुसार करना आवश्यक है, तभी उनमें वास्तविक कार्यों का ज्ञान होता है। इसी प्रकार रसल की कृत्रिम भाषा आदर्शभाषा की अवधात्मक तर्कीय अणुवादियों, तर्कीय अनुभववादियों के लिए आदर्श रही, किन्तु साधारण भाषा-दार्शनिकों ने उसे स्वीकार नहीं किया।

रसल का भाषा संबंधी सिद्धान्त

रसल के अनुसार भाषा सूचना प्रस्तुत करने अथवा कथनों को प्रस्तुत करने का ही माध्यम नहीं है, बल्कि इनसे पृथक् उनके अनेक कार्य हैं। उदाहरणार्थ—किसी सार्जेण्ट मेजर के लिए भाषा का कार्य आदेश देना है, यानी तथ्यों का वर्णन करने या उनके सम्बन्ध में सूचना न देकर केवल दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करना है। पर रसल विशेष रूप से वर्णात्मक भाषा में ही रुचि रखते हैं। उनके मत में दर्शन विश्व को समझने का प्रयास है। अतएव स्वाभाविक है कि भाषा में उनकी रुचि इतने तक ही है कि वह उनमें इस कार्य को पूरा करने में सहायक हो।

पर प्रश्न है कि क्या तार्किक दृष्टि से विशोधित भाषा के माध्यम से विश्व के विभिन्न गुणों के बारे में अनुमान किया जा सकता है? अन्य शब्दों में, क्या तार्किक दृष्टि से विशोधित भाषा को हम एक अन्तिम आधार वाक्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, ताकि उसमें हम विश्व में विभिन्न गुणों को निष्कर्षित कर लें। रसल ने सीधे-सीधे इस संभावना को स्वीकार नहीं किया है। पर उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि यदि वस्तुओं के बारे में कुछ विशेष तरीके से कुछ कहना हमारे लिए आवश्यक है, तो हम यह सोच सकते हैं कि उपरोक्त आवश्यकता का उन वस्तुओं में ही आधार है। उदाहरणार्थ—जब हम यह कहते हैं कि “चीजें एक जैसी हैं” तो यह बहुत सम्भव है कि कुछ चीजें इस प्रकार की हैं कि उन्हें हम एक जैसी कह सकते हैं। इस प्रकार विश्व की विभिन्न वस्तुओं के गुणों के रूप में समानता को हम भाषा के आधार पर अनुमित कर सकते हैं। पर विश्व की वस्तुओं को अन्ततः हम अनुभव के आधार पर ही मानते हैं। रसल एक ऐसी पूर्ण भाषा को प्राप्त करना चाहते थे, जिसमें भ्रमित करने वाले संकेतों का या अनिश्चित अर्थों का अभाव हो। ऐसा होने से भाषा के माध्यम से उत्पन्न होने वाली गड़बड़ी और दार्शनिक के कथनों की एक से अधिक व्याख्याओं से बचने में सहायता मिलती है। रसल का विश्वास था कि दार्शनिक की भाषा को साहित्यिक या गणितीय नहीं होना चाहिए, उसे तो विशुद्ध एवं तर्कसंगत होना चाहिए और उसमें सत्य को ही प्रस्तुत करने की बात प्रमुख होनी चाहिए।¹⁴⁵

रसल के बाद जो दार्शनिक आये, उन्होंने इस बात को तर्क के आधार पर सिद्ध करना चाहा कि किसी भी तथ्यात्मक तर्क-वाक्य का कोई सार्थक अर्थ तब तक नहीं हो सकता जब तक कि किसी संभव निष्कर्ष को, जिससे यह संभावित हो सके, उससे अनुमित न किया जा सके। उन्होंने अपने निष्कर्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि इस अर्थ में किसी भी तत्त्वमीमांसीय कथन का कोई तथ्यात्मक अर्थ सम्भव नहीं है। रसल तर्कीय प्रत्यक्षवाद के इस सिद्धान्त से प्रभावित तो थे पर उसके बाद के विकासों को स्वीकार करना उनके लिए सम्भव न था। इन विकासों का सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों से था—सर्वप्रथम तर्कीय परमाणुवाद को ही एक निरर्थक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में अस्वीकृत करने से और दूसरी यह कि प्रतिमान के रूप में भाषा के उपयुक्त प्रयोग के लिए सामान्य भाषा की स्वीकृति। रसल ने इसका विरोध किया। यद्यपि उन्होंने ही अपने चिन्तन में उसमें मूल स्रोतों को प्रस्तुत किया था।

जार्ज एडवर्ड मूर

मूर की रुचि विश्व रचना या विज्ञानों में नहीं थी। मूर की समस्या विभिन्न दार्शनिकों के कथनों को लेकर है। विशेषता दो कारणों से है—

1. दार्शनिकों के सिद्धान्तों में साम्य का अभाव और
2. दार्शनिक वाक्यों का सामान्य बुद्धि से विरोध।

इसका एक महत्वपूर्ण कारण मूर की दृष्टि में प्रश्नों को बिना समझे हुए उनका उत्तर देने का प्रयास है। मूर ने प्रिंसिपिया एथिका की भूमिका में लिखा है—ऐसा मुझे प्रतीत होता है कि नीतिशास्त्र तथा अन्य सभी दार्शनिक अध्ययनों में कठिनाइयाँ तथा मतभेद, जिनसे इनका इतिहास भरा है, मुख्यतः एक बहुत ही सरल कारण का परिणाम है, अर्थात् बिना यह समझे हुए कि निश्चित रूप से हम किस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं, उत्तर देने का प्रयास करना।¹⁴⁶

अतः मूर के दर्शन के मुख्य उद्देश्य थे—दार्शनिक प्रश्नों, कथनों एवं सिद्धान्तों के स्वरूप नष्ट करना तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के विरोध में सामान्य बुद्धि के तथ्यों की स्थापना करना। उनके अनुसार बहुत

से तथ्य ऐसे हैं, जिन्हें सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, जिन्हें हम प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। 'ए डिफेंस ऑफ कॉमन सेंस' लेख में मूर ने ऐसे कई उदाहरण दिये हैं। एक दार्शनिक सिद्धान्त है—किसी जड़ वस्तु की सत्ता नहीं है। इसके विरोध में मूर का मत है कि यह सिद्धान्त पूर्णतः असत्य है, क्योंकि यह मेरा बायां हाथ है और यह मेरा दायां हाथ है, अतः कम से कम दो जड़-वस्तुओं की सत्ता है।¹⁴⁷ एक और उदाहरण लीजिए—काल असत् है। मूर का उत्तर है कि यदि इसका तात्पर्य यह है कि घटनाओं में पूर्ववर्ती और परवर्ती का क्रम नहीं है तो यह सिद्धान्त अवश्य ही असत्य है। मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि पहले मैंने चाय लिया, फिर नाश्ता किया।¹⁴⁸ इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य बुद्धि के तथ्यों के विषय में मूर को कोई उलझन या कठिनाई महसूस नहीं हुई। मूर इस सम्बन्ध में पूर्णतः आश्वस्त था कि हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है। अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या हम वस्तुओं को जानते हैं, बल्कि यह कि हम वस्तुओं को कैसे जानते हैं।¹⁴⁹ इसी प्रकार मूर के अनुसार हम सामान्य बुद्धि के कथनों को सत्य मानते हैं, किन्तु उनमें विश्लेषण और अर्थ स्पष्ट नहीं रहते।¹⁵⁰ अतः मूर की दो समस्याएँ थीं—वस्तुओं का ज्ञान कैसे होता है और वादियों का विश्लेषण एवं अर्थ कैसे स्पष्ट हो? दोनों समस्याएँ मूर को विश्लेषण की ओर ले जाती हैं।

मूर ने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि विश्लेषण का स्वरूप क्या है? उसकी रुचि प्रणाली में थी ही नहीं। मूर ने यह भी नहीं माना कि दर्शन मात्र विश्लेषण है या कि विश्लेषण केवल शब्दों और वाक्यों का है।¹⁵¹ मूर ने माल्कम का यह मत भी स्वीकार नहीं किया कि उसके अनुसार दर्शन भाषिक है। किन्तु मूर की सामान्य बुद्धि की स्थापना, विश्लेषण एवं साधारण भाषा के प्रयोग की स्वीकृति ने साधारण भाषा दार्शनिकों को प्रभावित किया। अतः संक्षेप में यह जान लेना आवश्यक है कि मूर के विश्लेषण का उपयोग किस प्रकार किया। उसके अनुसार यह विश्लेषण एक वाक्य का अन्य सरल एवं स्पष्ट वाक्यों में तार्किक अनुवाद है। परिभाषा का परिभाषेय से सरल एवं स्पष्ट होना आवश्यक है, किन्तु दोनों का अर्थ एक ही होना चाहिए। शब्दों का अनेकार्थ तथा अस्पष्ट होना तथा दार्शनिकों द्वारा शब्दों को मनमाने रूप में प्रयुक्त करना मूर के लिए उलझनें उत्पन्न करना है। अतः विश्लेषण द्वारा भ्रातियों, उलझनों तथा मतभेदों को दूर किया जा सकता है किन्तु वह सम्प्रत्ययों, प्रत्ययों एवं अर्थों तक ही सीमित रहता है। विश्लेषण की प्रक्रिया में मूर ने साधारण भाषा का आश्रय लिया, किन्तु उसने कभी भी साधारण प्रयोगों का विस्तार में उल्लेख नहीं किया। उनके अनुसार अर्थ एवं विश्लेषण दोनों का सम्बन्ध सम्प्रत्ययों से है। यह मूर की भूल थी। मेत्स की इस युक्ति में काफी सच्चाई है कि मूर एक अच्छा प्रश्नकर्ता किन्तु बुरा उत्तरदाता था।¹⁵² किन्तु मूर के निष्कर्ष चाहे जो हो, उसकी दार्शनिक प्रणाली ने परवर्ती दार्शनिकों को बहुत ही अधिक प्रभावित किया। माल्कम की निम्न युक्ति यद्यपि मूर के मन्तव्यों को व्यक्त नहीं करती किन्तु उसकी विधि एवं प्रभाव का उचित मूल्यांकन है।

मूर का महान् दार्शनिक इस तथ्य के विहित है कि संभवतया वह प्रथम दार्शनिक है, जिसने यह अनुभव किया कि कोई भी दार्शनिक कथन जो साधारण भाषा का उल्लंघन करता है, असत्य है और जिसने सतत रूप से उल्लंघन करने वालों से साधारण भाषा की रक्षा का भरसक प्रयास किया।¹⁵³

रसल और मूर के बाद पूर्ववर्ती विंट्गेस्टाइन और तर्किय अनुभववादियों ने साधारण भाषा दर्शन की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान किया। एक प्रचलित व्याख्या के अनुसार प्रिंसिपिया ट्रिनिटि लाजिको फिलोसोफिक्स में विंट्गेस्टाइन का उद्देश्य प्रिंसिपिया मैथमेटिका के निर्देश पर एक कृत्रिमपूर्ण भाषा की रचना करना था, जो साधारण भाषा का स्थान ले सके, जो पूर्णतः सत्यव्यापक परक हो, जिसमें केवल

सरल वाक्य हो, ऐसे वाक्य जो केवल नामों के संघीत हो। एक अन्य व्याख्या के अनुसार विंट्गोस्टाइन के सरल वाक्य निरीक्षण वाक्य है और विंट्गोस्टाइन मूल रूप से तर्किय अनुभववादी है। किन्तु ये दोनों व्याख्याएँ गलत हैं। विंट्गोस्टाइन का उद्देश्य न तो साधारण भाषा का विकल्प निर्मित करना था, न उसमें सरल वाक्य निरीक्षण वाक्य है। उसका उद्देश्य किसी भाषा विशेष का नहीं बल्कि सभी भाषाओं की अनिवार्य शर्तों को व्यस्त करना था। उसकी मूल समस्या थी—किसी भी भाषा के सार्थक होने के लिए क्या आवश्यक है। उसके अनुसार भाषा सत्ता का चित्र है। सार्थक भाषावाक्यों की समग्रता है और वाक्य का अर्थ वह वस्तुस्थिति है, जिसका वह चित्र है। इस अर्थ में साधारण भाषा बिल्कुल ठीक है। हमारी बोलचाल की भाषा के सभी वाक्य, वास्तव में वे जैसे हैं, तार्किक दृष्टि से पूर्णतः ठीक हैं।¹⁵⁴ किन्तु साधारण भाषा इतनी जटिल है कि ऊपर से उसका तार्किक आकार स्पष्ट नहीं होता। बोलचाल की जो भाषा मानव शरीर रचना का एक भाग है और उससे कम जटिल नहीं है, इससे मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि सीधे-सीधे भाषा के तार्किक स्वरूप को जाना जा सके।

भाषा विचार को छिपाता है, जिससे परिधान के बाध्य आकार को देखकर विचार के आधार का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिधान का बाध्य आकार शरीर के अभिज्ञान के लिए नहीं बल्कि भिन्न उद्देश्य के लिए बनाया गया है।¹⁵⁵

अतः विंट्गोस्टाइन सरल का अनुसरण करते हुए वाक्यों के विश्लेषण पर बल देता है। विश्लेषण के द्वारा ही साधारण भाषा के वाक्यों को सरल वाक्यों में विभक्त किया जाता है। यदि एक मिश्रवाक्य है तो उसमें घटकों के रूप में सरल वाक्यों का होना आवश्यक है। इन सरल वाक्यों के सत्य मूल्य पर ही मूल वाक्य का सत्य-मूल्य निर्भर करता है। सरल नामों के संस्थान हैं। नाम एक मूल चिह्न है, जिसका अर्थ सरल वस्तु है। विंट्गोस्टाइन के अनुसार अनिश्चित अर्थ नहीं है और निश्चित अर्थ प्राप्त करने के लिए सरल वाक्यों का होना आवश्यक है। जब तक सरल वाक्य नहीं प्राप्त होते, विश्लेषण की प्रक्रिया चालू रहती है। यदि सरल वाक्यों का उदाहरण देना सम्भव न हो तब भी सरल वाक्य आवश्यक है, क्योंकि वे सार्थक भाषा की अनिवार्य शर्तें हैं। विंट्गोस्टाइन एक और निकर्ष निकालता है, जो वाक्य वस्तुस्थिति के चित्र नहीं हैं। इस प्रकार तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि ये वाक्य निरर्थक हैं। अतः कथनीय वाक्यों की निश्चित सीमा है। केवल तथ्यों से संबंधित वाक्य ही सार्थक है। विंट्गोस्टाइन कहता है,¹⁵⁶ “जो भी कहा जा सकता है, स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है और जिस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, मौन आवश्यक है।”

विंट्गोस्टाइन के अनुसार दर्शन प्राकृतिक विज्ञान नहीं है।¹⁵⁷ दर्शन मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा भी नहीं है। उनके अनुसार दर्शन का क्षेत्र ज्ञान या सत्य नहीं है। दर्शन का सम्बन्ध केवल अर्थ से है। दर्शन सिद्धान्तों का समवाय नहीं, अपितु क्रिया है।¹⁵⁸ दर्शन का परिणाम दार्शनिक वाक्य नहीं है बल्कि वाक्यों का स्पष्टीकरण है।¹⁵⁹ अतः विंट्गोस्टाइन के अनुसार “सम्पूर्ण दर्शन भाषा की आलोचना है।”¹⁶⁰ दर्शन भाषा का स्पष्टीकरण है।

उपर्युक्त विवरण से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं—

1. दर्शन केवल भाषा-विश्लेषण की क्रिया है—
2. दार्शनिक समस्याएँ भाषा का तार्किक स्वरूप न समझने के कारण उत्पन्न होती है और
3. साधारण भाषा ठीक है।

वे सभी निष्कर्ष सर्वप्रथम विंट्रगेस्टाइन ने रसल और मूर से भी अधिक साहस एवं स्पष्टता के साथ दार्शनिकों के समक्ष रखे और इन बातों पर भावी-दर्शन के लिए पूर्णतः नये मार्ग का निर्माण किया। किन्तु ट्रेकटेस में विंट्रगेस्टाइन प्रागनुभविक विश्लेषण के इतना प्रभाव में था कि वह स्वयं इनका पूरा महत्त्व न समझ सका। उसकी कुछ प्रमुख भूलें ये हैं—

1. सार्थक भाषा केवल वर्णनात्मक है, वाक्यों की सार्थकता तथ्यों का चित्र होने में निहित है।
2. सरल पदों का अर्थ सरल वस्तुएँ हैं।
3. भाषा का तर्कीय रूप प्रच्छन्न रहता है और उसे सत्य व्यापारीय विश्लेषण से स्पष्ट किया जा सकता है।
4. अर्थ पूर्णतः निश्चित एवं स्पष्ट रहता है, अस्पष्ट अर्थ नहीं है।
5. अर्थ देने की क्रिया मानसिक है।

स्वयं विंट्रगेस्टाइन ने 1933 के बाद इन त्रुटियों का निराकरण किया और इसके बाद साधारण भाषा दर्शन अपने पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित हो गया। ट्रेकटेस के अभाव में दूसरी उत्पत्ति होती या नहीं, कहना कठिन है।

स्वयं विंट्रगेस्टाइन ने सरलवाक्यों को तर्कीय अनुभववादियों के निरीक्षण वाक्यों में परिवर्तित कर दिया। साथ ही उन्होंने ज्ञानमीमांसा की आवश्यकता भी स्वीकार की, क्योंकि निरीक्षण वाक्यों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ज्ञानमीमांसा किसी-न-किसी स्तर पर अनिवार्य हो जाती है। निजी-दर्शन के स्वरूप, भाषा के कार्य आदि विषयों पर तर्कीय अनुभववादियों ने विंट्रगेस्टाइन के विचारों को काफी हद तक स्वीकार किया।

जॉन लैंगशा आस्टिन

विंट्रगेस्टाइन के विपरीत आस्टिन ने दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया था और उसकी शिक्षा अरस्तू की परम्परा में हुई थी। उसे भाषाविज्ञान का अच्छा ज्ञान था, जिसका उसके अपने दर्शन में भरपूर उपयोग किया। उसका विश्वास था कि दार्शनिक समस्याएँ एवं उनके समाधान अस्पष्ट हैं और इसका मूल कारण सभी तथ्यों पर ध्यान न देकर जल्दबाजी में सिद्धान्तों की रचना करना है। उनके अनुसार दर्शन में प्रगति तभी हो सकती है, जब अनेक प्रश्न उठाये जायें, अनेक तथ्यों का सर्वेक्षण किया जाए तथा अनेक युक्तियों का विस्तार से विश्लेषण किया जाए।¹⁶¹ आस्टिन का दर्शन अंग्रेजी भाषा में उसे यथावत् नहीं व्यक्त किया जा सकता। उसका संक्षिप्तिकरण किया जा सकता है। यहाँ हम तीन विषयों पर विचार करेंगे— विधि-रचनात्मक दर्शन और आलोचनात्मक दर्शन।

विधि : एक-दो लेखों को छोड़कर कहीं भी आस्टिन सीधे दार्शनिक-समस्याओं को नहीं उठाता। पहले वह सम्बन्ध क्षेत्र का पूर्ण सर्वेक्षण करता है और केवल प्रासंगिक अवसरों पर उनका उल्लेख करता है। 'एफस एण्ड कैस'¹⁶² में उसका बयान कुछ अतिरंजित है। साधारणतया वह यही मानता है कि उसकी विधि दर्शन में निश्चित परिणाम उत्पन्न करती है। किन्तु यही एकमात्र विधि नहीं है। यह विधि उसकी रुचि एवं शिक्षा के अनुरूप थी तथा वह इससे इतना प्रभावित था कि अन्य किसी विधि की स्पष्ट कल्पना भी नहीं कर सकता था। यह विधि साधारण भाषा के विस्तृत सर्वेक्षण पर आधारित है। उसके अनुसार निश्चित ही साधारण भाषा अन्तिम शब्द नहीं है। सिद्धान्त में इसे सर्वत्र सम्पूर्णित और संशोधित किया

जा सकता है एवं हटाया जा सकता है। केवल याद रखिए, यह प्रथम शब्द है।¹⁶⁵ किसी भी दार्शनिक अनुशीलन के पूर्व किसी पारिभाषिक शब्दावली की संरचना करते समय भी उनके स्रोत, साधारण भाषा का अध्ययन आवश्यक है। आस्टिन के अनुसार साधारण भाषा के विस्तृत एवं क्रमबद्ध अध्ययन का अपना अलग से भी महत्त्व है। इसी प्रकार वह मानता है कि हमारे व्यवहार के लिए साधारण भाषा में इतने अधिक सूक्ष्म अन्तर विद्यमान हैं कि कुर्सी पर बैठकर इनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।¹⁶⁶

आस्टिन पर एक आक्षेप यह लगाया जाता है कि वह दर्शन में पारिभाषिक पदों की आलोचना करता है जबकि उसने स्वयं अनेक पारिभाषिक शब्दों की रचना की है किन्तु यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि वह पारिभाषिक पदों का विरोधी नहीं है। वह केवल इतना मानता है कि अधिकतर पारिभाषिक पदों का प्रयोग जल्दबाजी में बिना किसी आवश्यकता के किया गया है। सेंस एण्ड सेंसिविलिया में आस्टिन ने 'सेंस डेटा' शब्दावली का इसी आधार पर विरोध किया है। यह भी कहा जाता है कि आस्टिन साधारण भाषा को पवित्र मानता है, यह गलत है। उनके अनुसार भाषा का सभी क्षेत्रों में संशोधन एवं परिवर्धन किया जा सकता है। अत्यन्त परिचित स्थितियों में भी साधारण भाषा अपर्याप्त हो सकती है, किन्तु किसी परिवर्तन के पूर्व संबंधित तथ्यों का पूर्व सर्वेक्षण आवश्यक है। किसी भी संशोधन के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि किस चीज का संशोधन दिया जा रहा है। इसका परीक्षण आवश्यक है कि हमें कब क्या कहना चाहिए और इसलिए इसका क्यों और क्या अर्थ है।¹⁶⁶ शब्द उपकरण है और कम से कम हमें साफ-सुथरे उपकरणों का प्रयोग करना चाहिए। हमें जानना चाहिए कि हमारा अर्थ क्या है और क्या नहीं है और हमें भाषा के फंदों से सावधान रहना चाहिए।

आस्टिन ने किसी निश्चित दार्शनिक विधि का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु उसकी अपनी विधि का एक भौटे तौर पर वर्णन किया जा सकता है। कोई-कोई दार्शनिक का दार्शनिक समूह पहले एक निश्चित क्षेत्र का चुनाव करता है तब इससे संबंधित पदों को एकत्रित किया जाता है। पहले सभी पदों का सोचकर उनकी सूची बनाई जाती है, फिर उनके पर्यायवाची एवं पर्यायवाचियों के पर्यायवाचियों को एकत्रित किया जाता है, फिर उन वाक्यों एवं वाक्यांशों को लिया जाता है, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग होता है। दूसरी अवस्था में इन शब्दों के प्रयोगों पर आधारित कहानियाँ या वर्णन प्रस्तुत किये जाते हैं, जिसमें इनके अर्थसाम्य तथा वैषम्य का ज्ञान हो सके। इनके सन्दर्भ में तथ्यों की व्याख्या की जाती है। यहाँ यह दिखाना आवश्यक है कि ऊपर से जिन शब्दों का प्रयोग हो सकता है, वास्तव में उनका प्रयोग क्यों नहीं हो सकता। इस अवस्था में यह दिखाना भी आवश्यक है कि इस विषय में अन्य दार्शनिकों तथा वैयाकरणों ने क्या कहा है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेने वाले अन्वेषकों के सहमति की प्रामाणिकता की कसौटी है। इसीलिए आस्टिन दर्शन में सामूहिक प्रयास स्वीकार करता है। उसके अनुसार यह विधि आनुभविक एवं वैज्ञानिक है और इसके द्वारा निश्चित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं और पारस्परिक दार्शनिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

रचनात्मक दर्शन

आस्टिन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'इल्लोक्युशनरी फोर्स' का है, जिसका उसके 'हाऊ टु इ थिंक्स विथ' वड्स में विवेचन मिलता है। आस्टिन ने अदर माइंड्स लेख में—मैं जानता हूँ, वाक्य की व्याख्या करते हुए पफ़मेडिव अट्रेंस का विवेचन मिलता है। इन वाक्यों को देखिए—मैं वादा करता हूँ। मैं इस जहाज का नाम विक्रान्त देता हूँ, मैं आप लोगों का अभिवादन करता हूँ। ये वाक्य किसी

तथ्य का वर्णन नहीं करते बल्कि इनका उच्चारण करने वाला इन वाक्यों द्वारा संबंधित क्रियाएँ भी करता है। उदाहरण के लिए, जब मैं कहता हूँ, 'मैं वादा करता हूँ' तब मैं इस वाक्य द्वारा वादा करने की क्रिया करता हूँ। ऐसा नहीं है कि मैंने वादा कर लिया है और इस वाक्य द्वारा केवल इसकी सूचना दे रहा हूँ। आस्टिन उपर्युक्त सन्दर्भ में से ऐसे वाक्यों को पर्फॉर्मेटिव अटरेंस कहता है। इन वाक्यों की तुलना वह सूचनात्मक वाक्यों से करता है, जिन्हें वह कॉन्स्ट्रेटिव कहता है। पर्फॉर्मेटिव की तरह कॉन्स्ट्रेटिव भी अनुपयुक्त या अप्रीतिकर हो सकते हैं। जैसे किसी वस्तुस्थिति का कथन करना गलत है कि कॉन्स्ट्रेटिव सत्य या असत्य है, फांस भुजाकार है, फांस का मोटे तौर पर वर्णन है, सत्य या असत्य अथवा नहीं। इन बातों के आधार पर आस्टिन ने पर्फॉर्मेटिव का अन्तर त्याग दिया। इसके स्थान पर उसने इल्लोक्युशनरी शक्तियों का सिद्धान्त प्रतिपादन किया।

पूर्ण अर्थ में कुछ भी कहने के कई पहलू हैं। आस्टिन इस रूप में स्पीच एक्ट को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—

1. लोक्युशनरी एक्ट,
2. इल्लोक्युशनरी एक्ट,
3. पलोक्युशनरी एक्ट।

“कुछ कहने का कार्य इस पूर्ण अर्थ में लोक्युशनरी एक्ट करना है।¹⁶⁸ इस प्रकार लोक्युशनरी एक्ट का अर्थ है—पूर्ण अर्थ में कुछ भी कहने का कार्य, कोई भी सार्थक कथन करना लोक्युशनरी एक्ट करना है। उनके तीन पहलू हैं—1. फोनेटिक एक्ट, 2. फैंटिक एक्ट, 3. रहेंटिक एक्ट।”¹⁶⁹

फोनेटिक एक्ट अर्थात् ध्वनियों का उच्चारण।

फैंटिक एक्ट अर्थात् किसी भाषा के शब्द एवं व्याकरण के अनुसार ध्वनियों का उच्चारण एवं रहेंटिक एक्ट अर्थात् अर्थ एवं निर्देशपूर्ण ध्वनियों का उच्चारण।

कोई भी सार्थक कथन लोक्युशनरी एक्ट है और इसमें तीनों एक्ट विद्यमान हैं। इसके बाद इल्लोक्युशनरी एक्ट और लोक्युशनरी एक्ट द्वारा पलौनयुशनरी एक्ट किया जाता है।¹⁷⁰

आस्टिन इल्लोक्युशनरी एक्ट को पांच उपवर्गों में विभक्त करता है—

1. वर्डिक्टिव (Verdictives)—अभिनिर्णित देने का इल्लोक्युशनरी एक्ट, जैसे मुक्त करना, अपराधी होने का निर्णय देना, मूल्यांकन करना इत्यादि।
2. एक्सरसिटिव (Exercitives)—शक्ति का अधिकार प्रयोग के कार्य, जैसे—किसी को नियुक्ति या वस्तु को नाम देना।
3. कमिसिव (Commissives)—वचनबद्धता के कार्य, जैसे—वादा करना, प्रतिज्ञा करना, शर्त लगाना इत्यादि।
4. बिहेविटिव (Behavitives)—सामाजिक व्यवहार के कार्य, जैसे—क्षमा मांगना, धन्यवाद देना, कोसना और अन्त में
5. एक्सपोजिटिव (Expositives)—विवरणात्मक कार्य, जैसे—कथन करना, उत्तर देना, वर्णन करना, सहमत होना इत्यादि।

आस्टिन तीनों कार्यों के सम्बन्ध के विषय में बहुत स्पष्ट नहीं है। यदि ऐसा लगता है कि तीनों कार्यों की वह वाक्कार्य के प्रकार मानता है किन्तु अन्त में वह कहता है—लोक्युशनरी एक्ट और इल्लोक्युशनरी एक्ट केवल स्पीच एक्ट के पहलू हैं। प्रत्येक स्पीच एक्ट दोनों हैं।¹⁷¹ उसका उद्देश्य सम्पूर्ण वायु स्थिति, पूर्ण वाक्कार्य का स्पष्टीकरण करना है।¹⁷²

आस्टिन की संक्षिप्त लिंग्विस्टिक फेनोमेनोलॉजी के पश्चात् एक-दो आपत्तियों का उल्लेख अवश्य हो जाता है। वाल्टर बर्कले¹⁷³ के अनुसार साधारण भाषा में यापफार्मिंग ने एक्ट का प्रयोग प्रायः सर्वस तथा नाटकों इत्यादि में ही किया है, भाषा के विविध प्रयोगों के लिए नहीं। कोहेन¹⁷⁴ के अनुसार आस्टिन अर्थ एवं इल्लोक्युशनरी फोर्स में अन्तर करता है, किन्तु अर्थ से भिन्न इल्लोक्युशनरी फोर्स मानने का कोई औचित्य नहीं है। आस्टिन अर्थ का संप्रत्यय स्पष्ट नहीं करता। संभवतः इसीलिए यह इल्लोक्युशनरी फोर्स का अस्तित्व मानता है। यदि अर्थ को व्यापक अर्थ में लिया जाए तो इल्लोक्युशनरी फोर्स की आवश्यकता नहीं रहती। कोहेन ने इल्लोक्युशनरी फोर्स मानने के अन्य कई कारण भी दिये हैं किन्तु उसके अनुसार इनमें कोई भी संतोषजनक नहीं है।

आलोचनात्मक दर्शन

‘हाऊ टु डु थिंग्स विद् वर्क्स’ में आस्टिन मुख्य रूप से वाक्कार्यों का स्पष्टीकरण करता है और पारम्परिक दार्शनिक समस्याओं का बहुत ही कम उल्लेख हुआ है, किन्तु ‘सेंस एण्ड सेंसिविलिया’ में आस्टिन ज्ञानमीमांसा की एक मुख्य समस्या का स्पष्टीकरण करता है और उसकी आलोचना विशेषकर एअर, प्राइस एवं वार्नाक के विचारों पर केन्द्रित है। आस्टिन की विधि की सभी विशेषताएँ इस पुस्तक में विद्यमान हैं, किन्तु उनका क्रम बदल गया है। इसमें पहले यह पारम्परिक दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख करता है और फिर भाषित तथा अन्य वास्तविक तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए उन पारम्परिक सिद्धान्तों की कमियाँ दिखाता है।

सेंस एण्ड सेंसिविलिया में आस्टिन भ्रमयुक्ति पर आधारित इस सिद्धान्त की परीक्षा करता है कि हम कभी अपरोक्ष रूप में जड़ वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं करते। हमारा प्रत्यक्ष केवल इन्द्रिय प्रश्नों तक सीमित है। उसके अनुसार इस सिद्धान्त में दो मुख्य कारण हैं¹⁷⁵—प्रथम, केवल कुछ शब्दों पर ध्यान देना और उनमें प्रयोगों का अति सरलीकरण, ठीक ठीक न समझना या ठीक से वर्णन करना और द्वितीय केवल कुछ, अपूर्ण रंग में विश्लेषित तथ्यों पर विचार करना। हमारी साधारण भाषा के शब्द बहुत ही सूक्ष्म हैं तथा उनमें अनेक भेद निहित हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के तथ्य बहुत ही विविध तथा जटिल हैं। दार्शनिकों ने इन दोनों की उपेक्षा की है।

सर्वप्रथम हम भ्रमयुक्ति को लेते हैं। आस्टिन के अनुसार इस युक्ति में कई गड़बड़ियाँ हैं।

इसमें भ्रम (illusion) और मतिभ्रम (delusion) को मिला दिया जाता है।

भ्रम की परिभाषा इस रूप में ही दी जाती है। जहाँ जड़ वस्तु न हो वहाँ जड़ वस्तु देखना किन्तु सभी भ्रम इस रूप में नहीं होते। उदाहरण के लिए जब एक रेखा दूसरी बराबर लम्बाई वाली रेखा से बड़ी दिखती है।

भ्रम में उन उदाहरणों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है, जो भ्रम हैं ही नहीं, जैसे किसी छड़ी का जल में झुकी हुई दिखाई पड़ना। इन कमियों के बाद आस्टिन विस्तार से उन शब्दों के प्रयोग में

अन्तर बताता है, जिन्हें प्रायः एक ही अर्थ में लिया जाता है। उनके अनुसार 'looks', 'seems' तथा 'appears'¹⁷⁶ के प्रयोगों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। इसी प्रकार 'reality' का विश्लेषण करते समय 'artificial', 'false', 'bogus', 'toy', 'synthetic', 'illusory', 'apparent' आदि शब्दों के प्रयोगों की चर्चा करता है।

आस्टिन के अनुसार real का कोई एक सामान्य अर्थ नहीं है, क्योंकि यहाँ मुख्य महत्त्व इसमें निषेधात्मक प्रयोग का है।¹⁷⁷ Real का अर्थ जिससे इसका विरोध दिखाया जाता है, उस पर निर्भर है।

आस्टिन के अनुसार पूर्णतः सत्य एवं निश्चित कथनों की खोज भी उपर्युक्त सिद्धान्त के लिए उत्तरदायी है। इसके अनुसार कथनों को दो वर्गों में विभाजित करना, जिनमें एक केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का वर्णन करना है, पूर्णतः सत्य है और वस्तु कथनों का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। और दूसरा वस्तुओं के विषय में है जो कभी भी निश्चित नहीं है, गलत है। उदाहरण के लिए—यह काल दिखता है—कथन वापस लिया जा सकता है या संशोधित किया जा सकता है और यह सुखद है, पूर्णतः निश्चित हो सकता है। आस्टिन मानता है कि किसी कथन में विश्वास उसके सन्दर्भ पर निर्भर करता है, आधार पर नहीं।¹⁷⁸ उसके अनुसार “प्रमाण क्या है, निश्चित क्या है, संदिग्ध क्या है, प्रश्नों का कोई सामान्य उत्तर नहीं हो सकता। यदि ज्ञानमीमांसा इन प्रश्नों के उत्तर में निहित है तो यह संभव नहीं।¹⁷⁹ सन्दर्भों के अनुसार इन प्रश्नों के उत्तर परिवर्तित होते रहते हैं।

आस्टिन उस सिद्धान्त का ही खण्डन करता है, जिसके अनुसार हम केवल इन्द्रिय प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं, वस्तुओं का नहीं। वह केवल इस मत की समर्थन युक्तियों की आलोचना नहीं करता, बल्कि इस द्वैत का भी निषेध करता है। प्रत्यक्ष के विषय किसी एक सामान्य प्रकार के अन्तर्गत नहीं आते। यह कहना निरर्थक है कि सामान्य व्यक्ति एक ही प्रकार की चीजें देखता है। हमें व्यक्ति ध्वनि, नदियाँ, लपटें, इन्द्र धनुष, वाक्य, छाया, प्रतिभा आदि दिखते हैं।¹⁸⁰ जिन्हें एक प्रकार में नहीं रखा जा सकता, जैसे पानी के बाहर झुकी हुई छड़ी। पश्चात् प्रतिमा—दीवार पर पड़े रंग के धब्बे की तरह नहीं दिखती। आस्टिन यह भी दिखाता है कि जो प्रत्यक्ष ठीक नहीं होते, उनके कारण हमारी इन्द्रियों के दोष या माध्यम की गड़बड़ी या गलत रचना है और इन सबका एक आधार नहीं होता।

आस्टिन के विरोध में कहा जाता है कि उसकी विधि वास्तविक दर्शन नहीं है। आस्टिन इसका कोई उत्तर नहीं देता। जो लोग अन्य विधियों को अपनाना चाहते हैं, स्वतंत्र हैं। उसके विरोध में यह भी कहा जाता है कि आस्टिन द्वारा वर्णित शब्दों के प्रयोग उसकी वैयक्तिक इच्छा को व्यक्त करते हैं, वास्तविक प्रयोगों को नहीं। यदि यह सत्य भी है तो इससे उसके मूल मन्तव्य का खण्डन नहीं होता, केवल उसके परिणामों पर प्रश्नचिह्न लगता है।

कुछ आलोचनाएँ

अन्त में साधारण भाषा दर्शन के विरोध में उठाई गई कुछ आपत्तियों का संक्षेप में उल्लेख कर हम इस विषय को यहीं विराम देंगे। एक आपत्ति यह की जाती है कि साधारण भाषा दार्शनिकों में कई महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं। उदाहरण—आस्टिन ने तथ्य का प्रयोग तात्विक सत्ता के लिए उचित माना है किन्तु स्ट्रासन के अनुसार 'सत्य' का प्रयोग किसी तात्विक सत्ता के लिए नहीं होता। इसी प्रकार राइल के अनुसार ऐच्छिक का प्रयोग केवल उन सन्दर्भों में किया जाता है, जिनमें कुछ गड़बड़ी रहती

है, जहाँ कार्य वांछित नहीं होता।¹⁸¹ किन्तु आस्टिन के अनुसार वांछित कार्यों के लिए भी इसका प्रयोग होता है।¹⁸² इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि साधारण भाषादर्शन अनुपयुक्त है। इसके विरोध में दो बातें कही जा सकती हैं—प्रथम ऐसे मतभेद सभी दर्शनों में है। इस मतभेद का कारण यह है कि किसी एक दार्शनिक ने या सभी दार्शनिकों ने साधारण भाषा का पूर्ण विश्लेषण नहीं किया, अतः यह आलोचना निराधार है। दूसरी आपत्ति यह है कि साधारण भाषा दार्शनिकों की प्रणाली प्रागनुभविक एवं वैयक्तिक है।¹⁸³ इसके अनुसार साधारण भाषा दार्शनिक मनमाने ढंग से शब्दों का वचन करते हैं और अपनी रुचि के अनुसार उनकी सैद्धान्तिक व्याख्या करते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि साधारण भाषा दार्शनिकों का उद्देश्य साधारण भाषा का वास्तविक यथार्थपरक विश्लेषण है। यह हो सकता है कि विश्लेषण करते समय कुछ त्रुटियाँ रह जायें, किन्तु उन्हें सभी विधि से दूर किया जा सकता है। शब्द प्रयोग की व्याख्या में यह खतरा अधिक है किन्तु इसका भी निराकरण प्रयोगों पर अधिक से अधिक ध्यान देकर किया जा सकता है।

मेरे विचार से इस दर्शन के प्रति एक अधिक गम्भीर आक्षेप उठाया जा सकता है, किन्तु यह आक्षेप उन सभी दर्शनों के प्रति है, जो तथ्यों की उपेक्षा कर दार्शनिक निष्कर्ष प्रतिस्थापित करते हैं। भाषा या विचार का अपना स्वतंत्र, सार्वभौम, प्रागनुभविक आकार मानना गलत है। भाषा का प्रयोग, प्रयोग करने वालों के अर्जित या सर्जित विश्वासों को व्यक्त करता है, न कि सत्ता का स्वरूप। इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा सत्ता का स्वरूप व्यक्त ही नहीं कर सकती। मेरा उद्देश्य केवल यह बताना है कि भाषिक विश्लेषण के साथ-साथ अतिभाषिक साक्ष्य भी आवश्यक है।

भाषा दर्शन में उपाध्याय यशोविजय का वैशिष्ट्य

भारतवर्ष पुरातनकाल से अद्वितीय संस्कृति का क्रीड़ागण रहा है। सभी संस्कृतियों में निवृत्तिमार्ग की उपासिका श्रमण-संस्कृति का स्थान अग्रगण्य रहा है। प्राचीन काल में इसी संस्कृति के अग्रगण्य अनेक जैन मुनिवरों ने साहित्य-सेवा में तल्लीन बनकर अपनी आत्मा के साथ-साथ समस्त जैन संघ एवं भारतवर्ष को कृतार्थ किया है। श्रमण भगवान महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों ने प्रभु की अमृतवाणी को अपनी प्रतिभा के द्वारा गूँथ कर बारह अंगसूत्रों का निर्माण किया। अनेक समकालीन श्रमणों ने एवं उनके पश्चात् वर्ती श्रमणों ने द्वादशांगी के आधार पर जो अन्य साहित्य का सृजन किया था, यह सम्पूर्ण रूप में आज प्राप्त नहीं है। जैन वाङ्मय को गीर्वाण गिरा में गूँथने वालों में वाचनकवर्य उमास्वाति का अग्रस्थान है, जिन्हें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर भी प्रमाणभूत मान रहे हैं।

तत्पश्चात् जैन श्वेताम्बर गगन में सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी खुद की अनेकविध प्रतिभा से सूर्य समान सुशोभित हैं। वे कवि, वादी, तार्किक, दार्शनिक, स्तुतिकार एवं सर्वदर्शन संग्रहकार के रूप में अद्वितीय स्थान को प्राप्त हैं। ऐसे गौरवशाली साहित्यकारों में साहित्य का आकण्ठ पान करके श्री हरिभद्रसूरिजी पुष्ट हुए थे, जिन्हें नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी ने पंचाशक की टीका में भगवान कह कर पुकारा है। बाद में जिनशासन के ताजस्वरूप हेमचन्द्राचार्य हुए। हरिभद्रसूरि एवं हेमचन्द्रसूरि—ये दोनों आचार्य कलिकालसर्वज्ञ बिरुदवादी हुए हैं।

दोनों कलिकाल सर्वज्ञ सूरिसम्राट् के बाद अग्रगण्य स्थान स्वोपज्ञ टीका से अलंकृत भाषारहस्य ग्रंथ के कर्ता महामहोपाध्याय यशोविजय का है। उपाध्याय की विमलयश रश्मियाँ विद्वदमानस को चिरकाल से आलोकित कर रही है। उनके उन्नत एवं ज्योतिर्मय मस्तिष्क ने जो विचारभ्रांति एवं ज्ञानसमृद्ध

पैदा किया था, उससे आज कौन अपरिचित है? उन्होंने भाषादर्शन के एवं भाषारहस्य को खोलकर जो योगदान किया है, वो निम्न है—

उपाध्यायजी की विशिष्टता है कि वे तर्काधिपति होते हुए भी उन्होंने तर्क एवं सिद्धान्तों को सन्तुलित रखा है। सामान्य से उन्होंने अपने ग्रंथों में खुद के कथन की पुष्टि हेतु प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रंथों का प्रमाण देने में कसर नहीं रखी है।

उपाध्याय यशोविजय रचित भाषारहस्य ग्रंथ के नाम से ही पता चलता है कि यह ग्रंथ भाषा की उन ग्रंथियों को सुलझाता होगा, जिनसे अधिकांश जनमानस अपरिचित है।

अद्यतन काल में भाषा का ज्ञान साधु भगवन्त एवं जन-साधारण के लिए नितान्त आवश्यक है। कोई भी भाषा हो परन्तु वह भाषा सभी प्रकार से विशुद्ध होनी चाहिए, क्योंकि भाषा विशुद्ध परम्परा से मोक्ष का कारण है। यह भाषा रहस्य का हार्द है। यही बात उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य ग्रन्थ की अवतरणिका में ही कही है।¹⁸⁴

वागुक्ति अष्टप्रवचनमाता का अंग है। भाषा विशुद्धि का अनभिज्ञ अगर संज्ञादि परिहार से मौन रखे तो भी उसे वागुक्ति का फल प्राप्त नहीं होता है। अतः भाषा विशुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसलिए सावध, निरवध, वाच्य, अवाच्य, औत्सर्गिक, आपवादिक, सत्य, असत्य आदि भाषा की विशिष्ट जानकारी हेतु अष्टप्रवचनमाता के आराधकों के लिए उपाध्यायजी का भाषा-दर्शन संबंधित भाषा रहस्य ग्रंथ गागर में सागर है।

ऐसे तो यह ग्रंथ विद्वदभोग्य है। उपाध्यायजी की रहस्यपदांक्ति कृति में रहस्य भरा हुआ ही होता है, फिर भी सभी के उपकार हेतु टीकाकार उपाध्याय ने जो हिन्दी में अनुवाद किया है, वह अतीव अनुमोदनीय है, जिसको पाकर वाचक इस अमूल्य पुष्प के सुवास से प्रमुदित बन सकते हैं।

प्राचीन ग्रंथों को बिलोकर उसमें से घृत निकालकर परिवेषण करने की अपूर्वशक्ति उपाध्यायजी को बरी हुई थी। अतः उन्होंने इस प्रकार अनेकानेक ग्रंथों का सृजन किया था। भाषादर्शनलक्षी उपाध्यायजी का भाषा रहस्य ग्रंथ अनमोल है। उपाध्यायजी ने तत्त्वरत्नाकर, प्रज्ञापनासूत्र, चारित्र की नामस्वरूप दशवैकालिक सूत्र, जिनशासन का अद्वितीय ग्रंथरत्न विशेषावश्यक भाष्य आदि अगाध ग्रंथों का आलोकन करके इस अनमोल ग्रंथ की भेंट दी है। सोने में सुगंध स्वरूप इस भाषा रहस्य ग्रंथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है, जो ग्रन्थ के हार्द को प्रस्फुटित करती है।

आगम आदि साहित्य में ऐसी कई बातें हैं, जो बाह्यदृष्टि से विरोधग्रस्त-सी लगती हैं। उपाध्यायजी की विशेषता यह है कि उन बातों को प्रकट करके अपनी तीव्र सूक्ष्मग्राही मेधा द्वारा उनके अन्तःस्थल तक पहुंचकर गम्भीर एवं दुर्बाध ऐसे स्याद्वाद, नय आदि के द्वारा उसका सही अर्थघटन करते हैं। देखिए—

‘सच्चंतष्भावे च्विय चउण्हं आराहगतं जं।’¹⁸⁵

अर्थात् इस गाथा की स्वोपज्ञ टीका में बताया है कि चारों भाषाओं (सत्य, मृषा, सत्यमृषा एवं असत्यमृषा) का सत्य में अंतर्भाव होगा, तभी चारों भाषाओं में आराधकत्व रहेगा। इसके लिए प्रज्ञापना सूत्र का प्रबल प्रमाण पैदा किया है। इस पाठ का तात्पर्य यह है कि आयुवत्परिणामपूर्वक चारों भाषाओं को बोलने वाला आराधक है। आयुक्त का शास्त्रविहित पद्धति से जिनशासन की अपभ्रान्तना को दूर करने के प्रयोजन से बोलना, संयमरक्षा आदि के लिए बोलना अर्थ है।

प्रज्ञापना में तो चारों भाषाओं को आयुक्तापूर्वक बोलने पर आराधक कहा है। परन्तु दसवैकालिक सूत्र¹⁸⁶ के सप्तमाध्ययन की प्रथम गाथा में तो मृषा एवं मिश्रभाषा बोलने का निषेध किया गया है। अतः बाह्यदृष्टि से विरोध-सा भासित होता है। उपाध्यायजी ने उपर्युक्त विरोधाभास¹⁸⁷ का कुशलतापूर्वक समाधान करते हुए बताया है कि दश सूत्र का कथन औत्सर्गिक है तथा प्रज्ञापना सूत्र का वचन औपवादिक है अतः अपवाद से चारों भाषाओं को बोलने पर भी उत्सर्ग अबाधित रहता है।

भाषादर्शनलक्षी उपाध्याय का भाषा रहस्य ग्रंथ की स्वोपज्ञ टीका भी कैसी अद्भुत, विद्वतापूर्ण एवं प्रौढभाषायुक्त! स्वोपज्ञ टीका के गुप्त भावों को अति सूक्ष्मतापूर्वक प्रगट करने में यह टीका दिनकर स्वरूप है। जब इसका पठन करते हैं तब ज्ञात होता है कि स्वोपज्ञ टीका के लगभग प्रत्येक अंश को लेकर टीकाकार ने बहुत ही सुन्दर रीति से विशिष्ट क्षयोपशम् साध्य स्पष्टीकरण किया है। उसमें भी स्वोपज्ञ टीकान्तर्गत 'दिक्', 'ध्येयम्', 'अन्यत्र', 'अन्ये' आदि शब्दों के स्पष्टीकरण से तो टीकाकार ने कमाल ही कर दिया है। इन स्पष्टीकरणों से टीका में चार चाँद लगा दिये हैं। उसी तरह नन्वाशय की तथा स्वोपज्ञ टीका के अनेक स्थलों की अवतरणिका बहुत ही सुन्दर है।

इस टीका को देखते हैं तो यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उपाध्यायजी की भाषा रहस्य टीका हकीकत में 'आर्षटीका' की झलक सजाए है।

उपाध्याय यशोविजय ने भाषादर्शनलक्षी विशिष्टता को भाषा रहस्य ग्रंथ एवं उनकी टीका के माध्यम से किया है। उनका विशिष्ट मुद्रा निम्न है—

किसी विषय के बारे में विरोध का उद्भावन करके अनेक ग्रंथों की सहायता से एवं अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से उसका हल करना इसका स्वभाव-सा है, जैसे—

गेण्हईं ठियाइ जीवो, णेव य अठिवाइ भादव्वाइं ।

दव्वाइचउविसेसो णायव्वो पुण जहाजोगं ।।३१।।¹⁸⁸

इस गाथा की टीका में स्वोपज्ञ टीका के एक परमाणु के स्पर्श के बारे में 'मृदुशीतौ मृदुष्णौ वा' इत्यादि से जो कहा है, उसमें व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना टिप्पण, तत्त्वार्थ टीका, प्रज्ञापना की मलयगिरिसूरि कृत टीका के आधार से विरोधाद्भावन करके प.पू. सिद्धान्त दिवाकर आचार्यदेव जयघोषसूरिश्वर की सहायता से बन्धशतक चूर्ण के आधार पर समाधान किया है।

टीका में स्वोपज्ञ टीका के उसमें विशिष्ट पदों की गहराई दृष्टिगोचर होती है। जैसे—गाथा नं. 4 की स्वोपज्ञ टीका में भाषाद्रव्य के 9 विशेषण दिये हैं। उसमें आठवां विशेषण 'तान्यप्यानुपूर्वीकलितादि आनुपूर्वी¹⁸⁹ नाम ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं तथा कलितानी, न पुनरनीदृशानि ।'

इस पाठ के 'ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं' की टीका अतिविशदरूप से करके प्रश्नोद्भावन के बाद निष्कर्ष लिखा है—“अतो ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं नाम ग्रहणभाषाद्रव्यापेक्षया कुमिकत्वम् । तच्च प्रदर्शितरीत्या ग्रहणभाषा द्रव्य घट की भूत परमाणुगतात्यबहु संख्या दत्त्वा पेक्षयेव कोटि माटीकते ।”

अर्थात् इस चर्चा का सार इस प्रकार है—जीव अपने योग के अनुसार आनुपूर्वीयुक्त भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है तब असत् कल्पना से 30000 परमाणु निष्पन्न द्रव्यों के स्कन्ध से लेकर

30001, 30002, 30003 यावत् 40000 तक ग्रहण करता है। 30000 से लेकर 40000 के बीच के स्कन्ध को नंदी छोड़ेगा एवं 50000 या 100000 अगर परमाणु से निष्पन्न स्कन्धों को भी ग्रहण नहीं करेगा।

मूल ग्रंथ का यह तात्पर्य निकालना बुद्धि की तीक्ष्णता एवं टीका की गहनता सूचित करती है।

अन्य दिग्गज विद्वानों के मतों को बराबर समझकर उनका विशद् रीति से तर्कपूर्ण निरास किया है, जैसे—

जा जणवयसंके या, अत्थं लोगस्स पतियावेई ।

एसा जणवयं सच्चा पण्णता धीरपुरसेहे ।।23 ।।¹⁹⁰

उपरोक्त गाथा नं. 23 की टीका में शब्दशक्ति को लेकर वर्धमानोपाध्याय के अन्वीक्ष-नियतत्वबोध, 'न्यायमंजरीकार', गदाधर के व्युत्पत्तिवाद वाक्यपदीय नृसिंहशास्त्री की मुक्तावलीप्रभा, मुक्तावलीदिनकरी एवं वृषभदेव के मतों का तर्कपूर्ण निरसन दृष्टिगोचर होता है।

इनकी विशेषता यह भी है कि जैसे यह टीका विद्वद्भोग्य है, वैसे बालभोग्य भी है, क्योंकि प्रस्तुत टीका में स्वोपज्ञ विवरण को सम्पूर्ण रीति से समझाने की कोशिश की है।

अरे! कहीं-कहीं तो पदों को इतनी विशद् रीति से समझाया है कि साधारण व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ पाये। जैसे ग्रंथ की अवतरणिका में उपाध्याय ने दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि के 'अणुवायेण' शब्द की टीका करते हुए एवं सुगमता से समझाने हेतु चूर्णिकार का तात्पर्य बताते हुए टीकाकार लिखते हैं—

अणुवायेण इति उपायविपर्ययेण उपायश्चावसरोचित सम्यग्वचनप्रयोगादिरूपः तदुक्तं धर्मबिन्दौ अनुपायातुं साध्यस्य सिद्धिं नेच्छन्ति पण्डिताः ।¹⁹¹ तथा च रत्नत्रय योगपष्टम्भक सम्यग्वचनप्रयोगाद्यर्थं सम्यग्वचन विभागज्ञानभावश्यकमेवेति आचार्यस्योत्तर दाने तात्पर्यमिति भावः ।।

स्वोपज्ञ टीका के भाव को समझाते हुए सुन्दर प्रयत्न किया गया है, जैसे—

सा कोहणिस्सिया खलु कोहाविद्दो कहेइ जं भासं ।

जह ण तुमं मम पुतो अह्वा सव्वपि तव्वयणं ।।40 ।।¹⁹²

उपरोक्त गाथा नं. 40 की स्वोपज्ञ टीका में केवल इतना ही कहा है कि क्रोध से आकुल होकर जो पुरुष गाय को गाय कहता है, वह वचन भी असत्य ही है, ऐसा पूर्व महर्षियों का अभिप्राय है। वहाँ उपाध्यायजी ने स्पष्टीकरण किया है कि कौन-से महर्षि का ऐसा अभिप्राय है एवं किस ग्रंथ में इसका उल्लेख है। देखिए—

सम्प्रदाय इति । तदुक्तं वृद्धविवरणे श्री जिनदासमहतर गणिनां - तस्स कोहाउलाचिततणेणं धुणक्खरमिव तं अप्पमाणमेव भवति । जहा धुणकरवरे सच्चमपि पडियाणं चितगाहगं न भवति, कोवाकुलचितो जं संतमवि भासति तं मोसमेव भवति ।।¹⁹³

जैसे माला के बीच में मेरु सुशोभित होता है, सोने की चेन के बीच में रत्न शोभास्पद होता है, वैसे ही इस प्रौढ़ टीका के बीच-बीच में मनोविनोद हेतु प्रासंगिक मीमांसा भी अद्भुत कोटि की है, जैसे—

सा जायणी या णेया, जं इच्छिपयत्थणापरं वयणं ।

भतिपउत्ता एसा, विणावि विसयं गुणोवेया ।।¹⁹⁴

उपरोक्त गाथा नं. 74 की स्वोपज्ञ टीका के 'याचनप्रवणम्' का अर्थ 'स्वोद्देशकदानेच्छापरक वचन' किया है। बाद में इसमें घटकीभूत दानपद की सुन्दर मीमांसा करके अन्त में अपनी विशिष्ट शैली से ज्ञान का निर्वचन किया है।

इस प्रकार भाषादर्शन लक्ष्मी भाषा रहस्य की टीका अनेक विशेषताओं से विशिष्ट है।

वर्तमान में नूतनदीक्षितों के साथ-साथ कुछ अन्य श्रमणों में भी श्रमणयोग्य भाषा के उच्चार में शैथिल्य ज्ञात हो रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे श्रमणयोग्य भाषा से अनभिज्ञ हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य ग्रंथ में तो यहाँ तक बताया है कि जो वचनविभाग को नहीं जानता हुआ मौन भी रखे तो भी वह वचनगुप्त का आराधक नहीं है। संयम यानी अष्टप्रवचनमाता का पालन। वचनगुप्त अष्टप्रवचनमाता में से एक है। जब वचनगुप्ति का ही पालन नहीं होगा तो अष्टप्रवचनमाता की आराधना कैसे हो पाएगी?

पौद्गलिक प्रशंसा के वचन "यह उपाश्रय बहुत सुन्दर है", "आज अच्छी हवा आ रही है", "आपका शरीर बहुत अच्छा है", "यह बैंक बहुत अच्छा है" इत्यादि एवं श्रमणयोग्य भाषा, जैसे गृहस्थ को 'आओ', 'बैठो', 'तुम्हारा शरीर ठीक है?' इत्यादि श्रमण नहीं बोल सकते हैं। इस प्रकार बोलने से भाषा समिति का भंग होता है।

शास्त्र में तो कहा है कि जो सावध एवं अनवद्य भाषा के भेद को नहीं जानता है, उसे बोलना भी कल्याणकारी नहीं है, व्याख्यान देना तो दूर रहा। देखिए—

सावण्णवज्जाण वयणाणं जो न याणइ विसंसं।

वोर्तुपि तस्स ण खमं किमगं पुण देसणं काळु।।¹⁹⁵

विद्वान तो इस ग्रंथ को साद्यन्त पढ़कर वचन विभाग में कुशल बन सकते हैं, परन्तु टीकाकार ने तो इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करके संस्कृत-प्राकृत से अनभिज्ञ श्रमणों के ऊपर भी अनन्य उपकार किया है। अतः उपाध्यायजी कहते हैं कि मेरा सभी से अनुरोध है कि यह ग्रन्थ साद्यन्त पढ़कर वचन-विभाग के ज्ञाता बनें। उससे भी विशेष करके पांचवें शतक की गाथा नं. 85 को लगाकर गाथा नं. 97 तक का ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि उसमें ग्रंथकार एवं टीकाकार ने दशवैकालिक में सप्तम अध्याय के अनुसार श्रमण जीवन में बहुत ही उपयोगी सामग्री का परिवेषण किया है।

भाषा संबंधी वक्तव्य के रहस्यार्थ को परोपकारार्थ प्रगट करने के लिए महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजय महाराज ने भाषादर्शन लक्ष्मी भाषारहस्य नामक प्रकरणरत्न की रचना की और स्वोपज्ञ विवरण से उसे अलंकृत भी किया। इसलिए भाषादर्शन लक्ष्मी उपाध्यायजी का भाषा रहस्य ग्रंथ अनेक विशेषताओं से विशिष्ट है। अंत में उन्होंने अपनी इच्छा को व्यक्त करते हुए कहा है कि—

चाह नहीं इतिहासों की स्यादि में नामनिशान रहे,

चाह नहीं जग में गीतों में मेरा गौरव-ज्ञान रहे।

चाह यही है मेरे मुख में तेरा मंगल-गान रहे,

परोपकार में पावनपथ में बस मेरा विश्राम रहे।।

भाषा-दर्शन संबंधी उपाध्यायजी ने भाषा-रहस्य नामक ग्रंथ लिखकर गगन में चार चाँद लगाये हैं।

सन्दर्भ सूची—

1. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/21
2. प्रज्ञापना-भाषापद, 11/15
3. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 129
4. धवला, 93/4-5, 26/20, 1/7; जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग-4, पृ. 3
5. द्रष्टव्य धवला, 14/5-6, 82/61/12; जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग-4, पृ. 3
6. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग-7, पृ. 338
7. प्रतिपाद्यते वरत्वेनेनेति शब्द, 1; वही
8. भाषातत्त्व और वाक्यप्रदीप, पृ. 117
9. वाक्यप्रदीप, 1/23
10. प्रज्ञापना-भाषापद
11. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ टीका), 5/24-29, 4/12
12. धवला, 13/5-5, 26/221/10
13. भाषा विज्ञान, पृ. 28
14. समवायांग सूत्र, 34/1
15. थेचास्तिकाय : तत्त्वर्पवृत्ति, 79/135/7
16. भाषा रहस्य, प्रथम स्तबक, पृ. 1
17. वही, पृ. 7
18. वही, पृ. 8
19. वही, पृ. 14
20. वही, प्रस्तावना
21. वही, अवतरणिथी
22. तत्त्वार्थ, 1/20, जुत मतिपूर्व...
23. विशेषावश्यक भाष्य, 205
24. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 5;
विशेषावश्यक भाष्य, 50-104 पर हेमचन्द्राचार्य श्रीवृत्ति गुजराती अनुवाद, पृ. 58-617
25. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 25
26. जैन तर्कपरिभाषा, पृ. 63
27. लघीयस्त्रयी, 7/2
28. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 6
29. नाम स्थापना द्रव्य भावतस्तन्नयाज्ञ--तत्त्वार्थ सूत्र, 1/5

30. भाषा रहस्य, 11-14
31. जैन तर्क परिभाषा-निक्षेप परिच्छेद, पृ. 68
32. वही, पृ. 63
33. वही, पृ. 64
34. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 7
35. भाषा रहस्य, पृ. 49
36. वही, पृ. 16
37. दशवैकालिक निर्युक्ति
38. दशवैकालिक निर्युक्ति, श्लोक-173 चूर्ण, पृ. 159
39. भाषा रहस्य, पृ. 18
40. वही, 1-11, पृ. 47
41. दशवैकालिक अध्ययन, 7/1/271
42. भाषा रहस्य, पृ. 49
43. भगवती सूत्र, श. 13, उद्दे. 7, सू. 493
44. भाषा रहस्य, पृ. 50
45. वही, पृ. 51
46. वही, पृ. 52
47. वही, पृ. 53
48. वही, पृ. 54
49. विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति
50. भाषा रहस्य, पृ. 54
51. वही, 1-12, पृ. 55
52. वही, 11-13, पृ. 55
53. वही
54. दशवैकालिक चूर्णिकार--जिनदासगणि पृ. 235
- 55-56. भाषा रहस्य, पृ. 150-56
57. भाषा रहस्य, पृ. 57
58. वही, पृ. 58
59. प्रज्ञापना सूत्र, पृ. 15
60. वही, पृ. 16-19
61. भाषा रहस्य, पृ. 71

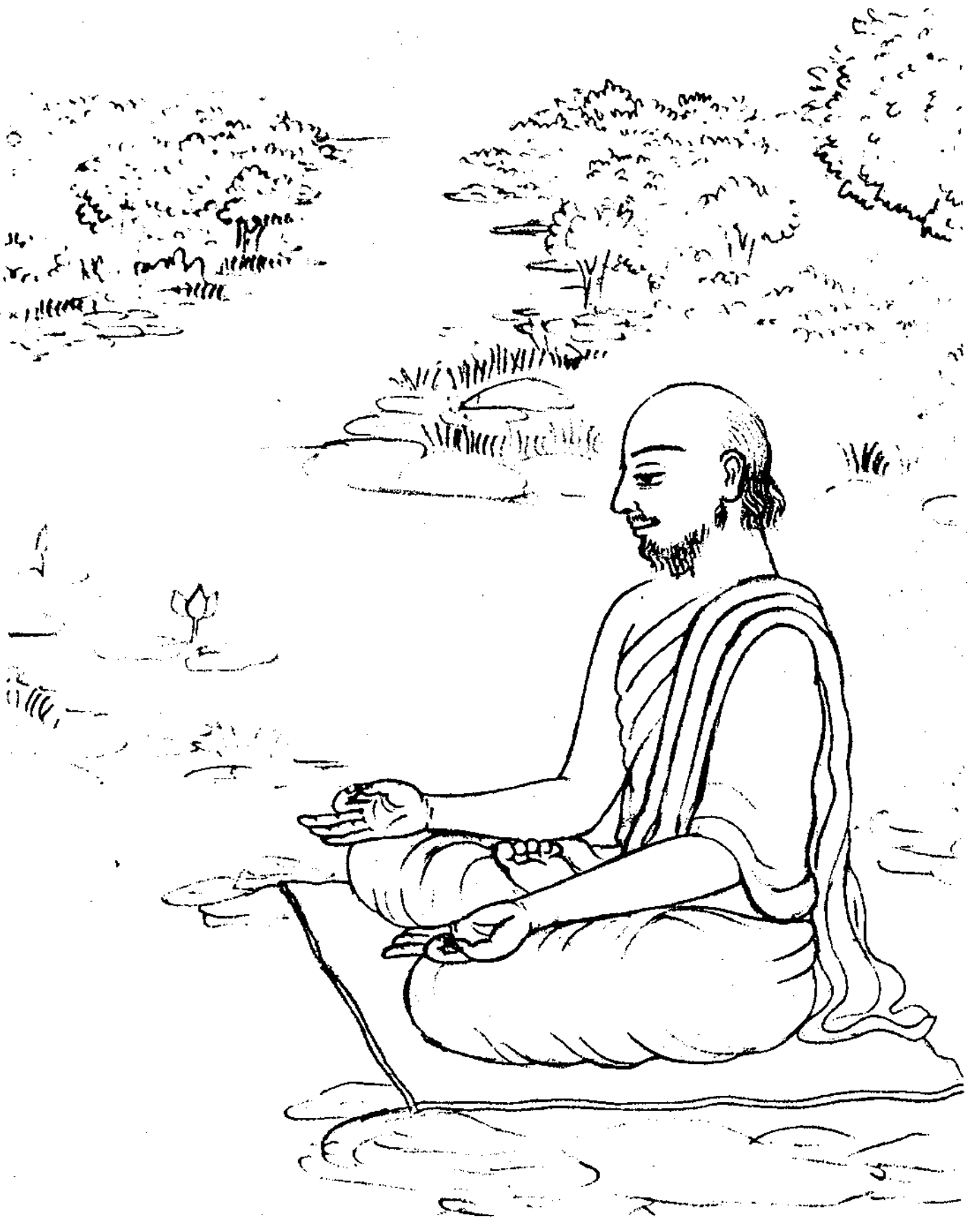
62. प्रज्ञापना सूत्र, पृ. 16-19
63. भाषा रहस्य, पृ. 72
64. दशवैकालिक चूर्णि, पृ. 239
65. भाषा दर्शन, पृ. 91
66. भाषा रहस्य, पृ. 73
67. वही, पृ. 73
68. स्थानांग सूत्र, दशम स्थान, पृ. 89
69. प्रश्नव्याकरण सूत्र, अध्याय-7, पृ. 24
70. प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद-17
71. भगवती आराधना, 1187
72. राजवार्तिक, 1/20
73. भगवती आराधना, 1187
74. भाषा रहस्य, 11, 21, 22, पृ. 97
75. वही, 11-23, पृ. 102
76. वही, 11-24, पृ. 106
77. वही, 11-25, पृ. 110
78. वही, 11-26, पृ. 117
79. वही, 11-27, पृ. 120
80. वही, 11-28, पृ. 123
81. वही, 11-31, पृ. 143
82. वही, 11-32, पृ. 147
83. वही, 11-33, पृ. 158
84. वही, पृ. 161
85. प्रश्नव्याकरण सूत्र, 1/2/6
86. भगवती आराधना, गाथा 8/8 से 823
87. भाषा रहस्य, 11-38, 39, पृ. 118
88. प्रज्ञापना सूत्र, भाषा पद-18
89. भाषा रहस्य, 11-40, पृ. 203
90. वही, 11-43, पृ. 205
91. वही, 11-44, पृ. 206
92. वही, 11-45, पृ. 206

93. वही, 11-46, पृ. 206
94. वही, 11-47, पृ. 207
95. वही, 11-48, पृ. 208
96. वही, 11-49, पृ. 209
97. वही, 11-50, पृ. 210
98. वही, 11-51, पृ. 211
99. भाषा रहस्य, 11-56, 57, पृ. 219
100. प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद 19
101. भाषा रहस्य, 11-58, पृ. 226
102. वही, 11-59, पृ. 229
103. वही, 11-60, पृ. 230
104. वही, 11-61, पृ. 230
105. वही, 11-62, पृ. 233
106. वही, 11-63, पृ. 234
107. वही, 11-63, पृ. 234
108. वही, 11-65, पृ. 237
109. वही, 11-66, पृ. 239
110. वही, 11-67, पृ. 241
111. वही, 11-69, 70, 71, पृ. 243, स्तबक-4
112. प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद 20
113. भाषा रहस्य, 11-72, पृ. 243, स्तबक-4
114. वही, 11-73, पृ. 245, स्तबक-4
115. वही, 11-74, पृ. 249, स्तबक-4
116. वही, 11-75, पृ. 254, स्तबक-4
117. वही, 11-75, पृ. 254, स्तबक-4
118. वही, 11-76, पृ. 260, स्तबक-4
119. वही, 11-76, पृ. 260, स्तबक-4
120. वही, 11-77, पृ. 264, स्तबक-4
121. वही, 11-78, पृ. 267, स्तबक-4
122. वही, 11-78, पृ. 267
123. वही, 11-79, पृ. 271

124. वही, 11-79, पृ. 271
125. जैन दर्शन, पृ. 273
126. भगवती सूत्र, 1/1/11
127. भगवई, 1/73/228
128. आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति मूल भाषान्तर, 11-126, पृ. 208-209
129. नंदीसूत्र, 84
130. दीघनिकाय, पृ. 156
131. सूत्रकृताङ्ग, 1/14/22
132. मज्झिमनिकाय, पृ. 469
133. अंगुत्तरनिकाय, पृ. 48
134. आवश्यकनिर्युक्ति, 192
135. Cosmology Old and New, p. 13
136. जैनदर्शन—डॉ. महेन्द्र कुमार, पृ. 362
137. (अ) भगवती सूत्र, 12/2
(ब) समकालीन भाषादिविश्लेषण दर्शन का पूर्वरूप, अंक-4, पृ. 356
138. Tractatus Logico Philosophicus Prepace, p. 3
139. Philosophic Investigation, p. 38
140. रिपब्लिक बुक, 10, 469
141. मेटाफिजियस बुक जेटा, अभ्यास-1
142. Introduction to Logic, p. 33
द्रष्टव्य—समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 153-54
143. All Philosophy is Critique of Language—Tractatus Logico Philosophicus-4, p. 3
144. Philosophy and Language, No. 5, p. 21
145. Human Knowledge, p. 77
146. समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 176
147. Proof of an External World
148. The Connection of Reality
149. Contemporary British Philosophy
150. A Dependence of Common Sense
151. A Reply to My Critics in the Philosophy of G.E. Moore

152. A Hundred Years of British Philosophy, p. 12
153. Moore and Ordinary Language, p. 23
154. Tractatus, 5.55-6.3
155. Ibid, p. 4.002
156. Tractatus, p. 27
157. Ibid, p. 4.111
158. Ibid, p. 4.112
159. Ibid, p. 4.112
160. All Philosophy is Critique of Language, T. 4.0031
161. समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 210
162. Philosophical Papers, p. 153-180
163. समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 211
164. The Meaning of a Word
165. A Plea of Excuses, p. 129
166. Ibid, p. 129-130
167. How to do things with Words,
168. समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 214
169. Words, p. 92
170. Ibid, p. 94
171. Ibid, p. 146
172. Ibid, p. 147
173. समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 216
174. Do Illocutionary Forces Exist? Collectes in Symposium
175. Sense and Sensibilla, p. 3
176. Ibid, p. 5
177. Ibid, p. 70
178. Ibid, p. 42-43
179. Ibid, p. 124
180. Ibid, p. 7-8
181. The Concept of Mind
182. A Plea for Excuses

183. समकालीन पाश्चात्य दर्शन, पृ. 219
184. इह खलु निश्रेयसार्थिना भाषाविशुद्धिरवश्यमारेया, वाक्समितिगुप्त्योरच तदधीन्तावत् तपोश्च चारित्राऽगत्वात् तस्य च परमनिःश्रेयस
185. प्रज्ञापना—भाषापद, सू. 174
186. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन-7
187. वही
188. भाषा रहस्य, गाथा 3
189. वही, 11-48वां विश्लेषण
190. वही, 11-23
191. धर्मविद्र प्रकरण, 4/23
192. भाषा रहस्य, 11-40
193. दशवैकालिक अध्ययन, निर्युक्ति 761, चूर्ण 11-276, पृ. 237
194. भाषा रहस्य, पृ. 11-74
195. वही, पृ. 3



अष्टम् अध्याय

महोपाध्याय यशोविजय का रहस्यवाद

रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति

रहस्य शब्द के विभिन्न अर्थ

विभिन्न धर्मग्रंथों में रहस्य का अर्थ

रहस्यवाद शब्द का प्रयोग

रहस्यवाद की विविध व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ

रहस्यवाद के प्रकार

रहस्यवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वेदों में रहस्यवाद

उपनिषदों में रहस्यवाद

भगवत गीता, भगवत पुराण एवं भक्ति सूत्र में रहस्यवाद

बौद्ध धर्म में रहस्यवाद

सूफी कवियों में रहस्यवाद

संत कवियों में रहस्यवाद

सगुण भक्ति कवियों में रहस्यवाद

आधुनिक हिन्दी कवियों में रहस्यवाद

जैन धर्म में रहस्यवाद

यशोविजय की दृष्टि में रहस्यवाद का वैशिष्ट्य

महोपाध्याय यशोविजय का रहस्यवाद

रहस्यवाद वस्तुतः अर्वाचीन सम्प्रत्यय है। किन्तु रहस्य भावना, रहस्यवाद भारतीय वाङ्मय में प्राचीनकाल से विद्यमान है। रहस्य भावना में साधक की उत्कट जिज्ञासा एवं रुचि का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहाँ साध्य सदैव रहस्यमय रहता है। साधक में रही हुई जिज्ञासावृत्ति, रुचि ही साधक को रहस्यमय साध्य तक पहुँचाती है। इसी कारण भारतीय रहस्यवादी चिन्तकों, विचारकों ने परमतत्त्व के प्रति जिज्ञासा, उत्सुकता, रुचि का साधक में जागृत होना अनिवार्य माना है।

वास्तव में अज्ञात, अनजान तत्त्व के प्रति जिज्ञासा मानव की चिन्तनशीलता एवं बौद्धिकता का परिणाम है। भारतीय ऋषि-महर्षियों द्वारा व्यक्त और दृश्य देह जगत् के भीतर अव्यक्त, अदृश्य और अरूपी आत्मत्व को खोजने का प्रयास चिरन्तन काल से होता रहा है। साधनाओं, आराधनाओं और भावनाओं के द्वारा अपने घट में ही विराजमान आत्मदेव के साथ तादात्म्य (एकमेक संबंध) स्थापित किया गया है। ये आध्यात्मिक अनुभव जब शब्दों में अभिव्यक्त होते हैं तब उन्हें रहस्य भावना, रहस्य विचार अथवा रहस्य साधना कहा जाता है। इसे आज रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया गया है। मूलतः अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनुभूतियों द्वारा सत्य परमतत्त्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है।'

रहस्यवाद शब्द रहस्य+वाद—इन दो शब्दों के मेल से बना है। रहस्य परमतत्त्व और वाद विचार। इस प्रकार रहस्यवाद का अर्थ है—परम तत्त्व विषयक विचार। आध्यात्मिक दृष्टि से रहस्यवाद का मूलार्थ है—परम तत्त्व संबंधी वह विचार या भावना, जिसमें अन्तःज्ञान (इन्द्रियुशन) पर आधारित अपरोक्षानुभूति का तत्त्व सन्निहित हो। रहस्य भावना के मूल या बीज को वेदों,² उपनिषदों³ एवं बौद्ध साहित्य⁴ में भी खोजा जा सकता है, किन्तु आगे चलकर यह भावना सिद्धों, नाथों तथा मध्ययुगीन सन्त-साहित्य में प्रस्फुटित हुई। वस्तुतः इसे आनन्दघन आदि ने भी अपनाया। उपाध्याय यशोविजय पर भी आनन्दघन आदि की इस शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

रहस्यात्मक पद्धति मर्मि सन्त कवियों की एक विशिष्ट पद्धति है। इसके अन्तर्गत गूढ़ एवं अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभूतियों को अटपटे रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। सामान्यतया रहस्यात्मक पद्धति या रहस्यवाद का अभिप्राय है—किसी बात को रहस्यात्मक उक्ति के रूप में प्रस्तुत करना। ऐसी रहस्यात्मक उक्ति वह है, जिसमें गूढ़ार्थ भाव निहित हो, जिसे सामान्य-जन न समझ सके तथा जो पढ़ने पर असंगत एवं बेसिर-पैर का प्रतीत हो, किन्तु गहराई में प्रवेश करने पर उसका गम्भीर अर्थ निकले। मुख्य रूप से इसमें आध्यात्मिक तथ्यों को लोक विपरीत ढंग से वर्णित किया जाता है। लोक जीवन में यह पहली और लिखित साहित्य में उलटवासी अथवा रहस्यात्मक उक्ति के रूप में प्रसिद्ध है।

दृश्य (शरीर) में अदृश्य (शुद्धात्मक तत्त्व) को देखना एवं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना ही रहस्य भावना अथवा रहस्यवाद है। 'धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहाया' एवं 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टाः' जैसे पद रहस्य भावना के प्राचीनतम संकेत हैं। रहस्यवादी विचारधारा में यह माना जाता है कि परमतत्त्व कोई रहस्य है जो इस दृश्य जगत् के मूल में कहीं छिपा है, जिसका दर्शन स्थूल इन्द्रियों से सामान्यतः नहीं होता। इस

रहस्यमय परम तत्त्व का अनुभव करने के लिए विशेष दृष्टि अर्थात् अन्तर्दृष्टि या प्रातिभज्ञान चाहिए। रहस्यदृष्टि, रहस्यवाद वास्तव में एक विशेष प्रकार की अनुभूति है, जिसकी प्राप्ति के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति

‘रहस्य’ और ‘वाद’ दोनों संस्कृत शब्द हैं। अतः यहां ‘रहस्य’ शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके विविध अर्थों पर विचार करना अपेक्षित है।

‘रहस्य’ शब्द ‘रह त्यागे’ धातु से निष्पन्न है। त्यागार्थक ‘रह’ धातु में असुन प्रत्यय जोड़ने पर रह+असुन् ‘रहस्’ शब्द बनता है।⁵

‘दिगादिभ्यो यत्’ सूत्रानुसार यत् प्रत्यय लगाने पर रहस्य शब्द निष्पन्न होता है।⁶

इस प्रकार रहस्य शब्द की ‘रहस्यते अनेनं इति रहः’, ‘रहसि भवं रहस्यम्’, ‘रहो भवं रहस्यम्’ इत्यादि व्युत्पत्तियां की जा सकती हैं।

अभिधान राजेन्द्रकोश के अनुसार रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति ‘रहः एकान्त स्तत्र भवं रहस्यम्’ है तथा रहस्य शब्द का अर्थ एकान्त किया है।⁷

रहस्य शब्द के विभिन्न अर्थ

सामान्यतयः रहस् शब्द का अर्थ एकान्त है। एकान्त में जो होता है, उसे रहस्य कहा जाता है। पाइअ-लच्छी नाम-माला कोश में ‘गुञ्जे रहस्सं’ गुह्य अर्थ में रहस्य शब्द का प्रयोग हुआ है।⁸

इसी तरह अभिधानचिन्तामणि में भी गुह्य अर्थ में रहस्य शब्द व्यवहृत हुआ है।⁹ पाइअ-सद्-महण्णव में रहस्य शब्द के अनेक अर्थ किये गए हैं, यथा—गुह्य, गोपनीय, एकान्त में उत्पन्न, तत्त्व, भावार्थ, अपवाद स्थान आदि।¹⁰ धवला में अन्तराय कर्म को रहस्य कहा गया है। अन्तराय कर्म का अविशिष्ट नाश तीन घातिय कर्मों के नाश का अविनाभावी परिणाम है और अन्तराय कर्म का नाश होने पर अघातीय कर्म दग्ध बीज के समान शक्ति रहित हो जाते हैं।¹¹

जैनेतर कोशों में भी ‘रहस्य’ शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ पाए जाते हैं। अमरकोश में रहस् का अर्थ विवक्त, विजन, छत्र, निःशलाक, रह, रपांशु और एकान्त किया गया है।¹²

मेदिनीकोश में रहस्य शब्द की दृष्टि से उसका अर्थ ‘रहस्तत्त्वे रमे गुह्ये’ जैसे प्रमाणों के आधार पर तत्त्व अथवा सार पदार्थ है।¹³

रहस्य शब्द भेद, भर्म या सारतत्त्व के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।¹⁴

इस प्रकार भिन्न-भिन्न कोशों में रहस्य शब्द में विभिन्न अर्थ होने पर भी सब अर्थों के अतिरिक्त रहस्य शब्द खेल, विनोद, मजाक, मश्करी,¹⁵ मैत्री, स्नेह, प्रेम एवं पारस्परिक सद्भाव जैसे अन्य कार्यों में भी व्यवहृत हुआ है।

विभिन्न धर्मग्रंथों में रहस्य का अर्थ

विभिन्न धर्मग्रंथों में भी रहस्य का प्रत्यय उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में ‘रहसरि वागः’¹⁶ के रहस् शब्द का प्रयोग गुह्य अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः गुह्य और रहस्य शब्द समानार्थक हैं। उपनिषद् शब्द भी रहस्यात्मक का परिवाचक है, जिसका अर्थ है—‘रहस्यमय पूजा पद्धति’।¹⁷

भगवद्गीता में इस शब्द का विशेष प्रयोग दृष्टिगत होता है। यहाँ एकान्त अर्थ में 'योगी युज्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः'¹⁸ तथा मर्म अर्थ में 'भक्तोसि में सरवा चेति रहस्यं हयेतदुकतम'¹⁹ और गुह्यार्थ में 'गुह्यद गुह्यतर',²⁰ 'सर्व गुह्यतम्',²¹ 'परम गुह्य'²² तथा आध्यात्मिक उपदेश के अर्थ में 'परम गुह्यमध्यातम् संज्ञितम्'²³ इत्यादि द्रष्टव्य है।

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में 'रहस' शब्द का प्रत्यय पाया जाता है, उसी तरह जैनागम नायाधम्मकहाओ,²⁴ उत्तराध्ययन,²⁵ पन्नावागरण,²⁶ सूयगडो,²⁷ रायपसेणी,²⁸ दसवैकालिक,²⁹ औपपातिक,³⁰ उवासगदसांग,³¹ ठाण³² इत्यादि में भी रहस्य शब्द व्यवहृत हुआ है और उनमें इसका अर्थ गुप्त बात, छिपी हुई बात, प्रच्छन्न, गोप्य, विजन, एकान्त, अकेला, गूढ, ह्रस्व, अपवाद स्थान आदि किया गया है। किन्तु रहस्य शब्द का अर्थ केवल एकान्त, गोप्य या गुह्य विषय ही नहीं है, प्रत्युत् इसका आध्यात्मिक क्षेत्र में एक विशेष अर्थ है और वह विशेष अर्थ भी हमें जैन साहित्य में मिलता है। ओघनिर्युक्ति में रहस्य शब्द का प्रयोग परम तत्त्व के रूप में हुआ है।³³ ओघनिर्युक्ति में परम रहस्य शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि आध्यात्मिक विशुद्धि से युक्त ऋषियों द्वारा प्रणीत समस्त गणिपिटक (जैन आध्यात्मिक साहित्य) का सारतत्त्व आत्म-साक्षात्कार है। यही परम रहस्य है।³⁴

वृत्तिकार ने रहस्य शब्द का अर्थ तत्त्व भी किया है।³⁵ इससे यह स्पष्ट होता है कि परमतत्त्व या आत्मत्व ही रहस्य है।

स्वयं उपाध्याय यशोविजय ने भी स्पष्ट किया है कि रहस्यानुभूति आध्यात्मिक विशुद्धि से युक्त ज्ञानीजनों को ही प्राप्त होती है। यह आत्मबोध या रहस्यानुभूति निश्चय अर्थात् सत्ता के शुद्ध स्वरूप के अवलम्बन से ही उपलब्ध होती है। निश्चयनय के आधार पर तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला ऐसा साधक व्यावहारिक नियमों के परिपालन में सजग होता है। तात्विक अनुभूति गूढ होती है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बाह्य जीवन में आवश्यक है। जो लोग परम तत्त्व की अनुभूति को वस्तुतः प्राप्त न करके निश्चय या रहस्यात्मकता की बात करते हैं, उन्हें ओघनिर्युक्तिकार ने बाह्य व्यवहार को नाश करने वाला ही कहा है।

रहस्यवाद शब्द का प्रयोग

रहस्य भावना प्राचीन है, किन्तु रहस्यवाद शब्द अर्वाचीन है। हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक काल की ही उपलब्धि कहा जा सकता है, क्योंकि प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं मध्यकालीन सन्तों की वाणी में यह शब्द इसी रूप में प्रयुक्त नहीं है। वैसे भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद से लेकर उपनिषद्, गीता, जैनागमों आदि में रहस्य का प्रत्यय आध्यात्मिक अर्थ में उपलब्ध है। आगे चलकर इस प्रत्यय का सुविकसित रूप हमें सिद्धों और नाथपंथियों के साहित्य में तथा मध्ययुगीन कबीर आदि निर्गुण सन्तों की वाणी में परिलक्षित होता है। लेकिन आधुनिक युग में हिन्दी काव्यशैली के क्षेत्र में इस शब्द ने स्वतंत्र रूप से एक वाद का ही रूप धारण कर लिया, जो रहस्यवाद के नाम से प्रचलित हुआ। इस प्रकार रहस्यवाद शब्द नितान्त आधुनिक होते हुए भी एक सुस्थापित प्राचीन परम्परा का विकास है।

हिन्दी भाषा में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य-रचना शैली के प्रसंग में ई. सन् 1927 में सरस्वती पत्रिका के मई अंक में किया। रहस्यवाद को अंग्रेजी में **Misticism** कहा जाता है। संभवतः हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग मिस्टिसिज्म के अनुवाद के रूप

में ही प्रयुक्त हुआ है। मिस्टिसिज्म शब्द का प्रयोग अंग्रेजी साहित्य में भी प्रायः 1000 के बाद ही प्रचलित हुआ है।³⁶

मिस्टिसिज्म शब्द Mystic से बना है। मिस्टिक शब्द की व्युत्पत्ति संभवतः ग्रीक शब्द Mystes मिस्टेस अथवा Mystes मस्टेस से हुई है, जिसका अर्थ है—किसी गुह्य ज्ञान प्राप्ति के लिए दीक्षित शिष्या।³⁷

मराठी भाषा में मिस्टिसिज्म के लिए 'गूढवाद' या 'गूढगु जन' जैसे शब्द पाये जाते हैं³⁸ और बंगाली भाषा में इसके लिए अधिकतर मरमियावाद शब्द का प्रयोग किया गया है।³⁹

ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक काल में जब काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, वस्तुवाद जैसेवादों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, तभी सन् 1920 ई. के लगभग रहस्यवाद का भी नामकरण हुआ। इतना स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य क्षेत्र में सन् 1920 के पहले रहस्यवाद शब्द का प्रयोग कहीं परिलक्षित नहीं होता। बीसवीं शती के द्वितीय दशक में बंगला और प्रारम्भ में छायावाद को ही रहस्यवाद कहा जाने लगा, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में जब छायावाद की आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगी, तब संभवतः उसी की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद का प्रयोग आधुनिक युग की देन है।

रहस्यवाद की विविध व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ

हिन्दी साहित्य का रहस्यवाद एक ऐसा नया शब्द है, जिसके सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में इसके स्वरूप, अर्थ, प्रकार एवं परिभाषा व्याख्या आदि के विषय में भिन्न-भिन्न धारणाएँ रही हैं। इसी कारण इसमें विविधरूपता और अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। परिणामतः रहस्यवाद की अभी तक कोई समुचित सर्वसामान्य और सामान्य परिभाषा स्वीकृत नहीं हुई है, फिर भी पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के द्वारा रहस्यवाद को जिन परिभाषाओं में बांधने का प्रयास किया गया है, उनका संक्षेप में अवलोकन करना समीचीन होगा।

मनोवैज्ञानिक के आधार पर की गई रहस्यवाद की परिभाषाओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. चेतना के रूप में,
2. संवेदन (भावात्मक बोध) के रूप में,
3. अनुभूति के रूप में,
4. मनोवृत्ति के रूप में।

1. चेतना के रूप में—रहस्यवाद की चेतना के रूप में व्याख्यायित करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में प्रथम आर.एल. नेटलशिप है। उनके अनुसार सच्चा रहस्यवाद है इस बात का ज्ञान है, जाना कि जो कुछ हमारे अनुभव में आता है अर्थात् अपने वास्तविक रूप में वह अपने से किसी अधिक वस्तु का प्रतीक मात्र है।⁴⁰

इसी तरह वाल्टर टी. स्टेस के मतानुसार 'रहस्यवाद' में किसी अन्तर्दृष्टि एकता का बोध होता है।⁴¹ यहाँ एकता का संवेदन अन्तिम सत् की ओर ले जाता है और इस तरह चेतना का संबंध उस अनिर्दिष्ट एक ही तत्त्व से जुड़ता है।

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन में रहस्यवाद की विशिष्टता इस रूप में बताई गई है कि आत्मा अपनी आंतरिक उड़ान में व्यक्त और दृश्य का सम्बन्ध अव्यक्त और अदृश्य सत्ता के साथ जोड़ना चाहती है, जो रहस्यवाद की सर्वसम्मत विशेषता है।⁴² ऐसी चेतना को विलियम जेम्स बौद्धिक चेतना से पृथक् करते हुए कहते हैं—“यह रहस्यात्मक चेतना एक नितान्त नवीन प्रकार की चेतना है और हम इसे साधारण बौद्धिक चेतना से कुछ पृथक् ठहरा सकते हैं। मात्र इतना ही नहीं, जेम्स इसके लिए Sensory Intellectual Consciousness जैसे शब्द का प्रयोग भी करते हैं।⁴³ उन्होंने इसे मस्तिष्क सम्बन्धी बौद्धिक चेतना जैसा विचित्र नाम भी दिया हुआ है।”

2. संवेदन—वास्तव में रहस्यवाद में मात्र चेतना ही नहीं होती, संवेदन भी होता है। संवेदन के रूप में रहस्यवाद को परिभाषित करने वाले पाश्चात्य विद्वान् फ्लेइडरर का कथन है कि रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता का स्पष्ट संवेदन है, जिस कारण इसे हम इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते कि अपने मूल रूप में यह केवल एक धार्मिक संवेदन मात्र है, परन्तु जिसके कारण यह धर्म के अन्तर्गत किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का स्थान ग्रहण करता है, वह है ईश्वर में, ईश्वरत्व के अनुरूप अपने जीवन का पूर्ण तादात्म्य। इस प्रकार ऐसे समस्त साधनों एवं भागों में पृथक् रहकर जो हमारे लिए प्रायः माध्यमों का काम कर दिया करते हैं, वह एक पवित्र संवेदन के जीवन में प्रवेश भी कर जाता है तथा वहाँ पर उसके एकान्त अन्तर्वर्तितत्त्व में अपना कोई चिरस्थायी निवासस्थान बना लेना है।⁴⁴

आइन्स्टीन जैसा वैज्ञानिक भी ऐसा संवेदन अनुभव करने पर लिखता है, “सबसे सुन्दर वस्तु जिसे कि हम अनुभव कर सकते हैं, वह रहस्यवादी है और वह मूलतः भाव है।”⁴⁵ प्रसिद्ध दार्शनिक बर्टन्ड रसेल भी रहस्यवाद को संवेदन के रूप में परिभाषित करता है। उनके अनुसार रहस्यवाद तत्त्वतः संवेदन की उस तीव्रता और गम्भीरता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो अपनी विश्वात्मक भावना के प्रति अनुभूत की जाती है।⁴⁶ रसेल की इस परिभाषा से फ्लेइडरर के मत का समर्थन होता है। फ्लेइडरर जहाँ ईश्वर के अव्यवहित सान्निध्य की चर्चा करते हैं, वहीं रसेल महोदय ने उसी बात को मात्र आस्था शब्द के द्वारा अभिव्यक्त कर दिया है।⁴⁷

3. अनुभूति के रूप में—अनुभूति के रूप में रहस्यवाद की व्याख्या करने वाले विलियम जेम्स के अनुसार, “रहस्यवाद उस मनोदशा को सूचित करता है, जिसमें अनुभूति अव्यवहित बन जाती है। तज्जन्य आनन्दातिरेक को किसी अन्य के प्रति सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता।” इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए अन्यत्र उन्होंने यह भी कहा है—“अपने हर्षातिरेक की असम्प्रेषणीयता ही रहस्यवादी समस्त दशाओं की एकमात्र व्याख्या ठहरायी जा सकती है।” इस प्रकार का हर्षातिरेक उस अनुभूति में प्रकट होता है, जिसमें न केवल हम किसी निरपेक्ष सत्ता के साथ एकरूप हो जाते हैं, प्रत्युत् वैसी एकरूपता का हमें आभार भी हो जाया करता है।⁴⁸

इवेलिन अण्डरहिल का कथन है कि “रहस्यवाद भगवत् सत्य के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है, जिसने न्यूनाधिक रूप में इस एकता को प्राप्त कर लिया है, अन्यथा जो उसकी प्राप्ति में विश्वास करता है और जिसने इस एकता सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।”⁴⁹ अण्डरहिल के अनुसार इस परिभाषा में व्यक्ति और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, साथ ही दोनों में एकता स्थापना की संभावना भी की गई है। लामा एनागोरिक गोविन्द, विलियम जेम्स के कथन का समर्थन करता है। जहाँ जेम्स हर्षातिरेक की चर्चा करता है, वहाँ लामा ऐसे अनुभव

को केवल प्रातिभ अनुभूति की संज्ञा देकर रह जाता है। लामा गोविन्द के मतानुसार भी “रहस्यवाद असीम तथा जो कुछ भी अस्तित्व में है, उस समग्र की विश्वात्मक एकता की प्रातिभ अनुभूति है और इसके अन्तर्गत समग्र चेतना समस्या जीवन तत्त्व तक आ जाता है।⁵⁰ जबकि रुडोल्फ ओहो के अनुसार, रहस्यवाद सीमित में असीम को धारण करने के लिए है। वे उसे अनन्त का रहस्यवाद कहते हैं।⁵¹

4. मनोवृत्ति के रूप में—रहस्यवाद को मनोवृत्ति के रूप में व्यक्त करने वाले वान हार्टमैन का कथन है, “रहस्यवाद चेतना का वह तृप्तिमय बोध है, जिसमें विचार, भाव एवं इच्छा का अंत हो जाता है तथा जहाँ अचेतना से ही उसकी चेतना जागृत होती है।⁵² इसी तरह इ. केयर्ड रहस्यवाद को चित्त की मनोवृत्ति विशेष कहते हैं। रहस्यवाद अपने चित्त की वह विशेष मनोवृत्ति है, जिसके बन जाने पर अन्य सारे संबंध ईश्वर के प्रति आत्मा के सम्बन्ध के अन्तर्गत जाकर विलीन हो जाते हैं।⁵³ केयर्ड की इसी परिभाषा की अपेक्षा आर.डी. रानाडे ने इसकी अधिक समीचीन व्याख्या की है। उनके अनुसार मात्र ईश्वर के साथ ही सम्बन्ध नहीं होता है, अपितु आनन्द का भी अनुभव होता है।

हीलर ऐसी मानसिक अनुभूति को अनन्त के प्रति समर्पण और समाधि बताते हैं। उनके अनुसार, “रहस्यवाद में मूलभूत मानसिक अनुभूति जीवन के आवेग से इन्कार है, जीवन की थकान से इन्कार है। अनन्त को निःसंकोच समर्पण और जो समाधि है, उसकी पराकाष्ठा है। रहस्यवाद जीवन की निष्क्रियता, शान्तता, वीतरागी और चिन्तनशील है।”⁵⁴

सी.एफ.ई. स्पर्जन रहस्यवाद का स्वभाव विशेष और वातावरण विशेष कहते हैं। उनके अनुसार वास्तव में रहस्यवाद किसी धार्मिक मत की अपेक्षा एक स्वभाव विशेष है और दार्शनिक पद्धति की अपेक्षा एक वातावरण विशेष है।⁵⁵

इस प्रकार चेतना, संवेदना, अनुभूति और मनोवृत्ति के रूप में रहस्यवाद की उपर्युक्त व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ उसके दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही अभिव्यक्त करती हैं। ये केवल शास्त्रीय पहलू पर बल देती हैं, उसकी व्यावहारिकता पर नहीं।

विशुद्ध चेतना को महत्त्व देने वाली रहस्यवाद की व्याख्याएँ मानसिक वृत्तियों के मूल स्रोत तक अथवा अन्तिम सूक्ष्म ज्ञानपरक स्थिति तक ले जाकर कोई तत्त्वज्ञान का ही परिचय देती प्रतीत होती है।

संवेदन को व्याख्यायित करने वाली परिभाषाओं में भी यही दोष परिलक्षित होता है। यद्यपि ‘अनुभूति’ परक परिभाषाएँ व्यावहारिकता का विचार करती हैं, तथापि वे व्यक्तिगत सीमा तक ही सीमित हैं और उससे भी आन्तरिक संवेदन की ही प्रधानता दिखाई देती है। अन्तिम मनोवृत्ति परक व्याख्याओं में व्यावहारिक रूप दृष्टिगत होता है और उसे मनोवृत्ति अथवा स्वभाव विशेष बताया गया है। साथ ही वह एकमात्र आन्तरिक प्रक्रिया नहीं रहती। तदुपरान्त वह व्याख्या भी आध्यात्मिक दृष्टि से मार्गरक्षक से अधिक महत्त्व की पहलू पर चिन्तन दिया है। अतः इन व्याख्याओं के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये व्याख्याएँ एकांगी हैं।

इन पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कुछ अन्य पाश्चात्य चिन्तकों ने भी रहस्यवाद की परिभाषाएँ देने की चेष्टा की है। उनमें से एफ.डब्ल्यू.ई. हार्किंग हैं, जिन्होंने रहस्यवाद को साधन के रूप में स्वीकार किया है।

रहस्यवाद ईश्वर के साथ व्यवहार करने का मार्ग है।⁵⁶ दूसरे शब्दों में, वह ईश्वर की उपासना, साधना का एक प्रकार मात्र है। चार्ल्स बेनेट रहस्यवाद को जीवन की पद्धति के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं—“रहस्यवाद का अर्थ कभी विचारप्रधान रहस्यवाद किया जाता है और उसे एक ऐसा दार्शनिक मत मान लिया जाता है, जो परमात्मतत्त्व की मात्र एकता का तथा विभिन्न जीवात्माओं और सीमित पदार्थों के उसमें विलीन हो जाने का प्रतिपादन करता है। परन्तु ऐसे सिद्धान्तों के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। हम रहस्यवाद को जीवन की एक ऐसी पद्धति के रूप में देखते हैं, जिसका मुख्य अंग ईश्वर का अव्यवहित अनुभव कहा जा सकता है।”⁵⁷

भारतीय विद्वानों के अनुसार रहस्यवाद की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—डॉ. महेन्द्रनाथ सरकार रहस्यवाद को तर्कशून्य माध्यम बताते हुए लिखते हैं—“रहस्यवाद सत्य और वास्तविक तथ्य तक पहुंचने का ऐसा माध्यम है, जिसे निषेधात्मक रूप में तर्कशून्य कहा जा सकता है।”⁵⁸

किन्तु डॉ. राधाकमल मुकर्जी रहस्यवाद को न केवल किसी एक साधन के रूप में अपितु एक विशिष्ट कला के रूप में भी परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार, “रहस्यवाद भीतरी समायोजन विषयक वह कला है, जिसके द्वारा मनुष्य विश्व का, उसके विभिन्न अंगों की जगह उसमें अखण्ड रूप में बोध करता है।”⁵⁹ रहस्यवाद को मात्र साधन और कला के रूप में ही नहीं, प्रत्युत् जीवन पद्धति के रूप में व्याख्यायित करने वाले विद्वानों में स्व. वासुदेव जगन्नाथ कीर्तिकर एवं डॉ. राधाकृष्णन् हैं। स्व. वासुदेव कीर्तिकर का कथन है कि रहस्यवाद एक आचार प्रधान अनुशासन है, जिसका लक्ष्य उस दिशा को प्राप्त कर लेना रहता है, जिसे किसी यूरोपीय रहस्यवादी के अनुसार मनुष्य का ईश्वर के साथ मिलने अथवा अपने अन्दर रही हुई आत्मानुभूति को उपलब्ध करना या ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करना कहा जाता है....यह तत्त्वतः और मूलभूत रूप में एक वैज्ञानिक श्रद्धा है और सभी तरह से व्यावहारिक भी है।⁶⁰ इसी प्रकार डॉ. राधाकृष्णन् रहस्यवाद के मानवीय प्रवृत्ति का एक सतत अभ्यास सिद्ध करना चाहते हैं, जिसका परिणाम आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि है।⁶¹ अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि हिन्दू धर्म एक विचारधारा की अपेक्षा एक जीवनपद्धति है। जहाँ विचार के क्षेत्र में वह स्वतन्त्रता प्रदान करता है, वहीं व्यवहार के क्षेत्र में कोई कठोर आचार-संहिता भी निर्दिष्ट कर देता है।⁶²

उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ रहस्यवाद को धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखती हैं। डॉ. एस.एन. दासगुप्ता के अभिमतानुसार “रहस्यवाद कोई बौद्धिकवाद नहीं है, यह मूलतः एक सक्रिय, रूपात्मक, रचनात्मक, उन्नायक तथा उत्कर्षप्रद सिद्धान्त है।इसका अभिप्राय जीवन के उद्देश्यों तथा उसके प्रश्नों को उससे कहीं अधिक वास्तविक और अन्तिम रूप से आध्यात्मिक रूप में ग्रहण कर लेना है जो कि शुष्क तर्क की दृष्टि से कदापि समझा नहीं जा सकता है।..... रहस्यवादपरक विकासोन्मुख जीवन का अर्थ आध्यात्मिक मूल्य, अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार कल्पित सोपान द्वारा क्रमशः ऊपर चढ़ते जाना है। इस प्रकार अपने विकास की दृष्टि से बहुमुखी भी है और यह उतना ही समृद्ध होता है, जितना स्वयं जीवन के लिए कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद सभी धर्मों का मूल आधार बन जाता है और यह विशेषतः उन लोगों के जीवन में उदात्त होता दिख पड़ता है, जो वस्तुतः धार्मिक होते हैं।⁶³ यद्यपि डॉ. दासगुप्ता की यह व्याख्या रहस्यवाद का मूल स्रोत, कार्य, पद्धति, स्वरूप और आदर्श का स्पष्टीकरण करती है, फिर भी इसमें रहस्यात्मक भावना का समावेश नहीं हुआ है। अतः परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार—रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है, जिसका मूल

आधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट या निर्विशेष एकता या परमात्मतत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसमें व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो सकता है।⁶⁴ इस व्याख्या के अनुसार रहस्यवाद एक जीवन-दर्शन बनता है, जो निर्विशेष एकता की अनुभूति से उसमें व्यवहार के विकासोन्मुख स्वरूप का ख्याल कराती है।

डॉ. आर.डी. रानाडे के अनुसार, “रहस्यवाद मन की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो परमात्मा से प्रत्यक्ष तात्कालिक, प्रथम स्थानीय और अन्तर्ज्ञानीय सम्बन्ध स्थापित करती है।”⁶⁵ डॉ. वासुदेव सिंह के मतानुसार, “वस्तुतः अध्यात्म की चरम सीमा ही रहस्यवाद की जननी है।”⁶⁶

डॉ. रामनारायण पाण्डेय के अनुसार, “रहस्यवाद मानव की वह प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य को साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा साक्षात्कारजन्य आनन्द एवं अनुभव को आत्मरूप में प्रसारित करता है।”⁶⁷

डॉ. रामकुमार वर्मा रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं “रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।”⁶⁸

डॉ. कस्तुरचंद कासलीवाल का रहस्यवाद के सम्बन्ध में कथन है कि आध्यात्मिक उत्कर्ष सीमा का नाम रहस्यवाद है।⁶⁹

इसी तरह डॉ. पुष्पलता जैन का रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहना है कि, “रहस्य भावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है, जिसके माध्यम से साधन स्वानुभूति पूर्वक आत्म-तत्त्व से परमात्मतत्त्व में लीन, तल्लीन, एक्येक हो जाता है।”⁷⁰

रहस्यवाद के प्रकार

रहस्यवाद की विविध व्याख्याओं एवं परिभाषाओं के आधार पर प्राप्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रहस्यवाद को विभिन्न रूपों में विभक्त करने का प्रयास किया गया है। किसी ने इसे योग से सम्बद्ध किया है तो किसी ने इसे भावनात्मक माना है। किसी ने काव्यात्मक रहस्यवाद के नाम से परिभाषित किया है तो किसी ने इसे मनोवैज्ञानिक रहस्यवाद कहा है। इस प्रकार साहित्यकारों ने रहस्यवाद को एक नहीं, अनेक रूपों में देखने की चेष्टा की है, यथा—प्रकृतिमूलक रहस्यवाद, धार्मिक रहस्यवाद, दार्शनिक रहस्यवाद, साहित्यिक रहस्यवाद, आध्यात्मिक रहस्यवाद, रासायनिक रहस्यवाद, प्रेममूलक रहस्यवाद, अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद आदि।

मार्डन इण्डियन मिस्टिसिज्म में रहस्यवाद के तीन प्रकारों की चर्चा की गई है—

1. डिवीशनल मिस्टिसिज्म (भक्तिमूलक रहस्यवाद),
2. इन्टेलेक्चुअल मिस्टिसिज्म (बौद्धिक रहस्यवाद),
3. एक्टिविटीक मिस्टिसिज्म (क्रियात्मक रहस्यवाद)।⁷¹

कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन में कबीर और जायसी के अनेकविध रहस्यवादों का उल्लेख किया गया है। उसमें कबीर ने तीन प्रकार के रहस्यवाद का निर्देश किया है—1. अनुभूतिमूलक, 2. योगमूलक और 3. अभिव्यक्ति मूलक आदि रहस्यवाद।⁷²

इसी तरह जायसी के पाँच प्रकार के रहस्यवाद बताये गए हैं, जैसे—1. आध्यात्मिक रहस्यवाद, 2. प्रकृतिमूलक रहस्यवाद, 3. प्रेममूलक रहस्यवाद, 4. योगमूलक रहस्यवाद, 5. अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद।⁷⁵

एस.एन. दासगुप्ता ने हिन्दू मिस्टिसिज्म में रहस्यवाद का एक वर्गीकरण याज्ञिक रहस्यवाद अथवा कर्म काण्डात्मक रहस्यवाद के रूप में भी किया है।⁷⁴

डॉ. राजेन्द्र सिंह रायजादा ने रहस्यवाद नामक पुस्तक में रहस्यवाद के विभिन्न रूपों की चर्चा की है। उसमें सर्वप्रथम रहस्यवाद को दो भागों में विभक्त किया गया है—1. एक प्रेम और ऐक्य का रहस्यवाद, 2. दूसरा ज्ञान और समझ का रहस्यवाद।

अन्य दृष्टिकोणों से उसमें रहस्यवाद के तीन भेद किये गए हैं—1. आत्म रहस्यवाद, 2. ईश्वर रहस्यवाद और 3. प्रकृति रहस्यवाद।

इसके अतिरिक्त उसमें साधनात्मक रहस्यवाद, कृतक रहस्यवाद तथा प्रेतात्मा रहस्यवाद का भी उल्लेख किया है।⁷⁵ किन्तु डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र ने कबीर ग्रंथावली में रहस्यवाद के मूलतः दो भेदों का ही संकेत किया है—1. भावनात्मक रहस्यवाद, 2. साधनात्मक रहस्यवाद।⁷⁶

वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में रहस्यवाद के ये दो ही रूप अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। भावनात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आध्यात्मिक आत्मिक दार्शनिक रहस्यवाद का भी समावेश हो जाता है। परमतत्त्व रूप साध्य को प्राप्त करने में ये दो रूप ही सहायक होते हैं।

साधना और भावना के द्वारा ही साधक दृष्टि तत्त्व में अदृष्टि तत्त्व की परम अनुभूति करता है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में अध्यात्मयोगी उपाध्याय यशोविजय ने रहस्यवाद के सम्बन्ध में हमें मूलतः साधनात्मक, भावनात्मक और अध्यात्मक भाषात्मक रहस्यवाद की ही विवेचना करेंगे, क्योंकि उनकी रचनाओं में उक्त रहस्यवादों का ही उल्लेख पाया जाता है।

रहस्यवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उपाध्याय यशोविजय के रहस्यवाद की विवेचना करने के पूर्व रहस्यवाद की उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित होना नितान्त आवश्यक है, जिसे हिन्दी के मध्यकालीन सन्त साहित्य में प्रवहमान रहस्य साधना की उद्गम स्थली कही जा सकती है।

आदिकाल से मानव मन की जिज्ञासा, रुचि दृश्य पदार्थों से सन्तुष्ट होती हुई नहीं जान पड़ती। वह कुछ और जानना, पाना चाहता है। भारत में रहस्यमय परमतत्त्व की खोज प्राचीनकाल से होती रही है और इस रूप में रहस्यभावना के बीच प्राचीनतम भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध है। भारतभूमि में परमतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले अनेक ऋषि-महर्षि, रहस्यद्रष्टा, सन्त-साधक हो गये हैं, जिन्होंने इस रहस्यानुभूति का परम आस्वादन किया है। रहस्य द्रष्टाओं की अनुभूतियाँ ही जब भाषा में अभिव्यक्त होती हैं तब वे रहस्यवाद कहलाती हैं।

मानव मन सहज ही इतना जिज्ञासु है कि वह जानना चाहता है कि आत्मा क्या है, जगत् क्या है और इन दोनों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय जगत् का वह परमतत्त्व क्या है, जिसे परमात्मा या परब्रह्म कहा जाता है। यह सत्य है कि सामान्यतः जो दृश्य तत्त्व है उनके प्रति जिज्ञासा नहीं होती, क्योंकि उनका अनुभव इन्द्रिय ग्राह्य होता है। जब दृश्य से परे अदृश्य तत्त्व की अनुभूति होती है तब रहस्य का जन्म होता है। इस प्रकार जो तत्त्व अदृश्य होकर भी अस्तित्व बनाये रखता है, उसके प्रति जिज्ञासा

होना स्वाभाविक है। उसी प्रकार इस दृश्य जगत् के अतिरिक्त भी और कोई परम सत्ता, परमतत्त्व या परमसत्य है जो अतीन्द्रिय, अदृश्य एवं अरूपी है। उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है। ऐसी भावना जब मानव मन में उद्भूत होती है तब उसका साक्षात्कार करने के लिए साधक व्यावहारिक भूमिका से ऊपर उठकर यथार्थ की, सत्य की खोज में विविध आध्यात्मिक साधना में संलग्न होता है। साधना, भावना, भाषा एवं अध्यात्म के द्वारा वह उस रहस्यमय परमतत्त्व से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है।

वेदों में रहस्यवाद

सर्वप्रथम रहस्य भावना के बीज, मूल हमें वेदों में मिलते हैं। उनमें पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए रहस्य द्रष्टाओं की रहस्यानुभूति अभिव्यक्त हुई है। वैदिक मान्यतानुसार वेद वाणी रहस्यमय कही जाती है। वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। यही कारण है कि वेद मंत्रों के रचयिता ऋषियों को मंत्रों का द्रष्टा कहा गया है। ऐसा कहा जाता है कि उन वेद मंत्रों का ज्ञान उन्हें प्रातिभ अनुभूति से हुआ।

वेदों में निहित ज्ञान प्रतीकों द्वारा स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेद में अगिरस ऋषि अग्नि का ही स्वरूप है, जो दिव्य संकल्प शक्ति का प्रतीक है।⁷⁷ इसी तरह गो शब्द ज्योति, ज्ञान की रश्मियों का वाचक है। उषा को 'गवानेत्री' गौओं को प्रेरित करने वाली कहा गया है।⁷⁸ इसके अतिरिक्त देवों की प्रार्थना तथा अनेकविध पदों का विधान भी वेदों में है। इसीलिए संभवतः डॉ. दास गुप्ता ने उसे 'याज्ञिक रहस्यवाद' जैसा नाम दिया है। चार वेदों में से ऋग्वेद में रहस्यवाद की सर्वाधिक अभिव्यंजना हुई है।

रहस्यात्मक प्रत्यक्ष का वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है। इसमें इन्द्रिय गोचर सम्पूर्ण सृष्टि के अस्तित्व एवं सृजन के सम्बन्ध में रहस्यात्मक अनुभूति से युक्त एक ऋषि के अनुभव का वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है—

ना सदासीन्नो सदासीत्तदानी नासीद, रजो नो व्योमा परोयत्,
किमावदीवः? कुहकस्य शर्मन? अम्मः किमासीद् गहनं गंभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अहनः आक्षीत् प्रदेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं नस्काहान्यत्र परः किं च नास ॥⁷⁹

अर्थात् आदि में न सत् था और न असत्, न स्वर्ग था और न आकाश, किसने आवरण डाला, किसके सुख के लिए? तब अगाध और गहन जल भी कहाँ था? तब न मृत्यु थी, न अमृत। रात और दिन के अन्तर को समझने का भी कोई साधन नहीं था। वह अकेला ही अपनी शक्ति से वायु के न होते हुए भी श्वास-प्रश्वास ले रहा था। इसके अतिरिक्त इसके परे कुछ न था।

ऋग्वेद के 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' सूत्र में भी रहस्यात्मकता परिलक्षित होती है। उसमें कहा गया है—

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमादुरयो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहु ॥⁸⁰

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुवर्ण, यम, मातरिश्वान इत्यादि पृथक्-पृथक् देवता इसी एक के अनेक रूप हैं। वस्तुतः सत्य पदार्थ एक ही है, किन्तु विद्वान् उसे विविध नामों से परिभाषित करते हैं।

रहस्यमय ब्रह्म की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन भी ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के इस रूप में हुआ है—

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्याऽत्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ।।⁸¹

अर्थात् यही व्यापक विराट तत्त्व हजारों हाथ, पैर, आंख और सिखाला पुरुष है। सारी पृथ्वी को ढककर परिमाण में देश अंगुल अधिक है। इसी तरह ब्रह्म की रहस्यात्मयता या उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।⁸²

उपनिषदों में रहस्यवाद

रहस्यात्मक भावना का विकसित रूप उपनिषद् साहित्य में उपलब्ध होता है। उसमें ब्रह्मविद्या, ब्रह्मविद्या की रहस्यमयता एवं गोपनीयता का वर्णन है। इसके अतिरिक्त उसमें आत्मा का स्वरूप, आत्मा की महत्ता और उसे ज्ञान, बुद्धि, प्रवचन श्रवण आदि से अप्राप्य माना गया है। परा तथा अपरा विद्या की रहस्यात्मकता भी सुन्दर ढंग से प्रतिपादित है। इसी तरह उपनिषदों में योग संबंधी विधान, नेति-नेति के द्वारा सत्य के स्वरूप का वर्णन, ज्योतिर्मय पात्र में विहित सत्य-ब्रह्म का चित्रण, प्रिया आलिंगनवत्, अन्तःबाह्य अभेद एवं साक्षात्कार की स्थितियों के क्रमिक विकास आदि रहस्यात्मक भावना के संकेत सूत्र उपलब्ध होते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में विश्वात्मक सत्ता की एकता एवं उसके स्वरूप निर्धारण में रहस्यवाद की झलक निम्नांकित रूप में अभिव्यंजित हुई है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।⁸³

वह परमात्मा पूर्ण है। यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण मिलता है। पूर्ण में से निकलने के बाद जो बचता है, वह भी पूर्ण है। दूसरे शब्दों में वह वक्ता पूर्ण है तथा जो कुछ उसका कार्य रूप समझा जा सकता है, वह भी पूर्ण है और इस दूसरे पूर्ण के उसमें लीन हो जाने पर फिर वही पूर्ण रह जाता है। उक्त विधान का अभिप्राय यह है कि वह नित्य एवं अद्वैत है।

केनोपनिषद् में ब्रह्म स्वयं ही रहस्यमय बना हुआ है। उसमें कहा गया है कि जो यह समझता है कि मैंने ब्रह्म को समझ लिया है, वह उसका स्वल्प ही जानता है⁸⁴ व वास्तव में अनिर्वचनीय है। अतः यही कहा जा सकता है कि जो ऐसा समझता है कि ब्रह्म को मैंने पूर्णतया नहीं समझा है, वही उसको समझता है। जिसको यह अभिमान है कि मैं ब्रह्म को समझता हूँ वह उसको नहीं समझता। जो यह कहते हैं कि हमने उसको जान लिया है, वे उसको नहीं जानते। जो ज्ञानी होते हुए भी कहते हैं कि हम उसको नहीं जानते, वास्तव में उन्हीं को ब्रह्म विज्ञात है।⁸⁵

ज्योतिर्मय पात्र से विहित सत्य ब्रह्म को रहस्य का प्रतीक बताते हुए ईशोपनिषद् एवं बृहदारण्योपनिषद् में कहा गया है कि—

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पुषन्नपावृणु सत्यधर्माप द्रष्टये ।।⁸⁶

अर्थात् सत्य का वास्तविक तत्त्व का मुख सुवर्णमय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन! तू उस ढक्कन को हटा दे, जिससे उस सत्य धर्म की वास्तविक तत्त्व की साक्षात् प्रतीति मुझे हो सके।

उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी और उत्पत्ति पूर्व अस्तित्व सम्बन्धी चिंतन पाया जाता है। उत्पत्ति पूर्व अस्तित्व सम्बन्धी चिन्तन में रहस्यभावना का दिग्दर्शन हुआ है।⁸⁷

तैत्तिरीयोपनिषद् में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार हृदय में होता है। इस हृदय में जो आकाश है, उसमें यह विशुद्ध प्रचार स्वरूप मनोमय पुरुष रहता है। यह परमतत्त्व रहस्यमय होकर आनन्द स्वरूप है।⁸⁸

श्वेताश्वेतर कठोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मा गुहकयां निहितोऽस्य जन्तोः।

अर्थात् यह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा इस जीव के अन्तःकरण में स्थित है।⁸⁹ इतना ही नहीं, कठोपनिषद् में रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता भी व्यक्त हुई है।

नैव वाचा न मनसां प्राप्तुंशक्यो न चक्षुषा।

अस्तीति ब्रुवतीऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।⁹⁰

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपनिषदों में ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा आदि का सम्यक् चिंतन प्रतीत होता है। वेदों की अपेक्षा औपनिषदिक साहित्य में आत्मा और परमात्मा में अद्वैत पर आधारित रहस्य भावना का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करना ही उपनिषदों का रहस्य है।

भगवद् गीता, भागवत पुराण एवं भक्तिसूत्र में रहस्यवाद

न केवल वेदों एवं उपनिषदों में अपितु भगवद् गीता में भी रहस्यमय तत्त्वों की विचारणा पाई जाती है। भगवद् गीता के ग्यारहवें अध्याय में रहस्यात्मक अनुभूति का वर्णन अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में उपलब्ध है। अर्जुन कहता है—

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।⁹¹

अर्थात् उस विराट स्वरूप का न आदि है, न मध्य और न अन्त है। गीता में वर्णित विश्वरूप की कल्पना अद्वैतमूलक रहस्य भावना का चरम विकास है।

भागवत पुराण, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र एवं नारद भक्ति सूत्र में भी भक्तिपरक रहस्यवादी भावना का सम्यक् निदर्शन हुआ है।

प्रो. आर.डी. रानाडे के अनुसार भागवत पुराण भारत के प्राचीन रहस्यवादी के वर्णन तथा भावोद्गारों का कोष है।⁹²

भागवत में सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवन चरित्र और साधनापद्धति का रहस्यमय वर्णन है।⁹³

हिन्दी के मध्यकालीन सन्त और भक्त साहित्य पर भागवत पुराण का सर्वाधिक प्रभाव है। भागवत की तरह शाण्डिल्य और नारद भक्ति सूत्रों में भी भक्तिमूलक रहस्यवादी भावना का वर्णन हुआ है। इनमें गौणी भक्ति और मुख्य रूप से प्रेमा भक्ति का सम्यक् विवेचन है। साथ ही भगवत् प्रेम में स्वरूप को अनिर्वचनीय कहा गया है।⁹⁴

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि भागवत पुराण भक्ति सूत्र एवं नारद ऋषि सूत्र रहस्यवादी चिन्तन के विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बौद्ध धर्म में रहस्यवाद

समस्त वैदिक साहित्य में मुख्यतः अद्वैत तत्त्व के आधार पर रहस्य भावना की अभिव्यक्ति हुई है। इसके फलस्वरूप तत्त्व-चिन्तन में निराकार ब्रह्म की उपासना का विकास हुआ किन्तु वेद और उपनिषदों में उसके साथ-साथ सगुण उपासनाएँ भी वर्णित हैं। सामान्य जन के लिए निराकार ब्रह्म की उपासना अत्यन्त कठिन प्रतीति होती है, इसीलिए संभवतः सगुणोपासना की आवश्यकता महसूस की गई।

वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड की अधिकता के परिणामस्वरूप जैन एवं बौद्ध धर्मों का विकास हुआ। बौद्ध धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—हीनयान और महायान। महायान शाखा में अमिताभ बुद्ध की उपासना की जाती है, साथ ही इसमें रहस्यात्मक-साधना के भी दर्शन होते हैं। इसका कारण यह है कि बौद्ध धर्म में महायान शाखा तान्त्रिक मानी जाती है। प्राचीन महायान में से ही मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान पंथ का उद्भव हुआ।

तान्त्रिक बौद्ध साधना में प्रमुख रूप से साधनात्मक रहस्यवाद पाया जाता है, क्योंकि इसमें तान्त्रिक क्रियाएँ प्रयुक्त हुई हैं। इस साधना का मुख्य लक्ष्य है—बिन्दुसिद्धि। बौद्ध तान्त्रिक परिभाषा में बिन्दु ही बोधचित्त नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध तान्त्रिक साहित्य में षड्योग का उपयोग विशेष रूप से किया गया है। इसमें साधनात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त काव्यगत और सौन्दर्यानुलक्षी रहस्यवाद अथवा भावनात्मक रहस्यवाद दृष्टिगत नहीं होता। वस्तुतः बौद्ध धर्म में व्यावहारिक साधना और आंतरिक सूक्ष्म तत्त्वों का निर्देश हुआ है। इसलिए इसमें यौगिक अथवा साधनात्मक रहस्यवाद का पाया जाना स्वाभाविक है।

(अ) सिद्ध सम्प्रदाय में रहस्यवाद

चौरासी सिद्धों को कहीं पर वज्रयानी और कहीं पर सहजयानी नाम से भी अभिहित किया जाता है। किन्तु 84 सिद्ध कौन थे, इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं। यद्यपि प्रमुख रूप से सरहपा, लुइपा, कहयपा, तन्तिया, भुसुकपा आदि को सिद्धों की संज्ञा से संबोधित किया जाता है तथापि इन सिद्धों की संख्या अनिश्चित है। आदि सिद्ध के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं है। सिद्धों के काल के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है।

सिद्ध अपनी साधना को प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट करते हैं। उन्होंने उलटीबानी के द्वारा भी रहस्य को प्रकट किया है।⁹⁵

सिद्ध तन्तिया की अटपटी बानी भी रहस्यपूर्ण है।⁹⁶ सिद्ध लुइपा ने (सं. 830) साधना को गूढ़ रखने की दृष्टि से प्रतीकों की योजना निम्न रूप में की है—

काआ तरुवर पंच बिडाल, चंचल चीए पइडो काल।

दिअ करिअ महासुण परिमाण लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।⁹⁷

अर्थात् इस कायारूपी वृक्ष में बिल्लीरूप पांच विघ्न हैं। (बौद्ध ग्रंथों में ये पांच विघ्न—हिंसा, काम, आलस्य, विचिकित्सा तथा मोह माने गये हैं।) इन पांच विकारों की संख्या को निर्गुणधारा के सन्तों एवं हिन्दी के सूफी कवियों ने भी अपनाया है।

कहपा सिद्ध (सं. 900) ऊपर भी ईड़ा-पिंगला को गंगा-यमुना के प्रतीकों द्वारा योग की क्रियाओं का वर्णन करते हैं—

गंगा जमुना मांझरे बहई नाई ।
तहि बुडिलि मातंगि पोइला लीले पार करेई ।।⁹⁸

सिद्धों की वाणी में यौगिक और तान्त्रिक क्रियाओं के कारण नाड़ी, षट्चक्र, अनहतनाद बिन्दु इत्यादि तत्त्वों की आन्तरिक सूक्ष्म गतिविधियों का वर्णन भी किया गया है, जैसे—

नारी शक्ति दिअ धरिअ खदे । अनहद डमरु बाजइ वीर नादे ।

कान्ह कपालि जोगी पइडि अचारे । देह-नजरी बिचरइ एकारे ।।⁹⁹

सिद्धों की वाणी में यद्यपि रहस्यात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, तथापि उनकी यह रहस्य भावना अधिकांशतः साधनात्मक है। सिद्ध वाणी में सरहपा की कृतियों में कहीं-कहीं प्रवृत्त रहस्यवाद की झलक अवश्य मिलती है।¹⁰⁰

इस प्रकार सिद्धों में साधनात्मक रहस्यवाद का पर्याप्त विकास हुआ है। सिद्ध निर्गुण और निराकार तत्त्व की साधना करते थे। आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में मध्ययुगीन कबीर आदि सन्त कवियों के रहस्यवाद पर इन सिद्धों की रहस्यात्मक साधना का प्रभुत्व स्पष्टतः लक्षित होता है।

(ब) नाथ सम्प्रदाय में रहस्यवाद

बौद्ध सिद्धों की यह रहस्यात्मक साधना संभवतः 7वीं से 12वीं शताब्दी तक अनवरत प्रवहमान रही, किन्तु बाद में उत्कट वामाचार के कारण अश्लीलता और वीभत्सता आ गई। परिणामतः इनका प्रभाव चरम सीमा पर पहुंचकर हासोन्मुख हो गया। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा में से ही नाथ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।¹⁰¹ गुरु गोरखनाथ इसके आदि-प्रवर्तक माने जाते हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री भी गोरखनाथ को वज्रयानी बौद्ध मानते हैं।¹⁰²

नाथ सम्प्रदाय की साधना अन्तर्मुखी है। इसमें हठयोग पर अत्यधिक बल दिया गया है। इसीलिए इस पंथ की साधना को हठयोग के नाम से पहचाना जाता है। सिद्धों की भांति इसमें भी साधनात्मक रहस्यवाद ही पाया जाता है। वस्तुतः इस पंथ में अधिकांशतः वे ही सब बातें दृष्टिगोचर होती हैं, जो सिद्ध सम्प्रदाय में वर्णित हैं। लौकिक प्रतीकों के द्वारा रहस्य तत्त्व की गूढ़ अभिव्यक्ति की चेष्टा नाथपंथियों में भी मिलती है, यथा—शून्य, निरंजन, नाद, बिन्दु, सुरति, निरत, सहज इत्यादि सिद्ध साहित्य के पारिभाषिक शब्द देखिए—

गगन मंडल में उंधा कूआ, तहां अमृत का वासा ।

सगुरा होय सो भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पिपासा ।।¹⁰³

इडा, पिंगला और सुषुम्ना का प्रयोग भी गोरखबानी में इस प्रकार है—

अवधू ईडा मारग चन्द्र भणीजै, प्यंगुला मारण भाणं ।

सुषुमनां मारण वाणी बोलिए त्रिय मूल अस्थानं ।।¹⁰⁴

इसमें अनहदनाद की रहस्यमय अभिव्यक्ति भी निम्न रूप में वर्णित हुई है—

अनहद सबद बाजता रहै सिध संकेत जी गोरख कहै ।।¹⁰⁵

नाथ सम्प्रदाय के हठयोग की साधना पद्धति का अवलोकन करने पर विदित होता है कि उसमें अनेक तत्त्वों में गूढार्थ समाहित है। सभी तत्त्व सूक्ष्म और आन्तरिक होने से साधनात्मक रहस्यवाद की

- सृष्टि करते हैं। इसमें आन्तरिक साधना पर भी बल दिया गया प्रतीत होता है, यथा—सन्ध्या पूजा के लिए सुषुम्ना नाड़ी की सन्ध्या ही नाथपंथियों के अनुसार वास्तविक पूजा कही जाती है।¹⁰⁶ इसी तरह हृदय में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है—

हृदयते प्रतिबिम्बेन आत्म रूपं सुनिश्चितम्।¹⁰⁷

नाद और बिन्दु भी इस साधना में केन्द्रबिन्दु हैं। नाथपंथियों के अनुसार जल में जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है, उसी तरह घट के भीतर परमात्मा रहता है—

आतमां मधे प्रमातमां दीसै ज्यौं जलमधे चंदा।।¹⁰⁸

नाथ-पंथ योग में शिव शक्ति का मिलन और उसका आनन्द चरम सीमा है। यह आनन्द रहस्य की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराता है।

गोरखनाथ के योग के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उन्होंने हठयोग को अपनाया। इड़ा और पिंगला नाड़ी का अवरोध करके प्राण को सुषुम्ना के मार्ग में प्रवाहित करना ही हठयोग है।¹⁰⁹ उनके सिद्धान्त के अनुसार कुण्डलिनी एक शक्ति है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। यह शक्ति ही ब्रह्म द्वार को अवरुद्ध कर सोई हुई है।¹¹⁰ बौद्ध सिद्धों की भांति ही नाथ सम्प्रदाय की साधना भी रहस्यपूर्ण है। उसका ध्येय भी निर्गुण तत्त्व है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट विदित होता है कि बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ दोनों पंथों में साध्य और साधन गूढ़ होने से दोनों सम्प्रदायों ने रहस्यात्मक साधना-पद्धति का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। इसमें सन्देह नहीं कि मध्यकालीन सन्त साहित्य को इनकी साधना-पद्धति ने अत्यधिक प्रभावित किया। इनका सर्वाधिक प्रभाव कबीर की रचना पर देखा जा सकता है।

सूफी कवियों में रहस्यवाद

भारतीय संस्कृति में अद्वैत विचारणा और उस पर आधारित रहस्य भावना की सरिता सतत बहती रही है। आगे बौद्ध मंत्र में ब्रजयानी सिद्धों और नाथ-पन्थी योगियों ने आध्यात्मिक रहस्यभावना की सृष्टि की। फिर 12वीं शताब्दी के आस-पास साधना के क्षेत्र में निर्गुण पन्थ का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे कबीर ने आगे चलकर विकसित किया। हिन्दी काव्य के क्षेत्र में 15वीं शती से लेकर 17वीं शती तक सगुण और निर्गुण नामक रचित काव्य की दो समान्तर धाराएँ चलती रहीं। निर्गुण धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई—एक ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों से प्रभावित शुद्ध प्रेममार्गी शाखा।¹¹¹ ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर और शुद्ध प्रेममार्गी शाखा में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख कवि हैं।

सूफी साधना में बुद्धि की अपेक्षा हृदय की भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए उसमें प्रेमतत्त्व को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सूफियों के इस प्रेम में विरह की व्याकुलता होती है और इस प्रेम-पीड़ा की जो अभिव्यंजना होती है, वह विश्वव्यापी बनती है। साथ ही प्रेम का स्वरूप पारलौकिक बन जाता है।

वास्तव में, सूफी साधना में प्रेमतत्त्व की प्रधानता है। इसलिए उनमें वास्तविकता और प्रेम की अनुभूति का दर्शन है। डॉ. विश्वनाथ गौड़ के अनुसार सच्चा, भावात्मक और काव्य का अंगीभूत रहस्यवाद यही है।¹¹² हिन्दी कविताओं की तुलना करते हुए ये लिखते हैं—इसकी तुलना में आधुनिक कवियों का रहस्यवाद काल्पनिक और मिथ्या है, क्योंकि उसकी रहस्यानुभूति का आधार कल्पना है, अनुभव नहीं।¹¹³

सूफी परम्परा में कुतबन, मंझन, जायसी, उस्मान, सेखनबी, कासिमशाह, नूर, मुहम्मद आदि सन्त हो चुके हैं। कुस्तबन की मृगावती रचना में रहस्यवाद की झलक पायी जाती है। उपर्युक्त सभी सूफी सन्तों में जायसी का रहस्यवाद सर्वश्रेष्ठ एवं सुप्रसिद्ध है।

जायसी ने अपने प्रबन्धकाव्य 'पद्मावत' की रचना मसनवी पद्धति के आधार पर की है। उसमें जायसी के कोमल हृदय तथा आध्यात्मिक गूढ़ता के दर्शन होते हैं। इस कथा में कवि का तात्विक उद्देश्य रत्नसेन रूपी आत्मा का पद्मावती रूपी ईश्वर को प्राप्त करना है। जायसी की रचना में अद्वैत तत्त्व पर आधारित रहस्यवाद की झलक भी मिलती है।

सूफी साधना विरहप्रधान है। परम प्रियतम से मिलन की व्याकुलता में अग्नि, पवन और समग्र सृष्टि को प्रियतम के विरह से व्याकुल प्रदर्शित किया है—

विरह की आगि सूर जरि कांपा, रातिउ दिवस करै ओहि तापा।¹¹⁴

इसी तरह जायसी ने विरह-व्यथा का सुन्दर चित्रण अन्यत्र भी किया है।¹¹⁵ इस प्रकार जायसी के रहस्यवाद का मुख्य रूप उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेम की ईश्वरोन्मुखता है। प्रेम का सर्वोत्कृष्ट विकास वियोग में होता है। निम्नोक्त पद में विरह की जो तल्लीनता दिखाई गई है, वह दर्शनीय है—

हाड भा. सब किंगरी, नसै भई सब ताति।

रोवं रोवं तैं घुनि उठे, कहैं विधा केहि भाति।¹¹⁶

जायसी के अनुसार ऐसे तीव्र विरह को उद्भूत करने वाला प्रेम पंथ अत्यन्त कठिन है।¹¹⁷ प्रेममार्ग की विविध आस्थाओं का वर्णन पद्मावत में सुन्दर ढंग से हुआ है। सृष्टि का कण-कण उसी अव्यक्त ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम से व्याप्त है। वास्तव में जायसी का यह रहस्यवाद विशुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद की कोटि में आता है। किन्तु जायसी पर नाथ पन्थी योगियों की अन्तर्मुखी साधना का भी कुछ प्रभाव पड़ा था, इसलिए उनमें इस प्रकार का साधनात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है। उनके साधनात्मक रहस्यवाद का उदाहरण इस पद में देखा जा सकता है—

नवौ खंड नव पौरी, औ तहं वज्र केवार।

चारि बसेरे सौ चढे, सत सौ उतरे पार।।

नव पौरो पर दसवं कुवारा, तेहिं पर बाज राज थरिआरा।।¹¹⁸

इसी तरह जायसी ने हठयोग की अन्तःसाधना का पूरा चित्रण भी किया है।¹¹⁹

फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जायसी के हृदय की मूल आत्मा भावना है, साधना नहीं। इसलिए उनका रहस्यवाद मूलतः भावनात्मक ही कहा जाएगा।

सन्त कवियों में रहस्यवाद

सिद्धों द्वारा प्रवर्तित साधनात्मक रहस्यवाद को नाथपंथी-योगियों ने अपनाया, किन्तु देश की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण सिद्धों और नाथ पंथियों का सम्प्रदाय 'निर्गुणपन्थ' के रूप में परिवर्तित हुआ। सामान्यतः निर्गुणपन्थ के जन्मदाता कबीर माने जाते हैं। कबीर ने इस पन्थ में सिद्धों और नाथों की हठयोगी अन्तःसाधना के समुचे तत्त्वों को अपनाया। कबीर ने सिद्धों—नाथों की साधना का अनुसरण ही नहीं किया, प्रत्युत् अपने पन्थ में विद्वान् का अद्वैतवाद, नाथपंथियों का हठयोग, सूफियों का प्रेममार्ग, वैष्णवों की अहिंसा और शरणागति इत्यादि का सुन्दर

समन्वय किया। कबीर के पश्चात् इस परम्परा में दादू, नानक, धर्मदास, पलदू, रैदास, सुन्दरदास आदि अनेक सन्त कवि हुए हैं। इन सभी सन्तों में न्यूनाधिक रूप में रहस्यवादी विचारधारा पाई जाती है।

यद्यपि कबीर निर्गुणधारा के प्रवर्तक हैं तथापि साधारणजन को आकर्षित करने हेतु उन्होंने भक्तितत्त्व को भी महत्त्वपूर्ण माना है और अपने इष्टदेव को राम की संज्ञा से अभिहित किया है। कबीर के राम दशरथ के पुत्र न होकर 'जो या देहि रहित है, सो है रचिता राम'¹²⁰ थे। दूसरी ओर कबीर ने नाथपन्थ के हठयोग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनकी रचनाओं में चक्षु, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सुरति, निरति, कुण्डलिनी, सहज, शून्य, अनहतनाद, बहमरन्द, गगनमहल आदि हठयोगी साधना के शब्द स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। कबीर ने इनका प्रयोग अधिकांशतः उलटबासी शैली में किया है। शून्य पद का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उसमें से अमृत झरता है और सुषुम्ना उसका रस पीती है।

अवधू गगन मंडल धर कीजै।

अमृत झरै सदा सुख उपजे बंकनालि रस पीवै।।¹²¹

सूर्य और चन्द्रनाड़ी के एक होने पर घट में ही परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह विचार भी उन्होंने अभिव्यक्त किया है।¹²²

अनहदनाद की चर्चा भी कबीर ने अनेकों पदों में की है, जैसे—

अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।

अविगति अंतरि प्रगटै लोग प्रेम धियान।।¹²³

उन्मत्ति समाधि अवस्था में कबीर का मन रहस्यपूर्ण प्रकाश देखता है। उनका कथन है—

मन लाग़ा उनमन सौ गगन पहुँचा जाइ।

देख्या चंद बिहूणा चादिणां तहां अतरव निरंजन राह।।¹²⁴

कबीर की उलटबासियों में भी साधनात्मक रहस्यवाद भरा हुआ है। उनकी यह उलटबासी अतिप्रसिद्ध है—

समंदर लागि आगि नदियां जल कोइला भई।

देखि कबीरा जाणी, मेछी रुषां चढि गई।।¹²⁵

उन्होंने हठयोग के विभिन्न तत्त्वों का वर्णन भी अटपटी बानी में पहली के रूप में किया है—

आकसे मुखि औंदा कूआ पाताले पणिआरी।

ताका पानी को हंसा पीवे बिरला आदि बिचारी।।¹²⁶

यह तो हुई कबीर के साधनात्मक अथवा यौगिक रहस्यवाद की विवेचना, किन्तु इसके साथ ही उनकी रचनाओं में भावनात्मक रहस्यवाद की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। भावनात्मक रहस्यवाद के विरह की व्याकुलता और उसकी गहन अनुभूति में कबीर का मधुर भाव परिलक्षित होता है। कबीर के रहस्यवाद की विशिष्टता तो यह है कि उन्होंने निर्गुण के साथ प्रेम किया है और यह प्रेमतत्त्व उन्हें सूफी सन्तों से मिला है। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में इस प्रेमतत्त्व को विविध रूपों में व्यक्त किया है। कहीं तो उन्होंने इस प्रेम का चित्रण माता-पुत्र के रूप में किया है तो कहीं प्रियतम के रूप में। प्रियतम राम के साथ कबीर की अनन्य प्रीति निम्नांकित रूप में द्रष्टव्य है—

अब तोहिं जान न दैहूँ राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए, भाग बटे धरि बैठे आए॥¹²⁷

प्रियतम के घर आने पर कबीर की आत्मा रूपी प्रियतम आनन्द विभोर हो उठती है।¹²⁸ प्रियतम को देखते ही कबीर की साधक आभा रामरूपी प्रियतम के रंग में ऐसी रंग जाती है कि चारों ओर उसे प्रियतम की लाली ही दिखाई देती है, जैसे—

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥¹²⁹

किन्तु कबीर द्वारा राम की प्रियतम के रूप में की गई उपासना में भी योग-साधना का रहस्य समाहित है। उसकी यह साधना अन्तर्साधना बन जाती है और वह गूढ़ प्रतीक रूप में अभिव्यक्त होती है।¹³⁰

कबीर की रचनाओं में विरह-भाव गूढ़ एवं सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूतियों को प्रकट करता है। सूफीवाद के कारण कबीर में निर्गुण राम के प्रति असीम प्रेम है। उनकी विरह-वेदना अत्यन्त धार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई है—

जिया मेरा फिरे रे उदास।
राम बिन निकली न जाई सास, अजहूँ कौन आस॥¹³¹

इसी तरह एक और पद में भी उनकी विरह-व्याकुलता का सुन्दर चित्रण हुआ है—

तलफै बिन बालम मोर जिया,
दिन नहीं चैन रात नहीं निंदया॥¹³²

प्रियतम की राह निहारते-निहारते उनकी आँखें लाल हो गई हैं और लोग समझते हैं कि कबीर की आँखें दुःखने लगी हैं, जैसे—

अंघट्रिया प्रेम कसाइयां लोग जागै दुषडियां।
साईं अपणै कारणै रोइ रोइ रातडियां॥¹³³

प्रियतम से मिलने के लिए आतुर कबीर रूपी प्रियतमा की व्याकुलता में निहित रहस्य भवना काव्य को मार्मिक बना देती है—

अब मोहि ले चल नणद के बीर, अपने देसा।
इन पंचन मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बिदेसा॥¹³⁴

इस गहन तत्त्व की कथा अकथ्य है—

कहे कबीर यह अकथ कथा है, कहतां कही न जाइ॥¹³⁵

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कबीर में साधनात्मक और भावनात्मक रहस्यवाद की धारा सहज रूप में प्रस्फुटित हुई है।

सगुण भक्त कवियों में रहस्यवाद

भक्ति काव्य में न केवल निर्गुणमार्ग की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी शाखाओं में रहस्यवाद का निदर्शन हुआ है प्रत्युत् सगुण शाखा के अन्तर्गत रामभक्त और कृष्णभक्त सन्त कवियों में भी रहस्यात्मक प्रवृत्ति

के दर्शन होते हैं। इनके प्रमुख रूप में मीराबाई, सूरदास और तुलसीदास का नाम लिया जा सकता है, जिनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावना अभिव्यक्त हुई है।

मीरा ने अपने पदों में विरह का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया है। उनका हृदय प्रभु के विछोह में विफल है। इस आध्यात्मिक विकलता का हृदयग्राही वर्णन उनके निम्नांकित पदों में देखा जा सकता है—

सखी मेरी नींद नसानी हो।

पिया का पंथ निहारते सब रैनी बिहानी हो।

सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।

बिन देखे कल ना परे, जिय एसी ठानी हो॥

अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय-पिय बानी हो।

अन्तर वेदन विरह की, वह पीर न जानी हो॥

ज्यों चातक धन को रहे, मछरी जिमि पानी हो।

मीरा व्याकुल बिरहनी सुध-बुध बिसरानी हो॥¹³⁹

‘अन्तर वेदन बिरह की, वह पीर न जानी हो’ इस भाव को उन्होंने एक दूसरे पद में और अधिक स्पष्ट किया है—

घायल की गति घायल जाने, की जिण लाई होय।

जौहरी की गति जौहरी जाने, कि जिन जौहरी होय॥¹⁴⁰

अपने प्रियतम की जुदाई में, वियोग में, विरह में मीरा व्याकुल थी। वे कहती हैं—

दिवस न भूख रैन नहि निद्रा यूँ तन पल-पल छीजे हो।

मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर चित बिछुरन नहीं कीजै हो॥¹⁴¹

इसी तरह मीरा ने ‘मैं बिरहाण बैठी जागूँ’ आदि पदों में भी विरहोद्गार व्यक्त किये हैं।

वस्तुतः मीरा ने अपने पदों में परमात्मा से अपने तादात्म्य की अनुभूति का अथवा परमात्मा से मिलन की उत्कण्ठा का सुन्दर वर्णन किया है, जिनमें भावानात्मक रहस्यवाद की झलक दिखाई देती है।

आधुनिक हिन्दी कवियों में रहस्यवाद

कहा जा सकता है कि आधुनिक रहस्यवाद का उदय छायावाद की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ है। आधुनिक युग की प्रकृति को लेकर रहस्यवाद की सृष्टि की गई है। प्रकृतिमूलक रहस्यवाद सुमित्रानन्दन पंत की रचनाओं में पाया जाता है।

आधुनिक युग के रहस्यवादी कवियों में प्रमुख रूप से प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों के रहस्यवाद में कल्पनातत्त्व प्रमुख है। इनके रहस्यवाद में साधनात्मक रहस्यवाद के दर्शन नहीं होते हैं।

आधुनिक युग के हिन्दी रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा का स्थान सर्वोपरि है। प्रेम और विरह की वे अद्वितीय गायिका हैं। वस्तुतः इस युग के रहस्यवादी कवियों की अनुभूति वास्तविक न होकर कल्पना प्रधान है।

जैन धर्म में रहस्यवाद

भारतीय साहित्य जगत् में जैनेतर धर्मों का रहस्यवाद जितना अधिक चर्चित रहा है, उतना जैनधर्म का नहीं। व्यक्ति जैन धर्म में रहस्यवाद नाम सुनकर ही चौंक उठता है। वह तत्काल कह सकता है कि जैन धर्म में रहस्यवाद हो ही नहीं सकता, क्योंकि जैन दर्शन ईश्वर नामक सत्ता में विश्वास नहीं करता। वस्तुतः रहस्यवाद का आधार आस्तिकता है और आस्तिकता की भित्ति आत्म-परमात्मवाद है। रहस्यवाद का प्रारम्भ आत्म-अस्तित्व से होता है और उसका समापन होता है परमात्म साक्षात्कार में।

यद्यपि जैन परम्परा में ईश्वर या ब्रह्म जैसी किसी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें परमात्मा का प्रत्यय ही अनुपस्थित हो। उसके अनुसार आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम ही परमात्मा है, जिसे वैदिक शब्दावली में परम ब्रह्म कहा जाता है।

जैन धर्म में आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा।

आत्मा के त्रिविध वर्गीकरण की यह परम्परा अति पुरानी है। पूर्ववर्ती अनेक जैनाचार्यों एवं साधकों ने आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं पर विचार किया है। उनमें से कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्द्रमुनि, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय, आनन्दघनजी आदि अनेक प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं का उल्लेख सबसे पहले कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षप्राप्त में इस तरह किया है—

दितपयारो सो अप्य परमेतर बाहरो हु देहीणं।

तत्थ परो झाइज्जइ अंतीवाएण चएहिं बहिरप्पा।।¹⁴⁰

स्वामी कार्तिकेय ने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आत्मा के उपर्युक्त तीन भेद इस तरह प्रतिपादित किये हैं, जैसे—

जीवा हवंति त्रिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य।

परमप्पा विय दुविहा, अरहंता तह य सिद्धाय।।¹⁴¹

यद्यपि उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने परमात्मा में भी दो वर्ग बताये हैं—अरहंत और दूसरा सिद्ध।

इसी तरह पूज्यपाद ने भी समाधितन्त्र में आत्मा की तीन अवस्थाओं की चर्चा की है, जैसे—

बहिरंत परश्चेति त्रिघात्मा सर्वदेहिषु।

उपेयातत्र परमं मध्यीपायाद वहिस्तप जेत्तु।।¹⁴²

योगीन्द्र मुनि ने परमात्मप्रकाश एवं योगसार में आत्मा की इन तीन अवस्थाओं पर प्रकाश डाला है।

योगसार में उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन नामों का उल्लेख करते हुए कहा है—

ति पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु वहिररापु।

पर आथहि अंतर-सहिउ बाहिरु चथहि णिर्भतु।।¹⁴³

किन्तु परमात्म प्रकाश में मूढ, विचक्षण और परब्रह्म—ऐसे तीन नामों का उल्लेख करते हुए कहा है—

मुठु वियकखणु बंभु परु अप्पा ति-बहु हवेइ ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मुठु हवइ ।।¹⁴⁴

आचार्य शुभचन्द्र ने भी आत्मा की तीन अवस्थाओं का निर्देश करते हुए कहा है कि—

त्रिप्रकार स भूतेषु सर्वेस्वात्मा व्यवस्थितः ।

बहिरन्तः परश्चेति जल्पैर्वक्ष्यमाणकै ।।¹⁴⁵

इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध आत्मा का वर्गीकरण करते हुए कहा है कि—

बाह्यात्मानमपास्य प्रसक्ति भाजान्तरात्मना योगी ।

सततं परमात्मानं विचिन्तयेतन्मयत्वाय ।।¹⁴⁶

एवं पं. आशाधर के अध्यात्म रहस्य¹⁴⁷ में आत्मा की उपर्युक्त अवस्थाओं का विवेचन किया है। आनन्दधन के समकालीन विचारकों में भैया भगवतीदास ने ब्रह्मविलास में कहा गया है कि—

एक जु चेतन द्रव्य है, ति में तीन पुकार ।

बहिरात्म अन्तर तथा परमात्म पद सार ।।¹⁴⁸

धानतराय ने धर्मविलास में भी इसी बात की पुष्टि की है—

तीन भेद व्यवहार सौ सरब जीव सब ठाम ।

बहिरन्तर परमात्मा निहचै चेतनराम ।।¹⁴⁹

उपरोक्त सभी परिभाषाओं की पुष्टि करते हुए आचार्य उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—

बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति चे त्रयः ।

कायाधिष्ठायक ध्येयः प्रसिद्धा योग वाङ्मये ।।¹⁵⁰

उपाध्याय यशोविजय की एक और विशेषता यह भी है कि उन्होंने इन तीनों अवस्थाओं को चौदह गुणस्थानकों की अवधारणा के साथ भी घटाया है।

फिर भी जैन रहस्यवाद दो तत्त्वों पर आधारित है—आत्मा और परमात्मा। आत्मा में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का समावेश होता है। रहस्यवाद के मूल में आत्मा और परमात्मा—ये दो ही अवस्थाएँ काम करती हैं।

तत्त्वतः आत्मा और परमात्मा भी अलग-अलग नहीं हैं। दोनों एक ही हैं, अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है, जिसे शुद्धात्मा कहा जाता है। संसार की प्रत्येक आत्मा कर्ममल से रहित होने पर परमात्मा बन जाती है। इस प्रकार जैन धर्म आत्मा और परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। इसी दृष्टि से जैन धर्म में रहस्यवाद प्राचीनकाल से पाया जाता है।

जैन परम्परा में सर्वप्रथम रहस्यवादी के रूप में भगवान ऋषभदेव का नाम लिया जा सकता है, जिनका उल्लेख यजुर्वेद में है।¹⁵¹ उसमें ऋषभदेव और अजितनाथ को गूढ़वादी कहा गया है। श्रीमद्भागवत में भी जैन परम्परा समर्थक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में उनके चरित और साधना पद्धति का जो विस्तृत विवेचन मिलता है¹⁵² उससे यह असंदिग्धरूप से प्रमाणित हो जाता है कि ऋषभदेव विश्व के उच्चकोटि के रहस्यदर्शियों में से एक थे।

परमात्म प्रकाश की भूमिका में डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने उल्लेख किया है कि साधनात्मक दृष्टि से जैन तीर्थंकर ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इत्यादि विश्व के महान् रहस्यदर्शियों में हुए हैं।¹⁵³

प्रो. आर.डी. रानाडे ने भी जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ठीक ही कहा है कि ये एक भिन्न ही प्रकार के गूढ़वादी थे। उनकी अपने शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीनता उनके आत्म-साक्षात्कार को प्रमाणित करती है।¹⁵⁴ उन्होंने ऋषभदेव को उच्चकोटि का साधक और रहस्यदर्शी माना है। ऋषभदेव के तरह ही अन्य तीर्थंकरों के द्वारा भी इसी साधना पद्धति का अनुसरण किया गया।

कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड की भूमिका में श्री जगतप्रसाद ने यह निर्देश किया है कि जैनवाद का आधार रहस्यानुभूति है।¹⁵⁵ जैन रहस्य-द्रष्टाओं की रहस्यानुभूति की झलक सर्वप्रथम हमें प्राचीनतम जैनागम आचारांग में मिलती है। उसमें कहा गया है—

सव्वे सराणियट्ठंति । तक्का जत्थ ण विज्जइ ।

मई तत्थ णं गाहिया । औए अप्पत्तिट्ठस्स खेयण्णे ॥¹⁵⁶

अर्थात् वहाँ से सभी स्वर लौट जाते हैं। परम तत्त्व का स्वरूप शब्दों के द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है। वह तर्कगम्य भी नहीं है। वह बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है। वाणी वहाँ मौन हो जाती है। वह अकेला शरीर रहित और ज्ञाता है।

इसी तरह रहस्यात्मकता का संकेत आचारांग के निम्न सूत्र में भी दृष्टिगत होता है—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।

जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥¹⁵⁷

अर्थात् जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

जे एगं नामे से बहुं नामे,

जे बहुं नामे, से एगं नामे ॥¹⁵⁸

अर्थात् जो एक को वशीभूत कर लेता है, वह बहुतों को वश में कर लेता है। जो बहुतों को वश में कर लेते हैं, वह एक को वश में कर लेता है। विशेषावश्यक भाष्य में भी आचारांग सूत्र की भाँति रहस्यात्मकता का निर्देश मिलता है। उसमें कहा गया है—

एककं जाणं सव्वं जाणंति सव्वं च जाणमेगंति ।

इय सव्वं जाणंतो णाउगारं सव्व धा गुणंति ॥¹⁵⁹

इसी भाव की पुनरावृत्ति प्रमाणनय तत्त्वलोकालंकार में भी हुई है। उसमें कहा है—

एको भावः सर्वथा येन द्रष्टः सर्वे भावा । सर्वथा तेन द्रष्टाः ।

सर्वे भाषाः सर्वथा येन द्रष्टाः एको भाव । सर्वथा तेन द्रष्टः ॥¹⁶⁰

जिसने एक पदार्थ को सब प्रकार से देख लिया है, उसने सब पदार्थों को सब प्रकार से देख लिया है तथा जिसने सब पदार्थों को सब प्रकार से जान लिया है, उसने एक पदार्थ को सब प्रकार से जान लिया है। इसी से मिलती-जुलती रहस्यानुभूति आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में भी

प्रतिध्वनित हुई है। उन्होंने भी यही कहा है कि जो सबको नहीं जानता, वह एक को भी नहीं जानता और जो एक को नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता। बात एक ही है, क्योंकि सबका जानना एक आत्मा के जानने से होता है। इसलिए आत्मा का जानना और सबका जानना एक है। तात्पर्य यह है कि जो सबको नहीं जानता, वह एक आत्मा को भी नहीं जानता।

रहस्यभावना का मूल जिज्ञासा का तत्त्व भी आचारांग में स्पष्टतः उपस्थित है। आचारांग का प्रारम्भ आत्म-जिज्ञासा से होता है, जो रहस्य भावना का मूल बीज है। इसका प्रथम सूत्र है—

के अहं आसी के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।¹⁶¹

“मैं कौन था” मैं अगले जन्म में क्या होऊँगा? आदि। जिज्ञासा का अन्तर्मन में उठना सम्यग्दर्शन प्राप्ति का प्रथम चरण है। यह नितान्त सत्य है कि रहस्य के प्रति जिज्ञासा की भावना उद्भूत होती है, तभी साधक व्यवहार की भूमिका से ऊपर उठकर वास्तविकता की खोज में अग्रसर होता है। इसीलिए आत्म-शोधन की प्रणाली गूढ़ कहलाती है। संक्षेप में, रहस्यवाद का मर्म आत्मा की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, गूढ़ नहीं रहता।¹⁶²

रहस्यदर्शी तीर्थंकरों के बाद परवर्ती काल में भी आध्यात्मिक रहस्यवादी जैन सन्त-साधकों एवं कवियों की एक लम्बी परम्परा रही है, जिनमें प्रमुख रूप से आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की पहली से चौथी शती के बीच, मुनि कार्तिकेय (लगभग 2-7वीं शती), पूज्यपाद (विक्रम की 5-6वीं शती), योगीन्द्र मुनि (लगभग ईसा की छठी शती), मुनि रामसिंह (11वीं शताब्दी), आचार्य हरिभद्र (8वीं शताब्दी), बनारसीदास (17वीं शताब्दी), आनन्दघन (17वीं शती) तथा उपाध्याय यशोविजय (18वीं शती) आदि का नाम उल्लेखनीय है।

जैन साहित्य में रहस्यवादी काव्य रचना का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द से माना जाता है। इनकी समयसार, मोक्षपाहुड, भावपाहुड आदि अनेक रहस्यवादी रचनाएँ हैं, जिनमें भावनात्मक अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। मोक्षपाहुड में इन्होंने आत्मा के तीन भेदों की चर्चा करते हुए कहा है कि अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग कर परमात्मा का ध्यान करो।¹⁶³ इन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आत्मा और परमात्मा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। आत्मा ही परमात्मा है। कर्मावरण के कारण ही आत्मा निजस्वरूप से वंचित है। प्रत्येक आत्मा कर्मादि से रहित होकर उसी प्रकार परमात्मा बन सकता है, जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाण शोधन सामग्री द्वारा शुद्ध स्वर्ण बन जाता है।¹⁶⁴ इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में भावात्मक रहस्यवाद की विवेचना हुई है।

कुन्दकुन्द के रहस्यवादी साहित्य का प्रभाव उनके उत्तरवर्ती आचार्यों की रचनाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है। इन सभी रहस्यवादी कवियों में कुन्दकुन्द के समान ही आत्मा के त्रिविध भेदों की विचारणा पाई जाती है। पूज्यपाद की समाधिशतक एवं अध्यात्मरहस्य रचनाएँ आध्यात्मिक रहस्य प्रधान हैं। योगीन्द्र मुनि के परमात्म प्रकाश एवं योगसार में रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। रहस्यवादी कवियों की भांति उनका भी यह विश्वास है कि परमात्मा का निवास शरीर में ही है। उन्होंने कहा है कि जो शुद्ध निर्विचार आत्मा लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित है, वही इस देह में भी विद्यमान है। साथ ही इसी शरीर में उसके दर्शन करने का निर्देश भी किया है।¹⁶⁵ उनका यह भी कथन है कि शरीर स्थित जो यह आत्मा है, वही परमात्मा है।¹⁶⁶

निरंजन पद प्राप्त करने पर मन परमेश्वर में एकाकार और समरस हो जाता है।¹⁶⁷ इसका सुन्दर विवेचन उनकी रचनाओं में हुआ है।

मुनि रामसिंह की पादुड दोहा रहस्यवाद की दृष्टि से सुन्दर कृति है। योगीन्दु मुनि के समान ही वे भी कहते हैं कि जब विकल्प रूप मन भगवान आत्माराम से मिल गया और ईश्वर भी मन से मिल गया। दोनों समरसता की स्थिति में पहुंच गए, तब पूजा किसे चढ़ाऊँ।¹⁶⁸

अपभ्रंश साहित्य के रहस्यवादी कवियों के अनन्तर मध्ययुग के जैन हिन्दी रहस्यवादी कवियों में बनारसीदास का नाम सबसे पहले आता है। नाटक समयसार, अध्यात्म गीत, बनारसी विलास आदि इनकी रहस्यवादी रचनाएँ अध्यात्म प्रधान है।

बनारसीदास की आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रिय के वियोग में ऐसी तड़प रही है, जैसे जल बिनु मीन। अन्त में प्रियतम से मिलने पर मन की दुविधा समाप्त हो जाती है। उसे अपना पति घट में ही मिल जाता है। मिलने पर आत्मा और परमात्मा किस प्रकार एकाकार और एकरस हो जाते हैं, इसका सुन्दर चित्र निम्नलिखित पद में अभिव्यक्त हुआ है—

पिय मोरे घट मैं पिय माँहि, जलतरंग ज्यों दुविधात नाहिं।¹⁶⁹

वास्तव में, बनारसीदास ने सुमति और चेतन के बीच अद्वैतभाव की स्थापना करते हुए रहस्यवाद की साधना की है।

बनारसीदास के बाद हिन्दी जैन रहस्यवादी सन्त कवियों में सन्त आनन्दघन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बनारसीदास की भाँति ही इन्होंने भी आत्मा-परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया है। इन्होंने चेतन रूप प्रियतम के विरह में समता रूपी आत्मा की तड़पन का मार्मिक चित्र खींचा है।

आनन्दघन की रचनाओं में रहस्यवाद के मूलतः दो रूप उपलब्ध होते हैं—1. साधनात्मक रहस्यवाद, 2. भावनात्मक रहस्यवाद।

उनमें भावना के माध्यम से जागी हुई अनुभूति समता और चेतन की एकता की अद्वैतानुभूति है। भावनात्मक रहस्यवाद में रहस्यवाद की विविध अवस्थाएँ हैं, उनकी गहरी अनुभूति उनके पदों में अभिव्यजित हुई है। उनकी भावनामूलक अनुभूति अध्यात्म रस से सिक्त है। वस्तुतः उनकी रचनाओं में अध्यात्म का गूढ़ रहस्य निहित है। श्रेयांस जिन स्तवन में तो उन्होंने अध्यात्म को पूर्णरूपेण भर दिया है। उनकी यह कृति अध्यात्मवाद की दृष्टि से सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसमें न केवल अध्यात्मवाद के स्वरूप का चित्रांकन हुआ है अपितु अध्यात्म के लक्षण और विविध रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है।

सर्वप्रथम अध्यात्मवादी—आत्मारामी और भौतिकवादी—इन्द्रियरामी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।

मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे।¹⁷⁰

जो एन्द्रिक पौद्गलिक या भौतिक मुख को ही महत्त्व देते हैं, ऐसे संसार के समस्त जीव इन्द्रियकामी यानी भौतिकवादी कहे जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत सामान्यतः जो इन्द्रिय-सुखों से ऊपर

- उठ गये हैं, ये साधु-दर्शन, ज्ञान-चारित्र्य रूप आत्मगुणों की साधना में रत रहने के कारण आत्मरामी कहे जाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक सुखों को तिलांजली देकर अनासक्त भाव से मुख्यतः आत्म-गुणों की साधना में ही तल्लीन रहने वाले आत्मरामी साधु सभी कामनाओं से रहित और निःस्पृह होते हैं। मुनि और इन्द्रियरामी संसारी जीव में यही मूलभूत अन्तर है।

अब प्रश्न यह है कि अध्यात्म की कसौटी क्या है? इसका भी सुन्दर चित्रण आनन्दघन ने किया है—

निज स्वरूप जे किरिया साधै, तेन अध्यात्म लहिए रे।

जे किरिया करी चउगति साधै तेन अध्यात्म कहिए रे।।¹⁷¹

साधक स्व-स्वरूप के अनुरूप आचार की जो साधना किया करता है, उसे ही अध्यात्म की संज्ञा दी जा सकती है। इसके विपरीत निज स्वरूप से हटकर पर-रूप की जो क्रिया करता है और परिणामतः रूप भव-भ्रमण होता है, ऐसी क्रिया को अध्यात्म नहीं कहा जा सकता।

इसी सन्दर्भ में अध्यात्म के विविध रूपों की विवेचना करते हुए उनका कथन है—

नाम अध्यात्म ठवण अध्यात्म द्रव्य अध्यात्म छंडो रे।

भाव अध्यात्म निज गुण साधै तो तेह शुं रढ मंडो रे।।¹⁷²

अर्थात् अध्यात्म चार प्रकार का है—1. नाम अध्यात्म, 2. स्थापना अध्यात्म, 3. द्रव्य अध्यात्म और 4. भाव अध्यात्म।

आनन्दघन ने स्पष्टतः इनमें से प्रथम तीन को छोड़ने और भाव अध्यात्म को अपनाने पर बल दिया है। भाव अध्यात्म से अभिप्राय है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप आत्मिक गुणों की साधना। वस्तुतः इसमें अध्यात्म का सांगोपांग विश्लेषण और देय-उपादेय का विवेक प्रस्तुत किया है।

उपाध्याय यशोविजय के अनुसार अध्यात्म का लक्षण इस प्रकार है—‘आत्मानमधिकृत्य प्रवर्त ते इत्यध्यात्मम्’¹⁷³ अर्थात् जो आत्मा के स्वरूप को लेकर प्रवृत्त हो, वह अध्यात्म है। ऐसे भाव अध्यात्म को ग्रहण करने पर ही आत्मोपलब्धि सम्भव है। भाव अध्यात्म की क्रिया मोक्षमार्ग की कारणभूत है। आनन्दघन ने शब्द और अर्थ की दृष्टि से भी अध्यात्म का विश्लेषण किया है—

शब्द अध्यात्म अर्थ सुणीने, निर्विकल्प आदरजो रे।

शब्द अध्यात्म भजना जाणी, हान-ग्रहण मति धरजो रे।।¹⁷⁴

उनके अनुसार निर्विकल्प शब्द अध्यात्म ही उपादेय है। निर्विकल्प भाव अध्यात्म को भी अंध श्रद्धापूर्वक या बिना समझे नहीं, अपितु गुरुगम से अर्थ समझकर ग्रहण करने का निर्देश किया है। भाव अध्यात्म निर्विकल्प दशा प्राप्त करने के लिए ही है। शब्द अध्यात्म में तो सत्यता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। उक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि केवल अध्यात्म शब्द में ही आध्यात्मिकता नहीं है, प्रत्युत् वह आध्यात्मिकता भाव में ही निहित है। अध्यात्म का सम्बन्ध भावना से अर्थात् आत्मा से होता है। इससे आनन्दघन के भावनामूलक आध्यात्मिक रहस्यवाद की पुष्टि होती है। आनन्दघन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रह जाते हैं बल्कि अध्यात्म के निचोड़ रूप में वे आध्यात्मिक पुरुष के लक्षण का भी संकेत करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

अध्यात्मी जे वस्तु विचारी बीजा जाण लवासी रे।

वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, ते आनन्दघन मत संगी रे।।¹⁷⁵

आध्यात्मिक पुरुष अथवा अध्यात्मवादी का लक्षण यह है कि अध्यात्म सम्बन्धी जो वस्तु तत्त्व है, उसका चिंतन-मनन करने वाले ही वास्तव में अध्यात्मवादी कहे जाते हैं। अन्य तो सभी केवल कोरी अध्यात्म की बकवास करते हैं और अध्यात्म का ढोल पीटकर आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं। ऐसे लोकों को आनन्दघन ने लबासी की संज्ञा से अभिहित किया है। जो वस्तुतत्त्व को यथातथ्य रूप में प्रकाशित करते हैं। वे आनन्दमय आत्मा के अध्यात्म में स्थायी रूप से स्थिर हो जाते हैं। वस्तुतः अध्यात्म का विषय ऐसा है कि राह चलता हर कोई व्यक्ति आत्मा-परमात्मा की दो-चार रटी-रटाई बातें कह देता है, लेकिन इतने से ही वह आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी नहीं हो जाता। आनन्दघन ने इस स्तवन में अध्यात्म की सम्यक् भीमांसा कर अध्यात्मशास्त्र का नवनीत प्रस्तुत कर दिया है।

इस प्रकार सन्त आनन्दघन की रचनाओं में भावनात्मक पक्ष के दाम्पत्यमूलक आध्यात्मिक प्रेम विरह-मिलन आदि का उल्लेख हुआ है और साधनात्मक पक्ष के रत्नत्रयी-भक्ति प्रेम योग की साधना तथा मुख्यतः जैनयोग की सहज साधना पाई जाती है। एकाध पद में सिद्धों और कबीर की हठयोग की साधना का भी उन पर किंचित् प्रभाव लक्षित होता है।

वास्तव में उनकी रहस्यानुभूति में साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवादी का सम्मिश्रण है। दोनों ही प्रकारों में साधक अपने परम रहस्य को उपलब्ध करता है।

सन्त आनन्दघन के अध्यात्म रहस्यवाद का प्रभुत्व उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय पर भी पड़ा। उपाध्याय यशोविजय की समाधितन्त्र, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् आदि रचनाएँ रहस्यवाद की कोटि में आती हैं, जिनमें आध्यात्मिक तत्त्वों की सुन्दर विवेचनाएँ हैं। इनके उपरान्त नय रहस्य, स्याद्वाद रहस्य, उपदेश रहस्य, भाषा रहस्य आदि ग्रंथों की रचना करके दार्शनिक रहस्यों को भी उद्घाटित किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड में भावात्मक अभिव्यक्ति की प्रमुखता है तो अपभ्रंश की रचना परमात्मा-प्रचार, सावद्य धम्म दोहा तथा पाहुड दोहा में योगात्मक रहस्यवाद का स्वर प्रबल है। किन्तु मध्ययुगीन जैन हिन्दी रहस्यवादी काव्य में साधनात्मक और भावनात्मक दोनों तत्त्व पाए जाते हैं। उसी प्रकार उपाध्याय यशोविजय एक ऐसे आध्यात्मिक सन्त हुए, जिन्होंने साधनात्मक, भावनात्मक, दर्शनात्मक, भाषात्मक आदि रहस्यों को उद्घाटित करके चार चाँद लगा दिये हैं एवं रहस्यवादियों में उनका अग्रिम एवं अधिस्मरणीय स्थान प्राप्त है।

यशोविजय की दृष्टि में रहस्यवाद का वैशिष्ट्य

अध्यात्म अतिगूढ विषय है। दार्शनिक बुद्धि तथा वर्णनपरक भाषा उसे स्पष्ट करने में असमर्थ ही रहती है। उपाध्याय यशोविजय का रहस्यवादी दर्शन भी अध्यात्ममूलक है। उनका प्रधान लक्ष्य आत्मानुभव है और रहस्यदर्शी साधना के लिए यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि उसकी अनुभूतियाँ उस परम सत्ता की अनुभूतियाँ हैं, जो अवाङ्मनस गोचर है, जिसके सम्बन्ध में नेति-नेति कहकर ही संतोष मानना पड़ा।

रहस्यदर्शी साधक रहस्यमय परमतत्त्व से भावात्मक तादात्म्य स्थापित करने के लिए आकुल रहता है। अन्ततः उसे रहस्यमय तत्त्व की ऐसी गहरी अनुभूतियाँ होती हैं, जिनका शब्दों में वर्णन करना सम्भव नहीं। भाषा उन अनुभूतियों को अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। अतः ऐसे

गूढातिगूढ आध्यात्मिक तथ्यों की अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए रहस्यवादियों को विभिन्न प्रतीकों, रूपकों, उलटवासियों आदि विवेचन पद्धतियों की शरण लेनी पड़ती है।

उपाध्यायजी की रहस्यात्मक अनुभूति स्व-संवेद्य है, वाणी द्वारा अवाच्य है। वैदिक ऋषियों से लेकर आज तक पूर्वी एवं पश्चिमी संतों, सिद्धों एवं रहस्यदर्शी साधकों, सभी ने परमतत्त्व और उसकी अनुभूति को एक स्वर से अकथ कहा है।

वास्तव में रहस्यमय अनुभूतियाँ अनिर्वचनीय होती हैं। यह पूर्व और पाश्चात्य सभी साधकों ने स्वीकार किया है। वस्तुतः रहस्यानुभूति को यथातथ्य रूप में साधारण शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना कठिन होता है। फिर भी रहस्यवादी उसे प्रतीकों, रूपकों, रहस्यात्मक पद्धतियों आदि के सहारे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते रहे हैं।

रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी रहस्यात्मक ही होती है। उपाध्याय यशोविजय ने भी अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए अनेकविध प्रणालियाँ अपनाई हैं। गहराई से देखा जाए तो उपाध्यायजी की विवेचना पद्धति का विश्लेषण करना बहुत कठिन है, क्योंकि वह गूढ और गम्भीर है। वैसे ही रहस्यात्मक उक्तियाँ प्रायः जटिल, रहस्यमय और अस्पष्ट होती हैं, जिनका अर्थ जानने के लिए कठिन अभ्यास करना पड़ता है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि उपाध्यायजी के ग्रंथों में कहीं भी अटपटी बानी, उलटी चाल, उलटवासी या हरियाली शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता, तथापि इनके पदों को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनके रहस्य अंकित 108 ग्रंथ रहस्यात्मक उक्ति के अन्तर्गत आते हैं। उपाध्यायजी ने रहस्य अंकित 108 ग्रंथ की रचना की है पर आज स्याद्वाद रहस्य, नय रहस्य, उपदेश रहस्य एवं भाषा रहस्य आदि उपलब्ध है। उपरोक्त ग्रंथों के अंतर्गत जो-जो श्लोक वाचक पदों, रहस्य से भरपूर हैं, उन सबको उपाध्यायजी ने व्यक्त करने का प्रयत्न किया है, जो निम्न है—

युगभास्कर, महोपाध्याय यशोविजय ने स्वरचित वर्तमान चौबीसी में तीर्थकर देवों की स्तवनावली में प्रथम तीर्थकर आदिनाथ भगवान के स्तवन में दिखाया है—

जग जीवन जग वालहो, मरुदेवानो नंद लाल रे।

मुख दीठे सुख उपजे, दर्शन अतिहि आनंद लाल रे।¹⁷⁶

वैसे तो उपरोक्त पंक्ति का सामान्य अर्थ यही होता है कि हे जगजीवन, जगत् का प्यारा, मरुदेवा नंदन, आपके मुख को देखकर सुख उत्पन्न होता है, दर्शन करने से आनन्द होता है, किन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि प्रभु का मुख देखना एवं दर्शन करना—यह दोनों साथ-साथ एक ही क्रिया की दो उक्ति अर्थात् पुनरुक्ति वह मात्र एक ही गाथा में गौरव-लाघव के महान् विचारक न्यायविशारद कहिए क्योंकि सिर्फ यही जिज्ञासा पर चिंतन-मनन करते हैं तो इसका कोई गूढ अर्थ हो, इसमें रहस्य छिपा हुआ हो। ऐसा लगता है जैसे दर्शन अति आनन्द में दर्शन शब्द से सामान्य देखने की प्रक्रिया नहीं लेने की है पर सम्यग्दर्शन नाम का प्रथम मोक्षोपाय बताया हुआ है। भाव यह है कि हे प्रभु! आप द्वारा बताये हुए सम्यग्दर्शन को जो आत्मा स्पर्श करता है, उनका उस दर्शन में अतिशय आनंद की अनुभूति होती है। वैसे ही मुख दीठे में दीठे शब्द से मात्र देखना ऐसा अर्थ नहीं है किन्तु स्वरूपदर्शन ऐसा अर्थ लेना है। मुख वह प्रधान अंग है। इनके ग्रहण से समस्त अंगों का ग्रहण हो जाता है इसलिए हम कह सकते हैं कि परमात्मा का मुख अर्थात् परमात्मा का अथवा परमात्मा के मुख्य स्वरूप के दर्शन करते-करते सुख उत्पन्न होता है। यह दर्शन भी प्रथम श्रुतज्ञान रूप, उनके बाद चिंता अर्थात् मननरूप, बाद में

भावना-संवेदना रूप समझना है। दूसरे शब्दों में कहें तो परमात्म स्वरूप का बोध भीमांसा, प्रतिपति एवं सात्वीकृत प्रवृत्ति रूप मुखदर्शन लेने का है। सम्यग्दर्शन एवं परमात्मा स्वरूप—ज्ञान की महिमा बताई है तो हम अनुभव कर सकते हैं कि चारित्र की महिमा का भी गुणगान किया ही होगा, वो ही भाव जग-जीवन यह दो पद में से मिल रहा है। जगत् को जीवनरूप बनाकर कौन आत्मा यहाँ अहिंसक और चारित्रधारी हो। आरंभ, समारंभ की हिंसा में व्यस्त जीव-जगत् के त्रस-स्थावर जीवों के प्राण का नाश करता है, उसी समय परमात्मा स्वयं जगत् के सभी जीवों के प्रति स्वयं सर्वथा अहिंसक बनकर, जगत् के सभी जीवों को ही अजर-अमर बनाने का अहिंसा-मार्ग दिखा रहे हैं। उनको सही भाव-जीवन दे रहे हैं अर्थात् जगत् को जिंदा रख रहे हैं। इसलिए जगजीवन पद से कहते हैं कि प्रभु स्वयं चारित्रजीवन से जगत् के जीवों का जीवनभूत है, स्वयं जगवाल हो पद का सूचन करता है। यही पद का तात्पर्य है कि जगत् के जीवों को व्हाला (प्यारा), वो ही हो सकता है, जो संयमी हो, त्यागी हो एवं निःस्वार्थपने पारमार्थिक उपकार करने वाला हो। जैसे परिवार में एक बड़ा इन्सान हो जो ज्यादा भोगी, स्वार्थी, असंयमी एवं कुटुम्बक के प्रति लापरवाह हो तो व्यक्ति परिवार को प्यारा नहीं लगता है, जो स्वयं मान-पान का इच्छुक हो, जिनकी वाणी, वर्तन पर संयम न हो वो दूसरों को पसंद नहीं आता है जबकि परमात्मा तो स्वयं महानिःस्पृही, महासंयमी, तपस्वी एवं विश्वोपकारी है, इसलिए जगत् के सभी जीवों के लिए व्हाला (प्यारा) है। इस तरह जगजीवन एवं जगवाल हो—इन दो पदों में उपाध्यायजी ने चारित्र-संयम एवं तप के महिमा का गुणगान किया है।

उपाध्यायजी की रहस्यभरी लेखिनी का एक दूसरा उदाहरण भी बहुत ही रोचक एवं मार्मिक है। नेमिनाथ प्रभु के स्तवन में राजीमति ने प्रभु के पास शिकायत का वर्णन किया है। उनसे ही राजीमति तीसरी कड़ी में कहा है—

उतारी हूँ चितथी रे हां, मुक्ति धुतारी हेतु, मेरे बालमा।

सिद्ध अनन्ते भोगवी रे हां, ते शुं कवण संकेत, मेरे बालमा तोरणथी।।¹⁷⁷

इस पंक्ति में कहने का तात्पर्य यह है कि हे स्वामी! आप नवभव के स्नेह, प्रेम को भूलकर एक कलंकरूप कुरंग के निमित्त को पाकर मुझे छोड़ रहे हो। उसका कारण मैं समझती हूँ कि आप धुतारी ऐसी मुक्ति स्त्री के प्रेम के कारण मुझे आपके चित्त में से दूर की है किन्तु हे प्रभु! आपको पता नहीं है कि वो गणिका है? उनके भोक्ता अनन्त सिद्धी हैं, वो गणिका आपको फंसा रही है। उस गणिका के साथ आपने क्या संकेत किया है। चौथी कड़ी में आगे राजुल कह रही है कि—

प्रीत करंता सोहली रे हां, निरवहतां जंझाल, मेरे बालमा।¹⁷⁸

उनका अर्थ यह है कि “मेरे नव-नव भव के प्रेम की आपको कोई कदर न रही, आप मेरे अनमोल प्यार को न निभा पाये, वो कहाँ तक उचित है? कहते हैं कि प्रीत करना सरल है परन्तु निभाना दुष्कर है। आपने मेरे साथ प्रीत करके मुझे अपनाई थी पर वो मुक्ति के प्यार में पागल होते ही आपने मेरा त्याग कर दिया, मुझे तड़पाया इसलिए यहाँ यही बात सही प्रुफ हो रही है कि प्रीत करना सरल है पर निभाना दुष्कर है। इस पंक्ति का सामान्य अर्थ यही है पर उनका रहस्यमय अर्थ कुछ भिन्न ही है, जैसे—राजीमती को जब सखियों ने दूसरे वर दूँढने को कहा था तब राजीमती ने उन सबको धुत्कार कर जवाब दिया था। वह परिस्थिति ही राजीमती को नेमिनाथ स्वामी के प्रति का अखूट प्यार की सूचक है। ऐसे अखण्ड, अनमोल, अमर प्रेम धन नारी आर्य देश की सन्नारियां! एक पति को जीवन समर्पित

करने के बाद दूसरे वर की इच्छा भी नहीं करती है। गर्भावस्था में सीताजी को राम ने जब वन में त्याग किया था, तब सीताजी ने राम को सूचित करवाया था कि “मेरा त्याग किया तो भले किया, आपको मेरे से भी अच्छी दूजी पत्नी मिल जाएगी। मेरे बिना आपका मोक्ष अटकने वाला नहीं है किन्तु लोकवचन को सुनकर जैसे मेरा त्याग किया, वैसे जैन धर्म का त्याग मत करना, क्योंकि जैन धर्म का त्याग करने के बाद जैन धर्म से अच्छा तो क्या पर उनके जैसा भी दूजा धर्म प्राप्त होने वाला नहीं है और जैन धर्म के बिना तो निश्चित आपका मोक्ष अटकने वाला है। श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि महाराज रचित पुष्पमाला नामक ग्रंथ में यह अधिकार आता है।”

ठीक वैसे ही राजीमति को भी अब यह विश्वास हो चुका है कि श्री नेमिनाथ स्वामी मेरे नव-नव भव के स्नेह को छोड़कर मुक्ति स्त्री के पीछे निश्चित रागवान् हुए हैं तो उसे मुझे जागृत करना उचित है। मुक्ति राग अर्थात् मोक्षरुचि वह सामान्य वस्तु नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि क्या नेमिनाथ स्वामी नहीं समझते थे, वफादार एवं स्नेहल व्यक्तियों का दिल ही इतना सरल होता है कि सामने वाले को ध्यान में होते हुए भी और सावधानी के लिए मौका मिलते ही उस ओर ध्यान खींचना चाहिए। उस रीति से ही राजुल कह रही है, “हे स्वामी! आपने मुझे ही अनन्ता सिद्ध के भोक्ता, अनन्त स्वामी को धरना मुक्ति नारी के साथ आपने प्यार किया तो कोई बात नहीं, पर ध्यान रखना कि मुक्ति के प्रति प्रीति करना सरल है पर उसे निभाना उतना ही दुष्कर है, क्योंकि मेरे जैसी सामान्य नारी से प्यार करने के बाद कभी आपकी कोई गलती हो जाए, आप आकुल-व्याकुल हो विश्वासभंग कर दो तो भी हम आपको छोड़ने वाले नहीं हैं। आप नाराज हो जाएं तो हम तो मना लेंगे पर वो मुक्ति तो ऐसी है कि आप थोड़ा भी संसार रूपी भव वन के अभिनंदन में, आनंद में आसक्त हो गये तो वो आपका त्याग करने में थोड़ा भी विचार नहीं करेगी। जो आप नाराज हो गये तो वो भी नाराज हो जायेगी। मुक्ति के साथ आपकी प्रीति को अखण्ड, अमर, शाश्वत रखना हो तो भवनिर्वेद विषय-विराग एवं धर्म-संवेग को जागृत रखना पड़ेगा। इसलिए महर्षि भी प्रार्थनासूत्र में सबसे प्रथम भवनिर्वेदों में चाहना करता है।

राजीमती आगे कह रही है कि जैसे झेरी सर्प के साथ खेलना एवं अग्नि की झाल के साथ रमत करना मुश्किल है, वैसे ही मुक्ति के प्रति राग दिखाना बहुत ही कठिन है। उनके लिए तो जीवनभर समस्त संसार के प्रति अरुचि रखनी पड़ेगी। इतना कहने के बाद भी जब राजीमती ने देखा कि नेमिनाथ वापिस नहीं लौट रहे, नेमिनाथ स्वामी का मुक्ति के प्रति अटूट बंधन है, वो मुक्ति की ओर ही प्रयाण कर रहे हैं तब राजीमति ने भी अपना निर्णय जाहिर किया कि भले ही शादी करके आपने हाथ पर मेरा हाथ न रखा, पर मैं दीक्षा लेते वक्त हे जगन्नाथ! अपने सिर पर आपका हाथ रखवाऊँगी।

अपूर्व रहस्य से भरा हुआ उपाध्यायजी का ग्रंथ

पू. उपाध्याय महाराज का गुजराती, संस्कृत या प्राकृत सभी ग्रंथ अपूर्व रहस्य से भरा हुआ है। उस रहस्यों को समझने के बाद अपूर्व स्फुरणा उत्पन्न होती है, उसमें रहे हुए पदार्थ विवेचना प्रभावना करे, ऐसा है। जैसे उपाध्याय रचित अनेकान्तव्यवस्था¹⁷⁹ नामक ग्रंथ में एक स्थान पर प्रश्न किया हुआ है कि तत्त्वार्थ, महाशास्त्र में तत्त्व सात बताये हैं, आठ क्यों नहीं, क्योंकि सही में तो जीव और अजीव दो तत्त्व ही है किन्तु भोक्षोपयोगी हेयोपादेय तत्त्व पृथक् बताने चाहिए, जिसमें हेय रूप में आश्रव एवं बंध, उपादेय रूप में संवर और निर्जरा कहा, फिर भी हेय का दान और उपादेय का उपादान क्यों कहा,

इस जिज्ञासा का समाधान रूप प्रयोजन तत्त्व के रूप में मोक्ष तत्त्व दिखाया। ऐसे तत्त्व सात हो सकते हैं, किन्तु यहां वो जिज्ञासा रहती है कि उपादेय का फल मोक्ष है, वैसे हेय का फल संसार है इसलिए मोक्ष की तरह संसार को भी एक भिन्न तत्त्व कहना चाहिए एवं मोक्ष के प्रतियोगी के रूप में भी संसार तत्त्व लेना चाहिए, वो क्यों नहीं लिया है? पू. उपाध्यायजी ने इस प्रश्न का सुन्दर समाधान देते हुए कहा है कि संसार के स्वरूप का वर्णन बंध तत्त्व में हो जाता है इसलिए संसार नामक भिन्न तत्त्व निरर्थक है जबकि मोक्ष का वर्णन निर्जरा तत्त्व में नहीं होता है, क्योंकि मोक्ष में तो आत्मा की सर्व विशुद्ध अवस्था एवं अनन्त गुणों का प्रगटीकरण है, इसलिए मोक्षतत्त्व का स्वतंत्र रूप में वर्णन आवश्यक है।

वैसे ही शास्त्रवार्ता समुच्चय पर उपाध्यायजी रचित स्याद्वाद कल्पलता¹⁸⁰ नामक टीका में देखें, यहाँ पुण्यानुबंधी पुण्य के पाप एवं पापानुबंधी पुण्य के पाप की स्थिति यही चल रही है कि जिस पुण्य एवं पाप का भुगतान करते-करते भविष्य के लिए नया पुण्य का उपार्जन हो, उसे पुण्यानुबंधी पुण्य एवं पाप का उपार्जन हो, उसे पापानुबंधी कहा जाता है। किन्तु उक्त ग्रंथ में पूज्य उपाध्यायजी ने सूचित किया है कि जो पुण्य-पाप को उदय में लाने के लिए हृदय को महामलिन करने वाले पापकार्य किये जाते हैं, वे पापानुबंधी कर्म होते हैं। उससे विपरीत हृदय की पवित्रता एवं कोमलता को सलामत रखी जाती हो तो उदय में आने वाले पुण्य-पाप का योग पापानुबंधी पुण्य से बच जाता है।

शास्त्रवार्ता की टीका में एवं नयोपदेश, ज्ञानबिन्दु¹⁸¹ आदि ग्रंथों में नव्यन्याय शैली के तर्क से जैन सिद्धान्त एवं तत्त्वों की विशेषता दिखाने वाला अद्भुत रहस्यों एवं पदार्थ-निरूपण अधिकतर प्रमाण में यह दर्शन दिवाकर उपाध्यायजी ने किया है, जो सूक्ष्म, बुद्धिगम्य एवं नव्यन्याय सहित दर्शनों की परिभाषा के सम्पूर्ण बोध से ग्राह्य है। ज्ञानबिन्दु ग्रंथ में सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण एवं मल्लवादी के केवलज्ञान-केवलदर्शन-उपयोग के अनुरूप तीन मतों का सुन्दर समन्वय उपाध्यायजी महाराज ने ज्ञानबिन्दु में किया है। उसी ग्रंथ में मधुसूदन सरस्वतीकृत सिद्धान्तबिन्दु ग्रंथ¹⁸² में परिष्कृत अविद्या-माया के सिद्धान्त का भी सुन्दर निरक्षण उपाध्यायजी ने किया है एवं कर्मप्रकृति की विस्तृत दीक्षा के प्रारम्भ में नव्यन्याय की शैली से आठ कर्मों की भिन्न-भिन्न कर्मप्रकृतियों की रहस्यमय व्याख्या की है। ग्रंथ के बीच-बीच में भी उनकी अद्भुत बुद्धि का प्रभाव दिख रहा है। ग्रंथ के अंत में स्वोपज्ञ उदय प्रकरण में कर्म संबंधी अन्य ग्रंथों के पदार्थों का संकलनबद्ध भव्य संकलन किया है किन्तु विषयान्तर होने के कारण शॉर्ट में ही बताया है।

पू. उपाध्याय महाराज स्व-पर के शास्त्रों के इतने सारे विषयों में विद्वान् हैं कि सभी उनको बहुश्रुत के रूप में ही पहचानते हैं। इतना ही नहीं कि उनकी विद्वत्ता सिर्फ ज्ञान-भण्डारों एवं पुस्तकों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इतना उनको कण्ठस्थ भी था कि उनके समकालीन समर्थ विद्वान् उपाध्यायजी मानविजय महाराज ने उनके लिए स्मारित श्रुतकेवली का विशेषण का उपयोग किया है। श्रुतकेवली याने द्वादशांगीमय जैन प्रवचन के ज्ञाता।

उपाध्याय ने द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका¹⁸³ नामक ग्रंथ में पू. आचार्यवर्य हरिभद्रसूरीश्वरकृत योगदृष्टि, योगबिन्दु, षोडशक आदि ग्रंथों के असाधारण रहस्यों का निर्देशन किया है, जैसे—योग की चौथी दृष्टि में आने के लिए प्राणायाम नामक योग के अंग की सिद्धि होने की बात योगदृष्टि समुच्चय शास्त्र में बताई गई है। पू. उपाध्याय ने उनका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है, यह प्राणायाम तो भाव प्राणायाम समझना एवं उसमें श्वाच्छोश्वास रूपी द्रव्यप्राण का रेचक, पूरक, कुंभक नहीं पर बाह्य भावरूपी प्राण

का रेचक एवं अंतर भावरूपी-भावप्राण का पूरक लेने का है। ऐसे-ऐसे रहस्यों को खोलकर पूज्य उपाध्याय महाराज ने जैन शासन की विशिष्टता तो क्या पर उन्होंने तो सर्वोपरिता साबित की है। द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका नामक ग्रंथ में योगदृष्टि आदि अनेक ग्रंथों के दोहन का संग्रह ग्रन्थ है।

पू. उपाध्याय महाराज ने 'पातंजल योगदर्शन'¹⁸⁴ पर जो समीक्षा की है, वह जैन दर्शन की विशिष्टता को बताता है। योगदर्शनकार योग की व्याख्या चित्तवृत्तिनिरोध ऐसी की है। उपाध्याय महाराज इसमें कुछ परिवर्तन करके कहा है—योग 'क्लिष्ट' चित्तवृत्तिनिरोध, यह बात भी सही है। सामान्य से देखें तो चित्तवृत्ति का निरोध ही उचित है पर वह अन्तिम योग की कक्षा में ही घटित होता है पर पूर्व कक्षा के योगों में वो नहीं घटता, क्योंकि वहाँ शुभ चित्तवृत्ति की गति गतिमान ही होती है। यह बात योगदर्शनकार को भी मान्य है। नियम आदि योग के अंग उतनी कक्षा के योगों को समान होता है, वहाँ चित्तवृत्ति सम्पूर्ण स्थगित या विरुद्ध नहीं है किन्तु इतना ही है कि जो चित्तवृत्ति चल रही है, वह शुभ है पर संक्लिष्ट नहीं है। जैसे योगबिन्दु ग्रंथ में भी जो अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता एवं चित्तवृत्तिसंशय—ऐसे पाँच योग की कक्षा रखी है, उसमें भी पाँच योग में से अन्तिम योग को छोड़कर चार योगों में शुभ चित्तवृत्ति तो चालू ही रहती है।

ऐसे ही उपाध्याय महाराज ने द्रव्य गुण पर्याय रास¹⁸⁵ में भी दिगम्बर मान्यता की समीक्षा करते वक्त नव नय एवं तीन उपनय एवं प्रति उपनय के अर्वांतर भेद करके और दो नय—द्रव्यनय एवं पर्यायनय एवं तीनों उपनय की कल्पना वैसी गौरवयुक्त एवं दोषयुक्त है, उनका सुन्दर आलोचन किया है। उसमें उन्होंने कहा है—सात नय में प्रथम तीन नय द्रव्यनय है और बाद के चार नय पर्याय नय है तो फिर आठवां-नौवां वो दो अलग से द्रव्य-पर्यायनय कौनसा लेने का है ऐसा ही, नयों से भिन्न उपनयों की कल्पना भी निरर्थक है, क्योंकि सात नय हैं वो जीव भिन्न-भिन्न भेद ही हैं अथवा वो यह कह सकते हैं कि सात नय वैसी नयों के विविध द्रष्टान्त हैं।

गूढ़ रहस्यों का दर्शन

पू. उपाध्यायजी के ग्रंथों की विशिष्टता का वर्णन करते-करते तो ग्रंथों के ग्रंथ का सृजन हो जाए, ऐसा है। 'खंडन खंड खाद्य' एवं 'महावीर स्तव'¹⁸⁶ नामक ग्रंथ में बौद्ध की मौलिक मत के तर्क में अनुत्तीर्ण साबित करके अद्भुत रीति से तर्क प्रमाण के बल पर उनका सचोट रीति से खंडन किया है, उसी समय उसकी ही स्वोपज्ञ टीका में उन्होंने उदयनकृत आत्मतत्त्वविवेक नाम के बौद्धमत के खंडन ग्रंथ पर दीतिकरि रचित टीका के पद पर अद्भुत विवेचन किया है।

'खंडनखंडखाद्य' मूल ग्रंथ तो सिर्फ 100 गाथा का है। टीका भी इतनी विस्तृत नहीं है किन्तु उपाध्याय महाराज स्वयं अन्यत्र प्रस्तुत कर रहे हैं कि बौद्ध न्याय के खंडन के लिए उन्होंने डेढ़ लाख श्लोकप्रमाण ग्रंथ की रचना की है। तब आश्चर्य होता है कि कैसी असाधारण विद्वत्ता, कैसा सरल जीवन, कैसी शासन सेवा, उनकी कृतियों का पार पाना बहुत ही कठिन है। उन्होंने स्वयं ही कई स्थानों पर अपनी ही टीका-टब्बा स्वरूप अपने ही ग्रंथों में अनेक रहस्यों का विवेचन किया है। उस पर से ही पता चलता है कि उनके अलावा दूसरे कितने ही रहस्य होंगे, जो उन्होंने स्वयं लिखित विवेचन पर या उनके समकालीन या पूर्वाचार्यों या अद्वितीय विद्वानों के लिखे गए विवेचन पर कई रहस्यों का उद्घाटन किया होगा। वो तो सिर्फ कल्पना का ही विषय है।

‘ज्ञानसार’ अष्टक में प्रथम अष्टक में उन्होंने कहा है कि ‘सच्चिदानन्दपूर्णं पूर्णं जगद अवेक्ष्यते’¹⁸⁷ अर्थात् शुद्ध सत्-चित् आनन्द पूर्ण जो सिद्धात्मा जगत् को सम्पूर्ण रीति से देवता है। यहाँ यह प्रश्न सरल ही होता है कि जगत् तो अज्ञान है, दुःखी है, ऐसी स्थिति में वो चित्तपूर्ण या आनन्दमय कैसे हो सकता है और सिद्धपरमात्मा तो सर्वज्ञ है तो क्या उन्होंने जगत् या दर्शन को अयथार्थ किया। इस प्रश्न का समाधान उपाध्याय महाराज ने स्वोपज्ञ टीका में एक ही लाइन में कहा है कि—“निश्चयनय की दृष्टि से यह भ्रान्ति नहीं है” यह एक ही लाइन ने कितना सुन्दर, सचोट रहस्य का निरूपण किया है। जगत् के सभी जीवों, निश्चय नय से स्वरूप से पूर्ण चित्त एवं आनन्दमय है। यह बात इसको भी सूचित करती है कि जगत् के जीवों, सर्वज्ञ परमात्मा के देखा हुआ आत्मा का स्वरूप नजर के समक्ष रखें तो औपायिक मर्मजन्य उपद्रवों में दुःख एवं अनुकूलता में सुख न हो।

श्रीमद् उपाध्याय महाराज के ग्रंथों में भरे हुए रहस्यों को समझने के लिए जिनागम एवं न्यायादि शास्त्र का अध्ययन जरूरी है। उनका सूक्ष्म बुद्धि के लिए चिन्तन, मनन भी करना चाहिए वरना उनकी पंक्ति का गलत अर्थ भी निकल सकता है, जैसे—अध्यात्मसार में एक स्तोत्र है—

नो चेद भावापरिज्ञानात् सिद्धिसिद्धिपराहतः ।

दीक्षादानेन भव्यानां तीर्थोच्छेदः प्रसज्यते ॥¹⁸⁸

यहाँ यही विवेचन चल रहा है दीक्षा देने के लिए—

यो बुध्वा भवनैर्गुण्यं धीरः स्याद् व्रतपालने ।

स योग्यो भावभेदस्तु नोपलक्ष्यते ॥

अर्थात् जिनको संसार निर्गुण या असार लगा हो, जिनके महाव्रत का पालन करने की शक्ति है, वो ही व्यक्ति दीक्षा योग्य है, किन्तु उसमें छट्टे गुणस्थानक का भाव लगा हुआ है या नहीं, वो देखने का नहीं है। क्यों नहीं उनके उत्तर में—‘नो चेद भावापरिज्ञानात्...’ वो श्लोक बताया है। इसमें ‘सिद्धिसिद्धिपराहत’ वो सामासिक पद का अर्थ विशिष्ट शास्त्राभ्यास के अनुभव बिना स्वतः समझना मुश्किल है। कई स्थान पर यह भी पढ़ने में आता है, जिसमें किसने उसका उनके समान ही अर्थ किया हो—ऐसा लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अंतर के भाव को बिना जाने सिद्धि एवं असिद्धि से पराहत होकर दीक्षा नहीं देने के कारण तीर्थ को उच्छेद का प्रसंग आता है। इसमें सिद्धि एवं असिद्धि के पराहत होने से इतना भाग दीक्षा नहीं, अपने में हेतुभूत है। तात्पर्य यह है कि अंतर में गुणगान के भाव हों तो ही दीक्षा देनी चाहिए। ऐसा सामने वाले का मत हो तो फिर दीक्षा किसी को दे भी नहीं सकते, क्योंकि दीक्षा का दान सिद्धि-असिद्धि से पराहत है, अर्थात् जो छट्टा गुणगान के भाव से वो आत्मा में सिद्धि है ही तो फिर दीक्षा देने से कोई विशेष नहीं है, ऐसा जो भाव की असिद्धि है अर्थात् भाव, परिणाम प्राप्त न होता तो आगम मतानुसार दीक्षा दे सकते, नहीं तो फिर दीक्षा देना व्यर्थ हो जायेगा। वैसे ही अंतर में छट्टा गुणगान के परिणामरूप भाव की सिद्धि हो या असिद्धि—उभय दशा में दीक्षा देना निरर्थक हो जायेगा, फिर तो इसे जगत् में, समीप में, शासन में दीक्षितों की परम्परा ही नहीं रहेगी, इसलिए जगत् में शासन के तीर्थ जैसा कुछ भी नहीं रहेगा। ऐसा होते-होते फिर तीर्थ का उच्छेद ही होने वाला है, जैसे अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न रहस्योद्घाटन किया है।

वैसे ही नयोपदेश एवं नयरहस्य¹⁸⁹ के सप्तभंगी के स्वरूप का वर्णन करते हुए तीसरा अव्यक्त भंग पर सुन्दर जिज्ञासा व्यक्त करके सुन्दर रहस्यमय विवेचन किया है। जिज्ञासा पद है कि वस्तु परस्पर

- विरुद्ध ऐसे उभय धर्मरूप एक साथ कह सकते हैं या नहीं। जैसे—घट को एक बार स्यात्, सत् कहा, अगर दूसरी बार स्यात् असत् कहा तो एक साथ कैसे कहा कि घट कैसा है? उनके उत्तर में घट अवक्तव्य है, तब यह प्रश्न होता है कि अवक्तव्य क्यों? जैसे पुष्पदंत शब्द से सूर्य एवं चन्द्र दोनों का एक शब्द से निर्वचन होता है, वैसे यहाँ भी सत्-असत्—दोनों एक साथ निर्वाचक एवं सांकेतिक शब्द कहने से घट वक्तव्य होगा ना? अर्थात् उस संकेत से वह सत्-असत् उभयरूप एक साथ वक्तव्य होगा ना? उनके उत्तर में उपाध्यायजी ने कहा है—वो संकेत शब्द किस प्रकार का कहेंगे? संकेत जो सत्-असत् का क्रमबद्धवाचक है तो प्रस्तुत भंग के लिए उपयोगी नहीं है। जो एक साथ सत्-असत् का वाचक है अर्थात् युग पदवाचक है तो वह वस्तु भी प्रश्नान्तर्गत है या घट सत्-असत् का उभयरूप एक साथ निर्वचन हो सकता है? तब तुम कहोगे कि हाँ, संकेत से हो सकता है तब सांकेतिक शब्द के लिए शक्तिज्ञान कैसे करोगे?

अर्थात् एक साथ सत्-असत् उभय में सांकेतिक शब्द की शक्ति रखनी पड़े तब शक्यतावच्छेदक कौन सत्व, असत्व जो कहे तो फिर वहाँ प्रश्न होता है कि सांकेतिक पद से सत्व एवं असत्व का निर्वचन एक साथ होगा या क्रमवार? एक साथ होगा ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि जिस समय सत्व का उच्चारण होता है तब असत्व का उच्चारण नहीं होता है और जब असत्व का उच्चारण होता है तब सत्व का निर्वचन नहीं होता है। तब वहाँ सत्व-असत्व दोनों का एक साथ निर्वचन करने वाले कोई भिन्न सांकेतिक शब्द की कल्पना करे तो वहाँ वापिस शक्यतावच्छेदक का प्रश्न खड़ा हो जाता है, इस तरह अनवस्था दोष आ जाता है।

पू. उपाध्यायजी महाराज के शास्त्ररत्नों से भरे हुए अद्भुत रहस्यों एवं विशिष्ट पदार्थों का क्या वर्णन कर सकते हैं? यह तो सिर्फ सामान्य जीवलक्षी यानी सामान्य जीव समझे वैसे ही उदाहरण दिया है, वरना तो दर्शन एवं सूक्ष्म तत्त्व के जानकार को समझ में आये ऐसा तो कई ग्रंथों में कई स्थानों पर विशिष्ट प्रकार के रहस्य भरे हुए हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल रहस्यों एवं विशेषताओं सहित उनकी शास्त्रकृतियों में कहे हुए तत्त्वों एवं पदार्थों का जीवन बोध, मीमांसा एवं अनुभवन वो मानवजीवन को चार चाँद लगा दे जैसा है। इसके लिए श्रवणादि का बहुत ही अभ्यास करना जरूरी है। पुनः-पुनः चिंतन, मनन, श्रवण, ग्रहण उनके बाद परिशीलन अनुभवन-आत्मभवन होना चाहिए अर्थात् उसमें अपनी आत्मा को भावित बनाना जरूरी है। जिन्दगी शॉर्ट है, उससे सिर्फ उपाध्याय के ग्रंथों का ही अभ्यास करेंगे तो भी अभ्यास पूर्ण नहीं होगा पर जिन्दगी पूरी हो जायेगी। ऐसे गूढ़ रहस्यों से भरे हुए उपाध्यायजी के ग्रंथ हैं, ऐसा मेरा मानना है। उनका सही ढंग से अभ्यास किया जाए तो उसमें से व्यापक बोध एवं प्रेरणा पाकर अपने जीवन को सुकृत कर सकते हैं किन्तु जो ऊपर उन रहस्यों एवं विशेषताओं सहित उन पदार्थों के आत्मभवन का त्याग करके केवल साहित्यिक दृष्टि, ऐतिहासिक दृष्टि, समन्वय दृष्टि, तुलनात्मक दृष्टि इत्यादि विषय प्रतिभाव रूप ज्ञान में ही मग्न हो जाए तो मानव जीवन का अनमोल कर्तव्य जो विषय-परिणति एवं संवेदन ज्ञान है, वो ऐसा ही रह जायेगा।

विकसित श्रद्धावाद की जरूरत

तत्त्व का प्रतिभासज्ञान कितना ही क्यों न हो जाए पर जो परिणतिज्ञान एवं तत्त्वसंवेदन ज्ञान प्रगट न हो तो उस ज्ञान की कोई कीमत ही नहीं है। परिणति ज्ञान लाने के लिए हृदय को निर्बल बनाकर उस तत्त्व के स्वरूप के अनुरूप बनाना आवश्यक हो जाता है। जैसे—आश्रव तत्त्व का ज्ञान हो गया,

आश्रव का स्वरूप हेय है तो हृदय के भाव की धारा भी हेयता के अनुरूप होनी चाहिए अर्थात् आश्रव के प्रति अज्ञास्था, अरुचि एवं तिरस्कार भरा व्यवहार होना चाहिए। आश्रव में आत्मा को भय होना चाहिए। जहाँ आश्रव की बात आये तब अकर्तव्यता भाव, तिरस्कार आना, ऐसे भाव का आश्रव का ज्ञान वो परिणतिज्ञान है। उनके वक्त तत्त्वसंवेदन के ज्ञान की प्रवृत्ति में गहराई में जाने की बात आती है अर्थात् आश्रव के प्रति भय, तिरस्कार का भाव आया था पर आश्रव का त्याग नहीं हुआ था। आत्मा उसके तद्न अनासक्त एवं अलिप्त नहीं बनी थी तब तत्त्व संवेदन में तो आश्रव के प्रति सहज ही अनासक्त भाव आता है, उसके अलिप्त रहने की भावना आती है अर्थात् अब अंतर से भी आश्रवमय प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु सर्वथा विरतीभाव आता है, यह समय जीवन में बहुत ही उपयोगी है। यह परिस्थिति मानव जीवन में ही शक्य है। उनके बिना सिर्फ प्रतिभास ज्ञान से तो कुछ भी आत्महित नहीं होता है। वैसे तो अभव्य भी नव पूर्व तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इतना प्रातिभासित ज्ञान मात्र से क्या परिणाम एवं संवेदन के लक्ष बिना भी ऐतिहासिक दृष्टि हृदय में संवेगजन्य बोध नहीं पाती है। तो फिर संसार से अलिप्त एवं भिन्न होने की तो बात ही क्या? आज के भौतिकवाद के जोर पर चल रहा साम्यवाद को चलाने के लिए ऋषि-महर्षियों के तर्क-युक्तिपूर्ण गम्भीर वचनों पर श्रद्धावाद को मधु विकसित करने की आवश्यकता है। वरना आपका यह बुद्धिवादी वातावरण जैन एवं आर्यप्रजा को संस्कृति के विनाश की तरफ ले जा रहा है।

उपाध्यायजी के रहस्य अंकित ग्रंथों की रहस्य भरी बातें सुनकर परस्पर चिंतन, मनन करके उनमें शस्त्ररत्नों में से अपने जीवन में नक्कर तत्त्वदृष्टि, केवल परिणति संवेदन ज्ञान एवं संवेग विरागादि से परिपुष्ट आध्यात्मिकता की उच्च कक्षा पर पहुंचकर आंतरात्मदशा के उल्लसित अभ्यास कर परमात्मदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, यही अन्तिम लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्न जारी रखें।

सन्दर्भ सूची—

1. साहित्य कोश, पृ. 625
2. (क) ऋग्वेद, 2/1/152/3; वही, 3/4/158/3; वही, 4/5/47/5
(ख) अथर्ववेद, 9/9/5
3. (क) ईशोपनिषद्, 4-5; (ख) कठोपनिषद्, 1/2/20; (ग) श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3/19-20
4. धम्मपद, पकिण्णवग्गो 4-6, चर्चापद-2, 11, 33 1
5. सर्वधातुभ्योऽसुन (उणादि सूत्र, चतुर्थ पाद)
6. तत्रभवः दिगादिभ्यो यत्, पाणिनि सूत्र, 4/3/53-54
7. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड-6, पृ. 493
8. पाइअ-लच्छी नाममाला कोश, गाथा-271
9. गुह्ये रहस्य.....। अभिधान चिंतामणि कोश, 742
10. पाइअ-सह-महण्णवो, पृ. 708
11. धवला, 1.1.1, 1.44.4
12. अमरकोश, 2/8, 22-23; एवं अभिधान चिंतामणिकोश, 741

13. भेदिनी कोश, उद्धृत—रहस्यवाद, पृ. 3
14. भगवद गोमण्डल, भाग-8, पृ. 755
15. महाराष्ट्र शब्दकोश, भाग-6, पृ. 2598
16. ऋग्वेद, 2/29/1
17. समयसार
18. भगवद् गीता, 6/10
19. वही, 4/3
20. वही, 18/63
21. वही, 18/64
22. वही, 18/68
23. वही, 11/1
24. नायाधम्मकहाओ, 1/7/14, 8/14
25. उत्तराध्ययन, 1/17
26. पण्डावाकरण, 1/4
27. सूत्रकृतांग, 1/4/1/18
28. रायपसेणी, 210/283
29. दसवैकालिक, 5/1/16 एवं 10/17
30. औपपातिक, 38
31. उवासगदशांग, 1/46
32. ठाणं, 3-4
33. ओघनिर्युक्ति, 760
34. वही, 760-62
35. ओघनिर्युक्ति, श्रोणिवृत्ति, 760-62
36. The Concise Oxford Dictionary, p. 782
37. Comparative Religion, p. 286
38. मराठी साहित्यांतीत मधुराभक्ति, पृ. 150-51
39. वेदान्त और सूफीदर्शन, पृ. 146, 164-165
40. Mysticism and Religion, p. 25
41. The Teachings of the Mystics, p. 238
42. Encyclopaedia of Religion
43. The Teachings of the Mystics, p. 12

44. **Mysticism and Religion**
45. **Eastern Religion and Western Thought, p. 61**
46. **Mysticism and Logic, p. 3**
47. **Exploring Mysticism, p. 59**
48. **The Critics of Religious Experience, p. 379-429**
49. **Practical Mysticism, p. 3**
50. **Varieties of Religious Experience, p. 38**
51. **Mysticism East and West, p. 95**
52. **आनन्दघन का रहस्यवाद, पृ. 11**
53. **Mysticism in Religion, p. 25**
54. **Eastern Religion and Western Thought, p. 66**
55. **Mysticism in the Bhagvad Gita**
56. **The Meaning of God in Human Experience, p. 355**
57. **Philosophical Study of Mysticism, p. 7**
58. **Mysticism in Bhagvad Gita, p. I (preface)**
59. **The Theory and Art of Mysticism, p. XII**
60. **Studies in Vedanta, p. 150-160**
61. **आनन्दघनजी का रहस्यवाद, पृ. 15**
62. **Counter Attack from the East, p. 149**
63. **The Hindu View of Life, p. 77**
64. **रहस्यवाद, पृ. 25**
65. **आनन्दघन का रहस्यवाद, पृ. 16**
66. **अपभ्रंश और हिन्दी में रहस्यवाद, पृ. 13**
67. **भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ. 5 (भूमिका)**
68. **कबीर का रहस्यवाद, पृ. 34**
69. **हिन्दी पदसंग्रह, पृ. 20**
70. **आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 334**
71. **Modern Indian Mysticism, p. 38**
72. **कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन, पृ. 65**
73. **वही, पृ. 20**
74. **Hindu Mysticism, p. 3**

75. रहस्यवाद, पृ. 24-31
76. कबीर ग्रंथावली, पृ. 11
77. ऋग्वेद, मण्डल-9, सूक्त-83
78. ऋग्वेद, 7/76/6
79. ऋग्वेद, 10/129/1, 2
80. वही, 1/164/46
81. वही, 10/90/1
82. वही, 10/121
83. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5/1/1
84. केनोपनिषद्, 2/1, 2/2
85. वही, 2/3
86. ईषोपनिषद् 15 एवं बृहदारण्यकोपनिषद्, 5/15/1
87. छान्दोग्योपनिषद्, 6/2/1
88. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/7
89. श्वेताश्वेतर कठोपनिषद्, 3/20 एवं कठोपनिषद्, 2/20
90. कठोपनिषद्, 2/3/12
91. गीता, 11/16
92. मिस्टिसिन् इन महाराष्ट्र, पृ. 8
93. श्रीमद् भागवत् स्कन्ध-5, अध्याय-3
94. अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्—नारद भक्ति सूत्र, 51
95. दोहाकोश, 26, 69
96. बौद्धगान और दोहा, उद्धृत—आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, पृ. 11
97. वही
98. वही
99. बौद्ध गान और दोहा
100. आनन्दघन का रहस्यवाद, पृ. 29
101. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगी
102. भारतीय संस्कृति और साधना-2, पृ. 254
103. गोरखबानी-23
104. वही, 94
105. वही, 106

106. सुषुम्ना सधिनः—सा सन्ध्या संधिरुच्यते ।
107. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह
108. गोरखबानी, 124
109. नाथ सम्प्रदाय, पृ. 127
110. गोरक्ष सिद्धान्त, 148
111. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 71-72
112. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, पृ. 26
113. वही, पृ. 26
114. जायसी ग्रन्थावली, पृ. 42
115. वही, पृ. 30
116. वही, पृ. 138
117. वही, पृ. 45
118. वही, पृ. 14
119. वही, पृ. 48
120. कबीर ग्रंथावली, पृ. 243
121. वही, पृ. 110
122. वही, पृ. 13
123. वही, पृ. 16
124. वही, पृ. 13
125. वही, पृ. 12
126. वही, पृ. 374
127. वही, पृ. 87
128. वही, पृ. 87
129. वही, पृ. 425
130. वही, पृ. 88
131. वही, पृ. 124
132. वही, पृ. 399
133. वही, पृ. 9
134. कबीर ग्रंथावली, उद्धृत—कबीर का रहस्यवाद, पृ. 163
135. वही, पृ. 379
136. मीराबाई की पदावली, पृ. 80

137. वही, पृ. 72
138. वही, पृ. 107
139. वही, पृ. 86
140. मोक्षपाहुड, 4
141. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 192
142. समाधितंत्र, 4
143. योगसार, 6
144. परमात्मप्रकाश, 13
145. ज्ञानार्णव, 5
146. योगशास्त्र द्वादशप्रकाश, 6
147. अध्यात्म रहस्य, श्लोक 4-5
148. ब्रह्मविलास—परमात्म छत्तीसी, 2
149. धर्मविलास, अध्यात्म पंचासिका, 41
150. योगावतार द्वात्रिंशिका, 17
151. यजुर्वेद, उद्धृत—हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 476
152. श्रीमद् भागवत, पंचम स्कन्ध, पंचम अध्याय, पृ. 563
153. आनन्दघन का रहस्यवाद, पृ. 38
154. Indian Mysticism, p. 9
155. Jainism is Based on a Mystic Experience, p. 18
156. आचारांग, 1/5/6
157. वही, 1/3/4
158. (अ) वही, 1/3/4
(ब) तुलनीय - बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/6
159. विशेषावश्यक भाष्य, 482
160. प्रवचनसार, 1, गाथा 48-49
161. आचारांग, 1/1/1
162. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. 439
163. मोक्षप्राभृत, 4
164. मोक्षपाहुड, 24
165. परमात्मप्रकाश, पृ. 23
166. वही, 174-175, पृ. 284-285

167. परमात्मप्रकाश, 12
168. पाहुड, पृ. 16
169. बनारसी विलास, पृ. 161
170. श्रेयांसजिन स्तवन
171. वही
172. श्रेयांसजिन स्तवन
173. अध्यात्मसार, अधिकार-2, श्लोक-2
174. श्रेयांसजिन स्तवन
175. वही
176. आदिनाथ भगवान का स्तवन, गाथा-1
177. नेमिजिन स्तवन, गाथा 3
178. वही, गाथा 4
179. अनेकान्त व्यवस्था
180. स्याद्वाद कल्पलता
181. ज्ञानबिन्दु, नयोपदेश
182. सिद्धान्त बिन्दु
183. द्वात्रिंशद द्वात्रिंशिका
184. पातंजल योगदर्शन
185. द्रव्यगुण पर्याय रास
186. खंडन खंड खाद्य, महावीर स्तव
187. ज्ञानसार, प्रथम अष्टक
188. अध्यात्मसार
189. नयोपदेश, नयरहस्य

नवम अध्याय

उपाध्याय यशोविजय की दृष्टि में अन्य दर्शनों की अवधारणा

सत् के सन्दर्भ में
आत्मा के सन्दर्भ में
योग के सन्दर्भ में
मोक्ष के सन्दर्भ में

कर्म के सन्दर्भ में
प्रमाण के सन्दर्भ में
सर्वज्ञ के सन्दर्भ में
न्याय के सन्दर्भ में

अन्य सन्दर्भ में

उपाध्याय यशोविजय के दर्शन में अन्य दर्शनों की अवधारणा

वाचक यशोविजय एक ऐसे उपाध्याय हुए हैं, जिन्होंने जैन दर्शन की भव्यता, दिव्यता के साथ अन्य भारतीय दर्शनों के बीच एक सेतु का कार्य किया है। वे एक ऐसे उदारवादी दार्शनिक उपाध्याय माने जाते हैं, जिनका किसी से वैर-विरोध या राग-आसक्ति नहीं है। इसीलिए उनकी दार्शनिक कृतियों में अन्य दर्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख देखा जा सकता है। यहाँ विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिसका प्रस्तुतीकरण किसी-न-किसी रूप में उपाध्यायजी के दर्शन में दृष्टिगोचर होता देखा जाता है।

सत् के सन्दर्भ में

विश्व का वैविध्य दृष्टिगोचर है। जगत् के विस्तार को देखकर उसके मूल स्तोत्र की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। विश्व का विस्तार एवं मूल सत् रूप है अथवा असत् रूप है। यह जिज्ञासा भी दार्शनिकों के चिन्ता का विषय रही है। एक समान दृष्टिगोचर होने वाले जगत् के बारे में चिन्ताओं में विचार भेद रहा है।

सत् दर्शन जगत् का एक मूलभूत तत्त्व है। सत्वाद दार्शनिक जगत् का पुरातन प्रमेयतत्त्व रहा है।

सत् शब्द का प्रयोग प्रशस्त कार्य के लिए माना गया है। सद्भाव में साधुवाद में सत् शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ है। यज्ञ में, तप में और दान में सत् की स्थिति रही हुई है। यज्ञ, तप और दान के लिए ही जो कार्य किया जाता है, वह सत्संज्ञा से संबोधित रहता है। इसलिए सत् का स्थान इसमें भी है और परलोक में भी है। श्रद्धा से युक्त कार्य सत् कहलाता है। वह सत् तप भी हो, जप भी हो, दान भी हो, चाहे स्वाध्याय भी हो—ये सभी पावन परम्परा के पथिक हैं। इस प्रकार सत् शब्द का उपयोग श्रीमद् भगवद् गीता में किया गया है।

सत् विषयक उपाध्याय यशोविजय का गहनतम मन्तव्य एवं चिन्तन, मनन एवं मंथन है, जो उमास्वाति के मन्तव्य का ही अनुकरण है। उपाध्याय यशोविजय उमास्वातिजी के अनुयायी होते हुए अन्य दार्शनिकों में जगत् सम्बन्धी सत् विरोधी सिद्धान्त का प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं।

शास्त्रचारों का श्रम इस जगत् को सत्वाद स्वरूप से ही निरूपण करने में रहा है। भारतीय दर्शन में सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद हैं।

वेदान्त दर्शन सत् (ब्रह्म) को एक एवं कूटस्थ नित्य मानता है। संसार में नानात्व नहीं है। एकत्व ही यथार्थ है—

“सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन”।¹

ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः”² ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म स्वरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, यह वेदान्त दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है।

बौद्ध के अनुसार सत् को अर्थक्रियाकारक कहा गया है। उसमें वाङ्मय में सत् क्षणिक है, मात्र उत्पाद विनाशशील है, नित्यतायुक्त किसी पदार्थ या जगत् में अस्तित्व ही नहीं है। क्षणभंगवाद बौद्ध

दर्शन का मूल सिद्धान्त है। उनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् क्षणिक है। प्रत्येक क्षण में विनाश स्वयं होता है। विनाश के लिए किसी बाह्य हेतु की आवश्यकता नहीं होती है। उपाध्याय यशोविजय ने जैन तर्कपरिभाषा में कहा है—

“नश्वरमेव तदवस्तुं स्वहेतोरुपजातमङ्गातिकर्तव्यम्, तरमादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति उत्पत्तिक्षण एव सत्त्वात्।”¹⁴

बौद्ध दर्शन के अनुसार जो जो सत् रूप है, वह एकान्त रूप से क्षणिक है। कोई भी सत् पदार्थ क्षणिकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता—“सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्—यथा घटः”।¹⁵ सब अस्तित्वान् पदार्थ क्षणिक है। अक्षणिक नित्य पदार्थ की कल्पना शशश्रुगवत् निरर्थक है। नित्य पदार्थ क्रम अथवा युगपत् दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया नहीं कर सकता। जिसमें अर्थक्रिया नहीं होती है, वह सत् रूप भी नहीं हो सकता। सत् वही है, जो अर्थक्रिया करे। न्यायविन्दु में व्याख्या करते हुए कहा है कि—

“अर्थक्रिया सामर्थ्यलक्षण त्वाद्धस्तुनः”।¹⁶

संक्षेप में बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिक पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ है। अतः एकमात्र क्षणिक पदार्थ ही सत् रूप है।

सांख्य दर्शन चेतन तत्त्व रूप सत् पदार्थ को कूटस्थ नित्य एवं प्रकृति रूप सत् को परिणामी नित्य मानता है। नैयायिक—वैशेषिक दर्शन अनेक पदार्थों में से आत्मा, परमाणु, काल आदि सत् तत्त्वों को कूटस्थ नित्य मानता है तथा घट, पट आदि कुछ पदार्थों को मात्र उत्पाद एवं व्यययुक्त ही मानता है, नित्य रूप नहीं मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार सत् वस्तु नित्यानित्यात्मक उभयरूप है। वस्तु केवल कूटस्थ नित्य भी नहीं है और केवल निरन्वयविनाशी भी नहीं है। सांख्य दर्शन की तरह उसका एक तत्त्व सर्वथा नित्य एवं घट, पट आदि कुछ अनित्य है, ऐसा भी नहीं है। उनके अनुसार जड़, चेतन, मूर्त-अमूर्त, सूक्ष्म और स्थूल सभी सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। सम्पूर्ण वस्तु जगत् त्रयात्मक है। वाचक उमास्वाति ने कहा भी है कि—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।¹⁷

अद्वैत वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहकर उसके अस्तित्व को ही नकार दिया। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लिया। लेकिन जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों पारमार्थिक हैं। हमारा ज्ञान जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित रहता है और पर्याय गौण हो जाता है और जब ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय प्रधान एवं द्रव्य गौण हो जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

अपययं वस्तु समस्यमानंमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।¹⁸

जैन दर्शन में उपाध्याय यशोविजय के अनुसार वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक अर्थात् सागान्य-विशेषात्मक है। सामान्य एवं विशेष का परस्पर अविनाभाव है। वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पर्याय रहित द्रव्य एवं द्रव्य रहित पर्याय सत्य नहीं है—

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यविवर्जिताः।

कव कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा।।¹⁹

जैन दर्शन के मन्तव्यानुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं। एक ही वस्तु एक ही समय में उत्पत्तिशील, विनश्वर एवं ध्रुवतायुक्त है। त्रिगुणात्मक वस्तु ही अर्थ क्रिया करने में समर्थ है। अर्थक्रियाकारित्व वस्तु का लक्षण है एवं वह लक्षण एकान्त नित्य एवं अनित्य तथा निरपेक्ष नित्य एवं अनित्य पदार्थ में घटित ही नहीं हो सकता। अर्थक्रियाकारित्व द्रव्यपर्यायात्मक उभयस्वभाव वाली वस्तु में घटित हो सकता है अतः उभयात्मक वस्तु ही वास्तविक सत्ता है।

जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, तत्त्वार्थ एवं पदार्थ—इन शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में होता रहा है। जो सत् रूप पदार्थ हैं, वे ही द्रव्य हैं, तात्त्विक हैं। दर्शनशास्त्र में सर्वप्रथम स्वयं के दर्शन से सम्मत तत्त्वों का निर्देश प्रारम्भ में कर दिया जाता है। वैशेषिक सूत्र में द्रव्य आदि छः पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। उनमें से द्रव्य, गुण एवं कर्म—इन तीनों को सत् इस पारिभाषिक संज्ञा से अभिहित किया गया है। न्यायसूत्र में प्रमाण आदि सोलह तत्त्वों को भाष्यकार ने सत् शब्द से व्यवहृत किया है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। जैन आगमों में संक्षेप में जीव एवं अजीव—ये दो तत्त्व तथा विस्तार में नवतत्त्वों का उल्लेख प्राप्त है।

जैन धर्म के प्रमुख आचार्य तत्त्वव्याख्याता वाचकमुख्य ने सत् का बीज जो भगवान महावीर की वाणी में था, उसका पल्लवन किया। आगमों में तिर्यक और उर्ध्व—दोनों प्रकारों के पर्यायों का आधार द्रव्य को माना है, जो सर्वद्रव्यों का अविशेष है—

अविसेसिए दव्वे विसेसिए जीव दव्वे अजीव दव्वे ।

किन्तु आगमों में द्रव्य की सत् संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में सत् इस संज्ञा का समावेश हुआ तब जैन दार्शनिक के समक्ष भी सत् किसे कहा जाए, यह प्रश्न उपस्थित हुआ।

उमास्वाति ने कहा—द्रव्य ही सत् है। 'सद् द्रव्यलक्षणम्'—सत् को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा—'उत्पादव्यधौव्ययुक्तं सत्'।^१ ऐसी परिभाषा होने से जैन दर्शन का सत् अन्य दर्शनों से स्वतः ही विलक्षण हो गया तथा जैन दृष्टि से सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। वाचक ने सत्य को नित्य कहा किन्तु नित्य की स्वमन्तव्य पोषक परिभाषा करके उसे एकान्त के आग्रह से मुक्त रखा। 'तद्भावाव्यं नित्यम्'^२ उत्पाद और व्यय के होते हुए भी जिसका सदरूप समाप्त नहीं होता, यही सत् की नित्यता है। पर्यायों के बदल जाने पर भी द्रव्य की सत्ता समाप्त नहीं होती। वह निरन्तर पूर्व उत्तर पर्यायों में अनुस्यूत होती रहती है।

उमास्वाति ने चतुर्विध सत् की कल्पना की है। सत् को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया है—
1. द्रव्यास्तिक, 2. मातृकापदास्तिक, 3. उत्पन्नास्तिक, 4. पर्यायास्तिक।

सत् का इस प्रकार का विभाजन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। यह उनकी मौलिक अवधारणा है। उमास्वाति ने इस चतुर्विध सत् का विशेष व्याख्या नहीं किया। ज्ञान की स्थूलता एवं सूक्ष्मता के आधार पर सत् के चार पदों का निरूपण किया। टीकाकार सिद्धसेनगणि ने इनकी कुछ स्पष्टता की है। प्रथम दो सत् द्रव्यनयाश्रित हैं तथा अन्तिम दो भेद पर्यायनयाश्रित हैं। सत् के चार विभागों के अन्तर्गत आचार्य उमास्वाति ने सत् की सम्पूर्ण अवधारणा को समाहित करने का प्रयत्न किया है।

द्रव्यास्तिक सत् का कथन द्रव्य के आधार पर है, मातृकापदास्तिक का कथन द्रव्य के विभाग के आधार पर, उत्पन्नास्तिक का व्याकरण तात्कालिक वर्तमान पर्याय के आधार पर है तथा पर्यायास्तिक का कथन भूत एवं भावी पर्याय के आधार पर हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

द्रव्यास्तिक के अनुसार, 'असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य' असत् कुछ होता ही नहीं, वह सत् को ही स्वीकार करता है। सर्ववस्तु संलक्षण त्वादसत्पतिषेधेन सर्वसंग्रदेशो द्रव्यास्तिकम्। द्रव्यास्तिक सत् संग्रह नय के अभिप्राय वाला है। सर्वमेकं सदविशेषात्—इस सत् द्वारा सप्तभंगी का प्रथम भंग स्यात् अस्ति फलित होता है।

मातृकापदास्तिक सत् के द्वारा द्रव्यों का विभाग होने से अस्तित्व एवं नास्तिक धर्म प्रकट होता है। मातृकापद व्यवहारनयानुसारी है। द्रव्यास्तिक के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को सत् कह देने मात्र से वह व्यवहार उपयोगी नहीं हो सकता। व्यवहार विभाग के बिना नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी वे परस्पर भिन्न स्वभाव वाले हैं। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकता। यह मातृकापदास्तिक का कथन है। विभक्ति का निमित्त होने के कारण मातृकापद, व्यवहार उपयोगी है—

“स्थूलकतिपय व्यवहस्योग्यविशेष प्रधान मातृका पदास्तिकम्।”

उत्पन्नास्तिक सत् का सम्बन्ध मात्र वर्तमान काल से है। वह अतीत एवं अनागत को अस्वीकार करता है। अतः यह नास्ति रूप है। वर्तमान को स्वीकार करता है अतः अस्ति है। इससे सप्तभंगी का अवक्तव्य नाम का भंग फलित होता है। पर्यायनयानुगामी होने से इसकी दृष्टि भेदप्रधान है। सम्पूर्ण व्यवहार की कारणभूत वस्तु निरन्तर उत्पाद विनाशशील है। कुछ ही स्थितिशील नहीं है, वह उत्पन्नास्तिक का कथन है। इसकी मान्यता उत्पत्ति में ही है। “उत्पन्नास्तिकमुत्पन्नेऽस्तिभर्तिः” अनुत्पन्न स्थिति को यह स्वीकार ही नहीं करता।

पर्यायास्तिक सत् विनाश को स्वीकार करता है। जो उत्पन्न हुए हैं, वे अवश्य विनश्वर स्वभाव वाला है। जितना उत्पाद हो, उतना ही विनाश।

“विनोशोऽस्तिभतिपर्यायास्तिमुच्यते” कुछ मानते हैं कि पर्यायास्तिक उत्पद्यमान पर्याय को ही मानता है। “उत्पद्यमानाः पर्यायास्तिमुच्यते” इन दोनों मतों का समन्वय से फलित होता है कि पर्यायास्तिक नयभूत एवं अनागत को स्वीकार करता है तथा वर्तमान का निषेध करता है अतः वह अस्तिनास्ति रूप है। भूत भविष्य की अपेक्षा अस्ति, वर्तमान पर्याय की अपेक्षा नास्ति है। इससे भी अवक्तव्य भंग का कथन होता है, क्योंकि अस्ति-नास्ति को एक साथ नहीं कहा जा सकता है। संक्षेप में द्रव्यास्तिक से परम संग्रह का विषयभूत सत् द्रव्य और मातृकापदास्तिक से सत् द्रव्य के व्यवहाराश्रित धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य का विभाग उनमें भेद-प्रभेद अभिप्रेत है। प्रत्येक क्षण में नवनवोत्पन्न वस्तु का रूप उत्पन्नास्तिक और प्रत्येक क्षण में होने वाला विनाश या भेद पर्यायास्तिक से अभिप्रेत है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रिपदी का समावेश चतुर्धा विभक्त सत् में हो जाता है।

जैन दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। वह जगत् की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों ही जगत् का तात्विक अस्तित्व है। वस्तुवाद के अनुसार सत् को बाह्य, आभ्यन्तर, पारमार्थिक, व्यावहारिक, परिकल्पक परतन्त्र, परिनिष्पन्न आदि भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। सत्त्व सत्य ही है, उसमें विभाग नहीं होता। प्रमाण में अवभासित होने वाले सारे तत्त्व वास्तविक हैं। इन्द्रिय, मन

एवं अतीन्द्रिय ज्ञान—इन सब साधनों से ज्ञात होने वाला प्रमेय वास्तविक है। इन साधनों से प्राप्त ज्ञान में स्पष्टता-अस्पष्टता, न्यूनाधिकता हो सकती है किन्तु इनसे ज्ञात पदार्थों का अपलाप नहीं किया जा सकता अर्थात् सत् पारमार्थिक, सांघृत्तिक के भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता है। द्रव्य एवं पर्याय, नित्यता एवं अनित्यता—ये सब वस्तु के स्वरूप हैं। इनमें से किसी एक का अपलाप करना जैन दर्शन के अनुसार वस्तुसत्य का अपलाप करना है। जैन के अनुसार सत् अर्थात् वस्तु सामान्य विशेषात्मक है।

संक्षेप में शास्त्रकारों का श्रम इस जगत् को सत्वाद स्वरूप से ही निरूपण करने में रहा है।

—वैदिक जगत् में सत् को ही ब्रह्म स्वरूप से स्वीकृत किया गया है—‘सदविशिष्ट मेव सर्व’।

—बौद्ध वाङ्मय में सत् को अर्धक्रियाकारक कहा गया है।

—न्याय दर्शन में सत् को सत्ता नामक पर-सामान्य से लक्षित किया गया है।

—सांख्यदर्शन के प्रथम आचार्य कपिल ने सत् को चैतन्यात्मक घोषित किया है। सत्व को त्रिगुणात्मक भी कहा है।

—उपनिषदों की परिभाषा में सत् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महत्तर निर्दिष्ट किया गया है।

—ऋग्वेदकालीन सत् को इतना महत्त्व दिया है कि उसका भी अस्तित्व है, क्योंकि नामोल्लेख ही अस्तित्व को सिद्ध करता है।

—पुरातन पुराणों के प्रखर वक्ता श्री व्यास ने सत् को नित्य और अविनाशी कहा है।

—आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने उपमेय भाव से सत् विषय को आलोकित किया है और साथ में युक्तिसंगत एवं उचित है। जिस प्रकार एक ही दूध दही, नवनीत और घी के स्वरूप को धारण करता है, वैसे ही एक ही सत् अनेक उत्पादात्मक, व्ययात्मक एवं ध्रुवात्मक रूप से परिणत होता है।

इसी का सार महोपाध्याय यशोविजय ने द्रव्य-गुण पर्याय के रास में प्रस्तुत किया है।

घट मुकुट सुवर्ण अर्थिआ, व्यय उत्पति थिति पेरवंत रे।

निजरूपइं होवई हेमथी दुःख हर्ष उपेक्षावंत रे।।

दुग्ध दधि भुंजइ नही, नवि दूध दधिव्रत खाई रे।

नवि दोइं अगोरसव्रत जिमइं तिणि तियलक्षण जग थाई।।¹¹

महोपाध्याय यशोविजयकृत नयरहस्य में अन्यदर्शनकृत सत् का लक्षण इस प्रकार संदर्शित है—
सदाविशिष्टमेव सर्व।¹²

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सत् का अस्तित्व इतिहास मान्य है। समाज स्वीकार्य है। और सभी दार्शनिकों का स्पष्ट सम्बोध है कि सत् एक अस्तित्ववान् सत्व है और वह तत्त्व भी है। सत्व क्यों है, कि वह आत्मवाद से अभिन्न है और तत्त्व क्यों है, कि वह दार्शनिक विचारश्रेणिका नवनीत पीयूष है।

सत्वरहित चिंतन दार्शनिक जगत् में स्थान प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिए रासम्मान सत्व को ईश्वरवाद से पृथक् नहीं बनाया जा सकता।

ज्ञान को भी नानाभाव वाला कहकर विभक्ति में भी अविभक्त रहने वाला ऐसा सत्वमय नानाभावों से युक्त होता हुआ भी स्वयं में सत्ववान् है।

इस प्रकार सत् सम्बन्धी विचारणाएँ, विवेचनाएँ जो मिली हैं, वे सभी उपयुक्त हैं और उचित हैं, क्योंकि सत् के बिना कोई भी स्वयं के अस्तित्व का आविर्भाव नहीं कर सकता है। अतः आविर्भाव के लिए और अस्तित्व के लिए सत् की सत्ता को समयोचित स्वीकार कर लिया जाता है, वह पदार्थ भी सत्ववान गिना जाता है और व्यक्ति भी सत्ववान कहलाता है।

यह सत् प्रवाह की दृष्टि से अनादि-अनन्त है परन्तु व्यक्ति विशेष की अपेक्षा से अनित्य है, क्योंकि सत् सर्वथा शक्तिमान होता हुआ सापेक्षिक दृष्टि से विवेचित हुआ। उपाध्याय यशोविजय ने अपने दार्शनिक ग्रंथों में सत् विषयक अन्य दर्शन की अवधारणाओं का विस्तृत विवेचन अभिव्यक्त किया है।

आत्मा के सन्दर्भ में

दार्शनिक जगत् में दृश्य और मूर्त पदार्थ की भाँति अदृश्य और अमूर्त पदार्थ की खोज चालू रही है। अदृश्य एवं अमूर्त के विषय में सबका एकमत होना संभव नहीं है। दृश्य और मूर्त के विषय में भी सब एकमत नहीं हैं, तब फिर अदृश्य और अमूर्त के विषय में सबकी सहमति की आशा कैसे की जा सकती है।

आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का अभ्युपगम हजारों वर्षों से चला आ रहा है। भारतीय दर्शनों में श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं के अनेक आचार्य आत्मा को पौद्गलिक मानते रहे हैं। आत्मा का अस्तित्व प्रायः सभी धर्मों में मान्य होकर भी आत्मा की परिभाषा को शब्दावली में बाँधना बड़ा कठिन कार्य है। वस्तुतः आत्मा नाम की वस्तु आँखों से अदृश्य, कानों से अश्राव्य तथा मन से अनुभव्य होने से परिभाषा करने में अत्यन्त कठिनता महसूस होती है, फिर भी श्रेष्ठ विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं।

आर्य संस्कृति आत्मवादिता पर अपना अस्तित्व रखती है। यह संस्कृति आत्मा के अस्तित्व को सम्मानित रखने वाली परमात्मवाद की ओर ढलती हुई मिलती है। आत्मवाद, परमात्मवाद, कर्मवाद और लोकवाद—इन सभी का अवगहन, अनुसंधान आत्मवाद ही कर सकता है। अतः आत्मा को सश्रद्धाभाव से स्वीकृत करने में श्रमण संस्कृति ने अग्रेसरता अपनाई है।

आत्मतत्त्व सदा से अरूपी रहा है, अगोचर बना है। परोक्ष का रूप धारण करता है फिर भी प्रत्यक्षवत् कार्य करने में कृत्कृत्य मिलेगा। परोक्षता की परम अनुमानिता अधिकृत करती हुई यह आत्मवादिता अभी तक सश्रद्धेय रही है। अतः आत्मवाद को अनेक आचार्यों ने सम्मानित रखा। साहित्य की भूमि पर इसको विस्मृत बनाने में वाङ्मयी धाराएँ प्रवाहित रही हैं।

दर्शन जगत् के अगणित अनेक आर्य पुरुषों ने आत्मवाद की घोषणा करने में उच्चता अपनाई है। संस्कृति का सुपरिचय ही आत्मवाद की उपलब्धियों से है। दार्शनिकता का दिव्य दृष्टिकोण आत्मवाद के अध्यायों से उज्वल है, उल्लिखित है। अतः आत्मवाद को हम स्वीकार कर लेते हैं तो पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष की मान्यताएँ महत्त्वपूर्ण लगती हैं। आत्मवाद से इहलोक और परलोक के ताने-बाने जुड़े हुए हैं, क्योंकि आत्मा का कारकतत्त्व धर्म है। अतः कर्मफल भोक्ता है। इसलिए आत्मवाद के बिना दर्शन जगत् में दार्शनिकता को सम्मान नहीं मिलता है।

दर्शनवादिता के दिव्य दृष्टिकोण को दूरदर्शिता से सुदृढ़ प्रस्तुत करने में आत्मवाद ही प्रमुख रहा है। वो आचारों को भी अपनाता है और विचारों को भी पनपाता है। आचार और विचार दोनों ही आत्मवाद की अमूल्य निधि है, जो जीवन-विधि को जीवित रखते हुए जगत् में अद्यावधि सुरक्षित है।

आत्मा संबंधी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न दर्शन में विविध प्रकार से मिलती है। आस्तिक दर्शन प्रायः करके सभी आत्मा को स्वीकार करते हैं, चाहे वो किसी भी रूप में माने। लेकिन आत्मा के अस्तित्व को नकारने में सबसे अधिक प्रसिद्धि बृहस्पति या चार्वाक दर्शन को मिली है। सूत्रकृतांग के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महावीर के युग में भूतवादियों के अनेक सम्प्रदाय रहे हैं फिर भी जैन दर्शन में आत्मा की स्थिति बहुत स्पष्ट है।

उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों के मतों की समीक्षा

भारतीय दर्शनों में आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। कोई आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारते हैं, तो कोई आत्मा को नश्वर मानते हैं। कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई विज्ञान-संधान को आत्मा समझता है। कोई आत्मा को नित्य मानता है, कोई आत्मा कर्म का कर्ता और भोक्ता भी आत्मा नहीं है, ऐसा मानते हैं। वस्तुतः चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक आदि दर्शनों में आत्मा की अवधारणा युक्तिसंगत नहीं है। उपाध्याय यशोविजय ने गहराई में जाकर इन सभी मतों की समीक्षा की है।

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनों में चार्वाकदर्शन या लोकायत दर्शन 2500 वर्ष से पुराना मानते हैं। यह दर्शन आत्मा, मोक्ष, पुण्य और पाप का फल आदि की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसलिए इसे नास्तिक दर्शन भी कहते हैं। यह दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है तथा शरीर एवं चेतना को अभिन्न स्वीकार करता है। वो शरीर एवं आत्मा को एक ही मानते हैं।

उपाध्यायजी इस मत की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि—

तदेत् दर्शनं मिथ्या जीवः प्रत्यक्ष एव यत् ।

गुणानां संशयादीनां प्रत्यक्षाणामभेदतः ॥16॥¹⁴

अर्थात् चार्वाक दर्शन की यह मान्यता मिथ्या है कि शरीर ही आत्मा है। कारण यह है कि संशयादि के कारण जीव प्रत्यक्ष ही है। आत्मा है या नहीं 'किम अस्मि नास्मि' (मैं हूँ या नहीं) यह संशय किसको होता है।¹⁴ विचारशक्ति, चिंतन, मननशक्ति के कारण ही यह शंका उत्पन्न हुई और इस विचारशक्ति को हम ज्ञानगुण के रूप में पहचान सकते हैं। चूँकि गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता है, तथा गुण और गुणी में कथंचित् अभेद होता है। अतः आत्मा ही गुणी है, इस प्रकार की शंका के प्रत्यक्ष आत्मा का प्रत्यक्ष सिद्ध होता ही है। विशेषावश्यक भाष्य की टीका में भी कहा गया है—देह मूर्त और जड़ है, 'संशय' ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है तथा आत्मा अमूर्त है। गुण अनुरूप गुणी में ही रहते हैं।¹⁵

ज्ञानगुण अगर शरीर का गुण मानते हैं तो यह गुण 'शव' में भी होना चाहिए परन्तु 'शव' संशय करके कुछ नहीं पूछता है। पूछने वाला शरीर से भिन्न है, इसी को आत्मा कहते हैं। पाश्चात्य विचारक डेकार्ट ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी

के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है, परन्तु सन्देहकर्ता में सन्देह करना तो सम्भव नहीं है। सन्देह का अस्तित्व सन्देह से परे है। सन्देह कारक विचार करता है और विचारक के अभाव में विचार नहीं हो सकता। मैं विचार करता हूँ, मैं हूँ, इस प्रकार से भी आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है।¹⁶

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं—जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है।¹⁷ आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध के आचार्य शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि “सभी के आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है। कोई भी ऐसा नहीं है, जो यह सोचता हो कि मैं नहीं हूँ।”¹⁸

चार्वाक दर्शन शरीर को ही आत्मा मानते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि बालक जब युवा होता है, तब वही शरीर नहीं रहता। यह शरीर युवा का शरीर हो जाता है। अतः शरीर के बदलने पर बाल्यकाल के संस्मरण युवा को नहीं होना चाहिए। परन्तु अनुभव यह कहता है कि बाल्यकाल के संस्मरण युवा को होते हैं। चार्वाकवादी कहते हैं कि स्मरण हो तो भी आत्मा अलग-अलग हो सकती है, किन्तु ऐसा मानने से फ्रूट एक व्यक्ति खाए और स्वाद दूसरा अनुभव करे, यह आपत्ति आयेगी।¹⁹ यही बात अध्यात्मसार में उपाध्याय यशोविजय ने की है। इसलिए बाल्यावस्था, यौवानावस्था और वृद्धावस्था—तीनों में एक ही आत्मा स्वीकार करना पड़ेगा। अतः कहना उचित होगा कि शरीर आत्मा नहीं है।

चार्वाकवादी कहते हैं कि जीव शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस पर उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

शुद्धं व्युत्पत्तिमज्जीवपदं सार्थं घटादिवत् ।

तदर्थश्च शरीरं ना पर्यायपदभेदतः ॥२०॥

अर्थात् घटादि की तरह जीव पद शुद्ध व्युत्पत्ति वाला और सार्थक है तथा जीव और शरीर शब्द की पर्याय पृथक्-पृथक् होने से जीव पद का अर्थ शरीर नहीं माना जा सकता है।

अजीवत्, जीवति, जीविष्यति जीया, जो जीता है और जो जीएगा वह जीव कहलाता है। जीव शब्द के पर्याय हैं—जन्तु, प्राणी, सत्व, आत्मा, चेतन आदि, जबकि शरीर के पर्याय हैं—देह, तन, वपु, काया, कलेवर आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव और शरीर—ये दो पद एक-दूसरे के पर्यायरूप नहीं हैं। इसके बाद शरीर और जीव के लक्षण भी अलग-अलग हैं। अतः दोनों को प्रथम मानना चाहिए। इस प्रकार चार्वाकदर्शन तर्क और अनुभव की कसौटी पर खड़ा नहीं रह सकता है। शरीर से भिन्न चैतन्य एक शक्ति है और यह चैतन्यशक्ति ही आत्मा है।

बौद्धदर्शन के मत की समीक्षा

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को सत्य नहीं, काल्पनिक संज्ञा मात्र कहते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रतिक्षण आत्मा जन्म लेती है और दूसरे क्षण वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। सतत चलते रहने से नित्यता का आभास होता है, परन्तु आत्मा नित्य नहीं है, क्योंकि नित्यत्व में अर्थक्रिया नहीं घटती है।

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

मित्यात्ववृद्धिकृन्नूनं तदेपदपि दर्शनम् ।

क्षणिके कृतहानिर्यतथात्मन्यकृतागमः ॥२१॥

अर्थात् बौद्धों की यह मान्यता तर्कसंगत नहीं है। आत्मा को क्षणिक मानने से किये हुए कार्य की हानि और नहीं किये हुए कार्य में फल की प्राप्ति होगी, जैसे—परीक्षा देने वाला विद्यार्थी, पास होने वाला एवं परिणाम प्राप्त करने वाला—तीनों विद्यार्थी भिन्न-भिन्न होंगे। इससे व्यवहार नहीं चल सकेगा। उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी असंगति आएगी। फिर कर्म करने वाला एक, और फल भुगतने वाला दूसरा होगा। यह एक प्रकार की असंगति ही होगी। विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा है—परदेश में गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की घटनाओं का स्मरण करता है। अतः उसे नष्ट नहीं माना जा सकता अन्यथा वह पूर्व की घटनाओं का स्मरण कैसे करेगा? पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले व्यक्ति को भी सर्वथा नष्ट नहीं माना जा सकता है।²²

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा को नित्य मानने पर उसमें अर्थक्रिया नहीं घट सकती है। इसका समाधान करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

**नानाकार्यं करणस्वाभाव्ये च विरुध्यते ।
स्यादंवादनिर्वेशेन नित्यत्वेऽर्थक्रिया न हि ॥²³**

अर्थात् अनेक कार्यों को क्रम से करने का आत्मा का स्वभाव है। स्याद्वाद शैली में आत्मा को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानने पर नित्यत्व में अर्थक्रिया का विरोध नहीं रहता है।

जैन दर्शन आत्मा को द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य मानता है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा को नित्य मानने से उस पर राग उत्पन्न होता है। वस्तु क्षणिक हो तो उस पर राग उत्पन्न नहीं होता है। आसक्ति से तृष्णा, मोह, लालसा आदि भावों का जन्म होता है, इसलिए संक्लेश बढ़ता है। दूसरी तरफ आत्मा को क्षणिक मानने से उसके प्रति प्रेम की निवृत्ति होती है। इससे आसक्ति घटती है। बौद्ध दर्शन की इस दलील में तथ्य नहीं है।

उनके मत की समीक्षा करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

**ध्रुवेषुऽपि न प्रेम निवृतमनुपप्लवात् ।
गाह्याकार इव ज्ञाने गुणस्तन्नात्र दर्शने ॥²⁴**

अर्थात् आत्मा को नित्य, अनादि, अनंत मानने से उसके प्रति जो प्रेम होता है, वह संक्लेश उत्पन्न करे, इस प्रकार का अप्रशस्त राग नहीं है, प्रशस्त राग है। बौद्ध दर्शन में ज्ञानधारा के आकार जैसे निवृत हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव का आत्मा के लिए प्रेम की ज्ञानदशा उच्च होने पर निवृत हो जाता है। उच्च आत्मिक दशा प्राप्त होने पर निर्वाण या मोक्ष के लिए भी प्रेम नहीं रहता है।

आत्मा को एकान्त क्षणिक मानने में कोई लाभ नहीं है। आत्मा को अनित्य मानने से संसार की अनवस्था उत्पन्न हो जाएगी। कोई व्यक्ति गुनाह करके भी इन्कार कर देगा कि मैंने गुनाह नहीं किया है, क्योंकि गुनाह करे उससे पहले तो उसकी स्वयं की आत्मा नष्ट हो गई थी। आत्मा, जो स्वतः उत्पन्न होती है और स्वतः नष्ट होती है, उसके लिए शुभ-अशुभ कर्मबंध की कोई बात नहीं होगी। इसलिए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि नित्य, सत्, चित् और आनन्द पद को प्राप्त करने की इच्छा वालों को एकान्त अनित्यवाद या क्षणिकवाद त्यागने योग्य है, ऐसा अध्यात्मसार में कहा गया है।

**तस्मादिदमपि त्याज्यमनित्यत्वस्यद दर्शनम् ।
नित्यसत्यनिदानंदपदसंसर्ग मिच्छता ॥²⁵**

सांख्यदर्शन की समीक्षा

कपिल का दर्शन सांख्य मत कहलाता है। सांख्य दर्शन में पुरुष को ही आत्मा के रूप में स्वीकारा गया है। इनकी मान्यता है कि पुरुष (आत्मा) कर्म का कर्ता और भोक्ता नहीं है। वह एकान्त नित्य तथा निरंजन है। वह प्रवृत्ति आदि 24 तत्त्वों से भिन्न है। आत्मा सत्त्वादि गुणों से सर्वथा रहित है। प्रकृति के 25 तत्त्वों में एक मुख्य तत्त्व बुद्धि है और वे बुद्धि को ही कर्त्री, भोक्त्री और नित्य मानते हैं।

हम व्यवहार में स्पष्ट देखते हैं कि जीव स्वयं कर्ता और भोक्ता है, यानी कृति और चैतन्य का अधिकारण स्थान एक ही है, यह व्यक्त है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।²⁶

अर्थात् आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है। यह भी कहा गया है—सिर काटने वाला शत्रु भी उतना ही उपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।²⁷

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

बुद्धिः कर्त्री च भोक्त्री च नित्या चेन्नास्तिनिर्वृतिः।

अनित्या चेन्न संसार प्राग्धर्मदेरयोगत।।²⁸

अर्थात् बुद्धि जो कर्ता, भोक्ता और नित्य हो, तो मोक्ष नहीं हो सकता है और जो बुद्धि अनित्य हो तो पूर्वधर्म के अयोग से संसार ही नहीं रहेगा।

इस प्रकार बुद्धि को नित्य मानें या अनित्य—दोनों प्रकार से संसार और उसमें से मुक्ति की बात लागू नहीं होती है। कर्ता, भोक्ता और नित्यता को आत्मा में मानें तो ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था बराबर घट सकती है।

सांख्यवादी प्रकृति को जड़ मानते हैं और प्रकृति का मुख्य परिणामन बुद्धि है। जो वे प्रकृति को नित्य मानें तो उसमें रहे हुए धर्म-अधर्म आदि को भी नित्यरूप में स्वीकारना पड़ेगा। इसी बात का समाधान करते हुए उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

प्रकृतावेव धर्मादिस्वीकारे बुद्धिरेव का।

सुवचश्च घटादौ स्यादीदुग्धर्मान्वयस्तथा।।

अर्थात् जो धर्मादि को स्वीकार करे तो फिर बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती है। यदि प्रकृति को जड़ मानते हैं और उसमें धर्मादि को स्वीकार करते हों तो जड़ घट में भी धर्मादि रह सकते हैं—यह स्वीकारना पड़ेगा।²⁹

सांख्य दार्शनिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व—ये दो बुद्धि के गुण बताते हैं। तब उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि कृति और भोग को बुद्धिगुण मानते हो तो फिर बंध और मोक्ष भी बुद्धि का ही होगा, आत्मा का नहीं, तो फिर कपिल मुनि जो बंध और मोक्ष आत्मा में घटाते हैं, वह मिथ्या होगा।³⁰ इस प्रकार कर्तापण तथा भोक्तापण की बुद्धि आश्रित मानने पर पुरुष के बंध और मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। यदि पुरुष या आत्मा का बंधन नहीं, तो फिर मुक्ति की बात किस प्रकार होगी?

यदि पुरुष (आत्मा) एकान्त नित्य, निर्विकारी, अकर्ता, अभोक्ता, शुद्ध हो, तो फिर बंध और मोक्ष किस प्रकार घटित होता है? इसके उत्तर में सांख्यदर्शन कहते हैं कि वस्तुतः सुबुद्धि का ही बंध और मोक्ष है, परन्तु उसका उपचार पुरुष में करते हैं, परन्तु यह बात तर्कसंगत नहीं है। इनका समाधान करते हुए उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—

एतस्य चोपचारत्वे मोक्षशास्त्रं वृथाऽखिलम् ।
अन्यस्य हि विमोक्षार्थं न कोऽप्यन्य प्रवर्तते ।।¹

क्योंकि परिश्रम एक करे और फल दूसरा भोगे। स्वयं के परिश्रम से दूसरे को मोक्ष मिले, तो ऐसा श्रम, अर्थात् संयम, त्याग-तपश्चर्या आदि कौन करेगा? इस प्रकार हो, तो पूरा मोक्षशास्त्र ही व्यर्थ बन जाएगा।

संसार में सुख-दुःख प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जीव शुभ या अशुभ कार्य करते हुए दिखाई देता है, यानी जीव शुभ-अशुभ कर्म बांधता है और उसी के अनुसार फल भोगता है। अतः आत्मा ही कर्म की कर्ता तथा भोक्ता भी है। वह एकान्त नित्य भी है और एकान्त अनित्य भी नहीं है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है—

जीवाणं भंते! किं सासया? असासया?

गोयमा! जीव सियसासया, सिय असासया।।

से केणटूठेणं भंते! एवं तुच्चइ-जीव। सियसायसा? सियअसासया?

गोयम! द्रव्वद्रयाएँ सासया, भावटूठयाए असासया।

अर्थात् भगवन्! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

गौतम! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

भगवन्! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है और अनित्य भी?

गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है और भाव की अपेक्षा से अनित्य।²

आत्मा के प्रकार

जैन धर्म दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति को साधना का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना पड़ता है। डॉ. सागरमलजी जैन का कहना है—“विकास तो एक मध्यावस्था है, उसके एक ओर अविकास की अवस्था तथा दूसरी ओर पूर्णता की अवस्था है।”³ इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती जैनचार्यों ने तथा उपाध्याय यशोविजय ने अपने ग्रन्थ में आत्मा की निम्न तीन अवस्थाओं का विवेचन किया है—

1. बहिरात्मा—आत्मा के अविकास की अवस्था।
2. अन्तरात्मा—आत्मा की विकासमान अवस्था।
3. परमात्मा—आत्मा की विकसित अवस्था।

उपाध्यायजी ने बहिरात्मा के चार प्रकार लक्षण बताए हैं—

1. विषय कषाय का आवेश
2. तत्त्वों पर अश्रद्धा

3. गुणों पर द्वेष और

4. आत्मा की अज्ञान दशा।³⁴

बहिर्मुखी आत्मा को आचारांग में बाल, मंद और मूढ़ नाम से अभिव्यक्त किया गया है। यह अवस्था चेतना या आत्मा की विषयामुखी प्रवृत्ति की सूचक है।

जब तत्त्व पर सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान, महाव्रतों का ग्रहण, आत्मा की अप्रमादी दशा और मोह पर विजय प्राप्त होती है तब अन्तरात्मा की अवस्था अभिव्यक्त होती है।³⁵

गुणस्थानक की दृष्टि से तेरहवाँ सयोगीकेवली और 14वाँ अयोगीकेवली के गुणस्थानक पर रहा हुआ आत्मा परमात्मा कहलाता है।

संक्षेप में आत्मा की जो शक्तियाँ तिरोहित हैं, उन्हीं शक्तियों को प्रकट करने के लिए अन्तरात्मा पुरुषार्थ करते हुए आध्यात्मिक विकास मार्ग में आगे बढ़ती है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र एवं सम्यगुत्तरूपी दीप के प्रज्वलित होने पर ज्ञानावरणीय आदि घातीकर्मों के आवरण हट जाते हैं तथा अनंतचतुष्टय का प्रकटन होता है और आत्मा अन्तरात्मा से परमात्मा बन जाती है।

आत्मा के सन्दर्भ में अन्य दर्शनों की अवधारणा के सन्दर्भ में संक्षेप में कह सकते हैं कि समस्त भारतीय दर्शनों ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। चार्वाक दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसके अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतों से उत्पन्न होती है। बौद्ध मत के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन संतति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतना को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चैतन्य क्षण को उसके पूर्वजनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते हैं। बौद्ध दर्शन में चार्वाक का उच्छेदवाद तथा उपनिषदों और अन्य दर्शनों का आत्मशाश्वतवाद मान्य नहीं, अतः वे आत्म संतति को अनादि मानते हैं, आत्मा को अनादि नहीं मानते। सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा और जैन—ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं।

योग के सन्दर्भ में

आत्मा अबबोध को उच्चतम उपयुक्त बनाने में योग की अपेक्षा रखता है। इसीलिए योग शब्द कई भावों से भव्य है, जिससे योग्यता अत्युन्नत झलकती हो, चमकती हो और चेहरे पर दिव्यता दर्शाती हो, उसको भी योग-साधना के नाम से पुकारते हैं। जहाँ निर्विकारता निश्चल होकर निर्विघ्न रहती है, वहाँ योग की योग्यता बसी हुई मिलती है।

योग में दार्शनिकता भी है, दूरदर्शिता भी है और आत्मतत्त्व की स्पर्शिता भी है। जहाँ सुबोध स्पर्श करता हुआ स्वयं में प्रकाशवान बन प्रकाशित हो जाता है, वहाँ योग अपने आप में आत्म-निर्भर रहता हुआ एक अलौकिक तत्त्व का प्रकाश फैलाता है। वैसे योग विषयक कुछ नियम निर्धारित हुए ग्रंथ सर्जित हुए, योग ज्ञान की गुण गरिमा चर्चित बनी, कहीं अर्चित हुई और कहीं-कहीं आचरित होकर अपने आप में योग की संज्ञा धारण करती गई।

अन्य दर्शनों में भी योग का सन्मान मिला है, स्थान मिला है। जैन दर्शन में भी योग की भूमिका पर अपना आत्म-अभ्युदय उल्लिखित किया है। इसलिए योग हमारी संस्कृति का एक मूलाधार विषय बनकर साहित्य में स्थान पाया है।

- उपाध्याय यशोविजय भी योगनिष्ठ बनकर योगदर्शन के विवेचनकार विद्वान् हुए हैं। उनके स्वयं के योगावतार बत्रीशी, योगविशिका टीका, आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय, आदि ग्रंथ उपलब्ध हो रहे हैं, क्योंकि ज्ञाता ही ज्ञेय को ज्ञापित करता है और उसकी ज्ञेयता के गौरव का उदाहरण देती ग्रंथ रूप में गुम्फित हो जाती है। ऐसी ज्ञान की ग्रंथमालाएँ अन्य दर्शनिकों ने भी गुंथी हैं, जिसमें महर्षि पतंजलि को प्रमुखता मिली है। महर्षि व्यास ने भी अनेक प्रसंगों में योग माहात्म्य और महत्त्व प्रदर्शित कर प्रशंसित बनाया है।

योग के विषय को परिचित कराने में आचार्य हरिभद्र के बाद उपाध्याय यशोविजय को विशेष योगदान मिला है। इन्होंने अपने ग्रंथों में अन्य दर्शनकारों संबंधी मान्यता भी व्यक्त की है, जो हमें अनेक ग्रंथों में स्थान-स्थान पर मिलती है। जैसे कि—

उपाध्याय यशोविजय ने प्रणिधानादि आदि योग के पाँच भेद बताये हैं।³⁶ उन्हीं को अन्य दर्शनकारों ने भिन्न-भिन्न नामों से उल्लिखित किये हैं—

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्ध स्तथापरः।

सास्त्रवोऽनास्त्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः।।³⁷

अर्थात् तात्त्विक योग, अतात्त्विक योग, सानुबंध योग, निरनुबंधयोग, साश्रव योग, अनास्रव योग—इस प्रकार अन्य दर्शनकार संज्ञाभेद से योग को भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं।

योग का अधिकारी

श्रीमान गोपेन्द्र योगीराज कहते हैं कि योगमार्ग में कौन प्रवेश कर सकता है, क्योंकि सभी आत्मा को योग में प्रवेश पाना शक्य नहीं है, अतः जब तक सर्वथा पुरुष प्रवृत्ति के अधिकार से दूर नहीं होता, तब तक पुरुष को यथार्थ तत्त्वमार्ग में प्रवेश करने की इच्छा जागृत नहीं होती। यह जैन मत की पुष्टि में ही उल्लेख किया है।

उपाध्याय यशोविजय ने भी निश्चय नय से सर्वविरती तथा देशविरती वाली आत्मा को ही योग का अधिकारी माना है। अपुर्नबन्धक एवं अविरत सम्यग्दृष्टि—ऐसे दो प्रकार के जीवों में धर्मक्रिया निश्चयनय से योग का बीज है एवं व्यवहारनय से योग है। (अर्थात् निश्चयनय से तत्त्वग्राही है एवं व्यवहारनय से उपचारग्राही है।) सकृद्बंधक तथा द्विबंधक ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों में जो स्थानादि योगों की क्रिया है, वो योग नहीं है क्योंकि वो अशुद्ध भूमिका है किन्तु योग का आभास मात्र है तथा मार्गानुसारी में भी योग का बीज तो माना है। यही बात उपाध्यायजी ने योगविशिका टीका अनुवाद में बताई है।³⁸ यही बात श्रीमान् गोपेन्द्र तथा अन्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं—

एवं लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापरैः।

योग उक्तोऽस्य विध्वद्मर्गोपेन्द्रेण यथोदितम्।।³⁹

पूर्व कथित अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा अर्थात् वह वस्तु इस प्रकार कैसे संभव हो सकती है। वैसे तर्क-बल से योग्य-अयोग्य का विचार जिस जीवात्मा को होता है, वह विचार युक्त लक्षण गुण से संयुक्त जो होता है, वह ईहा कहलाता है। उस जीवात्मा को पूर्वसेवा, देवगुरु भक्ति, तप-जप व्रतपालन आदि प्रारम्भ से ही होते हैं। उस जीवात्मा को कर्मफल का जितने अंश में नाश होता है, उतने अंश में सम्यग्-मार्गानुसारीत्व होता है और उतने अंश में मोक्षमार्ग प्रवृत्त होता है। ऐसा योगशास्त्र के रचनाकार योगी श्रीमान् गोपेन्द्र भगवान तथा अन्य विद्वान् भी उनका कथन स्वीकार करते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अध्यात्म, भावना आदि पाँच योग बताये हैं और उपाध्यायजी ने स्थानादि पाँच योग बताये हैं। अध्यात्मादि पाँच योगों के साथ स्थानादि पाँच योगों का सम्बन्ध है। देव सेवा, जप एवं तत्त्वचिंतनरूप आदि अध्यात्मयोग का समावेश स्थान ऊर्ण एवं अर्थयोग में होता है। त्रीजा आध्यात्मयोग आलंबन योग में समाविष्ट होता है। वृत्तिसंक्षय का अनालम्बन योग में समावेश होता है। इस तरह अध्यात्मादि पाँच योगों, स्थानादियोगों में अंतर्भाव हो जाती है। वो चारित्रवान् आत्मा को ही होती है। इसलिए स्थानादि योगों की प्रवृत्ति भी देशविरती एवं सर्वविरती चारित्रवान् आत्मा को ही होती है, ऐसा सिद्ध होता है।⁴⁰

योग की प्रियता

विद्वान् से लेकर आबालगोपाल तक सभी सामान्य लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि इस दुष्काल में भी योग की सिद्धि जिसको प्राप्त हुई है, उनका योगफल का लाभ रूप परम शांत स्वरूप दिखाई देता है। जैसे कि महायोगी आनंदघनजी, चिदानंदजी, देवचंद्रजी, यशोविजयजी आदि योगसिद्ध हैं। उन्होंने जो शांति एवं समता की अनुभूति की है, वैसी शांति करोड़पति, अरबपति, राजा, महाराजा भी अनुभव नहीं कर सकते। जब पंचम आरे में ऐसे योगी परम आनंद का अनुभव करते हैं, उससे यह समझना चाहिए कि चतुर्थ तृतीय आरे में तो परमात्मा ऋषभदेव के शासन में तो योग की साफल्यता सर्वथा सिद्ध है तथा उस समय में उनमें योग का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता था। जैसे कि विष्णुकुमार, मुनिराज योगबल धर्मद्वेषी नमुचि को शिक्षा कर जैन संघ की योग्य समय में सेवा कर कर्म की महानिर्जरा की यह बात जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को मालूम है तथा अनार्य भी योग की सिद्धि का प्रभाव जानते हैं। योग का जो विशेष फल आगम में बताया है, यह बात आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार मिलती है—

योगियों के शरीर का मैल मनुष्य के रोग का नाश करता है तथा योगियों के कफ, थूक, प्रसव, स्वेद भी लोक में पीड़ा दूर करने में औषध हैं। उसी से योगियों की उन शक्तियों को लब्धि नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार योग के अभ्यास से अनेक लब्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ऐसा आगम में, सिद्धान्त में आप्तपुरुषों ने समझाया है।

इसी कारण से भावयोगी में दिखता यह योग का माहात्म्य पृथिव्यादि भूत समुदाय में से मात्र उत्पन्न होता है। यह तो बिल्कुल सिद्ध नहीं होता है, कारण कि यह माहात्म्य भूतों से उत्पन्न होता है। ऐसा मानें तो भूत संघात से भिन्न स्वभाव करने वाला कोई ज्ञात नहीं होने से तो जगत् की जो विचित्रता दिखाई देती है, वह कैसे सिद्ध होगी? आत्मा, कर्म बन्धन, कर्ममुक्ति, संसार भ्रमण आदि परिणाम भूत से भिन्न आत्मा हो तो ही सिद्ध होती है। इसके द्वारा चार्वाकमत नष्ट हुआ।⁴¹

योग का माहात्म्य

उपाध्याय यशोविजय ने योग के माहात्म्य का उल्लेख सुन्दर भावों से किया। योग ही उत्तम चिंतामणि है, श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है। योग ही सर्व धर्मों में प्रधान है तथा योग अणिमादि सर्व सिद्धियों का स्थान है। योग जन्मबीज के लिए अग्नि समान है तथा जरा अवस्था के लिए व्याधि समान है तथा दुःख का राज्यक्षमा है और मृत्यु का भी मृत्यु है। योगरूप कवच जिन आत्माओं ने धारण कर लिया, उनके लिए कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्र भी निष्फल हो जाते हैं, अर्थात् योगी के चित्त को चंचल करने की शक्ति कामदेव के शस्त्रों में भी नहीं है।

निष्कर्ष रूप में उपाध्यायजी ने यहाँ तक किया है कि अनालम्बन योग से मोहसागर को पार कर सकते हैं, उनसे अपर श्रेणि आरोहित कर सकते हैं एवं केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अंत में अयोगी अवस्था को अन्य दर्शनकारों ने धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवशत्रु, शिवोदय, सत्यानन्द एवं पर ऐसे भिन्न-भिन्न नामों का उल्लेख शास्त्रों में बताये गये हैं।¹²

मोक्ष के सन्दर्भ में

मोक्ष विचार भारतीय दर्शन की यह विरल विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है। पाश्चात्य दर्शनियों के अनुसार दर्शन का उद्देश्य मात्र विश्व और उसकी समस्याओं की व्याख्या करना है जबकि भारतीय दर्शनियों के अनुसार दर्शन वह विद्या है जो हमें न केवल विश्व के विषय में जानकारी देती है, न केवल तत्त्वमीमांसा के विषय में विचारों को उत्प्रेरित करती है अपितु सत्य शोध का मार्ग बताकर समस्त दुःखों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। जीवन का कठोर सत्य है—दुःख फिर चाहे उसे शरीरजन्य माना जाए, चाहे बुद्धि अथवा मन से उत्पन्न हो। व्यक्ति की सारी प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु है—दुःख से छुटकारा।

पश्चिमी दार्शनिकों ने जहाँ स्वयं को बौद्धिक चिन्तन (तर्क), नैतिकता और मानवता तक ही सीमित कर रखा है वहाँ भारतीय दर्शनिक चिन्तन का चरम बिन्दु है—मोक्ष। भारतीय दार्शनिक ऋषि पहले थे, चिन्तक बाद में। अतः बौद्धिकता, नैतिकता और मानवता उनका साधन था, साध्य नहीं। ऋषि चिन्तन का चरम लक्ष्य रहा मोक्ष—जो तर्क से उत्पन्न प्राप्त नहीं, अतः तर्कातीत है। मोक्ष का प्रत्यय समाज अथवा मानव की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता अतः वह अति सामाजिक है, अतिनैतिक अथवा अतिमानवीय है। भारतीय दर्शन में मोक्ष का सामान्य अर्थ है दुःख चक्र का आत्यन्तिक विनाश, जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मोक्ष।

भारतीय दर्शन मूल्यपरक दर्शन है। भारतीय मनीषियों ने मूल्य को पुरुषार्थ के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने मुख्यतः चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया है—

1. अर्थ—आर्थिक मूल्य
2. काम—मानसिक मूल्य
3. धर्म—नैतिक मूल्य
4. मोक्ष—आध्यात्मिक मूल्य।

समस्त भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ, चाहे वे नास्तिक हों या आस्तिक, वैदिक हों या अवैदिक, मोक्षविषयक विचार सभी में उपलब्ध होते हैं।

भारतीय दर्शनों में मोक्ष का स्वरूप

चार्वाक दर्शन

आधुनिक समाज का जीवनगत दर्शन है—चार्वाक दर्शन। एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है अतः आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि परोक्ष प्रमेयों को स्वीकार नहीं करता। इसलिए इसे नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है। यह तो मृत्यु को ही मोक्ष मानता है। यह चार्वाक सिद्धान्त है—

भरणमेवापवर्ग।¹³

सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाक दर्शन सम्मत मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा है—पारतन्त्र्यं बन्धः स्वातन्त्र्यं मोक्षः।¹⁴

जहाँ-जहाँ स्वतन्त्रता है वहाँ सुख है और वही मोक्ष है। परतन्त्रता दुःख है और फलतः वही बन्ध है। मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है, उसका एकमात्र लक्ष्य होता है—सुख की प्राप्ति, स्वतन्त्रता की प्राप्ति।

न्यायदर्शन में

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा के सभी दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है—

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।¹⁵

चरमदुःखध्वंस मोक्षः।

तर्क दीपिका में न्याय दर्शन के मत मोक्ष की यही व्याख्या की है।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन का समान तन्त्र है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार चैतन्य अथवा ज्ञान का स्वाभाविक गुण नहीं है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये सब आत्मा के औपाधिक गुण हैं, आगन्तुक गुण हैं। वे आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः जब मोक्ष होता है तब आत्मा के इन सभी गुणों का भी वियोग हो जाता है—

तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।¹⁶

अर्थात् शरीरधारक मन, कर्म आदि का अभाव होने से वर्तमान शरीर के संयोग का अभाव हो जाता है एवं नए शरीर का उत्पाद नहीं होता है।

वैशेषिक मत के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए मल्लिसेन कहते हैं—

तदेवं धीषणादीना नवानामपि मूलतः।

गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्ग प्रतिष्ठितः।¹⁷

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार सुख, दुःख, इच्छा आदि के समान ज्ञान का भी मोक्ष अवस्था में अभाव हो जाता है। वैशेषिक मत में बुद्धि, सुख आदि आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष है।

सांख्य और योग दर्शन

सांख्य दर्शन वाले कहते हैं कि माठरवृत्ति में मुक्ति के विषय में ऐसा वर्णन मिलता है कि खूब हंसो, मजे से पीओ, आनन्द करो, खूब खाओ, खूब मौज करो, हमेशा रोज-बरोज इच्छानुसार भोगों को भोगो। इस तरह जो अपने स्वास्थ्य के अनुकूल हो वह बेधड़क होकर करो, इतना सब करके भी यदि तुम कपिल मत को अच्छी तरह समझ लोगे तो विश्वास रखो कि तुम्हारी मुक्ति समीप है। तुम शीघ्र ही कपिल मत के परिज्ञानमात्र से सब कुछ मजा, मौज करते हुए भी मुक्त हो जाओगे।

उपाध्यायजी ने भी शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका स्याद्वाद कल्पलता में कहा है कि सांख्य पच्चीस तत्त्वों को यथावत् जानने वाला चाहे जिस आश्रम में रहे, वह चाहे शिखा रहे, मुंड मुंडावे या जटा धारण करे उसकी मुक्ति निश्चित है। सांख्य तत्त्वों के ज्ञाता बिना मोक्ष प्राप्ति करना संदेह है—

प्रकृति वियोग-मोक्ष पुरुषस्य बतैतदन्तरज्ञानात्।¹⁸

• प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है, यह प्रकृति तथा पुरुष में भेद विज्ञानरूप तत्त्वज्ञान से होता है।

प्रकृति और पुरुष में भेदज्ञान होने से जो प्रकृति का वियोग होता है, वही मोक्ष है। जैसे यह पुरुष वस्तुतः शुद्ध चैतन्य रूप है। प्रकृति से अपने स्वरूप को भिन्न न समझने के कारण मोह से संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए सुख-दुःख मोह स्वरूप वाली प्रकृति को जब तक आत्मा से भिन्न नहीं समझता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृति को आत्मा से भिन्न रूप में देखने पर तो प्रकृति की प्रवृत्ति अपने आप में रुक जाती है और प्रकृति का व्यापार रुक जाने पर पुरुष का अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है।

योग दर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है--

• पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितशक्तेरिति।¹⁹

पुरुषार्थ शून्य गुणों का पुनः उत्पन्न न होना, सांसारिक सुखों-दुःखों का आन्तरिक उच्छेद अर्थात् अपने स्वरूप में प्रतिष्ठान।

योग दर्शन सांख्य के तत्त्वमीमांसा और उसके मोक्ष विचार को मानते हुए उससे एक कदम और आगे बढ़ता है--कैवल्य को प्राप्त करने का अनिवार्य साधन है--अष्टांग योग का अभ्यास।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन में स्वर्ग की चर्चा जितनी अधिक मात्रा में है, मोक्ष उतना ही कम चर्चित है। फिर भी कुछ वेदवाक्य--

सोऽऽनुते सर्वकामान सहबध्मणा विपश्चितः।²⁰

मोक्ष विषयक माने जाते हैं। मीमांसकों के मतानुसार निरतिशय सुखों की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है। मीमांसकों के मुख्यतः दो सम्प्रदाय हैं--

प्रभाकर मत के अनुसार--धर्म और अधर्म के अदृश्य होने पर शरीर का पूर्ण रूप से निरोध होना मोक्ष है।

भट्ट मीमांसक के अनुसार चैतन्य आत्मा में गुप्त शक्ति के रूप में अनुवृत्त रहता है।

यद्यपि सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार मीमांसक मुक्ति में निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति मानते हैं। उन्होंने मीमांसक सम्मत मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है--

नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्ति।²¹

वेदान्त दर्शन

ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। ब्रह्मसूत्र पर शंकर भास्कर, रामानुज आदि अनेक आचार्यों ने भाष्यों की रचना की है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि की है।

वेदान्तदर्शन में अन्तःकरण संयुक्त ब्रह्म ही जीव है और ब्रह्म एक है, ऐसा माना गया है। जो कुछ भी हम देखते हैं, वह ब्रह्म का ही प्रपंच है, किन्तु ब्रह्म को कोई नहीं देखता है। यही बात छान्दोग्य उपनिषद् में बताया है कि--

आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत् पश्यति कश्चन।²²

संसार के समस्त पदार्थ मायिक हैं। मायिक होने से ही उनकी सत्ता प्रतीत होती है। जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता, तब तक ही संसार की सत्ता है। जैसे किसी पुरुष को रस्सी के सर्प का ज्ञान हो जाता है किन्तु वह ज्ञान तब तक ही रहता है, जब तक कि “यह रस्सी है, सर्प नहीं” इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार रस्सी में सर्प की कल्पित सत्ता रस्सी के विषय में सम्यग्ज्ञान न होने तक ही रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान न होने तक ही संसार की सत्ता है और ब्रह्मज्ञान होते ही यह जीव अपनी पृथक् सत्ता को खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के तादात्म्य को मुक्ति कहा गया है। रामानुज के अनुसार मुक्तावस्था में यद्यपि जीव ब्रह्म में मिल जाता है, फिर भी उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। वह अपने अस्तित्व को खो नहीं देता है।

चित्सुकाचार्य के मतानुसार परमानन्द का साक्षात्कार ही मोक्ष है—

आनन्द ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते ।।⁵³

ब्रह्म या आत्मा का स्वरूप आनन्द है और मोक्ष में उस आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।

पद्यपादाचार्य मिथ्याज्ञान के अभाव को मोक्ष कहते हैं।

अभी तक हमने चार्वाक और वैदिक दर्शनों में वर्णित मोक्ष के स्वरूप का विचार किया अब श्रमण दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप पर विचार करेंगे। श्रमण दर्शन मुख्यतः दो हैं—बौद्ध और जैन।

बौद्ध दर्शन

बौद्धदर्शन क्षणिकवादी दर्शन है। वह कर्म, पुनर्जन्म और परिनिर्वाण में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा क्षणिक विज्ञान रूप है, उसे नित्य तत्त्व मानना ही दुःख का मुख्य हेतु है। अतः परिनिर्वाण के समय जैसे शरीर उच्छेद्य है, आत्मा भी हेय है। माध्यमिक शून्यवाद के अनुसार आत्मा का उच्छेद ही मोक्ष है—

आत्मोच्छेदो मोक्षः ।⁵⁴

विज्ञानवादी बौद्ध मुक्ति को ज्ञानमय मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान का धर्मी आत्मा जब निवृत्त हो जाता है, तब निर्मल ज्ञान का उदय होना ही मोक्ष है—

धर्मिनिवृत्तो निर्मलज्ञानोदयो महोदयः ।⁵⁵

मोक्ष के लिए बौद्ध वाङ्मय में निर्वाण शब्द अधिक प्रचलित है। निर्वाण का अर्थ है—बुझ जाना। पुनर्जन्म के रास्ते को छोड़ देना, सभी दुःखों के निदानभूत कर्म संस्कारों से मुक्ति पांच स्कन्धों एवं तीन अग्नियों—काम, द्वेष और अज्ञान से छुटकारा। वस्तुतः निर्वाण के विषय में बौद्ध दर्शन का मत न एकान्त विधेयात्मक है और न एकान्त-निषेधात्मक। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन में निर्वाण का सिद्धान्त सुसम्बद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता।

जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

जैन दर्शन का मोक्षवाद इन सबसे विलक्षण है। वह न आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास करता है और न ईश्वर कर्तृत्व में। वह न एकान्त द्वैतवादी है और न सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन कर जगत् को शंकर के समान पूर्णतः मिथ्या बताता है।

आचार्य उमास्वाति के शब्दों में 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः'⁵⁶ अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक एवं निरन्वय विनाश ही मोक्ष है। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने यह भी कहा है—

सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ॥⁵⁷

सम्यग् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य को मोक्ष कहते हैं। गीता में इन्हें भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग अथवा प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवा कहा जा सकता है। हिन्दू परम्परा में परमसत्ता के तीन रूप प्रतिपादित हैं—सत्यं, शिवं और सुन्दरम्। रत्नत्रयी से भी इनकी तुलना की जा सकती है। उपनिषद् इन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन की अभिधा से अभिहित करता है।

जैन दर्शन में मुक्त जीव को सिद्ध कहा जाता है। सिद्ध का अर्थ है—प्रकृष्ट शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जिन्होंने अपने संचित कर्मों को पूर्णतः जला दिया।

भगवती सूत्र में मुक्त जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन आठ पर्यायवाची नामों से किया है। ये आठ नाम हैं—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, पारगत, परम्परागत, परिनिवृत्त, अन्तःकृत और सर्व दुःखप्रहाण। आचार्य अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की वृत्ति में इनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। औपपातिक सूत्र में मुक्त जीवों के आठ पर्यायवाची नाम हैं, जिनमें चार हैं—उन्मुक्त, कर्मकवच, अजर, अमर और असंग।

सिद्धति य बुद्धति य पारगयति य परंपरगयति य।

उन्मुक्तकम्मकवया अजरा अमरा असंगा य ॥⁵⁸

सिद्ध सर्व कर्म मुक्त होते हैं अतः उनके क्षायिक गुणों में कोई भेद नहीं होता।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मुक्त जीव अरूपी, ज्ञान, दर्शन में सदा उपयुक्त निरूपम, सुख सम्पन्न संसार समुद्र से निस्तीर्ण, भवप्रपंच से श्रेष्ठ गति को प्राप्त है। मुक्त जीव और मोक्ष में तत्त्वतः अभेद है अतः मुक्त जीवों का स्वरूप ही मोक्ष का स्वरूप है।⁵⁹

अमोक्षवादी मत की समीक्षा

अमोक्षवादी इस प्रकार कहते हैं—“आत्मा को कर्म का कोई बन्ध नहीं होता है, तो फिर मोक्ष की बात कैसे हो सकती है, अर्थात् मोक्ष नहीं है।” वे गलत तर्क करके पूछते हैं कि, “आत्मा कर्म का सम्बन्ध हुआ, तो पहले आत्मा थी, उसके बाद कर्म उत्पन्न हुआ, या पहले कर्म, उसके बाद जीव उत्पन्न हुआ, या दोनों साथ-साथ ही उत्पन्न होते हैं।⁶⁰

ये तीनों बातें संभव नहीं हो सकती हैं, क्योंकि पहले आत्मा की उत्पत्ति मानें और फिर कर्म की उत्पत्ति तो विशुद्ध आत्मा को कर्म से बंधन का कोई प्रयोजन नहीं। पुनः आत्मा के अभाव में पहले कर्म भी उत्पन्न नहीं हो सकते। अगर कहें आत्मा तथा कर्म दोनों एक साथ उत्पन्न हुए तो यह भी असंगत है। इस प्रकार कर्मबंध अव्यवस्थित ठहरता है। जैनदर्शन की मान्यता है कि जीव और कर्म का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है।

इसके लिए अमोक्षवादी यह तर्क देते हैं कि यदि जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि माना जाए, तो जीव को कभी मोक्ष होगा ही नहीं, क्योंकि जो वस्तु अनादि होती है, वह अनन्त भी होती है। जैसे जीव और आकाश का सम्बन्ध अनादि हो, तो उसे अनन्त भी स्वीकारना पड़ेगा। उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि हो, तो वह अनन्तकाल तक रहेगा, तब फिर मोक्ष की संभावना कहाँ से हो?

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—मोक्ष नहीं है—इस प्रकार कहना असंबद्ध है, क्योंकि कारण कार्यरूप में बीज और अंकुर की तरह देह और कर्म के बीच में संबंध संतानरूप में अनादि है।⁶¹

विशेषावश्यक भाष्य में भी इसके बारे में स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—“शरीर एवं कर्म की संतान अनादि है, क्योंकि इन दोनों में कार्य कारणभाव है, बीज अंकुर की तरह।”⁶² जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह क्रम अनादि से आरम्भ है। इसलिए बीज और अंकुर की संतान अनादि है, उसी प्रकार जीव से कर्म और कर्म से जीव की उत्पत्ति का क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। इसलिए इन दोनों की संतान भी अनादि है।

जिस प्रकार “बीज और अंकुर, मुर्गी और अंडे के सम्बन्ध की तरह स्वर्ण और मिट्टी का संयोग भी अनादि है, फिर भी अग्नि तापादि से, इस अनादि संयोग का भी नाश संभव है, उसी प्रकार जीव और कर्म का संयोग अनादि होने पर भी तप संयमादि उपायों द्वारा कर्म का नाश होता है अर्थात् कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं और जीव तथा कर्म का संबंध अनादि सांत बना सकते हैं।”

“उपाध्यायजी ने कहा है कि अनादि सान्त की यह व्यवस्था भव्य जीवों के लिए है। अभव्य जीव और कर्म का सम्बन्ध आकार और आत्मा की तरह अनादि और अनन्त है।”⁶³

इस प्रकार आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त होकर अनन्त सुख को प्राप्त कर सकती है और यही अनन्त आत्मीय सुख मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार तर्क या अनुमान से विचारने पर मोक्ष की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आ सकती है।

पुनः जीव और कर्म का सम्बन्ध परम्परा की दृष्टि से अनादि है, किन्तु किसी कर्म विशेष का बन्ध अनादि नहीं है। कर्म विशेष किसी काल में बंधा है और अपनी स्थिति पूर्ण होने पर नष्ट हो जाता है। अतः नवीन कर्मों का बन्ध नहीं हो तो कर्म से मुक्ति संभव है।

मोक्ष में सुख है या नहीं?

जैन दर्शन के अनुसार मुक्त अवस्था में केवलज्ञान—त्रैकालिक, त्रैलोक्य पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण का सामर्थ्य होता है। उस अवस्था में आत्मा अपने स्वभाव में रमण करता है फलतः उसे अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। मोक्ष में होने वाले सुख का वर्णन करते हुए जैन आगमों में कहा गया—

जं देवाणं सोकरवं सव्वधा पिंडियं अणंतगुण।

ण य पाचइ मुतिसुहं अंताहि वग्गवग्गूहं।⁶⁴

भौतिक सुखों की दृष्टि से देवतागण समस्त संसारी प्राणियों में उत्कृष्ट हैं—ऐसा प्रायः सभी भारतीय परम्पराएँ मानती हैं। जैन दर्शन का अभिमत है कि—अगणित देवताओं के भूतकालीन, वर्तमानिक और भविष्यकालीन सुखों को यदि एक स्थान पर एकत्रित किया जाए तब भी वह मुक्ति में प्राप्त होने वाले सुख का अनन्तवां भाग भी नहीं हो पाता।

“स्वर्ग में सुख होता है”—इस विषय में तो मतभेद नहीं है पर “मोक्ष में भी सुख होता है”—इस बात के कोई प्रमाण न होने से मोक्षसुख का अस्तित्व अमान्य है। इसका समाधान उपाध्याय यशोविजय ने शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका स्याद्वाद कल्पलता में किया है—मोक्ष सुख के लिए प्रेक्षावान विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति का होना निर्विवाद है, परन्तु मोक्ष में सुख का अस्तित्व न मानने पर यह प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति सुख प्राप्ति के लिए ही हुआ करती है। अतः मोक्ष में यदि

सुख प्राप्ति होने की आशा नहीं होगी तो उसके लिए कोई भी विवेकी पुरुष प्रयत्नशील न होगा। इसलिए मोक्ष में सुख का अभाव होने पर उसके लिए विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति ही मोक्ष में सुख होता है "इस बात में प्राण है।"⁶⁵

मोक्ष हमारा चरम लक्ष्य का नाम है, जहाँ से फिर आवागमन नहीं होता है। इसे सिद्धि नाम से भी सम्बोधित किया गया है। भगवद्गीता में इसके लिए सम् उपसर्ग के साथ सिद्धि शब्द संसिद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा—“कर्कणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः” अर्थात् कर्तव्यानुष्ठान से भी मोक्ष बताया है। किन्तु गीता में अन्यत्र “ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।”⁶⁶ कहकर व तमेव विदित्वाऽऽतिमृत्युमेति नान्यः विद्यतेऽयनायः⁶⁷ इस स्मृति वाक्य ने ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष बताया है।

जैन शास्त्र ज्ञानक्रियाभ्या मोक्षः तथा सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः से सम्यग्दर्शन मूलक ज्ञान एवं क्रिया से ही मोक्ष बताया है जो ज्ञानक्रिया उपाध्याय यशोविजय रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका आदि ग्रन्थ में तत्त्वनिश्चय द्वारा सम्पन्न द्वेषशमन से सुलभ होते हैं। अतः यहाँ कहा गया—

“द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धि सुखावह।”⁶⁸

मोक्ष शब्द को निर्वाण पद से सम्बोधित किया है। यह मोक्ष मानवीय जीवन से सुलभ है। देह जीवन के लिए इसे दुर्लभ कहा है, पर यह सर्व सुलभ नहीं है, क्योंकि सभी के लिए ममत्व रहित रहना, मोहशून्य बनना अशक्य है, फिर भी इसकी सत्यता का आश्वासन आप्तपुरुषों में उच्चारित किया है।

यह आप्तवाणी से ही समझ में आता है, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य नहीं है। अनुमान से अनुसंधेय रहा है। फिर भी दर्शन जगत् बार-बार मोक्ष शब्द को दोहराता आया है। मोक्षगत जीव मोक्ष का परिचय नहीं देते हैं। वह तो शास्त्रवचनों से ही बोधित रहा है। अतः मोक्षमान्य विषय रहा है मतिमानों का। इसमें इतिहास की साक्षी भी है। शास्त्र की सम्मति भी है। समाज की अनुमति भी है। अतः मोक्ष रूढ़ भी है, रहस्यमय भी है, और परोक्ष भी है। प्रमाणनयों से इसका प्रस्तुतीकरण होता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार यद्यपि मोक्ष का स्वरूप वाणी से अगम्य एवं वाचक-वाच्य भाव से परे है। नैतिवाद से गम्य है तथापि उस विषय में हमें विस्तृत एवं उपयोगी निरूपण उपलब्ध होता है जबकि अन्य भारतीय दर्शनों में वैसा विवेचन उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का मोक्षवाद विलक्षण है—यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में संक्षेप में कह सकते हैं कि मोक्षतत्त्व एक श्रद्धागम्य तत्त्व है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। उसे उपादेय रूप में स्वीकारा गया है। प्रत्येक जीवात्मा अत्यन्त दुःखों से निवृत्त होकर अत्यन्त सुख की चाहना करता है और यदि दुःख निवृत्तिमूलक सुख यदि कहीं हो तो वह एकमात्र मोक्ष में स्थित सिद्धात्माओं को। संसार का कितना श्रेष्ठ कोटि का सुख क्यों न हो? लेकिन वह दुःख मिश्रित ही होता है, सुख का आभास मात्र होता है, जिससे जन्म-मरण की परम्परा चालू रहती है और वही सब से बड़ा दुःख है। अतः उपाध्याय यशोविजय ने मोक्ष में ही अनुपम सुख है, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है।

तीन लोकों में स्थित भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन भावों के स्वभाव को प्रत्यक्ष जानने वाले सर्वज्ञ भी सिद्धों के सुखों का वर्णन करने में शक्तिमान नहीं हैं, क्योंकि उसके लिए कोई उपमा जगत् में नहीं मिलती, जिससे उस सुख के साथ तुलना कर सके, ऐसा अनन्त सुख सिद्धों को है। यह बात अनुभव, युक्ति हेतु से घटती है और जिनेश्वर के वचन से सिद्ध है, श्रद्धेय है।⁶⁹

कर्म के सन्दर्भ में

यह दृश्यमान चराचर जगत् हमारे सामने है। किन्तु यह क्यों है? इसका समाधान तत्त्व हमारे सामने नहीं है। जो प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके बारे में जिज्ञासा उठनी भी स्वाभाविक है। जगत् रूप कार्य हम सबके प्रत्यक्ष विषय हैं, इसका कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इसके कारण की खोज में दार्शनिक जगत् में नये-नये प्रस्थानों का आविर्भाव हुआ। जगत् में इससे विविधता भी दिखाई दे रही है। प्राणियों के सिर पर भी विभिन्नता है। ज्ञान चेतना का विकास भी एक जैसा नहीं है। उसमें तरतमता, विविधता एवं विचित्रता स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। इन्हीं तथ्यों के कारण ही खोज में दर्शन जगत् में काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर, कर्म आदि सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ।

भारतीय चिंतकों में जगत् के कारण की मीमांसा के सन्दर्भ में अनेक विचार उपस्थित हुए हैं। जैन दर्शन ने स्पष्ट रूप में जगत् के वैविध्य का कारण कर्म को स्वीकार किया है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं—जीव कर्म के द्वारा विभक्ति भाव अर्थात् विभिन्नता को प्राप्त होता है—

कम्मओ णं जीवे णो अक्कमओ, विभत्तिभावं परिणमई ।^{१०}

बौद्ध दर्शन भी जगत् की लोक की विचित्रता कर्म हेतुक मानता है—“कर्मजं लोकवैचित्र्यं” ।^{११}

बौद्ध मतानुसार विश्व के कार्य में कर्म ही कारणभूत है। जीव के पूर्व जन्म के अस्तित्व में किये गये पुण्य-पाप भाव ही वर्तमान की जीवदशा निश्चित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति आज जो सुख-दुःख का वेदन करता है, वह उस-उस फल का कारण है। ऐसा स्वयं बौद्ध ने कहा है—पूर्वकृत कर्म के परिपाक से कर्म के फल की सुखादिरूप वेदना होती है। एक बार जब स्वयं बुद्ध भिक्षा के लिए जा रहे थे तब उनके पैर में एक कांटा गड गया। उस समय उन्होंने कहा था कि हे भिक्षुओं! आज एकावन में कल्प में मैंने शक्ति धुरी से एक पुरुष का वध किया था, उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैर में कांटा लगा है।^{१२}

कर्मवादी कहते हैं कि चेतन अपने अध्यवसायों से कर्म से बंधता है, उस कारण से आत्मा को संसार प्राप्त होता है और उन कर्मबंध के अथवा संसार के अभाव से आत्मा परम पद को प्राप्त होता है, अतः आत्मा को कर्म से दीन-दुःखी ऐसे स्वयं उद्धार करना और स्वयं को कर्म से दुःखी नहीं बनाना। कहा है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अतः स्वयं का उद्धार करना या अधोगति करना स्वयं के हाथ में है। शास्त्रोक्त वचन है कि जो मैंने पूर्व में वैसा सुख-दुःख सम्बन्धी कर्म नहीं किया तो अतितुष्ट बने हुए मित्र और अतिक्रोधित बने हुए शत्रु मुझे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं बन सकते।

शुभाऽशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः ।

स्वयमेपोवकुर्वन्ति दुःखानि च सुखानि च ॥

जीव शुभ अथवा अशुभ कर्म स्वयं ही करते हैं और उसी से सुख-दुःख स्वयं ही भोगते हैं। वन में, रण में, शत्रु के समूह में, जल में, अग्नि में, महासमुद्र में अथवा पर्वत में शिखर पर स्थित जीव निद्राधीन, प्रमादी हो अथवा विषम स्थिति में हो तो भी पूर्व में किया हुआ पुण्य जीव का रक्षण करता है। किसी उपदेशक ने कहा है—धन, गुण, विद्या, सदाचार, सुख-दुःख—ये कुछ भी अपनी इच्छा से जीव को नहीं मिलते; उसी कारण से सारथी के वश से मैं यम की पालकी पर बैठकर देव जिस मार्ग पर ले जाता है, उस मार्ग में जाता है। अर्थात् कितना ही धन, गुण, विद्या, सदाचार, सुख-दुःख प्राप्त करे परन्तु यह जीव पूर्वकृत कर्म के फल से बच नहीं सकता।

जैसे-जैसे पूर्वकृत कर्म का फल निधान में स्थित धन की भांति प्राप्त होता है, वैसे-वैसे उन कर्म का यह फल है, ऐसा सूचित करने वाली भिन्न-भिन्न बुद्धि मानो हाथ में दीपक रखकर आई हो, वैसी प्रवृत्त होती है अर्थात् बुद्धि उसी प्रकार उत्पन्न होती है कि जीव को यह अमुक कर्म का फल ऐसा है, यह स्पष्ट दिखाती है, कारण कि बुद्धि कर्म के अनुसार ही होती है।⁷⁵ नैयायिक का कथन है कि कर्म अर्थात् पुण्य-पाप आत्मा के विशेष गुण हैं।

कर्मफल का स्वरूप

अत्युन्नत रोहणांचल पर्वत के शिखर से गिरना, विषयुक्त अन्न खाकर संतोष धारण करना, यह जैसे अनर्थ के लिए होते हैं, वैसे ही कर्मफल भी आत्मा के लिए अनर्थकारी होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र के द्वारा कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करना चाहिए।⁷⁴

अध्यात्मसार⁷⁵ में उपाध्याय यशोविजय ने भी कहा है—केवलज्ञान योगनिरोध और सभी कर्मों का नाश तथा सिद्धशिला में वास होता है तब परमात्मा व्यक्त होता है अर्थात् कर्मों के क्षय किये बिना, कर्मों के आवरणों से हटाये बिना मुक्ति संभव नहीं है।

कर्म मूर्त अथवा अमूर्त

यह प्रधानरूप कर्म कि जिसे अपर दर्शनवादी भिन्न-भिन्न विशेषणों का उपचार करके एक-दूसरे से अलग नाम देते हैं, जैसे कि कुछ कर्मों को मूर्त कहते हैं तो कुछ को अमूर्त कहते हैं। यह स्वदर्शन का ही आग्रह है। फिर भी कर्म को संसार परिभ्रमण का कारण सभी दर्शनकार स्वीकारते हैं। उसमें जो भेद करते हैं, वह विशेष प्रकार के ज्ञानाभाव के कारण ही, परन्तु बुद्धिमान को जिस प्रकार देवता विशेष के नामों में भेद होने पर भी अभेद दिखता है, उसी प्रकार कर्म विशेष में नामभेद होने पर भी संसार का हेतु कर्म वासना, पाश प्रकृति वगैरह के नाम होने पर भी परमार्थ रूप से भेद नहीं होने से भेद मानना यह अवास्तविक है, क्योंकि कर्म मूर्त हो अथवा अमूर्त दोनों प्रकार के कर्म को दूर करना ही योग्य है। उसको दूर करके परम पद मोक्ष साधना करनी है।⁷⁶

विभिन्न दर्शनों में कर्म

चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय चिन्तकों ने कर्म को कहीं-न-कहीं रूप में स्वीकार किया है। कर्म के सिद्धान्त के बिना पुनर्जन्म की व्यवस्था ही नहीं की जा सकती है। कर्म की कतिपय अवधारणाओं के संबंध में उनमें परस्पर मतभेद है तथा उनकी अवधारणाओं के सन्दर्भ में मतभेद भी हैं।

जैन परम्परा में जिस अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य भारतीय दर्शनों में माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, आशय, अदृष्ट, संस्कार, देव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

वेदान्त दर्शन में माया एवं अविद्या, मीमांसा दर्शन में अपूर्व नैयायिक, वैशेषिक में अदृष्ट, सांख्य में आशय एवं बौद्ध दर्शनों में कर्म एवं वासना शब्द का प्रयोग कर्म के अर्थ में हुआ है। देव, भाग्य, पुण्य, पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है।⁷⁷

सभी भारतीय दर्शनिकों का मत अंत में कर्मों के क्षय करके मोक्ष जाना ही है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में आत्मा के साथ कर्म का अनादि काल का सम्बन्ध है और वही संसार परिभ्रमण का हेतु है। अतः कर्मक्षय के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रमाण के सन्दर्भ में

प्रत्येक दर्शन में प्रमाण के विषय में विशद विवरण मिलता है, क्योंकि प्रमेय की प्रामाणिकता के लिए प्रमाण अत्यन्त उपादेय माना गया है। उसके बिना प्रमेय की सिद्धि संभव नहीं है, लेकिन प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी भिन्न मान्यताएँ होने के कारण प्रमाणों की संख्या में भी भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उपाध्याय यशोविजय ने अन्य दर्शन की विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख अपने दर्शन ग्रंथ में किया है।

जो प्रमा का साधन है, उसे प्रमाण कहते हैं। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'⁷⁸ प्रमाण की यह परिभाषा सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को स्वीकार है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी 'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'⁷⁹ सर्वमान्य है। फिर भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के प्रमाण में अनेक लक्षण रहे हैं। जिज्ञासा यह होती है कि प्रमाण सामान्य की सर्व मान्य परिभाषा उपलब्ध है, फिर प्रमाण में भिन्न-भिन्न लक्षणों की रचना क्यों की गई? समाधान यह है कि प्रमाण प्रमा का कारण है और प्रमा के स्वरूप के विषय में दार्शनिक जगत् में मतभेद है। सभी दार्शनिकों ने अपनी परम्परा के अनुरूप यथार्थज्ञान की व्याख्या दी है। इसी आधार पर प्रमाण लक्षण में भी भिन्नता आ जाती है। दूसरी बात यह है कि प्रमेय भी भिन्न-भिन्न है। विशिष्ट प्रमेयों को सिद्ध करने के लिए प्रमाण लक्षण भी उनके अनुरूप ही व्यक्त किये गए हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के प्रमाण लक्षणों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

बौद्ध मत

बौद्ध मत में प्रमेय दो प्रकार का माना गया है—सामान्य और विशेष। इस आधार पर दिग्नाग के प्रमाण के भी दो प्रकार स्वीकार किये गए हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।

अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इसमें सौगत के मत से अविसंवादिक ज्ञान ही प्रमाण की कोटि में आता है। जिस ज्ञान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, वह अविसंवादि नहीं हो सकता, जैसे कि केशीण्डक ज्ञान।

स्व विषय का उपदर्शन कराने में दो ही प्रमाण सक्षम हैं, अतः बौद्धदर्शन दो प्रमाणों को ही मान्यता प्रदान करता है—

प्रमाणे द्वै च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने ।

प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः ।।⁸⁰

बौद्धदर्शन में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। चूँकि सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकार का है, अतः प्रमाण दो ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। इससे यह सूचित होता है कि चार्वाक द्वारा निर्धारित प्रमाण प्रत्यक्ष रूप एक संख्या, नैयायिक आदि द्वारा मानी गई प्रमाण की प्रत्यक्ष अनुमान, आगम और उपमान रूप से तीन चार आदि संख्याएँ इष्ट नहीं हैं, क्योंकि उनकी यह निश्चित धारणा है कि विसंवादादरहित सच्चा ज्ञान दो ही प्रकार का है। अतः प्रमाण भी दो ही हो सकते हैं। आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव आदि सभी का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण कर लेते हैं।

तत्पश्चात् उन्होंने प्रमाण सामान्य का लक्षण देते हुए कहा, “अज्ञातार्थज्ञापक प्रमाणम्”⁸¹ अर्थात् ज्ञात का प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है। तात्पर्य यह हुआ कि अनधिगत विषय वाला ज्ञान प्रमाण है। धर्मकीर्ति ने अविश्वंवादी ज्ञान को प्रमाण कहा है। अविश्वंवाद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—प्रमाण द्वारा जिस अर्थ का ज्ञान होता है, उसमें अर्थक्रिया करने का विषय नहीं बन सकता। अन्यत्र धर्मकीर्ति ने दिग्नाय के प्रमाणलक्षण का ही अक्षरशः समर्थन किया है। मनोरथनदी ने इस प्रमाणलक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है—‘अर्थ’ पद द्वारा द्विचन्द्र आदि ज्ञानों की प्रमाणता का निरास किया गया है। अज्ञात पद के द्वारा कल्पनाजन्य ज्ञानों की प्रमाणता को अस्वीकार किया गया है। संक्षिप्त में बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्त तत्र बुद्धताम् ।⁸²

अर्थात् कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक तथा भ्रान्ति से रहित अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष चार प्रकार का है—

- | | |
|---------------------------|---------------------------|
| 1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, | 2. मानस प्रत्यक्ष, |
| 3. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और | 4. योग विज्ञान प्रत्यक्ष। |

अनुमान

बौद्ध के अनुसार पक्षधर्म, सपक्षसत्व तथा विपक्षसत्व—इन तीनों रूप वाले लिंग से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है।

बौद्ध कहता है कि तुम लोग सिर्फ एक ही स्वरूप की चर्चा करते हो, वो उचित नहीं है, क्योंकि इसमें हेतु की पूर्ण पहचान नहीं होती है। अतः उपरोक्त तीन धर्मों को मानना जरूरी है, क्योंकि हेत्वाभास का निरसन करने के लिए उक्त तीनों धर्मों का होना आवश्यक है। बौद्ध इसके तीन स्वरूप मानते हैं। वैज्ञानिक इसके पांच स्वरूप मानता है।

उक्त मान्यता का निरसन करते हुए उपाध्याय यशोविजय अपने दार्शनिक ग्रंथ जैन तर्क भाषा में कहते हैं—

न तु त्रि लक्षणकादि ।⁸³

अर्थात् उपाध्यायजी के अनुसार त्रिलक्षण मानने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि पक्षसत्व रहित हेतु से भी सत्व की प्रतीति हो सकती है।

जैसे अब शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका नक्षत्र का उदय है। यहाँ कृतिका नक्षत्र का उदय हेतु है, पर वो तो वर्तमानकाल लक्ष्मी है और पक्ष के रूप में तो भविष्यकाल है। अब इसमें पक्षसत्व न होते हुए भी हेतु से अभ्रान्त अनुभूति होती है। वैसे ही प्रसिद्ध उदाहरण देखें—कल सोमवार है, क्योंकि आज रविवार है। यहाँ पक्ष है—काल, एवं हेतु है—रविवार। रविवार तो आज है ही, उसमें आवतीकाल रूप भविष्यकाल पक्ष में न होते हुए भी उनमें उक्त अनुमति अनुभव सिद्ध है। यह तो सद्रहेतु में काल की अपेक्षा से भी दिखाते हैं—आकाश में सूर्य उदित हो चुका है, क्योंकि धरती पर प्रकाश छा गया है। यहाँ प्रकाशत्व हेतु है तो आकाशरूप पक्ष में रहा हुआ नहीं है, फिर भी इनमें उक्त अनुमति सिद्ध होती है। ठीक वैसे ही आकाश में चन्द्र उदित हो चुका है। जलचन्द्र (जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब) दिखता है। यहाँ भी आकाश रूप पक्ष में जलचन्द्रात्मक हेतु नहीं है फिर भी अनुमति

सिद्ध होती है। अतः उपाध्यायजी महाराज कह रहे हैं कि अनुमति सिद्ध करने के लिए पक्षधर्मता होना आवश्यक नहीं है।

प्रश्न—यहाँ वापस बौद्ध दार्शनिक प्रश्न उठता है कि यहाँ भी पक्षधर्मता घटित हो सकती है। जैसे कृतिका का उदयकाल (वर्तमानकाल) एवं शकट का उदयकाल (भविष्यकाल)—इन दोनों काल को संयोजित करने वाले व्यापक ऐसे महाकाल को पक्ष मान लें तो भविष्यकाल भी उस व्यापक काल में समाविष्ट हो सकता है। नभचन्द्र से लेकर जलचन्द्र तक के सम्पूर्ण क्षेत्र को संयोजित करने वाले आकाश को दो पक्ष मानने से पक्षधर्मता सिद्ध होती है।

उत्तर—इन प्रश्न का समाधान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि वाह! क्या अद्भुत समन्वय दृष्टि है आपकी, जो इस तरह से पक्षधर्मता मानेंगे तो विश्व के सभी पदार्थों में पक्षधर्मता घटित हो सकती है। फिर भी अनगिनत अनुमान करते रहो। जैसे महल सफेद है, क्योंकि काग काला है। फिर तो ऐसे प्रसिद्ध अनुमानों में भी पक्षधर्मता घटित हो सकती है। महल एवं काग का आधार आकाश को पक्ष बनाने से सोल हो जाता है। फिर तो ऐसे अनुमानों को कौन रोक सकता है? ऐसी विपत्ति को स्वीकार न करनी पड़े, इसलिए पक्षधर्मता का आग्रह छोड़ना ही पड़ेगा। ऐसे-ऐसे कई तर्क-वितर्क बौद्ध दर्शन, नैयायिक दर्शन और उपाध्यायजी के बीच चला और उन सबका समाधान उपाध्यायजी ने अपने दार्शनिक ग्रंथ जैनतर्कभाषा में दिया है।⁶⁴

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि बौद्ध सम्मत त्रैरूप्यता रहित हेतु भी साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता है। वैसे ही नैयायिकों ने हेतु को पंचरूप्य प्रतिपादित किया है।

नैयायिक

नैयायिकों के अनुसार हेतु के पाँच लक्षण स्वीकारे हैं—

1. पक्षसत्त्व,
2. सपक्षसत्त्व,
3. विपक्षाद्यावृत्ति,
4. अबाधितविषयत्व,
5. असत्प्रतिपक्षत्व।⁶⁵

नैयायिकों ने हेतु को पंचरूप्य प्रतिपादित किया। उनमें से तीन का निरसन उपर्युक्त प्रसंग में हो चुका है। उसके अतिरिक्त दो रूप हैं—अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व।

अबाधित विषय का अर्थ है—हेतु का साध्य किसी प्रमाण से बाधित नहीं होना चाहिए। जैसे अग्नि ठण्डी होती है, क्योंकि द्रव्य है जैसे जल। इसे अनुमान में अग्नि का ठण्डापन साध्य है किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः यह बाधित विषय है।

असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है—जिनका कोई प्रतिपक्ष न हो। कोई हेतु अपने विरोधी हेतु में बाधित नहीं होना चाहिए। जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्यता की उपलब्धि नहीं होती। दूसरे ने कहा शब्द नित्य है, क्योंकि उसकी अनित्यता की उपलब्धि नहीं होती। इस हेतु से प्रथम हेतु बाधित हो जाने के कारण सत्प्रतिपक्ष है। जिस हेतु में यह दोष न हो, वह असत्प्रतिपक्ष है।

जैन दार्शनिकों का यह अभिमत है कि जो हेतु बाधितविषय या सत्प्रतिपक्ष वाला होता है, उसमें अविनाभाव भी नहीं हो सकता। अतएव अविनाभाव के हेतु का लक्षण स्वीकार करने से ही ये दोनों लक्षण ग्रहण हो जाते हैं। कहा भी है कि बाधाविना भावयोर्विरोधात्।⁶⁶ बाधा और अविनाभाव का

विरोध है अर्थात् जहाँ किसी प्रकार का हेतु दोष है, वहाँ अविनाभाव नहीं हो सकता और जहाँ अविनाभाव है, वहाँ कोई भी हेतु दोष नहीं रहता। संक्षेप में उपाध्यायजी कहते हैं कि हेतु तीन या पाँच अर्थों वाला होने पर अथवा न होने पर भी अविनाभाव से प्रयुक्त होने पर साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। यह तीन या पाँच रूप तो अविनाभाव का ही विस्तार है। अतः हेतु का एक ही रूप मानना चाहिए, वह है—अविनाभाव।

नैयायिक महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन भेदों का उल्लेख मात्र किया है⁸⁷—

1. पूर्ववत्—जहाँ कारण द्वारा कार्य का अनुमान होता है, वह पूर्ववत् है, जैसे—मेघोच्छन्न आकाश को देखकर वर्षा का अनुमान करना पूर्ववत् कहलाता है।

2. शेषवत्—जहाँ कार्य द्वारा कारण का अनुमान किया जाता है, वह शेषवत् है। जैसे नदी के वेगपूर्ण प्रवाह को देखकर यह अनुमान करना की वर्षा हो चुकी है।

3. सामान्यतोदृष्टि—कार्यकारण भाव से निरपेक्ष जिन दो वस्तुओं का नियत सम्बन्ध पाया जाता है, उनमें से एक-दूसरे का अनुमान करना ही सामान्यतोदृष्टि अनुमान है। जैसे बिना गमन के व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता।

इन तीन भेदों के साथ ही न्याय दर्शन के ग्रंथों में स्वार्थ-परार्थ इन दो भेदों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। परार्थानुमान को प्रयुक्त अवयवों में से न्याय परम्परा पंचावयव परम्परा को स्वीकार करती है।

इसी बात की पुष्टि उपाध्याय रचित दर्शनिक ग्रंथ जैन तर्क परिभाषा में देखने को मिलती है। वहाँ अनुमान के दो भेद बताये गये हैं—

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम्।

तद् द्विविधं स्वार्थि परार्थ च।⁸⁸

हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। वो दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान—हेतु का ग्रहण और साध्य-साधन के बीच के सम्बन्ध का स्मरण—इन दोनों के द्वारा अपने साध्य का जो ज्ञान हो, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे धूम को प्रत्यक्ष देखने वाला और उसमें रही हुई वहिन की व्याप्ति का स्मरण करने वाले प्ररूप पर्वतो वहिनमान ऐसा जो अनुमान करता है, वह स्वार्थानुमान है।

परार्थानुमान—पक्ष और हेतु का जिसमें उल्लेख किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।⁸⁹

उपमान लक्षण—प्रसिद्ध अर्थ सादृश्य से अप्रसिद्ध भी सिद्ध करना उपमान प्रमाण है। जैसे गौ के समान गवय होता है।

प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य से साध्य की सिद्धि उपमान है। यह न्याय दर्शन का उपमान सूत्र है।

यहाँ भी यतः पद का अध्याहार करना चाहिए। अतएव प्रसिद्ध गौ के साधर्म्य सादृश्य से गवय में रहने वाले अप्रसिद्ध संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का साधन प्रतिपत्ति यतः जिस सादृश्य ज्ञान से होती है, वह सादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है।

आगम प्रमाण—आप्त में उपदेश को शब्द आगम प्रमाण कहते हैं। इस तरह चार प्रकार का प्रमाण होता है।⁹⁰ इस तरह बौद्ध प्रत्यक्ष एवं अनुमान को मानता है। नैयायिक प्रत्यक्ष (अनुमान, उपमान एवं आगम) को भी प्रमाण मानता है।

सांख्य मत—सांख्य मत में तीन प्रमाण ही मान्य हैं—

मानत्रितयं चात्र प्रत्यक्ष लौङ्गिक शाब्दम् ।

सांख्यमत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीन प्रमाण हैं। प्रमाण-अर्थोपलब्धि में जो साधकतम कारण होता है, उसे प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष—निर्विकल्प श्रोत्रादि वृत्ति को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्येक विषय में प्रति इन्द्रिय के अध्यवसाय व्यापार को दृष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

अनुमान—अनुमान के तीन प्रकार नैयायिक की तरह सांख्य भी मानते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्टि।

आगम—आप्त और वेदों के वचन शब्द प्रमाण हैं। राग-द्वेष आदि से रहित वीतराग ब्रह्म सनत्कुमार आदि आज नहीं हैं और श्रुति अर्थात् वेद इन्हीं के वचन आगम शब्द हैं।

वैशेषिक मत—वैशेषिक मत में दो ही प्रमाण हैं—

प्रमाणं च द्विधाभीषां प्रत्यक्षं लौङ्गिक तथा ।

वैशेषिकमतस्येष संक्षेप परिकीर्तितः ।।⁹¹

वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है—इन्द्रियज प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष—श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों और मन के सन्निकर्ष से होने वाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—निर्विकल्पक और सविकल्पक।

योगज प्रत्यक्ष—योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—1. युक्त यागियों का और 2. वियुक्त योगियों का।

युक्त योगि—समाधि में अत्यन्त तल्लीन एकाग्रध्यानी योगियों द्वारा रचित योग में उत्पन्न होने वाले विशिष्ट धर्म के कारण शरीर से बाहर निकलकर अतीन्द्रिय पदार्थों से संयुक्त होता है। इस संयोग से जो उन युक्त ध्यान मग्न योगियों को अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे युक्तयोगि प्रत्यक्ष कहते हैं।

वियुक्त योगि—जो योगी समाधि जगाये बिना ही चिरकालीन तीव्र योगाभ्यास के कारण सहज ही अतीन्द्रिय पदार्थों को देखते हैं, जानते हैं, वे वियुक्त कहलाते हैं।

अनुमान—लिंग को देखकर जो अव्यभिचारी निर्दोष ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमति कहते हैं। यह अनुमति जिस परामर्श व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता आदि कारक समुदाय से उत्पन्न होती है, उस अनुमति करण को लौंगिक अनुमान कहते हैं। यह अनुमान कार्य-कारण आदि अनेक प्रकार का होता है।

मीमांसक मत प्रमाण

प्रमाण अर्थात् नहीं जाने गये अनगिनत पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। जैमिनी मत के छः प्रमाण स्वीकारे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दं चोपमया सह ।

अर्थापत्तिरभावश्च सह प्रमाणानि जैमिने ।।⁹²

जैमिनी मुनि ने प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और आगम—इन छः प्रमाणों को माना है।

प्रभाकर मिश्र अभाव को प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य मानकर अर्थापत्ति पर्यन्त पाँच ही प्रमाण स्वीकार करते हैं।

कुमारिल भट्ट अभाव को भी प्रमाण मानते हैं। इनके मत में छह ही प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष—विद्यमान पदार्थों से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर आत्मा को जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जैमिनी का प्रत्यक्ष सूत्र यह है—सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि जन्म तत्प्रत्यक्षम्।⁹³ विद्यमान वस्तु से इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर पुरुष को जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

अनुमान—लिंग से उत्पन्न होने वाले लौगिक ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

उपमान—प्रसिद्ध अर्थ की सदृश्यता से अप्रसिद्ध अर्थ की सिद्धि करना उपमान है।

अर्थापत्ति—दृष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति के बल से अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं—

दृष्टार्थानुपपत्त्या नु कस्यायर्थस्य कल्पना।

क्रियते यदबलेन सर्वथापतिरुदास्ता।।⁹⁴

प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों से प्रसिद्ध अर्थ के अविनाभाव से किसी अन्य अदृष्ट-परोक्ष की कल्पना जिस ज्ञान के बल पर की जाए, वह अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति छहः प्रकार से होती है।

अभाव—वस्तु की सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते, उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है—

प्रमाण पञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।

वस्तु सतावबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता।।⁹⁵

कहा भी है कि प्रमाणों के अभाव को अभाव प्रमाण कहते हैं। यह नास्तिक नहीं है, इस अर्थ की सिद्धि करता है। इसे अभाव को जानने के लिए किसी प्रकार के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती।

कोई आचार्य अभाव प्रमाण को तीन रूप से मानते हैं—प्रमाण पञ्चक का अभाव, जिसका निषेध करना है उस पदार्थ के आधारभूत पदार्थ का ज्ञान, आत्मा का विषय ज्ञान रूप से परिणत ही न होना।

चार्वाकदर्शन

चार्वाक दर्शन मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है, उसका मत इस प्रकार है—

एतानेव लोकोऽयं यावनिन्द्रिय गोचरः।

भद्रे वृकपदंपश्य यदिवदन्त्य बहश्चुताः।।⁹⁶

जितना आँखों से दिखाई देता है, इन्द्रियों से गृहित होता है, उतना ही लोक है। जो मूर्ख लोग अनुमान की चर्चा करते हैं, उन्हें भेड़िये के पैर के कृत्रिम चिन्हों से उसकी व्यर्थता बता देनी चाहिए। चार्वाक परलोक, स्वर्ग, नर्क, मोक्ष आदि को नहीं मानते हैं। पाँच प्रकार की इन्द्रियों के विषय को छोड़कर संसार में अन्य किसी अतीन्द्रिय पदार्थ का सद्भाव नहीं है।

संक्षेप में हम यह कहते हैं कि सभी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रमाणों की अवधारणा स्वीकार की है, जैसे—

चार्वाक—प्रत्यक्ष

बौद्ध और वैशेषिक—प्रत्यक्ष, अनुमान

सांख्य—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम

नैयायिक—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान

मीमांसक—कुमारिल भट्ट—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति

प्रभाकर मिश्र—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव को प्रमाण मानते हैं।

जैन दर्शन

प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो को ही प्रमाण मानते हैं।

प्रत्यक्ष—जिसमें किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती और जो इन्द्रियो प्रतिभास होता है, वह प्रत्यक्ष है।

परोक्ष—जिसमें दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा रहती है, वह परोक्ष है। इनके अंतर्गत पांच भेद को मानते हैं।

इस तरह सभी दार्शनिकों के मत की अवधारणा बताई गई है। उपाध्याय यशोविजय दो भेद ही मानते हैं—प्रत्यक्ष और प्रमाण।⁹⁷ तथा अन्य द्वारा माने गये तीन, चार आदि प्रमाणों का इन दो में ही अन्तर्भाव स्वीकारते हैं।

परवादी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिध्य, प्राप्तिभयुक्ति और अनुपलब्धि आदि अनेक प्रमाण मानते हैं। उनको इन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्ष के अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जो विचार करने पर भी मीमांसक के द्वारा माने गये अभाव प्रमाण की तरह प्रमाण सिद्ध न हो तो उनके अन्तर्भाव या बहिर्भाव की चर्चा ही निरर्थक है, क्योंकि ऐसे ज्ञान तो अप्रमाण ही होंगे। अतः उसकी अपेक्षा ही करनी चाहिए।

जैन तर्कभाषा उपाध्यायजी रचित दार्शनिक ग्रंथ में अविस्वादी ज्ञान को परोक्ष कहकर उनमें पांच भेद किये हैं—1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञा, 3. तर्क, 4. अनुमान, 5. आगम।⁹⁸

सर्वज्ञ के सन्दर्भ में

सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध है। शास्त्रीय प्रकरणों में से परम चर्चित है। पूर्व मीमांसाकार कुमारिल भट्ट के अनुसार जैसे मनुष्यता में सर्वज्ञता का समुदाय संभव नहीं है। कोई मनुष्य सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। अतः सर्वज्ञता जैन दर्शन की एक मौलिक मान्यता है, जो शास्त्रों में सिद्ध है, प्रसिद्ध है और स्वयं सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा है। किसी अटल श्रद्धा श्रमण वाङ्मय में प्रचलित है और इस विषय की प्ररूपणाएँ विभिन्न तर्कों का सामना करती हुई प्रत्युत्तर देती रही है।

इन उत्तरदायित्व को निभाने में निष्णात हरिभद्र सूरि की तरह उपाध्याय यशोविजय अभिनन्दीय हैं। इन्होंने परमात्मप्रकाश, प्रतिमाशतक आदि ग्रंथ की रचना कर सर्वज्ञता को सभी दृष्टि से श्रद्धेय किया है। उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है—

नयेन सङ्ग्रहे! जैवमृनुस्सूत्रोषजीविना।
सच्चिदानन्दस्वरूपत्व ब्रह्म! णो व्यवतिष्ठते।।⁹⁹

अर्थात् सत् चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्मत्व शुद्धात्मा है, अर्थात् आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। परस्पर अनुविद्ध सत्त्व, ज्ञान और सुखमय आत्मा—यही परमात्मा है।

सर्वज्ञ सिद्धि में भी कहा गया है कि—

स्वगते नैव सर्वज्ञ सर्वज्ञत्वेन वर्तते।
न य परागते नापि स स इति उपद्यते।।¹⁰⁰

यह सर्वज्ञ सर्वज्ञपना से ही संवर्धित है, इसमें कोई बाधा नहीं है, निराबाध सर्वज्ञपना सदा सिद्ध हुआ है।

ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वज्ञ स्वीकारते हैं और सर्वोपरि ईश्वरत्व की सिद्धि करते हैं। वह ईश्वर अवतार रूप से अवतरित होकर सर्वज्ञता की सर्व सिद्धि करता है। उस ईश्वर में सर्वज्ञता स्वतः सिद्ध स्वीकारी हुई भक्तजन देखते हैं। ईश्वरवादिता सर्वज्ञता से संपृक्त है परन्तु जैन दर्शन सर्वज्ञत्व को तीर्थकरत्व में प्रतिष्ठित मानता है, वैसे ही ईश्वरवादी आम्नाय ईश्वर में सर्वत्व के संदर्शन कर लेता है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व चिरन्तन शास्त्रगुम्फित ज्ञानगर्भित मान्य रहा है।

आचार्य कुंदकुंद ने नियमसार में शुद्धोपयोग अधिकार में सर्वज्ञता के सम्बन्ध में कहा है, वे व्यवहारनय की अपेक्षा से समस्त लोकालोक के सभी पदार्थों को सहज भाव से देखते हैं और जानते हैं, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से तो वे अपने आपके स्वरूप को देखते हैं और जानते हैं।¹⁰¹

परमात्मप्रकाश में उपाध्यायजी ने कहा है कि जो आत्मा के निर्मलतम सर्वज्ञ स्वरूप का चिन्तन करता है, वह परमात्मा को प्राप्त करता है।¹⁰²

जैसे-जैसे आम्नाय तीर्थकर में सर्वज्ञ की स्थापना करता है, वैसे ही बौद्ध परम्परा बुद्ध को सर्वज्ञ कहती है। बौद्ध कोषकार अमरसिंह ने 'सर्वज्ञ सुगतः बुद्ध' ऐसा संग्रह किया है। अतः बौद्ध परम्परा में सर्वज्ञता की सिद्धि स्वतः ही स्पष्ट है। प्रत्येक आम्नाय ने अपने-अपने इष्ट देव को सर्वज्ञता की कोटि में रखा है, अन्य को नहीं।

जैनों के तीर्थकरों में बौद्ध की सर्वज्ञता दृष्टि क्षीण है। जैनों की सर्वज्ञता दृष्टि तथागत बुद्ध में स्थिर नहीं है, अतः यह विषमवाद आम्नायगत सर्वत्र मिलेगा। परन्तु उपाध्यायजी ने सर्वज्ञ को सर्वदर्शी कर अपनी लेखनी को एवं अपने आपको धन्य बनाया है। यह उनका दार्शनिक चिन्तन दिव्यदर्शी सिद्ध हुआ है।

सांख्य दर्शन ईश्वरवाद पर इतना तत्पर नहीं है। वह कभी-कभी निरीश्वरवाद की कल्पना करता आया है अतः सर्वज्ञता को उन्होंने चर्चित ही नहीं किया। वैसे ही चार्वाक दर्शन सर्वज्ञ चर्चा से मुक्त है।

उपाध्याय यशोविजय सर्वज्ञ (परमात्मा) स्वरूप का विवेचन करते हुए अध्यात्मसार में कहते हैं—

ज्ञान केवलसतं योग निरोधः समग्रकर्महति।

सिद्धि निवासश्च यदा परमात्मा स्यातदा व्यक्त।।¹⁰³

जब केवलज्ञान होता है तब अरिहंत पद प्राप्त होता है। ऐसा उपाध्यायजी का कहना है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में परमात्मस्वरूप (सर्वज्ञता) का विशेष प्रकार से निरूपण किया है। वे कहते हैं—

गुणस्थानानि यावन्ति यावन्त्यश्चापि मार्गणा।

तदन्यतरसंश्लेषो नैवातः परमात्मनः।।¹⁰⁴

अर्थात् जितने गुणस्थानक हैं तथा जितनी मार्गणाएँ हैं, इनमें से किसी के भी साथ परमात्मा का या शुद्धात्मा का संबंध नहीं है। आगम में आत्मगुण का विकासक्रम बताने के अभिप्राय से गुणस्थानक की व्यवस्था है, उसी प्रकार संसारी जीव की विविधता दिखाने की विवक्षा से मार्गणास्थानक की व्यवस्था दर्शायी गई है।

इस प्रकार इस लोक में दृश्य अथवा अदृश्य सभी पदार्थ छः प्रकार की गुण-हानि से विचित्र हैं और न किसी ने बनाये हैं, ऐसा सर्वज्ञ भगवंत कहते हैं।

न्याय के सन्दर्भ में

न्यायशास्त्र वह शास्त्र है, जिसके द्वारा हम पदार्थों की ठीक-ठीक परीक्षा अथवा निर्णय करते हैं। जिस तरह भाषा को परिष्कृत करने के लिए व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता है, उसी तरह बुद्धि को परिष्कृत करने के लिए न्यायशास्त्र की आवश्यकता है। यद्यपि सैकड़ों मनुष्य ऐसे हैं, जो नियमानुसार व्याकरणशास्त्र का अभ्यास नहीं करते किन्तु शुद्ध बोल लेते हैं, इसी तरह हजारों आदमी ऐसे भी हैं, जो न्यायशास्त्र के अध्ययन के बिना बुद्धि का उचित उपयोग करते हैं। इससे मालूम होता है कि मनुष्य के भीतर बोलने और विचारने की स्वाभाविक शक्ति है। समाज के संसर्ग को अभ्यासवश वह इनका उचित उपयोग करने लगता है, फिर भी शास्त्रों के द्वारा संस्कार करने की आवश्यकता रहती है। हीरा तो खान से निकाला जाता है लेकिन उसे चमकदार बनाने के लिए संस्कार की आवश्यकता निश्चित है। न्यायशास्त्र बुद्धि को संस्कृत करके अर्थसिद्धि के योग्य बना देता है।

अर्थसिद्धि में तीन भेद किये जाते हैं—

1. किसी नई वस्तु का निर्माण करना,
2. इच्छित वस्तु को प्राप्त करना,
3. वस्तु को जानना।¹⁰⁵

इनमें न्यायशास्त्र से तीसरी अर्थसिद्धि का ही साक्षात् संबंध है। यद्यपि जब तक तीसरी अर्थसिद्धि न होगी तब तक प्रारम्भ की दोनों सिद्धियाँ नहीं हो सकती, इसलिए तीनों सिद्धियों के साथ न्यायशास्त्र का संबंध मानना अनुचित नहीं कहा जा सकता, फिर भी तीसरी अर्थसिद्धि ही मुख्य है।

वह अर्थसिद्धि लक्षण और प्रमाण से होती है। प्रमाण का एक अंश नय है, इसलिए प्रमाण और नय से भी अर्थसिद्धि मानी जाती है। अगर इसका जरा विस्तार से विवेचन करना हो तो लक्षण, प्रमाण नय और निक्षेप से अर्थसिद्धि मानी जाती है। अगर और भी स्पष्ट विवेचना करना हो तो सप्तभंगी न्याय का भी पृथक् विवेचन किया जाता है। इस तरह न्यायशास्त्र का स्वरूप बहुत विस्तृत है। किन्तु यह सारा विवेचन प्रमाण का ही विस्तार है, इसीलिए प्रमाण के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहा जाता है।¹⁰⁶

उपाध्यायजी ने न्याय के केवल 100 ग्रंथ लिखे थे। 100 ग्रंथ दो लाख श्लोक प्रमाण हैं। इसलिए भट्टाचार्य ने प्रसन्न होकर न्यायाचार्य का विरुद्ध दिया। जैन न्याय के क्षेत्र में उपाध्यायजी अपनी लेखनी अनवरत चलाते रहे। वे न्याय के इतने पारंगत थे कि आज भी उनके स्तूप में से उनके स्वर्गवास के दिन न्याय की ध्वनि निकलती है। ऐसा इस पद से उद्धोषित होता है—

सीत तलाई पारवती, तिहां धूम अंछै ससनूरो रे।

ते मांहिधी ध्वनि न्याय नी, प्रगटे निज दिवसिं पड़ूरो।।¹⁰⁷

भारतीय दर्शनों की विभिन्न परम्पराओं के निर्माण में सिर्फ एक व्यक्ति का नहीं बल्कि समान विचार वाले एक वर्ग की बुद्धि काम कर रही है।

आचार्य गंगेश द्वारा भारतीय दर्शन में नव्य न्याय की स्थापना के उस विचार को व्यक्त करने की नई प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। उनके बाद सभी दर्शनों को उस न्यू शैली का आश्रय लेना पड़ा। व्याकरण, अलंकार आदि में भी नव्य न्याय की शैली का उपयोग हुआ, किन्तु वह शैली के चार सौ वर्ष जाने के बाद भी जैन दर्शन में उस शैली का प्रवेश नहीं हुआ था। चार सौ वर्ष के विकास से जैन दर्शन एवं जैन धर्म संबंधी समस्त साहित्य से सम्पूर्ण वंचित था। भारतीय साहित्य के सभी क्षेत्रों में इस नवीन न्याय की शैली का प्रवेश हुआ किन्तु जैन साहित्य उससे वंचित रहा। उनमें जैनाचार्यों की शिथिलता ही कारण है, क्योंकि अपने शास्त्रों को नित्यनूतन रखना हो तो जो-जो अनुकूल या प्रतिकूल विचार अपने समय तक विस्तार्य हो, उनका यथायोग्य रीति से अपने शास्त्रों में समावेश करना आवश्यक है, अन्यथा वे शास्त्र दूसरे शास्त्रों की तुलना में नहीं आ सकते हैं।

उन्हीं चार सौ वर्ष के विकास का समावेश करने का श्रेय उपाध्याय यशोविजय को है। उनके महान् कार्य के बारे में जब सोचते हैं तो उनके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। उपाध्यायजी ने अनेक विषयों में ग्रंथ लिखे हैं। अगर न भी लिखे होते तो भी उन्होंने न्याय के क्षेत्र में नव्य न्याय की शैली का अपूर्व प्रयोग करके न्याय के क्षेत्र में चार चांद लगा दिए थे।

18वीं सदी में उपाध्यायजी ने जो कार्य किया, उसके बाद वो कार्य भी अटक गया। उसके बाद भारतीय दर्शनों में कोई विकास नहीं हुआ। अभी जो विकास दिख रहा है, वो बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने पश्चिम के दर्शनों का अभ्यास करके पूर्व एवं पश्चिम के दर्शन का समन्वय करके वेदान्त दर्शन की रचना की है। इस तरह भारतीय दर्शनों में वेदान्त पक्ष को अद्यतन बनाने का प्रयत्न किया है। किन्तु आधुनिक दर्शनशास्त्र में से ग्राह्य के त्याज्य का विचार करने वाले अभी तक कोई जैन दार्शनिक नहीं हुए हैं। अब नया कोई नहीं होगा तब तक वाचक यशोविजय जैन दर्शन के लिए अन्तिम प्रमाण हैं। किन्तु इससे यशोविजय की आत्मा को संतोष नहीं होगा। उपाध्यायजी ने अष्टसहस्री जैसे ग्रंथों को दसवीं सदी में से बाहर निकालकर 'अठारहवीं' शताब्दी का बना दिया, उस विवरण को जब तक बीसवीं सदी में लाकर नहीं रखेंगे, तब तक उपाध्यायजी भी संतुष्ट नहीं होंगे।

न्याय के क्षेत्र में नव्यन्याय की शैली में उपाध्यायजी ने न्याय में 100 ग्रंथों की रचना की। इनसे न्याय खंडन खंडखाद्य ग्रंथ निखरे हैं।

उपाध्यायजी ने न्यायखंडखाद्य¹⁰⁸ में प्रभु की स्तुति के उद्देश्य से स्याद्वाद का जो विवेचन दिया है, वो चिन्तनीय, अनुमोदनीय है। उसमें प्रथम प्रभु के अतिशयों का वर्णन करके, वाणी अतिशय का

प्राधान्य बताकर बौद्धों में क्षणिकवाद का निरसन किया है। बौद्धों के द्रव्य का लक्षण जो अर्थक्रियाकारित्व करता है, उसमें जो दोष हो रहे हैं, वो बताते हुए उपाध्यायजी बौद्धों की अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति का दोष समझाते हैं। बौद्ध बीज में रहे हुए बीजत्व के अंकुर उत्पन्न होने का कारण गिनता है किन्तु वह व्याप्ति सही नहीं है। बीज उत्पन्न होने का कारण बीजत्व है, साथ ही सहकारी कारण जमीन, पानी आदि भी जरूर होते हैं। इस नियम को समझाकर सौत्रान्तिक, वैभाषिक, शून्यवाद, विज्ञानवाद, अनात्मवाद—इन सबका सुर जो यत् यत् सत् तत् तत् क्षणिकम् जो एकान्त गिनकर दोषयुक्त दिखाते हैं और प्रभु के व्यवहार विशुद्ध नय को मुख्य स्थान दिया है। उनके बाद काल एवं देश का स्वरूप समझाते हैं।

न्यायखंडखाद्य का पहला भाग तो बौद्धों के क्षणिकवाद का परिघर करने में ही पूरा हो गया है। न्यायदर्शन की कूटस्थ नीति भी दिखाने में आई है।

द्रव्य को एकान्त नित्य या अनित्य मानने में उत्पन्न होने वाले दोषों को बताकर उनकी नित्यानित्य या कथंचिद् नित्य मानने की व्यवहारविशुद्ध नय की श्रेष्ठता बताई है। उसके बाद द्रव्य की उत्पत्ति एवं नाश का हेतु समझाकर वस्तु में रहे हुए भेदाभेद बताकर प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप दिखाया है। इस तरह सम्पूर्ण नव्यन्याय की शैली से उपाध्याय विरचित न्यायखंडखाद्य ग्रंथ बहुत ही सूक्ष्म, जटिल एवं रहस्यमय है।

मल्लिषेणसूरि रचित स्याद्वादमंजरी को बाद करके इस युग के फलायमान न्यायविषय के उच्च साहित्य पर नजर करें तो पता चलता है कि यह पूरा साहित्य अनेक व्यक्तियों के हाथ की रचना नहीं है बल्कि 17वीं-18वीं सदी में हुए उपाध्याय यशोविजय की स्वयं की रचनाएँ हैं। उपाध्यायजी के जैन तत्त्वज्ञान, आचार, अलंकार, छंद आदि अनेक विषयों के ग्रंथों को छोड़कर सिर्फ न्यायविषयक ग्रंथ पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि सिद्धसेन से सम्मतभद्र, वादी देवसूरि, हेमचन्द्र तक जैन न्याय का जितना विकास हुआ था, वो सम्पूर्ण विकास उपाध्यायजी के तर्कग्रंथों में मूर्तिमान है। तदुपरान्त उन्होंने एक चित्रकार की सूक्ष्मता, स्पष्टता एवं समन्वय के रंग भूरे हैं, जिसमें मुदितमना हो गई हो, ऐसा लगता है। प्रथम तीन युग यानी (दिगम्बर और श्वेताम्बर) सम्प्रदाय का जैन न्यायविषयक साहित्य अगर उपलब्ध न हो पर सिर्फ उपाध्यायजी का जैन न्यायविषयक सम्पूर्ण साहित्य उपलब्ध हो जाए तो भी जैन वाङ्मय कृतकृत्य है।

जैन तर्क भाषा¹⁰⁹ जैसे जैन न्याय प्रवेश के लिए लघुग्रंथ की रचना करके, जैन साहित्य में तर्क संग्रह एवं तर्क भाषा की कमी पूर्ण की है।

न्यायदर्शन में गंगेश उपाध्याय के बाद नव्य न्याय की प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। उनका विचार उपाध्यायजी के समय में पूर्ण कक्षा तक पहुंचा है, ऐसा कह सकते हैं। रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर, जगदीश आदि नव्य न्याय के ग्रंथ सूक्ष्म तर्क सरणि में अग्रिम हैं। जैन दर्शन में उस शैली का प्रतिपादन उपाध्यायजी ने किया है, उसमें कोई कमी नहीं रखी है।

अष्टसहस्री, शास्त्रवार्ता समुच्चय की कल्पलता टीका, अनेकान्त व्यवस्था, नयोपदेश, नयामृत तरंगिणी, वादमाला, न्यायखंडन खाद्य, ज्ञानार्णव, ज्ञानबिन्दु, तत्त्वार्थटीका—प्रथम अध्याय आदि ग्रंथों को देखें तो नव्यन्यायशैली पर उनका प्रभुत्व इतना था कि उनके सामने गंगेश उपाध्याय को भी बहुमान भाव उत्पन्न होता था। उपाध्यायजी की कलम में खण्डन शक्ति के साथ समन्वय करने की भी शक्ति थी।

अध्यात्म परीक्षा, प्रतिभाशतक, धर्म परीक्षा, गुरु तत्त्व विनिश्चय¹²⁵ गाथा आदि स्तवनों आदि में परमत खंडन करने की शक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है, उनके साथ ज्ञानबिन्दु आदि में उनकी समन्वय शक्ति का परिचय मिलता है।

न्याय के क्षेत्र में उपाध्यायजी के न्याय विषयक दार्शनिक ग्रंथों पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि उन्होंने न्यायविषयक 100 ग्रंथों की रचना करने में दो लाख श्लोकप्रमाण की रचना कनके जैन साहित्य में, जैन दर्शन में या भारतीय दर्शन में चार चांद लगा दिए हैं।

अन्य सन्दर्भ में

अन्य सन्दर्भ में मुख्य अनेकान्तवाद आता है जो एकान्त के विरुद्ध आवाज उठाता है। सर्वदृष्टि से सन्तुलित शुद्ध ऐसा दृष्टिकोण दर्शित करना यह अनेकान्त का उद्देश्य है। इसमें न तो हठधर्मिता है, न कदाग्रहता है, न किसी प्रकार की विसंगतियाँ हैं। एक ऐसी विशुद्ध धारा सर्वदृष्टि से सुमान्य, वह है—अनेकान्त दृष्टिकोण। जिस अनेकान्त विषय को उपाध्याय यशोविजय ने अनेकान्त व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया है, ऐसी अनेकान्तवादिता के आश्रय से हम आग्रहरहित अनुनयी बने रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्त दृष्टि से स्वीकार करते हुए निर्बन्ध रूप में निर्मल रहता है। निर्मलता ही निश्चय नय की भूमिका का भव्य दर्शन है। इनकी अभिव्यक्त शैली स्याद्वाद किसी को अनुचित रूप से उल्लिखित नहीं करता हुआ गुणग्राहिता के गौरव देता है, सर्वदर्शी सही बना रहता है।

इस स्याद्वाद की श्रेष्ठ भूमिका को भाग्यशाली बनाने के लिए मल्लवादी, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य हरिभद्र और उपाध्याय यशोविजय आदि प्रमुख रहे हैं। इन्होंने अनेकान्त को जैन दर्शन का उच्चतर उज्वल दृष्टिकोण दर्शित कर दर्शन जगत् को एक दिव्य उपहार दिया है। जब दार्शनिक संघर्ष सबल बन गया, तब श्रमण भगवान महावीर ने एक अभिनव दृष्टिकोण को आविर्भूत कर अनेकान्त का श्रीगणेश किया, जो हमारे जैन दर्शन का अभिनव अंग है, जिस पर अगणित ग्रंथों की रचना हुई और स्याद्वाद सिद्धान्त की प्ररूपणा हुई। इसी अनेकान्तवाद को सप्तभंगी रूप में समुपस्थित कर सर्वहित में एक शुद्ध शुभाशुभ अभिव्यक्त किया है। यह सप्तभंगी नय न्यायदाता है और नवीनता से प्रत्येक को निरखने का नया आयाम है। सभी गुणों का संग्राहक होकर उसका सत्स्वरूप, असत्स्वरूप, बाह्यस्वरूप, वाच्यस्वरूप, अवाच्यस्वरूप अभिव्यक्त करना, यह सप्तभंगी का शुभ आशय रहा है।

इस आशय पर तीर्थंकर भगवंतों की स्तुतियाँ हुईं, द्वात्रिंशिकाएँ बनीं और ऐसी सुन्दर लोकभाषा में स्तवन बने। आनन्दघन जैसे आध्यात्मिक पुरुषों ने सप्तभंगी को परमात्म स्तुति अभिवर्णित कर अपना भक्ति प्रदर्शन भावपूर्ण बनाया। इसी सप्तभंगी पर द्रव्यानुयोग की रचना हुई और गहनतम, गम्भीर विषयों की विवेचनाएँ वर्णित हुईं। इसी द्रव्यानुयोग का अध्ययन श्रमण परम्परा में प्रमाणित माना गया, अतः अनेकान्तवाद आगमों के आधारों का आश्रयस्थल बना।

अनेकान्तवादी किसी भी दुराग्रह से दुखित नहीं मिलेंगे। ये सभी के प्रति समन्वयवादी रहते हैं, और स्वयं में सुदृढ़, सुशान्त, स्पष्टवादी रहता हुआ, स्याद्वाद की भूमिका को निभाता है। इसलिए हमारी निर्ग्रन्थ परम्परा दर्शनवाद के दुराग्रह से सुदूर रहती हुई अनेकान्तवाद की उच्च भूमि पर अचल रहती है।

अन्यों से अनवरत आदर-सम्मान सम्प्राप्त करने में उपाध्याय यशोविजय अद्वितीय रहे हैं। इनका दार्शनिक जीवन दिग्दिगन्त तक यशस्वी बना है। प्रत्येक दार्शनिक आमनाय ने इनके मन्तव्यों को महत्त्व दिया है और इनके सिद्धान्तों की सराहना की है। स्व-सिद्धान्त के प्रतिपादन में उपाध्यायजी एक नैष्ठिक,

निष्णात, निर्ग्रन्थनय के निपुणनर के रूप में उपस्थित हुए हैं। इन्होंने श्रमण सिद्धान्त को समन्वयता से सुयशस्वी बनाने का जो एक सूक्ष्म दृष्टिकोण समुपस्थित किया है, वह शताब्दियों तक इनकी सराहना करता रहेगा। निर्विरोध और निर्वैरता से विपक्ष को विशेष सम्मान देते हुए स्वयं के प्ररूपण में पारदर्शी प्राप्त होते हैं। ऐसी उनकी अनुपमेय विद्वत्ता विद्वत् समाज को मार्गदर्शन देती, मध्यस्थ भाव में रहने का सुझाव देती है। इनकी यह माध्यमिक वृत्ति और प्रवृत्ति पुरातन प्रचण्ड प्रदोह को प्रनष्ट करती है, शालीनता से जीवन जीने की प्रेरणा देती है। प्रामाणिकता से अपने सिद्धान्त को सहजता से सुवाचित करके सुभाषित बनाते स्वयं की मेधा को मनोज्ञ बनाते रहे हैं। इनकी मेधा का मनोज्ञपन महाविरोधियों को भी विद्या-विवेक का विमर्श देता रहा है। परों से पराजित नहीं हुए, अपरों से अनाहत नहीं बने, ऐसा उनका विद्यामय व्यक्तित्व एवं विशाल श्रमण संस्कृति के संरक्षक रूप में समुपस्थित रहे हैं। प्रत्येक काल इनकी कृतियों का और इनकी आकृतियों का अर्जन करता, आदर करता और इनकी अपार उदारता का समादर बढ़ाता संस्कृत साहित्य और समाज के ओजस को और तेजस को तपोनिष्ठ बनाता रहेगा।

उपाध्यायजी चले गये परन्तु उपाध्यायजी हितकारिणी प्रवृत्तियों का और उनकी लिखित कृतियों का पुण्योदय कभी भी न क्षीण होगा, और न कोई क्षपित, क्षयित कर सकने का अधिकारी बनेगा।

अन्य दर्शनिक परम्पराएँ और अनेकान्तवाद

डॉ. सागरमल जैन “अनेकान्तवाद : सिद्धान्त और व्यवहार” में लिखते हैं—“अनेकान्तिक दृष्टि श्रमण परम्परा के अन्य दार्शनिकों में भी प्रकार-भेद से उपलब्ध होती है।” संजयवेलट्टि पुत्र का मंतव्य बौद्ध ग्रंथों में निम्न रूप से प्राप्त होता है।

- (1) है! ऐसा नहीं कह सकता।
- (2) नहीं है! ऐसा भी नहीं कह सकता।
- (3) है भी और नहीं भी? ऐसा भी नहीं कह सकता।
- (4) न है और न नहीं है? ऐसा भी नहीं कह सकता।

इससे यह फलित होता है कि संजयवेलट्टि पुत्र भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं हैं। उपनिषदों में भी हमें सत्-असत्, उभय व अनुभय, अर्थात् ये चार विकल्प प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषदिक चिन्तन एवं उसके समान्तर विकसित श्रमण परम्परा में यह अनेकान्त दृष्टि किसी-न-किसी रूप में अवश्य उपस्थित रही है, किन्तु उसमें अभिव्यक्ति की शैली भिन्न है। इस युग के बाद भारतीय चिन्तन की दार्शनिक युग में भी विविध दर्शनों ने इस शैली को अपनाया है।¹¹⁰ ब्रह्मानन्द ग्रंथ में अद्वैतानन्द प्रकरण में विद्यारण्यस्वामी ने कहा है—घट मिट्टी से भिन्न नहीं है, क्योंकि जब मिट्टी का वियोग होता है, तब घट नहीं दिखता है। इसी प्रकार घट मिट्टी से अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि पूर्व में पिण्ड अवस्था में घट नहीं दिखता है।¹¹¹ इस प्रकार एक ही घट में भिन्नत्व-अभिन्नत्व—इन दो विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करके स्याद्वाद की पुष्टि की गई है।

उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है—

यस्य सर्वत्र समता, नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकान्त वादस्य, क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥¹¹²

जैसे माता को अपने सब बच्चों के प्रति सम्मान, स्नेह होता है, ठीक वैसे ही जिस अनेकान्तवाद की सब नयों के प्रति समान दृष्टि होती है, उस स्याद्वादी या अनेकान्तवादी को एक नय में हीनता की बुद्धि और अन्य नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी? अर्थात् किसी भी नय में हीनता या उच्चता की बुद्धि स्याद्वादी को नहीं होती है। इस प्रकार की निर्मल दृष्टि हो जाने पर व्यक्ति में समत्व का विकास होता है।

एकान्तवादी दर्शनों के सिद्धान्त किस तरह अनेकान्तवाद में सम्मिलित हैं, इस विषय का सम्यक् सतर्क प्रतिपादन उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषद् में किया है। अनेकान्तवाद का क्षेत्र इतना व्यापक है कि किसी भी क्षेत्र में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि—

उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः ।

गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादद्विजनोंऽपि कः ॥¹¹³

अर्थात् दही के रूप में जो उत्पन्न हुआ है और वही दूध के रूप में नष्ट हुआ है तथा वही गोरस के रूप में स्थायी है, इस प्रकार जानते हुए भी कौन व्यक्ति ऐसा होगा कि जो स्याद्वाद से द्वेष करे? स्थायी ऐसे गोरस में पूर्वकालीन दूध की पर्याय का नाश और उत्तरकालीन वही पर्याय की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण विरुद्ध नहीं है। अतः वस्तुद्रव्य पर्याय उभयात्मक होने से उत्पादव्ययधोव्यात्मक सिद्ध होती है।

सांख्य दर्शन में स्याद्वाद

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—सत्व, रजस और तमस—इन तीन विरोधी गुणों से युक्त प्रकृति तत्त्व को स्वीकार करने वाले बुद्धिशालियों में मुख्य ऐसा सांख्य अनेकान्तवाद का प्रतिपक्ष नहीं करता है।¹¹⁴ क्योंकि स्याद्वाद का विरोध करने पर उसको मान्य प्रधान प्रकृति तत्त्व का ही उच्छेद हो जाएगा। परस्पर विरोधी गुण धर्म से युक्त प्रकृतितत्त्व को स्वीकार करना तथा अनेकान्तवाद का विरोध करना तो जिस डाली पर बैठे, उसी को काटने जैसा होगा। साथ ही सांख्य दर्शन प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों गुणों को स्वीकार करता है। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्त्यात्मक और मुक्तपुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता को महाभारत में भी स्पष्ट किया गया है, उसमें लिखा है कि—

यो विद्वान् सहसंवास विवासं चैव पश्यति ।

तथैकत्व नानात्वे स द्वावात् परिमुच्यते ॥¹¹⁵

अर्थात् जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है, वह दुःख से छूट जाता है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं—जड़ और चेतन का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकान्तवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। यही भेदाभेद की दृष्टि अनेकान्त की आधारभूमि है, जिसे किसी-न-किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है।

नैयायिक वैशेषिक

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

चित्रमेकमनेकंच रूपं प्रामाणिकं वदन।

योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।¹¹⁶

जो एक ही वस्तु चित्ररूप या अनेकरूप मानते हैं, वे नैयायिक या वैशेषिक भी अनेकान्तवाद का अनादर नहीं कर सकते हैं। जो स्वयं एक ही घट में व्याप्यवृत्ति की अपेक्षा एकचित्ररूप एवं अव्याप्यवृत्ति की अपेक्षा विलक्षण चित्ररूपों को मान्य करते हैं, उनके लिए अनेकान्त का अनादर करना, यानी स्वयं के पैर पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। स्याद्वाद के उन्मूलन से उनके अपने मंतव्य का ही उन्मूलन हो जाएगा। एकानेक रूपों का एक ही धर्मों में समावेश करना ही अनेकान्तवाद की स्वीकृति है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं—वैशेषिक दर्शन में जैनदर्शन के समान ही प्रारम्भ से जिन तीन पदार्थों की कल्पना की गई, वे इसके गुण और कर्म हैं, जिन्हें हम जैनदर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य के प्रथम गुण तथा द्रव्य और गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, यही तो अनेकान्त है।¹¹⁷

वैशेषिक सूत्र¹¹⁸ में भी कहा गया है—

“द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च”—द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद सामान्य, विशेष, उभय रूप मानना, यही तो अनेकान्त है।

पुनः वस्तु सत् असत् रूप है—इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्य भाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्तिरूप है और पर-स्वरूप की अपेक्षा नास्तिरूप है। यही तो अनेकान्त है, वैशेषिकों को भी मान्य है।

1 बौद्धदर्शन में अनेकान्तवाद

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि बौद्धदर्शन भी अनेकान्तवाद से मुक्त नहीं है। वे कहते हैं—

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्,

इच्छं तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।¹¹⁹

विचित्र आकार वाली वस्तु का एक आधार वाले विज्ञान में प्रतिबिम्बित होने को मान्य करने वाले प्राज्ञ बौद्ध भी अनेकान्तवाद का अपलाप नहीं कर सकते हैं।

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद

इन दोनों एकान्तों को अस्वीकार करने वाले गौतम बुद्ध की स्याद्वाद में मूक सहमति तो है ही। एकान्तवाद से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या विभज्यवाद को अपनाया अथवा निषेधमुख से मात्र एकान्त का खण्डन किया।

बौद्ध परम्परा में विकसित शून्यवाद तथा जैन परम्परा में विकसित अनेकान्तवाद दोनों का ही लक्ष्य अनेकान्तवादी धारणाओं को अस्वीकार करना था। दोनों में फर्क इतना ही है—“शून्यवाद निषेधपरक शैली को अपनाता है, जबकि अनेकान्तवाद में विधानपरक शैली अपनाई गई है।”

शून्यवाद के प्रमुख ग्रंथ मध्यमकारिका में नागार्जुन ने लिखा है—

न सद् नासद् न सदसत् चानुभयात्मकम्,
चतुष्कोटि विनिमुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।।¹²⁰

अर्थात् परमतत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत् दोनों है। यही बात विधिपरक शैली में जैनाचार्य ने भी कही है—

यदेवततदेवावत् यदेवैकं तदेवानेकं।
यदेवसत् तदेवासत् यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।।¹²¹

अर्थात् जो ततरूप है वही अततरूप भी है, जो एक है वही अनेक भी है, जो सत् है वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्तवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है। उपाध्याय यशोविजय ने महावीर स्तव ग्रंथ में कहा है—हे वीतराग! इस जगत् में त्रिगुणात्मक प्रधान प्रवृत्ति में परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकार करने वाले सांख्य, विविध आकारवाली बुद्धि का निरूपण करने वाले बौद्ध, उसी प्रकार अनेक प्रकार में चित्रवर्णवाला, चित्ररूप को स्वीकारने वाले नैयायिक तथा वैशेषिक आपके मत की निन्दा कर सकते हैं।¹²² अर्थात् उनको अपना मत मान्य रखना है, तो वे अनेकान्त का अपलाप नहीं कर सकते।

मीमांसक : प्रभाकर मिश्र की अनेकान्त की स्वीकृति

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि मीमांसकों के सिद्धान्त की मंजिल भी अनेकान्त की नींव पर ही खड़ी है। वे कहते हैं—

प्रत्यक्षं मितिमात्रंशे मेयांशे तद्विलक्षणम्,
गुरुज्ञानं वदन्नेकं, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।¹²³

जो ज्ञान स्वयं की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है, वही ज्ञान ज्ञेय की अपेक्षा परोक्ष भी होता है। इस प्रकार स्वीकार करने वाले प्रभाकर मिश्र को अनेकान्त का सहारा लेना ही पड़ता है।

विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने पर “यह घट है”—यहाँ ज्ञान ज्ञानत्व, ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व की अपेक्षा से प्रत्यक्ष ही है, परन्तु अनुमान में तीनों का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। जैसे मैं घट की अनुमीति करता हूँ, यहाँ ज्ञान तथा ज्ञाता की अपेक्षा प्रत्यक्ष होने पर भी वह ज्ञान विषय की अपेक्षा से परोक्ष भी है। प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व का विरोध होने पर भी दो ज्ञान की कल्पना करना उचित नहीं है, अतः ज्ञातृत्व और ज्ञानत्व की अपेक्षा से प्रत्यक्ष होने पर भी वही ज्ञान ज्ञेयत्व की अपेक्षा से परोक्ष भी होता है, ऐसा प्रभाकर मिश्र स्वीकार करते हैं। अतः एक ही वस्तु में दो विरोधी गुण को अपेक्षाभेद से स्वीकार करना, यही तो स्याद्वाद है।

साथ ही उपाध्याय यशोविजयजी कुमारिल भट्ट के मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

जातिव्यक्तयात्मकं वस्तु, वदन्नुभवोचितम्।
भट्टो वाऽपि मुरारिवां, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।¹²⁴

अर्थात् वस्तु जाति और व्यक्ति उभयात्मक है। इस प्रकार अनुभवगम्य बात स्वीकार करने वाले कुमारिल भट्ट भी अनेकान्त का अपलाप नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अनेकान्त का विरोध करने पर इनको मान्य वस्तु सामान्य विशेषात्मक है—यह बात असिद्ध हो जाएगी।

कुमारिल भट्ट द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थितियुक्त मानना अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्यों से इस बात को बल मिलता है कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं अनेकान्त के तत्त्व उपस्थित हैं।

पातंजल योगसूत्र की राजमार्तण्ड टीका में भोजदेव ने प्रतिपादित किया है, जैसे रुचक को तोड़कर स्वस्तिक बनाने में सुवर्ण रुचक परिणाम को त्यागकर स्वस्तिक परिणाम को धारण करता है और स्वयं स्वर्ण, स्वर्णरूप में अनुगत ही है। स्वर्ण से कथंचित् अभिन्न ऐसे रुचक तथा स्वस्तिक अपने परिणामों में भिन्न-भिन्न हो, किन्तु उनमें सामान्य धर्मरूप सुवर्ण रहता है।¹²⁵ इस प्रकार भोजराजर्षि सामान्य विशेष उभयात्मक वस्तु को सिद्ध करके स्याद्वाद का ही सम्मान करते हैं।

वेदान्त दर्शन में स्याद्वाद की स्वीकृति

उपाध्याय यशोविजय 'सभी दर्शनों में स्याद्वाद अन्तर्निहित है' यह सिद्ध करते हुए कहते हैं—ब्रह्मतत्त्व परमार्थ से बंधनरहित है और व्यवहार से बंधा हुआ है, इस प्रकार कहने वाले वेदान्ती अनेकान्तवाद का अनादर नहीं कर सकते हैं।¹²⁶

निम्बार्कभाष्य की टीका में श्रीनिवास आचार्य कहते हैं—

जगत् ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविको श्रुति-स्मृति-श्रुतसाधितौ भवतः कः तत्र विरोधः?¹²⁷

अर्थात् जगत् और ब्रह्मतत्त्व का परस्पर भेदाभेद स्वाभाविक है। श्रुति, वेद, उपनिषद्, स्मृति स्वरूप शास्त्रों से सिद्ध है, इस कारण से उनमें विरोध कैसा? इस प्रकार श्रीनिवास आचार्य भी अनेकान्त की अवहेलना नहीं कर सकते हैं।

उपनिषदों में अनेकान्तवाद

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

ब्रवाणा भिन्न-भिन्नार्थान् नयभेद व्यपेक्षया ।

प्रतिक्षिपेयुर्नोवेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम् ॥¹²⁸

भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाले वेद भी सार्वतान्त्रिक, सर्वदर्शन व्यापक ऐसे स्याद्वाद का विरोध नहीं कर सकते। वेद और उपनिषद् में तो स्याद्वाद का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है।

अथर्वशिर उपनिषद् में कहा गया है—

सोऽहं नित्यानित्यो व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माऽहं ॥¹²⁹

मैं नित्यानित्य हूँ, मैं व्यक्त-अव्यक्त ब्रह्मस्वरूप हूँ।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—“आकाशो रमन्ते आकाशे न रमन्ते”¹³⁰ ऋग्वेद में लिखा है—“नाऽसदासीत नो सदासीत तदानी”¹³¹ अर्थात् तब वह असत् भी नहीं था और सत् भी नहीं था। सुबाल उपनिषद् में कहा गया है कि “न सन्नाऽसन्न सदसदति”¹³² अर्थात् वह सत् नहीं, वह असत् नहीं, वह सदसत् नहीं।

मुण्डकोपनिषद् का वचन है—सदसदरेण्यम्¹³³—श्रेष्ठ तत्त्व सदसत् है। ब्रह्माविद कहा गया है—नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं अचिन्त्यं, चिन्तयमेव च ॥¹³⁴ अर्थात् वह चिन्त्य नहीं और अचिन्त्य भी नहीं तथा

अचिंत्य ही है और चिंत्य ही है। त्रिपुरातापिनी में कहा गया है—“अक्षरमहंक्षरमहं”¹³⁵—मैं अविनाशी हूँ, मैं विनाशी हूँ। तेजोबिन्दू उपनिषद् में बताया गया है—द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जित।¹³⁶ अर्थात् आत्मा द्वैताद्वैत स्वरूप है और द्वैताद्वैत रहित है।

भस्मजाबाल उपनिषद् का वचन है—“आत्मा चक्षुरहित होने पर भी विश्वव्यापी चक्षुवाली है, कर्णरहित होने पर भी सर्वव्यापी कर्णमय है, पैररहित होने पर भी लोकव्यापी है, हाथरहित होने पर भी चारों तरफ है।”¹³⁷

इन सभी वेद एवं उपनिषद् वाक्यों की संगति अनेकान्त का आश्रय लिए बिना सम्भव नहीं है। यदि भारतीय दर्शनों के मूल ग्रंथों और उनकी टीकाओं का सम्यक् रूप में अध्ययन किया जाए तो ऐसे अनेक वाक्य हमें दिखाई देंगे, जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकान्तदृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकान्त एक अनुभूयात्मक सत्य है, इसे नकारा नहीं जा सकता है।

हरिभद्र के शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका में उपाध्याय यशोविजय कहते हैं कि अन्य मतावलम्बियों के मत स्याद्वाद की अपेक्षा एक-एक नय के प्रतिपादक हैं। अतः वे जैन शासन के लिए क्लेशकारक नहीं हो सकते। क्या जटिल ज्वाला की अग्नि से निकले, इधर-उधर फैले हुए अग्नि के छोटे-छोटे कण उस अग्नि का पराभव कर सकते हैं? अर्थात् नहीं। आगे ये कहते हैं कि चाहे अपने विष दंश से सर्वशीघ्रता से गरुड़ पर विजय प्राप्त कर ले, चाहे हाथी हठवश सिंह को अपने गले में बांध ले एवं अंधकार का समूह सूर्य के अस्त होने का भान कराए, किन्तु स्याद्वाद के विरोधी भी स्याद्वाद का अपलाप नहीं कर सकते हैं। कोई भी नयवाद विरोधी कैसे हो सकते हैं, वह तो उसी का अंश है।¹³⁸

आग्रहमुक्ति के लिए अनेकान्तदृष्टि की अपरिहार्यता

सत्य का आधार अनाग्रह है और असत्य का आधार आग्रह। आग्रह के अनेक प्रकार हैं—साम्प्रदायिक आग्रह, पारिवारिक और सामाजिक आग्रह, जातीय और राष्ट्रीय आग्रह। आग्रह और एकान्त के रोगाणुओं से फैली हुई विभिन्न बीमारियों की एक ही औषधि है और वह है—अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद तीसरा नेत्र है, जिसके खुलते ही राग-द्वेष, दुराग्रह, विलय हो जाते हैं और तटस्थता की भावना जागृत होती है। जब तक किसी बात का आग्रह है, तब तक ही झगड़ा है, अशान्ति है। अनेकान्तवाद यही सीखाता है कि पकड़ना नहीं, अकड़ना नहीं और झगड़ना नहीं।

एक विचारक एक दृष्टिकोण को पकड़कर उसका पक्ष करता है, समर्थन करता है, उसके प्रति राग रखता है। दूसरा विचारक दूसरे दृष्टिकोण का पक्ष करता है, समर्थन करता है। पहला विचारक दूसरे विचारक का खण्डन करता है। दूसरा विचारक पहले का खण्डन करता है। इस तरह अपने विचारों की पकड़ मजबूत होती जाती है, आपस में द्वेष बढ़ता जाता है, लेकिन जैसे ही अनेकान्त का बीज हृदय में प्रस्फुटित होता है, वैसे ही अपना विचार छूट जाता है, पराया विचार भी छूट जाता है और केवल सच्चाई रह जाती है, व्यक्ति पूर्ण तटस्थ हो जाता है।

आज जो साम्प्रदायिक झगड़े बढ़ते जा रहे हैं और मतभेद के साथ-साथ मनभेद भी हो रहे हैं, उसका एक कारण साम्प्रदायिक आग्रह भी है। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग स्तोत्र में एक बहुत मार्मिक बात कही है कि—

कामरागस्नेहरागौ द्वेषत्कर निवारणौ ।
दृष्टि रागस्तु पापीयान दुरुच्छेद सतामपि ॥¹³⁹

कामराग और स्नेहराग—ये दोनों सरलता से मिटाए जा सकते हैं किन्तु दृष्टिराग अर्थात् विचारों के प्रति अनुरक्ति को मिटा पाना सहज सरल नहीं है। दृष्टि का अनुराग भयंकर बंधन है। जिन्होंने घर-बार छोड़ दिया, जिन्होंने परिवार का स्नेह तोड़ दिया, वे सब कुछ छोड़ने पर भी विचारों के अनुराग को नहीं तोड़ पाए। विचारों के प्रति तटस्थ होना सहज नहीं है। अनेकान्त के बिना तटस्थता नहीं आती है।

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

माध्यस्थयसहितं हयेयकपदज्ञानमपि प्रभा ।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ॥¹⁴⁰

माध्यस्थ भाव के रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्र व्यर्थ हैं, क्योंकि जहाँ आग्रह बुद्धि होती है, वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन सम्भव नहीं होता है। उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानसार में कहा है—

वांदाश्य प्रतिवादांश्य वदन्तो निश्चितास्तथा ।
तत्वान्त नैव गच्छन्ति तिलपीलक वदगतौ ॥¹⁴¹

अर्थात् एकांगी दृष्टिकोण रखकर वाद और प्रतिवाद करने वाले तिल को पील रहे घानी के उस बैल के समान है, जो सुबह से शाम तक सतत चलने पर भी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता है। वादी-प्रतिवादी अपने पक्ष में कदाग्रह रखने के कारण तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

डॉ. सागरमल जैन¹⁴² लिखते हैं कि वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, हेतुवाद, अहेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतान्तर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिये गए चित्र हैं और अपेक्षित रूप से सत्य हैं। द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय किया जा सकता है, अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है। वह सभी दर्शनों का आराधक होता है।

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं—

तेन स्यादवादमालमूच्य सर्वदर्शनतुल्यताम् ।
भोक्षोदेशाविशेषण यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥¹⁴³

अर्थात् स्याद्वाद का आश्रय लेकर मोक्ष का उद्देश्य समान होने की अपेक्षा से सभी दर्शनों में जो साधन समानता को देखता है, वही शास्त्र का ज्ञाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने महावीरस्तोत्र में कहा है—संसार के बीज को अंकुरित करने वाले राग और द्वेष—ये दोनों जिसमें समाप्त हो चुके हैं, उसका नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो, उन सबको मेरा नमस्कार है।¹⁴⁴

ये बातें अनेकान्त के आलोक में कही जा सकती हैं। सत्य का प्रकाश केवल अनाग्रही को ही प्राप्त हो सकता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के जीवन में भी अनेकान्त फलित था। उन्होंने कहा—

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रहः ॥¹⁴⁵

महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और सांख्यमत के प्रवर्तक कपिलऋषि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। महावीर मेरे मित्र नहीं हैं, कपिल मेरे शत्रु नहीं हैं। जिनका वचन युक्तिसंगत है, वही मुझे मान्य है।

जिसके हृदय में स्याद्वाद का प्रकाश है, वह साधक गुणग्राही होने के कारण नाममात्र के भेद से कदाग्रह नहीं करता है। अध्यात्म गीता में कहा गया है—

परस्पर विरुद्धा या असंख्या धर्मदृष्टयः।

अविरुद्धा भवन्त्येव सम्प्राप्याध्यात्मवेदिनम्।¹⁴⁶

अर्थात् परस्पर विरुद्ध ऐसे धर्मदर्शन हैं, जो स्याद्वादी के हाथ में जाकर विरोध मुक्त बन जाते हैं। स्याद्वाद विविध दार्शनिक या एकान्तवादी में समन्वय करने का प्रयास करता है। शास्त्रवार्ता-समुच्चय की टीका में उपाध्यायजी द्वारा उसमें विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों का समन्वय किया गया है। उनकी दृष्टि में अनित्यवाद, नित्यवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि सभी वस्तु स्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। स्याद्वाद इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। अनेकान्तदृष्टि वाले को आग्रह-कदाग्रह नहीं होता है। स्वदर्शन में जो बात कही गई, वह अमुक नय की अपेक्षा से कही गई और अन्य दर्शन में कही हुई बात भी अमुक नय की अपेक्षा से सत्य है।

जैसे संसार के लोगों के प्रति तीव्र आसक्ति को तोड़ने की दृष्टि से “सर्व क्षणिकम्”—यह बौद्ध दर्शन की बात उपयोगी है, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भी सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, नश्वर हैं। जैन दर्शन में भी अनित्य भावना बताई गई है। इस अपेक्षा से स्याद्वादी बौद्धदर्शनों के द्वारा मान्य क्षणिकवाद को स्वीकार करेगा।

अन्य दर्शनों में कही हुई बात को उचित अपेक्षा से स्वीकार करने की बात स्याद्वाद कहता है। वेद और उपनिषदों के अलग-अलग वचनों के बीच आते हुए विरोध को भी स्याद्वाद से परिहार कर सकते हैं।

अनेकान्त आए बिना तटस्थता नहीं आ सकती है। अनेकान्त को अपनाकर सारे सामुदायिक झगड़े सुलझाये जा सकते हैं। परमयोगी आनन्दधनजी लिखते हैं कि अन्य दर्शनों को जिनमत के ही अंग कहकर उन्होंने हृदय की विशालता का परिचय दिया। स्याद्वाद को हृदयंगम किए बिना यह बात नहीं कही जा सकती। जिस प्रकार हाथ-पैर या किसी भी अंग के कट जाने पर व्यक्ति अपंग हो जाता है, उसी प्रकार किसी भी दर्शन की काट करना, टीका करना, अपनी अज्ञानता का परिचय देना है।¹⁴⁷

संक्षेप में कह सकते हैं कि विविध और परस्पर विरोध रखने वाली मान्यताओं का विपरीत तथा विघातक विचारश्रेणियों का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक क्लेशों को मिटाना सभी धर्मी एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में पिरो देना, यही स्याद्वाद की महत्ता है।

सारांश

उपाध्याय यशोविजय के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य

वैशिष्ट्य को विलक्षित करने का विशेषाधिकार उपाध्यायजी के वाङ्मय में विविध विषयों से व्यवस्थित रहा हुआ है। उपाध्यायजी का व्यक्तित्व, जीवनसृजन एक विद्वर परम्परा में विशिष्टता से सम्मानित है। उनकी मान्यताएँ मनीषाजन्य मस्तिष्क की स्फूर्णाओं से शोभनीय और हृदयग्राही हैं, तत्त्वों के विवेचन के लिए पर्याप्त हैं।

उनकी दार्शनिक विशेषताएँ, सैद्धान्तिक संज्ञाएँ और पारम्परिक परिभाषाएँ उपाध्यायजी को उच्चतम श्रेणी में स्थिर करने की है। ऐसी उत्तमता आदर्श रूप में वाङ्मय धारा से निराबाध, निष्कलंक-नित्य प्रवाहित करने वाले प्रज्ञा-पुरुष यशोविजय सर्वजन हितकारी, उपकारी, उपदेशक पर आध्यात्मिक योगी परिलक्षित हुए हैं।

विद्वत्ता स्वयं इनकी अनुरागिनी बनकर जीवन जीवित रखने की शुभाशंषा चाहती रही है जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत को परमोच्च भाव से शिरोधार्य कर गद्य-पद्य रूप से अनेक ग्रंथों में प्राथमिकता दी।

संस्कृत प्राकृत की धारा में एकदम धवलपन धुले हुए धुरन्धर दार्शनिक रूप में दिव्य दर्शन की पहेलियाँ प्रस्तुत करने में अपनी आत्म-प्रतिभा को पुरस्कृत रखा है।

सिद्धान्तवादिता को साहचर्य भाव से सहयोगी सखारूप से स्वीकृत करते हुए अप्रतिम सिद्धान्तवादी रूप में स्पष्ट हुए हैं।

दार्शनिकता को दाक्षिण्यता से दायित्वपूर्ण दर्शित करके अपनी सुदृढदर्शिता का परिचय दिया है। शताब्दियों तक शोध के बोध में सुपात्रों को मार्गदर्शन देने में सिद्धहस्त सक्षम साहित्यकार रूप में उपस्थित हुए हैं। अपनी उपस्थिति को वाङ्मय वसुमति पर विशेषता से व्यक्त करने का कौशल उनके दर्शन ग्रंथों में दिव्य चमत्कार प्रगटित कर रहा है।

ऐसी अलौकिक क्षमता के धनी और समता के शिरोमणि रत्न और प्रशमता के प्रज्ञापुरुष रूप में अपना आत्म-परिचय विस्तृत करने में एक विशेष विद्वान् महाश्रमण हुए हैं। उन्होंने श्रामणीय भाव को साहित्य के धरातल पर शोभनीय बनाने का जो श्रेयस्कर सुपथ चुना है, यह चयन प्रक्रिया शताब्दियों तक इनके सुयश की गाथाएँ गाती रहेंगी। विद्या गौरव में गीत जन-जन को सुनाती रहेगी। इस विद्या प्रिय पुरुष ने श्रमण संस्कृति की सेवा में जीवन को समर्पित कर अपनी धन्यता-मान्यता जो मनोरम बनाई है, वो मनुष्यों के मन को प्रभावित करती होगी।

समय स्वयं इनकी सराहना करता समाज को यशोविजय दर्शन पथ का दिग्दर्शन देता रहेगा। ऐसे उपाध्यायजी को मेरा शत-शत नमन सदा होता रहे और मैं उपाध्यायजी के प्रज्ञान प्रमोद में प्रमेय के पुष्पों का चयन करती उनको वरमाला पहनाती रहूँ, यही मेरा उपाध्याय यशोविजय के प्रति हृदय का उद्गार है। जो भ्रातों के भ्रमिकों को भूले हुए को भव विरह पथ का दर्शन देते रहे हैं, उन उपाध्यायजी की वैशिष्ट्य कला का मैं क्या वर्णन कर सकती हूँ। वे स्वयं अपनी वर्णता वे वरेण्य हैं, विशिष्ट हैं, व्याख्यायित हैं और वाचित हैं। अतः मेरी वाच्यकला और लेखनकला उपाध्यायजी के चरणों में समर्पित है।

सन्दर्भ सूची—

01. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 3
02. वही
03. जैन तर्क भाषा
04. बौद्ध दर्शन
05. न्यायबिन्दु, उद्धृत—जैन धर्म दर्शन और भारतीय दर्शन
06. तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
07. अन्योगव्यवच्छेदिका
08. वही
09. तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
10. वही, 5/30
11. द्रव्यगुण पर्याय रास, ढाल-9, गाथा 3, 9
12. नय रहस्य, पृ. 90
13. अध्यात्मसार मिथ्यात्वत्याग अधिकार
14. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1557
15. विशेषावश्यक भाष्य टीका, पृ. 668
16. पश्चिमी दर्शन, पृ. 106
17. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, 3/917
18. वही, 1/1/2
19. अध्यात्मसार, मिथ्यात्वत्यागाधिकार, गाथा 18
20. वही, गाथा 29
21. वही, गाथा 34
22. विशेषावश्यक भाष्य, 1671
23. अध्यात्मसार, मिथ्यात्वत्यागाधिकार, गाथा 40
24. वही, गाथा 42
25. वही, गाथा 44
26. उत्तराध्ययन सूत्र, 20/37
27. वही, 20/48
28. अध्यात्मसार—मिथ्यात्वत्यागाधिकार, गाथा 57
29. वही, गाथा 58
30. वही, गाथा 58

31. वही, गाथा 6
32. भगवतीसूत्र, 7/2/58, 59
33. बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1
34. अध्यात्मसार अनुभवाधिकार, गाथा 22
35. वही, गाथा 24
36. योगविशिका, पृ. 4
37. योगबिन्दु, गाथा 15
38. योगविशिका, टीका अनुवाद—उपाध्याय यशोविजय, पृ. 137
39. योगबिन्दु, गाथा 200
40. योगविशिका, टीका अनुवाद—उपाध्याय यशोविजय, पृ. 30
41. योगबिन्दु, गाथा 55, 56
42. योगविशिका टीका, भावानुवाद उपाध्याय यशोविजय, पृ. 146
43. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवं पूर्णता, पृ. 109
44. सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन
45. न्यायसूत्र, 1/1/22; तर्कदीपिका
46. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 29
47. आचार्य मल्लिषेण ने जैन धर्म-दर्शन और भारतीय दर्शन में कहा है, पृ. 30
48. वही, पृ. 30
49. वही, पृ. 30
50. वही, पृ. 31
51. वही
52. छान्दोग्योपनिषद्, 3/14
53. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवं पूर्णताएँ, पृ. 108
54. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 32
55. वही
56. तत्त्वार्थसूत्र, 1/7
57. वही, 1/1
58. औपपातिक सूत्र
59. उत्तराध्ययन सूत्र से उद्धृत जैनदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 35
60. विशेषावश्यक भाष्य, 1805
61. अध्यात्मसार मिथ्यात्वत्यागाधिकार, गाथा 65

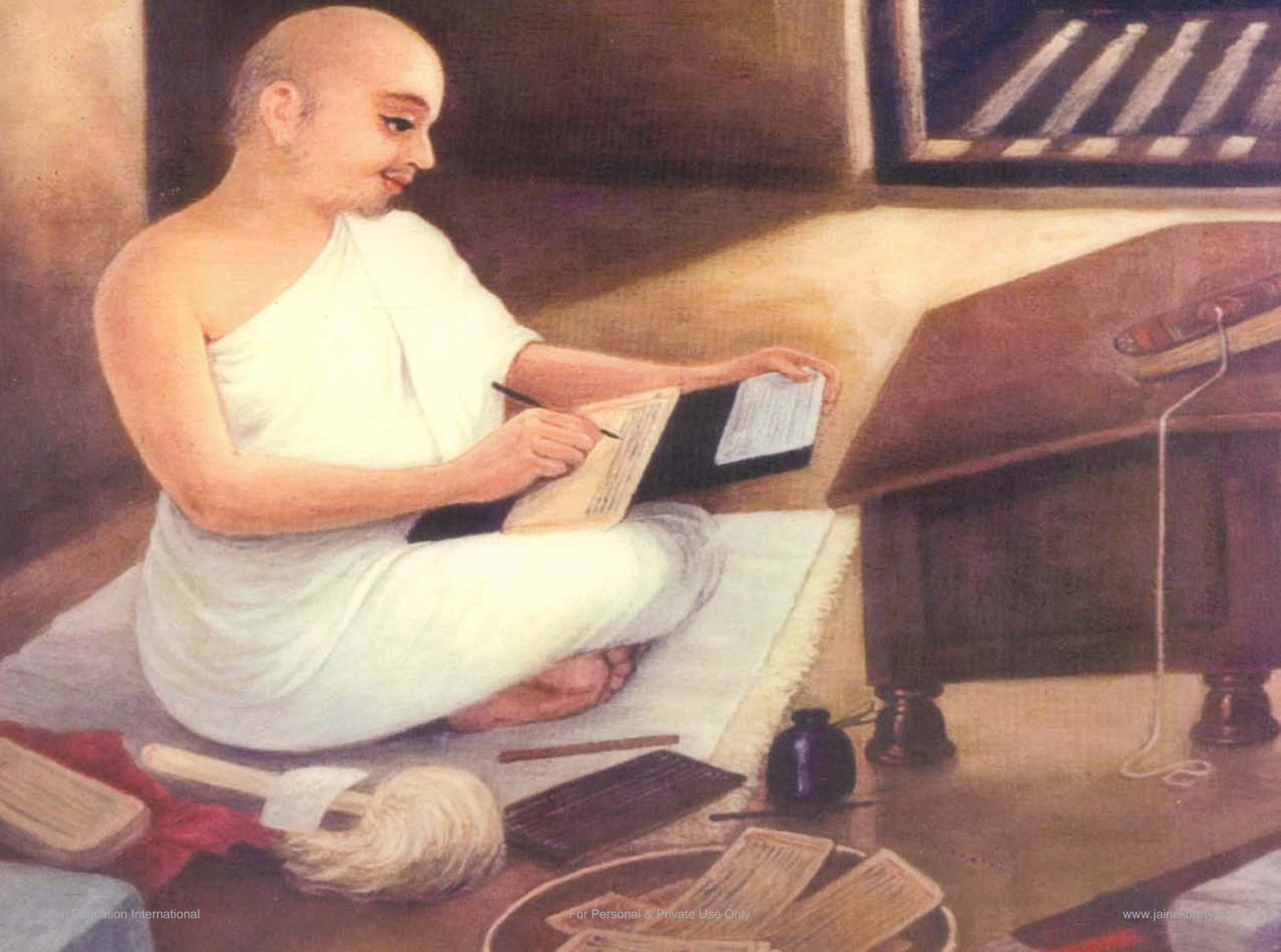
62. विशेषावश्यक भाष्य, 1813
63. अध्यात्मसार मिथ्यात्वत्यागाधिकार, गाथा 68
64. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 53
65. शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका, स्त.-1, गाथा-2
66. आचार्य हरिभद्र के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य, पृ. 452
67. वही
68. स्याद्वाद कल्पलता, स्त.-1, पृ. 34
69. धर्मसंग्रहणी, गाथा 1385, 1386
70. भगवती सूत्र, 12/120
71. अभिधर्मकोश, 4/1
72. षड्दर्शन समुच्चय की टीका, पृ. 41
73. लोकतत्त्व निर्णय, गाथा 12 से 18
74. योगबिन्दु, गाथा 143
75. अध्यात्मसार, अनुभवाधिकार, गाथा 24
76. योगबिन्दु, गाथा 306
77. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 84
78. वही, पृ. 112
79. वही
80. षड्दर्शन समुच्चय, कारिका-9
81. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 112
82. षड्दर्शन समुच्चय का 10 पूर्वार्ध
83. जैन तर्कभाषा, पृ. 109
84. वही, पृ. 111
85. जैन धर्मदर्शन और भारतीय दर्शन, पृ. 121
86. वही, पृ. 124
87. वही, पृ. 122
88. जैन तर्क भाषा, पृ. 108
89. वही, पृ. 133
90. षड्दर्शन समुच्चय, कारिका 21-25
91. वही, कारिका 67
92. वही, कारिका 72

93. हरिभद्र दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य, पृ. 462
94. वही, पृ. 463
95. वही, पृ. 463
96. षड्दर्शन समुच्चय, कारिका 81
97. जैन तर्क परिभाषा
98. वही, पृ. 78
99. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 43
100. सर्वज्ञ सिद्धि, श्लोक 64
101. नियमसार—शुद्धोपयोगाधिकार, गाथा 159
102. परमात्मप्रकाश, 75
103. अध्यात्मसार—अनुभवाधिकार, गाथा 24
104. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 28
105. न्यायप्रदीप, पृ. 2
106. न्याय प्रदीप, पृ. 2
107. सुजसवेली भास के आधार पर
108. न्यायखंडन खंड खाय
109. जैन तर्क भाषा
110. अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी
111. ब्रह्मानन्द—अद्वैतानन्दप्रकरण, पृ. 35
112. अध्यात्मोपनिषद्, 1/62
113. वही, गाथा 44
114. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 51; वीतरागस्तोत्र, 8
115. आश्वमेधिक अनुगीता, गाथा 35
116. अध्यात्मोपनिषद्; वीतरागस्तोत्र 8
117. भारतीय दार्शनिक चिंतन में अनेकान्त
118. वैशेषिक सूत्र, 1/2/5
119. अध्यात्मोपनिषद्; वीतराग स्तोत्र, 8
120. भारतीय दार्शनिक चिंतन में अनेकान्त, पृ. 14
121. उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद, पृ. 208
122. महावीरस्तव ग्रंथ, गाथा 44
123. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 48

124. वही, गाथा 49
125. पातंजल योगसूत्र टीका राजमार्तण्ड समाधि पार, सूत्र 14
126. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 50
127. निम्बार्क भाष्य की टीका
128. अध्यात्मोपनिषद्, गाथा 51
129. अथर्वशिर उपनिषद्
130. छान्दोग्योपनिषद्, 4/5/23
131. ऋजूसूत्र संग्रह, 10/129/1
132. सुबालोपनिषद्, 1/1
133. मुण्डकोपनिषद्, 2/1
134. ब्रह्मबिन्दु, 6
135. त्रिपुरातापिनी, 1
136. तेजोबिन्दु उपनिषद्, 4/66
137. भस्माजाबाल उपनिषद्, 2
138. स्याद्वाद कल्पलता, 7
139. वीतरागस्तोत्र, 6/10
140. अध्यात्मोपनिषद्, 1/73
141. वही, 74 ज्ञानसार
142. स्याद्वाद और सप्तभंगी एक चिंतन, पृ. 63
143. अध्यात्मोपनिषद्
144. महादेवस्तोत्र, गाथा 33
145. यशोविजय का अध्यात्मवाद, पृ. 217
146. अध्यात्मगीता, 221
147. आनन्दघन चौबीसी, 21वां स्तवन



ઉપસંહાર



उपसंहार

उपाध्याय यशोविजय का व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं से विशिष्ट एवं विख्यात है तो उनका कर्तृत्व कोविदता और कर्मठता से आलोकित है। उनकी कृतियों में उनकी कुशाग्र बुद्धि एवं हृदय स्पर्श दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि उनका भौतिक देह कालक्रम से विलीन हो गया परन्तु उनकी कृतियां उनकी विद्यमानता की परिचायिका हैं।

उपाध्यायजी आध्यात्मिक जगत् में एक ऐसे पावन प्रकाश स्तम्भ थे, जिनकी दिव्य ज्योति से जन-जन का मन सदा आलोकित एवं अध्यात्म की दिशा में अनुप्रेरित रहा, जिनकी वाणी में वह अमृत निर्जर प्रवाहित होता था, जिससे श्रद्धा संपृक्त उपासक-उपासिकाओं को धर्माराधना में सदा संबल प्राप्त होता रहा। जिनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता, सहज सौम्यता, सहृदयता एवं सरलता दिव्य छटा और विलक्षणता लिये हुए थे।

वे एक ऐसे व्यक्तित्व के धनी थे, जिनका धन आज भी उनके कृतित्व से सुलभ हो रहा है। उनका व्यक्तित्व वाङ्मय की वसुधा पर वन्दनीय बना है।

शौर्यशील की जन्मभूमि गुजरात की वसुंधरा है। उपाध्याय यशोविजय जैसे उत्कृष्ट नर की माता बनने का सौभाग्य गुजरात की भूमि को मिला है। उसमें कनोडु गांव को जन्मभूमि का गौरव देकर उपाध्याय यशोविजय ने शाश्वत यश को अमर बनाया है।

मृत्यु के बाद भी सदियों तक अपने कार्यों एवं कृतियों द्वारा अमर होने वाली विरल विभूतियों की प्रथम पंक्ति में उपाध्याय यशोविजय का नाम मुखर है, वह निश्चित है। तीन सौ वर्ष पूर्व हुए वे पुण्य, दिव्यमूर्ति जिनशासन मंजूषा का एक अनमोल रत्न है।

विक्रम की 17वीं सदी में जन्म धारण करने वाले जैन धर्म के चरम प्रभावक, जैन दर्शन के महान् दार्शनिक, जैन तर्क के महान् तार्किक, षड्दर्शनवेत्ता एवं गुजरात के महान् ज्योतिर्धर, श्रीमद् यशोविजय महाराज, जो एक जैन मुनिवर थे। योग्य उचित समय पर अहमदाबाद जैन संघ समर्पित करते हुए उपाध्याय पद के विरुद्ध से वे उपाध्याय बने थे। सामान्यतः व्यक्ति को विशेष नाम से ही पहचाना जाता है, फिर भी उनके लिए एक आश्चर्य की बात थी कि वो जैन संघ में विशेष्य से नहीं बल्कि विशेषण द्वारा पहचाने जाते थे। ये तो उपाध्यायजी का वचन है कि ऐसे उपाध्यायजी से श्रीमद् यशोविजय का ग्रहण होता था। विशेष्य भी विशेषण का पर्यायवाची बन गया था। ऐसी घटनाएँ विरल विभूतियों के लिए ही घटती हैं। उनके लिए यह बात बहुत ही गौरवास्पद थी।

उपाध्यायजी के वचनों के लिए भी एक और विशिष्टता देखने को मिलती है। उनकी वाणी, वचन एवं विचार ऐसे विशेषण से पहचाने जाते हैं और उनकी शाख यानी आगमशाख अर्थात् शास्त्रवचन, ऐसे भी प्रसिद्ध हैं। वर्तमान के एक विद्वान् आचार्य ने उनको वर्तमान के महावीर ऐसे नाम से भी उल्लेख किया है।

आज भी श्रीसंघ में किसी भी बात का विवाद जन्मे तब उपाध्यायजी रचित शास्त्र के टीका को ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है। उपाध्यायजी का न्याय यानी सर्वज्ञ का न्याय, इसलिए ही उनके

समकालीन मुनिवरों ने उनको श्रुतकेवली विशेषण से पहचाना है। शास्त्रों के सर्वज्ञ अर्थात् श्रुत केवल केवली का अर्थ है—सर्वज्ञ जैसे पदार्थ के स्वरूप का वर्णन करने वाले।

उपाध्यायजी को 8 वर्ष की बाल्यावस्था में दीक्षा लेकर विद्या प्राप्त करने के लिए गुजरात में उच्च कोटि के विद्वानों के अभाव के कारण या दूसरे किसी भी कारणवश दूर सुदूर अपने गुरुदेव के साथ काशी की ओर प्रयाण करना पड़ा। वहाँ उन्होंने षड्दर्शन का एवं विद्या ज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं का विशिष्ट अभ्यास किया। उनके द्वारा अपना अद्भुत प्रभुत्व प्राप्त किया। विद्वानों में षड्दर्शनवेत्ता के नाम से जाहिर हुए।

काशी की राजसभा में एक दिग्गज विद्वान् जो अजैन था, उनके साथ अनेक विद्वानों एवं अधिकारी आदि के समक्ष शास्त्रार्थ कर विजय की वरमाला को प्राप्त किया। उनके अगाध पाण्डित्य से मुग्ध होकर काशी नरेश ने उनको न्यायविशारद विरुद से अलंकृत किया। उस समय जैन संस्कृति के एक ज्योतिर्धर, जैन प्रजा के एक सपूत, जैन धर्म का एवं गुजरात की पुण्यभूमि का जय-जयकार किया था एवं जिनशासन की शान बढ़ाई थी।

विविध वाङ्मय के पारंगत विद्वान् को देखते हैं तो वर्तमान की दृष्टि से उनको दो-चार नहीं बल्कि संख्याबंध विषयों की पी-एच्.डी. की हो, ऐसा कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

भाषा की दृष्टि से देखें तो उपाध्यायजी ने अल्पज्ञ के विशेषज्ञ, बाल के पंडित, साक्षर के निरक्षर, साधु के संसारी, व्यक्ति के ज्ञानार्जन की सुलभता के लिए जैन धर्म की मूलभूत प्राकृत भाषा में उस समय की राष्ट्रीय संस्कृत भाषा एवं हिन्दी, गुजराती भाषा में भी सामान्य प्रजा के लिए विपुल साहित्य का सृजन किया। उनकी वाणी सर्वनयसम्मत गिनी जाती है।

विषय की दृष्टि से देखें तो उन्होंने आगम, तर्क, न्याय, अनेकान्तवाद, तत्त्वज्ञान, साहित्य, अलंकार, छंद, योग, अध्यात्म, आचार, चारित्र, उपदेश आदि अनेक मार्मिक विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेखनी चलाई थी।

संख्या की दृष्टि से देखें तो उनकी कृतियों की संख्या अनेक, शब्द से नहीं बल्कि सैकड़ों शब्दों से लिख सकते हैं। ये सब कृतियाँ बहुधा आगमिक एवं तार्किक हैं। वे पूर्ण एवं अपूर्ण दोनों हैं। कई कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। यानी उनके ग्रंथों का अधिकतर भाग तो काल के खप्पर में कवलित हो चुका है और गिनती के जितने ग्रंथ उपलब्ध हैं उनको देखते ही अलभ्य ग्रंथों के प्रति मन लुब्ध बन जाता है। उन्हीं के रचित ग्रंथों का अगर ग्रंथागम भी मिल जाए तो भी उनके जीवन पर्याय के दिनों के साथ गिनती करते हैं तो प्रतिदिन उन्होंने सैकड़ों श्लोकों की रचना की होगी। उनका रसप्रद अंदाज निकाल सकते हैं। शास्त्रसर्जन द्वारा उन्होंने अनुगामी संघ पर किये हुए उपकारों का वर्णन करने में उनके शास्त्रों जितना ही दूसरा लेखन करना पड़े। उनके जीवनकाल की अधिकतर माहिती अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। इसलिए उनके रचे हुए शास्त्र ही उनका चारित्र हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी उस बात का अनुभव उनके द्वारा रचित ग्रंथों की सूची से पता चलता है। ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसमें उन्होंने शोधपत्र प्रदान न किया हो।

स्वयं श्वेताम्बर परम्परा में होते हुए भी दिग्म्वराचार्यकृत ग्रंथ पर टीका की रचना की। जैन मुनिराज होते हुए भी अजैन ग्रंथों पर टीका लिखी थी। यही उनकी सर्वग्राही पाण्डित्य की प्रखर पहचान है।

शैली की दृष्टि से उनकी कृतियां खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक एवं समन्वयात्मक है। उनके ग्रंथों की एक विशेषता यह है कि अन्यकर्तृक ग्रंथों की तुलना में उनके ग्रंथ कठिन थे, क्योंकि दार्शनिक विषय उनके ग्रंथों का मुख्य अभिधेय था और शब्द संकोच एवं अर्थ गाम्भीर्य यह उनकी सभी कृति की सर्व पक्तियों की विशेषता थी।

उपाध्यायजी की उपलब्ध कृतियों का भी पूर्ण योग्यता के साथ पूर्ण निष्ठा एवं परिश्रम से अध्ययन में आये तो जैन आगम के, जैन तर्क के पूर्ण ज्ञाता बन सकते हैं। ऐसी विरल शक्ति एवं पुण्योदय कोई विरल विभूति के ललाट में ही लिखी हुई है। यह शक्ति वास्तव में सद्गुरु कृपा, जन्मान्तर का तेजस्वी ज्ञान, संस्कार एवं सरस्वती का मिला हुआ वरदान—इस त्रिवेणी संगम की आभारी है।

परमात्मा की वाणी को अक्षरदेह में गूँथने वाले जैन साहित्य जो विश्व की महान् आध्यात्मिक सम्पत्ति एवं अनमोल धरोहर है, इन रत्नों के खजाने में जितनी विविधता है, उतनी मोहकता है, वो दुनिया के किसी चक्रवर्ती सम्राट के खजाने में भी भाग्य से ही देखने को मिलती है। वस्तु जितनी कीमती एवं उच्च होती है, उतनी उनको प्राप्त करने की योग्यता भी उच्च कक्षा की होनी चाहिए। जैन साहित्य की उपासना सिर्फ विद्वत्ता के शिखर को प्राप्त करने के लिए नहीं है, महापंडित की कीर्ति एवं यश को पाने के लिए नहीं है वरन् सत्य की निर्मल सरिता में असत्य की मलिनता को रूपान्तरित करने के लिए नहीं है, किन्तु आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए सद्गुण रूपी पुष्प, वैराग्य एवं अध्यात्म के संस्कारों को आत्मसात करने के लिए हैं।

जाज्वल्यमान व्यक्तित्व वाले अनेक महान् पूर्वाचार्यों ने जैन साहित्य को शृंगार एवं अलंकारों से सुशोभित करने में कोई कमी नहीं रखी है। वो ही पूर्वाचार्यों, भगवंतों की परम्परा का अनुसरण करते हुए उपाध्यायजी ने जैन साहित्य की वृद्धि में बहुमूल्य योगदान दिया है। वो युगों-युगों तक अविस्मरणीय बना रहेगा।

न्याय के क्षेत्र में उनका विशिष्ट योगदान रहा है। उन्होंने रहस्य से अंकित 108 ग्रंथों की रचना की है एवं न्याय खंडन खाद्य सिर्फ 100 गाथा का ग्रंथ था, टीका भी विस्तृत नहीं थी, फिर भी उपाध्यायजी ने बौद्ध न्याय के खंडन के लिए उन्होंने डेढ़-दो लाख श्लोक प्रमाण ग्रंथ की रचना की, तब आश्चर्य होता है कि कितनी असाधारण विद्वत्ता के धनी थे। नव्यन्याय शैली का उपयोग करके उन्होंने जैन शासन में चार चांद लगाये।

कृतियों में जो व्यक्तित्व को झलकाये, वही तो विद्वान् है, यही उपाध्याय यशोविजय का आदर्श रहा। समस्त दर्शनों के अवगाहन करने पर भी अपने अस्तित्व को जैन दर्शन में दीप्तवान एवं शोभास्पद रखा। अनेकान्तवाद उनका प्राण रहा। उपाध्याय यशोविजय विद्या वाङ्मय को वसुधा पर कल्पतरु बनकर अन्त तक कोविद रहे। अनेक विरोधों के वैमनस्य में न डूबकर समन्वयवाद का शंख बजाते रहे। उपाध्यायजी की लेखनी ने कपिल, पतंजली जैसे अन्य दार्शनिकों के मतों का भी अवलम्बन किया है। यह उनकी उदारता का प्रतीक है। ज्ञान के आशय से इतने गम्भीर और गौरवान थे कि अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों को ससम्मान समादर दिया। दार्शनिक प्रश्नों के प्रत्युत्तर में अपना प्रखर पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुए ज्ञानपूर्णता से छलके नहीं, न किसी को झकझोरा अपितु सभी विषयों का विद्वत्तापूर्वक अध्ययन करते हुए अपने सम्पूर्ण जीवन की कृतियों में, वाङ्मयी रचना में उन्होंने रोचक सन्दर्भ उपस्थित किये।

अन्यान्य परम्पराओं का परमबोध करते हुए, अपने स्वोपज्ञ ग्रंथों में उनका समुल्लेख करते हुए, संशयापन्न विषयों का निराकरण करते हुए वे सदैव निर्द्वन्द्व रहे। जैसा कि शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका स्याद्वाद कल्पलता में सभी प्रकार से स्याद्वाद का उल्लेख करते हुए अपने मन्तव्यों को मान्यता से महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए एक अद्भुत दार्शनिक के रूप में प्रगट हुए।

संक्षेप में श्रुत को कामधेनु स्वीकार कर इस प्रकार से दोहन किया, जो दूध, नवनीत आज भी प्राज्ञजन पी रहे हैं यानी स्वाद ले रहे हैं। यही उनकी समदर्शिता का विपाक है, परिणाम है। इस प्रकार शोध ग्रंथ का प्रथम अध्याय उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को उजागर करता है।

द्वितीय अध्याय उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद—अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि+आत्मा से है। अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांग में उसके लिए अज्झप्प या अज्झत्थ शब्द का प्रयोग है, जो आन्तरिक पवित्रता या आंतरिक विशुद्धि का सूचक है। जैन धर्म के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है, जो यह मानती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों के परे उच्च मूल्य भी है और इन उच्च मूल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जैन विचारों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है—पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को परममूल्य मानना।

जैन धर्म विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म है। उसका चरम बिन्दु है—आत्मोपलब्धि या आत्मा की स्व-स्वरूप में उपस्थिति। अध्यात्मासार में उपाध्यायजी ने कहा—आत्मा को जानने के बाद कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता है। परन्तु जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसका वस्तुगत ज्ञान निरर्थक है, जैसे—

ज्ञाते छा ह्यत्मनि नो भूयो ज्ञातव्यमवशिष्यते।

अज्ञाते पुनरेतस्मिन् ज्ञानमन्यन्निरर्थकम्॥

—अध्यात्मासार

आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी है, किन्तु वह कर्म की घटाओं से धिरी हुई है, जिसमें उसके दिव्य प्रकाश पर आवरण आ चुका है। उसका विशुद्ध स्वरूप लुप्त हो चुका है। विश्व की प्रत्येक आत्मा में शक्ति का अनन्तस्तोत्र प्रवाहित है। जिसे अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास हो जाता है और जो अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए अर्थात् विभाव दशा को छोड़कर स्वभाव दशा में आने के लिए पुरुषार्थ आरम्भ करता है, वह साधन कहलाता है। खान में से निकले हीरे की चमक अल्प होती है परन्तु जब उसे अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से स्वच्छ कर तराश दिया जाता है तो उसकी चमक बढ़ जाती है। ठीक उसी प्रकार आत्मा की प्रथम अवस्था कर्म से मलिन अवस्था है किन्तु विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा निर्मलता को प्राप्त करते हुए परमात्म पद को भी प्राप्त कर लेता है।

छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है—यः आत्मवित्त स सर्ववित् अर्थात् जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है।

आचारांग सूत्र में भी कहा है—जो अध्यात्म अर्थात् आत्मस्वरूप को जानता है, वह बाह्य जगत् को जानता है। जैसे—जे अज्झत्थ जाणइ से बहिया जाणई।

क्योंकि बाह्य की अनुभूति भी आत्मगत ही है। इस संसार में जानने योग्य कोई तत्त्व है तो वह आत्मा ही है। आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है। एक बार आत्म तत्त्व में, उसके स्वरूप में रुचि जगने के बाद फिर दूसरी वस्तुएँ तुच्छ और निरर्थक लगती हैं। और अन्य द्रव्यों का ज्ञान आत्मज्ञान को

अधिक स्पष्ट और विशद करने के लिए हो सकता है, किन्तु जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान में ही रस नहीं है, उसका अन्य पदार्थों का ज्ञान अंत में निरर्थक ही है। इसलिए कह सकते हैं कि अध्यात्म का तात्त्विक आधार आत्मा है।

आत्मा की जो शक्तियाँ तिरोहित हैं, उन्हीं शक्तियों को प्रकट करने के लिए अन्तरात्मा पुरुषार्थ करते हुए आध्यात्मिक विकास मार्ग में आगे बढ़ती है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक्त्व रूपी दीप के प्रज्वलित होने पर ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों के आवरण हट जाते हैं तथा अनन्त चतुष्टय का प्रकटन होता है और आत्मा अन्तरात्मा से परमात्मा बन जाती है।

बिना प्राण का शरीर मुर्दा कहलाता है, ठीक उसी प्रकार बिना अध्यात्म के साधना निष्प्राण है। आध्यात्मिक का अर्थ आत्मिक बल, आत्मस्वरूप का विकास या आत्मोन्नति का अभ्यास होता है। आत्मा के स्वरूप की अनुभूति करना अध्यात्म है। अप्या सो परमप्या आत्मा ही परमात्मा है।

अतः कह सकते हैं कि अध्यात्म रूपी पंछी ही प्रमाद में सोये हुए मानव को जागृत कर सकता है, उसे सजगता का पाठ पढ़ा सकता है। मानसिक सन्ताप से सन्तप्त प्राणियों को देखकर ज्ञानियों के मन में करुणा उभर आती है। उपाध्याय यशोविजय के हृदय में भी ऐसा ही करुणा का बीज आप्लावित हुआ होगा, जो उन्होंने भटके हुए प्राणियों को मार्गदर्शन देने हेतु ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, आत्मख्याति, ज्ञानार्णव जैसे विशाल ग्रंथों की रचना की। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भौतिकवाद मिथ्यादृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक्दृष्टि है। यही अध्यात्मवाद का सारांश दूसरे अध्याय में दिया गया है।

तृतीय अध्याय तत्त्वमीमांसा में तत्त्व की विशिष्टता बताते हुए कहा है कि आज का युग विज्ञानयुग है। इस युग में विज्ञान शीघ्र गति से आगे बढ़ रहा है। विज्ञान के नवीन आविष्कार विश्वशांति का आह्वान कर रहे हैं। संहारक अस्त्र-शस्त्र विद्युत् गति से निर्मित हो रहे हैं।

आज मानव भौतिक स्पर्धा के मैदान में तीव्र गति से दौड़ रहा है। मानव की महत्त्वाकांक्षा आज दानव के समान बढ़ रही है। परिणामतः वह मानवता को भूलकर निर्जीव यंत्र बनता चला जा रहा है। विज्ञान के तूफान के कारण धर्मरूपी दीपक तथा तत्त्वज्ञान रूपी दीपक करीब बुझने की अवस्था तक पहुंच गये हैं। ऐसी परिस्थिति में आत्मशांति तथा विश्वशांति के लिए विज्ञान की उपासना के साथ तत्त्वज्ञान की उपासना भी अति आवश्यक है।

आज दो खण्ड आमने-सामने के झरोखे के समान करीब आ गए हैं। विज्ञान भले ही मनुष्य को एक-दूसरे के नजदीक लाया है, परन्तु एक-दूसरे के लिए स्नेह और सद्भाव कम हो गया है। इतना ही नहीं, बल्कि मानव ही मानव का संहारक बन गया है। विज्ञान का विकास विविध शक्तियों को पार कर अणु के क्षेत्र में पहुंच चुका है। मानव जल, स्थल तथा नभ पर विजय प्राप्त कर अनन्त अन्तरिक्ष में चन्द्रमा तक पहुंच चुका है। इतना ही नहीं अब तो मंगल तथा शुक्र ग्रह पर पहुंचने के प्रयास भी जारी हैं।

भौतिकता के वर्चस्व ने मानव हृदय की सुकोमल वृत्तियों, श्रद्धा, स्नेह, दया, परोपकार, नीतिमता, सदाचार तथा धार्मिकता आदि को कुण्ठित कर दिया है। मानव के आध्यात्मिक और नैतिक जीवन का अवमूल्यन हो रहा है। विज्ञान की बढ़ती हुई उद्यम शक्ति के कारण विश्व विनाश के स्तर पर आ पहुंचा है। अणु आयुधों के कारण किसी भी क्षण विश्व का विनाश हो सकता है। ऐसी विषम परिस्थिति में

एक ही ऐसा आशासूरी दीप है, जो दुनिया को प्रलय रूपी अंधकार में मार्ग दिखा सकेगा, वह आशासूरी दीप है—तत्त्वज्ञान।

विज्ञान के साथ अगर तत्त्वज्ञान जुड़ जाए तो विज्ञान विनाश के स्थान पर विकास की दिशा में बढ़ेगा। विज्ञान की शक्ति पर तत्त्वज्ञान का अंकुश होगा, तभी विश्वभर में सुख-शांति रहेगी। तत्त्वज्ञान अमृततुल्य रसायन है। वही इस विश्व को असंतोष और अशांति की व्याधि से मुक्त कर सकता है।

विज्ञान के कारण भौतिक साधनों की बड़ी उन्नति हुई है। उनके कारण मानव को बाह्य सुख तो प्राप्त हुआ है लेकिन आध्यात्मिक दुनिया में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज विज्ञान की जितनी उपासना हो रही है, उतनी ही तत्त्वज्ञान की उपेक्षा हो रही है। यही कारण है कि मानव को आत्मशांति प्राप्त नहीं हो रही है। तत्त्वज्ञान के कारण ऐसी शांति प्राप्त होती है जिससे संसार के सारे पाप, ताप, संताप दूर होते हैं तथा शीतलता प्राप्त होती है। पाश्चात्य देशों में सम्पत्ति खूब है, भौतिक सुख खूब हैं, फिर भी वहां दुर्घटना अधिक होती है, पागलपन का प्रमाण भी वहां अधिक है और अनिद्रा के रोग भी वहां बड़े पैमाने पर दिखाई देते हैं। इसका कारण केवल एक ही है और वह है तत्त्वज्ञान का अभाव। जिसे अध्यात्म का ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञान की समझ होती है, वह मानव किसी भी परिस्थिति में मन में समाधान रख सकता है, संतोष धारण कर सकता है। फिर उसे किसी भी बात का दुःख नहीं होता। जीवन में श्वासोच्छ्वास के समान ही तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है। इसलिए मानवीय प्रगति अगर सच्चे अर्थ में हो तो विज्ञान और तत्त्वज्ञान का साथ आवश्यक है। विज्ञान और तत्त्वज्ञान प्रगति के रथ के दो पहिए हैं। रथ चलाने के लिए जिस प्रकार दो पहिए आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार प्रगति के कदम सही दिशा में बढ़ाने के लिए विज्ञान और तत्त्वज्ञान का साथ अत्यावश्यक है। विज्ञान रूपी मोटर के लिए तत्त्वज्ञान रूपी स्टियरिंग-व्हील अनिवार्य है। इसलिए वैज्ञानिक प्रगति के साथ तात्विक प्रगति होना भी आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान के यथार्थ ज्ञान से मानव का पदार्थ विषयक संशय दूर होता है। संशय दूर होने से तत्त्व पर श्रद्धा होती है। शुद्ध श्रद्धा होने से मानव पाप नहीं करता है तब आत्मा संपृत होता है। संपृत आत्मा तप के द्वारा संचित कर्मों का क्षय करके क्रमशः तथा समस्त कर्मों का पूर्ण क्षय करके अंत में मोक्ष को प्राप्त करता है।

संक्षेप में तत्त्व को संपूज्य, सश्रद्धेय स्वीकार करने का सदाचार हमारी संस्कृति में सदा से सनातन रहा है। तत्त्व को बुद्धि से तौलकर हृदय को शिरोधार्य कर हमारी संस्कृति चलती आ रही है और तत्त्व जगत् के प्रकाश को प्रसारित करती रही है।

तत्त्व और सत्व इनको अवधारित करने की हमारी उज्ज्वल परम्परा प्राचीन रही है। पुरातन युग में तत्त्व की अवधारणाएँ सर्वोपरी सिद्ध हो रही हैं, प्रसिद्ध बनी हैं। इसलिए प्राचीनकाल से अद्यावधि तत्त्वमीमांसा की महत्ताएँ, मान्यताएँ जीवित रही हैं। इसलिए तृतीय अध्याय में उपाध्याय यशोविजय के तत्त्वमीमांसा का चिंतन एवं विवरण आलेखित किया है।

लोकवाद भी तत्त्व के महत्त्व को शिरोधार्य करता चल रहा है। इसी तत्त्व को द्रव्य गुण से गौरवान्वित बनाने का श्रेय इच्छानुयोग में उपार्जित किया है। जो तत्त्व अस्तित्ववाद से आशान्वित हुआ है, उसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय आदि घटित हुए हैं। यही मात्र

जैन दर्शन की अपनी निराली देन है। काल की गणना अनस्तिकाय में की है, क्योंकि काल का समूह नहीं होता है। वर्तमानकाल मात्र एक समय का होता है।

ये तात्विक विचार स्याद्वाद से उल्लेखित भी हुए हैं। यह अनेकान्तवाद तत्त्व के तेजोमय प्रकाश का एक प्रतिबिम्ब है, जिसको सर्वज्ञों ने भी स्वीकार कर सर्वजनहित में ग्राह्य बनाया है और वही महापुरुष सर्वज्ञता की सिद्धि के प्रणेता बने। इसलिए तत्त्व जैसे तिमिर रहित तेजोमय प्रकाश ने हमारी संस्कृति, हमारा स्वाध्याय पथ और परलोक संबंधी विमर्श, इहलोक संबंधी मन्तव्य तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने भी तत्त्ववाद के ऊपर अपनी विशाल प्रज्ञा को प्रस्तुत कर तत्त्ववादिता का सार जगत् को समझाया, जिसका यह परिणाम है कि हम तात्विक और सात्विक बनते चले आ रहे हैं। यह चिरक्तनी तत्त्वमयी साधना उपासना के रूप में आज भी प्रतिष्ठित है, पूज्य है, परम आराध्य है। युग के दृष्टिकोणों में तत्त्व की विभिन्न अवधारणाएँ बनती ही गई हैं परन्तु वह तत्त्व एक ही है, जो अनेक मन्तव्यों से मान्य हुआ है।

ज्ञान के समान उत्तम, पवित्र कोई नहीं है एवं ज्ञान होने के बाद प्रमाण की भी आवश्यकता रहती है। इसलिए चतुर्थ अध्याय में ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा का उल्लेख किया है। ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेति ज्ञानम्—अर्थात् जानना ज्ञान है या जिससे तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जाना जाए, उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञानयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मोह का त्याग होने से ही होता है। जैसे राजहंस हमेशा मानसरोवर में मग्न रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी हमेशा ज्ञान में ही मग्न रहते हैं। यशोविजय ने ज्ञानयोग की महत्ता बताते हुए अध्यात्मसार में कहा है—

ज्ञानयोगस्तपः शुद्धयात्मरत्येकलक्षणम् ।

इन्द्रियार्थान्भावात् स मोक्ष सुख साधक ॥

अर्थात् ज्ञानयोग शुद्ध तप है, आत्मरति उसका एक लक्षण है। ज्ञान इन्द्रियों को विषयों से दूर ले जाता है, इसलिए ज्ञान योग मोक्षसुख का साधक तत्त्व है।

ज्ञान को आत्मा का नेत्र भी कहा गया है। जैसे नेत्र विहीन व्यक्ति के लिए सारा संसार अंधकारमय है, उसी प्रकार ज्ञानविहीन व्यक्ति संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है। व्यावहारिक जीवन की सफलता एवं आत्मिक/वास्तविक सुख की पूर्णता के लिए प्रथम सोपान/सीढ़ी/माध्यम/जरिया ज्ञान की प्राप्ति है। इसका उचित स्थान आत्मा ही है। उनको जैन दर्शन में पाँच प्रकार से पहचाना जाता है। ज्ञान स्वयं स्वप्रकाश स्वरूप है। इसे ही भक्ति श्रुत के भेद से संतुलित, समान, समन्वित किया गया है। अवधि एवं मनःपर्यवज्ञान—इन दोनों का जैनदर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। केवलज्ञान एक ऐसा ज्ञान है, जिसमें शेष चार ज्ञानों का समावेश हो जाता है।

जत्य भङ्गणार्णं तत्थ सुयमाणं—जहाँ मतिज्ञान होता है, वहाँ श्रुतज्ञान निश्चित होता है। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान—ये दोनों ज्ञान सम्यक् या मिथ्यात्वज्ञान रूप से न्यूनाधिक मात्रा में समस्त संसारी जीवों में रहता है। इन दोनों में कुछ समानताएँ हैं तो कुछ विषमताएँ भी हैं, इसलिए दोनों को भिन्न-भिन्न स्वीकारा गया है। अवधिज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा द्वारा रूपी पदार्थ का प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा लिए हुए होता है, अतः उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अन्य परम्परा में उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं।

संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। इसका क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र तक ही सीमित है।

केवलज्ञान अन्तिम इसलिए स्वीकारा गया है कि जिसमें अन्य सभी ज्ञान सम्पूर्ण अस्तित्व से एकमत हो जाते हैं। केवलज्ञान होने के बाद शेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसे अन्य ज्ञानों की एकरूपता का नाम ही केवलज्ञान है। इसलिए केवलज्ञान का महत्त्व एवं मूल्यांकन विशिष्ट रहा है।

ज्ञाता अर्थात् जानने वाला और ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य विषय ज्ञान लोकालोक की सीमाओं तक प्रकाशित रहता है और सर्वत्र प्रस्तुत बना रहता है। ज्ञान से ही शेष तत्त्व का प्रतिबोध होता है अन्यथा ज्ञेयता निर्मूल बन जाती है।

मुक्त जीवों में ज्ञान का अस्तित्व सदा शाश्वत, अमर, अखण्ड रहता है। अतः ज्ञान की विशिष्टता एवं विविधता को व्याख्यायित किया गया है। इस प्रकार दीपक की भांति ज्ञान भी स्वप्रकाशित होकर पर को प्रकाश देता है, वही प्रमाण की कसौटी पर सत्य साबित हुआ है तथा ज्ञान का वैशिष्ट्य वाङ्मय में सम्यग् रूप में समुज्ज्वल हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में ही ज्ञान की विशिष्टता को उजागर करने के बाद प्रमाणमीमांसा की चर्चा की है। न्यायशास्त्र वह शास्त्र है, जिसके द्वारा हम पदार्थ की परीक्षा एवं निर्णय कर सकते हैं। जिस तरह भाषा को परिष्कृत करने के लिए व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता है, उसी तरह बुद्धि को परिष्कृत करने के लिए न्यायशास्त्र की आवश्यकता है।

आचार्य गंगेश द्वारा भारतीय दर्शन में नव्य न्याय की स्थापना कर विचारों को व्यक्त करने की नई प्रगति का प्रादुर्भाव हुआ। उनके बाद सभी दर्शनों को नव्य न्याय शैली का आश्रय लेना पड़ा। व्याकरण अलंकार आदि में भी नव्य न्यायशैली का उपयोग हुआ किन्तु उस शैली को 400 वर्ष जाने के बाद भी जैन दर्शन में उस शैली का प्रवेश नहीं हुआ था। जैन धर्म एवं जैन दर्शन उस शैली से वंचित था। वो भी 400 वर्षों के विकास का समावेश करने का श्रेय उपाध्याय यशोविजय को है। उन्होंने नव्य न्याय का इतना विकास किया है कि उनके ये महान् कार्य के बारे में सोचते हैं तो उनके सामने नतमस्तक हो जाते हैं।

न्याय के क्षेत्र में नव्यन्याय की शैली में उपाध्यायजी ने 100 ग्रंथों की रचना की, उसमें न्यायखंडन खाद्य ग्रंथ प्रमुख हैं। जैन तर्कभाषा जैसे न्यायप्रवेश के लिए लघुग्रंथ की रचना की। जैन साहित्य में तर्कसंग्रह एवं तर्कभाषा की कमी पूर्ण की।

न्यायदर्शन में गंगेश उपाध्याय के बाद नव्यन्याय की प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। उनका विचार उपाध्यायजी के समय में पूर्ण कक्षा तक पहुंचता है, ऐसा कह सकते हैं। न्याय के उनके ग्रंथों को देखते हैं तो पता चलता है कि नव्य न्याय शैली पर उनका प्रभुत्व इतना था कि उनके सामने गंगेश उपाध्याय को भी बहुमान भाव उत्पन्न होता था। प्रमाणलक्षण देते हुए उपाध्यायजी ने जैन तर्कभाषा में बताया है कि प्रमाणफल उभयात्मक ऐसा एक ही स्व-परव्यवसाय ज्ञान प्रमाण है। ऐसा सिद्ध करते हैं तो आत्मा के व्यापार रूप उपयोगेन्द्रिय वो ही प्रमाणता रूप सिद्ध होता है। प्रत्येक दर्शन में प्रमाण का विशद विवरण मिलता है। जो प्रमा का साधन है, उसे प्रमाण कहते हैं—प्रमाकरणं प्रमाणात्। प्रमाण की यह परिभाषा सभी दार्शनिक परम्पराओं ने मान्य की है। तद् द्विभेदम् प्रत्यक्षम् परोक्षं च—अर्थात् प्रमाण के दो भेद प्रत्यक्ष एवं परोक्ष का विशद विवरण किया गया है। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता के बिना जो ज्ञान होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। ऐसा उल्लेख

उपाध्यायजी ने जैन तर्कभाषा में किया है। न्यायशास्त्र के प्रमुख तीन अंग हैं—प्रमाण, प्रमेय, प्रमीति। प्रमाण यथार्थ ज्ञान, प्रमेय—जिनके द्वारा प्रमीति—फल, प्रमाता—आत्मा—इनका संक्षिप्त विवरण किया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों को विवरण करके सात नयों के साथ तुलना भी की गई है एवं प्रमाण की विशिष्टताएँ स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास किया गया है।

उपाध्याय यशोविजय ने पांचवे अध्याय में अनेकान्तवाद एवं नय के बारे में प्रकाश डाला है। जो एकान्त के विरुद्ध आवाज उठाता है, वह अनेकान्त है। सर्वदृष्टि से संतुलित शुद्ध ऐसा दृष्टिकोण दर्शित करना यह अनेकान्त का उद्देश्य है। इसमें न तो हठधर्मिता है, न कदाग्रहता है, न किसी प्रकार की विसंगतियाँ हैं। एक ऐसी विशुद्ध धारा सर्वदृष्टि से सुमान्य है, वह है अनेकान्त दृष्टिकोण।

अनेकान्त जैन दर्शन का हृदय है। समस्त जैन वाङ्मय उसी के आधार पर वर्णित है। उसके बिना जैन दर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है, जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुणधर्म हैं। हम अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते। सम्पूर्ण बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है। वह अनेकान्त दृष्टि से ही संभव है। अनेकान्त दर्शन बहुत व्यापक है। इसके बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता है। समस्त व्यवहार और विचार इसी अनेकान्त की सुदृढ़ भूमि पर ही टिका है। अतः उनके स्वरूप को जान लेना भी आवश्यक है।

अनेकान्त की महत्ता को बताते हुए उपाध्यायजी ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है—

यत्र सर्वत्र समता, नयेषु तनयेस्विप।

तस्यानेकान्त वादस्य, क्व न्यूनाधिक शेषुषी।।

अर्थात् जैसे माता को अपने बच्चों के प्रति समान स्नेह होता है, ठीक वैसे ही अनेकान्तवाद को सब नयों के प्रति समान दृष्टि होती है। उस अनेकान्तवादी को एक नय में हीनता की बुद्धि और अन्य नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी?

जैनदर्शन ने परम सत्य को समझने/समझाने, निरूपित करने के लिए अनेकान्तवाद व स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। अनेकान्तवाद वस्तु परस्पर विरुद्ध धर्मों की अविरोधपूर्ण स्थिति का तथा उसकी अनन्तधर्मात्मकता का निरूपण करता है। स्याद्वाद सीमित ज्ञानधारी प्राणियों के लिए उक्त अनेकान्तमकता को व्यक्त करने की ऐसी पद्धति निर्धारित करता है, जिसमें असत्यता, एकांगिता एवं दुराग्रह आदि दोषों से बचा जा सकता है।

यद्यपि सभी दर्शनों में अनेकान्त की दृष्टि विद्यमान है, क्योंकि उसके बिना वस्तु की समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती। अनेकान्त सहिष्णुता का दर्शन है। जीवन में अनेक विरोधी प्रश्न आते हैं। उनका समाधान अनेकान्त में खोजा जा सकता है। मनुष्य अनेकान्त को समझे और इसके अनुरूप आचरण करे तो युगीन समस्याओं का समाधान आ सकता है। जैन दर्शन में इस सिद्धान्त का व्यापक रूप से अपने ग्रंथों में उपयोग किया गया है। अतः कह सकते हैं कि जैन दर्शन का आधार अनेकान्तवाद है।

वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, यह महत्त्वपूर्ण स्वीकृति नहीं है। जैन दर्शन का यह महत्त्वपूर्ण अभ्युपगम है कि एक ही वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं। अनेकान्त सिद्धान्त के उत्थान का आधार एक ही वस्तु में युगपत् विरोधी धर्मों के सहावस्थान की स्वीकृति है। वस्तु का द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप ही अनेकान्त के उद्भव का मूल स्रोत है। यदि वस्तु विरोधी धर्मों की समन्वितता

नहीं होती तो अनेकान्त की कोई अपेक्षा नहीं होती, चूँकि वस्तु वैसी है अतः अनेकान्त की अनिवार्य अपेक्षा है। अनेकान्त के उद्भव का मूल स्रोत वस्तु की विरोधी अनन्त धर्मात्मकता ही है। अनेकान्त वस्तु के स्वरूप का निर्माण नहीं करता। वस्तु का स्वरूप स्वभाव से है। वह ऐसा क्यों है, इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। स्वभावे तार्किका भग्ना—वस्तु का जैसा स्वरूप हो, उसकी व्यवस्था करना अनेकान्त का कार्य है। अनेकान्त वस्तु के विरोधी धर्मों में समन्वय के सूत्रों को खोजने वाला महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, वही अनेकान्त का स्वरूप है।

जैन दर्शन का प्राणतत्त्व अनेकान्त है। जैसे अनेकान्त का दार्शनिक स्वरूप एवं उपयोग है, वैसे ही जीवन में व्यावहारिक पहलुओं से जुड़ी समस्याओं का समाधान भी हम अनेकान्त के आलोक में प्राप्त कर सकते हैं। भगवान महावीर का उद्घोष रहा—आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त का प्रकाश हो। अहिंसा अनेकान्त का व्यावहारिक पक्ष है। विश्व का कोई भी व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ या दृष्टान्त अनेकान्त के बिना नहीं घटता है, ऐसा जैनदर्शन का मानना है। अन्य दर्शनकारों ने भी किसी-न-किसी रूप में अनेकान्त का आश्रय लिया है। सत्य प्राप्ति की बात तो दूर, अनेकान्त के अभाव में आश्रय समान परिवार आदि के संबंधों का निर्वाह भी सम्यक् रूप से नहीं हो सकता है। अनेकान्त सबकी धूरी है, इसलिए वह समूचे जगत् का एकमात्र गुरु और अनुशास्ता है। सच्चा सत्य एवं उत्तम व्यवहार उसके द्वारा निरूपित हो रहा है। अनेकान्त त्राण है, शरण है, गति है और प्रतिष्ठा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चाहे अर्थतंत्र हो या राजतंत्र, या धर्मतंत्र अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किये बिना वह सफल नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में विरोधी को समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करता है, जिससे मानव जाति के संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है। इसलिए कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद का महत्त्व अद्वितीय, अलौकिक एवं अविस्मरणीय है।

श्रमण भगवान महावीर ने सत्य की शोध के लिए सापेक्ष दृष्टिकोण का निर्धारण किया। सापेक्षता का मूल आधार नयवाद है। सम्पूर्ण सत्य एकमात्र कहने का सामर्थ्य सर्वज्ञ पुरुषों में भी नहीं होता है। पूर्ण सत्य को कहने के लिए उसे खण्ड में बांटा जाता है। खण्ड सत्यों को मिलाकर सम्पूर्ण सत्यों को जाना जाता है। इसी अभिप्राय से ही नयवाद को अनेकान्तवाद का आधार कहा जाता है। खण्ड सत्य अथवा अभिप्राय विशेष से कहा गया कथन ही नय कहलाता है। नय से जुड़ा हुआ सिद्धान्त नयवाद कहलाता है।

नय सिद्धान्त की समुचित अवगति एवं व्यवस्था के द्वारा तत्त्वमीमांसीय, आचारशास्त्रीय, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। विवाद वहाँ उत्पन्न होता है, जहाँ I am right, you are wrong की अवधारणा हो, किन्तु जब परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा दृष्टि को समझ लिया जाता है, तब विरोध या विवाद स्वतः समाहित हो जाता है। अतः नयवाद का उपयोग मात्र सैद्धान्तिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी अत्यन्त उपयोगिता है। नयवाद के बाद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध, एवंभूत आदि सात नयों का स्वरूप बताया गया है। उपर्युक्त सातों नय परस्पर सापेक्ष दृष्टिकोण वाले हैं। इनमें एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ग्रहण किया जाता है। इनका विचार क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है अतः विषय की व्यापकता भी क्रमशः अल्पतर होती जाती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयों

के विषय में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और परिमितता आती जाती है। पूर्ववर्ती नय व्याप्य और उत्तरवर्ती नय व्यापक है। उनके कारण कार्य की योजना भी की जा सकती है।

अंत में उपाध्यायजी ने अनेकान्त एवं नय का महत्त्व विशिष्टता बताते हुए कहा है कि अनेकान्त को नव्यन्याय शैली से सुशोभित करने का श्रेय उपाध्याय यशोविजयजी के हाथों में आता है। उन्होंने अधिकारिता से अनेकान्त व्यवस्था में अनेकान्त को सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इन सभी को लिपिबद्ध करने, अनेकान्त के विषय को विरल, विशद एवं हृदयंगम बनाने का बुद्धिकौशल अपूर्व उपस्थित किया है और अपर हरिभद्र के नाम से अपनी ख्याति को दार्शनिक जगत् में विश्रुत बना गये।

नय के विषय में ज्ञानसार के अन्तिम अष्टक में नयज्ञान के फल का सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है—सर्वनयों के ज्ञाता को धर्मवाद के द्वारा विपुल श्रेयस प्राप्त होता है जबकि नय से अनभिज्ञ जन शुष्कवाद विवाद में गिरकर विपरीत फल प्राप्त करते हैं। सर्वनयों पर अवलम्बित ऐसा जिनमत जिनके चित्त में परिणत हुआ और जो उनका सम्यक् प्रकाशन करते हैं, उनको पुनः-पुनः नमस्कार हो। कदाग्रह का विमोचन और वस्तु का सम्यक् बोध नय का फल है और उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति बढ़ती है।

षष्ठम अध्याय में उपाध्यायजी ने कर्ममीमांसा एवं योग का विशद विवरण किया है। कर्म सिद्धान्त भारतीय चिन्तकों के चिंतन का मकखन है। सभी आस्तिक दर्शन का भव्य भवन कर्मसिद्धान्त रूपी नींव पर ही अवलम्बित है। भले कर्म के स्वरूप में मतैक्य न हो लेकिन सभी दार्शनिकों, विचारकों एवं चिंतकों ने आत्मिक विकास के लिए कर्म-मुक्ति आवश्यक मानी है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने कर्म विषयक अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। परन्तु जैनदर्शन में कर्म-विषयक चिन्तन बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

कर्म क्रियाओं से परिभाषित बनता है, स्वरूपता में ढलता है अर्थात् क्रियाओं से ही कर्म स्वरूपवान रहता है। कर्मस्वरूप स्थिति में रहता हुआ भी पौद्गलिकता परिणाम में ढला हुआ, जड़वत् स्वीकारा गया है। इसलिए बंध की क्रिया जटिल बनी गई है, क्योंकि स्वबोध से शून्य है अतः जैन दर्शनकारों ने कर्म को स्वभाव मानकर भी चेतनाशून्य यानी जड़वत् माना है। यही कर्म भिन्न-भिन्न नाम रूप को धारण करता आठ प्रकार के आकारों में परिणमित हुआ है। इस प्रकार कर्म के भेदों से, प्रभेदों से इतना विस्तृत एवं व्यापक बन गया है कि आत्मा जैसे चैतन्यवान् को भी आच्छादित कर बैठा है। इसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की भीमांसा षष्ठम् अध्याय में की गई है।

मूर्त का अमूर्त पर यानी रूपी का अरूपी पर उपघात यह विधिवत् हमें मिलता है, क्योंकि कर्तृत्व भाव और कर्मभाव परस्पर सापेक्ष हैं। इनकी सापेक्षता की चर्चा कर्ममीमांसाओं में वर्णित मिलती है। यही कर्म जड़वत् यानी चेतना रहित होता हुआ भी जन्मान्तरीय संगति का त्याग नहीं करता है। इसलिए जीव और कर्म भी अनादि संगति शास्त्रों में वर्णित है और कर्मविषयक जैसे अंगसूत्रों का उदय हुआ।

महर्षियों में कर्मबन्ध के प्रतिपक्ष स्वरूप को भी वर्णित कर जीव को सावधान बनाया है। अनेक उपायों से कर्म से रहित करने का रास्ता दिखाया है और अंत में सर्वथा कर्मबन्ध रहित रहने का उपेक्ष और उदाहरण देकर सत्यता को स्पष्ट किया है। गुणस्थानक में कर्म का विचार क्या होता है, उनका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उसमें कर्म स्थितियों पर, परिस्थितियों पर पुनः-पुनः विचार कर कर्म

के स्वामी, कर्म का वैशिष्ट्य का विशद विवेचन उपाध्यायजी ने किया है। उपाध्यायजी का कर्मवाद की मीमांसा में विशेष योगदान रहा है। उन्होंने कम्मपयडी की टीका में कर्मवाद को पुष्ट किया है।

इस प्रकार कर्म की भूमिका जीव के साथ अखंड, अमर एवं शाश्वत है। इसे जैनदर्शन ने स्वीकार किया और बन्धमुक्त के उपायों का अन्वेषण कर उपादेय तत्त्वों की विचारणाएँ विविध भाँति से कर्मग्रंथों में मिलती है।

कर्मवाद की स्पष्ट विवेचनाएँ पूर्वों में भी मान्य हुई हैं। जैसे कर्मप्रवाद आदि पूर्व इसके परिचायक हैं। अतः कर्ममुक्त होने का उपाय वाचकवर उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट दिया है—कृत्स्न कर्मक्षयोः मोक्षः—सम्पूर्ण कर्मों के क्षय की स्थिति का नाम मोक्ष है। मोक्ष ही कर्मबन्ध रहित रहने वाला ऐसा स्थान है, जहाँ कर्म स्वयं दूर हो जाता है। कर्म की परिभाषाओं का कर्म के स्वरूप को और कर्म की पौद्गलिकता को प्रस्तुत कर कर्मवाद की अभिव्यक्ति की है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया का परिपूर्ण अभ्यास करके कर्मों के स्वभाव उनके भेद-प्रभेदों का विवेचन किया है। कर्म और पुनर्जन्म की गहन ग्रंथियों पर प्रकाश डाला गया है। कर्म और जीव के अनादि संबंध का स्वरूप दिखाकर कर्म के विपाक को वर्णित किया गया है। सर्वथा कर्मक्षय कैसे हो? कर्म के विपाक को वर्णित किया गया है। कर्म का स्वरूप गुणस्थानकों में एवं कर्म का वैशिष्ट्य व्यवस्थित रूप में विवेचित किया गया है।

कर्म सिद्धान्त के वैशिष्ट्य से विशिष्ट आत्माएँ बाह्य भौतिक सुख-सुविधाओं में शायद शून्य हो सकती हैं लेकिन आध्यात्मिक आत्मवैभव से आपूरित हैं। उत्तरोत्तर समुत्थान मार्ग को संप्राप्त करती रहती हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने कर्म सिद्धान्त जैसे गम्भीर, गहन और व्यापक विषय को आगमिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषित किया, यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही सूचक है। उपाध्याय यशोविजय ने कर्म की मीमांसा के बाद योग को अनेक वैशिष्ट्य से विशिष्ट बनाया है। उनका अपना वैदुष्य विरल एवं विशाल था। अपने आत्मवैदुष्य से उन्होंने योग को समलंकृत बनाया। उन्होंने हरिभद्र सूरि जैसे ही योग के संबंध में ऐसी श्रेष्ठ कृतियों की रचना की है, जो योग परम्परा में आज भी अद्वितीय विशेषता रखती है। योग अपने आप में निष्पन्न, व्युत्पन्न ज्ञानगुण वाला रहा है, फिर भी इसके उद्गम, उदय एवं आविर्भाव के विषय में काल गणनाएँ हुई हैं। यह योग शब्द चिरन्तन साहित्य में भी आया है और योग क्रिया के विषय में मान्यताएँ, महत्ताएँ प्रज्वलित बनी हैं। किसी-किसी ने चित्र बुद्धि आत्मतत्त्व के संयम को योग कहा है, किसी ने चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा है। उपाध्यायजी ने मोक्षेण योजनादेव योगो ह्ययत्र निरुध्यते को योग माना है। योग सचमुच एक ऐसा मौलिक साधनामय सुमार्ग है, जिसमें निरोध से अवबोध प्रकट होने का अवसर दिया है।

हम योग की परिभाषाएँ बौद्ध वाङ्मय, श्रमण वाङ्मय एवं वैदिक वाङ्मय में भी पढ़ते हैं। इस प्रकार योग आर्य संस्कृति का आत्मिक आधारस्तम्भ गिना गया है। योग में श्रमणधारा और वैदिक विचारणाएँ एक जैसी मिलती हैं इसलिए पतंजलि के योगसूत्रों पर उपाध्याय यशोविजय ने टीका लिखी। योग एक ऐसा साधना सुपथ है, जहाँ स्वरूप होकर रहने का सुअवसर समुपलब्ध होता है।

योग को व्यवहारनय से और निश्चयनय से प्ररूपित करने का विचार निर्ग्रन्थ वाङ्मय में समुपलब्ध होता है। एक तरफ आत्मिक विज्ञान और दूसरी तरफ जीवन व्यवहार का विज्ञान दोनों योग

क्रियाओं से सर्वथा सन्दर्भित है। व्यवहार योग की देशनाओं का प्रदर्शन करता चलता है जबकि निश्चयनय आत्मवाद के उच्च तत्त्वों पर निरन्तर चलता रहता है। अतः व्यवहार और निश्चय से भी एकदम अधिगम्य अवबोधित होता है।

योग एक ऐसे अधिकारों को संकलित करता है, जो व्यक्तियों को आत्मानुशासन, शब्दानुशासन एवं संयमित रहने का विधान सिखाता है, हेय-उपादेय के विपाक से विवेचित रखता है। योग के अधिकारी वे भी रहे हैं, जिन्होंने निरोधों को, निग्रहों को, परिग्रहों को परिचित बनाया है। योगसाधना का महत्त्व हमारे वाङ्मयी वसुधारा का कल्पतरु है। अप्रमत्तता योग की उच्च, उत्कृष्ट, उत्तम भूमिका है। इसलिए इस योग साधना को साधने वाले साधक निश्चयतः से आत्मविकास करते हुए नित्य अप्रमत्त रहते हैं।

योग का स्वीकार कर योग के लक्षण, योग की परिभाषाएँ, योग के अधिकारी, योग के भेद-प्रभेद, योग शुद्धि के कारण, योग में बाधक एवं साधक तत्त्व, योग की विधि परिलब्धियां एवं दृष्टियों को बताते हुए उपाध्याय एक विशिष्ट आध्यात्मिक योगी के रूप में परिलक्षित हुए हैं। इस योग के प्रायः सभी विषय में उपाध्यायजी ने अन्य दर्शनों का समन्वय दिखाया है। जैसे कि मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरूध्यते यह योग का एक ऐसा लक्षण है जिसमें समस्त दर्शनकारों के योग का लक्षण समाविष्ट हो जाता है, क्योंकि सभी दर्शनकारों का अन्तिम ध्येय मोक्ष है और वह अकुशल प्रवृत्ति के निरोध से ही संभव है।

साथ ही उन्होंने योग के अधिकारी, अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरती, सर्वविरती रहकर उपाध्यायजी ने योगविशिका में बताये गये स्थानादि 5 योगों की भी तुलना की है।

उपाध्यायजी ने अपनी आठ दृष्टि की रचना करके अपने चिंतन रूप नवनीत को पातंजल योगदर्शन के यम, नियम आदि आठ योगांगों के साथ समन्वय किया है। जो मनोयोगपूर्वक इन दृष्टियों का अभ्यास करते हैं, उनको यम नियमादि आठ योगांगों की सिद्धि होती है। खेद, उद्वेग आदि अवगुणों का नाश होता है एवं अद्वेष, जिज्ञासा आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

प्राचीन जैनागमों में प्रतिपादित ध्यान विषयक समग्र विचार सरणि से उपाध्याय यशोविजय सुपरिचित थे। साथ ही वे सांख्य योग, शैव पाशुपत और बौद्ध दर्शन आदि परम्पराओं में योगविषयक प्रस्थानों के भी विशेष परिचित एवं ज्ञाता थे। अतः उनकी चिंतनधारा किसी विशाल दृष्टिकोण को लेकर चली, जो भिन्न-भिन्न परम्पराओं में योगत्व के विषय में मात्र मौलिक समानता ही नहीं किन्तु एकता थी। यशोविजय ने देखा कि सच्चा साधक भले ही किसी भी परम्परा का हो, उसका आध्यात्मिक विकास तो एक ही क्रम से होता है। उसके तारतम्य युक्त सोपान अनेक हैं परन्तु विकास की दिशा तो एक ही होती है। अतः भले ही उसका प्ररूपण विविध परिभाषाओं में हो, विभिन्न शैली में हो परन्तु प्ररूपण का आत्मा तो एक ही होगा। यह दृष्टि उनकी अनेक योग ग्रंथों के अवगाहन फलस्वरूप बनी होगी। इस प्रकार उपाध्यायजी ने योग सिद्धान्तों में स्थान-स्थान पर अन्यदर्शनों के योगों का समन्वय करके योग के माहात्म्य एवं वैशिष्ट्य को उजागर किया है।

उपाध्याय यशोविजय ने सप्तम अध्याय भाषा-दर्शन में बताया है कि हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द प्रतीक बना लिये हैं और भाषा हमारे इन शब्द प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें नाम दे दिये हैं और इन्हीं नामों

के माध्यम से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य संबंधी जानकारियों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। विश्व के सभी प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से करते हैं—शारीरिक संकेतों के माध्यम से और ध्वनि संकेतों के माध्यम से। इन्हीं ध्वनि संकेतों के माध्यम से ही भाषाओं का विकास हुआ। भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं किन्तु इनमें प्राचीनतम सिद्धान्त भाषा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जो यह मानता है कि भाषा की रचना ईश्वर के द्वारा की गई है। अन्य दार्शनिकों ने भी अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं किन्तु भाषा ईश्वरसृष्ट न होकर अभिसमय या परम्परा से निर्मित है। उनके अनुसार भाषा कोई ऐसा तथ्य नहीं है, जो बनी बनाई मनुष्य को मिल गई है। भाषा बनती रहती है, वह स्थिर नहीं अपितु सतत् रूप से गत्यात्मक (डायनिमिक) है। वह किसी एक व्यक्ति की, चाहे वह ईश्वर हो या तीर्थंकर की रचना नहीं है अपितु कालक्रम से परम्परा से विकसित होती है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वही ऐसा सिद्धान्त है, जो जैनों को मान्य हो सकता है।

भाषा का प्रयोजन यानी भाषा का अगर ज्ञान नहीं होगा तो हम कुछ भी चिंतन, मनन, विचार, व्यवहार नहीं कर सकते हैं। कई बार भाषा का ज्ञान नहीं होने के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है और वह अनर्थ पाप का कारक एवं अन्य का मारक बनता है इसलिए भाषा के साथ-साथ भाषा विशुद्धि भी बहुत ही उपयोगी है। अगर भाषा का ज्ञान है पर उनकी शुद्धि नहीं है तो भी अनर्थ खड़ा हो सकता है। जैसे कुंती कुंती विषं दधात् का विषां दधात् ऐसा परिवर्तन होने से मौत के स्थान में राजकन्या। सार्वभौम साम्राज्य आदि पाने का दृष्टान्त भी सुप्रसिद्ध है। ऐसे तो अनेक प्रसंग हैं जो भाषाविशुद्धि की उपादेयता एवं भाषा अविशुद्धि की हेयता को घोषित कर रहे हैं अतः भाषा का प्रयोजन अनिवार्य एवं आवश्यक है। भाषा पद के निक्षेप का वर्णन करते हुए उपाध्यायजी ने कहा है कि जिससे प्रकरण आदि के अनुसार अप्रतिपादी आदि का निराकरण होकर शब्द के वाच्यार्थ का यथास्थान विनियोग होता है, ऐसी रचना विशेष को निक्षेप कहते हैं। उन्होंने निक्षेप के भेद बताते हुए कहा है कि—

नामाइ निक्खेवा चउरो, चउरेहि एन्य णायव्वा,
दव्वे तिविहा गहणं तह व निसिरणं पराघाओ।

निक्षेप चार प्रकार के हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य के तीन भेद हैं—ग्रहणं, निसरणं और परघात। उपाध्याय यशोविजय ने द्रव्यभाषा का लक्षण बताते हुए कहा है वस्तु तस्तु भावभाषा भिन्नत्वे सति भावभाषा जनकत्वस्यैव स्वरूपते द्रव्यभाषा लक्षणम् ग्रहणादि तीन भाषा विवक्षा से द्रव्यभाषा है।

भाष्यमाण भाषा अर्थात् भाषण काल में भी भाषा होती है। यह भाषा लक्षण में दोषग्रस्त है। भाष्यमाण भाषा सिद्धान्त क्रियारूप भावभाषा के उद्देश्य से है। सांप भी न मरे और लाठी भी न टूटे—ऐसा मार्ग लेने से कोई बाधा नहीं आती है। ऐसा सोचकर उपाध्याय यशोविजय ने भाषा रहस्य ग्रंथ में कहा है—भावभाषा दो प्रकार की है—क्रियारूप भावभाषा एवं परिणामरूप भावभाषा।

क्रिया शब्द से यहाँ निसरण क्रिया ग्राह्य है और परिणाम शब्द से शब्द परिणाम ग्राह्य है। भाष्यमाण भाषा सिद्धान्त वचन में निसर्ग क्रियारूप भावभाषा अभिप्रेत है। शब्द परिणामरूप भावभाषा नहीं। तात्पर्य यह है कि जो निसर्ग क्रियारूप भावभाषा है, वह भाष्यमाण वर्तमानकालीन की विषयभूत होती है, अविषयभूत नहीं। भावभाषा का लक्षण बताते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि उपयोग वाले जीवों की

भाषा भावभाषा है। यहाँ खाने-पीने, गाने का उपयोग नहीं लेना है किन्तु भावभाषा के प्रयोग प्रसंग में मुझे यह इस तरह बोलना चाहिए—मैं ऐसा बोलूंगा तभी श्रोता को अर्थज्ञान हो सकेगा। ऐसा उपयोग रखना है और इस उपयोग में बोले तब वक्ता की भाषा भावभाषा कही जाती है। भाषा के भेद प्रज्ञापना सूत्र में सर्वप्रथम पर्याप्तभाषा और अपर्याप्त भाषा ऐसे दो हैं। आगम में व्यवहारनय में भाषा के चार भेद—सत्य, मृषा, असत्य, अमृषा प्रचलित हैं। निश्चय नय से भाषा के सत्य और मृषा दो ही भेद हैं। यह प्रसिद्ध ही है।

उपाध्यायजी ने भाषा दर्शन के महत्त्व, भाषादर्शन एवं पाश्चात्य मन्तव्य, भारतीय चिंतन में भाषा दर्शन का विकास आदि का भी विस्तृत वर्णन किया है। विश्व की समस्त सत्ताएँ और समग्र घटनाएँ अपने आप में एक जटिल तथ्य हैं और जटिल तथ्यों का सम्यक् प्रतिपादन तो भाषा दर्शन के विश्लेषण की पद्धति के द्वारा ही संभव है। इसलिए महावीर और बौद्ध ने एक ऐसी प्रणाली विकसित की, जिसमें दार्शनिक एवं व्यावहारिक जटिल प्रश्नों के उत्तर उन्होंने विविध पहलुओं से विश्लेषित कर दिये हैं। प्रश्नों को विश्लेषित कर उत्तर देने की यह पद्धति जैन और बौद्ध परम्पराओं में विभज्यवाद के नाम से जानी जाती है।

भाषादर्शन के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं कि यह सत्य है कि भाषा विश्लेषणवाद एक विकसित दर्शन के रूप में हमारे सामने आया है किन्तु उसमें मूल बीज बौद्ध एवं महावीर के विभज्यवाद में उपस्थित है। न केवल इतना ही अपितु जैन, बौद्ध एवं वैयाकरण दर्शन के आचार्यों ने भाषा दर्शन में विविध आयाम प्रस्तुत किये हैं। वे सभी गम्भीर विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि पश्चिम में विकसित हो रहे उस भाषा दर्शन को भारतीय भाषा दर्शन के सन्दर्भ में देखा या परखा जा सके। आशा है कि भाषा दर्शन की इन प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतियों के माध्यम से मानव सत्य के द्वार को उद्घाटित कर सके। पाश्चात्य दार्शनिक देकार्ट, स्पिनोजा, अरस्तु आदि के मन्तव्यों पर विचार करने से इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि दर्शन के क्षेत्र में जब एक विधा प्रमुख बन जाती है तो अन्य विधाएँ मात्र उसका अनुसरण करती हैं और उनके निष्कर्ष उसी प्रमुख विधा के आधार पर निकाले जाते हैं। साधारण भाषा-दर्शन में रसल, मूर, विडगेस्टाइन, आस्टिन के मतों का भी प्रतिपादन किया गया है। रसल का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि वाक्यों के व्याकरणात्मक आकार उनके तार्किक आकार नहीं हैं। रसल के अनुसार भाषा सूचना प्रस्तुत करने अथवा कथनों को प्रस्तुत करने का ही माध्यम नहीं है बल्कि इनसे पृथक् उनके अनेक कार्य हैं। मूर की रुचि विश्व रचना या विज्ञानों में नहीं थी। मूर की समस्या विभिन्न दार्शनिकों के कथनों को लेकर है। मूर का एक महत्त्वपूर्ण कारण उनकी दृष्टि में, प्रश्नों को बिना समझे हुए उनका उत्तर देने का प्रयास है। विडगेस्टाइन रसल का अनुसरण करते हुए वाक्यों के विश्लेषण पर बल देता है। विडगेस्टाइन के विपरीत आस्टिन के दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया था और उनकी शिक्षा अरस्तु परम्परा में हुई थी। उसे भाषा-विज्ञान का अच्छा ज्ञान था, जिसका अपने दर्शन में भरपूर उपयोग किया। उसका विश्वास था कि दार्शनिक समस्याएँ एवं उनके समाधान अस्पष्ट हैं और इसका मूल कारण सभी तथ्यों पर ध्यान न देकर जल्दबाजी में सिद्धान्त की रचना करना है। उनके अनुसार दर्शन में प्रगति तभी हो सकती है जब अनेक प्रश्न उठाये जायें, अनेक तथ्यों का सर्वेक्षण किया जाए तथा अनेक युक्तियों का विस्तार से विश्लेषण किया जाये। आस्टिन का दर्शन अंग्रेजी भाषा में है, उसे यथावत् नहीं व्यक्त किया जा सकता, उसका संक्षिप्तीकरण किया जा सकता है।

अंत में भाषादर्शन में उपाध्याय यशोविजय के वैशिष्ट्य को बताते हुए कहा है कि उपाध्यायजी खुद तर्काधिपति होते हुए भी उन्होंने तर्क एवं सिद्धान्तों को संकलित रखा है। सामान्य से उन्होंने अपने ग्रंथों में खुद के कथन की पुष्टि हेतु प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रामाणिक ग्रंथों का प्रमाण देने में कसर नहीं रखी है। भाषादर्शनलक्षी उपाध्यायजी का भाषा रहस्य ग्रंथ अनमोल रत्न है। आगम आदि साहित्य में ऐसी कई बातें हैं जो बाह्य दृष्टि से विरोधग्रस्त लगती हैं। उपाध्यायजी की विशेषता यह है कि उन बातों को प्रगट करके अपनी गम्भीर एवं दुर्बोध ऐसे स्याद्वाद नय आदि के द्वारा उसका सही अर्थघटन करते हैं। उनकी स्वोपज्ञ टीका में अनेक विशिष्ट पदों की गहराई दृष्टिगोचर होती है।

एतदर्थ जीव में से शिव बनने के लिए सदा उद्योगी साधकों के लिए भाषा से भलीभांति सुपरिचित होना अति आवश्यक है, यह बताने की जरूरत नहीं है। भारती के माध्यम से किस पहलू से अपने इष्ट फल की सिद्धि हो, जिसमें जिज्ञासा का भंग न हो, यह ज्ञान होना प्रत्येक साधक के लिए प्राणवायु की भांति आवश्यक है। इस वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रखकर भाषा संबंधी वक्तव्य के रहस्यार्थ को परोपकारार्थ प्रकट करने के लिए उपाध्यायजी ने भाषा दर्शन लक्षी भाषा रहस्य नामक ग्रंथ की रचना की एवं स्वोपज्ञ विवरण से उसे अलंकृत किया। इसलिए भाषादर्शनलक्षी अनेक विशेषताओं से विशिष्ट है।

उपाध्याय यशोविजय ने रहस्य से अंकित 108 ग्रंथ लिखे थे इसलिए अष्टम अध्याय में यशोविजय का रहस्यवाद पर प्रकाश डाला गया है।

रहस्यवाद वस्तुतः अर्वाचीन सम्प्रत्यय है किन्तु रहस्यभावना, रहस्यवाद भारतीय वाङ्मय में प्राचीनकाल से विद्यमान है। रहस्यवाद शब्द रहस्य+वाद—इन दो शब्दों के मेल से बना हुआ है। रहस्य अर्थात् परमतत्त्व और वाद अर्थात् विचार। इस प्रकार रहस्यवाद का अर्थ है—परमतत्त्व विषयक विचार। आध्यात्मिक दृष्टि से रहस्यवाद का मूलार्थ है—परमतत्त्व संबंधी वह विचार या भावना जिसमें अन्त ज्ञान पर आधारित अपरोक्षानुभूति का तत्त्व सन्निहित है। रहस्यभावना के मूल या बीज को वेदों, उपनिषदों, बौद्ध साहित्य में भी खोजा जा सकता है।

रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति रद्धान्ते अनेन इति रह, रहसि भवं रहस्यम् रही भवं रहस्यम् रही इत्यादि व्युत्पत्तियां की जा सकती हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति रह एकान्त स्तत्र भवं रहस्यम् है तथा रहस्य शब्द का अर्थ एकान्त किया है। रहस्य शब्द के विभिन्न अर्थ का निरूपण किया गया है, जैसे गृह्य गोपनीय एकान्त में उत्पन्न तत्त्व, भावार्थ अपवाद स्थान विविक्त विजन छत्र निःशलाक रह, रपांक्षु भेद मर्म सारतत्त्व आदि होने पर भी उनके अतिरिक्त रहस्य शब्द खेल, विनोद, मजाक, मस्ती, मैत्री, स्नेह, प्रेम एवं पारस्परिक सद्भाव जैसे अन्य अर्थों में भी व्यवहृत हुआ है।

विभिन्न धर्मग्रंथों में रहस्य का भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। ऋग्वेद में रहसरि वागः, उपनिषद् में रहस्यमय पूजा पद्धति। वैदिक साहित्य में रहस्य का अर्थ प्रत्यय पाया जाता है। जैनागमों, जैसे—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नायाधम्मकहाओ, सूयगडांग, रायपसेणीय, औपपातिक पण्णावागरणं, उवासगदशांग, ठाणांग आदि में भी रहस्यवाद व्यवहृत हुआ है। उसका अर्थ उसमें गुप्त बात, छिपी हुई बात, प्रच्छन्न गोप्य, विजन, एकान्त, अकेला, जूठ ह्रस्व, अपचार स्थान आदि किया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में एक विशेष अर्थ है और वह अर्थ भी हमें जैन साहित्य में मिलता है। ओघनिर्युक्ति में रहस्य शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के रूप में हुआ है।

- ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक काल में जब काव्यप्रकृति के क्षेत्र में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, वस्तुवाद जैसे वादों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, तभी सन् 1920 ई. सन् के लगभग रहस्यवाद का भी नामकरण हुआ। बीसवीं शती के द्वितीय दशक में बंगला और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में छायावाद का उद्भव हुआ और प्रारम्भ में छायावाद को ही रहस्यवाद कहा जाने लगा किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में जब छायावाद की आलोचना प्रत्यालोचना होने लगी तब संभवतः उसी को प्रतिक्रिया में परिणामस्वरूप रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद का प्रयोग आधुनिक युग की देन है।

मनोवैज्ञानिक के आधार पर ली गई रहस्यवाद की परिभाषाओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—चेतना के रूप में, संवेदन के रूप में, अनुभूति के रूप में एवं मनोवृत्ति के रूप में। रहस्यभावना एक ऐसी आध्यात्मिक साधना है, जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूति पूर्वक आत्मतत्त्व से परमतत्त्व में लीन हो जाता है।

रहस्यवाद की विविध व्याख्याओं एवं परिभाषाओं के आधार पर प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रहस्यवाद को विभिन्न रूपों में विभक्त करने का प्रयास किया गया है। किसी ने इसको योग से संबंध किया है तो किसी ने इसे भावनात्मक माना है। किसी ने काव्यात्मक रहस्यवाद के नाम से परिभाषित किया है तो किसी ने इसे मनोवैज्ञानिक रहस्यवाद कहा है। इस प्रकार साहित्यकारों ने एक नहीं, अनेक रूपों में देखने की चेष्टा की है। यथाप्रगतिमूलक रहस्यवाद, धार्मिक रहस्यवाद, दार्शनिक रहस्यवाद, साहित्यिक रहस्यवाद, आध्यात्मिक रहस्यवाद, रासायनिक रहस्यवाद, प्रेममूलक रहस्यवाद, अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद आदि अनेक प्रकार के भेदों का वर्णन है, फिर भी प्रस्तुत प्रबंध में हम अध्यात्मयोगी उपाध्यायजी के साधनात्मक, भावनात्मक, भाषात्मक एवं आध्यात्मिक रहस्यवाद का ही विवेचन किया है। क्योंकि उनकी रचनाओं में उक्त रहस्यवादों का ही उल्लेख पाया जाता है।

भारतभूमि में परमतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले अनेक ऋषि-महर्षि, रहस्यद्रष्टा सन्त साधक हो गये, जिन्होंने उस रहस्यानुभूति का प्रथम आस्वादन किया है। रहस्यद्रष्टाओं की अनुभूतियों की जब भाषा में अभिव्यक्ति होती है तब वह रहस्यवाद कहलाती है। यही रहस्यवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है।

सर्वप्रथम रहस्य भावना के बीज हमें मूल वेदों में मिलते हैं। उनमें पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए रहस्यद्रष्टाओं की रहस्यानुभूति अभिव्यक्त हुई है। वैदिक मतानुसार वेदवाणी रहस्यमय कही जाती है। वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। ब्रह्म की रहस्यात्मकता का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। उपनिषदों में ब्रह्म, जगत्, आत्मा और परमात्मा आदि का अधिक चिंतन लक्षित होता है। वेदों की अपेक्षा उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा के अद्वैत पर आधारित रहस्य भावना का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। आत्मा से परमात्मा का साक्षात्कार करना ही उपनिषदों का रहस्य है। भागवत, पुराण, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र एवं नारद ऋषि सूत्र रहस्यवादी चिंतन के विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बौद्ध धर्म में व्यावहारिक साधना और आंतरिक सूक्ष्म तत्त्वों का निर्देश हुआ है, इसलिए इसमें यौगिक अथवा साधनात्मक रहस्यवाद का पाया जाना स्वाभाविक है। सूफी साधना में प्रेमतत्त्व की प्रधानता है, इसलिए उनमें वास्तविकता और प्रेम की अनुभूति का दर्शन है। सूफी साधना में इस प्रेम में विरह की व्याकुलता होती है और इस प्रेम-पीड़ा की भी अभिव्यंजना होती है। वह विश्वव्यापी बनती है साथ ही प्रेम का स्वरूप पारलौकिक बन जाता है। संक्षेप में सूफियों में रहस्यवाद को भावनात्मक रहस्यवाद भी कह सकते हैं।

सामान्यतः निर्गुण पन्थ के जन्मदाता कबीर माने जाते हैं। कबीर ने सिद्धों, नाथों की साधना का अनुसरण ही नहीं किया प्रत्युत् अपने पंथ में वेदान्त का अद्वैतवाद, नाथपंथियों का हठयोग, सूफियों का प्रेममार्ग, वैष्णवों की अहिंसा और शरणागति इत्यादि का सुन्दर समन्वय किया। कबीर के पश्चात् इस परम्परा में दादू, नानक, धर्मदास आदि अनेक संत हुए। इन सभी में न्यूनाधिक रूप में रहस्यवादी विचारधारा पाई जाती है। कबीर ने साधनात्मक एवं भावात्मक रहस्यवाद की धारा सहज रूप से प्रस्फुटित की है।

सगुण शाखा के अन्तर्गत रामभक्त और कृष्णभक्त सन्त कवियों के भी रहस्यात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इनमें प्रमुख रूप में मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास का नाम लिया जा सकता है, जिनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावना अभिव्यक्त हुई है। आधुनिक युग में हिन्दी रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा का स्थान सर्वोपरि है। प्रेम और विरह की वो अद्वितीय गायिका हैं। वस्तुतः इस युग में रहस्यवादी कवियों की अनुभूति वास्तविक न होकर कल्पनाप्रधान है।

जैन धर्म के रहस्यवाद में आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में भावात्मक अभिव्यक्ति की प्रमुखता है तो अपभ्रंश की रचना परमात्माप्रकाश, सावय धम्म दोहा तथा पाहुडदोहा में योगात्मक रहस्यवाद स्वतः प्रबल है, किन्तु मध्ययुगीन जैन हिन्दी रहस्यवादी काव्य में साधनात्मक और भावनात्मक दोनों तत्त्व पाए जाते हैं। उसी प्रकार उपाध्याय यशोविजय एक ऐसे आध्यात्मिक सन्त हुए जिन्होंने साधनात्मक, भावनात्मक, दर्शनात्मक आदि रहस्यों को उद्घाटित करके चार चांद लगा दिए हैं एवं रहस्यवादियों में अपना अग्रिम एवं अविस्मरणीय स्थान प्राप्त किया है।

रहस्य से भरे हुए उपाध्यायजी के रहस्यमय ग्रंथों की बातें सुनकर चिंतन-मनन करके उनके शास्त्र रत्नों में से अपने जीवन में नवकार तत्त्वदृष्टि, केवल परिणति संवेदन, ज्ञान एवं संवेग विरागादि से परिपुष्ट आध्यात्मिकता की उच्च कक्षा पर पहुंचकर अंतरात्मदशा से उल्लासित अभ्यास कर परमात्म दशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

उपाध्यायजी अन्य दर्शनों के ज्ञाता बनकर उनकी अवधारणाएँ उच्चता में हृदयंगम करते हुए अपने दार्शनिक धरातल पर अपराजित रहते हैं। अन्य दार्शनिकों के दृष्टिकोण को सम्मान स्वीकृत करते हुए अपनी मान्यता का मूल्यवान मूल सिद्धान्त प्रगटित करते और पराजयता को स्वीकार नहीं करते और न ही आत्मविजयता का अभिमान व्यक्त करते हैं। उनका यह समन्वयवाद श्रमण संस्कृति का मूलाधार बना है। श्रमण वही है जो क्षमा को, क्षमता को आजीवन पालता रहे।

वाचक यशोविजय एक ऐसे उपाध्याय हैं, जिन्होंने जैन दर्शन की भव्यता, दिव्यता के साथ अन्य भारतीय दर्शनों के बीच एक सेतु का कार्य किया है। वे एक ऐसे उदारवादी दार्शनिक उपाध्याय माने जाते हैं, जिनका किसी से वैर-विरोध या राग-आसक्ति नहीं है। इसलिए उनकी दार्शनिक कृतियों में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिसका प्रस्तुतीकरण किसी-न-किसी रूप में उपाध्यायजी के दर्शन में दृष्टिगोचर होते देखा जाता है। उन्होंने आत्मक्षमता को वाङ्मय में विराजित कर अन्य की अवधारणाओं को अनाथ नहीं होने दिया। अन्यो की मान्यताओं का मूल्यांकन करने में मतिमान रहो, ऐसी उत्तम मति वाले उपाध्यायजी का दार्शनिक जीवन सभी को मान्य हुआ, क्योंकि उनकी आवाज अवरोधरूप नहीं थी, अपमानजनक नहीं थी, किन्तु आदर्शरूप थी। अतः उनके ग्रंथों में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों को बहुमान मिला है, जिसका उल्लेख नवम अध्याय में दिया गया है।

उपाध्यायजी का दर्शन अन्य दर्शनों की अवधारणाओं से गर्भित है, गुम्फित है, फिर भी स्वयं की दार्शनिकता जीवित मिलती है। दर्शन ग्रंथों में जहाँ अन्य अवधारणाएँ अवसान तुल्य बन जाती हैं। सम्मान देकर स्वयं को स्वदर्शन में प्रतिष्ठित रखने का उपाध्यायजी का प्रयास प्रशंसनीय रहा है, ऐसी अद्भुत दार्शनिकता का दर्शन उपाध्यायजी के वाङ्मय में दर्शित होता है।

सत् का अस्तित्व इतिहास मान्य है, समाज स्वीकार्य है। सभी दार्शनिकों को स्पष्ट सम्बोध है कि सत् एक अस्तित्वमान सत्य है और वह तत्त्व भी है। सत्य क्यों है कि वह आत्मवाद से अभिन्न है और तत्त्व क्यों है कि वह दार्शनिक विचारश्रेणि का नवनीत पीयूष है। अतः सत् का स्वरूप और सम्बन्ध सर्वथा उपादेय है। सत् के बिना शास्त्रीय मीमांसा चरितार्थ नहीं होती है।

आत्मतत्त्व अखिल दर्शन का सार है, जो सर्वत्र, सर्वमान्य है। योग ही आत्म चिंतामणि है, श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है। योग ही सर्वधर्मों में प्रधान है तथा अणिमादि आठ सिद्धियों का स्थान है। योग जन्म बीज के लिए अग्नि समान तथा जरा अवस्था के लिए व्याघ्र समान है तथा दुःख का राज्यक्षमा है और मृत्यु का मृत्यु है। योगरूप कवच जिन आत्माओं ने धारण किया है, उनके लिए कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्र भी निष्फल हो जाते हैं अर्थात् योगी के चित को चंचल करने की शक्ति कामदेव के शस्त्रों में भी नहीं है। अतः कह सकते हैं कि योग का स्वरूप आध्यात्मिक जगत् का एक प्रतीक श्रेष्ठ स्वरूप है।

मोक्षतत्त्व एक श्रद्धागम्य तत्त्व है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। उसे उपादेय रूप में स्वीकारा गया है। प्रत्येक जीवात्मा अत्यन्त दुःख से निवृत्त होकर सुख की चाह करता है। दुःखनिवृत्ति मूलक सुख यदि सही है तो वो मोक्ष में है। अतः उपाध्यायजी ने मोक्ष में ही अनुपम सुख है, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है। अतः कह सकते हैं कि मोक्ष सभी को मान्य है, श्रद्धेय भी है।

सभी भारतीय दार्शनिकों का मत अंत में कर्मों का क्षय करके मोक्ष जाना ही है। अतः कह सकते हैं कि मोक्ष सभी को मान्य है तो अवश्य ही मानना ही पड़ेगा। कर्म विज्ञान इतना विवेचित, विवक्षित एवं विस्तारित है कि उनका ज्ञान तत्त्वबोध स्वरूप सभी के लिए अनिवार्य ही नहीं बल्कि आवश्यक है। प्रमाण सहित प्रमेय का महत्त्व मान्य बना रहा है, इसलिए सप्रमाण प्रस्तुतीकरण का उपयोग शास्त्रमान्य रहा है।

सर्वज्ञ स्वयं में सत्प्रतिशत सफल सत्य है जो त्रिकाल से भी तिरोहित नहीं बन सकता। सर्वज्ञ की सर्वोत्तमता सभी को मान्य है। उपाध्यायजी ने परमात्मप्रकाश, अध्यात्मोपनिषद् में सर्वसत्ता (परमात्मा स्वरूप) का वर्णन करके सर्वज्ञ को सर्वोत्कृष्ट कोटि में रख दिया।

न्यायशास्त्र वह शास्त्र है, जिसके द्वारा हम पदार्थों की ठीक-ठीक परीक्षा अथवा निर्णय करते हैं। जिस तरह भाषाएँ परिष्कृत करने के लिए व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता है, उसी तरह बुद्धि को परिष्कृत करने के लिए न्यायशास्त्र की आवश्यकता है। न्याय के क्षेत्र में उपाध्यायजी ने नव्य न्यायशैली में 100 ग्रंथों की रचना की है। उसमें न्याय खंडन खाद्य ग्रंथ प्रमुख है। न्याय के क्षेत्र में डेढ़ लाख श्लोक प्रमाण की रचना करके जैन साहित्य में, जैन दर्शन में या न्यायक्षेत्र में चार चांद लगा दिए हैं। उपरोक्त बिन्दु के अलावा भी उपाध्यायजी ने अपनी लेखनी चलाई है, जो पारमार्थिक रूप में श्रद्धा का सम्बल है। उन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थों को श्रद्धागम्य बताया है तो विचारों को आचारगम्य दिखाया है।

उन्होंने एकान्त के साथ अनेकान्त को जोड़कर विश्व के सामने स्याद्वाद की सप्तभंगी प्ररूपित कर दी, जो अनेक प्रकार के वैर-विरोध, वाद-विवाद से हटकर समन्वयवाद की पुरोधा बनी।

विविध और परस्पर विरोध रखने वाली मान्यताओं का विपरीत तथा विधायक विचारश्रेणियों का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक क्लेशों को मिटाना, सभी धर्मों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में पिरो देना, यही स्याद्वाद की महत्ता है। अन्त में सभी दार्शनिकों के दार्शनिक सिद्धान्तों की उन्होंने अपने ग्रंथों में विवेचना की है।

यशोविजयजी अपने आप में एक अद्भुत एवं अप्रतिम उपाध्याय थे। इनका व्यक्तित्व वाङ्मय के विशाल कलेवर में कृतज्ञ है। उपाध्यायजी ने संयमी जीवन के ज्ञान, गुण, सुवर्ण, सुगंध या सुमेलश्रद्धा जैन दर्शन के प्रति अटूट निर्मल श्रद्धा, सच्चा चारित्र, अनुपम विद्वत्ता—ये सभी गुणों के बाद भी हृदय की सरलता, विनम्र शांतप्रवृत्ति, गुणानुराग इत्यादि अनेक उनके जीवन की विशिष्टता थी।

उनकी कृतियाँ उनके जीवन चरित्र के यशस्वी, अमरत्व का परिचय करा देती हैं। उनका वैदुष्य विशाल, विवेक सम्पन्न, विगतमय, विद्याप्रवाद से परिपूर्ण रहा। वे युगों-युगों तक सदैव अविस्मरणीय रहेंगे।

जैन दर्शन में स्याद्वाद को, जैन सिद्धान्तों की तत्त्व व्यवस्था को, उनके सम्पूर्ण सुसंवादी शास्त्रज्ञान को उपाध्यायजी ने अपनी नव्यन्यायशैली में आलेखित किया है, वो वास्तव में अमृत है। उनके एक-एक न्यायग्रंथों का जब भी मनन-चिंतन, परशीलन करने में आता है तब उनके सतत् अभ्यासी, प्रज्ञाशील, बुद्धिमान को भी पुनः-पुनः उनके ग्रंथों की पंक्ति में कुछ नया ही रहस्य तत्त्व जानने को मिलता है।

हरिभद्रसूरि रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय की स्याद्वाद कल्पलता नामक उपाध्यायजी रचित टीका जैन दर्शन के पदार्थों को नव्यन्यायशैली से प्रतिपादित करने वाली अद्भुत साहित्यकृति है। इस कृति में उनका स्व-पर दर्शनशास्त्रों के विषयों का अगाध पाण्डित्य पद-पद में व्यक्त होता देखने को मिलता है। अपने अद्भुत व्यक्तित्व से वाङ्मय को विशाल रूप देने में महाविद्यावान सिद्धहस्त एक सफल टीकाकार हुए।

उपाध्यायजी के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य इतना विपुल एवं विशेष विद्यमान है, जिसको तत्त्वमीमांसा एवं कर्ममीमांसा से आत्मसात् किया जा सकता है, स्याद्वाद से सुशोभित देखा जा सकता है। सिद्ध पद को प्राप्त करने का सहजमार्ग, सरल उपाय समुपलब्ध हो सकता है। ये सारी बातें ज्ञान बल से स्व-पर-प्रकाशक बन सकती हैं। रहस्यांकित पदों एवं न्याय के क्षेत्र में योगदान उपाध्यायजी का अनूठा पक्ष रहा है।

इस प्रकार ज्ञान के वैशिष्ट्य से जिनका वैदुष्य युगों-युगों तक आदर्शता, अमरता, शाश्वतता की कथा करता रहेगा। अन्य दार्शनिकों की दृष्टि से उपाध्यायजी का दार्शनिक ज्ञान अपूर्व, अद्वितीय एवं अविस्मरणीय है। उन्होंने आत्मा, योग, मोक्ष, कर्म, प्रमाण, सर्वज्ञ, न्याय जैसे असामान्य विषयों पर अपनी सिद्धहस्त लेखनी चलाकर विद्वद् जगत् में नाम प्राप्त किया है, जो युगों-युगों तक यशस्वी एवं जीवन्त रहेगा। इस प्रकार उन्होंने आजीवन अपना अमूल्य समय शास्त्रों, आगमों एवं ज्ञानराशि के क्षेत्र में अर्पित कर वाङ्मय को विशाल एवं विराट रूप दिया, ऐसा कहना उपयुक्त होगा।

ऐसे अनन्त उपकारों की अमीवर्षा हम सब पर बरसाने वाले, समस्त संस्कार से संस्कारित साहित्य में विशेष योगदान देने वाले 65 वर्ष के संयम पर्याय में इतना अविचल परिश्रम करके संसार में यशस्वी नाम पाने वाले एवं अमर होने वाले साहित्य के स्वामी उपाध्यायजी के चरणों में शत-शत वंदन सह यह ग्रंथ समर्पित है।

प्रशस्ति

श्री जिनशासन के धरातल पर परम परमानंद हैं ।
महावीर पटाम्बर सुशोभित साधु संत अखिलानंद हैं ॥
सुधर्म जम्बु प्रभव आदि विश्व में विश्वानंद हैं ।
विमल परम पट्ट क्रम से नित्य प्रति वंदत हैं ॥ १ ॥

सौधर्म (सोहमगच्छ) परम्परा में हुए हैं । ज्ञानी ध्वानी मुनिवरा ।
तदनु सूरि जगच्चंद्र, आचार्य रत्नसूरीश्वरा ।
वीरवाणी के उदघोषक सूरि क्षमा जगदीश्वरा ।
सूरि देवेन्द्र कल्याणसूरि पट्टधर हितेश्वरा ॥ २ ॥

सूरि प्रमोद पाटे इस जग में जग प्रसिद्ध सुरनरा ।
तस शिष्य राजेन्द्र सूरिश्वर विश्व में पूज्यवरा ॥
साहित्य सर्वक गुरुवर थे, ज्ञानमग्नासक्त सूरीवरा ।
उत्कृष्ट श्रमणाचार पालक, जैन धर्म के जयकरा ॥ ३ ॥

पट्टधर धनचंद्र सूरि; चर्चा चक्रवर्ती शुभकरा ।
पट्टालंक सूरि भूपेन्द्र, पद पर मन मोहकरा ॥
यतीन्द्रसूरिजी थे, व्याख्यान वाचस्पति गुरुवरा ।
तस पट्ट विद्याचंद्रसूरि, शांत दिव्य मूर्ति कविवरा ॥ ४ ॥

जयंतसेनसूरि वर्तमान काल मे है शासन शणगारा ।
तस आज्ञानुवर्ती गुरुवर्या, प्रेमश्री जी गुणकारा ॥
हीरश्री जी गुरुणी शिष्या भुवनप्रभाश्रीजी अणगार ।
शिष्या अमूतरसाश्री यह शोध लेखन प्रस्तुतकार ॥ ५ ॥

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

क्र.सं. ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक/विवेचक	प्रकाशक	संस्करण
01. अभिधान राजेन्द्र कोश भाग 1-7	पू. राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.	अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन, अहमदाबाद	वि.सं. 1986 सन् 1998
02. अध्यात्म उपनिषद् भाग 1-2	उपाध्याय यशोविजय	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ करमचंद जैन पौषधशाला अंधेरी, मुम्बई	सन् 1998
03. अध्यात्मसार	उपाध्याय यशोविजय	श्री रामसोभाग सत्संग मण्डल, सायला	ई सन् 2004
04. अध्यात्म पत्रसार	श्री चन्द्रकान्त अमृतलाल दोशी	श्री साहित्य विकास मंडल, वेस्ट मुम्बई	वि.सं. 1984 प्रथमावृत्ति
05. अध्यात्म मत परीक्षा	उपाध्याय यशोविजय	श्री आदेश्वर जैन टेम्पल ट्रस्ट, वालकेश्वर, मुम्बई	
06. अध्यात्म बिन्दु	हर्षवर्धनोपाध्याय रचित सं. मुनि श्री मित्रानंदविजयजी	भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद	1972
07. 18 पापस्थानक एवं 125. गाथा का सीमंधर स्वामी स्तवन	उपाध्याय यशोविजय	विवेक विनय ग्रंथ माला, मासर रोड	वी.सं. 2488 वि.सं. 2018 ई. सं. 1962
08. 18 पापस्थानक 12 भावना सज्जाय	जयसोम मुनि कृत	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि.सं. 2449
09. अष्टक प्रकरण	आचार्यश्री हरिभद्रसूरिकृत सं. खुशालदास जगजीवनदास	श्री महावीर जैन विद्यालय गोविलया टेंक, मुम्बई	वी.सं. 2468 ई.सं. 1941
10. अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद		जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	2003
11. अनेकान्तवाद	श्री लाला कन्नोमलजी	श्री आत्मानन्द जैन ट्रस्ट सोसायटी, अम्बाला शहर	वीर सं. 2415 वि.सं. 1984
12. अभिज्ञान शाकुन्तलम	कवि कालिदास विरचित	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	वि.सं. 2065
13. अनुयोग द्वार सूत्र	सं. मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1987
14. अध्यात्मतत्त्वालोक	न्याय विजयजी	श्री मोतीचंद झंवरचंद मेहता, फर्स्ट असिस्टेण्ट हाईस्कूल, भावनगर	

15. अग्नि पुराण	पं. श्रीरामजी शर्मा	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेदनगर, बरेली	सन् 1987
16. अमूर्त चिन्तन	आचार्य महाप्रज्ञ	तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन, जैन विश्व भारती, लाडनूँ	सन् 1992
17. अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण	यशोविजयगणि	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2414
18. अनेकान्त जयपताका	आचार्य हरिभद्रसूरि	ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बरोड़ा	वि.सं. 1940
19. अनुयोग मलधारीय वृत्ति	मलधारी हेमचन्द्र सूरि	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2045
20. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद	डॉ. वासुदेव सिंह	समकालीन प्रकाशन, वाराणसी	सं. 2022 प्रथमवृत्ति
21. अष्टपदी	उपाध्याय यशोविजय		
22. श्री आचारांग सूत्र हिन्दी टीका, भाग 1-4	मुनिराज जयप्रभ विजयजी	श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन, देरासर शेरी, पो. आहौर, जालौर	
23. आचारांग सूत्र	सुधर्मा स्वामी	धनपतसिंह बहादुर, आगम संग्रह, कलकत्ता	ई. 1936
24. आचार्य हरिभद्र सूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य	डॉ. साध्वी अनेकान्तलताश्री	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वीर सं. 2435 वि.सं. 2065 ई. सन् 2008
25. आठ दृष्टि की सज्जाय	उपाध्याय यशोविजय	श्री धर्म प्रसारण ट्रस्ट, अडाजण पाटिया, सूरत	वी.सं. 2526 वि.सं. 2056 ई. सन् 2000
26. आनन्दघन का रहस्यवाद	साध्वी सुदर्शनाश्री	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	वी.सं. 2454 वि.सं. 1984
27. आत्म प्रकाश	श्री बुद्धिसागर सूरि रचित	श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, पादरा	
28. आत्म प्रदीप		श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, पादरा	सन् 1965
29. आत्म प्रबोध	श्री कुमार कवि विरचित	भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता	

30. आनन्दघनजी ना पदो (भाग 1-2)	मोतीचंद गिरधरलाल कपाड़िया	महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	धीर सं. 2508 वि.सं. 2038 ई. सन् 1981
31. आर्हती दृष्टि	समणी मंगलप्रज्ञा	आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली	सन् 2003
32. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवं पूर्णता	आचार्य जयंतसेन सूरि	राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2054 वी.सं. 2514
33. आत्मध्यान के अवसर पर	पू. कीर्तियश सूरि म.सा.	सन्मार्ग प्रकाशन, रिलिफ रोड, अहमदाबाद	वि.सं. 2058
34. आवश्यक सूत्र	जोरावरमलजी महाराज विरचित अनुवाद	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान	वी. 2527 वि. 2057 ई. 2001
35. आवश्यक निर्युक्ति टीका	हरिभद्र सूरि	कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2038
36. आवश्यक सूत्र निर्युक्ति	भद्रबाहु स्वामी	निर्णय सागर मुद्रणालय, मुम्बई	वी.सं. 2491
37. आप्त मीमांसा	स्वामी समंत भद्राचार्य विशारद	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	
38. आचारांग टीका	श्री शीलांकाचार्य	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई	सन् 1935
39. आनन्दघन चौबीसी	मुनि सहजानन्दघन	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, कर्णाटक	ई. सन् 1989
40. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद	डॉ. विश्वनाथ गोड	नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी	प्रथमावृत्ति 1961
41. आगम शब्द कोष	आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व धारती, लाडनूँ राजस्थान	वि.सं. 2037 ई.सन् 1980
42. आनन्दघन ग्रंथावली	महताबचन्द खारैड	विशारद विजयचंद जरगड, जयपुर	सं. 2031
43. ईशोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर	
44. इसिभासियाई	अनु. मनोहर मुनि	सुधर्मा ज्ञानमंदिर, कांदावाड़ी, मुम्बई	
45. उपदेश रहस्य	महोपाध्याय यशोविजयजी	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुम्बई	वि.सं. 2039 प्रथमावृत्ति वि.सं. 2061 द्वितीयवृत्ति
46. उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद	साध्वी डॉ. प्रीतिदर्शनाजी	श्री राजेन्द्रसूरि जैन शोध संस्थान उज्जैन, म.प्र.	वि.सं. 2066 ई.सन् 2009

47. उपदेश प्रासाद भाषान्तर भाग-3	श्री विजय लक्ष्मीसूरि विरचित	श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि.सं. 1962 वी.सं. 2432
48. उपदेश माला	धर्मदास गणि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2058
49. उत्तराध्ययन सूत्र	भद्रबाहु स्वामी	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2046
50. उत्तराध्ययन सूत्र	अनु. श्री जोरावरमलजी महाराज	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर राजस्थान	वी.सं. 2510 वि.सं. 2040 सन् 1984
51. उत्पादादि सिद्धि विवरण	यशोविजय गणि	श्री जैन ग्रंथ प्रकाशन सभा, राजनगर, अहमदाबाद	वी.सं. 2470
52. उत्पादादि सिद्धि	यशोविजय गणि नामधेयं टीका	श्री जैन ग्रंथ प्रकाशन सभा, राजनगर, अहमदाबाद	वी.सं. 2470
53. उपासक दशांग सूत्र	श्री कन्हैयालालजी स.	श्री अ.भा.श्वे.स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट	वि.सं. 2017
54. उपदेश तरंगिणी	श्री रत्नमन्दिर गणि	अभ्युदय प्रेस, वाराणसी	वी.सं. 2437
55. एकार्थक कोश	आचार्य महाप्रज्ञजी	जैन विश्व भारती, लाडनूँ	
56. एक सौ पच्चीस 125 एक सौ पचास 150 तीन सौ पचास 350 गाथाओं का स्तवन	उपाध्याय यशोविजय	जैन विद्याविजय प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद	वि.सं. 1975
57. औपपातिक सूत्र	मिश्रीमलजी महाराज	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान	वी.सं. 2518 ई.सन् 1992
58. अंगुतर निकाय	अनुभदन्त कौशल्यायान	महाबोधि सभा, कलकत्ता	
59. ऋग्वेद	अयोरूषेय	वैदिक संशोधन मंडल, पूना	सन् 1940
60. श्री कल्पलतावतारिका	श्री अमृतसूरि विरचित	जैन साहित्य वर्धक सभा, शिवपुर पश्चिम खानदेश	वी.सं. 2484 वि.सं. 2014
61. कर्मवाद	आचार्य महाप्रज्ञ	आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली	सन् 2004
62. कर्मग्रंथ	देवेन्द्र सूरि	श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा	ई. 1939
63. कर्म प्रकृति	महोपाध्याय यशोविजयजी	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2060
64. कल्पसूत्र बालवबोध	श्री राजेन्द्रसूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2053

65. कठोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर	
66. गुरुतत्त्व विनिश्चय भाग 1-2	महोपाध्याय यशोविजय	जैन साहित्य विकास मंडल, मुम्बई	वि.सं. 2041 ई.सन् 1985
67. गुर्जर साहित्य संग्रह भाग 1-2	महोपाध्याय यशोविजय	श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, महेसाणा	वी.सं. 2464 वि.सं. 1994 ई.सन् 1938
68. गोम्मतसार	नेमिचन्द्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	ई.सन् 1972
69. चरक संहिता	महर्षिणा भगवताग्निवेशेन	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस	सं. 1948
70. चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा	डॉ. सर्वानंद पाठक	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी	ई.सन् 1965
71. छांदोग्य उपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2033
72. जैन तर्क भाषा	महोपाध्याय यशोविजय	दिव्य दर्शन प्रकाशन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2053
73. जैन तत्त्व प्रकाश	आ. अमोलक ऋषिजी	श्री अमोलक जैन ज्ञानालय, धूलिया, महाराष्ट्र	वी.सं. 2533
74. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. सागरमल जैन	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	वी.सं. 2509 ई.सन् 1982
75. जैन दर्शन में जीव तत्त्व	साध्वी डॉ. ज्ञानप्रभा	श्री रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदाबाद	वि.सं. 2051 ई.सन् 1994
76. जिण धम्मो	आचार्यश्री नानेश	श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्ग जैन संघ, बीकानेर	प्रथमावृत्ति ई.सन् 1984
77. जैन धर्म अने स्याद्वाद	शांतिलाल केशवलाल रचित	पानाचंद भगुभाई कांटावांला, सूरत	सन् 1980
78. जैन तत्त्वादर्श, भाग-2	आत्मारामजी महाराज रचित	श्री आत्मानंद जैन सभा, मुम्बई	
79. जिनागम	मूलशंकर देसाई	दिगम्बर जैन मंदिर, धूलियागंज, आगरा	वि.सं. 2015
80. जिनवाणी के मोती	दुलीचन्द जैन	जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, साहुकार पेठ, मद्रास	वि.सं. 1993
81. जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व	समणी चैतन्य प्रज्ञा	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	ई.सन् 2008
82. जैन आचार मीमांसा	डॉ. समणी ऋजुप्रज्ञा	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	ई.सन् 2007

83. जैन भाषा दर्शन	डॉ. सागरमल जैन	बी.एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली	ई.सन् 1986
84. जैन दृष्टि में योग	मोतीचंद गिरधारीलाल	महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	वि.सं. 2010 वी.सं. 2480 ई.सन् 1954
85. जैन दर्शन में कर्मवाद	खूबचंद केशवलाल	श्री पार्श्व जैन पाठशाला सिरोही, राजस्थान	वी.सं. 2488 वि.सं. 2018
86. जैन धर्म-दर्शन और भारतीय दर्शन		जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	सं. 2007
87. जब जागे तभी सवेरा	आचार्य तुलसी	आदर्श साहित्य संघ, चूरू, राजस्थान	ई.सन् 1990
88. जैन तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा	एम.ए. पूर्वार्द्ध, द्वितीय पत्र	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	
89. जैन ज्ञानमीमांसा एवं जैन न्याय	एम.एम. पूर्वार्द्ध, चतुर्थ पत्र	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	
90. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग 1-2	आचार्य हस्तिमलजी महाराज	जैन इतिहास समिति, लाल भवन, जयपुर	
91. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य	साध्वी संघमित्रा	जैन विश्व भारती, लाडनूँ	सं. 1986
92. जैन धर्म दर्शन और भारतीयतर दर्शन	डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	ई.सन् 2007
93. जैन दर्शन के नवतत्त्व	डॉ. धर्मशीला	श्री गुजराती श्वेताम्बर जैन एसोसिएशन, चेन्नई	ई.सन् 2000
94. जैन योगग्रन्थ चतुष्टय	हरिभद्र सूरि	मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, राजस्थान	
95. जीव विचार	श्री शांतिसूरिजी	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
96. जीवाजिवाभिगम सूत्रम्	श्री मलयगिरीजी	जिन शासन आराधना ट्रस्ट, भुलेश्वर, मुम्बई	वी.सं. 2517
97. जयन्तसेन सूरि अभिनन्दन ग्रंथ	सम्पादक सुरेन्द्र लोढा	श्रीमद् जयन्तसेन सूरि अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति	वी.सं. 2517 वि.सं. 2048 ई.सन् 1991

98. जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन	आचार्य जयंतसेन सूरि	राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वी.सं. 2520 वि.सं. 2051
99. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-2	क्षु. जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	प्रथमावृत्ति ई.सन् 1971
100. जैन दर्शन : मनन और भीमांसा	मुनि नथमलजी	सन्मति ज्ञानपीठ प्रकाशन, आगरा	ई.सन् 1966
101. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र	उमास्वाति महाराज	श्रीमद् यशोविजय जैन संस्कृत पाठशाला, महेसाणा	द्वितीय वृत्ति वि.सं. 2036 सन् 1979
102. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका	हरिभद्र सूरि	ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था	वी.सं. 2462
103. तैत्तिरीयोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर	
104. तत्त्वार्थ प्राज्वार्तिक	भट्टाकलंक देव	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी	ई.सन् 1957
105. श्री दशवैकालिक सूत्र	श्री शय्यभवं सूरि कृत	श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल	वि.सं. 2058
106. दर्शन और चिंतन भाग 1-2	पंडित सुखलालजी के हिन्दी लेखों का संग्रह	पंडित सुखलालजी सन्मान समिति, गुजरात विद्यासभा भद्र, अहमदाबाद	वी.सं. 2483 वि.सं. 2013 ई.सन् 1957
107. दर्शनशास्त्र का इतिहास	महोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद	ई.सन् 1941
108. दशवैकालिक सूत्र	गणधर रचित	साधुमार्गीय जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, मध्यप्रदेश	
109. देववंदनमाता	श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2060
110. दंडक	गजसार मुनि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद	वि.सं. 2053
111. द्रव्यास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास	वि.सं. 2025
112. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन दिवाकर	विजय लावण्य सूरि ज्ञानमंदिर, बोटाद	ई.सन् 1977
113. द्रव्यानुयोग तर्कणा	भोजकवि विरचित		वी.सं. 2432

114. द्रव्यगुण पर्याय रास भाग 1-2	महोपाध्याय यशोविजय	श्री जैन धर्म प्रसारण ट्रस्ट, सूरत	वी.सं. 2531 वि.सं. 2061 ई.सन् 2003
115. द्वादशार नयचक्रम	श्री मल्लवादि क्षमाश्रमण विरचित	श्री लब्धिसूरि जैन ग्रंथमाला, छाणी, वडोदरा	प्रथमावृत्ति वी.सं. 2486 वि.सं. 2016
116. द्वात्रिंशक द्वात्रिंशिका भाग 1-7	मुनि यशोविजयगणि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, कलिकुंड	वि.सं. 2062
117. धर्म संग्रहणी	आचार्य हरिभद्रसूरि	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2048
118. ध्यान शतक	आचार्य हरिभद्रसूरि	दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वि.सं. 2030
119. धर्मसंग्रह का गुजराती भाषान्तर, भाग-1	उपाध्याय यशोविजयगणि संशोधक		वी.सं. 2482 वि.सं. 2012
120. ध्यान योग एवं कर्ममीमांसा		जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	
121. न्यायालोक	उपाध्याय यशोविजय	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	
122. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, भाग 1-2	श्री विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य विरचित	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुम्बई	वि.सं. 2052
123. नय रहस्य	महोपाध्याय यशोविजय	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुम्बई	वी.सं. 2510 वि.सं. 2040
124. नयचक्रसार	श्री वाचनक देवचन्द्रजीकृत	श्री मुणोत मेघमाला खौगढ, म.प्र.	प्रथमावृत्ति वि.सं. 1985 द्वितीयावृत्ति वि.सं. 2018
125. नमो सिद्धाणं पद समीक्षात्मक परिशीलन	साध्वी डॉ. धर्मशीला	श्री उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, एम.एस. जैन संघ, अयनावरम	प्रथमावृत्ति 2000-2001
126. नयविमर्श द्वात्रिंशिका	श्रीमद् विजय सुशीलसूरि	श्री सुशील सूरि जैन ज्ञानमंदिर, सिरोही, राजस्थान	वी.सं. 2509 वि.सं. 2039
127. नयवाद	श्री धुरन्धर विजयजी म.	श्री जैन साहित्यवर्धक सभा, भावनगर	वी.सं. 2473 वि.सं. 2003 ई.सन् 1946
128. नवतत्त्व प्रकरण सार्थ	डॉ. भफतलाल जे. शाह	श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, महेसाणा	वी.सं. 2514 वि.सं. 2044

129. नवतत्त्व प्रकरण	चिरंतनाचार्य युवाचार्य	श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर संस्था बैंगलोर	वि.सं. 2054 ई.सन् 1997
130. न्याय प्रदीप	साहित्यरत्न दरबारीलाल	साहित्य रत्न कार्यालय, ताडदेव, मुम्बई	वि.सं. 1986
131. न्यायावतार	श्री सिद्धसेन दिवाकर विरचित	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, सौराष्ट्र	वी.सं. 2526 वि.सं. 2056
132. नन्दीसूत्र	मधुकर मुनिजी सं.	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान	वी.सं. 2436 वि.सं. 2046
133. नन्दीवृत्ति	हरिभद्र सूरि	श्रीमती आगमोदय समिति, सूरत	वी.सं. 2441
134. न्याय विनिश्चय	श्रीमद् भट्टाकलंक देव	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	वि.सं. 2005
135. नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द	श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर	
136. अनेकान्त है तीसरा नेत्र	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूँ	
137. निशीथ सूत्र	सं. उपाध्यायजी अमरमुनि तथा मुनिश्री कन्हैयालाल	अमर पब्लिकेशन, वाराणसी	सन् 2005
138. न्याय सूत्र	अक्षपाद	ग्रंथमाला विजयनगरम् संस्कृत सीरीज	वि.सं. 1948
139. न्याय प्रवेशिका	हरिभद्र सूरि	ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बरोडा	वि.सं. 1930
140. प्रतिमा शतक	महोपाध्याय यशोविजय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2044 द्वितीयवृत्ति वी.सं. 2526 वि.सं. 2056
141. प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थानक की अवधारणा	साध्वी डॉ. दर्शनकलाश्री	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट जयंतसेन म्युजियम, मोहनखेड़ा	वी.सं. 2533 वि.सं. 2063 ई.सन् 2007
142. जैन पारिभाषिक कोश	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूँ, राजस्थान	
143. पंचग्रंथि	उपाध्याय यशोविजय रचित 5 ग्रंथों का संग्रह	श्री यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बम्बई	वी.सं. 2506 वि.सं. 2036 ई.सन् 1980
144. प्रशमरति प्रकरण	अनास्वातिजी विरचित	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, मुम्बई	प्रथमावृत्ति वी.सं. 2476 ई.सन् 1950

145. प्रशमरति, भाग 1-2	अनास्वाति विरचित	श्री विश्व कल्याणकर प्रकाशन ट्रस्ट, वि.सं. 2040 महेसाणा
146. प्रमाणनय तत्त्वलोक	श्री वादिदेवसूरि संदग्ध	आंबली पोल जैन उपाश्रय कार्यालय, वी.सं. 2496 अहमदाबाद वि.सं. 2026
147. पंचवस्तुक ग्रंथ	हरिभद्र सूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट, भिवंडी
148. पंचाशक प्रकरण	हरिभद्र सूरि	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी ई.सन् 2000
149. पक्खी सूत्र	पूर्वाचार्य	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, वि.सं. 2053 अहमदाबाद
150. पंचसूत्रम	पूर्वाचार्य	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, वि.सं. 2053 अहमदाबाद
151. पंच संग्रह	चंद्रर्षि महतर	श्री यशोविजयजी जैन पाठशाला, वि.सं. 2042 महेसाणा
152. पंचास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
153. पातंजल योगसूत्र	हरिहरानन्द आरण्य	मोतीलाल बनारसीदास, मुम्बई ई.सन् 1991
154. प्रभावक चरित्र	श्री प्रभाचन्द्राचार्य	सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद ई.सन् 1940
155. प्रबन्ध कोष	राजशेखर सूरि	हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटण ई.सन् 1977
156. प्रज्ञापना सूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति वी.सं. 2527
157. प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् वी.सं. 2510 राजचन्द्र आश्रम, आगास, आणंद वि.सं. 2040 ई.सन् 1984
158. परमात्म प्रकाश	योगीन्द्र मुनि	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास तृतीयावृत्ति ई.सन् 1973
159. पातंजलयोगदर्शन	महर्षि पतंजलि	भगवान श्री कबीर स्वामी का मंदिर, ई.सन् 1958 महीधरपुरा, सूरत
160. पाश्चात्य दर्शन	चंद्रधर शर्मा	नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी ई.सन् 1964
161. प्रमाण मीमांसा	श्री हेमचन्द्राचार्य रचित	श्री तिलोकरत्न स्था. जैन धार्मिक ई.सन् 1970 परीक्षा बोर्ड, अहमदाबाद
162. यध्यपुराण	पं. श्रीरामजी शर्मा	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा ई.सन् 1987 कुतुबवेदनगर, बरेली

163. बंध हेतु भंग प्रकरण	उपाध्याय यशोविजय रचित	श्री यशोभद्र शुभंकर ज्ञानशाला, गोधरा, पंचमहल	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2043 ई.सन् 1987
164. बृहदारण्यकोपनिषद्	अनु. शांकर भाष्यसहित	गीता प्रेस, गोरखपुर	द्वितीयावृत्ति ई.सन् 2012
165. बौद्ध धर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्र देव	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना	ई.सन् 1956
166. ब्रह्मद्रव्य संग्रह	श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचंद्र, अगास	चतुर्थवृत्ति ई.सन् 1979
167. बृहत्संग्रहणी	मल्लधारी हेमचन्द्रसूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
168. बह्मवर्त पुराण	वेद व्यास	चौखम्बा विद्याभवन चौक, बनारस	ई.सन् 1946
169. भारतीय स्मृति विद्या	डॉ. प्रकाश	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई.सन् 1974
170. भगवती सूत्र भाग 1-7	सुधर्मास्वामी रचित	श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर, जोधपुर	वी.सं. 2534 वि.सं. 2064 ई.सन् 2008
171. भाषा रहस्य	उपाध्याय यशोविजय	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	द्वितीयावृत्ति वि.सं. 2059
172. भाषा दर्शन	प्रो. सागरमल जैन	पी.बी.आर.आई. वाराणसी	
173. भगवत गीता	हनुमानप्रसाद पोदार	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2052
174. भगवती टीका	श्री अभयदेव सूरि	सनातन जैन मुद्रणालय, राजकोट	वि.सं. 1979
175. भारतीय दर्शन	डॉ. न.कि. देवराज	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ	द्वितीयावृत्ति ई.सन् 1974
176. मार्ग परिशुद्धि प्रकरण	उपाध्याय यशोविजयजी रचित टीका समलंकृत	श्री भीडभंजन पार्श्वनाथ जैन संघ, भिवंडी, महाराष्ट्र	वि.सं. 2058
177. मारी तेर प्रार्थनाओ	पं. चंद्रशेखर विजयजी	कमल प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	
178. मूलसूत्र : एक परिशीलन	आचार्यश्री देवेन्द्रमुनिजी	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	वि.सं. 2057
179. मिला प्रकाश, खिला वसन्त	आचार्य जयंतसेन सूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	
180. मोक्षमार्ग प्रकाशक	आचार्यश्री पं. टोडरमल	साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर	

181. महाभारत	वेदव्यास	भिक्षु अखंडानंद	वि.सं. 1996
182. माध्यमिका वृत्ति	पांडेय रघुनाथ	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	ई.सन् 1988
183. मञ्जिम निकाय	अनु. राहुल सांस्कृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस	ई.सन् 1963
184. महापुराण	आचार्य जिनसेन	श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	प्रथमावृत्ति ई.सन् 1975
185. मोक्ष पाहुड	श्री कुंदकुंद भारती	श्रुत भंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फल्टन, विक्रमाब्द	वि.सं. 2027 ई.सन् 1970
186. योगविशिका	यशोविजय गणि विरचित वृत्तियुक्ता	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2055
187. यशोविजय स्मृतिग्रंथ	मुनि यशोविजय	यशोविजयजी प्रकाशन समिति, महाजन गली, बडोदरा	ई.सन् 1957
188. यशोदोहव	मुनिप्रवर यशोविजय	यशोभारती प्रकाशन समिति, मुम्बई	वी.सं. 2492 वि.सं. 2022 ई.सन् 1966
189. योगविशिका	अनु. धीरजलाल डायालाल मेहता	मातृछाया बिल्डिंग नाणवट, सूरत	वि.सं. 2049
190. यशोपंचग्रंथी	यशोविजय रचित	यशोभारती प्रकाशन समिति, मुम्बई	वी.सं. 2506 वि.सं. 2036
191. योगशतक	हरिभद्रसूरि रचित स्वोपज्ञ टीकायुक्त	धीरजलाल डायालाल मेहता, नाणवट, सूरत	वी.सं. 2520 वि.सं. 1994
192. योगशास्त्र भाषान्तर	श्री हेमचन्द्राचार्य	श्री मुक्तिचन्द्र श्रमण आराधना ट्रस्ट, पालीताणा	
193. योगदृष्टि समुच्चय	हरिभद्र सूरि	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	
194. योग बिन्दु	हरिभद्र सूरि	श्री बुद्धिसागरजी जैन ज्ञानमंदिर	वि.सं. 2007
195. योग दर्शन	संपा. श्रीरामजी शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, उत्तरप्रदेश	ई.सन् 1978
196. योगावतार द्वात्रिंशिका	उपाध्याय यशोविजय		
197. योगवाशिष्ठ	वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	सन् 1918
198. योगसार	मुनि जयानंदविजयजी	श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल	
199. रहस्यवाद	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2020

200. राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ	सं. यतीन्द्रसूरिजी	श्री सौधर्म बृहतयोगच्छीय जैन श्वेताम्बर संघ, आहोर	ई.सन् 1878
201. रामायण	महर्षि वाल्मिकी	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2057
202. लोक प्रकाश	उपाध्याय विनयविजय	रीलीझीयस ट्रस्ट, चंदनबाला, मुम्बई	
203. ललित विस्तार	श्री हरिभद्राचार्य रचित	कंचनबेन भगवानदास मेहता, मुम्बई	ई.सन् 1960
204. ललित विस्तार गुजराती अनुवाद	हरिभद्र सूरि रचित	भुवन भद्रकर साहित्य प्रचार केन्द्र, मद्रास	वी.सं. 2521 वि.सं. 2051
205. लोकतत्त्व निर्णय	आचार्य हरिभद्रसूरि	श्री जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, भावनगर	वि.सं. 1995
206. वादमाला	उपाध्याय यशोविजय रचित	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2049
207. विजयोल्लास महाकाव्य	उपाध्याय यशोविजयगणि	भुवन भद्रकर साहित्य प्रचार केन्द्र, मद्रास	वी.सं. 2514 वि.सं. 2044
208. विचार बिन्दु	उपाध्याय यशोविजय	आराधना भवन ज्ञान भण्डार, मद्रास	
209. वैराग्य कल्पलता	महो. यशोविजय रचित	हर्षपुष्पाभूत जैन ग्रंथमाला, शांतिपुरी सौराष्ट्र	
210. वैराग्य शतक	विजय पद्मसूरिजी	श्री जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा	वी.सं. 2468 वि.सं. 1998
211. विशेषावश्यक भाष्य	सं. पं. दलसुख मालवणिया	भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर	ई.सन् 1993
212. विष्णु पुराण	श्री मुनिलाल गुप्त	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2057
213. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक	पं. श्रीराम शर्मा	अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा	ई.सन् 1995
214. व्यवहार भाष्य	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूँ	वि.सं. 2053 ई.सन् 1996
215. विंशति विंशिका	हरिभद्रसूरि	लावण्य जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, अहमदाबाद	
216. वैशेषिक दर्शन	सं. गोपीनाथ कविराज	संस्कृत सीरीज, बनारस	सन् 1928
217. विनय पिटक	बुद्ध भगवान	विपश्यना उत्तर विनिच्छय, इगतपुरी	ई.सन् 1998
218. वीतराग स्तोत्र	हेमचन्द्राचार्य	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2053

219. वंदितासूत्र	पूर्वाचार्य	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2051
220. वेदांत सूत्र	अंपोरूषेय	पाणिनी ऑफिस, ईलाहाबाद	वि.सं. 1970
221. शांत सुधारस, भाग 1-2	उपाध्याय विनयविजय	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	वि.सं. 2053 ई.सन् 1976
222. शास्त्रवार्ता समुच्चय	हरिभद्र सूरि	चौखम्भा प्राच्य विद्या ग्रंथमाला, वाराणसी	ई.सन् 1977
223. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका	यशोविजय गणि	चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रंथमाला, वाराणसी	ई.सन् 1977
224. शासन प्रभावक श्रमण भगवंतो	सं. नंदलाल देवालुक	श्री अरिहंत प्रकाशन ग्रंथालय, भावनगर	ई.सन् 1992
225. श्वेताश्वेतरोपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर	
226. षोडशक प्रकरण भाग 1-2	श्री हरिभद्र सूरि	श्री अंधेरी जैन गुजराती संघ, मुम्बई	वि.सं. 2057
227. षोडशक टीका	यशोविजय	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2057
228. षड्द्रव्य विचार	प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि म.सा.	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2049
229. षड्दर्शन समुच्चय	आचार्य हरिभद्र सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई.सन् 2000
230. षड्दर्शन समुच्चय टीका	गुणरत्न सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई.सन् 2000
231. स्याद्वाद रहस्य	उपाध्याय यशोविजय	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2052
232. स्याद्वाद मंजरी	श्री मल्लिषेण सूरि रचित	श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर, गुन्डूर	
233. समाचारी प्रकरण भाग 1-2	महोपाध्याय यशोविजय	कमल प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2060
234. सन्मति तर्क प्रकरण	श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि रचित	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2522 वि.सं. 2052
235. सवासो गाथा का हुडी का स्तवन	महोपाध्याय यशोविजय	श्री जैन धर्म प्रसारण ट्रस्ट, सूरत	प्रथमावृत्ति वी.सं. 2529 वि.सं. 2049 ई.सन् 2003

236. समकित के 67 बोल की सञ्ज्ञाय	उपाध्याय यशोविजय	श्री जैन धर्म प्रसारण ट्रस्ट, सूरत	द्वितीयावृत्ति वि.सं. 2055 ई.सन् 1999
237. समकित के 67 बोल की सञ्ज्ञाय	सं. कीर्तियश सूरि म.सा.	सन्मार्ग प्रकाशन जैन आराधना भवन, अहमदाबाद	
238. सम्यक्त्व षटस्थान चौपाई	उपाध्यायश्री यशोविजय	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुम्बई	प्रथमावृत्ति वी.सं. 2516 वि.सं. 2046
239. सुशील यशोगुंजन	उपाध्याय यशोविजयजीकृत स्तवन सञ्ज्ञायों का संग्रह	सुशील दिव्य किरण ज्ञान मंदिर पालनपुर	प्रथमावृत्ति वी.सं. 2519 वि.सं. 2049
240. स्याद्वाद मंजरी टीका ग्रंथ	आ. मल्लिषेणसूरि विरचित	श्री नवरंगपुरा जैन श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संघ, अहमदाबाद	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2024 द्वितीयावृत्ति वि.सं. 2037
241. स्थानांग समवायांग	सं. दलसुख मालवणिया	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद	
242. स्याद्वाद की सर्वात्कुष्टमा	श्री सुशील विजय गणिवर्य	श्री विजय लावण्य सूरि ज्ञानमंदिर बौटार, सौराष्ट्र	वी.सं. 2488 वि.सं. 2018
243. स्याद्वाद प्रवेशिका	शांतिलाल केशवलाल शाह	श्री आदिनाथ जैन मंदिर, मद्रास	वी.सं. 2488
244. संवेदन की सरगम	मुनि यशोविजय	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, कलिकुंड	वि.सं. 2056
245. संवेदन की सुवास	मुनि यशोविजय	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2052
246. सिन्दूरप्रकर	आचार्य सोमप्रभ रचित	जैन विश्व भारती, लाडनूँ	ई.सन् 2006
247. साम्यशतक समताशतक	विजयसिंहसूरि रचित	जैन साहित्य विकास मंडल, मुम्बई	वि.सं. 2028 ई.सन् 1971
248. स्थानांग सूत्र	मिश्रीमलजी महाराज	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान	वी.सं. 2527 वि.सं. 2057
249. समयसार	आचार्य कुन्दकुन्द	वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, अजमेर	ई.सन् 1994
250. समदर्श आचार्य हरिभद्र	सुखलालजी संघवी	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर	वि.सं. 2016
251. सर्वज्ञसिद्धि	हरिभद्रसूरि	श्री जैन साहित्यवर्धक सभा, शिरपुर	वि.सं. 2026

252. सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	कलाप्पा निटेव, कोल्हापुर	ई.सन् 1825
253. समवायांग सूत्र	मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान	ई.सन् 1962
254. सूत्रकृतांग	सं. चंद्रसागर गणि	श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर, मुम्बई	वी.सं. 2476
255. संबोधसितरी	श्री जयशेखर	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
256. सांख्य कारिका	श्री कपिल	चौखम्बा सिरीज, काशी	
257. संयुक्त निकाय	भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोध सभा, सारनाथ, बनारस	ई.सन् 1954
258. समकालीन भारतीय दर्शन	सं. श्री लक्ष्मी सक्सेना	हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ	ई.सन् 1975
259. समकालीन पाश्चात्य दर्शन	सं. श्री लक्ष्मी सक्सेना	हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ	ई.सन् 1975
260. श्राद्धविधि प्रकरण	श्री रत्नशेखर सूरि	गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल	वि.सं. 2061
261. श्रावक प्रज्ञप्ति	हरिभद्रसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई.सन् 2000
262. श्रावक धर्मविधि प्रकरण	हरिभद्र सूरि	जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2045
263. श्रीपाल राजा रास	उपाध्याय विनयविजय एवं यशोविजयकृत	जैन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद	वि.सं. 2029 ई.सन् 1973
264. श्रीमद् भागवत	महर्षि व्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2021
265. हरिभद्र योग भारती	श्री हरिभद्र सूरि रचित	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	प्रथमावृत्ति वि.सं. 2036
266. ज्ञानबिन्दु	उपाध्याय यशोविजय	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुम्बई	वी.सं. 2513 वि.सं. 2043
267. ज्ञानसार, भाग 1-2	उपाध्याय यशोविजय	श्री विश्वकल्याण प्रकाशन, सीरीज, उत्तरप्रदेश	वि.सं. 2024

इस ग्रन्थ में क्या पायेंगे... !



- म महान अध्यात्मयोगी का आध्यात्मिक अनुभव लेखन ।
हो होनारत का विसर्जन करनेवाले योद्धा का चित्रण ।
पा पारस्परिक विचारों का खंडनात्मक प्रतिपादनात्मक एवं समन्वयात्मक विवेचन ।
ध्या ध्यानयोगी के व्यक्तित्व का विवरण ।
य यत्र, तत्र, सर्वत्र मिली सामग्री का संग्रह ।
य यज्ञरूपी महामहिम ग्रंथ का निर्माण ।
शो शौर्य, धीर, गम्भीर आदि व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणों का प्रस्तुतिकरण ।
वि विश्लेषण के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार ।
ज जन-जन तक जिनवाणी को पहुंचाने का सीलसीला ।
य यत्र-सर्वत्र समतानय का स्पष्टिकरण ।
के केवलज्ञान को प्राप्त करने का उत्तम लक्ष्य ।
दा दार्शनिक विचारों का प्रस्तुतिकरण ।
र्श शनि के प्रगटेल अद्भूत योगी का कथांकन ।
नि निष्कर्षरूप संपूर्ण वाङ्मय का सारांश ।
क कर्म सिद्धांत का विस्तृत गहन चिंतन ।
चि चिन्तन-मनन-पठन-पाठन-लेखन का सार रूप नवनीत ।
त तत्त्वसम्मत शास्त्र सम्मत बनाने का भगीरथ प्रयास ।
न नव्यन्याय की शैली का निरूपण ।
का काव्य-छंद-अलंकार-तर्क-आगम आदि का उल्लेख ।
वै वैविध्यपूर्ण, विविधता एवं विशिष्टताओं से विशिष्ट ।
शि शिष्टता, सरलता, स्याद्वादित्व, समर्पितता एवं सहानुभूति का संदेश ।
ष्ट ष्टक स्वराओं का संक्षिप्त आंकलन ।
य यत्किंचित् सागर में गागर का पुरुषार्थ ।